आधुनिक भारत का इतिहास

लेखक
डॉ॰ जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

ये ढंग से परिभाषित किया गया है। विभिन्न पाठ्यक्रमों में किये गये इन परिवर्तनों के अनुसार इस पुस्तक की संरचना और स्वरूप में अनेक स्थानों में फेरबदल किया गया है, अनेक अध्यायों के प्रस्तुतीकरण में बदलाव किये गये हैं और कुछ अध्याय नये सिरे से लिखे गये हैं। इस पुस्तक के चतुर्थ संस्करण की तैयारी करते समय आज की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया है। अपने परिवर्तित स्वरूप में यह पुस्तक पहले से अधिक उपयोगी सावित होगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान स्वरूप में इस पुस्तक का चतुर्थ संस्करण छात्रों, शिक्षकों, विद्वानों और प्रतियोगिता परीक्षा की तैयारी करने वाले अभ्यर्थियों की आवश्यकताओं को पूरा करेगा, और उनके द्वारा खुले मन से स्वीकार किया जायगा।

जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

विषय सूची

क्र.सं.	अध्याय का नाम	पृष्ठ संख्या
१.	अठारहवीं सदी : भारत में राजनीतिक अस्थिरता	१-१२
२.	विदेशी व्यापारिक कंपनियों का प्रवेश और उनमें प्रतिस्पर्धा	१३-३१
३.	बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना	३२-५६
४.	वारेन हेस्टिंग्स का शासन	६०-७२
५.	ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी पर नियंत्रण	७३-७६
६.	कार्नवालिस का शासन	८०-६५
७.	हैदर अली और टीपू सुल्तान से अंग्रेजों का संघर्ष	६६-१०७
८.	अवध और हैदराबाद पर कंपनी का बढ़ता हुआ प्रभुत्व	१०८-१२७
६.	वेलेज्ली द्वारा साम्राज्य विस्तार	१२८-१४१
१०.	लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना	१४२-१५४
११.	अंग्रेजों और मराठों में सत्ता-संघर्ष	१५५-१८६
१२	बर्मा पर ब्रिटिश नियंत्रण की स्थापना	१८७-२००
१३.	पंजाब में सिख राज्य का उदय और अन्त	२०१-२२४
१४.	विलियम बैंटिक का शासन	२२५-२३७
१५.	प्रथम अफगान युद्ध और सिंध पर ब्रिटिश अधिकार की स्थापना	२३८-२५२
१६.	डलहौजी द्वारा राज्यविस्तार और सुधार के उपाय	२५३-२७४
१७.	१८५७ का विद्रोह	२७५-२६७
१८.	भारतीय नवजागरण-सामाजिक धार्मिक आन्दोलन	२६८-३३६
१६.	पड़ोसी देशों से भारत सरकार के सम्बन्ध (१८५८-१६१४)	३३७-३६५
२०.	ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रशासन का स्वरूप	३६६-४०३

L. 2

आधुनिक भारत का इतिहास

(१७०७ से १९४७ तक)

(विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के नवीन पाठ्यक्रम के अनुरूप
संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण)

हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग ग्रन्थांक - १६५

आधुनिक भारत का इतिहास

(१७०७ से १६४७ तक)

लेखक
डॉ. जगन्नाथ प्रसाद मिश्र
पूर्व प्रोफेसर, इतिहास विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६-महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ - २२६ ००१

प्रकाशक :
डॉ. सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान,
लखनऊ

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालयस्तरीय ग्रंथ निर्माण योजना के अन्तर्गत हिन्दी ग्रंथ अकादमी प्रभाग, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा प्रकाशित।

© उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

प्रथम संस्करण : १९७४
द्वितीय संस्करण : १९७६
तृतीय संस्करण : १९८३
चतुर्थ संस्करण : २००३ (संशोधित/परिवर्द्धित)

प्रतियाँ : २१००

मूल्य : रु० १४५=०० (एक सौ पैंतालीस रुपये)

मुद्रक :
रोहिताश्व प्रिण्टर्स
२६८, ऐशबाग रोड, लखनऊ
फोन : २६९२२८६, २६९२६७३

प्रकाशकीय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के ग्रन्थ अकादमी प्रभाग के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'आधुनिक भारत का इतिहास' का चतुर्थ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है। पुस्तक के विद्वान लेखक डॉ० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र के अथक परिश्रम से यह संस्करण पूर्णतया संशोधित एवं परिवर्द्धित रूप में प्रकाशित हो रहा है। इस पुस्तक को संशोधित/परिवर्द्धित करने में विश्वविद्यालय के परिवर्तित नवीन पाठ्यक्रम को विशेष रूप से ध्यान में रखा गया है।

छब्बीस अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक में सन् १७०७ से १९४७ तक की कालावधि के इतिहास का विवेचन किया गया है। इस काल खण्ड को 'आधुनिक भारत' की संज्ञा दी गयी है। सन् १७०७ में मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु के वाद मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हुआ। केन्द्रीय प्रशासन के निस्तेज होते ही भारतीय राजनीति की दिशा ही बदल गयी। मुगल साम्राज्य के विघटित होने से क्षेत्रीय शक्तियाँ उभरीं और धीरे-धीरे देश छिन्न-भिन्न होने लगा। नये-नये राज्यों की स्थापना हुई। विदेशी शक्तियों का प्रादुर्भाव होने लगा उत्तरोत्तर विदेशी शक्तियाँ हावी होने लगीं और भारत ने अपनी स्वतंत्रता खो दी। वर्षों के संघर्ष के बाद १५ अगस्त १९४७ को भारत अंग्रेजों की दासता से मुक्त हो सका।

इस काल खण्ड (१७०७-१९४७) के संघर्ष को प्रदर्शित करने वाली पुस्तक 'आधुनिक भारत का इतिहास' में विद्वान लेखक ने अठारहवीं सदी के भारत में राजनैतिक अस्थिरता, विदेशी व्यापारिक कम्पनियों का प्रवेश और उनमें प्रतिस्पर्धा, बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना, वारेन हेस्टिंग्स का शासन, ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी पर नियंत्रण, कार्नवालिस का शासन, हैदर और टीपू सुल्तान से अंग्रेजों का संघर्ष, अवध और हैदराबाद पर कम्पनी का बढ़ता हुआ प्रभुत्व, वेलेज्ली द्वारा साम्राज्य का विस्तार, लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना पर विहंगम दृष्टि डाली है।

डॉ० मिश्र ने सरल-सहज शब्दों में अंग्रेजों और मराठों के सत्ता संघर्ष, बर्मा पर ब्रिटिश नियन्त्रण की स्थापना, पंजाब में सिक्ख राज्य का उदय और प्रान्त, विलियम बैंटिंक का शासन, प्रथम अफगान युद्ध और सिंध पर ब्रिटिश अधिकार की स्थापना, डलहौजी द्वारा राज्य विस्तार और सुधार के उपाय, १८५७ का विद्रोह, भारतीय नवजागरण-सामाजिक धार्मिक आन्दोलन,

पड़ोसी देशों से भारत सरकार के सम्बन्ध (१८५८-१६१४) ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रशासन का स्वरूप, भारतीय राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति, प्रशासनिक परिवर्तन और संवैधानिक विकास, राष्ट्रवाद का उदय और कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप, उग्रवादी राष्ट्रवाद और राजनैतिक परिवर्तनों का दौर, असहयोग आन्दोलन से सविनय अवज्ञा आन्दोलन तक राष्ट्रीय चेतना का दौर और सन् बयालीस की जनक्रान्ति और राष्ट्रीय स्वाधीनता का वर्णन किया है।

पुस्तक इतिहास के विद्यार्थियों के लिए तो उपयोगी है ही इतिहास को जानने-समझने की रुचि रखने वालों का भी इससे ज्ञानवर्द्धन होगा। आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पुस्तक का यह चतुर्थ संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण अपनी उपादेयता सिद्ध करेगा।

डॉ. सच्चिदानन्द पाठक
निदेशक

निवेदन

इस पुस्तक में आधुनिक भारतीय इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए उन सभी प्रसंगों, धाराओं तथा सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों का विवरण देने का प्रयास किया जा रहा है जिनका ज्ञान प्राप्त करना आज की पीढ़ी के नवयुवकों के लिए नितांत आवश्यक है। यह वर्णन ब्रिटिश साम्राज्य के उत्थान और पतन की कहानी न होकर विगत ढाई सौ वर्षों के हमारे राष्ट्रीय इतिहास के क्रमिक विकास का निरूपण है। इस विशिष्ट ऐतिहासिक प्रवाह के दो पक्ष हैं, एक भारतीय और दूसरा ब्रिटिश। इस विषय पर लिखी गयी पुस्तकों में अधिकतर अंग्रेजों के क्रियाकलापों को उजागर किया गया है और भारतीय पक्ष की या तो उपेक्षा की गयी है अथवा उससे सम्बन्धित तथ्यों को जानबूझ कर गलत ढंग से किया गया है। अंग्रेजों के योगदान की विस्तृत चर्चा तो इन ग्रंथों में मिलती है लेकिन भारतीयों के कार्यों को अनदेखा किया गया है। इस प्रकार के एकपक्षीय इतिहास-लेखन ने उन रचनाओं को भी प्रभावित किया जिन्हें भारतीयों ने लिखा है। इस असंतुलन को बदलना जरूरी है। यह हमारा दायित्व है कि आधुनिक भारतीय इतिहास को इस प्रकार लिखा जाय कि दोनों पक्षों से सम्बन्धित तथ्यों पर समान रूप से प्रकाश पड़े। स्पष्ट है कि इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना बाकी है। इस प्रकाशन के समय विषय के प्रस्तुतीकरण की अपनी सीमाएँ हैं। इनका ध्यान रखते हुए यथासम्भव भारतीयों के योगदान की पर्याप्त चर्चा की गयी है, उनके द्वारा किये गये अनवरत संघर्ष का विवरण कई अध्यायों में दिया जा रहा है।

मैंने इस विषय पर प्रकाशित सभी महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुशीलन करने की कोशिश की है। अभी तक जो प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध है उसी के आधार पर यह पुस्तक लिखी गयी है। विषय के संयोजन, संकलन और उसके प्रस्तुत करने में मैंने अपने ढंग से प्रयास किया है। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति श्रद्धावनत हूँ जिनके बहुमूल्य ग्रंथों से मैंने सहायता ली है।

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के निदेशक ने इस पुस्तक के पुनः प्रकाशन की व्यवस्था करते समय यह सर्वथा उचित निर्णय लिया कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में हुए परिवर्तनों को ध्यान में रखते हुए इसे आद्योपान्त नये रूप में प्रस्तुत किया जाय। यह इसलिए भी आवश्यक हो गया क्योंकि आधुनिक भारतीय इतिहास की विषयवस्तु को प्रतियोगिता परीक्षाओं के हेतु भी

नये ढंग से परिभाषित किया गया है। विभिन्न पाठ्यक्रमों में किये गये इन परिवर्तनों के अनुसार इस पुस्तक की संरचना और स्वरूप में अनेक स्थानों में फेरबदल किया गया है, अनेक अध्यायों के प्रस्तुतीकरण में बदलाव किये गये हैं और कुछ अध्याय नये सिरे से लिखे गये हैं। इस पुस्तक के चतुर्थ संस्करण की तैयारी करते समय आज की आवश्यकताओं का पूरा ध्यान रखा गया है। अपने परिवर्तित स्वरूप में यह पुस्तक पहले से अधिक उपयोगी साबित होगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान स्वरूप में इस पुस्तक का चतुर्थ संस्करण छात्रों, शिक्षकों, विद्वानों और प्रतियोगिता परीक्षा की तैयारी करने वाले अभ्यर्थियों की आवश्यकताओं को पूरा करेगा, और उनके द्वारा खुले मन से स्वीकार किया जायगा।

जगन्नाथ प्रसाद मिश्र

विषय सूची

क्र.सं.	अध्याय का नाम	पृष्ठ संख्या
१.	अठारहवीं सदी : भारत में राजनीतिक अस्थिरता	१-१२
२.	विदेशी व्यापारिक कंपनियों का प्रवेश और उनमें प्रतिस्पर्धा	१३-३१
३.	बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना	३२-५९
४.	वारेन हेस्टिंग्स का शासन	६०-७२
५.	ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी पर नियंत्रण	७३-७९
६.	कार्नवालिस का शासन	८०-९५
७.	हैदर अली और टीपू सुल्तान से अंग्रेजों का संघर्ष	९६-१०७
८.	अवध और हैदराबाद पर कंपनी का बढ़ता हुआ प्रभुत्व	१०८-१२७
९.	वेलेज्ली द्वारा साम्राज्य विस्तार	१२८-१४१
१०.	लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना	१४२-१५४
११.	अंग्रेजों और मराठों में सत्ता-संघर्ष	१५५-१८६
१२	बर्मा पर ब्रिटिश नियंत्रण की स्थापना	१८७-२००
१३.	पंजाब में सिख राज्य का उदय और अन्त	२०१-२२४
१४.	विलियम बैंटिक का शासन	२२५-२३७
१५.	प्रथम अफगान युद्ध और सिंध पर ब्रिटिश अधिकार की स्थापना	२३८-२५२
१६.	डलहौजी द्वारा राज्यविस्तार और सुधार के उपाय	२५३-२७४
१७.	१८५७ का विद्रोह	२७५-२९७
१८.	भारतीय नवजागरण-सामाजिक धार्मिक आन्दोलन	२९८-३३६
१९.	पड़ोसी देशों से भारत सरकार के सम्बन्ध (१८५८-१९१४)	३३७-३६५
२०.	ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रशासन का स्वरूप	३६६-४०३

अध्याय का नाम	पृष्ठ संख्या
२१. भारतीय राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति	४०४-४२२
२२. प्रशासनिक परिवर्तन और संवैधानिक विकास	४२३-४६५
२३. राष्ट्रवाद का उदय और कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप	४६६-४९१
२४. उग्रवादी राष्ट्रवाद और राजनीतिक परिवर्तनों का दौर	४९२-५२७
२५. असहयोग आन्दोलन से सविनय अवज्ञा आन्दोलन तक राष्ट्रीय चेतना का दौर	५२८-५६२
२६. सन् बयालीस की जनक्रान्ति और राष्ट्रीय स्वाधीनता	५६३-६०६

●●●

पहला अध्याय

अठारहवीं सदी : भारत में राजनीतिक अस्थिरता

भारत में अठारहवीं सदी का आरम्भ राजनीतिक अस्थिरता के लम्बे दौर से हु
१७०७ में औरंगजेब के देहावसान के वाद से मुगल साम्राज्य का तेजी से विघटन हुअ
मुगलों ने जिस प्रकार का साम्राज्य गठित किया उसमें सत्ता का केन्द्र-विन्दु सम्राट था।

प्रतिभाशाली मुगल सम्राटों ने विशाल साम्राज्य स्थापित किया, इसे एक सूत्र में बाँधा
और केन्द्रीय शासन को शक्तिशाली वनाया। लेकिन यह व्यवस्था मुगल सम्राट की व्यक्तिगत
योग्यता पर निर्भर थी। औरंगजेब के शासनकाल तक सम्राट का दवदवा वना रहा। लेकिन
राजनीतिक क्षितिज से उसके हट जाने के फलस्वरूप केन्द्रीय सत्ता को संचालित करने वाले
सम्राट न तो इस उत्तरदायित्व को निभा सके और न उनको ऐसा अवसर ही मिला। १७०७
से १७१९ के बीच की अवधि में उत्तराधिकार के सात खूनी संघर्ष हुए। इससे मुगलों का
वैभव धूल में मिल गया। केन्द्रीय सत्ता के निस्तेज होने का परिणाम यह हुआ कि विशाल
मुगल साम्राज्य बिखर गया।

इसी स्थिति में भारत में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का क्रम आरंभ हुआ। चारों ओर
अराजकता छा गयी। सत्ता-संघर्ष का ऐसा दौर चल पड़ा कि जगह-जगह नये राज्य स्थापित
होने लगे। इस समय से दो तरह के भारतीय शासकों का अभ्युदय हुआ। पहले क्रम में
सूबेदारों, गवर्नरों अथवा मुगल सम्राट के प्रतिनिधियों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली।
इससे अवध, बंगाल, हैदराबाद आदि प्रान्तों में स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इसके अलावा
अनेक महत्वाकांक्षी सेनापतियों ने भी अपने-अपने राज्य स्थापित किये। अठारहवीं सदी
ारत में आये विखराव और राजनीतिक अराजकता का सबसे अधिक लाभ विदेशी
ापारिक कम्पनी ने उठाया। अठारहवीं सदी भारत की राजनीतिक स्थिति का विवरण देने
उद्देश्य से अनेक नयी राजनीतिक शक्तियों का अभ्युदय और उनमें चल रहे सत्ता संघर्ष
विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

बाद

हैदराबाद राज्य की स्थापना मुगल साम्राज्य के एक प्रमुख सामन्त निजामुलमुल्क ने की
ली बार निजाम औरंगावाद में दक्षिण का सूबेदार १७१३ में नियुक्त किया गया था।
य से ही उसने दक्षिण भारत में अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। कुछ समय बाद
ी बुला लिया गया और सैयद बन्धुओं का दमन करने में उसने जो योग्यता दिखायी
स्कारस्वरूप मोहम्मद शाह ने उसे वजीर नियुक्त किया। लेकिन निजामुलमुल्क
य तक इस पद पर नहीं रहा। दिल्ली से वह हैदराबाद की ओर चल पड़ा और
के युद्ध में विजय प्राप्त करके उसने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया।
द मुगल सम्राट ने उसे दक्षिण का सूबेदार नियुक्त

शासक की स्वीकृति केवल औपचारिकता मात्र थी। वास्तविकता यही थी कि निजामुलमुल्क ने अपने बाहुवल से दक्षिण में एक नये स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी जिसे मुगल शासक ने स्वीकार कर लिया। १७२४ से १७४८ के बीच २४ वर्षों तक निजामुलमुल्क हैदराबाद में अपनी शक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न करता रहा। पड़ोस के शक्तिशाली मराठा राज्य से उसका कई बार संघर्ष हुआ और उसे मुँह की खानी पड़ी। लेकिन फिर भी अपनी शक्ति और कूटनीति के भरोसे निजाम अपनी स्थिति को सुदृढ़ करता गया।

मुगल सम्राट की सहानुभूति के मूल्य को निजाम समझता था। उसने आवश्यकता पड़ने पर मुगल बादशाह की तत्परता से सहायता भी की। १७३७ से १७४० के बीच मुगल शासक का पक्ष लेकर उसने मराठों से संघर्ष किया। निजामुलमुल्क निश्चित रूप से एक कुशल सेनानायक और सफल प्रशासक था तथा अपनी योग्यता के बल पर ही उसने दक्षिण में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की।

निजाम की मृत्यु के पश्चात हैदराबाद के जो सूबेदार हुए वे निर्बल थे। सत्ता को बनाये रखने के लिए पहले तो वे फ्रांसीसियों पर निर्भर रहे और फिर अंग्रेजों पर। नासिरजंग १७४८ से ५० तक तथा मुजफ्फरजंग १७५०-५१ तक ही राज्य कर सके। फिर सलावतजंग (१७५१-६२) ने राज्य किया। सलावतजंग फ्रांसीसियों पर निर्भर रहा। उसकी मृत्यु हो जाने पर १७६४ से १८०२ तक निजाम अली ने हैदराबाद पर शासन किया।

अवध

दूसरा प्रमुख राज्य, जो मुगल साम्राज्य से स्वतंत्र हुआ, अवध था जिसकी स्थापना करने का श्रेय प्रमुख शिया सरदार सादात खाँ को प्राप्त हुआ। १७१९ में सादात खाँ आगरा प्रान्त में बियाना का फौजदार था। सैयद बंधुओं का दमन करने में उसने मुगल शासक की जो सेवा की उससे उसे पाँच हजार ज़ात और तीन हजार सवार की हैसियत का मनसबदार नियुक्त किया गया। उसकी गिनती प्रमुख अमीरों में की जाने लगी तथा आगरा के गवर्नर का पद उसने सँभाला। १७२२ में अवध का सूबेदार नियुक्त हो जाने के कुछ समय बाद उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। अवध मुगल साम्राज्य से अलग एक स्वतंत्र राज्य बन गया। १७२३ से १७३९ तक उसने कुशलता से शासन किया। अवध में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में उसे सफलता मिली। सादात खाँ का कोई पुत्र नहीं था। इससे उसकी वहन का पुत्र सफदरजंग अवध का शासक बना। मुगल सम्राट ने इस उत्तराधिकार को स्वीकार करते हुए नवाब को शाही फरमान दिया। सफदरजंग एक योग्य और सफल प्रशासक तो था ही परन्तु इसके साथ ही रणकुशलता उसका प्रधान गुण था।

मुगल बादशाह ने १७४८ में सफदरजंग को वजीर नियुक्त किया। इसी कारण अवध के शासक नवाब वजीर कहे जाने लगे। सफदरजंग ने अवध की सैन्य शक्ति को बढ़ाने के हर सम्भव उपाय किये। अवध राज्य की सीमा का विस्तार भी उसके समय में हुआ।

१७५४ में शुजाउद्दौला अवध का नवाब बना। उसके शासनकाल में धार्मिक कट्टरता की नीति अपनायी गयी। मराठों ने अवध के नवाब की इस नीति का विरोध किया और

उससे माँग की कि काशी तथा प्रयाग, हिन्दुओं के दोनों प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों को मराठों के अधिकार में सौंप दिया जाये। शुजाउद्दौला ने इसे स्वीकार नहीं किया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा

साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों का अर्थात् बंगाल, विहार और उड़ीसा का इतिहास भी अवध और हैदराबाद के इतिहास से मिलता जुलता है। जिस प्रकार मुगल सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति का दिखावा बनाये रखते हुए सादात खाँ ने अवध पर अपना अधिकार जमा लिया उसी प्रकार मुर्शीद कुली खाँ भी स्वतंत्र रूप से बंगाल का नवाब बन बैठा। सबसे पहले मुर्शीद कुली खाँ १७१३ में फरुखसियर के समय बंगाल के सूबे का सूबेदार नियुक्त हुआ। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "मुर्शीद कुली खाँ शक्तिशाली, ईमानदार और योग्य शासक था। वह न्यायशील था तथा शान्ति और व्यवस्था की सदैव रक्षा करता था। उसके सुशासन से लोगों की सुख-समृद्धि बढ़ी और प्रदेश के व्यापार को प्रोत्साहन मिला।"

१७२७ में मुर्शीद कुली खाँ की मृत्यु के बाद उसका दामाद, शुजाउद्दीन नवाब बना। मुगल सम्राट ने न केवल इस उत्तराधिकार को स्वीकार ही किया अपितु बिहार का अधिकार भी उसे सौंप दिया। इस प्रकार बंगाल, विहार और उड़ीसा के तीनों प्रान्तों का वह शासक बन गया।

मुगल सम्राट का आधिपत्य प्रायः बंगाल, विहार और उड़ीसा में समाप्त हो गया था। यह इससे स्पष्ट होता है कि मुगल सम्राट द्वारा इन प्रान्तों के लिए किसी को भी नाजिम या दीवान नियुक्त नहीं किया गया। मुगल सम्राट का अधिकार केवल यहाँ तक सीमित रहा कि जब कोई नया उत्तराधिकारी पद सँभालता था तो वह सम्राट से स्वीकृति प्रदान करने का निवेदन करता था। परम्परानुसार वह नजराना भेंट करता था और उसे शाही फरमान प्रदान कर दिया जाता था। १७४० में बंगाल की घटनाओं से स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस वर्ष बिहार के नायब गवर्नर ने बंगाल के नवाब के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। दोनों के बीच हुए युद्ध में नवाब मार डाला गया। घटना-क्रम से स्पष्ट है कि नवाब के एक अधिकारी ने शक्ति के बल पर उसकी गद्दी छीन ली थी। लेकिन फिर भी मुगल सम्राट ने उसे फरमान दे दिया और अलीवर्दी खाँ नियमित रूप से बंगाल का प्रशासक बन बैठा।

अलीवर्दी खाँ ने इस सूबे की रक्षा करने के लिए कभी भी मुगल सम्राट् से किसी प्रकार की सहायता नहीं माँगी। कई बार मराठों ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्य पर आक्रमण किये। इनका मुकाबला नवाब को स्वयं करना पड़ा।

गुजरात, मालवा और बुन्देलखण्ड

गुजरात मुगलों के अधीन एक समृद्ध प्रान्त था। लेकिन दिल्ली में बढ़ती हुई अराजकता के कारण गुजरात पर प्रभाव बनाये रखना कठिन हो गया। गुजरात पर मराठों का प्रभाव उस समय से आरम्भ हुआ जब उन्हें यहाँ से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने का अधिकार मिला। मुगलों की ओर से जोधपुर का महाराजा अभय सिंह गुजरात का गवर्नर था। अभय सिंह मराठों की शक्ति को दबाने में सफल नहीं हुआ और १७३३ के युद्ध में उसे मुँह की खानी पड़ी। १७३५ तक मराठे गुजरात के वास्तविक शासक बन गये। यहाँ पर

क्र.सं.	अध्याय का नाम	पृष्ठ संख्या
२१.	भारतीय राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति	४०४-४२२
२२.	प्रशासनिक परिवर्तन और संवैधानिक विकास	४२३-४६५
२३.	राष्ट्रवाद का उदय और कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप	४६६-४९१
२४.	उग्रवादी राष्ट्रवाद और राजनीतिक परिवर्तनों का दौर	४९२-५२७
२५.	असहयोग आन्दोलन से सविनय अवज्ञा आन्दोलन तक राष्ट्रीय चेतना का दौर	५२८-५६२
२६.	सन् बयालीस की जनक्रान्ति और राष्ट्रीय स्वाधीनता	५६३-६०६

●●●

पहला अध्याय

अठारहवीं सदी : भारत में राजनीतिक अस्थिरता

भारत में अठारहवीं सदी का आरम्भ राजनीतिक अस्थिरता के लम्बे दौर से हुआ। १७०७ में औरंगजेब के देहावसान के वाद से मुगल साम्राज्य का तेजी से विघटन हुआ। मुगलों ने जिस प्रकार का साम्राज्य गठित किया उसमें सत्ता का केन्द्र-बिन्दु सम्राट था।

प्रतिभाशाली मुगल सम्राटों ने विशाल साम्राज्य स्थापित किया, इसे एक सूत्र में बाँधा और केन्द्रीय शासन को शक्तिशाली बनाया। लेकिन यह व्यवस्था मुगल सम्राट की व्यक्तिगत योग्यता पर निर्भर थी। औरंगजेब के शासनकाल तक सम्राट का दबदबा बना रहा। लेकिन राजनीतिक क्षितिज से उसके हट जाने के फलस्वरूप केन्द्रीय सत्ता को संचालित करने वाले सम्राट न तो इस उत्तरदायित्व को निभा सके और न उनको ऐसा अवसर ही मिला। १७०७ से १७१९ के बीच की अवधि में उत्तराधिकार के सात खूनी संघर्ष हुए। इससे मुगलों का वैभव धूल में मिल गया। केन्द्रीय सत्ता के निस्तेज होने का परिणाम यह हुआ कि विशाल मुगल साम्राज्य बिखर गया।

इसी स्थिति में भारत में राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का क्रम आरंभ हुआ। चारों ओर अराजकता छा गयी। सत्ता-संघर्ष का ऐसा दौर चल पड़ा कि जगह-जगह नये राज्य स्थापित होने लगे। इस समय से दो तरह के भारतीय शासकों का अभ्युदय हुआ। पहले क्रम में सूबेदारों, गवर्नरों अथवा मुगल सम्राट के प्रतिनिधियों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। इससे अवध, बंगाल, हैदराबाद आदि प्रान्तों में स्वतंत्र राज्य स्थापित हुए। इसके अलावा अनेक महत्वाकांक्षी सेनापतियों ने भी अपने-अपने राज्य स्थापित किये। अठारहवीं सदी भारत में आये विखराव और राजनीतिक अराजकता का सबसे अधिक लाभ विदेशी व्यापारिक कम्पनी ने उठाया। अठारहवीं सदी भारत की राजनीतिक स्थिति का विवरण देने के उद्देश्य से अनेक नयी राजनीतिक शक्तियों का अभ्युदय और उनमें चल रहे सत्ता संघर्ष का विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

हैदराबाद

हैदराबाद राज्य की स्थापना मुगल साम्राज्य के एक प्रमुख सामन्त निजामुलमुल्क ने की थी। पहली बार निजाम औरंगाबाद में दक्षिण का सूबेदार १७१३ में नियुक्त किया गया था। इस समय से ही उसने दक्षिण भारत में अपना प्रभाव बढ़ाना आरम्भ किया। कुछ समय बाद वह दिल्ली बुला लिया गया और सैयद बन्धुओं का दमन करने में उसने जो योग्यता दिखायी उसके पुरस्कारस्वरूप मोहम्मद शाह ने उसे वजीर नियुक्त किया। लेकिन निजामुलमुल्क अधिक समय तक इस पद पर नहीं रहा। दिल्ली से वह हैदराबाद की ओर चल पड़ा और शकरखेल्डा के युद्ध में विजय प्राप्त करके उसने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। इस विजय के बाद मुगल सम्राट ने उसे दक्षिण का सूबेदार नियुक्त कर दिया। लेकिन मुगल

शासक की स्वीकृति केवल औपचारिकता मात्र थी। वास्तविकता यही थी कि निजामुलमुल्क ने अपने बाहुबल से दक्षिण में एक नये स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर ली थी जिसे मुगल शासक ने स्वीकार कर लिया। १७२४ से १७४८ के बीच २४ वर्षों तक निजामुलमुल्क हैदराबाद में अपनी शक्ति को बनाये रखने का प्रयत्न करता रहा। पड़ोस के शक्तिशाली मराठा राज्य से उसका कई बार संघर्ष हुआ और उसे मुँह की खानी पड़ी। लेकिन फिर भी अपनी शक्ति और कूटनीति के भरोसे निजाम अपनी स्थिति को सुदृढ़ करता गया।

मुगल सम्राट की सहानुभूति के मूल्य को निजाम समझता था। उसने आवश्यकता पड़ने पर मुगल बादशाह की तत्परता से सहायता भी की। १७३७ से १७४० के बीच मुगल शासक का पक्ष लेकर उसने मराठों से संघर्ष किया। निजामुलमुल्क निश्चित रूप से एक कुशल सेनानायक और सफल प्रशासक था तथा अपनी योग्यता के बल पर ही उसने दक्षिण में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की।

निजाम की मृत्यु के पश्चात हैदराबाद के जो सूबेदार हुए वे निर्बल थे। सत्ता को बनाये रखने के लिए पहले तो वे फ्रांसीसियों पर निर्भर रहे और फिर अंग्रेजों पर। नासिरजंग १७४८ से ५० तक तथा मुजफ्फरजंग १७५०-५१ तक ही राज्य कर सके। फिर सलावतजंग (१७५१-६२) ने राज्य किया। सलावतजंग फ्रांसीसियों पर निर्भर रहा। उसकी मृत्यु हो जाने पर १७६४ से १८०२ तक निजाम अली ने हैदराबाद पर शासन किया।

अवध

दूसरा प्रमुख राज्य, जो मुगल साम्राज्य से स्वतंत्र हुआ, अवध था जिसकी स्थापना करने का श्रेय प्रमुख शिया सरदार सादात खाँ को प्राप्त हुआ। १७१९ में सादात खाँ आगरा प्रान्त में बियाना का फौजदार था। सैयद बंधुओं का दमन करने में उसने मुगल शासक की जो सेवा की उससे उसे पाँच हजार ज़ात और तीन हजार सवार की हैसियत का मनसबदार नियुक्त किया गया। उसकी गिनती प्रमुख अमीरों में की जाने लगी तथा आगरा के गवर्नर का पद उसने सँभाला। १७२२ में अवध का सूबेदार नियुक्त हो जाने के कुछ समय बाद उसने अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर ली। अवध मुगल साम्राज्य से अलग एक स्वतंत्र राज्य बन गया। १७२३ से १७३९ तक उसने कुशलता से शासन किया। अवध में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में उसे सफलता मिली। सादात खाँ का कोई पुत्र नहीं था। इससे उसकी बहन का पुत्र सफदरजंग अवध का शासक बना। मुगल सम्राट ने इस उत्तराधिकार को स्वीकार करते हुए नवाब को शाही फरमान दिया। सफदरजंग एक योग्य और सफल प्रशासक तो था ही परन्तु इसके साथ ही रणकुशलता उसका प्रधान गुण था।

मुगल बादशाह ने १७४८ में सफदरजंग को वजीर नियुक्त किया। इसी कारण अवध के शासक नवाब वजीर कहे जाने लगे। सफदरजंग ने अवध की सैन्य शक्ति को बढ़ाने के हर सम्भव उपाय किये। अवध राज्य की सीमा का विस्तार भी उसके समय में हुआ।

१७५४ में शुजाउद्दौला अवध का नवाब बना। उसके शासनकाल में धार्मिक कट्टरता की नीति अपनायी गयी। मराठों ने अवध के नवाब की इस नीति का विरोध किया और

उससे माँग की कि काशी तथा प्रयाग, हिन्दुओं के दोनों प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों को मराठों के अधिकार में सौंप दिया जाये। शुजाउद्दौला ने इसे स्वीकार नहीं किया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा

साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तों का अर्थात् बंगाल, बिहार और उड़ीसा का इतिहास भी अवध और हैदराबाद के इतिहास से मिलता जुलता है। जिस प्रकार मुगल सम्राट के प्रति स्वामिभक्ति का दिखावा बनाये रखते हुए सादात खाँ ने अवध पर अपना अधिकार जमा लिया उसी प्रकार मुर्शीद कुली खाँ भी स्वतंत्र रूप से बंगाल का नवाब बन बैठा। सबसे पहले मुर्शीद कुली खाँ १७१३ में फरुखसियर के समय बंगाल के सूबे का सूबेदार नियुक्त हुआ। जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि "मुर्शीद कुली खाँ शक्तिशाली, ईमानदार और योग्य शासक था। वह न्यायशील था तथा शान्ति और व्यवस्था की सदैव रक्षा करता था। उसके सुशासन से लोगों की सुख-समृद्धि बढ़ी और प्रदेश के व्यापार को प्रोत्साहन मिला।"

१७२७ में मुर्शीद कुली खाँ की मृत्यु के बाद उसका दामाद, शुजाउद्दीन नवाब बना। मुगल सम्राट ने न केवल इस उत्तराधिकार को स्वीकार ही किया अपितु बिहार का अधिकार भी उसे सौंप दिया। इस प्रकार बंगाल, बिहार और उड़ीसा के तीनों प्रान्तों का वह शासक बन गया।

मुगल सम्राट का आधिपत्य प्रायः बंगाल, बिहार और उड़ीसा में समाप्त हो गया था। यह इससे स्पष्ट होता है कि मुगल सम्राट द्वारा इन प्रान्तों के लिए किसी को भी नाजिम या दीवान नियुक्त नहीं किया गया। मुगल सम्राट का अधिकार केवल यहाँ तक सीमित रहा कि जब कोई नया उत्तराधिकारी पद सँभालता था तो वह सम्राट से स्वीकृति प्रदान करने का निवेदन करता था। परम्परानुसार वह नजराना भेंट करता था और उसे शाही फरमान प्रदान कर दिया जाता था। १७४० में बंगाल की घटनाओं से स्थिति और अधिक स्पष्ट हो जाती है। इस वर्ष बिहार के नायब गवर्नर ने बंगाल के नवाब के विरुद्ध संघर्ष छेड़ दिया। दोनों के बीच हुए युद्ध में नवाब मार डाला गया। घटना-क्रम से स्पष्ट है कि नवाब के एक अधिकारी ने शक्ति के बल पर उसकी गद्दी छीन ली थी। लेकिन फिर भी मुगल सम्राट ने उसे फरमान दे दिया और अलीवर्दी खाँ नियमित रूप से बंगाल का प्रशासक बन बैठा।

अलीवर्दी खाँ ने इस सूबे की रक्षा करने के लिए कभी भी मुगल सम्राट् से किसी कार की सहायता नहीं माँगी। कई बार मराठों ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा राज्य पर आक्रमण किये। इनका मुकाबला नवाब को स्वयं करना पड़ा।

जरात, मालवा और बुन्देलखण्ड

गुजरात मुगलों के अधीन एक समृद्ध प्रान्त था। लेकिन दिल्ली में बढ़ती हुई जकता के कारण गुजरात पर प्रभाव बनाये रखना कठिन हो गया। गुजरात पर मराठों प्रभाव उस समय से आरम्भ हुआ जब उन्हें यहाँ से चौथ और सरदेशमुखी वसूल करने अधिकार मिला। मुगलों की ओर से जोधपुर का महाराजा अभय सिंह गुजरात का गवर्नर अभय सिंह मराठों की शक्ति को दबाने में सफल नहीं हुआ और १७३३ के युद्ध में मुँह की खानी पड़ी। १७३५ तक मराठे गुजरात के वास्तविक शासक ...

बड़ौदा राज्य स्थापित हुआ और गायकवाड़ परिवार का शासन आरम्भ हुआ।

मालवा प्रान्त में मुगल सम्राट की ओर से आमेर के महाराजा जय सिंह को नियुक्त किया गया। जब मुगलों की कमजोरी का लाभ उठाकर अन्य क्षेत्र के गवर्नरों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की स्थापना कर ली तो इसी प्रकार महाराजा जय सिंह भी मालवा में अपना प्रभाव स्थापित करने पर विचार करने लगा। लेकिन उसके सामने मुख्य प्रश्न यह था कि क्या मराठों के विरुद्ध मालवा में वह स्वतंत्र राज्य की स्थापना कर सकता था। इसकी उसे कोई सम्भावना नहीं दिखी, विशेष रूप से उस समय जब बाजीराव के नेतृत्व में मराठे उत्तर की ओर राज्य-विस्तार करने की नीति का निर्णय कर चुके थे। १७२३-२४ में मराठों ने मालवा पर चढ़ाई की और पेशवा के तीन सेनानायक मालवा में रह गये जिन्होंने क्रमशः इन्दौर, ग्वालियर, और धार में मराठा शक्ति को संगठित किया।

१७२८ में मराठों ने छत्रसाल का पक्ष लेकर बुन्देलखण्ड में प्रवेश किया। इस समय छत्रसाल मुगलों के सेनानायक मोहम्मद खाँ बंगश से युद्ध कर रहा था। सैनिक सहायता के बदले छत्रसाल ने अपने राज्य का एक तिहाई भाग मराठों को सौंप दिया। बाजीराव के हाथ में कालपी, सागर और झाँसी के प्रदेश आ गये और अब मराठों की सेनाएँ बिना किसी अवरोध के दोआब अथवा आगरा तक बढ़ सकती थीं।

मराठों का अभ्युदय

मुगलों से राजनीतिक प्रधानता मराठों के हाथों में पहुँची। अठारहवीं सदी में वे भारत की सबसे प्रमुख शक्ति के रूप में उभरे। यही कारण है कि मराठों की सैनिक शक्ति और उनके राजनीतिक प्रभुत्व का असर सम्पूर्ण भारत पर पड़ा।

शिवाजी के उपरांत मराठा राज्य के विकास का सबसे अधिक श्रेय इस वंश के उत्तराधिकारी साहू को है। साहू ने १७०८ से १७४९ तक छत्रपति का पद सँभाला। उसी के शासनकाल में पेशवाओं का अभ्युदय हुआ। पेशवा का पद प्रधानमंत्री का ही था। यह पद धीरे-धीरे वंशानुगत होता गया। पेशवा मराठा राज्य का कर्णधार बन गया। छत्रपति साहू की दूरदर्शिता यही थी कि उसने योग्य पेशवाओं को नियुक्त किया और उन्हें शासन संचालित करने, राज्य विस्तार और सैनिक अभियानों की पूरी छूट दे दी। यही कारण है कि बालाजी विश्वनाथ (१७१३-२०), बाजीराव (१७२०-४०) और बालाजी राव (१७४०-६१) के नेतृत्व में मराठों की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। पेशवाओं के नेतृत्व में ही मराठों ने भारत के दक्षिण और मध्यवर्ती भाग में एक विशाल राजनीतिक सत्ता की स्थापना कर ली।

पेशवा बाजीराव एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। उसके जैसे उत्साही और योग्य सेनानायक के लिए दक्षिण भारत का क्षेत्र पर्याप्त नहीं था। अतः उसने उत्तर भारत की ओर मराठों की शक्ति लगा दी। सैनिक शक्ति के बलबूते पर उसने मालवा, गुजरात और बुन्देलखण्ड को मराठा राज्य में मिला लिया। इसके साथ-साथ राजस्थान और दिल्ली तक प्रभाव स्थापित करने की भावना मराठों में जगी।

बाजीराव के उत्तराधिकारी बालाजी राव के समय मराठों का राज्यविस्तार का सिलसिला चलता रहा। इससे मराठों और भारत के अन्य नवोदित राज्यों के बीच मतभेद और वैमनस्य उभरे।

उत्तर भारत में प्रभाव स्थापित करने के फलस्वरूप मराठों के सम्मुख अनेक चुनौतियाँ उपस्थित हुई। जब अहमदशाह अब्दाली के पंजाब पर आक्रमणों का सिलसिला चलता ही रहा तो मराठों ने इस अफगान आक्रमणकारी का मुकाबला करने का निश्चय किया। इसी परिस्थिति में पानीपत का तृतीय युद्ध हुआ। पंजाब पर अधिकार के प्रश्न को लेकर मराठों और अब्दाली के बीच यह भीषण युद्ध हुआ।

पानीपत का तृतीय युद्ध

अहमद शाह अब्दाली (दुर्रानी) का मुकाबला करने का निर्णय तत्कालीन पेशवा बालाजी राव ने किया। लेकिन पेशवा में सेना का नेतृत्व करने की वैसी क्षमता नहीं थी जैसी योग्यता पूर्ववर्ती पेशवा बाजीराव में थी। पेशवा के भाई सदाशिव राव भाऊ को मराठा सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया। सदाशिव राव भाऊ और अहमदशाह दुर्रानी की सैनिक योग्यता में पर्याप्त अंतर था। इसने इस महत्वपूर्ण युद्ध में मराठों की सफलता अथवा असफलता को प्रभावित किया।

पानीपत के तृतीय युद्ध के कारण

अब तक उन परिस्थितियों की विवेचना की जा चुकी है जिनसे मराठों और अब्दाली के बीच पानीपत का युद्ध अवश्यंभावी हो गया था। यहाँ युद्ध के कारणों का अवलोकन करना आवश्यक है।

भारत में राजनीतिक शून्यता

पानीपत के युद्ध का पहला कारण तो यह था कि भारतीय राजनीति में मुगल शक्ति के ह्रास के पश्चात् शून्यता आ गयी थी। एक लंबे समय से दिल्ली के शासक देश में छाये रहे थे। चाहे उनका साम्राज्य संकुचित हो अथवा विशाल, दिल्ली के बादशाह की प्रभुता को भारत की अन्य शक्तियाँ स्वीकार करती थीं। केन्द्रीय शक्ति जब तक बलशाली रही, मुगलों को उत्तर-पश्चिम के आक्रमणों से भय नहीं रहा। सीमा-सुरक्षा की अग्रगामी नीति अपनाकर मुगलों ने काबुल तक प्रभाव बनाये रखा। लेकिन १७६१ तक मुगल बादशाह शक्तिहीन हो चुका था। राजनीति का यह सर्वमान्य सिद्धांत है कि ऐसी शून्यता को भरने के लिए अन्य राज्य प्रयास करते हैं। शून्यता अस्थायी स्थिति है और भारत में अठारहवीं शताब्दी के मध्य में कम-से-कम दो ताकतों ने उत्तर भारत में इस रिक्तता को दूर करके अपनी राजनीतिक शक्ति और प्रभाव को स्थापित करने की चेष्टा की। ये दोनों शक्तियाँ थीं मराठे और दुर्रानी।

दिल्ली पर प्रभाव जमाने का संघर्ष

मुगल शासक इस समय तक निर्बल अवश्य हो गया था परंतु उसकी प्रभुता को वैधानिक तौर से प्रायः देश के सभी प्रमुख राज्यों द्वारा स्वीकार किया जाता था। इस कारण प्रमुख राजनीतिक शक्तियों ने लगातार यह कोशिश की कि मुगल बादशाह उनके प्रभाव में रहे। वे इस प्रभाव का उपयोग अपने हित में करना चाहती थीं। १७४८ से वजीर तथा मीर

बख्शी की नियुक्तियों में हैदराबाद के निजाम, अवध के नवाब, मराठे तथा अहमदशाह दुर्रानी रुचि लेने लगे थे। इसके अलावा दिल्ली दरबार के सामन्त प्रत्येक संघर्ष में किसी-न-किसी शक्ति से सहायता माँगते थे। १७४८ में अवध का नवाब सफदरजंग वजीर था। जब अहमदशाह ने उसे हटाकर हैदराबाद के निजाम के पुत्र नाजिरजंग को वजीर बनाना चाहा तो सफदरजंग ने मराठों से मदद माँगी। इसी प्रकार मराठों ने कई बार दिल्ली में होने वाले संघर्ष में किसी-न-किसी का पक्ष लेकर हस्तक्षेप किया। मराठे मुगल बादशाह पर अपना दबाव बढ़ाने लगे। १७५१ में सफदरजंग के सामने पुनः संकट उत्पन्न हो गया। रुहेले और बंगश पठान अवध पर हमले कर रहे थे। मराठों की मदद से उनका दमन किया गया। १७५२ में एक समझौते द्वारा मराठों ने मुगल बादशाह की सुरक्षा का भार सँभाला। यह समझौता सफदरजंग की इच्छानुसार ही किया गया था।

१७५३ में दिल्ली में मुगल बादशाह और वजीर सफदरजंग के बीच तीव्र मतभेद दिखायी देने लगे। दोनों ने एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए मराठों से सहायता की माँग की। इस समय मराठों ने सफदरजंग के विरोधी गुट की सहायता की। इतना ही नहीं, मुगल बादशाह ने रुहेला सरदार नाजिब खाँ से भी मदद प्राप्त की। सफदरजंग की सहायता के लिए सूरजमल जाट ने एक शक्तिशाली सेना भेजी। छह महीने तक दिल्ली के निकट सफदरजंग तथा मुगल बादशाह और उसके सहायकों के बीच सैनिक संघर्ष चलता रहा। सफदरजंग इस संघर्ष में पराजित हुआ और दिल्ली से हटकर वह लखनऊ चला गया।

१७५७ में दिल्ली में रुहेला सरदार नाजिबुद्दौला के विरुद्ध जो संघर्ष छिड़ा उसमें भी मराठों ने भाग लिया। नाजिब और मराठों के बीच युद्ध हुआ जिसमें मराठों की विजय हुई। इन घटनाओं से यह आसानी से समझा जा सकता है कि मराठों ने दिल्ली की घटनाओं में कितनी रुचि लेना आरंभ कर दिया था। इसी प्रभाव को बनाये रखने के उद्देश्य से मराठों ने अहमद शाह का विरोध किया। १७५७ से १७६० के बीच उसका प्रभाव दिल्ली पर बढ़ता जा रहा था। मराठे इस स्थिति को सहन नहीं कर सकते थे कि मुगल सम्राट दुर्रानी के प्रभाव में आ जाये।

अहमदशाह दुर्रानी का उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप

अफगानिस्तान का शासक भारत के लिए विदेशी था। १७५७ के बाद वह दिल्ली तक बढ़ता आया था और उसने मथुरा को भी लूटा था। इस आक्रमण से लौटते समय दुर्रानी नाजिबुद्दौला को वजीर नियुक्त करके गया था। वह उत्तर भारत की राजनीति में प्रबल होने का प्रयास कर रहा था। रुहेलों और जाटों पर उसका प्रभाव बढ़ा था। पंजाब पर उसने पहले ही अधिकार कर लिया था। अतः मराठों को निर्णय करना पड़ा था कि वे उसके बढ़ते हुए प्रभाव को स्वीकार करने को तैयार थे अथवा नहीं। विरोध करने पर युद्ध की सम्भावना थी। मराठों ने दुर्रानी का प्रतिरोध करने का निश्चय १७६० में किया जब दुर्रानी एक बार फिर दिल्ली तक आ गया और उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों को उसकी सेनाएँ रौंदने लगी थीं। मराठा इतिहासकार टी.एस. शेजवल्कर का मत है कि पानीपत के इस युद्ध का मुख्य कारण यह था कि मराठे इस विदेशी को भारत से बाहर कर देना चाहते थे।

मराठों तथा दुर्रानी के बीच पंजाब में संघर्ष

पानीपत के युद्ध का यह आकस्मिक कारण सिद्ध हुआ। परिस्थितियों का वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि १७५८ में मराठा सेना ने पंजाब पर अधिकार करके दुर्रानी को चुनौती दी थी। लेकिन मराठों का अधिकार इस क्षेत्र पर अप्रैल, १७५८ से लेकर अक्तूबर, १७५६ तक ही रहा। अफगान सेनाओं ने एक बार फिर पंजाब पर अधिकार करके जब मराठों को पीछे ढकेल दिया तो पेशवा दुर्रानी के पंजाब के अधिकार को स्वीकार करके कोई कूटनीतिक समझौता कर सकता था। लेकिन इससे मराठों के प्रभुत्व को धक्का लग सकता था। सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में एक बड़ी सेना जब उत्तर की ओर बढ़ी तो मराठों और दुर्रानी के बीच संघर्ष की सम्भावना बढ़ गयी थी।

उत्तर भारत की अस्थिर राजनीति

उत्तर भारत की अस्थिर राजनीति ने भी परिस्थिति को और भी अधिक पेंचीदा बना दिया क्योंकि दोनों विरोधी पक्ष अन्त तक यह सही अंदाज नहीं लगा सके कि कौन-सी-शक्तियाँ किसका साथ देंगी। कम-से-कम मराठों को तो इसका सही आभास नहीं मिल सका। मराठों की सेना जैसे ही पूना से उत्तर की ओर बढ़ी, अन्य राज्यों से सम्पर्क आरम्भ हो गया था लेकिन राजपूत राज्यों ने तथा जाटों ने कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। रुहेलों ने दुर्रानी का पक्ष लेना आरभ कर दिया था। नाजिबुद्दौला मराठों का कट्टर विरोधी था। अतः उससे आशा नहीं करनी चाहिए थी। लेकिन अवध के नवाब शुजाउद्दौला के रुख ने पानीपत के युद्ध को प्रभावित किया। मराठे सरदार अंतिम समय तक यही आशा करते रहे कि नाजिबुद्दौला और शुजाउद्दौला के बीच शत्रुता के कारण वे दोनों एक ओर से युद्ध नहीं करेंगे। किन्तु पानीपत के युद्ध के समय मराठों की आशाओं पर पानी फिर गया जब शुजाउद्दौला भी दुर्रानी से मिल गया। इन दोनों शक्तियों के सहयोग से अहमदशाह का हौसला बढ़ा और वह पानीपत की ओर बड़े विश्वास के साथ आगे बढ़ा।

दुर्रानी की सैन्य सफलताएँ

१७५६ से १७६१ के बीच जिस कुशलता से अहमदशाह की सेनाओं ने मराठों को पहले पंजाब से और उसके बाद दिल्ली से खदेड़ दिया था उसका अन्य शक्तियों पर तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि वे अफगानों की बढ़ती हुई ताकत से प्रभावित हुए। यह समझा जाने लगा कि दुर्रानी की सेनाओं पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती थी। इन आरंभिक विषयों से दुर्रानी को यह लाभ मिला कि भारत के अन्य राज्यों से आशा से अधिक सैनिक सहायता प्राप्त हुई। इसके विपरीत उत्तर भारत के राज्य मराठों की शक्ति के विषय में शंकित हो उठे। उन्हें यह विश्वास नहीं हो सका कि मराठों की सेना दुर्रानी के विरुद्ध सफल हो सकती थी। यही कारण है कि किसी भी प्रमुख भारतीय राज्य ने मराठों का साथ पानीपत के युद्ध में नहीं दिया और उन्हें करीब-करीब अकेले ही युद्ध करना पड़ा। मराठों के प्रति किसी की भी सहानुभूति नहीं थी। जाट, रुहेले, अवध के नवाब तथा राजपूत राज्यों को मराठों की सेनाओं ने परेशान किया था। हर छोटा तथा बड़ा राज्य किसी-न-किसी

कारण से मराठों के व्यवहार से अप्रसन्न था। इस कारण पानीपत के मैदान में मराठों को ऐसा ज्ञात हुआ जैसे कि वे किसी विदेशी क्षेत्र में आकर युद्ध कर रहे हों जहाँ आसपास कोई भी उन्हें मित्र नहीं नजर आ रहा था। मराठा राजनीति की यह वड़ी असफलता थी। इससे मराठों की सेना का मनोबल घटा।

पानीपत के तीसरे युद्ध का आरम्भ

मार्च, १७६० में पूना से उत्तर की ओर सदाशिवराव भाऊ के नेतृत्व में मराठों की सेनाओं ने कूच किया। मुख्य सेना की संख्या केवल तीस हजार थी और हजारों की तादाद में पिंडारी भी सेना के साथ थे। मराठों की सेनाएँ उत्तर भारत में फैली हुई थीं। जैसे-जैसे सेना उत्तर की ओर बढ़ती गयी, अन्य प्रमुख मराठा सामंत अपनी सेनाओं को लेकर मुख्य सेना से मिलते गये। सेना बहुत धीमी गति से आगे बढ़ी। दिल्ली पर अगस्त में अधिकार करके सेनापति भाऊ ने निश्चय किया कि पानीपत के प्रसिद्ध मैदान में ही अहमदशाह दुर्रानी का मुकाबला किया जाये। २८ अक्तूबर, १७६० को मराठों की सेनाएँ इस मैदान पर आ डटीं। दिल्ली से उत्तर की ओर लगभग नब्बे किलोमीटर दूर ग्रांड ट्रंक राजमार्ग पर स्थित इस मैदान में इसके पूर्व के दो प्रसिद्ध युद्धों में सोलहवीं शताब्दी में दिल्ली के बादशाहों ने प्रमुख भूमिका निभायी थी। लेकिन अब परिस्थितियाँ बदल गयी थीं तथा मराठों की सेनाएँ विदेशी आक्रमणकारी का रास्ता रोके खड़ी थीं।

मराठों की सेना के आगमन के कुछ दिनों बाद ही दुर्रानी की सेनाएँ भी पानीपत के मैदान तक पहुँच गयीं। रुहेलों की एक शक्तिशाली टुकड़ी के साथ नाजिबुद्दौला भी दुर्रानी की सहायता कर रहा था। अवध का नवाब शुजाउद्दौला भी अपनी सेनाओं के साथ दुर्रानी के पक्ष में युद्ध करने को तत्पर था। जाट और राजपूत इस युद्ध से दूर रहे।

करीब दो महीने तक ये सेनाएँ एक दूसरे के आमने-सामने डटी रहीं। इस बीच कभी-कभी छुटपुट मुठभेड़ हो जाती थी।

दोनों पक्षों की वास्तविक सेनाओं के विषय में तथा युद्ध और उसके बाद की घटनाओं के विषय में मराठों की ओर से हमें बहुत कम जानकारी उपलब्ध है। अन्य वर्णनों के आधार पर कई तथ्यों के बारे में निर्णय करने में कठिनाइयाँ हैं। उदाहरणार्थ, दोनों सेनाओं की वास्तविक संख्या के विषय में बहुत सही अनुमान लगाना कठिन है। फिर भी अब तक की प्राप्त सूचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि युद्ध में भाग लेने योग्य मराठों की सेना ४५ हजार थी तथा दुर्रानी और उसके सहायकों की कुल सेना ६० हजार थी।

पानीपत का यह युद्ध १४ जनवरी, १७६१ को प्रातःकाल आरम्भ हुआ। दोनों पक्षों ने युद्ध में अपनी-अपनी योजना के अनुसार कार्यवाही आरम्भ कर दी। युद्ध का आरम्भ मराठों ने किया था और दिन का चुनाव भी उन्हीं का था। फौजें एक दूसरे के इतने निकट थीं कि मराठों की तैयारियों से दुर्रानी तुरन्त सचेत हो गया।

ध्यान देने योग्य है कि विशाल सेना को लेकर आमने-सामने युद्ध करने के बजाय मराठे गुरिल्ला पद्धति से युद्ध करने में अधिक कुशल थे। युद्ध के समय तक पूरी योजना

के सम्बन्ध में मराठे सरदार एकमत नहीं हो सके। यह एक आरम्भिक कमजोरी थी। युद्ध की योजना पहले यह बनायी गयी थी कि मराठा सेना वर्गाकार रूप में बढ़ेगी। लेकिन युद्ध आरम्भ होने के कुछ समय बाद सेनापति भाऊ ने इस योजना को बदल दिया और सेना को लम्बी कतार बनाकर चलने की आज्ञा दी। युद्ध की योजना के आकस्मिक परिवर्तन से मराठा सेना में अस्तव्यस्तता फैल गयी। अहमदशाह दुर्रानी ने दूर तक फैली हुई सेना की गति पर पूर्ण नियंत्रण रखा और उसकी सेनाओं ने नियोजित ढंग से कार्य किया।

जनवरी के जाड़े के उस दिन करीब छह-सात घंटों में ही युद्ध समाप्त हो गया। पहले दौर का युद्ध करीब दोपहर बारह बजे तक चला जिसमें मराठों की सेना का पलड़ा भारी रहा। मराठा सेना जब युद्ध में थकने लगी तो अहमदशाह ने करीब दस हजार सुरक्षित घुड़सवारों को अचानक युद्ध में आगे बढ़ने को कहा। ये सैनिक पूरी तरह से चुस्त थे और आकस्मिक हमले की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रहे थे। इस बीच मराठों की बड़ी तोपों से बचने का उपाय भी दुर्रानी ने कर लिया था। कुछ घंटों में ही पासा पलटता हुआ दिखायी पड़ने लगा। सैनिकों के बीच निकट से जब संघर्ष हुआ तो जिस पक्ष के पास अधिक सैनिक थे उसे लाभ हुआ। करीब तीन बजे तक यह दिखायी देने लगा था कि मराठों की सेना कमजोर हो रही थी। इसी समय अचानक दुश्मन की गोली लगने से पेशवा का सत्रह वर्षीय पुत्र विश्वासराव युद्धस्थल में मारा गया। इस घटना के बाद से मराठे निराश हो गये। उनके पैर उखड़ने लगे। इसी समय सदाशिवराव भाऊ भी युद्धस्थल से अन्यत्र चला गया। सेना ने जब उसे न देखा तो अचानक समूची सेना में खलबली मच गयी। इसके बाद करीब चार बजे सायंकाल तक बहुत ही घमासान युद्ध हुआ जिसमें हजारों सैनिक मारे गये। सदाशिवराव भाऊ युद्ध में लड़ते हुए मारा गया और मराठे अपनी जीवन-रक्षा के लिए भाग निकले। विजयश्री दुर्रानी के सेनाओं के हाथ लगी।

इस युद्ध में हताहतों की संख्या बहुत अधिक थी। इसका मुख्य कारण यह था कि मराठा सेनापति ने इस विषय में पहले से कोई भी विचार नहीं किया था कि स्थिति को बिगड़ने की दशा में मराठा सेना किस प्रकार से सुनियोजित ढंग से पीछे हटेगी। परिणाम यह हुआ कि जब मराठों को पराजय दिखायी पड़ने लगी तो उनके सामने पीछे हटने का कोई रास्ता नहीं था। इससे युद्ध में तथा भागते हुए हजारों सैनिक तथा उनके सहायक पकड़े गये अथवा मार डाले गये। करीब तीस हजार मराठा सैनिक युद्ध में अथवा बाद में मार डाले गये। मराठों की सेना में सैनिकों के अलावा असैनिकों की संख्या भी आवश्यकता से अधिक थी। इनमें से भी करीब २५ हजार अवश्य मार डाले गये। इस प्रकार मराठों की ओर से हताहतों की संख्या ५० हजार से लेकर ७५ हजार तक हो सकती है। जदुनाथ सरकार का कथन है कि शायद ही कोई ऐसा मराठा परिवार बचा हो जिसका कोई सदस्य न मरा हो और पूरी पीढ़ी के नेताओं का एक ही धक्के में सफाया हो गया। सदाशिवराव भाऊ और विश्वासराव के अलावा कई प्रसिद्ध मराठा सैनिक युद्ध में मारे गये।

मराठों की पराजय के कारण

मराठों की पराजय का पहला कारण तो यह था कि सदाशिवराव भाऊ की तुलना में

अहमदशाह दुर्रानी कहीं अधिक योग्य सेनापति था। दुर्रानी ने सेना की योजना बड़ी कुशलता से बनायी थी और युद्ध के दौरान उसने विरोधी मराठा सैनिकों की गतिविधियों पर पैनी नजर रखी। भाऊ के सामने कई कठिनाइयाँ थीं। वह मराठा सेना का सेनानायक था लेकिन वास्तविक रूप में यह पद पेशवा के पुत्र विश्वासराव को दिया गया था। इसके अलावा भाऊ को उत्तर के युद्धों का कोई भी अनुभव नहीं था। दूसरा कारण यह था कि मराठा सरदारों में मतैक्य नहीं था। इन सरदारों के आपसी मतभेदों से युद्ध पर प्रतिकूल असर पड़ा। मल्हार राव और इब्राहीम गर्दी के बीच गहरे मतभेद थे। इसी प्रकार होल्कर और सिन्धिया हमेशा एक दूसरे का विरोध करते थे। मराठा सेना में असैनिकों की बड़ी संख्या भी एक समस्या बन गयी। शिवाजी के समय कोई भी स्त्री कभी सेना के साथ नहीं जाती थी। पानीपत में मराठों के खेमों में कई सैनिक अधिकारी अपनी पत्नियों को ले गये थे। इसके अलावा सैकड़ों अन्य स्त्रियाँ भी खेमों में थीं। भारी सामान और असैनिकों के कारण सेना तेजी से आगे न चल सकी। पानीपत के मैदान में पहुँचने के पूर्व भारी सामान को और अन्य सहायकों को पीछे छोड़ देना चाहिये था।

मराठों की पराजय का चौथा कारण यह था कि भोजन के सामान की कमी पड़ने लगी थी। इसी के साथ-साथ भाऊ के पास धन भी बहुत कम था। पानीपत पहुँचने के एक महीने बाद मराठों को भोजन का सामान एकत्रित करने में कठिनाई होने लगी। अन्त में भाऊ को इस स्थिति पर काबू पाने के लिए युद्ध के लिए तैयार होना पड़ा।

मराठे तोपों का उचित प्रयोग नहीं कर सके। उनकी तोपें बहुत बड़ी थीं और आसानी से उनका स्थान-परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। तत्कालीन इतिहासकार लिखता है कि तोपों के गोले एक मील पीछे ही गिर जाते थे। अफगानों के पास बहुत हल्की तोपें थीं जो बिना किसी कठिनाई के एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जायी जा सकती थीं तथा उनका मुँह आवश्यकतानुसार मोड़ा जा सकता था। इन तोपखानों ने युद्ध में बहुत ही कारगर ढंग से काम किया।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि मराठों की पराजय का कारण केवल सेना की कमजोरी ही नहीं थी। इसका कारण कूटनीतिक भी था। राजपूत राजाओं और जाटों की मदद मराठों के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध होती। परंतु इन्होंने मराठों की किसी तरह की सहायता नहीं की। शुजाउद्दौला को भी मराठे अपने पक्ष में न कर सके और युद्ध के कुछ महीनों पूर्व तक भाऊ उसे पत्र लिखता रहा। इससे मराठों की कमजोरी और भी प्रकट हुई।

अंत में मराठों की पराजय का उत्तरदायित्व पेशवा पर भी आता है। पेशवा कठिन समय में न तो उत्तर की सेना को किसी प्रकार का समर्थन दे सका और न राजनीतिक स्थिति का वह सही मूल्याँकन ही कर सका। कई बार ऐसे भी अवसर आये थे जब कि सीधे युद्ध के मैदान तक पहुँचने के पूर्व दुर्रानी से समझौता किया जा सकता था। ऐसे अवसर भी आये जब विभिन्न सहायकों ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराना चाहा। परंतु पेशवा तथा उसके प्रतिनिधियों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

पानीपत के तीसरे युद्ध के परिणाम

इस भीषण युद्ध की विजय से अहमदशाह दुर्रानी को विशेष लाभ नहीं हुए। पंजाव पर अधिकार करने के प्रश्न को लेकर ही दोनों पक्षों में संघर्ष की नौबत आ गयी थी। पानीपत के युद्ध के पश्चात उसका पंजाव पर अधिकार हो गया।

लेकिन पंजाब पर भी अफगानों का अधिकार पानीपत के युद्ध के बाद करीव तीस वर्षों तक ही रहा। इस बीच विभिन्न सिख सरदारों ने छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना कर ली थी और फिर रणजीत सिंह ने पंजाव में शक्तिशाली साम्राज्य की नींव डाली। दुर्रानी को दिल्ली की राजनीति में कोई रुचि नहीं थी। वह पानीपत के युद्ध के दो महीने बाद अपनी सेना के साथ स्वदेश लौट गया। दिल्ली का शासन वह नाजिबुद्दौला के हाथ में सौंप गया था। वजीर के पद पर नाजिब १७७१ तक बना रहा और उसने मुगल शासक को दिल्ली आने का अवसर नहीं दिया। अहमदशाह ने शाहआलम को दिल्ली के सिंहासन पर बैठने का अधिकार दिया था। इसके अतिरिक्त विजेता अफगान शासक को युद्ध के परिणामस्वरूप किसी प्रकार का धन भी प्राप्त नहीं हुआ। उसने स्वयं कहा था- "ऐसी एक और विजय से हम ध्वस्त हो जायेंगे।" इस वक्तव्य का आशय यह था कि विजय प्राप्त करने में उसे भी बहुत अधिक मूल्य चुकाना पड़ा था। यही कारण है कि विजयी आक्रमणकारी भी भारत में अधिक समय तक नहीं रहा। पानीपत के बाद उसे मराठों से दूसरी मुठभेड़ की आशंका थी। उसे समाचार मिला था कि पेशवा ग्वालियर तक आ चुका है। दुर्रानी ने शीघ्र ही पेशवा से सम्बन्ध स्थापित करके समझौता वार्ता आरम्भ कर दी। दुर्रानी का प्रतिनिधि पेशवा से मिला और उसने अफगान शासक की ओर से सद्भावना व्यक्त की।

विजयी इस युद्ध से विशेष पुरस्कृत नहीं हुआ पर पराजित मराठे इससे अवश्य प्रभावित हुए। यह निर्विवाद है कि मराठों को इस युद्ध से भारी क्षति हुई। उनकी सैनिक शक्ति को धक्का लगा और हजारों की संख्या में सैनिकों की मृत्यु से मराठों की सेना कमजोर हुई । इस पराजय से उत्तर भारत में उनका राजनैतिक प्रभाव भी घटा। पंजाव पर वे दुबारा अधिकार करने की नहीं सोच सकते थे तथा अन्य राज्यों ने भी अनुभव किया कि जब मराठे अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते थे तो वे दूसरों की रक्षा किस प्रकार कर सकेंगे। मराठों के लिए हिंदूपदपादशाही के आदर्श को प्राप्त करना अब और भी कठिन हो गया। लेकिन इतना सब कहने का अर्थ यह भी नहीं कि मराठों की सत्ता उत्तर में समाप्त हो गयी। पानीपत के युद्ध के दस वर्ष बाद ही मराठों की सेनाओं ने पुनः दिल्ली पर अधिकार कर लिया। माधवराव पेशवा के नेतृत्व में एक बार फिर मराठों की शक्ति को संगठित किया गया। पानीपत के घावों को भरा जाने लगा था और मराठा शक्ति तथा प्रभाव को उत्तर भारत में स्थापित करने का प्रयास किया गया। इतिहासकार इस बारे में एकमत नहीं हैं कि मराठे पूरी तरह से अपनी शक्ति को संगठित कर सके अथवा नहीं। लेकिन फिर भी यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि मराठे फिर संगठित हो ही नहीं सकते थे। तथ्य यही जान पड़ता है कि माधवराव के समय में जिस प्रकार मराठों की शक्ति बढ़ी यदि उसी क्रम से

यह विकास चलता रहता तो पानीपत की पराजय के बावजूद वे पुनः उत्तर भारत पर छा जाते। लेकिन पेशवा माधवराव की मृत्यु के कारण मराठों को आघात लगा।

पानीपत के तीसरे युद्ध से मुगलों की अब तक की बची हुई प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गयी। ग्यारह वर्षों तक मुगल बादशाह दिल्ली तक न आ सका। वह इधर-उधर भगोड़े की तरह घूमता रहा। पहले अंग्रेजों के संरक्षण में तथा बाद में मराठों के संरक्षण में उसे रहना पड़ा।

इस युद्ध ने अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों को साम्राज्य स्थापित करने का अवसर प्रदान किया। जिस समय मराठे तथा उत्तर भारत की अन्य शक्तियाँ इस संघर्ष में व्यस्त थीं, क्लाइव और उसके उत्तराधिकारी ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाल रहे थे। प्लासी के युद्ध के समय नवाब सिराजुद्दौला का ध्यान उत्तर भारत की घटनाओं की ओर लगा हुआ था। दुर्रानी दिल्ली पर अधिकार करने के बाद मथुरा तक बढ़ चुका था। सम्भावित आक्रमण से बंगाल की रक्षा करने की दृष्टि से सिराजुद्दौला ने एक बड़ी सेना बिहार से तैयार कर दी थी। इसी कारण वह पूरी शक्ति से प्लासी के मैदान में अंग्रेजों के विरुद्ध न लड़ सका। इसके अलावा मराठों का ध्यान भी इस समय दुर्रानी की ओर था और वे भी अफगानों से संघर्ष करने में व्यस्त रहे। बंगाल में अंग्रेजों की शक्ति-स्थापना के समय मराठे किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सके। पानीपत की पराजय के बाद की स्थिति का अंग्रेजों ने और भी अधिक लाभ उठाया और बक्सर का युद्ध जीतकर बिहार तथा बंगाल में उन्होंने अपनी शक्ति को दृढ़ कर लिया।

दूसरा अध्याय

विदेशी व्यापारिक कंपनियों का प्रवेश और उनमें प्रतिस्पर्धा

६ अगस्त, १४९८ को वास्को डिगामा अफ्रीका के सुदूर दक्षिणी किनारे, होप की खाड़ी से होता हुआ सामान और हथियारों से भरा अपना जहाजी बेड़ा लेकर कालीकट के समुद्री तट पर पहुँचा। वह पुर्तगाल से एक साहसिक यात्रा पर निकला था। उसके भारत आगमन की घटना इस कारण महत्त्वपूर्ण हो गयी क्योंकि उसने पहली बार भारत आने के लिए एक समुद्री मार्ग खोज निकाला था। यूरोप में उस समय जोरों से यह अभियान चल रहा था कि सुदूर देशों की ओर के समुद्री रास्तों का पता लगाया जाय, उनके साथ व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त किया जाय तथा इसके साथ ही पश्चिमी सभ्यता का प्रसार करने की कोशिश की जाय। यूरोपीय नवजागरण से विश्व के कई क्षेत्र प्रभावित हुए जिनमें से भारत भी एक था।

पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और अंग्रेज, ये चार यूरोपीय जातियाँ भारत में आयीं और सभी ने अपने-अपने व्यापारिक एकाधिकार और बाद में राजनैतिक प्रभाव को जमाने का प्रयत्न किया। करीब ढाई सौ वर्षों तक भारत में यूरोपीय जातियों का प्रभाव समुद्र के किनारे के क्षेत्रों तक ही सीमित रहा। ये यूरोपीय जातियाँ प्रमुख रूप से व्यापार करने के उद्देश्य से ही भारत आयी थीं। लेकिन फिर भी इनमें प्रतिस्पर्धा बनी रही। पुर्तगाली और डच व्यापारी अन्य दो यूरोपीय जातियों के सामने न ठहर सके। अठारहवीं शताब्दी के मध्य से यूरोपीय व्यापारियों ने पैर फैलाना शुरू कर दिया। उनकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षा जागी और उन्होंने उस समय हो रहे सत्ता के संघर्ष से लाभ उठाना शुरू कर दिया।

भारत में यूरोपीय कम्पनियों के प्रवेश के लंबे इतिहास के बारे में यह कहा गया है कि भारत में व्यापार के बाद ध्वज ने प्रवेश किया। कहने का अर्थ यह है कि पहले तो यूरोपीय लोगों ने समुद्री मार्गों से, व्यापार करने के उद्देश्य से, हमारे देश में प्रवेश किया और फिर उन्होंने राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करके कुछ प्रदेशों पर कब्जा करना शुरू किया। स्वाभाविक ही था कि सभी यूरोपीय जातियों ने समुद्र के किनारे के प्रदेशों के निकट अपनी बस्तियाँ बसायीं, किले बनाये और नये-नये शहरों की नींव डाली। दक्षिण भारत की अस्थिर राजनीति और प्रतिद्वन्द्विता का उन्होंने भरपूर लाभ उठाया। सोलहवीं सदी के आरंभिक दशकों में ही पुर्तगालियों ने जिस प्रकार कई बस्तियाँ बसाकर अपना प्रभाव-क्षेत्र स्थापित कर लिया था उसी से समझा जा सकता है कि यूरोपीय जातियाँ मौके का लाभ उठाकर व्यापारिक और राजनीतिक प्रभाव को साथ-साथ बनाये रखने के लिए आरम्भ से ही तैयार थीं। अब हम इन यूरोपीय जातियों के भारत-आगमन और उनके क्रमिक विकास की चर्चा अलग-अलग करेंगे।

पुर्तगालियों का भारत में प्रवेश

ऊपर हम कह चुके हैं कि पंद्रहवीं सदी का अन्त होते-होते पुर्तगालियों का भारत में आगमन हुआ। वास्को डिगामा एक हाथ में बन्दूक और दूसरे हाथ में बिक्री की वस्तुओं को लेकर भारत आया था। कालीकट के राजा जमोरिन ने उसका स्वागत किया और उसने पुर्तगालियों को व्यापार करने की सुविधा प्रदान की। वास्को डिगामा की भारत-यात्रा पूर्णरूप से सफल रही। दो वर्ष के बाद जब वह अपने देश वापस पहुँचा तो पुर्तगाल का राजा उसकी यात्रा के विवरण से प्रभावित हुआ और उसने पुनः एक जहाजी बेड़ा भारत की ओर रवाना किया। इस प्रकार पुर्तगालियों का भारत आने का सिलसिला लगातार जारी रहा। सोलहवीं शताब्दी में भारत और यूरोप के बीच का व्यापार उनके हाथ में रहा। पुर्तगालियों ने अरब व्यापारियों पर विजय प्राप्त करके सारा व्यापार अपने हाथों में कर लिया और भारत तथा यूरोप के बीच के प्रमुख स्थानों पर भी अधिकार जमा लिया।

वास्को डिगामा के वापस जाने के बाद दो वर्ष में ही पेड्रो अलवरेज कबराल के नेतृत्व में तेरह पुर्तगाली जहाजों का एक शक्तिशाली बेड़ा कालीकट पहुँचा। वे जहाज प्रभावशाली तोप-बंदूकों से लैस थे। भारतीयों को तव तक बन्दूक आदि आग्नेयास्त्रों का प्रयोग मालूम नहीं था। पुर्तगाली इनका प्रयोग जानते थे। इसलिए इनका सशक्त मित्र की भाँति स्वागत हुआ। कबराल के जहाजी बेड़े में बारह सौ पुर्तगाली थे। इनकी सहायता से उसने अरबी बेड़ों पर आक्रमण कर दिया। अरबी जहाज नष्ट-भ्रष्ट हो गये। इस आक्रमण से उन्हें दो लाभ मिले। पहला यह कि उनके प्रतिद्वन्द्वी व्यापारियों की कमर टूट गयी और अरब सागर में वे बेखटके व्यापार कर सकते थे। दूसरा यह लाभ हुआ कि कालीकट और कोचीन के राजा उनकी शक्ति से प्रभावित हुए और उनकी धाक जम गयी। धीरे-धीरे उन्होंने काठियावाड के किनारे ड्यू से लेकर बंगाल में हुगली तक के समुद्री किनारे पर कई स्थानों में अपने कारखाने खोले।

पुर्तगाली बेड़ों के भारत आने का क्रम चलता रहा तथा कुछ पुर्तगाली स्थायी रूप से भी अलग-अलग क्षेत्रों में रहने लगे। उन्होंने 'नीले पानी की नीति' को अपनाये रखा। इसका अर्थ यह है कि उनका प्रभाव-क्षेत्र समुद्र के किनारे के क्षेत्र ही रहे। पुर्तगाली गवर्नर स्थायी रूप से पुर्तगाल के राजा के प्रतिनिधि की हैसियत से भारत में रहने लगा। वह पुर्तगाली वस्तियों की व्यवस्था करता था, व्यापार का संचालन करता था तथा पड़ोस के राज्यों के साथ संबंध रखता था।

अलबुकर्क सबसे प्रसिद्ध पुर्तगाली गवर्नर (१५०९-१५) हुआ। उसी ने भारत में पुर्तगाली प्रभाव को स्थायी बनाने की सबसे अधिक कोशिश की। उसके समय से पहले पश्चिमी किनारे पर पुर्तगाल के दो आधार-स्थल कोचीन और कनानौर थे। परन्तु कालीकट के राजा जमोरिन का रुख अब तक बदल चुका था। वह पुर्तगालियों का विरोधी हो गया था। इस स्थिति में अलबुकर्क को पुर्तगालियों के लिए अधिक सुरक्षित स्थान तलाश करना जरूरी हो गया। अलबुकर्क ने गोआ पर आक्रमण करके बीजापुर के सुल्तान के हाथ से इसे

छीन लिया। १५१० में उसने गोआ पर कब्जा किया। उस समय से गोआ भारत में पुर्तगालियों की शक्ति का केन्द्र बन गया और १६४७ के बाद तक भी वे उस पर प्रभुत्व बनाये रहे। अलबुकर्क की दूसरी महत्त्वपूर्ण सफलता थी सुदूर पूर्व क्षेत्र स्थित मलाका टापू पर अधिकार करना। इससे चीन के साथ व्यापार करने में मदद मिली। कुछ समय में ही पुर्तगालियों ने भारत में दमन बंदरगाह पर भी अधिकार कर लिया।

पुर्तगाली करीब एक शताब्दी तक ही भारत में अपनी शक्ति को बनाये रख सके। सोलहवीं सदी के समाप्त होते-होते उनकी शक्ति घटने लगी। डच और अंग्रेजों ने उनके कई क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और उनका व्यापारिक एकाधिकार भी नहीं रह सका। गोआ, दमन और ड्यू को छोड़कर सभी क्षेत्र उनके हाथ से निकल गये। पुर्तगालियों का व्यापार भी बहुत कुछ समाप्त हो गया।

पुर्तगालियों के पतन के कुछ कारणों पर यहाँ विचार किया जा सकता है। पुर्तगाली शक्ति के घटने का पहला कारण बाहरी था। १५८० में यूरोप के पड़ोसी राज्य स्पेन ने पुर्तगाल पर अधिकार कर लिया। इससे भारत पर पुर्तगालियों का प्रभाव शिथिल हो गया। दूसरे, सोलहवीं सदी के अंतिम दशकों में जब डच, अंग्रेज और फ्रांसीसी भी पूर्वीय देशों के साथ व्यापार करने लगे तो पुर्तगाली उनकी चुनौतियों का लम्बे समय तक सामना न कर सके। तीसरे, विजयनगर साम्राज्य और उसकी राजधानी की अवनति से भी पुर्तगालियों को धक्का लगा। चौथे, उन्हें भारत के राज्यों के प्रबल विरोध का मुकाबला करना पड़ा। मुगल शासक, बीजापुर, मराठे तथा इक्केरी के नायक ने उन्हें बाहर निकालने की कमर कस ली थी। अन्तिम कारण यह था कि पुर्तगालियों का शासन जनप्रिय न हो सका। उन्होंने ईसाई धर्म और संस्कृति का प्रसार करने की जो कोशिश की उसका विरोध हुआ।

फिर भी पुर्तगालियों के भारत-आगमन से हमारे देश के इतिहास ने एक नया मोड़ लिया। उन्होंने भारत में यूरोपीय प्रभाव को स्थापित करने का पहला प्रयास करके एक नयी दिशा दी। हालाँकि वे सफल न हो सके पर अन्य शक्तिशाली यूरोपीय राज्यों ने भारत की ओर बढ़ने का क्रम जारी रखा। पुर्तगालियों ने युद्ध-प्रणाली को भी प्रभावित किया। पहली बार दक्षिण भारत में गोला-बारूद का प्रयोग करके उन्होंने अपनी शक्ति का परिचय दिया था। इसके अलावा उन्होंने एक और तरीका अपनाया। भारतीय सैनिकों को पुर्तगालियों ने अपनी सेना में शामिल करके उन्हें प्रशिक्षित किया। इनकी नीति थी समुद्र तट के निकटवर्ती क्षेत्रों में रहना। अतः कभी भी पुर्तगालियों ने देश के अन्दर के प्रदेशों में प्रवेश नहीं किया। पुर्तगालियों ने धर्म और संस्कृति का प्रसार और प्रचार करने में जिस प्रकार का जोश दिखाया उससे अन्य भारतीय उनके विरोधी हो गये। इनके बाद दूसरी यूरोपीय जातियों ने साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की तो उन्होंने इस गलती को दुहराया नहीं।

डच व्यापारियों का आगमन

यूरोप के एक अन्य देश, हालैंड ने, पुर्तगालियों के एकाधिकार को चुनौती दी। हालैंड के निवासी डच कहलाते हैं। ये लोग प्रोटेस्टेंट थे तथा पुर्तगाल वाले कैथोलिक थे। ईसाई धर्म

के इन दो अलग-अलग सम्प्रदायों में बँटे होने के कारण भी डच लोगों और पुर्तगालियों में प्रतिस्पर्धा थी। डच भी महत्वाकांक्षी और साहसी नाविक थे। वे यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि भारत तथा पूर्वी एशिया के अन्य देशों के साथ केवल पुर्तगालियों का ही एकाधिकार हो। १६०२ में डचों ने व्यापार करने के उद्देश्य से एक संगठन तैयार किया जिसका नाम डच ईस्ट इंडिया कम्पनी रखा गया और जो भारत तथा उसके पूर्व के अन्य सभी देशों से व्यापार करने के साधन जुटाने लगी। इसी समय अंग्रेज भी भारत की ओर व्यापार करने के हेतु आगे बढ़े थे, जिसका प्रभाव यह पड़ा कि डचों, पुर्तगालियों और अंग्रेजों में प्रतिस्पर्धा बढ़ी।

कालीकट के राजा जमोरिन के साथ डच सेनापति हेगन ने १६०४ में संधि करके भारत के समुद्री किनारों पर डच बस्तियाँ स्थापित करने का क्रम आरम्भ कर दिया। कारोमंडल किनारे पर पुर्तगालियों का विशेष प्रभाव था। डचों ने मछलीपटम, पेटापोली, पुलीकट आदि स्थानों से व्यापार करना शुरू कर दिया।

डच लोगों के व्यापार की प्रधान वस्तुएँ मसाले, लौंग, जायफल, जावित्री, कालीमिर्च तथा अदरख थी। ये भारत में बहुतायत से प्राप्त होती थीं तथा श्रीलंका और इण्डोनेशिया के द्वीप समूह में भी इनकी पैदावार काफी अधिक होती थी। इन वस्तुओं के अलावा डच व्यापारी कपूर, चंदन, कीमती पत्थर, नील तथा भारत में बुना हुआ कपड़ा भी खरीद कर यूरोप में बेचते थे। डच लोग जिन समुद्री किनारों से व्यापार करते थे वहाँ के राजाओं को प्रसन्न रखते थे। इससे इन्हें आवश्यक सुविधाएँ मिलीं।

डचों का प्रभाव धीरे-धीरे इण्डोनेशिया के द्वीपसमूहों पर बढ़ने लगा और सत्रहवीं सदी के आरंभिक दशकों में उन्होंने इन द्वीपों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया। मलाका और लंका से भी उन्होंने पुर्तगालियों को खदेड़ दिया। लेकिन जहाँ एक ओर वे पुर्तगालियों का मुकाबला कर सके वहाँ दूसरी ओर अंग्रेजों ने उन्हें भारत में अधिक समय तक टिकने नहीं दिया। १७८१ तक अंग्रेजों ने डचों से हुगली, नागपट्टम आदि स्थान खाली करा लिये थे। व्यापारिक प्रतिस्पर्धा में उन्हें भी पीछे हटना पड़ा।

भारत से डचों के हटने का एक प्रधान कारण अंग्रेजों का प्रबल विरोध था। इसके साथ-साथ उनकी रुचि इंडोनेशिया द्वीपसमूहों में बढ़ती गयी। जावा, सुमात्रा आदि द्वीप मसालों के द्वीप कहलाते थे। डचों ने इन द्वीपों पर कब्जा स्थापित करने की ओर अधिक ध्यान दिया। उन्होंने धीरे-धीरे भारत क्षेत्र से हटकर यहीं से व्यापार करना शुरू कर दिया।

ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत में प्रवेश

एक लंबे अरसे से ब्रिटेन में व्यापार के प्रति और विशेषतः विश्व-व्यापार के प्रति रुचि बढ़ रही थी। वहाँ यह अनुभव किया जा रहा था कि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा देश समृद्धिशाली हो सकता था। ब्रिटेन में यह विचारधारा प्रबल होती गयी और प्रभावशाली लोग विश्व-व्यापार बढ़ाने के लिए सभी कार्यवाहियाँ करने को तैयार हो गये। ब्रिटेन यूरोप का एक बड़ा और शक्तिशाली देश था। व्यापार करने का प्रमुख साधन था नौसेना। सोलहवीं सदी

के अंत तक ब्रिटेन की नौसेना विश्व में प्रमुख हो गयी थी और समुद्र के प्रभाव के सहारे अन्य देशों के साथ व्यापार करने का निश्चय किया गया। ब्रिटिश व्यापारी यह भली-भाँति जानते थे कि शक्ति के द्वारा ही व्यापार चलाया जा सकता था। ब्रिटेन में कई कंपनियों की स्थापना हुई थी। १६०० में इसी प्रकार एक कंपनी स्थापित हुई जिसका नाम ईस्ट इंडिया कंपनी रखा गया। ब्रिटेन के कुछ प्रमुख व्यापारियों ने पूर्वीय देशों के साथ व्यापार करने के लिए इस कंपनी को स्थापित करने का निर्णय किया। ब्रिटेन की महारानी एलिजाबेथ ने पंद्रह वर्षों के लिए इसे एक आज्ञापत्र दिया जो चार्टर कहलाया। यह ब्रिटेन के लिए एक साधारण सी घटना थी लेकिन जिस कंपनी की स्थापना की गयी थी उसने महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की और भारत में इसके कार्यों ने हमारे देश को बहुत अधिक प्रभावित किया।

१६०८ में अंग्रेजों का पहला जहाजी बेड़ा भारत पहुँचा। हाकिंस इस बेड़े का कप्तान था। सूरत में पहली बस्ती स्थापित करने का निर्णय ईस्ट इंडिया कंपनी ने किया। मुगल सम्राट जहाँगीर से भेंट करने के लिए हाकिंस आगरा गया था। सम्राट की आज्ञा प्राप्त करके ही व्यापार करना संभव हो सकता था। कुछ वर्षों में ही अंग्रेजों और पुर्तगालियों की मुठभेड़ हो गयी। उन्होंने सूरत के निकट के समुद्री क्षेत्र से पुर्तगाली जहाजों को मार भगाया। इससे मुगल सम्राट को भी ईस्ट इंडिया कंपनी की शक्ति का आभास मिल गया और उसने भारत के पश्चिमी क्षेत्र में कंपनी को बस्तियाँ स्थापित करने की अनुमति दे दी। आरंभ में ही यह कहना आवश्यक है कि कंपनी के व्यापारिक केन्द्रों को 'फैक्ट्री' अथवा 'कारखाना' कहा जाता था। लेकिन यहाँ किसी प्रकार की मशीनें नहीं लगायी गयी थीं और न ही इन स्थानों पर किसी प्रकार का माल बनता था। वास्तव में देश के अलग-अलग भागों में कंपनी ने छोटी-छोटी बस्तियाँ स्थापित कीं जहाँ विदेशों से लाया गया सामान तथा यूरोप को ले जाने वाला सामान इकट्ठा किया जाता था। इन्हीं बस्तियों में अंग्रेज अधिकारी और अन्य भारतीय नौकर रहते थे। जैसे-जैसे कंपनी का व्यापार बढ़ा, बस्तियों का आकार भी बढ़ता गया। इन बस्तियों की रक्षा करने की व्यवस्था कंपनी स्वयं करने लगी। इसी प्रकार कंपनी की सेना का संगठन प्रारंभ हुआ।

ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों को पुर्तगालियों और डचों से मुकाबला करना पड़ा। समुद्र में कई बार युद्ध हुए। अंग्रेजों ने अपने जहाजी बेड़ों की शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया। यदि वे भारत में व्यापार करना चाहते थे तो समुद्र में अपने प्रभाव को स्थापित करना आवश्यक था। इसके लिए समुद्र के निकट कुछ बड़ी बस्तियाँ भी बसायी जाने लगीं। पश्चिमी क्षेत्र में, अंग्रेजों को बम्बई पर अधिकार १६६८ में मिल गया। धीरे-धीरे एक व्यापारिक केन्द्र के रूप में इसका विकास हुआ।

अंग्रेजों ने अनुभव किया कि मुगलों और मराठों का प्रभाव पश्चिमी क्षेत्रों में व्याप्त था। इससे उनका प्रभाव इस क्षेत्र में अधिक नहीं बढ़ सकता था। इस कारण अंग्रेजों ने पूर्वी क्षेत्र के समुद्री तट पर प्रभाव बढ़ाने की नीति अपनायी। यहाँ की राजनीतिक परिस्थितियाँ उनके अनुकूल थीं। किसी बड़ी शक्ति का इस क्षेत्र में अधिकार नहीं था। छोटे-छोटे राज्यों

का यहाँ शासन था। १६३९ में अंग्रेजों ने मद्रास पर अधिकार प्राप्त करके इस बस्ती को विकसित करना शुरू कर दिया। मद्रास में अंग्रेजों ने सुरक्षा की दृष्टि से सेंट जार्ज का किला बनवाया। लेकिन मद्रास से उत्तर भारत के क्षेत्र में व्यापार नहीं किया जा सकता था। इस कमी को पूरा करने के उद्देश्य से कंपनी ने हुगली नदी के मुहाने पर कलकत्ता में अपनी बस्ती बसायी। यहाँ भी फोर्ट विलियम नामक किला बनाया गया। धीरे-धीरे बंबई, कलकत्ता और मद्रास इन तीनों बस्तियों का विकास होता गया और ये स्थान कंपनी के व्यापार के प्रमुख केन्द्र बने रहे। १७४० के आसपास मद्रास में करीब तीन लाख, कलकत्ता में दो लाख और बंदई में ७० हजार लोग रहने लगे थे। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि किस प्रकार अंग्रेजों के अधीन बस्तियों का विकास होता गया। लेकिन कंपनी केवल समुद्रतट तक ही सीमित नहीं रही, उसने देश के अन्दर के भागों में भी जगह-जगह बस्तियाँ स्थापित कीं। आगरा, अहमदाबाद, भड़ोच, पटना, बालासोर, कासिमबाजार आदि कई स्थानों में अंग्रेज अपने व्यापारिक केन्द्र खोल चुके थे।

१६०० से १७४० तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी मुख्यतः एक व्यापारिक कम्पनी की तरह ही भारत में कार्य करती रही। भारत की वस्तुओं को यूरोप में बेचकर तथा यूरोपीय माल को भारत लाकर भारी लाभ कमाना इसका मुख्य लक्ष्य बना रहा। भारत से व्यापार करके कम्पनी ने पर्याप्त धन इकट्ठा किया। यह इसी से समझा जा सकता है कि भारत से ब्रिटेन पहुँचने वाला सामान १७०८ में पचास लाख से बढ़कर १७४० में लगभग एक करोड़ सत्तर लाख रुपये मूल्य का हो गया।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात जब देश में राजनीतिक अस्थिरता का युग आया तो कम्पनी ने भी व्यापार के साथ-साथ राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने का यत्न किया। लेकिन इसी समय फ्रांसीसी कंपनी भी दक्षिण में प्रभाव बढ़ा रही थी। इस कारण दोनों कम्पनियों में प्रतिस्पर्धा बढ़ी जिसका विवरण हम आगे चलकर दे रहे हैं।

फ्रांसीसी कम्पनी का भारत में विस्तार

भारत से व्यापार के लिए फ्रांसीसी कम्पनी की स्थापना १६६४ में हुई। फ्रांस भी यूरोप का एक शक्तिशाली राष्ट्र था। इस कारण उसके जहाजी बेड़े भी भारतीय समुद्र में आकर व्यापारिक गतिविधियों में जुट गये। फ्रांसीसियों ने सबसे पहले सूरत और मछलीपट्टम में अपनी बस्तियाँ बनायीं। फ्रांसिस मार्टिन उनका सफल गवर्नर साबित हुआ। १६७४ के आस-पास फ्रांसीसियों ने दो प्रमुख केन्द्रों पर अधिकार करके भारत में अपना प्रभाव जमाने की दिशा में पहला कदम उठाया। मद्रास के दक्षिण में पांडिचेरी तशा कलकत्ता के निकट चंद्रनगर में फ्रांसीसियों ने अपनी बस्तियाँ बना लीं।

धीरे-धीरे फ्रांसीसियों का व्यापार बढ़ता गया और उन्होंने कुछ दूसरे स्थानों पर अपने व्यापारिक केन्द्र खोले। अठारहवीं सदी के दूसरे दशक के समाप्त होते ही फ्रांसीसियों ने कुछ अन्य क्षेत्रों पर अपने केन्द्र खोले। मालाबार के समुद्री तट पर माहे और कारोमंडल तट पर कराइकेल बंदरगाहों पर उनका अधिकार हुआ। अरब सागर स्थित मारीशस द्वीप पर भी

उनका अधिकार हो जाने से फ्रांसीसियों की सामुद्रिक शक्ति सुदृढ़ हुई। व्यापार करने से उन्हें लाभ हो रहा था और स्वाभाविक था कि उन्होंने भारत से व्यापार करने में एकाधिकार प्राप्त करना चाहा। डच और पुर्तगाली भारत से पहले ही हट गये थे। अतः यूरोपीय कम्पनियों में अब केवल दो ही भारत में अठारहवीं सदी के मध्य तक सक्रिय थीं। इन्होंने व्यापारिक एकाधिकार और राजनीतिक प्रभाव के लिए भारत में संघर्ष किया जिसका विवरण अधिक विस्तार से करने की आवश्यकता है।

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में संघर्ष-कर्नाटक के तीन युद्ध

अठारहवीं सदी के मध्य तक ब्रिटिश और फ्रांसीसी कम्पनियाँ भारतीय व्यापार से इतना अधिक लाभ कमाने लगी थीं जितने लाभ की उन्होंने आरंभ में कल्पना भी नहीं की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों कम्पनियों में एकाधिकार की प्रवृत्ति बढ़ी। उन्होंने चाहा कि समूचा व्यापार उनके ही हाथ में आ जाये। अतः फ्रांसीसी और अंग्रेज दोनों ही अपने प्रभाव को बढ़ाने और दूसरे को नीचा दिखाने में व्यस्त हो गये। इसी कारण दोनों कम्पनियों में १७४४ से लेकर १७६३ तक संघर्ष हुआ। अंततः फ्रांसीसी इस संघर्ष में पराजित हुए। पुर्तगाली और डच पहले ही भारत से विदा ले चुके थे। इस कारण कर्नाटक के युद्धों के फलस्वरूप केवल अंग्रेज ही भारत में रह गये। उनको व्यापारिक प्रभाव और राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ाने में अब कोई दूसरी यूरोपीय शक्ति बाधा नहीं डाल सकती थी।

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों में जिस क्षेत्र में मुकाबला हुआ उसे उस समय कर्नाटक कहकर पुकारा गया जो एक भूल थी। वास्तव में कर्नाटक क्षेत्र तो देश का वह भाग है जहाँ आज कर्नाटक राज्य है। तब जिस क्षेत्र को कर्नाटक कहकर पुकारा गया वह भाग पूर्वी घाटों और बंगाल की खाड़ी के समुद्र तट के बीच लंबाई में फैला हुआ एक छोटा सा राज्य था जिसकी राजधानी अर्काट थी। कर्नाटक का नवाब हैदराबाद के निजाम के अधीन था। पर वह एक स्वतंत्र शासक की तरह शासन करता था। कर्नाटक में १७४६ के आस-पास अस्थिरता फैली हुई थी। निजाम और मराठों के बीच संघर्ष के कारण कई बार कर्नाटक पर आक्रमण हुए थे। दक्षिण भारत के इस क्षेत्र की अस्थिर राजनीति ने दोनों कम्पनियों को प्रोत्साहित किया और वे भी व्यापारिक एकाधिकार और राजनीतिक प्रभाव के लिए संघर्ष करने लगीं। फ्रांसीसियों और अंग्रेजों के बीच हुए पहले युद्ध से ही कर्नाटक के नवाब की कमजोरी प्रकट हो गयी। हालाँकि दोनों यूरोपीय कम्पनियाँ उसके राज्य में युद्ध करती रहीं पर वह इनके बीच किसी भी समय हस्तक्षेप न कर सका और दोनों में से किसी भी पक्ष को प्रभावित भी नहीं कर सका।

प्रथम कर्नाटक युद्ध (१७४६-४८)

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच पहला कर्नाटक युद्ध बाहरी कारणों से शुरू हुआ। १७४० में यूरोप में आस्ट्रिया के उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर जो युद्ध प्रारंभ हुआ उसमें फ्रांस और ब्रिटेन एक दूसरे के विरुद्ध हो गये। जब यूरोप में इन दोनों राष्ट्रों के बीच संघर्ष छिड़ गया तो उसका प्रभाव भारत पर भी पड़ा। १७४० के पहले यूरोपीय युद्धों के दौरान

भी ये कम्पनियाँ सामान्य संबंध बनाये रखती थीं। लेकिन इस समय जब युद्ध का समाचार भारत पहुँचा तो हवा बदली हुई थी और दोनों पक्षों को यह अनुमान हो गया था कि यूरोपीय मुठभेड़ की छाया भारत में भी पड़ सकती थी।

इस युद्ध में दोनों कम्पनियों के जहाजी बेड़ों ने प्रमुख भूमिका निभायी। यूरोपीय युद्ध का प्रारंभ होते ही अंग्रेजों की सहायता के लिए एक जहाजी बेड़ा आ गया था। १७४६ में फ्रांसीसियों की सहायता करने के लिए एक जहाजी बेड़ा मारीशस द्वीप से चलकर बंगाल की खाड़ी तक पहुँच गया। फ्रांसीसी जहाजी बेड़े का कप्तान बोरदनिस था। वह पहले भी भारत की यात्रा कर चुका था और समुद्री मार्ग से परिचित था। उसके जहाजी बेड़े में नौ जहाज थे। युद्ध में काम आने वाली तोपें इन जहाजों में लगी थीं। दो हजार फ्रांसीसी सैनिक जहाजों में तैयार थे। फ्रांसीसियों के पास युद्ध करने के सभी साधन उपलब्ध थे। इससे उन्होंने १७४६ में युद्ध प्रारंभ कर दिया।

सितम्बर १७४६ में अंग्रेजी बेड़ा मद्रास से कलकत्ता की ओर रवाना हो गया था। फ्रांसीसी सेनापति को इस कारण मद्रास पर हमला करने का उचित अवसर मिल गया। उसने शीघ्र ही मद्रास पर धावा बोल दिया। अंग्रेज लोग प्रतिरोध के लिए तैयार नहीं थे उन्होंने आक्रमण होते ही आत्मसमर्पण कर दिया। इस तरह विना किसी मुकावले के ही फ्रांसीसियों ने मद्रास पर अधिकार कर लिया। कर्नाटक युद्ध के आरंभिक दौर में उन्हें महत्त्वपूर्ण सफलता मिल गयी थी।

फ्रांसीसियों के मद्रास पर अधिकार करने के कुछ समय बाद अचानक एक समुद्री तूफान आया। इस तूफान से बोरदनिस के जहाजों को भारी क्षति उठानी पड़ी। उसने तुरंत मारीशस लौट जाने का निर्णय किया। वह इतनी जल्दबाजी में था कि सभी फ्रांसीसी सैनिक उसके साथ नहीं जा सकते थे। करीब बारह सौ फ्रांसीसी सैनिकों को मद्रास में छोड़कर वह मारीशस चला गया।

इस स्थिति से कर्नाटक युद्ध में एक नया मोड़ आया। अभी तक फ्रांसीसियों का नेतृत्व दो व्यक्तियों के हाथ में था। पांडिचेरी का महत्त्वाकांक्षी गवर्नर डुप्ले और मारीशस का गवर्नर बोरदनिस दोनों अपने-अपने ढंग से युद्ध को प्रभावित कर रहे थे। मद्रास पर फ्रांसीसी अधिकार स्थापित हो जाने के पश्चात इन फ्रांसीसी अधिकारियों में मतभेद उत्पन्न हो गये थे। लेकिन तूफान के वाद बोरदनिस के लौट जाने पर फ्रांसीसियों का नेतृत्व डूप्ले के कंधों पर आ गया। वह जिस प्रकार से चाहे निर्णय कर सकता था। डूप्ले इस कारण भी प्रोत्साहित हुआ क्योंकि फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ाने का साधन भी इस समय उपलब्ध था। मद्रास में बारह सौ फ्रांसीसी सैनिक थे जिनकी सहायता से डूप्ले ने कर्नाटक क्षेत्र से अंग्रेजों को वाहर खदेड़ देने की ठान ली।

कर्नाटक का नवाब अनवरुद्दीन इन यूरोपीय कम्पनियों के बीच हुए संघर्ष को चुपचाप वैठा नहीं देख सका। उसने दोनों को युद्ध रोक देने की आज्ञा दी। लेकिन फ्रांसीसियों ने उसकी चेतावनी की उपेक्षा की और मद्रास पर कब्जा बनाये रखा। इससे

नवाव ने सेना भेजकर फ्रांसीसियों पर दवाव डालने का निश्चय किया। मद्रास के निकट अदयार नदी के निकट नवाव की सेनाओं और फ्रांसीसी सेनाओं में जो टक्कर हुई उसमें नवाब की सेना को पीछे हटना पड़ा। यह अपने ढंग का निराला संघर्ष था जिसमें फ्रांसीसियों ने नवाव की सेना को पराजित किया। इस युद्ध से कर्नाटक के नवाब की सेना की कमजोरी जाहिर हो गयी। फ्रांसीसियों का मनोवल ऊँचा हुआ। दोनों पक्षों की इस टकराहट ने दक्षिण की घटनाओं को प्रभावित किया।

इस मुठभेड़ के बाद डूप्ले का ध्यान अंग्रेजों के अधीन सेंट डेविड के किले की ओर गया जो पांडिचेरी के दक्षिण में स्थित था। उसका इरादा था कि इस किले पर अधिकार करके पूर्वी तट पर फ्रांसीसी प्रभाव स्थापित किया जाये लेकिन डूप्ले को इस किले पर अधिकार करने में सफलता नहीं मिली। अंग्रेज इस किले की रक्षा करते रहे।

प्रथम कर्नाटक युद्ध जिस प्रकार आरम्भ हुआ था उसी ढंग से वह समाप्त भी हो गया। १७४८ में यूरोप में युद्ध समाप्त हो जाने पर फ्रांस और ब्रिटेन के बीच भी सन्धि हो गयी। इस संधि के अनुसार यह निर्णय किया गया कि मद्रास अंग्रेजों को सौंप दिया जाये। इस प्रकार दोनों कम्पनियों को पुनः उन्हीं क्षेत्रों पर अधिकार मिल गया जिन पर उनका पहले अधिकार था। यह स्मरण रखने योग्य है कि इन दोनों कंपनियों ने अन्य किसी भारतीय शासक के हस्तक्षेप के बिना ही संधि कर ली थी।

प्रथम कर्नाटक युद्ध के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों का प्रभाव बढ़ा। कर्नाटक के नवाब की सेना को पराजित करके उन्होंने अपनी शक्ति की धाक जमायी। निकटवर्ती भारतीय शासक यह समझ गये कि फ्रांसीसियों की सहायता लाभप्रद हो सकती थी। डूप्ले की प्रतिष्ठा भी बढ़ी। उसकी नीति सफल रही। इन सफलताओं से प्रभावित होकर वह दक्षिण भारत में फ्रांसीसियों का राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने पर विचार करने लगा।

द्वितीय कर्नाटक युद्ध

दोनों यूरोपीय कंपनियों के बीच प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से संघर्ष लगातार चलता रहा। फ्रांस और ब्रिटेन के बीच यूरोप में समझौता हो जाने से दोनों कंपनियाँ प्रत्यक्ष ढंग से संघर्ष नहीं कर सकती थीं। लेकिन वे शान्ति से बैठ भी न सकीं। साम्राज्य-स्थापना की इच्छा, व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता तथा एक दूसरे को नीचा दिखाने की भावना इस समय तक कंपनी के अधिकारियों में इतनी अधिक तीव्र हो चुकी थी कि वे परोक्ष रूप से संघर्ष में शामिल हो गयीं। इस प्रकार पहले कर्नाटक युद्ध और दूसरे कर्नाटक युद्ध के कारण एक दूसरे से भिन्न थे। पहला युद्ध यूरोप में हुए संघर्ष के कारण आरंभ हुआ था लेकिन दूसरे युद्ध के समय ऐसा कोई बाहरी कारण नहीं था। दूसरा कर्नाटक युद्ध इसलिए शुरू हुआ कि दोनों कंपनियाँ कर्नाटक और हैदराबाद राज्यों के उत्तराधिकार के संघर्ष में अलग-अलग पक्षों की मदद करके अपने प्रभाव का विस्तार दक्षिण भारत में करना चाहती थीं। पहला कर्नाटक युद्ध तो प्रत्यक्ष रूप से हुआ था परन्तु दूसरा कर्नाटक युद्ध परोक्ष रूप से चलता रहा। कंपनियों की सेनाएँ अलग-अलग सहायकों का पक्ष लेकर बाद में खुले आम संघर्ष करने

लगी थीं और संघर्ष का निर्णय युद्ध के उतार-चढ़ाव के अनुसार ही हुआ। जिस कंपनी की शक्ति प्रबल रही वही दूसरे दौर के युद्ध में सफल रही।

दूसरे कर्नाटक युद्ध का सूत्रपात १७४८ में हैदराबाद के सूबेदार निजामुलमुल्क की मृत्यु से हुआ। मुस्लिम राज्यों में उत्तराधिकार का कोई मान्य नियम नहीं था। इससे कोई भी राजकुमार उत्तराधिकार के लिए संघर्ष करने को तैयार हो जाता था और राजनीति विषाक्त हो जाती थी। हैदराबाद में इस समय उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर कुछ ऐसी ही स्थिति उत्पन्न हो गयी जिसका प्रभाव यूरोपीय कंपनियों पर भी पड़ा। निजामुलमुल्क का पुत्र नासिरजंग हैदराबाद का निजाम तो बन गया लेकिन उसका भतीजा मुजफ्फरजंग उसका प्रतिद्वन्द्वी हो गया और हैदराबाद की गद्दी पर बैठने की योजना बनाने लगा।

इसी समय कर्नाटक राज्य में भी आंतरिक संघर्ष उभरा। कर्नाटक के नवाब अनवरुद्दीन का मुकावला करने के लिए चाँदा साहब योजना बनाने लगा। चाँदा साहब अनवरुद्दीन के पूर्ववर्ती नवाबों का रिश्तेदार था। वह एक योग्य सेनापति था तथा कर्नाटक के दीवान के पद पर कार्य कर चुका था। १७४१ में जब मराठों ने कर्नाटक पर आक्रमण किया था तो वे चाँदा साहव को बन्दी बनाकर ले गये थे। १७४८ में उन्होंने चाँदा साहब को जैसे ही मुक्त किया वैसे ही कर्नाटक की राजनीति फिर सक्रिय हो उठी। चाँदा साहब ने कर्नाटक पर अधिकार करने में मुजफ्फरजंग से सहयोग प्राप्त किया और दोनों ने एक दूसरे को मदद देने का वचन दिया।

चाँदा साहब ने कर्नाटक राज्य की गद्दी पर अधिकार जमाने के पूर्व फ्रांसीसियों से भी सहायता माँगी। फ्रांसीसी गवर्नर डूप्ले इस मौके की ताक में ही था। उसे दक्षिण की राजनीति में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला और इस प्रकार भारतीय राजाओं के आपसी मतभेदों में विदेशियों के हस्तक्षेप करने का सिलसिला शुरू हुआ। चाँदा साहब और मुजफ्फरजंग को सैनिक सहायता देने को डूप्ले तैयार हो गया। जुलाई, १७४६ में चाँदा साहब ने फ्रांसीसियों की सहायता से कर्नाटक के नवाब पर आक्रमण किया। इस युद्ध में चाँदा साहब विजयी हुआ और कर्नाटक का नवाब बन गया। डूप्ले की सहायता से ही उसे यह सफलता मिली थी।

कर्नाटक राज्य निजाम के अधीन था। जब अनरुद्दीन की मृत्यु और पराजय का समाचार हैदराबाद पहुँचा तो निजाम ने तुरन्त हस्तक्षेप करने का निश्चय किया। एक बड़ी सेना लेकर वह कर्नाटक की राजधानी अर्काट पहुँचा। चाँदा साहब वहाँ से भाग निकला। १७५० में कर्नाटक पर निजाम की सेनाओं का कब्जा हो गया। मुजफ्फरजंग ने निजाम के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया।

दिसम्बर, १७५० में फ्रांसीसी सेना की एक टुकड़ी ने अचानक निजाम की सेना पर धावा बोल दिया। इस युद्ध में निजाम की मृत्यु हो जाने से दक्षिण की राजनीति ने फिर नया मोड़ लिया। विजयी फ्रांसीसी सेना की सहायता से मुजफ्फरजंग हैदराबाद का निजाम बन गया। चाँदा साहब एक बार फिर अर्काट वापस आकर कर्नाटक की राजगद्दी पर आसीन

हो गया। कर्नाटक और हैदराबाद दोनों राज्यों में इस समय जो शासक थे उन्हें यह सफलता फ्रांसीसियों की मदद से मिली थी। इस राजनीतिक परिवर्तन से फ्रांसीसियों का प्रभाव दोनों राज्यों में बढ़ा।

दिसम्बर, १७५० तक फ्रांसीसियों की प्रतिष्ठा अपने चरम विन्दु तक पहुँच गयी थी। पांडिचेरी में डूप्ले ने एक स्वागत समारोह आयोजित किया। इसमें हैदराबाद के नवनिर्वाचित निजाम मुजफ्फरजंग का अभिवादन किया गया। निजाम ने एक घोषणा जारी करके डूप्ले को कृष्णा नदी के दक्षिण से केप केमरिन तक के प्रदेश का गवर्नर नियुक्त किया और उसे 'जफर जंगवहादुर' की पदवी से विभूषित किया गया। निजाम ने मछलीपट्टम और कराइकेल पर फ्रांसीसी कंपनी का अधिकार भी स्वीकार कर लिया। फ्रांसीसियों को सिक्का जारी करने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार डूप्ले, चाँदा साहव और मुजफ्फरजंग की मित्रता सुदृढ़ हुई।

फ्रांसीसियों पर निजाम इतना अधिक निर्भर था कि हैदराबाद लौटने के पूर्व ही उसने डूप्ले के सहयोगी बुजी और फ्रांसीसी सेना को अपने साथ ले लिया। किन्तु मुजफ्फरजंग के भाग्य में हैदराबाद की गद्दी लिखी हुई नहीं थी। मार्ग में हुए एक युद्ध में वह मारा गया। निजाम का पद एक बार फिर रिक्त हुआ। लेकिन बुजी के निर्णय से स्थिति विगड़ न सकी। नासिरजंग के छोटे भाई सलावतजंग को उसने निजाम बना दिया और इस सम्बन्ध में शीघ्र ही घोषणा कर दी गयी। फरवरी, १७५२ में नये निजाम ने अपना पद सँभाला। शीघ्र ही वह हैदराबाद पहुँचा। भविष्य में भी वह शासन और सुरक्षा के लिए फ्रांसीसियों पर आश्रित रहा। इस प्रकार लंबे अर्से तक हैदराबाद पर फ्रांसीसियों का प्रभाव बना रहा।

१७५१ के आरम्भ में फ्रांसीसियों का जिस प्रकार दक्षिण में प्रभाव बढ़ गया था उसे देखकर अंग्रेजों को चिंता हुई और उन्होंने भी प्रभाव बढ़ाने पर विचार करना शुरू कर दिया। ब्रिटिश गवर्नर सौन्डर्स ने दक्षिण की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करके फ्रांसीसियों से लोहा लिया। अंग्रेजों के लिए आशा की केवल एक ही किरण दिखायी दी। कर्नाटक के भूतपूर्व नवाब अनवरुद्दीन का पुत्र अभी तक त्रिचनापल्ली शहर और उसके आस-पास के क्षेत्र पर अधिकार बनाये हुए था। मोहम्मद अली चाँदा साहब और फ्रांसीसियों का विरोध कर तो रहा था लेकिन यह भी साफ जाहिर था कि वह कुछ समय तक ही अपने अधिकार को बनाये रख सकता था।

अंग्रेजों ने मोहम्मद अली का पक्ष लेकर सैनिक सहायता देने का निर्णय किया और अप्रत्यक्ष ढंग से फ्रांसीसी सेना तथा चाँदा साहब के विरोध में उन्होंने आरंभिक कार्यवाही की। अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी मोहम्मद अली की सहायता के लिये भेजी गयी। इस प्रकार अंग्रेज और फ्रांसीसी एक दूसरे के विरोधी की मदद में लग गये।

अर्काट का घेरा (सितम्बर-अक्तूबर, १७५१)

अंग्रेजों ने मोहम्मद अली की सहायता करना तो आरंभ कर दिया था पर अभी तक उनके पास सैनिक शक्ति बहुत ही कम थी। वे पर्याप्त संख्या में सैनिकों को त्रिचनापल्ली

की रक्षा करने के लिए नहीं भेज सकते थे। मोहम्मद अली पर चाँदा साहब और फ्रांसीसी सेना का दबाव बढ़ता जा रहा था। ऐसी स्थिति में मोहम्मद अली को राहत पहुँचाने के लिए अंग्रेजों ने अर्काट का घेरा डालने की योजना बनायी। कर्नाटक की अधिकतर सेना त्रिचनापल्ली की ओर चली गयी थी और उसकी राजधानी अर्काट की रक्षा करने के लिए थोड़े ही सैनिक बचे थे। अंग्रेजों ने अर्काट पर आक्रमण करने की योजना बनायी। इस योजना का उद्देश्य था कर्नाटक की सेना का त्रिचनापल्ली पर दबाव कम कराना क्योंकि यह मालूम था कि अर्काट पर हमला होते ही चाँदा साहब और फ्रांसीसियों को राजधानी की रक्षा करने के लिए सेना भेजना आवश्यक हो जायेगा। इस प्रकार मोहम्मद अली की सुरक्षा करने के लिए यह एक रास्ता निकाला गया।

अर्काट पर आक्रमण करने का कठिन कार्य ब्रिटिश कम्पनी के एक साधारण अधिकारी को सौंपा गया। यह अधिकारी क्लाइव था जो इस आक्रमण से अचानक प्रसिद्धि पा गया। ब्रिटिश सेना की टुकड़ी में वह कैप्टन के पद पर कार्य कर रहा था। २०० यूरोपीय और ६०० भारतीय सैनिकों की एक छोटी सी टुकड़ी लेकर वह मद्रास से ६४ मील दूर स्थित अर्काट के किले पर अधिकार करने के लिए बढ़ा। इन सैनिकों ने तथा उनके सेनापति ने अदम्य साहस और निर्भीकता से अपना उद्देश्य पूरा किया। सितंबर, १७५१ में अर्काट के किले पर अधिकार करके अंग्रेजों ने अपने विरोधियों को अचंभे में डाल दिया। यह सेना केवल सीमित उद्देश्य के लिए भेजी गयी थी। करीब दो महीने तक उसने किले पर अधिकार बनाये रखा। जब चाँदा साहब और फ्रांसीसियों की बड़ी सेना किले के निकट पहुँची तो क्लाइव और उसके साथी किले को खाली करके मद्रास की ओर लौट पड़े। अर्काट का घेरा क्लाइव की पहली व्यक्तिगत सफलता थी। इस सफलता से अंगेजों का हौसला बढ़ा।

शीघ्र ही अंग्रेजों और मोहम्मद अली की स्थिति मजबूत होती गयी। मोहम्मद अली को जैसे ही मौका मिला, उसने पड़ोस के राज्यों से सैनिक सहायता की प्रार्थना की। जब छह हजार घुड़सवारों को लेकर मराठा सरदार मोरारी राव त्रिचनापल्ली की ओर पहुँच गया तो मोहम्मद अली का उत्साह बढ़ा। कुछ अन्य पड़ोसी राज्यों ने भी इसी प्रकार सहायता देने का आश्वासन दिया। अंग्रेजों ने भी त्रिचनापल्ली की ओर अधिक सेना रवाना की। शीघ्र ही त्रिचनापल्ली पर फ्रांसीसियों का घेरा तोड़ दिया गया। फ्रांसीसी सेनापति अधिक समय तक मुकाबला न कर सका। उसने जून, १७५२ में अपने सहयोगियों के साथ त्रिचनापल्ली के निकट आत्मसमर्पण कर दिया। फ्रांसीसी सेना के ३५ अधिकारी, ७२५ यूरोपीय सैनिक तथा २००० भारतीय सैनिक बन्दी बना लिये गये। चाँदा साहब मार डाला गया। इन तथ्यों से पता चलता है कि फ्रांसीसियों और चाँदा साहब की इस मुठभेड़ में करारी मात हुई। त्रिचनापल्ली की रक्षा करके ब्रिटिश कंपनी ने डूप्ले की योजनाओं को धूल में मिला दिया।

१७५२ से १७५४ तक के दो वर्षों में डूप्ले फ्रांसीसियों की स्थिति को सुदृढ़ करने तथा त्रिचनापल्ली पर अधिकार करने की कोशिश करता रहा, किंतु उसे सफलता नहीं मिली। अंग्रेजों ने स्थिति पर अपना अधिकार बनाये रखा। मोहम्मद अली न केवल त्रिचनापल्ली पर

अधिकार बनाये रख सका बल्कि वह कर्नाटक का नवाब भी बन गया। अंग्रेजों के प्रति वह कृतज्ञ था क्योंकि उनकी सहायता से ही उसे यह पद प्राप्त हुआ था।

१७५४ में जैसे ही फ्रांसीसियों की असफलता का समाचार फ्रांस पहुँचा, कंपनी के अधिकारियों ने डूप्ले को स्वदेश बुला लिया। इस प्रकार हतोत्साहित स्थिति में डूप्ले को फ्रांस लौटना पड़ा। शीघ्र ही दोनों कंपनियों के बीच समझौता हो गया। कर्नाटक का दूसरा युद्ध इस तरह समाप्त हुआ।

१७५४ में दूसरे कर्नाटक युद्ध की समाप्ति और डूप्ले की वापसी पर दोनों कंपनियों के बीच का संघर्ष अभी किसी प्रकार की निर्णयात्मक स्थिति में नहीं पहुँचा था। यह सत्य है कि मोहम्मद अली के कर्नाटक के नवाब बन जाने से अंग्रेजों का दक्षिण में प्रभाव बढ़ा था किन्तु अभी भी हैदराबाद के निजाम पर फ्रांसीसियों का प्रभाव बना हुआ था। बुजी तथा उसके सैनिक हैदराबाद पर फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ाने के लिए बहुत कुछ कर सकते थे। इस बीच फ्रांसीसियों ने निजाम से उत्तरी सरकार कहलाने वाले समुद्र-तट के निकट के चार जिलों पर अधिकार कर लिया था। डूप्ले के बाद कोई योग्य फ्रांसीसी अधिकारी ही उस कम्पनी के प्रभाव को बढ़ा सकता था। इस प्रकार का निर्णायक युद्ध डूप्ले के लौट जाने के बाद ही लड़ा गया।

डूप्ले की उपलब्धियाँ

डूप्ले भारत में लम्बे समय तक रहा। १७२० में भारत आकर पांडिचेरी की कौंसिल का सर्वोच्च पद उसने सँभाला था। फ्रांसीसी कंपनी के व्यापार का उसने बहुमुखी विकास करके उसकी स्थिति को सुधारा। निजी व्यापार करके डूप्ले ने खुद भी धन कमाया। धीरे-धीरे उसने पर्याप्त धन इकट्ठा कर लिया था। १७३० से १७४१ तक कलकत्ता के निकट फ्रांसीसी बस्ती चन्द्रनगर का वह गवर्नर बना रहा। १७४२ में डूप्ले पुनः दक्षिण भारत आ गया। वह पांडिचेरी का गवर्नर नियुक्त हुआ और इसके साथ-साथ सम्पूर्ण भारत में फ्रांसीसी कम्पनी के प्रमुख संचालक के पद पर भी उसे ही नियुक्त किया गया। फ्रांसीसी कम्पनी उसके कार्यभार सँभालने के समय तक मुख्यतः एक व्यापारिक कंपनी थी लेकिन दो वर्ष बाद ही पहला कर्नाटक युद्ध छिड़ जाने से डूप्ले की महत्त्वाकांक्षा जागी। करीब बारह वर्षों तक उसने कंपनी के प्रभाव को बढ़ाने मे जो कार्य किये उसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यहाँ पर घटनाओं का विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। हम उसकी नीतियों तथा कार्यों का मूल्याँकन कर सकते हैं।

प्रसिद्ध इतिहासकार एच०एच० डाडवल का मत है कि डूप्ले के कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। १७४२ से १७५० तक तथा १७५० से १७५४ तक की उसकी नीतियों में अंतर दिखायी देता है। विद्वान लेखक कहता है कि नासिरजंग की मृत्यु हो जाने से तथा मुजफ्फरजंग के निजाम बन जाने से डुप्ले की नीतियों और उसकी महत्त्वाकांक्षा में परिवर्तन आया। १७४२ से १७५० तक उसका लक्ष्य था फ्रांसीसी व्यापार को बढ़ाना। डूप्ले चाहता था कि कर्नाटक में फ्रांसीसी व्यापारी स्वतंत्र रूप से कार्य कर सकें। दूसरे कर्नाटक

युद्ध का आरम्भ होने के समय उसने जब चाँदा साहब की मदद करने का निश्चय किया था तो वह दो प्रकार की सुविधाएँ चाहता था। पहली सुविधा डूप्ले यह चाहता था कि नवाव फ्रांसीसी व्यापार को बढ़ाने का अवसर दे और दूसरी इच्छा उसकी यह थी कि पांडिचेरी के आसपास के प्रदेश पर फ्रांसीसी अधिकार प्राप्त हो। कंपनी के लिये स्थायी राजस्व द्वारा वह आय का साधन जुटाना चाहता था। डाडवल कहते हैं कि १७५० के बाद डूप्ले राजनीतिक प्रधानता की दृष्टि से कार्य करने लगा। फ्रांसीसियों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ जागीं और वे तरह-तरह की योजनाएँ बनाने लगे।

डूप्ले के लक्ष्य के विषय में पी० ई० राबर्ट्स के विचारों को जान लेना भी आवश्यक है। राबर्ट्स स्वीकार करता है कि उसकी नीति क्रमशः विकसित होती गयी और वह "फ्रांसीसी प्रभाव और साम्राज्य की स्थापना की निश्चित नीति अपनाने लगा।" लेखक यह भी कहता है कि डूप्ले राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित था।

डूप्ले ने अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए दक्षिण की उलझी हुई राजनीति में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। दक्षिण के राजाओं के आपसी मतभेदों में भाग लेकर फ्रांसीसी प्रभाव बढ़ाने की नीति का उसने अनुसरण किया। कर्नाटक और हैदराबाद राज्यों के आन्तरिक संघर्षों में उसने सक्रिय सहायता इसी उद्देश्य से दी थी। लेकिन डूप्ले को यह अनुमान ठीक प्रकार से न हो सका कि उसकी इस नीति का प्रभाव ब्रिटिश कंपनी पर क्या पड़ेगा। जब अंग्रेजों ने मोहम्मद अली का पक्ष लेकर फ्रांसीसियों का प्रतिरोध करने की नीति अपनायी तो दोनों यूरोपीय कंपनियों के बीच खुला संघर्ष होने लगा। डूप्ले ने ऐसी स्थिति का अनुमान नहीं लगाया था। वह यही समझता था कि दोनों यूरोपीय कंपनियाँ अलग-अलग प्रभाव-क्षेत्रों में कार्य करेंगी। पर यह उसकी गलती थी। दोनों कंपनियाँ एक ही क्षेत्र में सक्रिय हो उठीं और राजनीतिक लक्ष्यों के कारण संघर्ष ने भयंकर रूप धारण कर लिया।

यहाँ एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या डूप्ले ने अपने साधनों का ध्यान रखा अथवा नहीं। उसके आलोचकों का कथन है कि डूप्ले ने सुदृढ़ आधार तैयार करने की ओर ध्यान नहीं दिया। उसने साम्राज्य-स्थापना करने में जल्दबाजी की। उसके संगठन को ढीला कहा गया है। इन आरोपों में कुछ सत्यता जरूर मालूम देती है। डूप्ले ने फ्रांसीसी कंपनी के साधनों की परवाह न करके युद्धों में आवश्यकता से अधिक धन खर्च कर दिया। परिणाम यह हुआ कि कंपनी की आर्थिक नींव डगमगाने लगी। उसने फ्रांस स्थित कम्पनी के संचालक-मंडल को पूरी सूचनाएँ नहीं भेजी थीं। संचालक मंडल का विश्वास प्राप्त किये बिना ही उसने दक्षिण भारत की राजनीति में जब हस्तक्षेप किया तो इससे भी कठिनाइयाँ बढ़ीं। वह यही सोच रहा था कि भारत में प्रभाव स्थापित करने के बाद फ्रांस की सरकार को सूचना भेजकर वह अपनी धाक जमायेगा। किंतु उसकी नीति की इस कमजोरी का उसे १७५४ में मूल्य चुकाना पड़ा। फ्रांस सरकार ने त्रिचनापल्ली की उसकी असफलता की खबर सुनते ही उसे वापस बुला लिया। ऐसा दिखायी देता है कि डूप्ले ने अपने जाल को जितना लंबा बिछा दिया था उसके लिए उसके पास साधन नहीं थे। उदाहरणार्थ, बुजी को तथा उसके साथ फ्रांसीसी सेना को हैदराबाद भेजने का उसका निर्णय दोषपूर्ण था क्योंकि इसके

वाद कर्नाटक क्षेत्र में फ्रांसीसियों की सैनिक शक्ति घटी। कंपनी के सीमित साधनों को बाँटकर डूप्ले ने एक खतरा मोल लिया था।

डूप्ले एक कुशल कूटनीतिज्ञ था। उसने जिस चतुराई से फ्रांसीसी प्रभाव को बढ़ाने के उपाय किये उसकी प्रशंसा सभी लेखकों ने की है। इसी सूझबूझ के द्वारा उसने फ्रांसीसी कंपनी की प्रतिष्ठा को बढ़ाया था। लेकिन डूप्ले एक सेनापति नहीं था। उसे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिये अन्य फ्रांसीसी अधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ता था। त्रिचनापल्ली में जो संघर्ष हुआ उसके लिए वह केवल एक दर्शक मात्र बना रहा। अठारहवीं सदी के मध्य में किसी भी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति के लिये सफलता प्राप्त करने के निमित्त सैनिक गुण होना जरूरी था। डूप्ले का प्रतिपक्षी क्लाइव इसी कारण सफल हुआ कि वह योजना को यदि बमाता था तो फिर उसे पूरा करने की जिम्मेदारी भी वह स्वयं उठाता था। डूप्ले में यह योग्यता नहीं थी।

फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी वापसी के समय फ्रांसीसी कंपनी की शक्ति पुनः संगठित नहीं की जा सकती थी। १७५४ में भी पांडिचेरी, उत्तरी सरकार के जिले तथा चन्द्रनगर पर फ्रांसीसियों का कब्जा था। हैदराबाद का निजाम फ्रांसीसियों के प्रभाव में था। इसकी तुलना में अंग्रेजों का प्रभाव भी अभी आरंभिक अवस्था में ही था। बहुत कुछ भविष्य पर निर्भर करता था। दोनों कंपनियों में से जिसने १७५४ के पश्चात् अपनी शक्ति और व्यापार की ओर उचित ध्यान दिया वही सफल रही। डूप्ले के लौट जाने के बाद फ्रांसीसियों ने अपनी शक्ति को बनाये रखने की कोई निश्चित नीति नहीं अपनायी। तीसरा कर्नाटक युद्ध निर्णायक सिद्ध हुआ और इस युद्ध के द्वारा ही यह निश्चय हुआ कि दोनों में से कौन सी कंपनी भारत में सत्ता स्थापित कर सकती थी।

तीसरा कर्नाटक युद्ध (१७५८-६०)

दूसरे दौर के संघर्ष के पश्चात् यह प्रायः स्पष्ट हो गया था कि दोनों व्यापारिक कंपनियाँ भारत में राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने का निश्चय कर चुकी थीं। दोनों के हित एक दूसरे से टकराते थे जिसके कारण कुछ वर्षों में ही इनमें फिर संघर्ष छिड़ गया। कर्नाटक के तीसरे संघर्ष का आरंभ होने के समय तक अंग्रेजों की शक्ति बढ़ चुकी थी और उन्होंने अपनी सामरिक क्षमता का पूरा लाभ उठाया।

यह युद्ध भी प्रायः उन्हीं परिस्थितियों में आरंभ हुआ जिस प्रकार पहला कर्नाटक युद्ध आरंभ हुआ था। दोनों युद्धों में जहाँ एक ओर यह समानता थी वहीं दूसरी ओर मुख्य अंतर यह था कि पहले युद्ध के समय दोनों कंपनियों के बीच संघर्ष की शुरुआत हुई लेकिन तीसरे युद्ध से इस संघर्ष का अन्त हो गया।

कुछ इतिहासकारों ने उचित ही कहा है कि युद्ध आरम्भ होने के पूर्व ही फ्रांसीसी सफलता का अवसर खो चुके थे। यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध १७५६ में छिड़ गया था जिसके कारण फ्रांस और ब्रिटेन में भी युद्ध शुरू हो गया था। यह मालूम था कि यूरोपीय युद्ध के कारण भारत में दोनों कंपनियों में भी संघर्ष छिड़ जायगा। लेकिन यह संघर्ष १७५६ में शुरू

न होकर १७५८ में भारत में शुरू किया गया। इसी से कहा जाता है कि फ्रांसीसी एक सुनहरा अवसर खो चुके थे। उन्हें इसके पहले युद्ध की कार्यवाही करनी चाहिए थी। १७५६ और १७५७ में अंग्रेज बंगाल में अपनी सत्ता जमाने के प्रयास में व्यस्त थे और यदि दक्षिण में युद्ध छिड़ जाता तो उनका ध्यान बँटता और स्थिति भी बदल जाती। किंतु ऐसा नहीं किया गया। फ्रांसीसियों ने १७५८ में युद्ध आरम्भ किया। इस समय तक बंगाल में प्लासी का युद्ध लड़ा जा चुका था और ब्रिटिश सेनाओं की संख्या बढ़ायी जा चुकी थी। इस सेना को दक्षिण की ओर भी आसानी से भेजा जा सकता था। प्रत्येक युद्ध मनोबल से जीता जाता है। १७५८ में अंग्रेजों का मनोबल ऊँचा था और उस परिस्थिति में वे फ्रांसीसी कंपनी से लोहा लेने के लिए अच्छी तरह तैयार थे।

१७५८ में एक फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा बंगाल की खाड़ी तक पहुँचा। फ्रांसीसी सरकार ने लैली को फ्रांसीसी कंपनी का संचालक बनाकर भारत भेजा था और उसकी सहायता के लिए जहाजी बेड़ा तथा सैनिक भी थे। लैली के भारत आने के पूर्व ही फ्रांसीसियों को बंगाल से खदेड़ दिया गया था। उनका चंद्रनगर पर अधिकार समाप्त हो चुका था। लैली के पांडिचेरी पहुँचते ही समुद्र के रास्ते से युद्ध होने का समय आया।

जून, १७५८ में लैली ने सेंट डेविड के किले पर अधिकार करके फ्रांसीसियों की शक्ति का परिचय दिया। अंग्रेज भी उसकी शक्ति को देखकर चिंतित हो उठे। दूसरा मुकाबला मद्रास में होने की संभावना थी। लैली के लिये यही परीक्षा की घड़ी थी। मद्रास पर अधिकार जमाकर फ्रांसीसी दक्षिण भारत में शक्ति संतुलन को अपने पक्ष में कर सकते थे। किन्तु लैली ने सूझबूझ और धैर्य से काम नहीं लिया। सेंट डेविड पर कब्जा करने के तुरंत बाद लैली मद्रास की ओर नहीं बढ़ सकता था क्योंकि जहाजों को उस ओर ले जाने के लिए मौसम ठीक नहीं था। फ्रांसीसी सेनापति को प्रतीक्षा करने के बाद दूसरा कदम उठाना चाहिए था। किंतु उसने इसी समय तंजौर राज्य पर आक्रमण करके अनावश्यक रूप से फ्रांसीसी सेना को फँसा दिया। इस हमले में अनुमान से अधिक समय लग गया। अंग्रेजों को इससे मौका मिल गया। उन्होंने मद्रास की सुरक्षा के उपाय कर लिये। अक्टूबर, १७५८ से मार्च, १७५९ तक फ्रांसीसी मद्रास पर अधिकार करने की कोशिश करते रहे। लेकिन उन्हें सफलता न मिल सकी। इसी बीच ब्रिटिश जहाजी बेड़ा जब मद्रास की रक्षा करने के लिए पहुँचा तो लैली को पीछे हटना पड़ा।

मद्रास पर हमला करते समय लैली ने बुजी को हैदराबाद से बुला लिया था। इससे निज़ाम के राज्य में फ्रांसीसियों का प्रभाव घटा। साथ ही यह फ्रांसीसियों के लिये अहितकर सिद्ध हुआ। क्लाइव ऐसे मौके की प्रतीक्षा ही कर रहा था। बुजी के हटते ही अंग्रेजी सेना ने उत्तरी सरकार के जिलों पर हमला करके उनपर कब्जा कर लिया। अप्रैल, १७५९ तक मछलीपट्टम और उसके आसपास के क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आ चुके थे। अब विजयी ब्रिटिश अधिकारी ने निजाम से संपर्क स्थापित किया। बदली हुई स्थिति के अनुसार निजाम का रुख भी बदला। उसने गुंटूर को छोड़कर उत्तरी सरकार के शेष तीनों जिलों पर अंग्रेजों

का अधिकार स्वीकार कर लिया। समुद्र-तट के निकट का लगभग ८० मील लंबा और २० मील चौड़ा प्रदेश फ्रांसीसियों के हाथ से निकल गया।

जनवरी, १७६० में वांडीवाश में दोनों पक्षों की सेनाओं में पुनः युद्ध हुआ। इसमें फ्रांसीसी पराजित हुए। बुजी बन्दी बना लिया गया। इस विजय से उत्साहित होकर ब्रिटिश सेना ने पांडिचेरी पर धावा बोल दिया। आठ महीने तक जमकर संघर्ष होता रहा और अंत में जनवरी, १७६१ में फ्रांसीसियों को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। इस युद्ध के पूर्व पांडिचेरी एक बड़ा शहर था। यह शहर इतना अधिक ध्वस्त हो गया कि शायद ही कोई ऐसा मकान बचा था जिसकी छत को नुकसान न पहुँचा हो। इसी वर्णन से यह समझा जा सकता है कि पांडिचेरी पर अधिकार करने में कितना घमासान युद्ध हुआ था। कुछ समय बाद जिंजी और माहे पर भी अंग्रेजों ने अधिकार करके फ्रांसीसियों के अधिकार में एक इंच जमीन भी नहीं छोड़ी। यह एक निर्णायक युद्ध साबित हुआ और फ्रांसीसी शक्ति हमेशा के लिए क्षीण हो गयी।

१७६१ में फ्रांसीसी कंपनी पूर्णरूप से पराजित हो चुकी थी। डूप्ले ने साम्राज्य-स्थापना का जो स्वप्न देखा था उसकी आशा धूल में मिल चुकी थी। १७६३ में जब यूरोपीय सप्तवर्षीय युद्ध समाप्त हुआ और फ्रांस के साथ ब्रिटेन की संधि हो गयी तो पांडिचेरी पुनः फ्रांसीसियों को लौटा दिया गया। किंतु फ्रांस को यह स्वीकार करना पड़ा कि व्यापार के लिये वह कोई रोक-टोक नहीं लगायेगा। प्रत्यक्ष रूप से तो फ्रांसीसी कंपनी तथा ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच युद्ध समाप्त हो गया पर परोक्ष रूप से फ्रांसीसी अन्य भारतीय राजाओं का साथ देते रहे तथा अंग्रेजों के लिए अठारहवीं सदी के अंत तक सरदर्द बने रहे।

फ्रांसीसियों की पराजय के कारण

१७५४ में डूप्ले की स्वदेश वापसी के समय से फ्रांसीसियों के भारत में अधिकार प्राप्त करने में जो असफलता के लक्षण दिखायी दिये थे, फ्रांसीसी कंपनी उनपर काबू पाने में असमर्थ रही। १७६१ मे जिस प्रकार फ्रांसीसी पराजित हुए उसके कुछ मुख्य कारणों पर विचार करना आवश्यक है। तुलनात्मक रूप से अंग्रेजों की सफलता पर भी प्रकाश डाला जा रहा है।

फ्रांस की यूरोपीय मामलों में व्यस्तता

अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस अपनी सीमावर्ती समस्याओं में इस हद तक फँसा हुआ था कि वहाँ के राजाओं को साम्राज्य की समस्याओं पर अधिक ध्यान देने का मौक़ा नहीं मिला। फ्रांसीसी राजा निकटवर्ती क्षेत्रों में विस्तार को साम्राज्य-विकास से अधिक महत्व देते थे। स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में डूप्ले अथवा अन्य राजनीतिज्ञों की नीतियों के अनुसार कार्य करने को वे तैयार नहीं हुए। कर्नाटक युद्धों के संघर्षों में यूरोप से उचित समय पर आर्थिक और सैनिक सहायता बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती थी। फ्रांसीसी सरकार न तो इस योग्य थी और न उसे इसकी रुचि ही थी कि साम्राज्य की स्थापना के लिए कोई निश्चित नीति अपनायी जाती।

दोनों कंपनियों में संगठन सम्बन्धी अंतर

फ्रांसीसी कंपनी पूरी तरह से सरकार के अधिकार में थी। फ्रांसीसी सम्राट् ही उसकी व्यवस्था करता था। इस कारण भारत में कार्य करने के लिये फ्रांसीसी अधिकारियों को हर समय अपनी सरकार पर निर्भर रहना पड़ता था। इसके विपरीत ईस्ट इंडिया कंपनी पर सरकार का केवल परोक्ष रूप से प्रभाव था। अंग्रेज अधिकारी भारत में कार्य करने के लिए ब्रिटिश सरकार पर निर्भर नहीं रहते थे। इस स्वतंत्रता का लाभ अंग्रेजों ने उठाया। कई बार ब्रिटिश अधिकारियों ने स्वेच्छा से ही भारत में प्रभाव जमाने के कदम उठाये और बाद में उन्होंने इसकी सूचना ब्रिटेन भेजी।

धन सम्बन्धी कठिनाइयाँ

१७४६ में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच संघर्ष आरम्भ होने के समय ही फ्रांसीसी कंपनी की आर्थिक स्थिति अंग्रेजों के मुकाबले में कमजोर थी। युद्धों के समय फ्रांसीसी कंपनी का व्यापार और अधिक गिरता गया। कंपनी की आय घटती गयी। युद्धों में फ्रांसीसी कंपनी को जो भारी खर्च उठाना पड़ा, उसका बोझ वह अधिक समय तक उठाने में असमर्थ रही। डूप्ले के अतिरिक्त लैली को भी तृतीय कर्नाटक युद्ध के समय गम्भीर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। कोई भी व्यापारिक कंपनी अन्य देश में साम्राज्य की स्थापना उसी समय कर सकती थी जब उसकी आर्थिक स्थिति संतोषजनक हो। फ्रांसीसी कंपनी के अधिकारी अपनी महत्वाकांक्षा में इस नियम को भूल गये। इसी समय अंग्रेजों ने इस मूल मंत्र को भली प्रकार से याद रखा। युद्ध के समय भी उनके व्यापार के लाभ में कोई कमी नहीं हुई। तीसरे कर्नाटक युद्ध के समय भी बंगाल की सफलता के बाद उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी और वे स्थान-स्थान पर होने वाले सेना के खर्च को उठा सकने की स्थिति में थे। इस प्रकार अंतिम दौर में तो दोनों कंपनियों की आर्थिक स्थिति में बहुत अधिक विषमता आ गयी थी।

नौसैनिक शक्ति का उपयोग

इन युद्धों में सामुद्रिक बेड़ों द्वारा कारगर ढंग से काम किया गया। १७४६ में बोर्दनिस द्वारा मद्रास पर कब्जा करने से इस क्रम का आरंभ हुआ। सामुद्रिक शक्ति में फ्रांसीसियों की तुलना में अंग्रेज अधिक सबल थे। बंगाल में सफलता प्राप्त करने के बाद क्लाइव ने तृतीय कर्नाटक युद्ध के समय मछलीपट्टम पर अधिकार करने में तथा लैली को मद्रास से हटाने में नौसेनिक शक्ति का उपयोग किया। भारत और फ्रांस के बीच में स्थित मारीशस द्वीप के बेड़े का बड़ा उपयोग भी फ्रांसीसी उचित रूप से नहीं कर सके।

नेतृत्व की कमजोरी

फ्रांसीसी कंपनी को आरंभ से ही नेतृत्व की कठिनाई बनी रही। फ्रांसीसी अधिकारी कठिन परिस्थितियों में भी विवाद में फँस जाते थे। केवल डूप्ले ही उचित नेतृत्व प्रदान कर सका लेकिन उसमें सैनिक गुण नहीं था।

परिस्थितियों पर विजय पाने के लिए संगठित रूप से युद्ध में जान की बाजी लगाने वाले सैनिक अधिकारी फ्रांसीसी कंपनी में नहीं थे। अंग्रेजों ने भारत में अधिक अनुशासन से कार्य किया और आवश्यकता पड़ने पर पद में छोटे अधिकारी के नेतृत्व को भी अन्य अधिकारियों ने स्वीकार किया। इस प्रकार योग्यता को स्वीकार करने की नीति अपनायी गयी। कठिन अवसरों पर फ्रांसीसी अधिकारी निजी झगड़ों में फँस जाते थे। उसके प्रधान अधिकारी भी उचित समय पर निर्णय न कर सके। तीसरे कर्नाटक युद्ध के समय कोई भी न तो लैली के व्यवहार से अथवा उसके नेतृत्व से ही संतुष्ट था।

तीसरा अध्याय

बंगाल में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना

बंगाल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सत्ता के स्थापित होने के स्थायी और महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। बंगाल में अंग्रेजों की सफलता ने उनके लिए भारत में साम्राज्य स्थापित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसने भारत और ब्रिटेन के बीच होने वाले व्यापार की दिशा को भी बदल दिया। १७५७ के पूर्व बंगाल एक तरह का बड़ा कुण्ड था जिसमें विदेशी सोना-चाँदी समा जाती थी या विलीन हो जाती थी। प्लासी युद्ध के फलस्वरूप बंगाल ऐसी खदान बन गया जिसमें से भारी मात्रा में दौलत निकाली ही जाती थी पर इस खदान को कभी भरने का प्रयास नहीं किया गया। बंगाल में कम्पनी की शक्ति की स्थापना का मूल कारण व्यापारिक था। कम्पनी ने राजनीतिक शक्ति प्राप्त करके अपार धन-दौलत कमाकर अपने देश ले जाने का एक लम्बा सिलसिला शुरू किया।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। मुगल शक्ति के पराभव से तथा देश में केन्द्रीय शक्ति के कमजोर होने के कारण भारतीय राजनीति तेजी से बदल रही थी। अठारहवीं सदी की इस बदलती हुई राजनीति से अंग्रेजों को भी अपनी शक्ति बढ़ाने का मौका मिल गया। इसके अलावा दक्षिण भारत में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों के बीच जो दो कर्नाटक युद्ध हुए उनसे भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी की महत्त्वाकांक्षा जागी। दक्षिण में कम्पनी की विजयों का और बंगाल में उनकी राजनीतिक सफलताओं का स्पष्ट संबंध दिखायी देता है। बंगाल में प्रभाव जमाने के पूर्व अंग्रेज कर्नाटक के युद्धों के समय अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा चुके थे। उनका हौसला बुलंद था। उन्होंने सोचा कि जिस प्रकार कर्नाटक का नवाब कमजोर साबित हुआ था उसी प्रकार बंगाल के नवाब को भी वे दबा सकते थे।

बंगाल में ईस्ट इंडिया कम्पनी और नवाब के बीच बढ़ते हुए मतभेद

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की पहली बस्ती बंगाल के हुगली नगर में १६५१ में स्थापित हुई थी। मुगल बादशाह शाहजहाँ ने एक फरमान जारी करके बंगाल सूबे में कम्पनी को व्यापार करने का अधिकार प्रदान किया था। कम्पनी को अधिकार भी दिया गया था कि निर्यात किये जाने वाले माल पर वह उस चुंगी को न अदा करे जो आंतरिक व्यापार पर लगायी जाती थी। बंगाल के नवाब ने फरमान के अनुसार कम्पनी को सुविधाएँ देना शुरू कर दिया। यह सिलसिला बराबर चलता रहा और कम्पनी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए लगातार कोशिशें करती रही। १७१७ में मुगल सम्राट फरुखशियर ने कम्पनी को एक और फरमान दिया जिसमें यह कहा गया था कि कम्पनी की वस्तुओं को लाने अथवा ले जाने पर सीमा-शुल्क न लगाया जाये। लेकिन यह फरमान अस्पष्ट था। इसमें यह साफ-साफ नहीं कहा गया था कि कम्पनी के सामान को सीमा-शुल्क से मुक्त किया गया था अथवा कम्पनी

के अधिकारियों के माल को भी। एक दूसरा सवाल यह भी था कि बंगाल का नवाब कम्पनी को ऐसी सुविधाएँ देने को तैयार नहीं था जिससे उसकी आय घटती हो। जब मुगल बादशाह का बंगाल में प्रभाव था तब तो बंगाल के नवाबों ने फरमानों को स्वीकार किया। लेकिन जैसे-जैसे मुगल सम्राट की शक्ति घटती गयी, बंगाल के नवाब उसके फरमानों को स्वीकार करने में असहमति दिखाने लगे। नवाब चाहते थे कि बंगाल सूबे के व्यापार पर उनका नियंत्रण हो और कम्पनी उनके आदेशों के अनुसार व्यापार करे। इस प्रकार कम्पनी और बंगाल के नवाब के बीच व्यापार करने के प्रश्न को लेकर मतभेद उभरे। कम्पनी की शिकायत थी कि १७१७ के फरमान द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ नहीं दी जा रही थीं और बंगाल के नवाब का कहना था कि कंपनी फरमान का नाजायज फायदा उठा रही थी और उसके व्यापार से सूबे को राजस्व का घाटा हो रहा है।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी और नवाब के बीच व्यापार करने के मामले में कोई समझौता न हो सका और किसी न किसी प्रकार का संघर्ष लगातार चलता रहा। इसी के साथ अन्य समस्याएँ भी सामने आयीं। कलकत्ता के आसपास के क्षेत्र पर कम्पनी के अधीन जो क्षेत्र था वह जमींदारी का क्षेत्र था। कम्पनी अपने क्षेत्र में स्वतंत्र रूप से कार्य करने लगी। लेकिन बंगाल के नवाबों ने जमींदारी के इलाके पर अपना नियंत्रण बनाये रखने का दावा किया। इससे दोनों के बीच संघर्ष हुआ। कम्पनी कलकत्ता में किलेबंदी कर रही थी जिसके लिए बंगाल के नवाब ने आज्ञा नहीं दी। इससे स्पष्ट है कि दोनों पक्षों के बीच मतभेद उभर रहे थे।

१७१९ से बंगाल का नवाब मुगलों के प्रभाव से मुक्त होकर प्रायः एक स्वतंत्र शासक के रूप में कार्य करने लगा था। बंगाल के नवाब के अधीन बंगाल, बिहार और उड़ीसा का क्षेत्र होने के कारण यह एक बड़ा सूबा था। नवाब केवल नाममात्र के लिए मुगल बादशाह की अधीनता को स्वीकार करता था। १७४० की घटना से यह और भी अधिक स्पष्ट हो गया। इस वर्ष अलीवर्दी खाँ ने तत्कालीन नवाब को अपदस्थ करके सत्ता हथिया ली थी। मुगल सम्राट किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सका और उसने इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया।

अलीवर्दी खाँ का शासन

अलीवर्दी ख़ाँ ने १७४० से १७५६ तक बंगाल का शासन किया। वह कई दृष्टियों से एक योग्य शासक अवश्य था। लेकिन फिर भी उसके कार्यकाल में ही बाह्य आक्रमण और आंतरिक राजनीति के कारण राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक एकता कमजोर पड़ने लगी थी। १७५१ तक मराठों के हमले लगातार होते रहते थे जो बंगाल के लिए बड़ा खतरा था। उनसे समझौता करने पर नवाब मजबूर हुआ। उड़ीसा प्रदेश का एक बड़ा भाग मराठों को सौंपकर तथा प्रतिवर्ष बारह लाख रुपया (चौथ की रकम) का वायदा करके नवाब ने चैन की साँस ली। अलीवर्दी खाँ के समय से ही दरबार की राजनीति पेंचीदी थी और विभिन्न वर्गों के अधिकारियों में गहरे मतभेद होने से दलगत राजनीति विषाक्त हो गयी थी। नवाब

स्वयं सरफराज खाँ को अपदस्थ करके शासक बना था। एक प्रकार की क्रांति बंगाल में हुई जिसके द्वारा बंगाल में एक नये राजवंश की स्थापना हुई थी। अलीवर्दी खाँ को नवाव बनाने में हिंदू व्यापारियों ने सहायता की थी। स्वाभाविक ही था कि उसके शासन-काल के दौरान इन हिंदू व्यापारियों का प्रभाव बंगाल की राजनीति में बढ़ता गया। ब्रिटिश इतिहासकार ओरमे लिखता है कि शासन के प्रमुख पदों पर अलीवर्दी खाँ ने हिंदुओं की नियुक्तियाँ कीं। राय दुर्लभ, जगत सेठ, मेहताब राय, स्वरूपचन्द्र, राजा रामनारायण और राजा मानिकचन्द्र उसके विशेष कृपापात्र थे। लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि इन हिंदू व्यापारियों का प्रभाव इस कारण था क्योंकि बंगाल का व्यापार ये लोग ही चला रहे थे। इन व्यापारियों की आमदनी लगातार बढ़ती गयी। सामुद्रिक व्यापार उस समय विकसित हो रहा था। कलकत्ता तथा अन्य स्थानों के व्यापारियों ने भी इस व्यापार से लाभ उठाया। अब केवल कृषि उत्पादनों का निर्यात ही नहीं अपितु विभिन्न प्रकार के कपड़ों और सिल्क का निर्यात भी बढ़ा। इसी व्यापार की वजह से हिंदू व्यापारियों और ब्रिटिश व्यापारियों के बीच संबंध बढ़ते गये। सिराजुद्दौला के शासनकाल में जब बंगाल के नवाव और अंग्रेजों के बीच संघर्ष हुआ तो उसमें इन व्यापारियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

अलीवर्दी खाँ के समय से ही नवाब और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच मतभेद दिखाई देने लगे थे। मुख्य विवाद व्यापार के प्रश्न को लेकर शुरू हुआ। कम्पनी का कहना था कि उसे १७१७ के फरमान के अनुसार व्यापार करने की सुविधाएँ प्रदान की जा रही थीं तथा नवाब का आरोप था कि कम्पनी फरमान की व्यवस्थाओं का दुरुपयोग कर रही थी। बंगाल का नवाब यह चाहता था कि व्यापार से होने वाले लाभ का कुछ भाग सीमा-शुल्क के रूप में कम्पनी बंगाल की सरकार को भी दे। लेकिन कम्पनी की नियत अच्छी नहीं थी। वह व्यापार से मुनाफा तो कमाना चाहती थी लेकिन नवाब को कर नहीं देना चाहती थी। दोनों पक्षों के बीच इससे विवाद बना रहा और उसका कोई उचित समाधान न निकल सका।

अलवर्दी खाँ कम्पनी के राजनीतिक इरादों से भी शंकित रहता था। उसने दक्षिण में होने वाले युद्धों की जानकारी प्राप्त की थी। उसकी आशंका यह थी कि बंगाल में भी दोनों यूरोपीय कम्पनियों में संघर्ष छिड़ सकता था तथा नवाब के लिए भी नयी चुनौतियाँ सामने आ सकती थीं। इस कारण उसने अंग्रेजों के किलाबंदी करने तथा हथियार जमा करने के सभी प्रयत्नों का विरोध किया। उसका कहना था कि व्यापारियों को सामरिक तैयारियाँ करने की जरूरत नहीं थी।

१७५६ में जब यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हो गया तो बंगाल में इसके प्रभाव की संभावना को लेकर नवाब अलीवर्दी खाँ चिंतित हो उठा। उसने दोनों कंपनियों पर निगरानी रखी और हिदायत दी कि वे किसी प्रकार के संघर्ष की ओर उन्मुख न हों।

सिराजुद्दौला का नवाब बनना

बंगाल के नवाब अलीवर्दी खाँ की मृत्यु ८२ वर्ष की आयु में १० अप्रैल, १७५६ को हुई। उसे अपना कोई पुत्र नहीं था जिससे गद्दी के दावेदारों के बीच संघर्ष होने की

संभावना थी। अलीवर्दी खाँ के तीन लड़कियाँ थीं। इनमें से सबसे छोटी लड़की के बीस वर्षीय पुत्र सिराजुद्दौला को अलीवर्दी खाँ ने अपना उत्तराधिकारी चुना था। मृत नवाब की इच्छा के अनुसार सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बन गया। लेकिन मृत नवाब की अन्य दोनों लड़कियों अथवा उनके वारिसों ने सिराजुद्दौला के अधिकार को चुपचाप स्वीकार नहीं किया। बंगाल के नवाब के पद के लिए तो कोई संघर्ष नहीं हुआ परन्तु नवाघ का पद सँभालते ही सिराजुद्दौला को इन प्रतिद्वन्द्वियों को सबक सिखाना जरूरी हो गया। यह काम उसने पूरी सफलता से किया। पूर्णिया के गवर्नर शौकतजंग तथा मृत नवाब की बेटी घसीटी बेगम के विरुद्ध सिराजुद्दौला ने अविलंब कार्यवाही की और इन विरोधियों का मुँह बन्दकर दिया। नये नवाब ने जिस प्रकार शीघ्रता की थी वह परिस्थितियों को देखते हुए आवश्यक थी।

सिराजुद्दौला और कम्पनी के सम्बन्ध

यह कहा जाता है कि बूढ़े नवाब ने अपनी मृत्यु के पहले ही सिराजुद्दौला को अंग्रेजों पर नजर रखने की सलाह दी थी। उसे आशंका थी कि कर्नाटक की तरह बंगाल में भी विदेशी कम्पनियों के बीच संघर्ष हो सकता था। उत्तराधिकारी की हैसियत से कम्पनी के विषय में सिराजुद्दौला को पहले से ही पर्याप्त जानकारी थी। इस कारण नवाब बनते ही उसने कम्पनी पर अंकुश लगाना चाहा। नवाब और कम्पनी के बीच सम्बन्धों का जिक्र करते समय दोनों पक्षों को बराबरी की दृष्टि से नहीं देखा जा सका। हमें यह स्मरण रखना होगा कि सिराजुद्दौला भारत के एक बड़े सूबे का स्वतंत्र शासक था। उसे पूरी तरह से यह अधिकार प्राप्त था कि वह अपने सूबे वाले विदेशी व्यापारियों पर अंकुश लगाये। यदि अंग्रेजों को उचित सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं तो वे बंगाल से हट सकते थे। लेकिन फिर भी घटनाओं का वर्णन करते समय यूरोपीय लेखकों ने अधिकतर सारा दोष सिराजुद्दौला पर ही मढ़ा है। उनका उद्देश्य था कम्पनी को निर्दोष साबित करना। इसी कारण सिराजुद्दौला के चरित्र की कटु आलोचना की जाती है। यह माना जा सकता है कि सिराजुद्दौला में कुछ चारित्रिक दुर्बलताएँ थीं। इन्हीं कमजोरियों के कारण उसका पतन भी हुआ। लेकिन आरम्भ से ही कम्पनी के प्रति उसने किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से कार्य नहीं किया। इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि कम्पनी ने सिराजुद्दौला का शुरू से ही विरोध किया और उसके अधिकारियों ने ही झगड़ा मोल लिया। प्लासी के पूर्व बंगाल के नवाब की नीतियों तथा कंपनी के अधिकारियों के रुख के बारे मे जो तरह-तरह की भ्रांतियाँ फैलायी गयी हैं उनका उद्देश्य अंग्रेजों के वास्तविक उद्देश्यों पर तथा करतूतों पर पर्दा डालना है।

दक्षिण में सफल होने के बाद कम्पनी बंगाल में प्रभाव जमाने की जी-तोड़ कोशिश में लग गयी। ब्रिटेन के संचालक मंडल ने एक पत्र में इस प्रकार लिखा- "यह कभी भी आवश्यक हो सकता है कि हमारे बल और शक्ति के प्रति भारतीयों में डर बना रहे।" इस पत्र से साफ जाहिर है कि कंपनी में शक्ति के लिए इच्छा बढ़ती जा रही थी। इससे कम्पनी के अधिकारियों ने बंगाल की बदलती हुई राजनीति में रुचि लेना शुरू कर दिया। नवाब

अलीवर्दी खाँ बहुत बूढ़ा हो चुका था और उसकी मृत्यु के बाद राजनीतिक परिवर्तनों की संभावना थी। ब्रिटिश अधिकारियों ने भी बंगाल की राजनीति में रुचि लेना आरंभ कर दिया। यह बात ध्यान देने योग्य है कि अंग्रेजों ने घसीटी बेगम का पक्ष लिया। वे अंतिम समय तक यही चाहते रहे थे कि सिराजुद्दौला नवाब न बन सके। सभी तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे उस समय से सिराजुद्दौला के विरोधी थे जबसे उसने पहली बार नवाब का पद सँभाला। सिराजुद्दौला और कम्पनी के बीच कटुता का आरम्भ इसी समय से हुआ। यह भी सम्भव है कि सिराजुद्दौला को भी कम्पनी की गतिविधियों की खबर मिलती रही जिससे वह नाराज हुआ।

भारत में यह सामान्य नियम था कि किसी भी शासक द्वारा गद्दी सँभालने के समय सभी प्रमुख वर्गों के लोग उसे नजराना भेंट करते थे। जब सिराजुद्दौला नवाब बना तो कम्पनी की ओर से कोई भी अधिकारी उसे नजराना भेंट करने नहीं गया। नवाब कम्पनी की इस उपेक्षा से और भी रुष्ट हुआ।

इन कारणों के अलावा कुछ अन्य कारणों से भी दोनों पक्षों के बीच तनाव बढ़ता गया। इस तनाव की स्थिति में कम्पनी कलकत्ता में प्राप्त जमींदारी के अधिकारों की जिस प्रकार से व्याख्या कर रही थी वह नवाब को मान्य नहीं था। भारतीय परंपरानुसार जमींदार एक तरह से नवाब का प्रतिनिधि या एजेंट होता था जो नवाव की ओर से राजस्व वसूल करता था और उस क्षेत्र में शान्ति तथा व्यवस्था की देखभाल करता था। पर नवाब का प्रभुत्व जमींदारी क्षेत्र में पूरी तरह से होता था। कम्पनी ने इस सर्वमान्य परंपरा से कहीं अधिक अधिकारों का दावा करना शुरू कर दिया। उसका कहना था कि कम्पनी को राजस्व प्राप्त करने के अलावा राजनीतिक स्वायत्तता के अधिकार भी मिले हुए थे। मूल प्रश्न था कि कम्पनी किस प्रकार नवाब की अधीनता में कार्य करे। जब कम्पनी ने नवाब के अधिकारों और उसके प्रभुत्व का प्रतिरोध किया तो नवाब को हस्तक्षेप करना ही पड़ा।

यह साफ जाहिर है कि कलकत्ता स्थित कम्पनी के गवर्नर ड्रेक और उसके सहयोगियों ने स्थिति का अनुमान करने में गलती की। वे नवाब की शक्ति का सही अनुमान नहीं लगा सके। इसी से कम्पनी ने किलेबन्दी न करने की नवाब की आज्ञा अनसुनी कर दी। इसी समय कम्पनी ने नवाब के विरोधियों को कलकत्ता में शरण देने का अनुचित कार्य भी किया। कम्पनी ने कृष्णवल्लभ को कलकत्ता में शरण देकर नवाब की इच्छा के विरुद्ध कार्य किया।

ऐसी स्थिति में नवाब कम्पनी की इन आपत्तिजनक कार्यवाहियों को चुपचाप सहन नहीं कर सकता था। लेकिन यह भी कहना जरूरी है कि सिराजुद्दौला इस समय अंग्रेजों से लड़ना भी नहीं चाहता था। इसका प्रमाण यह है कि कलकत्ता की ओर सेना लेकर चलने के पूर्व उसने बातचीत करके समस्या का समाधान निकालने के उद्देश्य से अपने प्रतिनिधियों को अंग्रेजों से बातचीत करने के लिए भेजा। लेकिन जब कम्पनी के अधिकारियों ने उसके इन प्रयत्नों को भी ठुकरा दिया तो फिर नवाब को अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के अलावा

कोई चारा ही नहीं था। सिराजुद्दौला के कलकत्ता पहुँचने पर ड्रेक और उसके साथियों ने उसे चुनौती दी। इससे नवाब के सैनिकों को हमले की कार्यवाही करनी पड़ी।

सिराजुद्दौला की कलकत्ता में सैनिक कार्यवाही

मई, १७५६ तक सिराजुद्दौला अपने विरोधियों का दमन कर चुका था। स्वाभाविक ही था कि उसने कंपनी को भी अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने की कोशिश की। यदि उसने कंपनी पर अंकुश लगाने का निर्णय लिया तो इसका मूल कारण क्या था, यह एक विवादास्पद विषय है। प्रमुख इतिहासकार ए.सी. हिल का कहना है कि युवक नवाब ने "घमंड और धनलोलुपता" के कारण यह कार्यवाही की। हम तथ्यों के आधार पर इस आरोप को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हैं। घटनाक्रम से साफ जाहिर है कि कंपनी ने जब नवाब की लगातार अवहेलना की तथा उसकी आज्ञाओं की उपेक्षा की तो नवाब को कंपनी को सबक सिखाने के लिए कलकत्ता तक आना पड़ा। यह भी स्मरण रखना होगा कि तब भी सिराजुद्दौला समझौते के लिये तैयार था। पर ड्रेक और उसके साथियों ने उसे चुनौती दी।

सबसे पहले नवाब की सेनाओं ने मुर्शिदाबाद के निकट अंग्रेजों की कासिमबाजार की बस्ती को घेर लिया। यहाँ के ब्रिटिश अधिकारियों ने आत्म-समर्पण कर दिया। जब इससे भी कलकत्ता के अंग्रेज अधिकारियों का रुख न बदला तो नवाब अपनी सेना लेकर जून, १७५६ में कलकत्ता की ओर बढ़ा।

कलकत्ता की बस्ती में अंग्रेजों के पास लगभग पाँच सौ सैनिक थे। लेकिन फिर भी ड्रेक ने नवाब की बड़ी सेना का मुकाबला करने का निश्चय किया। इसलिए सिराजुद्दौला के लिए युद्ध करने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं था। एस.सी. हिल ने इन पहलुओं को स्पष्ट न करके सारा दोष नवाब पर ही मढ़ने की कोशिश की है। अंग्रेज अधिकारी वाट्स ने बाद में स्वीकार किया था कि नवाब के शान्ति के प्रस्ताव पर्याप्त थे। इन्हें अस्वीकार करके और कासिमबाजार की घटना से सबक न लेकर ड्रेक ने स्वयं खतरा उठाया।

नवाब की सेनाओं ने १६ मई को कलकत्ता पर अधिकार करने के लिए कार्यवाही आरंभ की और २० जून तक नवाब की सेनाओं ने कलकत्ता पर अधिकार कर लिया था। ड्रेक और अन्य अधिकारियों ने कलकत्ता से भागकर समुद्र में खड़े हुए जहाजी बेड़े में जाकर शरण ली। लेकिन सभी सैनिक तथा उनके सहायक भाग नहीं सके। वे कलकत्ता में ही बंदी बना लिये गये।

२० जून की रात्रि को ही अनायास कलकत्ता में एक घटना घटी जो काल कोठरी की घटना कहलाती है। कहा जाता है कि १४६ बंदियों को रात्रि में एक बहुत ही छोटी कोठरी में बन्द कर दिया गया। इस कोठरी के बारे में कहा जाता है कि यह १८ फीट लंबी, १४ फीट ऊँची और १० फीट चौड़ी थी। गर्मी में घुटन के कारण २३ व्यक्तियों को छोड़कर सभी ने दम तोड़ दिया। यह एक विवादास्पद घटना है और इससे सम्बन्धित तथ्यों की जानकारी के लिए केवल एक विवरण ही उपलब्ध है जो ब्रिटिश अधिकारी हालवेल ने दिया है। यह संभव है कि इस अंग्रेज अधिकारी का विवरण केवल कल्पना की उड़ान ही हो।

यदि हम इसे सही मान भी लें तो भी इसके लिए सिराजुद्दौला को जिम्मेदार ठहराना सर्वथा अनुचित होगा। ब्रिटिश इतिहासकार बार-बार यह कहते हैं कि नवाव ने बदला लेने के लिए यह कार्य किया। वे सिद्ध करना चाहते थे कि नवाब क्रूर और निर्दयी था। उसे अंग्रेजों के खून का प्यासा कहा गया है। इन आरोपों को सिद्ध करने के लिए काल कोठरी की घटना का विशद चित्रण किया जाता है। यदि यह घटना घटी तो किसी साधारण अधिकारी की लापरवाही के कारण ऐसा हुआ होगा। हम यह कैसे मान लें कि नवाब ने स्वयं इन बंदियों को कोठरी में बंद करवाया। मालूम यही देता है कि नवाब ने बंदियों को रात्रि में कोठरी में रखने की आज्ञा दे दी और शेष कार्यवाही का निरीक्षण किसी दूसरे अधिकारी ने किया। अन्य तथ्यों की जानकारी उपलब्ध नहीं है। एक और भी तथ्य सामने आया है। कंपनी के कर्मचारियों की गणना करने पर यह कहा जा सकता है कि उस समय ज्यादा से ज्यादा ६४ लोग कोठरी में बंद किये जा सकते थे और इनमें से ४३ से अधिक बंदियों की मृत्यु नहीं हुई होगी। मरने वालों की संख्या इससे भी कम हो सकती है।

अंग्रेजों का कलकत्ता पर पुनः अधिकार : क्लाइव का आगमन (दिसम्बर, १७५६)

जब कासिमबाजार और कलकत्ता पर सिराजुद्दौला के अधिकार का समाचार मद्रास पहुँचा तो तुरन्त यह निर्णय किया गया कि अंग्रेजों को पुनः इन स्थानों पर अधिकार करना चाहिए। यह निश्चय किया गया कि युद्ध में काम आने वाले जितने जहाज उपलब्ध हों उनसे बड़ी सेना कलकत्ता भेजी जाये। इस जहाजी बेड़े के साथ कारगर ढंग से काम करने वाली तोपें भी भेजी गयीं। मद्रास से चलकर यह जहाजी बेड़ा दिसम्बर, १७५६ में कलकत्ता के निकट पहुँचा।

अंग्रेजों की सेना का सेनापति क्लाइव को नियुक्त किया गया। क्लाइव को यह मौका अनायास मिला था। उसे इसमें सफलता द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त हो सकती थी। पहली बार उसे स्वतंत्र रूप से इस अभियान का उत्तरदायित्व सौंपा गया था। सैनिक नेतृत्व के साथ-साथ उसे बंगाल में कार्य करने के लिए पूर्ण स्वतंत्रता थी। वह आवश्यकतानुसार कार्य करने को स्वतंत्र था। इकत्तीस वर्षीय यह सेनानायक पूर्ण साहस और उत्साह के साथ बंगाल के समुद्रतट तक पहुँचा।

इस अभियान का उद्देश्य केवल कलकत्ता पर अधिकार करने तक सीमित नहीं था। इस सेना को बंगाल भेजते समय ही मद्रास की कौंसिल ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि जहाँ तक सम्भव हो सके सिराजुद्दौला के विरोध में विप्लव को उत्साहित करके बंगाल के शासन में परिवर्तन लाया जाये। इसके अलावा बंगाल से फ्रांसीसी प्रभाव का अंत करने का भी निश्चय किया गया था। जिस समय से बंगाल में क्लाइव की सेना ने पदार्पण किया, शक्ति पर आधारित ब्रिटिश कूटनीति सक्रिय हो उठी।

नवाब ने कलकत्ता पर आक्रमण अंग्रेजों पर दवाव डालने के लिए किया था। किंतु कलकत्ता पर अधिकार बनाये रखने का और अंग्रेजों को पुनः लौटने न देने का उसका इरादा

नहीं था। कलकत्ता से उसने सारी सेना वापस बुला ली थी। अतः बिना किसी विरोध के अंग्रेजों ने २ जनवरी, १७५७ को कलकत्ता पर पुनः अधिकार कर लिया।

क्लाइव और उसके साथियों ने आरम्भ से ही उग्र तरीका अपनाया। कलकत्ता पर अधिकार करके नवाब से किसी प्रकार की प्रार्थना करने के बजाय उन्होंने खुले शब्दों में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से युद्ध करने की घोषणा की । नवाब से क्षति-पूर्ति करने को कहा गया। सिराजुद्दौला के अधिकारों को यह एक चुनौती थी और फरवरी, १७५७ में एक बड़ी सेना लेकर सिराजुद्दौला एक बार फिर कलकत्ता के निकट पहुँचा। यह स्पष्ट अनुमान लगाना कठिन है कि नवाब के कलकत्ता तक आने की योजना क्या थी। अपनी राजधानी छोड़कर विरोधियों के क्षेत्र के निकट आना उसकी भूल थी, विशेष रूप से ऐसे समय में जब वह अंग्रेजों के प्रति कोई कठोर नीति अपनाने के पक्ष में नहीं था। इस स्थिति का लाभ क्लाइव ने उठाया। उसने अचानक एक रात नवाब की सेना पर हमला करके उसे नुकसान पहुँचाया। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन ही नवाब अंग्रेजों से संधि करने पर राजी हो गया। इस संधि द्वारा कम्पनी के कलकत्ता और उसके आसपास के अधिकार को स्वीकार किया गया। कम्पनी को अधिकार मिला कि बिना सीमा-शुल्क दिये उसके अधिकारी व्यापार कर सकते थे। अंग्रेजों को कलकत्ता में किलेबंदी करने तथा सिक्के बनाने का अधिकार भी दे दिया गया।

फरवरी, १७५७ की यह संधि दो विरोधी शक्तियों के बीच एक अस्थायी समझौता था। क्लाइव ने इस संधि के द्वारा कम्पनी के लिए सभी अधिकार प्राप्त कर लिये। संधि करके उसने फ्रांसीसियों और नवाब की सम्भावित मित्रता को भी रोका। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि नवाब संधि के लिए किस प्रकार तैयार हुआ। ऐसा मालूम पड़ता है कि नवाब रक्षात्मक नीति अपना रहा था। वह अहमदशाह अब्दाली की सेना के बंगाल की ओर बढ़ने की सम्भावना से डरा हुआ था और ऐसे कठिन समय में उसने अंग्रेजों से समझौता कर लेना ही उचित समझा। क्लाइव की सैनिक शक्ति से भी वह प्रभावित हुआ था। कुछ भी हो, फरवरी, १७५७ में सिराजुद्दौला ने अंग्रेजों के प्रति कोई दृढ़ नीति नहीं अपनायी। इससे क्लाइव और अधिक उत्साहित हुआ। बंगाल की राजनीति में हस्तक्षेप करने का तथा अपने पक्ष को शक्तिशाली बनाने का क्लाइव को जो अवसर मिला, उसका कारण था सिराजुद्दौला की कमजोर नीति। आगे चलकर युवा नवाब को इसके कारण भारी क्षति उठानी पड़ी। विरोधी पक्ष को स्थिति मजबूत करने का समय देना राजनीतिक संबंधों में कई बार बहुत महँगा पड़ता है। बंगाल में होने वाली घटनाएँ भी इस तथ्य को प्रमाणित करती हैं।

क्लाइव का चन्द्रनगर पर अधिकार (मार्च, १७५७)

यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध प्रारम्भ हो जाने के बाद बंगाल में भी इन दोनों कंपनियों के बीच संघर्ष की सम्भावना थी। नवाब को इस स्थिति में सतर्क रहने की आवश्यकता थी जिससे दोनों कंपनियों में संघर्ष रोका जा सके। नवाब ने दोनों कंपनियों के प्रति निष्पक्ष रहने की नीति अपनायी। सिराजुद्दौला से संधि कर लेने के बाद क्लाइव ने बिना और

प्रतीक्षा किये फ्रांसीसियों के किले चन्द्रनगर पर आक्रमण करके उसपर अधिकार कर लिया। अंग्रेजी सेना ने फ्रांसीसियों से चन्द्रनगर खाली करा लिया। यह आक्रमण इतना गुप्त और सुनियोजित था कि सिराजुद्दौला को फ्रांसीसियों के पक्ष में हस्तक्षेप करने का मौका ही नहीं मिला।

अंग्रेजों की इस सफलता से उनका हौसला और अधिक बढ़ा। अभी तक उन्हें डर था कि फ्रांसीसी किसी भी समय अंग्रेजों के विरोध में नवाब के सहायक बनेंगे। अब यह आशंका समाप्त हो गयी। नवाब की यह परोक्ष रूप से पराजय थी। वह दो विरोधी यूरोपीय कंपनियों के बीच संतुलन बनाये रखने में असफल रहा। अंग्रेजों का पक्ष और सबल होने से नवाब की कठिनाइयाँ बढ़ीं।

नवाब के खिलाफ षड्यंत्र

बंगाल में आगमन के चार महीने के अंदर ही क्लाइव ने अंग्रेजों के अधिकारों तथा क्षेत्रों को पुनः प्राप्त कर लिया था और बंगाल में फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त कर दिया था। इसके बाद वह नवाब को अपदस्थ करने की योजना बनाने लगा। अप्रैल में कलकत्ता की फोर्ट विलियम कौंसिल ने यह नीति निर्धारित की कि नवाब के विरोधियों को प्रोत्साहित करके राज्य-विप्लव कराया जाये। क्लाइव को यह अधिकार दिया गया कि वह नवाब के विरोधी असंतुष्ट सामंतों से सम्पर्क स्थापित करके योजना को सक्रिय रूप प्रदान करे। इस प्रकार अंग्रेजों ने कलकत्ता में उस षड्यंत्र की योजना में पहल की जिसके द्वारा नवाब अपदस्थ किया गया।

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बंगाल की राजनीति में ऐसा छल और प्रपंच का वातावारण था कि कुछ लोग किसी भी समय नवाब के विरुद्ध योजना बनाने में अंग्रेजों के साथ सहयोग कर सकते थे। सिराजुद्दौला अभी एक वर्ष पूर्व ही नवाब बना था। बंगाल की राजनीति का उसे बहुत सीमित अनुभव था। उसका ज्यादातर समय विरोधियों का दमन करने में बीत गया था। युवक नवाब ने अपने राज्य के अमीरों और सामंतों की भावनाओं का आदर नहीं किया था। कुछ शक्तिशाली अमीर उसके विरोधी हो गये। नवाब के विरुद्ध होने वाले षड्यंत्र में उन्होंने सक्रिय भाग लिया।

मेहताब राय और स्वरूपचन्द्र दोनों जगतसेठ बंधुओं ने सिराजुद्दौला का विरोध किया। इन व्यापारियों के अंग्रेजों से पहले से गहरे संबंध थे। गुप्त रूप से भावी योजना बनायी जाने लगी। इसी प्रकार घसीटी बेगम, मिर्जा अमीर बेग और हुसेन खाँ ने नवाब के विरोधियों को उकसाया। राजा राव दुर्लभ भी नवाब के विरुद्ध कार्य करने को राजी हो गया। इन अमीरों ने तथा नवाब के कुछ प्रमुख अधिकारियों ने अंग्रेजों के साथ मिलकर यह निश्चय किया कि सिसजुद्दौला को हटाकर मीरजाफर को नवाब बनाया जाये। मीरजाफर नवाब की सेना में उच्च अधिकारी था तथा नवाब का रिश्तेदार भी था।

यह ध्यान देने योग्य है कि सिराजुद्दौला को मीरजाफर और कुछ अन्य अधिकारियों के विरुद्ध जानकारी यथासमय मिल गयी थी। मई के अंत में नवाब ने उसे नौकरी से हटा

भी दिया था। होना यह चाहिए था कि वह षड्यंत्र की योजना का सरगर्मी से पता लगाता और विरोधियों को दण्डित करता। किंतु नवाब इन अधिकारियों के विरुद्ध कार्यवाही करने में हिचकता रहा। ऐसा करना उसकी महान भूल थी।

मीरजाफर को पद से हटाने के कुछ दिनों बाद उसे दुबारा सेना में उच्च पद दे दिया गया। नवाव की यह इच्छा थी कि अंग्रेजों के खिलाफ संघर्ष में उसे सबका सहयोग मिले। उसे यह आशा नहीं थी कि उसके प्रमुख अधिकारी ही उसके विरुद्ध छल करके मौका पड़ने पर उसे धोखा देंगे। मनुष्य स्वार्थ में कितना अंधा हो सकता है, इसकी नवाव ने कल्पना भी नहीं की थी।

नवाब के विरोधियों ने अंग्रेजों के सहयोग से षड्यंत्र को अंतिम रूप दे दिया। १० जून को मीरजाफर ने क्लाइव के साथ संधि करके अंग्रेजों की शर्तों को स्वीकार किया। इस संधि में यह कहा गया कि अंग्रेजों के दुश्मन मीरजाफर के दुश्मन थे। नवाब बनने के बाद अंग्रेजों का कितने क्षेत्र में जमींदारी का अधिकार स्वीकार किया जायेगा, यह निश्चित किया गया। मीरजाफर ने अंग्रेजों की क्षति को पूरा करने का भी वचन दिया। मीरजाफर ने यह भी वचन दिया था कि अंग्रेजों और नवाब के बीच होने वाले युद्ध में अपनी विशाल सेना के साथ वह अलग खड़ा रहेगा। कंपनी की सेना को युद्ध के समय प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में सहायता देना मीरजाफर ने स्वीकार किया था।

प्लासी का युद्ध (२३ जून, १७५७)

नवाब के विरुद्ध षड्यंत्र की योजना पूरी कर लेने के पश्चात् १३ जून को क्लाइव ब्रिटिश सेना को लेकर मुर्शिदाबाद की ओर चल पड़ा और उसने नवाब के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध के लिए यह मौसम ठीक नहीं था। युद्ध का निश्चय करते समय क्लाइव ने विचार नहीं किया था कि मौसम के कारण भी कठिनाइयाँ उठानी पड़ सकती थीं। किंतु क्लाइव एक भाग्यशाली योद्धा था और इतिहास उन व्यक्तियों का हमेशा गुणगान करता रहा है जो अपने उद्देश्यों में सफल रहे हैं। इस युद्ध में भी भाग्य ने क्लाइव का साथ दिया।

क्लाइव जिस सेना को लेकर कलकत्ता से चला था उसमें लगभग एक हजार यूरोपीय सैनिक और अधिकारी तथा दो हजार भारतीय सिपाही थे। प्लासी के मैदान में नवाब और ब्रिटिश सेनाएँ एक दूसरे का सामना करने के लिए एकत्रित हुईं। नवाब की सारी सेना प्लासी के मैदान में युद्ध में शामिल नहीं हुई थीं। अभी भी नवाव की सेना की एक बड़ी टुकड़ी सेनानायक रामनारायण के अधीन बिहार सीमा पर थी। नवाब की सेना की संख्या इस युद्ध में बारह हजार थी। इस प्रकार संख्या में उसकी सेना ब्रिटिश सेना की चौगुनी अवश्य थी। लेकिन इस सेना ने संगठित होकर युद्ध में भाग नहीं लिया। नवाब की करीब तीन चौथाई सेना और उसके षड्यंत्रकारी सैनिक अधिकारी इस संघर्ष में दर्शक मात्र बने रहे। इससे नवाब को अधिक संख्या का कोई लाभ नहीं मिला।

क्लाइव स्थान का चुनाव करने में सतर्क था। हुगली नदी पर स्थित भवन का उसने पूरा उपयोग करने का निश्चय किया। यह भवन ऊँची दीवारों से घिरा हुआ था और रक्षा

करने में उपयोगी सिद्ध हो सकता था। इसी भवन के निकट कुछ आम के पेड़ थे जिनका उपयोग उसने वर्षा से बारूद की रक्षा करने के लिए किया।

प्लासी का युद्ध प्रातःकाल से प्रारम्भ होकर सायंकाल को समाप्त हो गया। इसके दो प्रमुख भाग थे। आरम्भिक चार घंटों में दोनों ओर से गोलाबारी चलती रही। क्लाइव ने तोप के गोलों से अपने सैनिकों को बचाने के स्थान पहले से खोज रखे थे। इस कारण उसका नुकसान कम हुआ। इसके विपरीत नवाब के बड़े हाथियों को तोप का निशाना आसानी से बनाया जा सका। इन्हीं हाथियों में से एक पर नवाब के तोपखाने का प्रमुख सेनानायक मीरमदन बैठा हुआ था जो युद्ध के शुरू होते ही मृत्यु का शिकार हुआ। नवाब के बिगड़ते हुए भाग्य की यह पहली दर्दनाक घटना थी।

दोपहर में करीब एक घंटे की वर्षा से नवाब को भारी क्षति हुई। उसने वर्षा से बारूद को सुरक्षित रखने का कोई इंतजाम नहीं किया था। इस कारण युद्ध के दूसरे भाग में जहाँ अंग्रेजों का तोपखाना सक्रिय ढंग से काम करता रहा वहाँ नवाब की तोपें पूर्णरूप से शांत रहीं। युद्ध में धीरे-धीरे नवाब का हौसला घटने लगा। युद्ध के मैदान में उसे समझ में नहीं आता था कि किस सेनापति पर वह विश्वास करे और किस पर नहीं। मीरजाफर और राय दुर्लभ दोनों ऐसे अवसर की तलाश में थे जब वे अपनी सेना को साथ लेकर अंग्रेजी सेना से जा मिलें।

युद्ध के दौरान सिराजुद्दौला ने मीरजाफर को अपने खेमे में बुलाया। एक बार मीरजाफर का दिल दहल गया और उसने समझा कि उसका अंत निकट आ गया था। लेकिन खेमे में जब वह पहुँचा तो नवाब ने अपनी पगड़ी उसके पैरों पर रखकर उससे अपनी रक्षा करने की याचना की। यह इतिहास का निराला उदाहरण था जब षड्यंत्रकारी तथा राजद्रोही के साथ कोई शासक ऐसा व्यवहार कर रहा था।

मीरजाफर ने मौके का लाभ उठाकर नवाब को यह राय दी कि सेना को पीछे हटने की आज्ञा दी जाये। उसका कहना था कि वह दूसरे दिन युद्ध की नयी योजना तैयार करेगा। जैसे ही नवाब की सेना को लौटने की आज्ञा मिली, सेना में भगदड़ मच गयी। लौटती हुई सेना पर अंग्रेजी सेना ने जोरदार हमला किया।

सायंकाल होते-होते नवाब युद्ध के मैदान से भाग लिकला। युद्ध में अंग्रेजी सेना विजयी रही। सिराजुद्दौला में एक अच्छे सेनापति के गुण नहीं थे। इस युद्ध के पूर्व कभी भी उसने सैनिक संगठन अथवा संघर्ष में योग्यता नहीं दिखायी थी। किंतु ऐसे कठिन समय में यदि वह धैर्य और साहस का परिचय देता तो अंग्रेजों के हाथ विजय इतनी आसानी से नहीं लग सकती थी। युद्ध के मैदान से नवाब का भाग निकलने का निर्णय मूर्खतापूर्ण था। नवाब के मैदान से भाग निकलने के समाचार के बाद बंगाल की सेना मैदान में जम कर मुकाबला नहीं कर सकी। यदि सेना को वापस लौटना था तो अनुशासन के साथ सेना पीछे हट सकती थी। किसी उचित समय पर सेना का अंग्रेजों के विरुद्ध पुनः उपयोग किया जा सकता था। यह सब तभी संभव हो सकता था जब कि नवाब में सेनापति के कुछ गुण होते।

यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि अगर नवाब को अपनी योग्यता पर भरोसा नहीं था तो फिर राजधानी से दूर हट कर उसने सेना का संचालन करने का निर्णय क्यों किया।

सिराजुद्दौला के पतन के कारण

युद्ध की घटनाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट है कि अंग्रेजों को नवाब पर विजय इतनी आसानी से प्राप्त हो जाने की आशा नहीं थी। सिराजुद्दौला की सैनिक असफलता का मुख्य कारण यही था कि उसके दो बड़े सैनिक अधिकारी, मीरजाफर और राय दुर्लभ, अंग्रेजों से मिले हुए थे और उनके प्रभाव के कारण बहुत बड़ी संख्या में नवाब के सैनिक प्लासी के मैदान में केवल दर्शकों की भाँति खड़े रहे। जैसे ही युद्ध आरम्भ हुआ, नवाब एक अजीब कठिनाई में फँस गया। उसे यह अंदाज ही नहीं लग पाया कि वह सेना के किस भाग पर निर्भर रह सकता था और किस भाग पर नहीं। इतिहास में बिरले ही ऐसे उदाहरण मिलेंगे जब कि किसी सेनापति को युद्ध के दौरान ऐसी कठिनाई उठानी पड़ी हो और वह भी विदेशियों की सेनाओं के विरुद्ध।

प्लासी के मैदान में सिराजुद्दौला अपनी सारी सेना एकत्रित नहीं कर सका था। अभी भी एक बड़ी सेना बिहार की सीमा पर थी जिस पर वह विश्वास कर सकता था। रामनारायण इस सेना का नेतृत्व कर रहा था। प्लासी के मैदान से भागकर नवाब बिहार पहुँचना चाहता था और इस सेना की सहायता से उसका इरादा पुनः अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध करने का था। किंतु प्लासी से लौटते समय ही मीरजाफर के पुत्र मीरन के सैनिकों ने उसका पीछा किया और बिहार पहुँचने के पूर्व ही उसे मार डाला।

यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सिराजुद्दौला की असफलता एक राजनीतिक असफलता थी। राज्य के बड़े अधिकारी उसके विरोध में षड्यंत्र करते रहे तथा अंग्रेजों से साठ-गाँठ करते रहे, परंतु पूर्व सूचना मिलने के बाद भी नवाब ने कठोरता से इनका दमन नहीं किया। अगर राज्य में आंतरिक विद्रोह की सूचना मिलने पर भी वह सचेत नहीं हुआ तो यह उसकी महान भूल थी।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि उसके खिलाफ षड्यंत्र करने वालों के कोई समान उद्देश्य नहीं थे। अचानक अंग्रेजों के सुझाव पर वे तत्कालीन नवाब के विरोध में संगठित हो गये। अठारहवीं शताब्दी की भारतीय राजनीति में नवाब के प्रति ऐसे षड्यंत्र प्रायः होते रहते थे। अतः सिराजुद्दौला का विरोध करने वाले भी अपने-अपने स्वार्थों को पूरा करने के उद्देश्य से एक हो गये। प्लासी के युद्ध के तुरंत बाद इनमें फूट पड़ गयी। सिराजुद्दौला की कमजोरी यही थी कि विरोधियों के जाल को तोड़ नहीं सका।

युद्ध के परिणाम

इस युद्ध का पहला परिणाम हुआ बंगाल के नवाब की पराजय और उसकी मृत्यु। सिराजुद्दौला की असफलता के परिणामस्वरूप बंगाल में उसका शासन समाप्त हो गया और मीरजाफर नवाब बना।

यह युद्ध अंग्रेजों और मुख्यतः उनके सेनापति क्लाइव की महान सफलता थी। कलकत्ता में आने के बाद छह महीने में ही उसने बंगाल के नवाब को युद्ध में पराजित किया था। इस सैनिक सफलता से अंग्रेजों का उत्साह बढ़ा। भारत में अन्य युद्धों में विजय पाकर साम्राज्य-स्थापना की उनकी महत्वाकांक्षा जागी। भारतीय राजा भी अंग्रेजों की सफलता से प्रभावित हुए।

इस विजय से बंगाल में अंग्रेजों का राजनीतिक प्रभाव बढ़ने से दूरगामी परिणाम निकले। उनकी शक्ति के सहारे मीरजाफर बंगाल का नवाब बना था और उन्हीं की शक्ति के सहारे वह अपने पद पर बना रहा। ऐसा नवाब शक्तिशाली नहीं हो सकता था। शासन पर धीरे-धीरे अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ने लगा और उन्हें यह निश्चय करने में विलम्ब नहीं हुआ कि शासन की बागडोर वे स्वयं सँभालने की स्थिति में थे। कुछ वर्षों के बाद बंगाल का शासन पूरी तरह से अंग्रेजों के हाथ में आ गया।

प्लासी के युद्ध के आर्थिक परिणामों पर विचार करना भी आवश्यक है। प्लासी के युद्ध के पूर्व अंग्रेजों की सहायता के बदले एक बड़ी रकम देने का मीरजाफर ने वचन दिया था। इस युद्ध से अंग्रेजों को कई प्रकार के आर्थिक लाभ हुए। १७५६ से १७६० के बीच मीरजाफर ने कंपनी को २,२५,००,००० रुपये की धनराशि दी। इसके अलावा करीब साठ लाख रुपया कंपनी के अधिकारियों को नये नवाब ने व्यक्तिगत भेंट के रूप में दिया। क्लाइव को बड़ी धनराशि तो मिली ही, उसे अलग से एक जागीर भी दी गयी जिससे प्रतिवर्ष उसे करीब तीन लाख रुपये की व्यक्तिगत आमदनी होने लगी। कंपनी के पास अब जो धन जमा हुआ उसका उपयोग उसने भारत तथा चीन में व्यापार करके किया। १७५७ के पूर्व कंपनी व्यापार करने के लिए जो धन लगाती थी उसके लिए करीब ७५% सोना-चाँदी उसे इंग्लैंड से मँगाना पड़ता था। प्लासी के युद्ध के बाद के दशक में कंपनी को इंग्लैंड से सोना-चाँदी मँगाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। इसके विपरीत कंपनी बंगाल से सोना-चाँदी इकट्ठा करके भारत के अन्य भागों में व्यापार करने तथा चीन में भेजने लगी। केवल इसी तथ्य से यह अंदाज लगाया जा सकता है कि १७५७ के बाद सोना-चाँदी का कितना बड़ा भंडार कंपनी के पास जमा हो गया था। कंपनी के अधिकारी हर प्रकार के उपायों से निजी धन कमाने में भी लग गये। सैनिक अधिकारियों का लालच भी बढ़ता गया। भारत से विदेश धन भेजने का जो क्रम प्लासी के युद्ध के फलस्वरूप शुरू हुआ वह एक लंबे अर्से तक लगातार चलता रहा।

मीरजाफर ने ब्रिटिश व्यापारियों को निजी व्यापार करने की तथा कंपनी का व्यापार बढ़ाने की हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं। कंपनी ने शीरा, अफीम और नमक के व्यापार का बंगाल सूबे में एकाधिकार प्राप्त करके भारी लाभ कमाया।

प्लासी के युद्ध का महत्त्व

प्लासी के पूर्व की घटनाओं के आधार पर सिद्ध हो जाता है कि इस युद्ध में राजद्रोह और षड्यंत्र की विजय हुई। अगर केवल युद्ध के दिन की घटनाओं पर दृष्टि डालें तो इसे

युद्ध न कहकर केवल दो विरोधी सेनाओं की "मुठभेड़" कहना अधिक उपयुक्त होगा। क्लाइव सायंकाल के समय सहयोगियों को निर्देश देकर नींद में मग्न था। क्लाइव ने सोचा था कि उस समय तक युद्ध का एक दौर ही पूरा हुआ था। रात्रि के पूर्व अन्य किसी संघर्ष की आशा न होने से वह सो गया था। तभी उसे अचानक सूचना दी गयी कि नवाव और उसकी सेनाएँ पराजित हो चुकी थीं। क्लाइव को स्वयं इस समाचार से कितना अचम्भा हुआ होगा, इसकी हम केवल कल्पना ही कर सकते हैं।

यह युद्ध कितना दिखावे का युद्ध था इसका अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि इसमें अंग्रेजों की सेना में हताहतों की संख्या ६५ से अधिक नहीं थी। इसी प्रकार नवाव की सेना के भी ५०० से अधिक सैनिक नहीं मारे गये थे। कई लेखकों ने मृतकों की संख्या इससे भी कम आँकी है। जो संघर्ष इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ, वह सैनिक दृष्टि से मामूली था।

प्लासी के युद्ध के समय यह नहीं कहा जा सकता था कि यह युद्ध इतिहास में इतना महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। १७५७ के बाद बंगाल में जो घटनाएँ घटीं उनसे अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ता गया और एक दशक में ही वे वास्तव में बंगाल के शासक बन बैठे। प्लासी ने बंगाल में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का आधार तैयार कर दिया। इसी कारण इतिहासकारों ने इस युद्ध को बहुत अधिक महत्व दिया है।

अंग्रेजों की सैनिक प्रतिभा और क्लाइव की वीरता का गुणगान करने वाले एक के बाद दूसरे अंग्रेज लेखकों को भी यही एक ऐसी घटना मिली जिसके आधार पर वे यह सिद्ध कर सकते थे कि इस छोटी सी ब्रिटिश फौज ने युद्ध में ऐसे साहस का परिचय दिया कि नवाब भागता हुआ दिखायी दिया। इतिहास की कई घटनाएँ इसी प्रकार महत्व पा जाती हैं। प्लासी के युद्ध के परिणामस्वरूप अंग्रेजों के लिए भारत में साम्राज्य-स्थापना का मार्ग प्रशस्त हुआ। यही इसकी विशेषता है। प्रसिद्ध इतिहासकार मैलसन के अनुसार प्लासी का युद्ध हालांकि निर्णयात्मक था तथापि उसे एक बड़ा युद्ध कभी नहीं कहा जा सकता।

१७५७ से १७७२ तक बंगाल में राजनीतिक अस्थिरता व्याप्त रही। बंगाल का नवाब ही वास्तविक शासक बना रहा तथा राज्य-व्यवस्था उसी के नाम पर होती रही। किंतु प्लासी के बाद नवाबों की स्थिति कमजोर होती गयी। उनकी सत्ता केवल नाममात्र की रह गयी। बंगाल के शासन पर अंग्रेजों का प्रभाव परोक्ष रूप से बढ़ता गया और बक्सर के युद्ध के बाद यह प्रभाव दोहरे शासन में बदल गया। शासन और व्यवस्था लुप्तप्राय होती गयी। ऐसे वातावरण में अंग्रेज अधिकारियों को निजी सम्पत्ति एकत्रित करने का सुनहरा अवसर मिला। प्रत्येक अधिकारी अधिक से अधिक धन हर सम्भव उपाय से एकत्रित करने लगा। बंगाल, जो भारत का एक खुशहाल सूबा था, इस लूट से इस सीमा तक त्रस्त हुआ कि उसका आर्थिक ढाँचा खोखला होने लगा। इन वर्षों में न तो अंग्रेजों ने स्वयं बंगाल के शासन का उत्तरदायित्व सँभाला और न किसी नवाब अथवा उसके अधिकारी को शासन करने दिया। प्रशासकीय अराजकता और धन की लूट का जो दृश्य बंगाल में इन वर्षों में उपस्थित हुआ

उससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी संगठन को जब शक्ति मिली हो और उत्तरदायित्व न हो तो उसके प्रभाव के फलस्वरूप ऐसे राज्य की क्या दशा होती है। कंपनी के प्रभाव से बंगाल की जनता कराह रही थी किंतु उसकी आवाज सुनने वाला कोई नहीं था।

मीरजाफरं का शासन

प्लासी के युद्ध के बाद क्लाइव ने मीरजाफर को शीघ्र मुर्शिदाबाद पहुँचकर शासन की बागडोर सँभालने की सलाह दी और स्वयं वह भी सेना के साथ उसके पीछे-पीछे गया। अपनी सेना को राजधानी के बाहर छोड़कर जब क्लाइव ने अपने पाँच सौ सैनिकों के साथ नगर में प्रवेश किया तो उसने देखा कि एक विशाल जनसमूह कौतूहल से उसे देख रहा था। इस दृश्य का वर्णन करते हुए क्लाइव ने लिखा है कि बंगाल की जनता को इसका आभास ही नहीं था कि प्रशासन में हुए परिवर्तन में उनकी भूमिका इसके अलावा कुछ और हो सकती थी। क्लाइव यह भी लिखता है कि दर्शकों की संख्या इतनी अधिक थी कि यदि कंपनी के अधिकारियों और विदेशियों की सेना के विरुद्ध वे केवल पत्थर और डंडों का ही प्रयोग करते तो सारी सेना के साथ उसे भी जीवन से हाथ धोना पड़ता। किंतु अठारहवीं शताब्दी में बंगाल की जनता पूरी तरह निष्क्रिय हो चुकी थी। राजसत्ता के परिवर्तन में उसे किसी प्रकार की रुचि ही नहीं थी। यही कारण है कि थोड़ी सी सेना के साथ एक विदेशी सेनानायक राज्य के शासन में मनचाहा परिवर्तन करा सका।

मुर्शिदाबाद में हुए राजदरवार में क्लाइव और उसके साथियों के सम्मुख मीरजाफर बंगाल के नवाब की गद्दी पर बैठा। क्लाइव ने नये नवाब का स्वागत करते हुए कहा कि आत्मरक्षा के लिए कंपनी ने सिराजुद्दौला के खिलाफ युद्ध किया था। उसने आशा प्रकट की कि इसके बाद अंग्रेज कलकत्ता वापस लौट जायेंगे तथा अपना ध्यान व्यापार की ओर केन्द्रित करेंगे। क्लाइव ने विश्वास प्रकट किया था कि नवाब पूर्ववत् शासन चलाता रहेगा।

क्लाइव के इस वक्तव्य से तथा प्लासी के युद्ध के पूर्व की अंग्रेजों की योजनाओं से यह विदित होता है कि युद्ध के द्वारा बंगाल के शासन पर अधिकार करने का कंपनी का कोई इरादा नहीं था। लेकिन मीरजाफर के शासनकाल में अंग्रेजों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा जागी और उन्हें आभास होने लगा कि उनकी शक्ति सत्ता परिवर्तन के लिए ही नहीं वल्कि राज्य-संचालन के लिए भी महत्त्वपूर्ण सावित हो सकती थी।

मीरजाफर की सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि वह न तो अपने ऊपर और न अपने सहयोगियों पर ही विश्वास कर सका। वह हर समय शंकित बना रहा और प्रत्येक शक्तिशाली सामन्त से उसे भय बना रहा। जिन परिस्थितियों में वह नवाब बना था उनसे यह स्पष्ट था कि नवाब का पद प्राप्त करने का उसका अधिकार षड्यंत्र पर आधारित था, किसी वैध अधिकार पर नहीं। अपने दरबारियों तथा सेना के सहयोग पर विश्वास न करके वह अंग्रेजों की सहायता पर आरम्भ से निर्भर रहा और उसकी यह निर्भरता लगातार बढ़ती ही गयी। नवाब का पद सँभालते ही उसने क्लाइव से प्रार्थना की कि दो अंग्रेज अधिकारी और कंपनी की सेना की टुकड़ी राजधानी मुर्शिदाबाद में तैनात रहे।

मीरजाफर के शासन के आरम्भ से ही अंग्रेजों के बढ़ते हुए हस्तक्षेप का परिणाम यह हुआ कि राज्य में इतनी आपसी फूट पैदा हो गयी जो इसके पूर्व कभी देखने में नहीं आयी थी। क्लाइव केवल विजय से ही संतुष्ट नहीं हुआ अपितु प्लासी के युद्ध के बाद भी उसने शक्तिशाली सामन्तों के साथ संबंध बनाये रखे। जब भी मीरजाफर ने उनके विरुद्ध कोई कदम उठाना चाहा तो क्लाइव ने इनकी रक्षा की। मीरजाफर के दीवान राय दुर्लभ और बिहार के गवर्नर रामनारायण के प्रति क्लाइव के संबंधों से यह स्पष्ट हो जाता है। मीरजाफर और राय दुर्लभ ने प्लासी के पूर्व के षड्यंत्र में सहयोग किया था पर नवाब बनने के पश्चात् मीरजाफर ने उनका दमन करना चाहा। राय दुर्लभ ने तुरंत क्लाइव से अपील की और उसने मीरजाफर से माँग की कि वह राय दुर्लभ के साथ उचित व्यवहार करे। इसी प्रकार के क्लाइव के संरक्षण के कारण नवाब रामनारायण के विरुद्ध भी कोई कार्यवाही नहीं कर सका। इन दो सरदारों के अलावा मीरजाफर राज्य के अन्य जमींदारों और अधीन राजाओं के विरोध का दमन करने में फँसा रहा। मिदनापुर के राजा राम सिंह और पूर्णिया के जमींदार हस्यर अली खाँ और अचल सिंह ने मीरजाफर के खिलाफ विद्रोह कर दिया। राज्य में होने वाले इन विद्रोहों अथवा दमन चक्र में मीरजाफर समय-समय पर क्लाइव से सैनिक सहयोग की माँग करता रहा। कई बार क्लाइव सेना के साथ आया और नवाब को उसने सुरक्षा प्रदान की।

मीरजाफर के विरोधी बंगाल में होने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का लाभ उठाकर अपना सिर ऊपर उठा रहे थे। अस्थिरता के वातावरण में उन्होंने भी नवाब के प्रभाव से मुक्त होना चाहा।

प्लासी के युद्ध के उपरान्त अंग्रेजों ने भली प्रकार से समझ लिया था कि कंपनी अब व्यापारिक संगठन के अलावा एक सैनिक शक्ति भी हो गयी थी। युद्ध द्वारा अंग्रेजों को विशाल धन संग्रह करने का भी मौका मिला था। इससे यह भी ज्ञात हो गया कि ये युद्ध कंपनी के लिए लाभप्रद सिद्ध होंगे। अतः क्लाइव और उसके साथियों ने कंपनी की शक्ति को बढ़ाने का निश्चय किया। प्लासी के पश्चात् अंग्रेजों ने सुनियोजित ढंग से सेना का विस्तार किया। सैनिक शक्ति का सहारा लेकर ही कंपनी ने पहले बंगाल में और उसके बाद संपूर्ण भारत में साम्राज्य की स्थापना की।

१७५९ में मीरजाफर के लिए एक अन्य कठिन समस्या मुगल सम्राट आलमगीर द्वितीय के पुत्र तथा भावी मुगल शासक शाहआलम के बिहार सीमा पर आने से उत्पन्न हुई। शाहआलम दिल्ली से भागकर बिहार की सीमा पर आ गया। उसके पास न रहने के लिए स्थान ही था और न किसी क्षेत्र पर उसका राजनीतिक अधिकार था। बिहार में वह तीस हजार सैनिकों के साथ भाग्य आजमाने आया था। शाहआलम के आने से तथा उसके अधिकार जमाने की अभिलाषा से मीरजाफर के लिए नयी कठिनाई सामने आयी। उसके विरोधी शाहआलम से सम्पर्क करके नवाब के लिए नया संकट पैदा कर सकते थे। मीरजाफर को क्लाइव की सैनिक सहायता पर पुनः निर्भर होना पड़ा। जब क्लाइव और रामनारायण

की संगठित सेनाएँ शाहआलम का विरोध करने के लिए डट गयीं तो वह अवध की ओर मुड़ गया।

फरवरी, १७६० में क्लाइव स्वदेश रवाना हो गया। उसके स्थान पर हालवेल अस्थायी गवर्नर बना। हालवेल आरंभ से मीरजाफर से असंतुष्ट था और नवाब के पद से उसे हटाने का विचार कर रहा था। इन तीन वर्षों में बंगाल की शासन व्यवस्था बिगड़ती जा रही थी। मीरजाफर का खजाना खाली हो गया था। शासक बनते ही उसने जमा की हुई सारी रकम अंग्रेज अधिकारियों को लुटा दी थी और नवाब के रूप में भी कंपनी की सेना का वह सदा प्रयोग करता रहा। क्लाइव इस सैनिक सहायता के बदले सारा खर्च नवाब से वसूल करता था। इसके अलावा प्रशासन कमजोर होने से कर-व्यवस्था कमजोर हो गयी और राज्य की आय लगातार घटती गयी।

आर्थिक परेशानियों के कारण नवाब अपनी सेना को यथासमय वेतन नहीं दे सका। सैनिकों में इस कारण असंतोष बढ़ने लगा। सैनिकों ने १७६० में नवाब के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और वे यथाशीघ्र वेतन की माँग करने लगे। सैनिकों के अतिरिक्त बंगाल के प्रभावशाली जमींदार और सामन्त भी नवाब के विरोधी होते जा रहे थे।

इस परिस्थिति का लाभ मीरजाफर के दामाद मीरकासिम ने सत्ता हथियाने का निश्चय किया। उसने कलकत्ता के ब्रिटिश अधिकारियों से सम्पर्क स्थापित किया। मीरकासिम को नवाब बनाने के लिए गुप्त वार्ताएँ हुईं जिनमें उसने ब्रिटिश अधिकारियों की सहायता की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मीरजाफर को अपदस्थ करके उसके स्थान पर मीरकासिम को नवाब बनाने की योजना बना ली गयी।

अभी तक मीरजाफर को अंग्रेजों के इस निर्णय के बारे में कोई भी सूचना नहीं थी। अक्टूबर, १७६० में ब्रिटिश सेना को लेकर वेन्सिटार्ट मुर्शिदाबाद पहुँचा। जब मीरजाफर अपने दामाद मीरकासिम को सत्ता हस्तांतरित करने को तैयार नहीं हुआ तो ब्रिटिश सेना ने उसके महल को घेर लिया। ऐसी स्थिति में मीरजाफर को नवाब का पद छोड़ने के अलावा कोई चारा नहीं था। मीरकासिम को बंगाल का नवाब बना दिया गया। जिस ब्रिटिश सेना की सहायता से मीरजाफर गद्दी पर बैठा था उसी सैन्य शक्ति के सामने सिर झुकाकर उसे राजगद्दी छोड़नी पड़ी। मीरजाफर को कलकत्ता भेज दिया गया जहाँ पर उसके रहने की व्यवस्था कर दी गयी और उसकी पेंशन निश्चित कर दी गयी। इस प्रकार बंगाल के नवाब को अपदस्थ करने में कंपनी के अधिकारियों को तनिक भी कठिनाई नहीं हुई जिससे इस सूबे में उनकी बढ़ती हुई शक्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।

मीरकासिम का शासन

नवाब का पद सँभालते ही मीरकासिम ने कंपनी के अधिकारियों को मालामाल कर दिया। नजराने की बड़ी-बड़ी रकमें प्रत्येक छोटे बड़े अधिकारियों को उनके पदों के अनुसार दी गयीं। मीरकासिम ने वेन्सिटार्ट को पाँच लाख रुपये और हालवेल को दो लाख सत्तर

हजार रुपये भेंट किये। नवाव ने बर्दमान, मिदनापुर तथा चिटगाँव के तीन जिलों का कर वसूल करने का अधिकार कंपनी को दिया।

मीरकासिम के नवाब बनने के समय ब्रिटिश अधिकारियों ने जो व्यवस्थाएँ कीं उनकी कमजोरी यह थी कि ऐसे आधारभूत विषयों पर नवाब और कंपनी अधिकारियों के बीच कोई बातचीत नहीं की गयी थी जिनके कारण दोनों पक्षों के बीच मतभेद थे। नवाब और कंपनी के बीच की गयी शर्तें अपूर्ण थीं।

मीरकासिम ने आरम्भ से ही बंगाल के शासन को उचित ढंग से चलाने का प्रयास किया। वह एक कुशाग्र बुद्धि का व्यक्ति था और शासन की आवश्यकताओं का उसे अच्छा ज्ञान था। इसके साथ-साथ मीरकासिम अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव से भी बचना चाहता था। इस प्रभाव से बचने के लिए तथा नवाब की स्वतंत्र सत्ता को कंपनी के अधिकारियों से मुक्त कराने के उद्देश्य से मीरकासिम ने राजधानी को मुर्शिदाबाद से हटा कर मुंगेर कर दिया। यह स्थान कलकत्ता से दूर था और उसका अनुमान था कि वहाँ वह अधिक स्वतंत्रता से कार्य कर सकेगा।

मीरकासिम ने विरोधी जमींदारों और अन्य अधिकारियों का दमन करने का निश्चय किया। बंगाल सूबे में स्थान-स्थान पर शक्तिशाली अधिकारी ठीक प्रकार से कर नहीं अदा कर रहे थे। इससे राज्य की आमदनी घटती जा रही थी। मीरकासिम ने इन जमींदारों के खिलाफ सेना भेजकर उन्हें उचित दंड दिया। मीर कासिम ने मौका मिलने पर जमींदारों और अधिकारियों की सम्पत्ति को भी जब्त कर लिया। बिहार के नायब सूबेदार रामनारायण का उदाहरण मुख्य रूप से सामने आता है। रामनारायण की शक्ति बढ़ती जा रही थी और उसने मीरजाफर के अधिकार को स्वीकार नहीं किया था। उसने आय-व्यय का ब्योरा भी कभी प्रस्तुत करने की चिंता नहीं की थी। मीरजाफर ने जब भी उसके खिलाफ कदम उठाने का विचार किया, अंग्रेजों ने उसे हर समय हतोत्साहित किया। क्लाइव लगातार रामनारायण को संरक्षण प्रदान करता रहता था। लेकिन मीरकासिम ने अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का मौका नहीं दिया। उसने रामनारायण को पद से हटा दिया और सम्पत्ति को जब्त करके उसे प्राणदंड दिया गया।

आन्तरिक व्यापार के प्रश्न पर नवाब और अंग्रेजों के बीच गहरे मतभेद उत्पन्न हो गये। अंग्रेज अधिकारियों का दावा था कि मुगल सम्राट के १७१७ के फरमान द्वारा उन्हें बिना कर दिये आंतरिक व्यापार करने का अधिकार था। बंगाल के किसी भी नवाब ने कंपनी के इस दावे को स्वीकार नहीं किया था। प्लासी के युद्ध के पूर्व कंपनी बिना कर दिये व्यापार किसी वैध अधिकार के बल पर नहीं बल्कि नवाब के अधिकारियों से गुप्त सहयोग करके करती थी। कंपनी के अधिकारी आंतरिक व्यापार को हर प्रकार से बढ़ा रहे थे लेकिन उनका प्रयास यही रहता था कि वे नवाब को सीमा-शुल्क न दें।

बंगाल में राजनीतिक शक्ति बढ़ने पर कंपनी के अधिकारियों को व्यापार करने में और अधिक स्वतंत्रता मिली। वे यथासम्भव सीमा-शुल्क बिना दिये ही व्यापार करने लगे।

बिना शुल्क दिये व्यापार करने में अधिकाधिक वृद्धि मीरजाफर के शासन-काल में हुई। जगह-जगह पर अंग्रेज अधिकारियों ने सैकड़ों कारखाने खोल दिये। ये कारखाने मशीन के प्रयोग के लिए नहीं अपितु हर प्रकार की वस्तुओं को बंगाल के विभिन्न जिलों में खरीदने और बेचने के लिए थे। प्लासी के युद्ध के पहले कंपनी का व्यापार कुछ विशेष प्रकार की वस्तुओं तक ही सीमित था लेकिन मीरजाफर के कार्यकाल में कंपनी ने स्थिति से लाभ उठाया। कंपनी ने प्रायः हर प्रकार की वस्तु के व्यापार को अपने हाथों में ले लिया। नमक, सुपारी, घी, चावल, मांस, मछली, चीनी, तम्बाकू, अफीम और अदरख ऐसी कुछ प्रमुख वस्तुएँ थीं। यह व्यापार केवल अंग्रेज अधिकारियों तक ही सीमित नहीं रहा। धीरे-धीरे अन्य भारतीयों ने भी अंग्रेजों का प्रतिनिधि बनकर व्यापार में अंग्रेजों से सहयोग करना शुरू कर दिया। ये प्रतिनिधि गोमाश्ता कहलाते थे और अंग्रेजों के नाम पर इन्होंने भी बिना शुल्क दिये व्यापार करना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार के व्यापार द्वारा वस्तुओं को खरीदने में अंग्रेज अधिकारियों और उनके प्रतिनिधियों को खर्च में बचत होती थी। इनके विपरीत जो भारतीय व्यापारी नवाब की सरकार को कर देते थे उन्हें प्रत्येक वस्तु को खरीदने में अधिक खर्च करना पड़ता था। इसका प्रभाव व्यापारिक प्रतिस्पर्धा पर भी पड़ा। अंग्रेज व्यापारी और उनके गोमाश्ते अन्य भारतीय व्यापारियों की तुलना में कम मूल्य पर वस्तुओं को बेचते थे। उनका व्यापार बढ़ने लगा और भारतीय व्यापारियों को भारी नुकसान हुआ। बंगाल के नवाब को व्यापारिक शुल्क से जो बड़ी आमदनी होती थी वह बहुत घट गयी। किंतु मीरजाफर एक निर्बल नवाब था। वह किसी प्रकार की रोक नहीं लगा सका।

मीरजाफर के शासनकाल में कारखानों की संख्या में वृद्धि हुई और कंपनी के अधिकारी बंगाल में उत्पन्न प्रायः प्रत्येक वस्तु के व्यापार में लग गये। कंपनी के अधिकारियों का तर्क था कि कंपनी को मिले अधिकारों में और कंपनी के अधिकारियों को व्यक्तिगत व्यापार करने में कोई अंतर नहीं था। कंपनी के सेवक कंपनी को मिली सभी सुविधाओं का उपयोग कर सकते थे।

मीरकासिम ने कंपनी तथा उसके कर्मचारियों द्वारा बंगाल में व्यापार करने के अधिकार पर अंकुश लगाने का निश्चय किया। उसने माँग की कि व्यापारिक सुविधाओं का स्पष्टीकरण कर दिया जाये। कंपनी की व्यापारिक प्रणाली पर उसने निम्नलिखित आपत्तियाँ कीं :-

(१) नवाब का कहना था कि कंपनी के अधिकारियों को निजी तौर पर व्यापार करने का अधिकार नहीं था।

(२) कंपनी के अधिकारियों द्वारा सीमा-शुक्ल न अदा करने से राज्य को प्रतिवर्ष भारी नुकसान हो रहा था। नवाब का अनुमान था कि करीब २५ लाख रुपया प्रतिवर्ष की हानि इस प्रकार होती थी।

(३) नवाब का कहना था कि कंपनी को दिये गये आज्ञापत्रों के आधार पर तथा कंपनी के झंडे को लगाकर अन्य बहुत से व्यापारी बिना शुल्क दिये व्यापार कर रहे थे जो सर्वथा अनुचित था।

(४) कंपनी के अधिकारियों के प्रतिनिधि, जो गुमाश्ता कहलाते थे, जनता पर अत्याचार करते थे। वे मनमाने भाव पर वस्तुओं को बेचने के लिए उत्पादकों को मजबूर करते थे।

(५) गुमाश्तों के हस्तक्षेप से तथा व्यापार की इस प्रणाली से शांति और व्यवस्था की कठिनाइयाँ सामने आयी थीं। कंपनी के गुमाश्ते नवाव के नौकरों तथा अफसरों के अधिकार की परवाह नहीं करते थे। व्यापार के इस ढंग से नवाब के अफसर केवल दर्शक मात्र हो गये थे।

नवाब ने १७६२ के पत्र में खुले शब्दों में लिखा – 'इस प्रकार आपके सज्जन बर्ताव करते हैं। वे मेरे देश के प्रत्येक भाग में अशांति उत्पन्न करते हैं, मेरी प्रजा को लूटते हैं, मेरे सेवकों को कष्ट पहुँचाते हैं और उनका अपमान करते हैं।'

नवाब के इस पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यापार में अंग्रेज अधिकारियों और उनके गुमाश्तों के हस्तक्षेप से उसे प्रशासन करने में गम्भीर कठिनाइयाँ सामने आयीं। नवाब ने देखा कि बंगाल के व्यापारियों को हानि हो रही थी। नवाब उनके हितों की अवहेलना नहीं कर सकता था।

नवाब ने जब कंपनी तथा उसके अधिकारियों को मिली हुई सुविधाओं के विषय में समझौते का प्रस्ताव किया तो इस संबंध में कोई प्रगति न हो सकी। प्रायः कंपनी के बड़े अधिकारी निजी व्यापार से लाभ उठा रहे थे। वे किसी प्रकार का कर देने को तैयार नहीं थे। क्लाइव के चले जाने के पश्चात् वेन्सिटार्ट जब गवर्नर बना तो उसने मीरकासिम से बातचीत करके उचित व्यापारिक नियमों को प्रचलित करने के जो प्रस्ताव किये उसको कंपनी की कौंसिल ने स्वीकार नहीं किया।

अंत में विवश होकर मीरकासिम ने व्यापार पर लगाये गये शुल्क को हटा लिया। अब बंगाल के व्यापारियों को भी उसी प्रकार से बिना शुल्क दिये व्यापार करने का अधिकार मिल गया जैसा अंग्रेज व्यापारियों को मिला हुआ था। व्यापार के मुक्त हो जाने से अंग्रेज व्यापारियों को अन्य व्यापारियों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। उनके व्यापार को हानि हुई।

मीरकासिम की घोषणा से अंग्रेज और अधिक अप्रसन्न हुए। व्यापारिक एकाधिकार को बनाये रखने में ही उनका हित था। इस स्थिति में नवाब और अंग्रेजों के बीच संघर्ष की संभावना बढ़ी। न नवाब अंग्रेजों के अधिकारों को मानने को तैयार था और न कंपनी के अधिकारी नवाब के प्रभुत्व को स्वीकार करना चाहते थे। नवाब स्वतंत्रता की माँग तो नहीं कर रहा था परन्तु वह कंपनी की सत्ता को सीमित अवश्य करना चाहता था।

१७६३ में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं कि यह विवाद सैनिक संघर्ष से ही सुलझ सकता था। अंग्रेज अधिकारी इस समाधान के लिए तैयार ही थे। एक बार फिर उन्होंने नवाब को हटाने का निश्चय किया।

जून १७६३ में अंग्रेजों की पाँच हजार सेना मेजर एडम्स के नेतृत्व में मीरकासिम के

विरुद्ध भेजी गयी। मुंगेर तक पहुँचने के पूर्व इस सेना और नवाव की सेना के बीच चार युद्ध हुए। इन युद्धों में मीरकासिम की सेना की कमजोरी स्पष्ट हो गयी। वह राजधानी से भागकर पटना आया। जब अंग्रेजी सेना उसका पीछा करती हुई आगे बढ़ी तो मीरकासिम अवध की ओर चला गया और बंगाल की सीमाओं के बाहर हो गया।

बंगाल के नवाब की गद्दी के जुलाई, १७६३ के मध्य में एक बार फिर रिक्त होने पर अंग्रेजों ने मीरजाफर को दूसरी बार नवाब बनाया। मीरजाफर ने अंग्रेजों की सारी माँगों को मान लिया। आंतरिक व्यापार के लिए अंग्रेज अधिकारियों को जो सुविधाएँ पहले मिली हुई थीं उन्हें स्वीकार कर लिया गया। मीरकासिम के शासनकाल में कंपनी तथा उसके अफसरों को जो कुछ भी हानि हुई थी उसे पूरा करने के लिए नवाब ने उचित धन देना स्वीकार किया। अब उसकी राजधानी में अंग्रेज रेजीडेन्ट रहने लगा। बंगाल की गद्दी से जिस प्रकार नवाब हटाये गये तथा उनकी जगह दूसरे नवाबों को बैठाया गया, इस स्थिति से अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति का आभास मिलता है।

बक्सर का युद्ध (१७६४)

अंग्रेजों के विरुद्ध आरंभिक संघर्षों में पराजित होने के बाद मीरकासिम बिहार की सीमा तक पहुँच गया था। कठिन परिस्थितियों में पुनः सत्ता प्राप्त करने के लिए उसे एक ही सहारा दिखायी पड़ा। अवध का नवाब शुजाउद्दौला बंगाल की घटनाओं पर निकट से ध्यान रखने के उद्देश्य से इलाहाबाद आ गया था। मीरकासिम ने अंग्रेजों के विरुद्ध अवध के नवाब से सहायता माँगी। इसके पूर्व मीरकासिम और शुजाउद्दौला के सम्बन्ध अच्छे नहीं थे। किन्तु मीरकासिम के सहायता माँगने से अवध के नवाब को बंगाल और बिहार में हस्तक्षेप करने का मौका मिला। नाममात्र का मुगल शासक शाहआलम भी नवाब के साथ ही था और मुगल सम्राट् की सत्ता के सहारे शुजाउद्दौला ने भी लाभ उठाने का विचार किया।

दिसम्बर, १७६३ में कर्मनाशा नदी पार करके मीरकासिम अवध राज्य में अपनी सेना और खजाने को लेकर आ गया। अपदस्थ नवाब तथा शुजाउद्दौला ने मिलकर भावी योजनाओं पर विचार आरम्भ किया। शुजाउद्दौला ने मीरकासिम को इस उद्देश्य से शरण दी थी कि अंग्रेजों के साथ राजनीतिक दाँवपेंच में अच्छे मोहरे के रूप में उसका उपयोग किया जा सकता था। नवाब यह चाहता था कि अंग्रेज उसे और मुगल सम्राट् को वार्षिक कर देने के लिए तैयार हो जायेंगे। अंग्रेजों और शुजाउद्दौला के बीच करीब छह महीने तक बातचीत चलती रही। इसमें अंग्रेज इस माँग पर दृढ़ रहे कि मीरकासिम को उनके हाथ में सौंप दिया जाये अथवा उसे दंड दिया जाये। कर सम्बन्धी प्रस्तावों का भी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया।

अंग्रेजों के इस रुख से अप्रसन्न होकर शुजाउद्दौला युद्ध की तैयारियाँ करने लगा। अब सैनिक हस्तक्षेप करके वह बिहार को अवध में मिलाने की योजना बनाने लगा।

अवध के नवाब की सेना के बिहार की ओर बढ़ने के पूर्व ही अंग्रेज भी युद्ध की

तैयारी कर रहे थे। अंग्रेजों का सेनापति मुनरो करीब आठ हजार सेना लेकर बनारस के पूर्व में स्थित बक्सर नामक स्थान तक आ पहुँचा। इस सेना में कुल ८५७ यूरोपीय और शेष भारतीय सैनिक थे। अवध के नवाब की सेना भी इसी स्थान पर आ गयी। नवाब के पास इस समय करीब चालीस हजार सैनिक थे।

२३ अक्तूबर, १७६४ को बक्सर में नवाब शुजाउद्दौला की सेनाओं और अंग्रेजों के बीच करीब तीन घंटों के युद्ध में अंग्रेजों की सेनाओं के आक्रमण के सामने अवध की सेना टिक नहीं सकी। इस युद्ध में नवाब की तोपें कारगर ढंग से काम नहीं कर सकीं और बढ़ती हुई सेना को रोकने में उनका उपयोग नहीं किया जा सका। यह एक घमासान युद्ध था और कुछ घंटों के युद्ध में ही अंग्रेजी सेना के ८२५ सिपाही और नवाब की सेना के दो हजार सैनिक मारे गये। नवाब की सेना के सैकड़ों सैनिक डूबकर मर गये। इसी प्रकार इस युद्ध में भारी संख्या में सैनिक जख्मी भी हुए।

इस पराजय से अवध के नवाब की सेना की कमर इस सीमा तक टूट गयी कि वह अवध की ओर आगे बढ़ती हुई ब्रिटिश सेना को रोक न सकी। ब्रिटिश सेना ने बक्सर में सफलता प्राप्त करने के पश्चात् चुनार और इलाहाबाद के किलों पर भी अधिकार कर लिया। कुछ समय तक शुजाउद्दौला मराठों की सहायता की प्रतीक्षा करता रहा। अंत में उसने अंग्रेजों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

महत्त्व

बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों की विजय निर्णयात्मक थी। सम्पूर्ण अवध में कहीं भी उनका विरोध नहीं किया जा सका। अंग्रेजों की सैन्य शक्ति के लिए भी इस विजय का पर्याप्त महत्त्व था। प्लासी के युद्ध के विषय में यह कहा जा सकता है कि षड्यंत्र के द्वारा क्लाइव ने उसे जीता था। परन्तु इस समय दो विरोधी सेनाओं के बीच जो युद्ध हुआ उसमें अवध के नवाब की सेना की संख्या ब्रिटिश सेना की पाँच गुनी थी। शुजाउद्दौला को युद्धों का अनुभव था तथा उसकी सेना में अन्य कुशल अधिकारी भी थे। यदि इसके बावजूद अवध की सेना पराजित हो गयी तो सैनिक दृष्टि से इस पराजय को स्वीकार करना ही होगा।

इस विजय से ही उत्तर भारत में साम्राज्य की स्थापना करना अंग्रेजों के लिए सम्भव हो सका। अवध के साथ संघर्ष तो हमेशा के लिए समाप्त हो गया क्योंकि इसके बाद अवध के किसी भी नवाब ने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध करने की हिम्मत नहीं की। बक्सर के युद्ध से अवध पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ता ही गया।

यह युद्ध मुख्य रूप से अवध के नवाब और अंग्रेजों के बीच ही हुआ था। शाहआलम नवाब के साथ था लेकिन वह नवाब पर आश्रित था। उसकी सहायता से नवाब को युद्ध में कोई बल नहीं मिला। इसी प्रकार मीरकासिम भी बक्सर के युद्ध का आरंभ होने के पहले ही मैदान से भाग गया था। शुजाउद्दौला ने उसका सारा खजाना छीन लिया तथा उसके साथ दुर्व्यवहार किया। मीरकासिम बक्सर के युद्ध के पूर्व ही आशा छोड़ चुका था। अगर

नवाब शुजाउद्दौला विजयी भी होता तो वह स्वयं अपने राज्य की सीमाएँ बिहार तक बढ़ा लेता।

बक्सर के युद्ध के फलस्वरूप मुगल सम्राट् शाहआलम अंग्रेजों को हर सम्भव उपाय से संतुष्ट करने को तैयार हो गया। बिहार और बंगाल पर अंग्रेजों के अधिकार को स्वीकार करके वह फरमान जारी करने को तत्पर था। अभी भी मुगल शासक के फरमान का राजनीतिक महत्त्व था और अंग्रेजों को यह अवसर तव मिलता जव वे शाहआलम को अपने संरक्षण में ले सकते थे।

बक्सर के युद्ध का सम्पूर्ण भारत पर प्रभाव पड़ा। उत्तर भारत की शक्तिशाली सेनाओं पर विजय से अंग्रेजों को राजनीतिक और सैनिक प्रभाव बढ़ाने में मदद मिली। भारत में शक्ति-संघर्ष की दिशा में एक नया परिवर्तन हुआ और विदेशी व्यापारिक कंपनी के अधिकारियों की महत्वाकांक्षाओं को बल मिला।

क्लाइव की दूसरी गवर्नरी (१७६५-१७६७)

मई, १७६५ में क्लाइव दुबारा गवर्नर होकर भारत आया। शीघ्र ही उसे कुछ महत्त्वपूर्ण निर्णय लेने थे। वक्सर के युद्ध में अंग्रेजों की विजय के पश्चात् नवाब शुजाउद्दौला तथा शाहआलम के संबंध में नीति निर्धारित करनी थी। क्लाइव के आने के कुछ समय पूर्व ही मीरजाफर की मृत्यु हो चुकी थी और नया नवाब अल्पायु का ही था। कंपनी के लिए बंगाल पर अधिकार स्थापित करने का यह एक अच्छा अवसर था। क्लाइव को इन राजनीतिक निर्णयों के अलावा प्रशासनिक समस्याओं की ओर भी ध्यान देना आवश्यक था। दूसरी बार जब वह गवर्नर होकर आया तो वह राजनीतिक गुत्थियों को सुलझाने में तथा प्रशासकीय सुधार-कार्यों में व्यस्त रहा। उसे बक्सर के युद्ध से उत्पन्न समस्याओं का समाधान करने को कहा गया था।

इलाहाबाद की संधि (अगस्त, १७६५)

१७६५ की कंपनी की स्थिति की विवेचना करते हुए क्लाइव ने अभिमान से कहा कि पूरा मुगल साम्राज्य उसके हाथ में था। लेकिन एक कुशल राजनीतिज्ञ की तरह उसने अनुमान लगा लिया था कि अभी बंगाल की सीमाओं के बाहर के क्षेत्रों पर अधिकार करने का समय नहीं आया था और न ही कंपनी के सीमित साधनों को देखते हुए ऐसा करना उचित ही था। इलाहाबाद आने के पूर्व ही वह निश्चय कर चुका था कि उसे बंगाल पर अंग्रेजों के अधिकारों को स्थापित करना था, चाहे दिखावे के लिए ही वहाँ नवाब का शासन बना रहे। उसने अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल सम्राट् शाहआलम से अलग-अलग संधियाँ कीं। पहली संधि के अनुसार कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को छोड़कर अवध के संपूर्ण राज्य पर पुनः शुजाउद्दौला का अधिकार स्वीकार किया गया। अंग्रेजों ने शुजाउद्दौला के हाथ में शासन सत्ता सौंप दी। युद्ध की क्षतिपूर्ति के लिए नवाब शुजाउद्दौला कंपनी को पचास लाख रुपये देने को तैयार हो गया। अंग्रेजों और शुजाउद्दौला के बीच एक सुरक्षात्मक संधि भी की गयी जिसके अनुसार अवध की सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता देने

का वचन कंपनी की ओर से दिया गया। बनारस के महाराजा का जिन क्षेत्रों पर अधिकार था उसे स्वीकार किया गया। अवध के नवाब के प्रभाव को स्वीकार करते हुए बनारस राज्य की सीमाओं को इस संधि द्वारा स्वीकार किया गया। इसी समय क्लाइव ने अवध में व्यापार करने के लिए कुछ बस्तियाँ स्थापित करने की इच्छा भी प्रकट की थी। किन्तु शुजाउद्दौला इसके लिए तैयार नहीं हुआ।

शुजाउद्दौला से संधि करते समय क्लाइव कंपनी की सुरक्षा की दृष्टि से निर्णय कर रहा था। कंपनी को बंगाल सूबे की उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा करने की आवश्यकता थी। इस ओर से मराठों के आक्रमण का विशेष रूप से भय बना हुआ था। अब बंगाल-बिहार की सीमा पर एक ऐसे राज्य की स्थापना हो गयी जिससे अंग्रेजों के मित्रतापूर्ण संबंध थे। किसी सम्भावित आक्रमण के समय अवध को ढाल के रूप में उपयोग करने की नीति क्लाइव ने अपनायी।

दूसरी संधि मुगल सम्राट शाहआलम और अंग्रेजों के बीच की गयी। इस संधि के अनुसार कड़ा और इलाहाबाद के दो किले सम्राट के अधिकार में दे दिये गये। कंपनी ने प्रतिवर्ष छब्बीस लाख रुपया सम्राट् को देना स्वीकार किया। इसी समय मुगल सम्राट ने एक फरमान जारी करके बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी कंपनी को दे दी। इस प्रकार कंपनी को वैधानिक रूप से बंगाल सूबे पर अधिकार प्राप्त हो गया। मुगल शासक के अधिकारों का उपयोग करके क्लाइव ने बंगाल सूबे पर अंग्रेजों के प्रभाव को स्थापित किया।

बंगाल में दोहरा शासन

इलाहाबाद की संधि करके क्लाइव ने बंगाल सूबे में शासन की जो व्यवस्था शुरू की उसे दोहरा शासन कहा जाता है।

मुगल पद्धति के अनुसार बंगाल सूबे का शासन दो भागों में बँटा हुआ था – दीवानी और निजामत। दीवानी शासन का कार्य था कर वसूली तथा निजामत शासन के अधीन सैनिक शक्ति और न्याय।

इलाहाबाद की संधि के पूर्व ही निजामत के कार्य परोक्ष रूप से कंपनी को मिल गये थे। मीरजाफर की मृत्यु (फरवरी, १७६५) के बाद उसके पुत्र निजामुद्दौला ने एक संधि द्वारा निजामत का कार्य कंपनी द्वारा मनोनीत अधिकारी रजा खाँ को सौंप दिया था। वह केवल नाममात्र का नवाब था और वास्तविक सैनिक शक्ति कंपनी के हाथ में थी। इलाहाबाद की संधि के बाद जब शाहआलम ने बंगाल में दीवानी के अधिकार भी कंपनी को सौंप दिये तो स्थिति यह हो गयी कि कंपनी ने बंगाल में दीवानी के कार्य करने के अधिकार मुगल शासक से तथा निजामत के अधिकार बंगाल के नवाब से प्राप्त कर लिये थे। बंगाल पर शासन का अधिकार कंपनी के हाथ में आ गया था परन्तु कंपनी ने इस उत्तरदायित्व को खुले तौर से नहीं सँभाला था।

कंपनी के अधिकारियों ने स्वयं दीवानी की जिम्मेदारियों को अपने ऊपर नहीं लिया।

कंपनी के अधिकारियों को व्यापार का ही अनुभव था तथा बंगाल की शासन-व्यवस्था की पेचीदगियों से उन्हें दूर रखने का निश्चय किया गया। कंपनी के दीवानी के काम के लिए एक नायब बंगाल के लिए और एक नायब बिहार के लिए चुना गया। बंगाल के लिए रजा खाँ को नायब के पद पर चुना गया। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में रजा खाँ ही कंपनी की ओर से बंगाल से दीवानी का कार्य देखने लगा। बिहार में शिताब राय को जिम्मेदारियाँ सौंप दी गयीं।

क्लाइव की शासन-व्यवस्था को दोहरा शासन इस कारण कहते हैं कि सिद्धान्त में शासन कंपनी और नवाब के बीच विभाजित था। व्यावहारिक रूप में कार्य करने के लिए बंगाल के अधिकारियों को पूर्ववत् बनाये रखा गया था।

दोहरे शासन की प्रमुख कमजोरी यही थी कि शक्ति तो कम्पनी के पास थी परन्तु शासन करने का उत्तरदायित्व कंपनी ने स्वयं न सँभालकर मनोनीत अधिकारियों को सौंप दिया था। ऐसी व्यवस्था सफल नहीं हो सकती थी। सात वर्षों तक इसके अनुसार बंगाल में जो शासन हुआ उसमें न्याय और व्यवस्था गिरती चली गयी। नवाब के हाथ में कोई भी अधिकार नहीं थे। इस कारण शासन से वह अलग हो गया। कंपनी प्रत्यक्ष रूप से शासन के लिए उत्तरदायी नहीं थी इस स्थिति में शासन कमजोर होता गया तथा समूचे सूबे में अराजकता फैलती गयी। बाद में लार्ड कार्नवालिस ने इस व्यवस्था की आलोचना करते हुए ब्रिटिश संसद में कहा था – 'मैं पूर्ण विश्वास के साथ इस मत का हूँ कि विश्व में कोई भी ऐसी सभ्य सरकार नहीं रही जो इतनी भ्रष्ट, विश्वासघाती और लोभी हो जितनी १७७५ से १७८२ तक की भारत में कंपनी की सरकार थी।' इस मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्लाइव ने जिस शासन-प्रणाली को आरंभ किया उससे कंपनी के अधिकारियों का स्वार्थ तो सिद्ध हुआ लेकिन बंगाल की जनता की कठिनाइयाँ प्रतिदिन बढ़ती ही गयीं।

क्लाइव के प्रशासकीय सुधार

दो वर्षों के शासनकाल में क्लाइव ने कुछ अन्य सुधार करने की ओर भी ध्यान दिया।

क्लाइव ने बंगाल में आने के बाद अनुभव किया कि कंपनी के अधिकारियों में हर सम्भव उपाय से धन एकत्रित करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी और प्रायः उनके ऊपर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था। बंगाल के नवाबों को पदासीन करने में तथा बक्सर के युद्ध के बाद अन्य राजाओं अथवा अधिकारियों के साथ सम्पर्क करके अंग्रेज अधिकारी मनमाना धन वसूल करते रहे। भेंट लेने तथा नजराना लेने की एक प्रथा सी हो गयी थी इसके अलावा प्रत्येक छोटा और बड़ा अंग्रेज अधिकारी निजी व्यापार द्वारा भी धन इकट्ठा करने में व्यस्त था। क्लाइव ने कंपनी के प्रत्येक अधिकारी से प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा जिसके अनुसार कम्पनी के अफसरों से कहा गया कि वे किसी भी प्रकार की भेंट न लें। निजी व्यापार पर भी प्रतिवंध लगाये गये।

क्लाइव ने दोहरे भत्ते की प्रणाली पर रोक लगाने का निश्चय किया। दोहरा भत्ता अंग्रेजों की सेना को युद्ध के दौरान दिया जाता था किन्तु मीरजाफर ने शांति के समय भी

यह भत्ते सेना को दिया था। इस प्रकार बंगाल के सैनिकों का वेतन मद्रास की सेना से दुगना हो गया। क्लाइव ने इस भत्ते के संबंध में नये नियम बनाये जिनके अनुसार भत्ता केवल अधिकारियों को उसी स्थिति में दिया जाने लगा जब वे बंगाल और बिहार की सीमाओं के वाहर कार्य करते थे। मुंगेर और इलाहाबाद के अंग्रेज अधिकारियों ने सामूहिक रूप से इस्तीफा देकर अपना विरोध प्रकट किया। उनका अनुमान था कि क्लाइव दबाव में आकर नियम को वापस ले लेगा। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। क्लाइव ने इस विरोध का कठोरता से दमन किया और सब अधिकारियों के इस्तीफे स्वीकार करके अन्य नियुक्तियाँ कर दी गयीं।

क्लाइव की सफलताएँ - एक विश्लेषण

क्लाइव के विषय में उसके जीवनकाल में ही दो विरोधी विचार प्रकट किये जाने लगे थे। जहाँ एक ओर उसकी प्रशंसा एक वीर के रूप में की जाती थी वहाँ दूसरी ओर उसके चरित्र में खलनायक की कमजोरियाँ भी दिखायी देने लगी थीं। क्लाइव के ये दो रूप आरंभ से ही दिखायी देने लगे थे और आज भी उसका मूल्याँकन करते समय हमें ऐसा ही दिखायी पड़ता है। अर्काट के घेरे में अदम्य साहस दिखाने वाला नायक कुछ वर्षो के बाद आलोचना का पात्र बनने लगा। युवक क्लाइव में आदर्श थे। उसके उत्साह से अन्य सहयोगी प्रभावित हुए। उम्र बढ़ने के साथ-साथ वह दम्भी होता गया। सफलताओं से उसे नम्र होना चाहिए था लेकिन वह अभिमानी होता गया। राबर्ट ओर्म और स्ट्रिंगर लारेंस, जो मद्रास में उसके सहयोगी और प्रशंसक थे, धीरे-धीरे उससे हताश होकर अलग हो गये।

अठारहवीं शताब्दी में क्लाइव इंग्लैण्ड का एक विशिष्ट प्रतिनिधि था और उसके चरित्र में गुणों और अवगुणों का ऐसा सामंजस्य मिलता है कि केवल एकपक्षीय गुणों पर विचार करने से उसकी सफलताओं का उचित मूल्याँकन करना सम्भव नहीं होगा। इसके पूर्व के वर्णन में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि उसमें साहस, आत्मविश्वास और उत्साह था। उसके विचार करने का ढंग अपना था और परिस्थिति के अनुसार उसमें आवश्यक निर्णय करने की असाधारण प्रतिभा थी। कठिन अवसरों में उसने धैर्य नहीं छोड़ा। ऐसा कोई भी व्यक्ति इतिहास में प्रसिद्धि पाता है। किन्तु इसके साथ ही उसमें ऐसी चारित्रिक कमजोरियाँ थीं जिनकी ओर लेखकों का ध्यान बरबस गया। आत्माभिमान के कारण वह न तो किसी से सलाह लेता था और न किसी की सलाह पर काम ही करता था। सर्वशक्तिमान बनने की प्रवृत्ति उसमें आरम्भ से ही थी। इसके साथ ही वह लालची था। प्लासी के युद्ध के बाद उसने जो अतुल धन सम्पत्ति एकत्रित की उससे उसके देशवासी भी अचम्भे में पड़ गये। धन-संग्रह किसी भी अधिकारी के लिए अवगुण था और विशेष रूप से सर्वोच्च अधिकारी और विजयी सेनानायक के लिए क्योंकि क्लाइव से प्रोत्साहित होकर अन्य शक्तिशाली सैनिक अधिकारियों ने भी बंगाल की लूट आरम्भ कर दी। एक लम्बे अर्से तक वंगाल में हर संभव उपाय से कम्पनी के अधिकारी लूट करके जो धन इकट्ठा करते रहे उसके लिए मुख्य रूप से क्लाइव को ही उत्तरदायी ठहराया जायेगा। युद्धों के द्वारा एक के बाद दूसरे नवाबों को अपदस्थ करने तथा निजी व्यापार के अलावा तरह-तरह के तरीकों

से बंगाल की सम्पत्ति को जमा करके इंग्लैण्ड ले जाने की परम्परा का वह प्रेरक था।

अगर कोई शासक जनहित का ध्यान नहीं देता तो यह एक ऐसा अपराध है जिसके लिए उसे क्षमा नहीं किया जा सकता। बंगाल के लोगों के हितों का क्लाइव ने कभी ध्यान ही नहीं रखा। प्लासी के बाद के वर्षों में बंगाल की दशा अत्यन्त शोचनीय होती गयी। दुबारा गवर्नर होने पर उसे इस ओर ध्यान देना चाहिए था लेकिन शासन में उसने ऐसे कोई भी सुधार नहीं किये जिनका स्थायी प्रभाव पड़ता। क्लाइव के सुधारों को नन्दलाल चटर्जी ने 'तात्कालिक उपाय' कहा है। विद्वान लेखक आगे लिखता है कि 'उसने जिन सुधारों को लागू किया उनसे किसी भी समस्या का निराकरण तो नहीं हुआ बल्कि स्थिति और भी बिगड़ गयी।'

क्लाइव की प्रशंसा मुख्य रूप से इस कारण की जाती है कि ब्रिटेन के लिए उसने भारतीय साम्राज्य को 'अर्जित' किया। इस कारण ब्रिटेन के लोग उसके प्रति अवश्य कृतज्ञ हो सकते हैं क्योंकि उन्हें ही ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार होने के लाभ मिले।

पिट ने उसके विषय में कहा था कि वह 'स्वर्ग में जन्मा जनरल' था। इतिहासकार पी.ई. राबर्ट्स ने ठीक ही कहा है कि क्लाइव के विषय में ऐसा कहना उचित नहीं है। एक सैनिक के रूप में उसने असाधारण प्रतिभा दिखायी। अर्काट और प्लासी के युद्धों में उसे सफलता अवश्य मिली। परन्तु यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या इन दोनों घटनाओं की तुलना किसी युद्ध से की जा सकती है। अर्काट पर आक्रमण एक साहसिक प्रयास था और प्लासी केवल एक नाममात्र की मुठभेड़ थी। बक्सर के युद्ध के समय क्लाइव भारत में नहीं था। इस कारण सेना की सफलताओं का अध्ययन करने वाले लेखकों का कहना है कि क्लाइव में किसी ऐसे सेनानायक के गुण नहीं थे जो युद्ध की योजना प्रणाली से परिचित हो तथा जिसमें युद्ध के समय उचित निर्देश देने की क्षमता हो। परिस्थितिवश उसे अर्काट में भेज दिया गया था और दुबारा भी कलकत्ता के अभियान का नेतृत्व उसे मिल गया और एक सफल विजेता का श्रेय मिल गया।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या उसे ब्रिटिश साम्राज्य का संस्थापक कहा जा सकता है। इस विषय में ए. मरविन डेविस का मत है कि 'ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना करने का काम क्लाइव का नहीं अपितु उन व्यक्तियों का था जो उसके बाद आये, मुख्य रूप से वारेन हेस्टिंग्स'। इस लेखक का कहना है कि इस महान कार्य के लिए क्लाइव के गुण बहुत सीमित थे : 'उसमें न सहानुभूति थी, न विचार शक्ति थी, न समझ थी, न ज्ञान था, न धैर्य था और न इतनी सहनशीलता थी जो किसी नये प्रकार की राज्यशक्ति की स्थापना के लिए आवश्यक होती।' इन चारित्रिक कमजोरियों की वजह से वह सफल नेतृत्व प्रदान न कर सका।

क्लाइव के जीवन का दुःखद अंत हुआ। भारत से लौटने पर वह आशा करता था कि उसके देशवासी उसका भव्य स्वागत करेंगे। किन्तु ऐसा तो कुछ नहीं हुआ। इसके विपरीत उसके खिलाफ एक जाँच समिति नियुक्त की गयी। अनैतिक ढंग से भारत में कार्य

करने के लिए तथा धन-संग्रह के अपराध के बारे में उसे सफाई पेश करने के लिए बुलाया गया। क्लाइव ने परेशान होकर कहा था कि मेरे विरुद्ध इस प्रकार से जाँच की गयी जैसे किसी भेड़ चुराने वाले के विरुद्ध की जाती है। मानसिक क्लेश से तंग आकर उसने ४६ वर्ष की आयु में ही आत्महत्या कर ली।

बंगाल में वेरलेस्ट और कारटियर का शासन (१७६७-१७७२)

क्लाइव के भारत से जाने के बाद के पाँच वर्षों में दोहरे शासन की कमजोरियाँ और अधिक स्पष्ट हुई और इस व्यवस्था के दुष्परिणामों से बंगाल के लोगों को अधिकाधिक कष्ट उठाने पड़े। क्लाइव जिन बुराइयों को दूर करना चाहता था, वे पुनः सामने आ गयीं। प्रत्येक अंग्रेज अधिकारी निजी व्यापार में लगा हुआ था और हर सम्भव उपाय से धन संचय करने में तल्लीन था। शासन लगातार कमजोर होता गया। इन दोनों गवर्नरों में स्थिति को किसी प्रकार से सुधारने की न योग्यता थी और न इच्छा ही।

१७६९-७० में बंगाल में भयंकर अकाल पड़ने से स्थिति बहुत अधिक बिगड़ गयी। यह अनुमान लगाया गया है कि इस अकाल से बंगाल में कम से कम एक तिहाई लोग मर गये। एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों का भूख से मर जाना बंगाल के इतिहास की दर्दनाक घटना थी। इस अकाल के दौरान भी कंपनी के अधिकारियों ने चावल को कम दाम पर खरीद कर और उसे मनमाने भाव पर बेचकर लाभ कमाया। राज्य के अधिकारी कर वसूल करते रहे। इस अकाल का प्रभाव बंगाल में दो पीढ़ियों तक पड़ा। बंगाल का शासन किस हद तक अपंग और निष्क्रिय हो चुका था यह अकाल के उत्पीड़न से प्रकट हो गया।

●●●

चौथा अध्याय

वारेन हेस्टिंग्स का शासन

१७७२ से १७७४ तक वारेन हेस्टिंग्स ने बंगाल के गवर्नर के पद पर कार्य किया। इसी अवधि में ब्रिटिश संसद ने रेगुलेटिंग एक्ट पास करके 'बंगाल में फोर्ट विलियम स्थित गवर्नर जनरल' का पद सृजित किया। उसे ही यह नया पद सँभालने को कहा गया। वारेन हेस्टिंग्स को गवर्नर जनरल तो बना दिया गया लेकिन वह किसी भी प्रकार से भारत का गवर्नर जनरल नहीं था और बम्बई तथा मद्रास के गवर्नर उसके अधीन कार्य करने को बाध्य नहीं थे। इस कारण वारेन हेस्टिंग्स को कम्पनी के अधीन अन्य क्षेत्रों पर राजनैतिक अधिकार स्थापित करते समय समस्याएँ आयीं।

शासन का पद सँभालते ही वारेन हेस्टिंग्स को प्रशासनिक सुधारों की ओर ध्यान देना पड़ा। उसने कम्पनी के प्रशासन की आधारशिला रखी और बंगाल की प्रशासनिक व्यवस्था को नया रूप दिया। इसके बाद उसका ध्यान बंगाल की सुरक्षा की ओर गया। उसने अवध को ढाल के रूप में प्रयोग करने की नीति अपनाकर उसपर प्रभाव जमाया और मराठों से मुकाबला करने की योजनाएँ बनायीं। लेकिन किसी भी तरह से वह कम्पनी की सीमाओं का अधिक विस्तार न कर सका। उसने अनेक त्रुटिपूर्ण निर्णय किये जिनकी इतिहासकारों ने कटु आलोचना की है।

प्रशासनिक सुधार

कम्पनी के संचालक मण्डल ने वारेन हेस्टिंग्स की नियुक्ति करते समय उसे निर्देश देते हुए कहा था कि 'अब हम तुम्हें आमूल सुधार करने के अधिकार देते हैं।' कम्पनी की सेवा में विभिन्न पदों पर बाईस वर्षों तक कार्य कर चुके इस अनुभवी गवर्नर को ज्ञात था कि बंगाल में चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी। इस सूबे का पुराना प्रशासनिक ढाँचा समाप्त हो चुका था। नवाबी शासन के स्थान पर जब कम्पनी का शासन स्थापित हुआ तो वारेन हेस्टिंग्स को नये सिरे से प्रशासनिक तंत्र की नींव डालनी थी। अतः नयी परिस्थितियों के अनुसार वारेन हेस्टिंग्स ने प्रशासनिक सुधार करने के निर्णय लिये। इसके लिए उसने अपने अनुभवों के आधार पर निम्नलिखित सुधार किये।

दोहरे शासन – व्यवस्था की समाप्ति

वारेन हेस्टिंग्स का सबसे पहला कार्य था बंगाल में दोहरे शासन व्यवस्था को समाप्त करना। औपचारिक रूप से तो इसका यही अर्थ हुआ कि कंपनी अब स्वयं दीवान के अधिकारों का उपयोग करते हुए बंगाल सूबे का राजस्व वसूल करने की व्यवस्था करेगी तथा उसी के अधिकारी कर वसूल करेंगे। लेकिन इस घोषणा का वास्तविक अर्थ यह था कि सूबे का संपूर्ण शासन कंपनी अपने हाथों में ले रही थी। हेस्टिंग्स ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि

वह 'इस देश के प्रशासन में कंपनी की शक्ति और ब्रिटेन की प्रभुता की स्थापना कर रहा था।' उसके इस वक्तव्य से जाहिर है कि वह भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के पौधे को लगा रहा था और इसके महत्त्व के प्रति भी सजग था। लेकिन केवल घोषणा कर देना ही काफी नहीं था। नवाब के शासन के स्थान पर ब्रिटिश शासन जमाने के लिए उसे उपाय भी करने थे। इसी दृष्टि से उसने कई कार्य किये। बंगाल और बिहार में नायब दीवान का पद समाप्त कर दिया गया। अभी तक दोहरे शासन के समय बंगाल में रजा खाँ और बिहार में शिताब राय इस पद पर कार्य कर रहे थे। गवर्नर की आज्ञा से इन दोनों को बंदी बना लिया गया और उनपर गबन का मुकदमा चलाया गया जो दो साल तक चलता रहा। एक वर्ष से भी अधिक समय तक बन्दी बनाये रखने तथा मुकदमे की कार्यवाही समाप्त होने के बाद उन्हें मुक्त किया गया। इस प्रकार इन उच्च अधिकारियों के साथ कठोर व्यवहार किया गया।

कंपनी बंगाल सूबे के राजस्व से जो धन नवाब के खर्च के लिए देती थी उसे भी बत्तीस लाख रुपये से घटाकर सोलह लाख रुपया कर दिया गया। इसी के साथ-साथ बंगाल के नवाब के सभी अधिकारों को समाप्त कर दिया गया। समूचा आंतरिक शासन अब कंपनी के अधिकार में आ गया। बंगाल के नाबालिग नवाब के सरंक्षण की जिम्मेदारी मीरजाफर की विधवा पत्नी मुन्नी बेगम को दे दी गयी। इस नियुक्ति की आलोचना कई कारणों से की गयी। मुन्नी बेगम नवाब की रिश्तेदार नहीं थी। उसमें कोई भी ऐसी योग्यता नहीं थी जिससे उत्तरदायित्व का पद उसे दिया जाता। यह भी कहा गया कि मुन्नी बेगम से गवर्नर ने रिश्वत ली थी।

कलकत्ता को बंगाल सूबे का राजनीतिक केन्द्र बनाने का निश्चय किया गया। इसके लिए मुख्य कदम यह उठाया गया कि खजाने को मुर्शिदाबाद से हटाकर कलकत्ता लाया गया।

भूमि-कर सम्बन्धी सुधार

मुगल युग से प्रचलित भूमि-कर के नियम धीरे-धीरे ढीले पड़ गये थे तथा क्षेत्रीय विविधता भी दिखाई देने लगी थी। हेस्टिंग्स बंगाल में समुचित कर व्यवस्था आरम्भ नहीं कर सका। वह अपने शासनकाल में भूमि-कर वसूल करने के विभिन्न उपायों पर ही ध्यान देता रहा।

बंगाल सूबे में जो भूमि-कर प्रणाली लागू थी उसमें मुख्य भूमिका जमींदार अदा करता था। यह पद एक प्रकार से वंशानुगत हो गया था। जमींदार की यह जिम्मेदारी थी कि वह भूमि-कर किसानों से लेकर सरकार को दे। लेकिन इसमें एक मुख्य सवाल यह बना रहा था कि कौन सा जमींदार किस वर्ष कितनी रकम जमा करे। प्रायः प्रतिवर्ष राज्य की ओर से उपज का ध्यान रखते हुए यह रकम निश्चित की जाती थी।

हेस्टिंग्स के सामने मुख्य प्रश्न यही था कि कर निर्धारित करने का ऐसा कौन तरीका अपनाया जाये जिससे राज्य की आय बढ़े। वह इसके लिए विभिन्न परीक्षण करता रहा। अगर वह कोई समाधान न निकाल सका तो इसका कारण यही था कि भूमि की समस्याएँ पेचीदी थीं और उचित अनुभव के बिना किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता था।

१७७२ में हेस्टिंग्स ने पंचवर्षीय भूमि-व्यवस्था की योजना बनायी। इसके अनुसार भूमि-कर वसूल करने का अधिकार अलग-अलग क्षेत्रों में उन लोगों को दे दिया गया

जो अधिक से अधिक कर वसूली के लिए तैयार हुए। जमींदारों के अधिकारों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यह तरीका सफल न हो सका क्योंकि किसानों से कर वसूल करने वालों ने पहले तो ज्यादा लगान जमा करने का उत्तरदायित्व ले लिया लेकिन बाद में वे इसे पूरा नहीं कर सके। किसानों को भी इससे बहुत असुविधा हुई। नये लोगों ने किसानों के हितों की उपेक्षा की। १७७६ से इस प्रणाली को समाप्त करके वार्षिक व्यवस्था करने का निश्चय किया गया। अब कर वसूल करने के लिए खुले आम नीलामी की जाने लगी और सबसे अधिक रकम की बोली बोलने वाले को राज्य की ओर से कर वसूल करने का अधिकार दिया जाने लगा। इस बार जमींदारों को वरीयता दी गयी।

वारेन हेस्टिंग्स की व्यवस्था का मुख्य दोष यही था कि उसने राजकीय आय का ही ध्यान रखा और अधिक से अधिक भूमि-कर वसूल करने की कोशिश की। कंपनी के अधिकारियों ने भूमि की समस्याओं का अध्ययन करने की ओर ध्यान नहीं दिया। गवर्नर और उसकी कौंसिल के सदस्य मिलकर राजस्व बोर्ड के रूप में कार्य करने लगे थे। कर वसूल करने के लिए कंपनी ने अपने अधिकारियों को नियुक्त किया। इन्हें कलेक्टर कहा जाने लगा।

न्याय सम्बन्धी सुधार

न्याय-व्यवस्था में वह अधिक सफल हुआ। १७७२ में प्रत्येक जिले में एक दीवानी अदालत स्थापित की गयी जिसका अध्यक्ष कलेक्टर होता था और एक फौजदारी अदालत, जिसका मुख्य अधिकारी बंगाल का ऐसा निवासी होता था जिसे कंपनी मनोनीत करती थी। हिन्दुओं और मुसलमानों को न्याय उनके धार्मिक नियमों पर आधारित न्याय-प्रणाली के अनुसार किया जाने लगा। कलकत्ता में दो प्रमुख न्यायालय अपील सुनने के लिए संगठित किये गये। मुख्य दीवानी अदालत का अध्यक्ष गवर्नर था। उसकी कौंसिल के दो सदस्यों को भी इसमें शामिल किया गया। मुख्य फौजदारी अदालत का अध्यक्ष गवर्नर द्वारा मनोनीत भारतीय न्यायाधीश होता था। हिन्दू नियमों का एक संग्रह भी इसी समय तैयार किया गया। रेगुलेटिंग ऐक्ट द्वारा केन्द्रीय न्याय-व्यवस्था में परिवर्तन किये गये।

वारेन हेस्टिंग्स ने न्याय की सुविधा के लिए भी महत्वपूर्ण नियम घोषित किये। हर न्यायालय की कार्यवाही लिखकर होने लगी। मुकदमों का निर्णय करने के पहले संबंधित पक्षों को समय दिया जाने लगा। अब कठोर जुर्माना करने की परम्परा को बदला गया। कर्जदार की रक्षा की गयी। एक निष्पक्ष न्याय-व्यवस्था की स्थापना करने के उसके प्रयत्न सराहनीय थे।

व्यापार प्रणाली में सुधार

गवर्नर ने यह स्वीकार किया कि बंगाल की बिगड़ती हुई आर्थिक दशा का मुख्य कारण था इस सूबे की व्यापारिक अवनति। व्यापार को सुधारने के लिए कंपनी और उसके अधिकारियों के एकाधिकार का अंत करने की आवश्यकता पर उसने आरम्भ से बल दिया। अब कंपनी ही बंगाल का प्रशासन कर रही थी और सीमा-शुल्क वसूल करना उसका कर्तव्य था। कंपनी यह सहन नहीं कर सकती थी कि उसके अधिकारी उचित शुल्क न दें। राजनीतिक परिवर्तनों के कारण कम्पनी अधिक जागरूक हो गयी।

१७७२ में ही नये नियमों की घोषणा की गयी। दस्तक की प्रथा, जिसके अनुसार कम्पनी के अधिकारी बिना सीमा-शुल्क दिये व्यापार करने का दावा करते थे, पूर्णरूप से समाप्त कर दी गयी। कम्पनी के अधिकारियों को निजी व्यापार करने के लिए मिली विशेष सुविधाओं पर प्रतिबंध लगा दिये गये। स्थान-स्थान पर सीमा-शुल्क वसूल करने के लिए बनी चौकियों से सामान लाने और ले जाने में जो बाधाएँ उत्पन्न होती थीं उन्हें दूर करने की दृष्टि से केवल पाँच चौकियों को छोड़कर बाकी सबको तोड़ दिया गया। ये चौकियाँ कलकत्ता, हुगली, मुर्शिदाबाद, पटना और ढाका में स्थापित की गयीं। नमक, तम्बाकू और सुपाड़ी को छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं पर सीमा शुल्क घटाकर २½ प्रतिशत कर दिया गया। इसे भारतीय और यूरोपीय व्यापारियों को समान रूप से देना था। इन नियमों द्वारा बंगाल के व्यापारियों को अब यह सुविधा मिल गयी कि एक बार सीमा-शुल्क दे देने के बाद वे अपने सामान को बिना किसी रोक-टोक के ले जा सकते थे। वस्तुओं के व्यापार में उनका और यूरोपीय व्यापारियों का संघर्ष घटा। नमक और अफीम के व्यापार पर कम्पनी का एकाधिकार बना रहा।

व्यापारिक प्रतिबंधों के दूर हो जाने से बंगाल के उत्पादकों को भी राहत मिली। सिल्क और कपड़ा बनाने वालों को असुविधा यह थी कि अंग्रेज व्यापारियों ने उनके साथ अनुबंध करके उनसे केवल उन्हीं के लिए विभिन्न प्रकार के माल को तैयार करने के लिए मजबूर किया था। कपड़ा और सिल्क का उत्पादन करने वाले कारीगर उन मालिकों के अलावा किसी अन्य को बना हुआ माल नहीं बेच सकते थे। अंग्रेज व्यापारी सामान खरीदने में एकाधिकार रखने के अलावा उत्पादक के माल पर भी कम से कम दाम देते थे। मुक्त व्यापार का दमन करके अंग्रेज व्यापारियों ने सूती और सिल्क कपड़ा बनाने वालों के लिए असुविधाएँ पैदा कर दी थीं। वारेन हेस्टिंग्स ने नये नियम बनाकर उन्हें मुक्ति दिलानी चाही लेकिन इस ओर उसे केवल आंशिक असफलता ही मिली।

गवर्नर जनरल के दोषपूर्ण और स्वेच्छाचारी निर्णय

स्वेच्छाचारी तरीकों से अपने विरोधियों का दमन करने, कमजोर भारतीय नरेशों और उनके परिवारों के साथ दुर्व्यवहार करने और मनमाने ढंग से उनसे धन वसूलने के अनेक दोषपूर्ण निर्णय हेस्टिंग्स ने किये। सत्ता प्राप्त करते ही अंग्रेजों ने अपनी शक्ति का जिस प्रकार से दुरुपयोग किया उसके अनेक उदाहरण इस गवर्नर जनरल के कार्यकाल में आये। इनमें से मुख्य थे नन्दकुमार को फाँसी देना, रूहेला युद्ध, चेतसिंह के प्रति दुर्व्यवहार और अवध की बेगमों से ताकत के बल पर धन ऐंठना।

ध्यान देने योग्य है कि गवर्नर जनरल की स्वदेश वापसी पर ब्रिटिश संसद में उसपर मुकदमा चलाया गया था। उसे बन्दी भी बनाया गया था। उसके खिलाफ अभियोग आठ वर्षों तक चला। इस अभियोग में अधिकतर भारत में किये गये उसके इन्हीं कार्यों के लिए उसे दोषी बताया गया था। कठोर से कठोर शब्दों में उसकी निन्दा करते हुए उसे 'नरक की मकड़ी', 'हत्यारा', 'लुटेरा', 'ठग', 'धोखेबाज', और 'धूर्त' कहा गया था। संसद सदस्यों ने उसके शासन में किये गये इन निर्णयों के कारण वारेन हेस्टिंग्स की कटु आलोचना की। उसके प्रमुख दोषपूर्ण निर्णयों का विवरण इस प्रकार है –

नन्दकुमार को फाँसी

वारेन हेस्टिंग्स का पहला अन्यायपूर्ण कार्य था बंगाल के भूतपूर्व नवाब के समय के एक अधिकारी को फाँसी की सजा दिलवाना। यह अधिकारी था नन्दकुमार जिसे मीरजाफर ने कुछ समय तक मुख्य सहायक का पद सौंपा था।

१७७५ तक वारेन हेस्टिंग्स और उनकी कौंसिल के तीन सदस्यों के बीच शक्ति-संघर्ष तीव्र हो गया था। ब्रिटेन से आये हुए सदस्य, जिनमें फ्रैसिस प्रमुख था, हर प्रकार से गवर्नर जनरल को नीचा दिखाने पर तुले हुए थे। इन सदस्यों ने नन्दकुमार को प्रोत्साहित किया कि वह गवर्नर जनरल के विरुद्ध लिखित आरोप कौंसिल में विचार के लिए प्रस्तुत करें। नन्दकुमार ने ऐसा ही किया। उसने सप्रमाण यह आरोप लगाया कि गवर्नर जनरल ने अल्पवयस्क बंगाल के नवाब के संरक्षक के पद पर मुन्नी बेगम को नियुक्त करके और दीवान के पद पर नन्दकुमार के पुत्र को नियुक्त करके दोनों से कुल मिलाकर साढ़े तीन लाख रुपये वसूल करके लाभ उठाया था। बाद में कौंसिल के सामने जाकर भी नन्दकुमार ने इस आरोप को दोहराया। वारेन हेस्टिंग्स के विरोध के बावजूद नन्दकुमार को कौंसिल के सम्मुख बुलाया गया था और उसका बयान सुना गया।

इस घटना के बाद अचानक नन्दकुमार के लिए नयी विपत्ति आ गयी। उसके विरुद्ध दो वर्ष पूर्व एक मुकदमा चला था। अब इसे पुनः आरम्भ कर दिया गया। नन्दकुमार के विरुद्ध जालसाजी करने का मुकदमा उच्चतम न्यायालय में चलाया गया। पंद्रह दिनों के अन्दर उसे दोषी करार दिया गया और फाँसी की सजा सुना दी गयी। मार्च, १७७५ में उसने गवर्नर जनरल के विरुद्ध प्रमाण पेश किये थे। जून में नन्दकुमार के विरुद्ध मुकदमा चला और ५ अगस्त को उसे फाँसी दे दी गयी।

नन्दकुमार के विरुद्ध जिस प्रकार से मुकदमा चलाया गया, जिस तेजी से उसके विरुद्ध सुनवाई हुई और उसे सजा दी गयी, उससे स्पष्ट था कि वारेन हेस्टिंग्स ने नन्दकुमार से बदला लेने के लिए उसके विरोधियों को उकसाया था। गवर्नर जनरल का रुख देखकर ही उन्होंने मुकदमें को आगे बढ़ाया और उसी के प्रभाव के कारण नन्दकुमार और उसके विरोधियों में कोई समझौता नहीं हो सका। यह करीब पचास हजार रुपये की जालसाजी का मुकदमा था जिसके विषय में किसी भी समय नन्दकुमार अपने विरोधियों से समझौता कर सकता था। पर गवर्नर जनरल के अस्वाभाविक रूप से रुचि लेने के कारण ऐसा न हो सका।

यह नन्दकुमार के प्रति किये गये अन्याय का एक पहलू था। नन्दकुमार के मामले में कुछ अन्य प्रश्न भी सामने आते हैं। जालसाजी का मुकदमा नन्दकुमार द्वारा लगाये गये आरोपों के तुरन्त बाद सामने लाया गया। इससे साबित होता है कि नन्दकुमार को कठिनाई में डालने के उद्देश्य से ऐसा किया गया था। सुप्रीम कोर्ट का मुख्य न्यायाधीश, इम्पी, वारेन हेस्टिंग्स का मित्र और सहपाठी था। यह सम्भव हो सकता है कि नन्दकुमार के मामले में निर्णय देते समय उसे किसी प्रकार से प्रभावित किया गया हो। एक और जोरदार दलील है। जालसाजी का अपराध ऐसा नहीं था जिसके लिए भारतीय नियम प्रणाली में प्राण दंड दिया जाता हो। इसके पूर्व

जालसाजी के लिए किसी को फाँसी नहीं दी गयी थी। कुछ वर्षों पूर्व ही ऐसे मुकदमें में एक प्रमुख व्यक्ति को मुक्त कर दिया गया था। ब्रिटेन में प्रचलित कानून को केवल इसी समय लागू करने से यह शंका अवश्य होती है कि नन्दकुमार को जानबूझकर प्राण दंड दिया गया।

एडमंड बर्क पहला व्यक्ति था जिसने वारेन हेस्टिंग्स की आलोचना करते हुए कहा था कि नन्दकुमार को प्राण दंड 'बहाना बनाये गये अपराध' के कारण दिया गया। इसके बाद प्रायः प्रत्येक लेखक ने यह स्वीकार किया है कि वारेन हेस्टिंग्स किसी न किसी प्रकार इसका दोषी था। जेम्स मिल ने लिखा कि वारेन हेस्टिंग्स के शासन की किसी भी कार्यवाही से उसके चरित्र पर इतना धब्बा नहीं लगता जितना इस मुकदमें से। मैकाले ने स्पष्ट शब्दों में आरोप लगाया था कि इसके पीछे वारेन हेस्टिंग्स का हाथ था। हेनरी बेवरिज के अनुसार यह 'न्यायिक हत्या' थी। जेम्स मिल, मेकाले और हेनरी बेवरिज जिस प्रकार इस मुकदमें के लिए वारेन हेस्टिंग्स को दोषी मानते हैं उससे जाहिर है कि गवर्नर जनरल ने न्यायालय को प्रभावित करके अपने विरोधी को प्राणदंड दिलाने के अपने पद का दुरुपयोग किया।

रुहेला युद्ध

वारेन हेस्टिंग्स का दूसरा दोषपूर्ण निर्णय था रुहेलों के दमन में सहायक होना। बरेली और पीलीभीत के आस-पास के क्षेत्र में रुहेला अफगानों ने अठारहवीं शताब्दी के मध्य में एक नये राज्य की स्थापना की थी। रहमत खाँ रुहेलों का नेता था। पानीपत के तृतीय युद्ध में रुहेलों ने मराठों के विरुद्ध अब्दाली का साथ दिया था। मराठे इस कारण रुहेलों से नाराज थे। इसका बदला लेने के लिए मराठों की एक बड़ी सेना ने रुहेलखण्ड पर आक्रमण कर दिया। रुहेला सरदार अपनी जीवन-रक्षा के लिए रुहेलखंड से भाग गये। मराठों ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। रुहेलों और अवध के नवाब ने संगठित होकर मराठों से लोहा लेने का निश्चय किया। जून, १७७२ में शुजाउद्दौला और रुहेला सरदारों के बीच एक संधि हुई। इसमें यह तय किया गया कि मराठों को रुहेलखंड से हटाने के लिए रुहेलों को अवध का नवाब सैनिक सहायता देगा। इस सहायता के लिए रुहेलों ने नवाब को चालीस लाख रुपया देने का वचन दिया। हाफिज रहमत खाँ और जबीता खाँ ने रुहेलों की ओर से हस्ताक्षर किये। ब्रिटिश सेनापति बारकर ने इस संधि में प्रमुख भूमिका निभाई तथा स्वयं हस्ताक्षर भी किये। संधि की मुख्य धारा यह थी कि नवाब को यह धनराशि उस समय दी जायेगी जब वह किसी भी प्रकार से, युद्ध अथवा समझौते द्वारा रुहेलखंड से मराठों को खदेड़ देगा। अवध के नवाब ने यह शर्त १७७३ में पूरी कर दी। अंग्रेजों की सेना को साथ लेकर जब नवाब रामघाट के निकट पहुँचा तो मराठे रुहेलखंड से हट गये। मराठों की सेना सीमित थी और उस समय बिना कोई युद्ध किये उन्होंने हट जाना ही उचित समझा। जब नवाब ने संधि के अनुसार धनराशि की माँग की तो रुहेले कोई न कोई बहाना करने लगे। उनका कहना था कि मराठे स्वतः रुहेलखंड से हट गये थे।

ऐसी परिस्थिति में शुजाउद्दौला ने रुहेलों के विरुद्ध कदम उठाने का विचार किया। बनारस में जब वह सितम्बर, १७७३ में वारेन हेस्टिंग्स से मिला तो उसने अंग्रेजों से रुहेलों के विरुद्ध सहायता माँगी। नवाब इस सैनिक सहायता के बदले कंपनी को चालीस लाख रुपया

देने को राजी हो गया। वारेन हेस्टिंग्स ने सहायता देना स्वीकार कर लिया। युद्ध द्वारा आर्थिक लाभ उठाने का उसे यह अच्छा अवसर दिखाई पड़ा। अंग्रेजी सेना की सहायता लेकर नवाब ने रुहेलों पर आक्रमण कर दिया। अप्रैल, १७७४ में मीरनपुर कटरा के घमासान युद्ध में रुहेले पराजित हुए। करीब पाँच हजार रुहेले युद्ध में मारे गये। इस युद्ध के बाद रुहेलखंड पर अवध के नवाब का अधिकार हो गया। हजारों रुहेलों को इस क्षेत्र से भागकर अन्यत्र शरण लेनी पड़ी। इसी समय रामपुर के क्षेत्र में रुहेलों के नवाब को राज्य करने का अधिकार स्वीकार किया गया था।

रुहेला युद्ध के समय हेस्टिंग्स की नीति की आलोचना इस आधार पर की है कि उसने अंग्रेजी सेना को एक ऐसे राज्य पर आक्रमण करने के लिए भेजा जिसने कंपनी का किसी प्रकार का अहित नहीं किया था। हेस्टिंग्स ने केवल लालच में आकर रुहेलों के विरुद्ध अत्याचार में अवध के नवाब का साथ दिया। रुहेलों पर आक्रमण करने के पूर्व किसी ने यह विचार नहीं किया कि मराठों के आक्रमण के कारण रुहेलों को भारी नुकसान हुआ था और वे तुरन्त उस धन को अदा करने की स्थिति में नहीं थे जिसका उन्होंने वायदा किया था। यह संघर्ष नवाब और रुहेलों के बीच था और हेस्टिंग्स को इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए था। अंग्रेजी सहायता न मिलने पर सम्भवतः नवाब भी रुहेलों के प्रति ऐसी कठोर नीति न अपनाता।

बनारस के राजा चेतसिंह के प्रति व्यवहार

१७७५ तक बनारस अवध के अधीन था। इसके बाद अवध के नवाब से संधि करके अंग्रेजों ने बनारस और उसके आस-पास के क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया। बनारस के राजा चेतसिंह के साथ अंग्रेजों ने संधि कर ली जिसके अनुसार राजा से हर वर्ष २२½ लाख रुपया कर के रूप में कंपनी को देना स्वीकार किया। संधि करते समय कम्पनी ने यह आश्वासन भी दिया था कि भविष्य में राजा से इस वार्षिक कर के अलावा अन्य किसी प्रकार की धनराशि की माँग नहीं की जायेगी।

कुछ समय बाद वारेन हेस्टिंग्स चेतसिंह से नाराज हो गया। चेतसिंह का सम्पर्क गवर्नर जनरल की कौंसिल के उन तीन सदस्यों से था जो हेस्टिंग्स के विरोधी थे। चेतसिंह को उन्होंने विश्वास दिला रखा था कि हेस्टिंग्स शीघ्र ब्रिटेन वापस बुला लिया जायेगा और कौंसिल के इन तीन सदस्यों में से कोई एक गवर्नर जनरल बन जायेगा। इस स्थिति में चेतसिंह वारेन हेस्टिंग्स और उसके विरोधियों के बीच होने वाले संघर्ष में एक मोहरा बन गया। कुछ वर्षों बाद हेस्टिंग्स की कौंसिल में जब उसके विरोधियों के स्थान पर नये सदस्य हेस्टिंग्स की इच्छानुसार कार्य करने लगे तब गवर्नर जनरल ने चेतसिंह को सबक सिखाने का निश्चय किया। अवसर मिलते ही वह उसका दमन करने का अवसर ढूँढ़ने लगा।

कंपमी और मराठों के बीच संघर्ष आरंभ होते ही गवर्नर जनरल ने चेतसिंह पर दबाव डालना आरम्भ कर दिया। १७७८ में उससे यह माँग की गयी कि पाँच लाख रुपये की अतिरिक्त राशि प्रतिवर्ष कंपनी को दे। वारेन हेस्टिंग्स ने मुगल पद्धति का सहारा लेकर यह दलील दी कि कंपनी अधीन राज्यों से कभी भी सहायता की माँग कर सकती थी। संधि की शर्तों को ध्यान

से भुला दिया गया। दो बार तो चेतसिंह ने धनराशि अदा कर १७८० में उसने अपना प्रतिनिधि कलकत्ता भेजकर गवर्नर जनरल से प्रार्थना की कि उसे इस आर्थिक बोझ से मुक्त कर दिया जाय। राजा ने हेस्टिंग्स को अलग से दो लाख रुपये भी भेंट किये। पहले तो उसने वचन दिया कि वह कोई अन्य माँग नहीं करेगा पर कुछ ही महीनों बाद राजा से कहा गया कि वह दो हजार घुड़सवार कंपनी की रक्षा के लिए भेजे। राजा पाँच सौ सवारों से अधिक भेजने को तैयार नहीं हुआ।

चेतसिंह जब गवर्नर जनरल की इच्छा को पूरा न कर सका तो उसे तुरन्त सबक सिखाने के उद्देश्य से वारेन हेस्टिंग्स स्वयं जुलाई १७८१ में बनारस की ओर चल पड़ा। वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता से चलने के पूर्व लिखा था : 'मैंने उसके अपराध का लाभ उठाकर कंपनी की कठिनाई को दूर करने का रास्ता ढूँढ़ा और उसे ऐसा दण्ड देना तय किया जिसे मैं दे सकता था।' इस समय वारेन हेस्टिंग्स ने यह भी कहा था कि वह चेतसिंह के पहले के अपराधों का 'कठोर बदला' लेना चाहता था। उसके कथन से स्पष्ट है कि वह बनारस प्रतिशोध के विचार से गया था। तो फिर उससे बनारस पहुँचने पर न्यायोचित कार्य करने की आशा कैसे की जा सकती थी?

राजा चेतसिंह को जैसे ही गवर्नर जनरल की यात्रा की सूचना मिली वैसे ही उसने बक्सर पहुँचकर उसकी अगवानी की। यह वर्णन मिलता है कि चेतसिंह ने अपने पहले के रवैये के लिए उससे व्यक्तिगत रूप से क्षमा माँगी। अगर गवर्नर जनरल को चेतसिंह की इज्जत का जरा भी ध्यान होता तो वह बक्सर में ही चेतसिंह से शर्तें तय कर सकता था। लेकिन वारेन हेस्टिंग्स ने बनारस के राजा की नम्रता का गलत अर्थ लगाया। उसने समझा कि अधिक कठोर रुख अपनाकर वह राजा से भारी रकम ऐंठ सकता था। इसी से बनारस पहुँचकर वह राजा से मिलने को तैयार नहीं हुआ। उसने आज्ञा दी कि राजा ब्रिटिश रेजीडेंट को सफाई पेश करे। जब राजा ने लिखित रूप से अपनी स्थिति को स्पष्ट करना चाहा तो वारेन हेस्टिंग्स ने इससे असंतोष प्रकट करते हुए एक असाधारण निर्णय किया जिसके दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम निकले। गवर्नर जनरल ने बनारस में ही राजा को बंदी बना लिया और ब्रिटिश सेना को उसके पहरे के लिए नियुक्त कर दिया गया। वारेन हेस्टिंग्स के इस निर्णय को अनावश्यक बताते हुए प्रसिद्ध लेखक ए.एम. डेविस ने इसे 'अत्यधिक मूर्खतापूर्ण' बताया है। इस कार्य की भर्त्सना जितने ही कठोर शब्दों में की जाय, कम है। एक राजा के साथ किया गया गवर्नर जनरल का यह व्यवहार हर दृष्टि से गलत था। चेतसिंह ने ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया था जिससे उसे उसके राज्य में ही बंदी बनाया जाता। इसके बाद जो कुछ भी घटनाएँ हुई उनके लिए वारेन हेस्टिंग्स पूरी तरह से जिम्मेदार था।

राजा के बंदी बनाये जाने की सूचना मिलते ही अचानक लोगों की एक बड़ी भीड़ ने ब्रिटिश सेना पर धावा बोल दिया जिसमें कम से कम दो सौ ब्रिटिश सैनिक मारे गये। यह एक सुनियोजित आक्रमण नहीं था। अचानक क्रोध में उतावले लोगों का यह विरोध था। अगर यह भीड़ हेस्टिंग्स पर भी धावा बोल देती तो शायद उसे भी अपनी जीवन-रक्षा करना कठिन हो जाता। राजा चेतसिंह को बनारस से भगाने के अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं था। गवर्नर जनरल

को भागकर चुनार के किले में शरण लेनी पड़ी। और अधिक ब्रिटिश सेना के आ जाने के बाद बनारस पर अंग्रेजों ने पुनः अधिकार किया। राजा चेतसिंह अपदस्थ कर दिया गया और उसके भतीजे को राजा बना दिया गया। बनारस शहर पर अंग्रेजों ने कब्जा बनाए रखा और उसका शासन अंग्रेजों की देखरेख में किया जाने लगा। शेष बनारस राज्य के लिए बनारस के राजा के अधिकार पहले से बहुत अधिक घटा दिये गये। १६११ तक बनारस के राजा का अधिकार एक बड़े जमींदार की तरह रहा।

वारेन हेस्टिंग्स बनारस यात्रा के अपने मुख्य उद्देश्य में असफल रहा। वह राज्य से किसी भी प्रकार का धन वसूल न कर सका। वारेन हेस्टिंग्स की अनौचित्यपूर्ण कार्यवाही के कारण ही राजा चेतसिंह को राज्य से भागकर बाहर शरण लेनी पड़ी। एक कुशल और योग्य शासक को गवर्नर जनरल के प्रतिशोध के कारण अनेक कष्ट उठाने पड़े। वारेन हेस्टिंग्स ने जिस प्रकार से राजा चेतसिंह पर धौंस जमाकर अपनी बात मनवाने की कोशिश की उससे जाहिर है कि साम्राज्य स्थापना के आरंभिक काल से ही ब्रिटिश प्रशासक किस प्रकार मनमानी करने लगे थे। गवर्नर जनरल ने राजा चेतसिंह की इज्जत की तनिक भी परवाह नहीं की। उसका व्यवहार सरासर अनुचित और दुर्भाग्यपूर्ण था। बनारस की जनता जिस तरह उग्र हो उठी उससे प्रकट होता है कि राजा चेतसिंह जनप्रिय शासक था। अपने शासक के प्रति किये गये गवर्नर जनरल के व्यवहार का यहाँ के निवासियों ने जिस प्रकार से विरोध किया उससे हेस्टिंग्स भी भौंचक्का रह गया।

अवध की बेगमों पर दबाव डालना

वारेन हेस्टिंग्स ने धन वसूलने के अनेक अनुचित उपाय किये। इसी क्रम में उसने अवध की बेगमों से जोर डालकर धन वसूलने में नीति और अनीति की कोई परवाह नहीं की। जैसे भी संभव हो सका उसने इन बेगमों को मजबूर किया और इनके पद और प्रतिष्ठा का तनिक भी ध्यान नहीं रखा।

इस समस्या का मुख्य कारण था अवध और कंपनी के बीच की संधि, जिसके अनुसार कंपनी की सेना अवध में रहने लगी थी और नवाब ने सेना का खर्च देना स्वीकार किया था। अवध का नवाब निर्धारित वार्षिक राशि कंपनी को अदा न कर सका। १७८१ तक यह राशि डेढ़ करोड़ रुपये तक पहुँच गयी थी। नवाब आसफुद्दौला इस धनराशि को अदा करने की स्थिति में नहीं था लेकिन गवर्नर जनरल ने उस पर जोर डाला कि वह कोई न कोई उपाय करे। पर्याप्त विचार-विमर्श करके अवध की बेगमों से धन वसूल करने की योजना बनायी गयी। अवध का नवाब इस योजना में सहायक और मूकदर्शक बना रहा।

अवध के नवाब की माँ और दादी अवध की बेगमों में प्रमुख थीं। इनके पास विशाल धन जमा था। ये बेगमें फैजाबाद में रहती थीं। कुछ समय पहले इन बेगमों ने अवध के नवाब को २६ लाख और ३० लाख रुपये अलग-अलग अवधि में दिये भी थे, इस आर्थिक सहायता के कारण बेगमों को एक बड़ी जागीर सौंप दी गयी थी और नवाब ने तथा ब्रिटिश रेजीडेंट ने भविष्य में और रुपया न माँगने का वचन भी दिया था।

ऐसी स्थिति में अवध की बेगमों से पुनः धन वसूलने का एक नया तरीका अपनाया गया। इस बार उनसे प्रार्थना करने के बजाय उन्हें अपराधी साबित करने की योजना वारेन हेस्टिंग्स और ब्रिटिश अधिकारियों ने बनायी। गवर्नर जनरल ने बेगमों के खिलाफ यह आरोप लगाया कि उन्होंने कंपनी के विरुद्ध राजा चेतसिंह की सहायता की थी। अवध की बेगमों को दोषी मानकर उनके विरुद्ध कार्यवाही करने की आज्ञा वारेन हेस्टिंग्स ने दे दी। उसने यह अनुमति भी दी कि बेगमों की जागीर और धन जब्त कर लिया जाये।

जनवरी १७८२ को ब्रिटिश सेना लेकर ब्रिटिश रेजीडेन्ट तथा अवध का नवाब फैजाबाद पहुँचे और सेनाओं ने बेगमों के महल को घेर लिया। बेगमों को तरह-तरह की यातनाएँ दी गयीं। उनके विश्वासपात्र नौकरों को वन्दी बना लिया गया। बेगमों से जबर्दस्ती धन छीन लिया गया। इस प्रकार एकत्रित धन से नवाब ने कंपनी का कर्ज चुकाया। यह भी कहा जा सकता है कि नवाब से धन वसूल करने के लिये गवर्नर जनरल ने निरीह और कमजोर महिलाओं के साथ अशोभनीय व्यवहार किया। वारेन हेस्टिंग्स ने इस निंदनीय कार्य में शामिल होकर अवश्य ही गलती की।

भारतीय राज्यों से युद्ध और उनपर प्रभुत्व बढ़ाने का उपाय

शुरू के कुछ वर्षों में वारेन हेस्टिंग्स ने प्रशासनिक सुधारों की ओर ध्यान दिया। उसके बाद वह लगातार भारतीय राज्यों से संघर्ष करके कंपनी का प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने में व्यस्त रहा। इसी कारण कंपनी की सेना देश के किसी-न-किसी भाग में युद्ध करती रही। वारेन हेस्टिंग्स कम्पनी को प्रभावशाली बनाने के प्रयास में हमेशा व्यस्त रहा। उसके कार्यकाल से यह आभास मिल जाता है कि किस प्रकार कंपनी भारतीय राज्यों के आंतरिक मामलों में रुचि लेकर और हस्तक्षेप करके अपने प्रभुत्व को बढ़ाने की जीतोड़ कोशिश करती रही। भारत में हो रहे सत्ता संघर्ष में कंपनी ने वारेन हेस्टिंग्स के समय से अपनी भूमिका निभानी शुरू कर दी।

वारेन हेस्टिंग्स का शासन आरम्भ होने के पूर्व कंपनी एक सैनिक-राजनीतिक शक्ति के रूप में भारतीय राजनीति में उभरी थी। उसने अपनी शक्ति का परिचय दिया था। अवसर का लाभ उठाकर अंग्रेज राज्य विस्तार करने में जुट गये। भारतीय राज्य राजनीतिक संघर्ष में इस विदेशी कंपनी से उस प्रकार से सहयोग करने को तैयार थे जिस प्रकार भारत की किसी अन्य शक्ति से। भारतीय राजाओं ने निजी संघर्ष में विदेशी प्रभाव को रोकने की ओर ध्यान नहीं दिया। वारेन हेस्टिंग्स और उसके प्रतिनिधियों ने देश के कई प्रमुख राज्यों के साथ राजनीतिक सम्पर्क स्थापित करने में किसी प्रकार की कठिनाई अनुभव नहीं की। इन भारतीय राज्यों ने कम्पनी की विस्तारवादी नीति को समझने में भारी भूल की।

अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों तक ईस्ट इंडिया कम्पनी का स्वरूप धीरे-धीरे बदल रहा था। वह व्यापारिक कम्पनी से राजनीतिक शक्ति बनती गयी। इसने भारत के अधिक से अधिक क्षेत्रों पर अधिकार जमाने के प्रयास करने शुरू कर दिये। वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल से कम्पनी के अधिकारियों द्वारा अपनायी गयी यह नीति स्पष्ट दिखायी देती है। उन्होंने व्यापार करने के बजाय भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति अपनायी। उसके कार्यकाल में कम्पनी के इरादे स्पष्ट हो गये। यहाँ इसके कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं।

शाह आलम से सम्बन्ध विच्छेद का निर्णय

क्लाइव द्वारा शाह आलम के साथ की गयी संधि के अनुसार मुगल सम्राट् का अधिकार कड़ा और इलाहाबाद जिलों पर स्वीकार किया गया था और कंपनी प्रतिवर्ष उसे वार्षिक नजराना देती थी।

शाह आलम इलाहाबाद में अधिक समय तक नहीं रहना चाहता था। वह यह आशा करता रहा कि अंग्रेज उसे दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठाने में मदद करेंगे। किन्तु ऐसा कुछ न हुआ। कुछ वर्षों बाद मराठों ने दिल्ली पर अधिकार जमा लिया। मराठों की सहायता से शाह आलम इलाहाबाद से चलकर दिल्ली पहुँचा और १७७२ में उसके जीवन का स्वप्न पूरा हुआ। हेस्टिंग ने इस नयी परिस्थिति के अनुसार मुगल सम्राट् के प्रति नीति निर्धारित की। उसने शाहआलम को वार्षिक नजराना देना बंद कर दिया और कड़ा तथा इलाहाबाद के जिले भी उससे लेकर अवध के नवाब को देने का निश्चय किया गया। शाहआलम के दिल्ली चले जाने के बाद अंग्रेजों के लिए यह नीति सुविधाजनक थी।

अवध पर शिकंजा कसने के उपाय

अंग्रेजों और अवध के सम्बन्धों पर अलग अध्याय में सविस्तार चर्चा की गयी है। यहाँ वारेन हेस्टिंग्स की नीति के कुछ विशेष पहलुओं पर विचार करना पर्याप्त होगा।

गवर्नर जनरल ने मराठों के बढ़ते प्रभाव के कारण अवध का उपयोग ढाल के रूप में करने का निश्चय किया। दिल्ली पर अधिकार जमाकर और रुहेलखंड में नियंत्रण स्थापित करके मराठे बंगाल की ओर बढ़ सकते थे। अतः बंगाल को सुरक्षित रखने के लिये वारेन हेस्टिंग्स ने अवध पर कम्पनी का प्रभाव बढ़ाने की नीति अपनायी। अवध का राज्य बंगाल और रुहेलखंड के बीच में था। इस कारण अवध की सुरक्षा करके इस ओर पहला कदम उठाते हुए उसने कड़ा और इलाहाबाद के जिले अवध के अधिकार में सौंप दिये।

१७७३ में बनारस की संधि करके हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब शुजाउद्दौला को आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता देने का वचन दिया। कुछ समय बाद ही नवाब के आग्रह करने पर ब्रिटिश सेना अवध भेजी गयी। यह सेना अस्थायी तौर पर ही अवध भेजी गयी थी। लेकिन रुहेला युद्ध और उसके बाद अवध में कुछ ऐसी घटनाएँ हुई कि ब्रिटिश सेना की एक टुकड़ी बराबर अवध में बनी रही। १७७५ में शुजाउद्दौला की मृत्यु हो गयी। इससे हेस्टिंग्स ने उसके उत्तराधिकारी आसफुद्दौला के साथ १७७५ में ही एक नयी संधि की। इस संधि से कम्पनी को बनारस और उसके आस-पास के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। १७७७ से और अधिक ब्रिटिश सेना अवध में रहने लगी। नवाब आसफुद्दौला अवध की सुरक्षा करने के लिए पूर्णरूप से अंग्रेजों पर आश्रित हो गया।

इस प्रकार अवध की सुरक्षा की व्यवस्था करते हुए वारेन हेस्टिंग्स के समय में ही कम्पनी ने इस राज्य पर प्रभाव बढ़ा लिया था। शीघ्र ही अवध के नवाबों को अपने राज्य में कम्पनी की सेना रखने की कठिनाइयाँ समझ में आने लगीं क्योंकि इसके मुख्य प्रावधान से अंग्रेजों को

लगातार अवध पर अपना शिकंजा कसने का मौका मिला। प्रावधान यह किया गया था कि कम्पनी की सेना का समूचा खर्च अवध का नवाब देगा। सेना की संख्या आने वाले वर्षों में बढ़ती गयी। सेना पर हुए खर्च का निर्णय अंग्रेज करते थे। इससे कम्पनी की सेना पर होने वाला आर्थिक बोझ उठाने से अवध के नवाबों की कमर टूटने लगी। इसका एक परिणाम और भी निकला। वे अपनी सुरक्षा हेतु इसी कम्पनी की सेना पर निर्भर होने लगे। भविष्य में किसी भी समय अवध के नवाब वारेन हेस्टिंग्स द्वारा बनाये गये इस जाल से बाहर न निकल सके।

अंग्रेजों और मराठों के बीच सैनिक संघर्ष

भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति अपनाते हुए अंग्रेजों ने १७७२ में पेशवा माधवराव की मृत्यु के बाद पूना में उपजी अव्यवस्था से लाभ उठाने की कोशिश की। अचानक ही पेशवा के पद के लिये सत्ता संघर्ष शुरू हो गया था। इस समय के बाद जो पेशवा बना वह बहुत कम आयु का था। नाना फड़नवीस ने इस पेशवा के संरक्षक के रूप में कार्य किया। लेकिन इस सत्ता परिवर्तन को पूर्व पेशवा के भाई रघुनाथराव ने चुनौती दी। रघुनाथराव को जब पूना में समर्थन नहीं मिला तो वह अंग्रेजों से जा मिला। बम्बई के गवर्नर ने संधि करके रघुनाथराव को पेशवा का पद दिलाने में मदद करने का आश्वासन दिया। पूना के गृह कलह से लाभ उठाने की दृष्टि से सैनिक हस्तक्षेप के लिये वारेन हेस्टिंग्स भी तैयार हो गया। इस प्रकार १७७५ से १७८२ तक प्रथम मराठा युद्ध किसी न किसी रूप में चलता रहा। इस युद्ध का विस्तृत वर्णन अन्य अध्याय में किया जा रहा है। प्रथम मराठा युद्ध में भाग लेकर वारेन हेस्टिंग्स ने कम्पनी की सीमाओं का विस्तार करने का जो स्वप्न देखा था वह पूरा नहीं हुआ। इसके विपरीत कम्पनी की सेनाओं को मराठों की शक्तिशाली सेनाओं के साथ-साथ हैदर अली और निज़ाम से भी सैनिक संघर्ष करना पड़ा। दक्षिण भारत के ये राज्य मराठों का साथ देने के लिये आगे आ गये थे। इस कारण वारेन हेस्टिंग्स को प्रथम मराठा युद्ध शीघ्र ही समाप्त करना आवश्यक हो गया।

प्रथम मराठा युद्ध के पश्चात् हुई १७८२ की सालवाई की संधि से युद्ध समाप्त हो गया। वारेन हेस्टिंग्स को प्रथम मराठा युद्ध से किसी प्रकार का लाभ नहीं मिला। किसी पक्ष को इस युद्ध में विजय नहीं मिली। फिर भी आगामी बीस वर्षों तक अंग्रेजों और मराठों के बीच शान्ति बनी रही। अंग्रेजों ने इसका लाभ उठाते हुए अन्य क्षेत्रों में अपनी स्थिति मज़बूत की। उन्होंने उचित अवसर की प्रतीक्षा की।

मूल्याँकन

लम्बे शासनकाल में कम्पनी के सबसे उच्च पद पर आसीन वारेन हेस्टिंग्स ने सदा ही अंग्रेजों के पक्ष की सोची। उसने नीति और अनीति अथवा नैतिकता और अनैतिकता में कोई भेद न तो किया और न समझा। प्रशासन करते समय वह हमेशा आत्मकेन्द्रित और आत्ममग्न बना रहा। उसने मनमाने ढंग से निर्णय लिये। सत्ता के मद में वह सभी सीमाएँ भूल गया। उसका एकमात्र लक्ष्य रहा कम्पनी की शक्ति का विस्तार। कम्पनी के राजनीतिक प्रभुत्व का विकास

करना इस व्यापारिक संस्था के लिये कितना लाभप्रद था यह उसके समय के सभी अंग्रेज अधिकारी भली प्रकार से समझ चुके थे। यह गवर्नर जनरल भलीभाँति जानता था कि राजनीतिक शक्ति बढ़ाकर ही कम्पनी की सैनिक शक्ति का विस्तार किया जा सकता था। इसी कारण उसने अवध राज्य पर प्रभाव जमाने, मराठों और हैदर अली से सैनिक संघर्ष करने की ओर सारा ध्यान लगाया। हालांकि वह कम्पनी के अधिकार क्षेत्र को अधिक विस्तार न कर सका फिर भी उसने अन्य भारतीय राज्यों के आन्तरिक मामलों में लगातार हस्तक्षेप करने में कोई संकोच नहीं किया।

यह स्मरण रखना होगा कि वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल में कम्पनी के अधिकार में बंगाल सूबा ही मुख्य क्षेत्र था। इसके अलावा मद्रास और बम्बई के गवर्नरों के अधीन छोटे-छोटे क्षेत्र थे। अतः भारत में कम्पनी अभी अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के आरम्भिक चरण में ही थी। वह भारत की अनेक राजनीतिक शक्तियों में से एक शक्ति ही बन सकी थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि १७७२ से १७८४ के बीच की अवधि में वारेन हेस्टिंग्स ने कोई निर्णायक प्रभाव स्थापित कर लिया था। बहुत कुछ अभी भविष्य पर निर्भर था। भविष्य में भारतीय शक्तियाँ अपने प्रभुत्व को यदि नहीं बनाए रख सकीं तो इसकी जिम्मेदारी उन्हीं पर थी। वारेन हेस्टिंग्स को जिस प्रकार मराठों, अवध, निजाम और हैदर अली से कूटनीति करने और उनसे सम्पर्क करने में कोई समस्या नहीं आयी इससे यह प्रकट हो गया कि इन भारतीय शक्तियों ने विदेशी कम्पनी के बढ़ते आधिपत्य के खतरे को नहीं समझा।

वारेन हेस्टिंग्स के स्वदेश लौटने पर उसके विरुद्ध आठ वर्षों तक ब्रिटिश संसद के उच्च सदन में अभियोग चला। यहाँ उसके दोषपूर्ण कार्यों की कटु आलोचना की गयी। उस समय उसने यह उत्तर दिया था : 'मैंने साम्राज्य की रक्षा की, मैंने प्रभावी ढंग से और कम खर्च में विरोधी और अन्जान क्षेत्रों में आपके अधिकार क्षेत्र की रक्षा हेतु सेना भेजी . . . मैंने आपके लिये सब कुछ किया और आपने मुझे कुर्की, बेइज्जती और अभियोग से पुरस्कृत किया।' वारेन हेस्टिंग्स पर अभियोग लगाकर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों ने बाद में जाने वाले अंग्रेज प्रशासकों को चेतावनी दी थी। उन्होंने इन प्रशासकों को आगाह कर दिया था कि उनके उचित और अनुचित कार्यों पर ध्यान रखा जायेगा। इसी से कम्पनी के संचालक मंडल के अधिकारों पर अंकुश लगाते हुए १७८४ के पिट के इण्डिया बिल नामक संवैधानिक अधिनियम द्वारा बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल को गवर्नरों और गवर्नर जनरलों पर अंकुश लगाने के सभी अधिकार सौंप दिये गये। इस संवैधानिक परिवर्तन का एक प्रकार से विरोध करते हुए वारेन हेस्टिंग्स ने १७८४ में गवर्नर जनरल के पद से त्यागपत्र दे दिया था। यह इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि उसने समझ लिया था कि उसके अधिकारों पर नियंत्रण लगाने के लिये ही ब्रिटिश संसद ने १७८४ का अधिनियम स्वीकृत किया था।

●●●

पाँचवाँ अध्याय

ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी पर नियंत्रण

(रेगुलेटिंग अधिनियम से १८३३ के चार्टर अधिनियम तक)

१७६५ से १७७२ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्वरूप धीरे-धीरे बदलने लगा था। वह एक व्यापारिक संस्था के अलावा प्रशासनिक शक्ति भी बन गयी थी। बंगाल और कर्नाटक का एक बड़ा क्षेत्र उसके नियंत्रण में आ गया था। अतः कम्पनी के अधिकारी प्रशासक का कार्य करने लगे थे। १७७२ में कम्पनी ने स्पष्ट तौर पर बंगाल पर अपनी सत्ता की स्थापना की घोषणा कर दी। ऐसी बदलती हुई राजनीतिक स्थिति में ब्रिटेन में यह सवाल उठाया गया कि कम्पनी का प्रशासन किस प्रकार का हो और उस पर किस प्रकार नियंत्रण रखा जाये। पर्याप्त विचार-विमर्श करके कम्पनी को ब्रिटिश संसद के प्रभाव क्षेत्र में लाने का निर्णय किया गया। इस दिशा में पहला कदम उठाते हुए रेगुलेटिंग ऐक्ट पारित किया गया। बाद में प्रायः दो दशकों के अन्तराल के पश्चात् ब्रिटिश संसद ने कम्पनी के प्रशासन को संचालित करने और उस पर नियंत्रण करने की दिशा में और भी अधिनियम स्वीकृत किये। जिन परिस्थितियों में रेगुलेटिंग अधिनियम स्वीकृत करने का निर्णय लिया गया उनकी व्याख्या करने के बाद इसकी व्यवस्थाओं का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

परिस्थितियाँ

सबसे पहले यह विचारना होगा कि किन परिस्थितियों में रेगुलेटिंग अधिनियम स्वीकृत किया गया, ऐसे अधिनियम की आवश्यकता क्यों पड़ी और किन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ब्रिटेन की संसद ने इसे पारित किया।

रेगुलेटिंग अधिनियम पारित करने की पहली आवश्यकता यह थी कि व्यापारिक कम्पनी अब प्रशासनिक कार्य करने लगी थी। इन कार्यों को किस प्रकार से किया जाये इसे परिभाषित करना जरूरी हो गया। यह एक प्रकार की असहज स्थिति थी। ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापार करने के अलावा जब प्रशासनिक उत्तरदायित्व निभाने और राजनीतिक कार्यों को करने लगी तो ब्रिटेन में अनेक लोगों ने सैद्धान्तिक प्रश्न उठाने शुरू कर दिये।

दूसरी आवश्यकता यह हुई कि कम्पनी और ब्रिटिश सरकार के सम्बन्धों को फिर से स्पष्ट करने की स्थिति बनी। क्या कम्पनी को भारत का प्रशासन चलाने की खुली छूट दी जा सकती थी? यह सवाल बार-बार उठाया जाने लगा। अतः कम्पनी पर नियंत्रण करना जरूरी हो गया। यह किसी अधिनियम के द्वारा ही किया जा सकता था।

एक अन्य परिस्थिति थी जिससे यह कदम उठाना आवश्यक हो गया। मद्रास और बंगाल में अलग-अलग गवर्नरों के अधीन क्षेत्रों को एकसूत्र में बाँधना जरूरी था। ब्रिटेन के अधीन

भारत के शासन की सत्ता का एक केन्द्र स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी। अतः बंगाल के गवर्नर को विशेष अधिकार प्रदान करने पर विचार किया गया।

अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थाएँ

१७७३ में पारित इस अधिनियम का शीर्षकं इस प्रकार था – 'भारत और योरोप में ईस्ट इंडिया कंपनी के उचित प्रबंध के लिए कुछ नियंत्रणों को निश्चित करने के लिए एक अधिनियम।' इस शीर्षक के द्वारा अधिनियम के मुख्य उद्देश्य की घोषणा की गयी।

(१) पहली व्यवस्था इंग्लैंड में स्थित संचालक-मंडल के सम्बन्ध में थी। यह अनुभव हुआ कि इस मंडल के सदस्यों का प्रतिवर्ष चुनाव होने से अस्थिरता बढ़ती थी तथा प्रतिवर्ष होने वाले चुनावों के परिणामस्वरूप संचालकों की शक्ति भी घटती थी। वे स्थायी तौर से भारत में कंपनी की समस्याओं की ओर अपना ध्यान नहीं दे पाते थे। इन दोषों को दूर करने के उद्देश्य से यह निश्चित किया गया कि कुल २४ संचालकों में से छह प्रतिवर्ष स्थान रिक्त करें और नये छह संचालक प्रतिवर्ष उनके स्थान ग्रहण करें। प्रत्येक संचालक का कार्यकाल चार साल तय किया गया। इस व्यवस्था के द्वारा संचालक मंडल एक ऐसी संस्था बन गया जो बहुत कुछ स्थायी तौर पर कार्य कर सकता था। निरन्तरता नये संचालक-मंडल का प्रधान गुण थी। आरम्भ में यह निश्चित कर दिया गया था कि कौन से छह संचालक एक वर्ष तक, कौन से दो, तीन अथवा चार वर्षों तक कार्य करेंगे। बाद में इसे लागू करना कठिन नहीं था।

(२) संचालक-मंडल के संगठन सम्बन्धी प्रश्न को तय करने के बाद उसकी चुनाव प्रक्रिया को भी बदला गया। पहला नियम यह बनाया गया कि केवल वे व्यक्ति ही संचालक बन सकते थे जिनका कंपनी से किसी प्रकार का सम्बन्ध न हो और जो कम से कम दो वर्षों से इंग्लैंड में बसे हों। साधारण सभा में वोट देने वालों की योग्यता बढ़ा दी गयी। पहले ऐसे सदस्य चुनाव में भाग ले सकते थे जिनके पास पाँच सौ पौंड के मूल्य का स्टाक था। अब इस सीमा को बढ़ाकर कम से कम एक हजार पौंड कर दिया गया। इसी प्रकार जो व्यक्ति संचालक हो सकते थे उनकी योग्यताएँ निश्चित कर दी गयीं।

(३) भारत में कम्पनी का शासन इस समय मुख्य रूप से बंगाल में ही होता था। इस कारण भारत-प्रशासन के विषय में निर्णय करते समय इस अधिनियम में विशेष रूप से बंगाल सूबे की ही चर्चा की गयी। उदाहरणार्थ अधिनियम में यह कहा गया कि 'एक गवर्नर और चार सदस्यों की नियुक्ति बंगाल प्रेसीडेंसी की फोर्ट विलियम स्थित सरकार के लिए की जायेगी।' पहली बार भारत में कंपनी के प्रशासन की निगरानी और निरीक्षण करने के लिए गवर्नर जनरल के पद को आरम्भ किया गया। इसे भारत का गवर्नर जनरल न कहकर केवल 'बंगाल में फोर्ट विलियम स्थित गवर्नर जनरल' ही कहा गया क्योंकि कंपनी की भारत की सीमाओं को देखते हुए ऐसा कहना ही उचित मालमू पड़ा। बाद में जब कंपनी समूचे देश में प्रभावशाली हो गयी तो फिर गवर्नर जनरल के नामकरण में सुधार कर लिया गया।

(४) इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को यह निर्देश दिया गया कि वह कौंसिल की सलाह से ही कार्य करे। यह भी कहा गया कि भविष्य में निर्णय लेते समय गवर्नर जनरल को कौंसिल के बहुमत की राय के अनुसार कार्य करना होगा। कौंसिल में चार सदस्यों की व्यवस्था थी। इसका अर्थ यह हुआ कि तीन सदस्यों के एक ओर होने पर गवर्नर जनरल उनकी इच्छा की अवहेलना नहीं कर सकता था। इस अधिनियम में चार सदस्यों के नाम की तथा गवर्नर जनरल के रूप में वारेन हेस्टिंग्स के नाम की घोषणा कर दी गयी। भविष्य में नियुक्तियाँ करने की विधि भी इस अधिनियम द्वारा निर्धारित कर दी गयी।

(५) गवर्नर जनरल और कौंसिल के सदस्य मिलकर मद्रास प्रेसीडेंसी और बम्बई प्रेसीडेंसी के प्रशासन का निरीक्षण तथा निगरानी कर सकते थे। यह भी निश्चित किया गया कि मद्रास और बम्बई के गवर्नर युद्ध की घोषणा और संधि करते समय गवर्नर जनरल से पूर्व अनुमति माँग लेंगे।

(६) इस अधिनियम के द्वारा बंगाल में उच्चतम न्यायालय की स्थापना भी की गयी। ब्रिटेन के सम्राट द्वारा मनोनीत एक मुख्य न्यायाधीश तथा तीन अन्य न्यायाधीशों को इसके सदस्य वनाने का निश्चय किया गया। इस न्यायालय का अधिकार क्षेत्र बंगाल सूबा था।

अधिनियम के दोष

इस अधिनियम का पहला दोष यह था कि गवर्नर जनरल के पद को बहुत कमजोर बना दिया गया था। गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल के सदस्यों को कौंसिल में समान अधिकार प्राप्त थे। गवर्नर जनरल को किसी प्रकार के विशेष अधिकार न मिलने से उसका स्थान कौंसिल में शक्तिहीन बना रहा। कौंसिल का आरम्भ से ही जैसा संगठन किया गया था उसमें गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के सदस्यों में खींचातानी उसी समय से शुरू हो गयी जव यह अधिनियम लागू हुआ। गवर्नर जनरल और एक अन्य सदस्य वारवल भारत में रह चुके थे और बंगाल के शासन के विषय में उनके अपने विचार थे। इनके अलावा तीन सदस्य साथ-साथ ब्रिटेन से आये। वे भारत के लिए बिल्कुल नये थे तथा कंपनी के प्रशासन के बारे में जिनके सोचने का तरीका वारेन हेस्टिंग्स से भिन्न था। कलकत्ता पहुँचते ही उनके और वारेन हेस्टिंग्स के बीच जो मतभेद आरम्भ हुए वे कई वर्षों तक चलते रहे। ये तीन सदस्य एक ओर थे और गवर्नर जनरल तथा वारवल दूसरी ओर। कौंसिल में गवर्नर जनरल के अल्पमत में हो जाने से उसकी कठिनाइयाँ बढ़ीं। इस अधिनियम के कारण वारेन हेस्टिंग्स के लिए नयी उलझनें खड़ी हुई और उसका काफी समय सदस्यों से विवाद करने में लग जाता था।

इस अधिनियम का दूसरा दोष यह था कि इसमें गवर्नर जनरल और अन्य दो प्रांतों के गवर्नरों के संबंध स्पष्ट नहीं किये गये थे। ये गवर्नर अभी तक स्वतंत्र रूप में कार्य करते थे। कलकत्ता के नियंत्रण को स्वीकार करने को वे जल्द तैयार नहीं हुए। इन गवर्नरों ने अधिनियम की अस्पष्ट व्यवस्थाओं से लाभ उठाया।

इस अधिनियम का तीसरा दोष यह था कि सुप्रीम कोर्ट के संगठन और अधिकारों की व्याख्या साफ-साफ नहीं की गयी थी। अधिनियम द्वारा यह निर्धारित नहीं किया गया था कि

गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल तथा इस न्यायालय के संबंध किस प्रकार के हों; न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र क्या हो तथा वह किन कानूनों को अपनाये। इस सुप्रीम कोर्ट के ब्रिटिश न्यायाधीश भारतीय कानूनों से अनभिज्ञ थे और भारत के बारे में भी वे अधिक नहीं जानते थे। स्वाभाविक ही था कि कार्यकारिणी और न्यायपालिका में संघर्ष होना शुरू हो गया।

चौथा दोष यह था कि कौंसिल के संगठन की नीति त्रुटिपूर्ण थी। गवर्नर जनरल की कौंसिल के अधिकतर सदस्य ब्रिटेन से भेजे गये। यह प्रयोग सफल नहीं रहा।

यह अधिनियम केवल ग्यारह वर्षों तक अपने आरम्भिक स्वरूप में लागू रहा। वारेन हेस्टिंग्स के शासन के समाप्त होते ही एक नया संवैधानिक अधिनियम, पिट का इंडिया ऐक्ट, पारित किया गया। ब्रिटिश संसद ने इस प्रकार उन दोषों को दूर करने के उपाय किये जो इसके परिपालन में दिखायी दिये थे।

इन सब दोषों के बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि बंगाल के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इस अधिनियम को पारित करके ब्रिटिश संसद ने कंपनी के मामलों में अपनी रुचि की घोषणा कर दी थी। भविष्य में भी इसी प्रकार ब्रिटिश संसद द्वारा नियम पारित किये गये। कंपनी के प्रशासन में ब्रिटेन की सरकार और पार्लियामेंट दोनों अधिक रुचि लेने लगे और उन्होंने अपने उत्तरदायित्व को समझा। इस अधिनियम के द्वारा ब्रिटेन में कंपनी के प्रशासन को पुनःसंगठित करने के उपाय भी किये गये। आरम्भ में इस अधिनियम को पाँच वर्षों के लिए बनाया गया था और पाँच वर्षों के बाद इस पर पुनः विचार करना निश्चित हुआ था। अगर ब्रिटिश संसद अमेरिकी क्रांति विषयक प्रश्नों में न उलझ जाती तो अधिनियम में परिवर्तन सम्भवतः इससे भी पहले हो सकते थे।

पिट का इंडिया ऐक्ट

ब्रिटिश संसद ने १७८४ में एक अधिनियम पारित किया। यह अधिनियम पारित कराने में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री विलियम पिट ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। इसी से यह पिट के इंडिया ऐक्ट के नाम से जाना जाने लगा। इस अधिनियम के द्वारा रेगुलेटिंग ऐक्ट के दोषों को दूर किया गया। यह ऐक्ट इस कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसने भारत में जिस प्रकार की शासन-पद्धति की स्थापना की वह मामूली फेरबदल के साथ १८५८ तक चलती रही। पिट के इंडिया ऐक्ट का उद्देश्य था कंपनी के प्रशासन पर ब्रिटिश संसद का नियंत्रण स्थापित करना, कंपनी के भारतीय प्रशासन में सुधार करना और ब्रिटेन-स्थित कंपनी की शासकीय व्यवस्था में परिवर्तन करना।

इस ऐक्ट के द्वारा ब्रिटेन-स्थित कंपनी की शासकीय व्यवस्था का पुनर्गठन किया गया, कंपनी के प्रशासनिक और व्यापारिक कार्यों को दो अलग-अलग भागों में बाँटा गया और उनके समुचित प्रबंध के लिए लंदन में एक नयी शासकीय व्यवस्था आरम्भ की गयी। राजनीतिक तथा प्रशासकीय कार्यों का प्रबंध छह सदस्यों के एक मंडल को सौंप दिया गया। कंपनी के व्यापारिक कार्यों को संचालक-मंडल के अधिकार में कर दिया गया। इस प्रकार एक दोहरी शासन प्रणाली का आरम्भ हुआ जो १८५८ तक बहुत कुछ उसी तरह से चलती रही जिस रूप में उसका आरम्भ

१७८४ में किया गया था। इस ऐक्ट द्वारा स्थापित नियंत्रण-मंडल के छह सदस्यों में से चार सदस्य वे थे जो प्रिवी कौंसिल के सदस्य थे। दो अन्य सदस्य थे - राज्य सचिव और कोषाध्यक्ष। राज्य सचिव इस मंडल का अध्यक्ष था। यह ध्यान देने योग्य है कि नवीन शासन-पद्धति में नियंत्रण-मंडल की स्थिति संचालक-मंडल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण थी। वह भारतीय प्रशासन पर पूरी तरह से निगरानी रखने लगा। संचालक-मंडल उसकी इच्छा के विपरीत कार्य नहीं कर सकता था। पिट के इंडिया ऐक्ट की व्यवस्थाओं से नियंत्रण-मंडल को अधिक अधिकार मिले। कंपनी की भारत-स्थित सरकार के साथ पत्र-व्यवहार करने का तरीका भी नियंत्रण-मंडल के अनुकूल था। जो आदेश गवर्नर जनरल अथवा किसी अन्य उच्चाधिकारी को भेजे जाते थे उन्हें नियंत्रण-मंडल की इच्छानुसार ही तैयार किया जाता था। लेकिन फिर भी इन दोनों मंडलों को कंपनी के मामलों में एक दूसरे से परामर्श करके कार्य करना पड़ा।

भारत में कंपनी के प्रशासन के बारे में भी आवश्यक सुधार किये गये। गवर्नर जनरल की कौंसिल की संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गयी। इससे गवर्नर जनरल की स्थिति सुदृढ़ हुई। केवल एक सदस्य की सहायता और अपने निर्णायक मत का प्रयोग करके वह कौंसिल का भली-भाँति संचालन कर सकता था। यह व्यवस्था भी की गयी कि कौंसिल के सदस्य के रूप में केवल ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति की जाये जो इसके पूर्व कंपनी की सेवा में उच्चाधिकारी रह चुके हों। गवर्नर जनरल को अन्य गवर्नरों पर नियंत्रण करने के स्पष्ट अधिकार प्रदान किये गये। युद्ध, शांति और राजस्व के मामलों में विशेष रूप से प्रादेशिक सरकारों से कहा गया कि वे गवर्नर जनरल के आदेशानुसार ही काम करें। प्रादेशिक गवर्नरों की कौंसिल का स्वरूप भी उसी प्रकार बदला गया जैसा गवर्नर जनरल की कौंसिल का स्वरूप था। ऐक्ट में साफ-साफ यह कहा गया था कि गवर्नरों को कोई भी युद्ध आरम्भ करने के पहले तथा किसी भी भारतीय राजा से संधि करने के लिए गवर्नर जनरल की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक था। इस प्रकार रेगुलेटिंग ऐक्ट की व्यवस्थाओं में सुधार किये गये।

१८३३ का अधिनियम

विलियम बेटिक के शासनकाल में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक महत्त्वपूर्ण अधिनियम पारित किया। रेगुलेटिंग ऐक्ट के उपरान्त यह एक परिपाटी बन गयी कि बीस वर्षों के बाद एक संवैधानिक विधेयक द्वारा कम्पनी को पुनः भारत में प्रशासन चलाने का अधिकार दिया जाता था। १७९३ और १८१३ में इसी प्रकार के अधिनियम पारित किये गये थे जिनके द्वारा कंपनी के प्रशासन में परिवर्तन किये गये थे। १८३३ के अधिनियम द्वारा पहले के अधिनियमों की तुलना में अधिक सुधार किये गये। इसी कारण इसे पिट के ऐक्ट के बाद का सबसे प्रभावकारी अधिनियम कहा जाता है।

इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार थीं :-

१. इस अधिनियम के द्वारा कंपनी को भविष्य में बीस वर्षों तक भारत का प्रशासन चलाने का अधिकार मिल गया।
२. भारत में कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को पूर्णरूप से समाप्त कर दिया गया। इसके

पूर्व १८१३ के अधिनियम द्वारा यह क्रम आरंभ हो गया था और कंपनी के हाथ में केवल दो प्रमुख व्यापार रह गये थे। वह चाय का व्यापार करती थी और चीन के साथ व्यापार करने का उसे एकाधिकार मिला हुआ था। इस अधिनियम से कंपनी के इन अधिकारों को भी समाप्त कर दिया गया। अभी तक कंपनी एक व्यापारिक तथा प्रशासकीय संस्था थी। लेकिन विधेयक के पारित हो जाने पर उसके व्यापारिक एकाधिकार का अंत हो गया और वह केवल प्रशासकीय संस्था बन गयी। इस प्रकार कंपनी के स्वरूप को ही बदल दिया गया।

३. अठारहवीं सदी के अन्त तक यूरोपीय लोगों को भारत में आकर बसने, व्यापार करने तथा धर्म-प्रचार का कार्य करने के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रतिबंध लगे हुए थे। १८१३ के अधिनियम द्वारा इन नियमों को नरम बनाया गया। १८३३ के अधिनियम द्वारा इन प्रतिबंधों को पूरी तरह से समाप्त कर दिया गया। अब कोई भी यूरोपीय बिना किसी परमिट के भारत में आ सकता था और यहाँ पर बस सकता था। किसी भी यूरोपीय को भारत में जमीन खरीदने का भी अधिकार दे दिया गया।

४. कंपनी के प्रशासन का केन्द्रीकरण किया गया। इस संबंध में अधिनियम में कई व्यवस्थाएँ की गयीं। भारत के कंपनी के सर्वोच्च अधिकारी के पद को नया नाम दिया गया। इस अधिकारी को 'बंगाल का गवर्नर जनरल' के स्थान पर 'भारत का गवर्नर जनरल' कहा जाने लगा। बंबई और मद्रास की प्रेसीडेन्सी सरकारों के कानून-बनाने के समस्त अधिकार छीनकर गवर्नर जनरल और परिषद् को दे दिये गये तथा उनके लिये सपरिषद् गवर्नर जनरल के आदेशों और निर्देशों का पालन करना अनिवार्य कर दिया गया। यह व्यवस्था भी की गयी कि कोई भी प्रान्तीय गवर्नर बिना गवर्नर जनरल की आज्ञा प्राप्त किये हुए किसी नये वेतन या भत्ते की स्वीकृति नहीं दे सकता था। आगंरा और उसके आस-पास के कई जिलों को मिलाकर एक उत्तरपश्चिमी प्रान्त बनाने का निश्चय किया गया जिसकी राजधानी आगरा थी। इस प्रकार एक नयी प्रेसीडेन्सी को संगठित करने की ओर कदम उठाया गया।

५. गवर्नर जनरल की कौंसिल की संख्या में वृद्धि कर दी गयी। सदस्यों की संख्या तीन से बढ़ाकर चार कर दी गयी। चौथे सदस्य को एक विशेष कार्य सौंपा गया। उसे विधि-सदस्य बनाया गया और गवर्नर जनरल को कानून बनाने के कार्य में सहायता देने का उसे उत्तरदायित्व सौंपा गया। ब्रिटेन के जाने-माने विधि-शास्त्री मैकाले की पहली बार इस पद पर नियुक्त करने से इस पद का महत्त्व और अधिक बढ़ गया।

६. भारतीयों के लिए इस अधिनियम में एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की गयी। कार्नवालिस के समय से कंपनी की नौकरियों में भारतीयों को अलग रखने की नीति अपनाये जाने से देश के प्रभावशाली वर्गों में क्षोभ फैला हुआ था। ब्रिटेन में जो उदारवाद की लहर चल रही थी उसके कारण नौकरियों में जातीय भेदभाव की नीति को समाप्त करने की घोषणा इस अधिनियम में की गयी। यह कहा गया कि भविष्य में धर्म, जन्मस्थान, वंश अथवा रंग के आधार पर कंपनी के किसी भी पद के लिए किसी भी भारतीय को वंचित नहीं किया जायेगा। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, भारतीयों ने इसका स्वागत किया लेकिन

व्यावहारिक रूप में उन्हें अधिक लाभ नहीं हुआ। केवल कुछ छोटी नौकरियों में उन्हें स्थान दिये गये।

७. इस अधिनियम द्वारा यह भी तय किया गया कि एक विशेष कमीशन नियुक्त किया जाये जो कानूनों का विस्तृत अध्ययन करके विधि संग्रह तैयार करे। कमीशन ने कुछ वर्षों में ही भारतीय दंड संहिता का प्रारूप तैयार कर लिया जिसे संशोधित करके १८६१ में एक विस्तृत विधि-संहिता तैयार की गयी।

अंत में हम कह सकते हैं कि विलियम बेंटिंक के शासनकाल के सात वर्षों में जो विभिन्न प्रकार के सुधार किये गये उनकी आवश्यकता बहुत पहले से अनुभव की जा रही थी लेकिन फिर भी उसके पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों ने इस जिम्मेदारी को पूरा नहीं किया था। विलियम बेंटिंक ने निजी विश्वास और उत्साह से कई सुधार करके कंपनी के शासन को सुदृढ़ किया। उसके समय में कुछ गम्भीर प्रश्न उठाये गये, कुछ नयी दिशा की ओर बढ़ा गया और यह विचार किया गया कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हो जाने पर उसका भावी स्वरूप किस प्रकार का हो। उसके विदा लेते ही आकलैंड तथा एलनबरो युद्धों में व्यस्त हो गये और उन्होंने बेंटिंक का अनुसरण नहीं किया।

छठा अध्याय

कार्नवालिस का शासन

(१७८५-१७९३)

कार्नवालिस के कार्यकाल में राज्य विस्तार करने के बजाय प्रशासन तंत्र को मजबूत करने पर ध्यान दिया गया। ईस्ट इंडिया कंपनी के संचालकों को यह भलीभाँति मामूल था कि आन्तरिक सुधारों की आवश्यकता थी। इसी उद्देश्य से नवनियुक्त गवर्नर जनरल को इस ओर पूरा ध्यान देने के निर्देश दिये गये। कार्नवालिस के लिये परिस्थितियाँ भी अनुकूल थीं। उसका पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल, वारेन हेस्टिंग्स, अपनी कौंसिल के सदस्यों के विरोध से लगातार परेशान रहा था। उसकी कौंसिल के सदस्य वारेन हेस्टिंग्स के लिये कोई न कोई उलझनें पैदा करते रहते थे। कार्नवालिस के लिये कौंसिल के विरोध की बाधा दूर हो गयी। १७८४ के अधिनियम द्वारा उसकी कौंसिल के सदस्यों की संख्या को चार से धटाकर तीन कर दिया गया और इस अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिल गया कि वह आवश्यकता पड़ने पर अपनी कौंसिल के सदस्यों की सलाह को ठुकरा भी सकता था। इससे कार्नवालिस स्वतंत्र होकर शासन कर सका।

कार्नवालिस के गवर्नर जनरल बनते ही एक नयी परम्परा की शुरुआत की गयी। क्लाइव और हेस्टिंग्स कंपनी के ऐसे प्रमुख अधिकारी थे जो छोटे पदों से उन्नति करते हुए सर्वोच्च पद तक पहुँचे थे। ब्रिटेन में अनुभव किया गया कि गवर्नर जनरल का पद कंपनी के किसी उच्चाधिकारी को देने की व्यवस्था उचित नहीं थी। अतः यह निश्चय किया गया कि जहाँ तक संभव हो सके, ब्रिटेन के किसी प्रभावशाली और जाने माने कुशल राजनीतिज्ञ को कंपनी के गवर्नर जनरल पद पर नियुक्त किया जाये। कार्नवालिस ऐसा ही व्यक्ति था। इसका लाभ यह हुआ कि वह स्वतंत्र रूप से कंपनी की समस्याओं को भारत आकर देख सका और परिस्थिति के अनुसार निर्णय ले सका। इसके अलावा कंपनी का कोई भी दूसरा अधिकारी उससे बराबरी का दावा नहीं कर सका। कार्नवालिस की स्थिति इस कारण भी मजबूत हुई क्योंकि ब्रिटिश प्रधानमंत्री विलियम पिट तथा नियंत्रण-मंडल के अध्यक्ष डुंडास दोनों से उसकी अच्छी मित्रता थी। ब्रिटिश सरकार और नियंत्रण-मंडल से उसे पूर्ण सहयोग की आशा थी। इससे कार्नवालिस का आत्मविश्वास बढ़ा। वह स्वेच्छा से निर्णय करने में हिचका नहीं।

कार्नवालिस के सुधार

कार्नवालिस के शासन की विशेषता यह है कि उसने कंपनी की व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सुधार किये। उसके मुख्य सुधारों को हम चार भागों में बाँट सकते हैं – (१) प्रशासकीय सुधार, (२) व्यापारिक सुधार, (३) न्याय व्यवस्था में सुधार और (४) स्थायी भूमि व्यवस्था। इन सुधारों के बारे में उसकी मुख्य नीति यह थी कि उसने कंपनी की आवश्यकताओं के अनुसार निर्णय

लिये। इसके पूर्व वारेन हेस्टिंग्स ने जिस प्रकार के कदम उठाये थे उनका उसने पूरा ध्यान दिया। कार्नवालिस को भारत के बारे में पहले से कोई भी अनुभव नहीं था। इस कारण उसे अनुभवी उच्चाधिकारियों पर निर्भर रहना पड़ा। कार्नवालिस ने किसी प्रकार के सिद्धान्तों का सहारा न लेकर परिस्थिति के अनुसार निर्णय किये। उसने बड़ी योग्यता से इस कार्य को पूरा करके भारत में कंपनी की स्थिति को सुदृढ़ किया। पहले हम उसके प्रशासनिक सुधारों का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

शासन का अंग्रेजीकरण

प्रशासकीय सुधार करते समय गवर्नर जनरल ने ब्रिटिश प्रशासनिक प्रणाली और पद्धतियों को अपनाने के हर संभव उपाय किये। ब्रिटेन की शासन पद्धति को भारत में लागू करने के उद्देश्य से ही उसने विभिन्न सुधार किये। ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था का ही उसे ज्ञान था। इसे वह भारतीय व्यवस्था से श्रेष्ठ मानता था। कार्नवालिस की यह धारणा थी कि ब्रिटिश शासन के सिद्धान्तों को अपनाने से कंपनी के शासन का सारा ढाँचा सुधर जायेगा। भारत की प्रशासनिक संस्थाओं और प्रशासन के तरीकों का न तो उसे ज्ञान था और न उसने इसे समझने में कोई रुचि ही दिखायी। विचारों से वह पक्का साम्राज्यवादी था। अपने देश की व्यवस्था को भारतीय उपनिवेश में लागू करके वह ब्रिटिश प्रणाली के महत्त्व को सिद्ध करना चाहता था। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रभाव को बढ़ाना उसकी प्राथमिक जिम्मेदारी थी। भारतीय प्रणाली को बनाये रखकर इसे पूरा नहीं किया जा सकता था। इसके विपरीत भारतीय शासन को अंग्रेजी ढंग से चलाकर वह इस प्राथमिक उत्तरदायित्व को भली प्रकार से निभा सकता था। कार्नवालिस के समय से ही यह परम्परा चल पड़ी कि हर प्रकार से भारतीय प्रणाली की तुलना में ब्रिटिश पद्धति की श्रेष्ठता सिद्ध की जाये। विडंबना यह थी कि भारत में प्रचलित शासन-व्यवस्था की किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त किये बिना ही उसे हेय कहकर उसका तिरस्कार किया गया।

इसका एक प्रभाव यह भी पड़ा कि कार्नवालिस जिस व्यवस्था को लागू कर रहा था उसे समुचित ढंग से चलाने के लिए यूरोपीय लोगों पर ही विश्वास किया जाने लगा, भारतीयों पर नहीं। यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि केवल अंग्रेज ही ब्रिटेन की शासन-प्रणाली से परिचित थे और उन्हीं की सहायता से भारत में इसे सफल बनाया जा सकता था। कार्नवालिस ने यह नियम बना दिया कि कम्पनी के शासन के सभी उच्च्च पदों पर यूरोपीय ही नियुक्त किये जायें। किसी भी भारतीय को जिम्मेदारी के पद पर उसने नियुक्त न करने का सिद्धान्त अपनाया। किसी देश के लोगों को उनके देश की शासन-व्यवस्था से बिल्कुल अलग कर देने का यह अनोखा उदाहरण था। गवर्नर जनरल केवल यूरोपीय लोगों पर विश्वास करता था। उसकी निगाह में किसी भी भारतीय का चरित्र इस योग्य नहीं था कि वह शासन को ठीक ढंग से चला सके। कार्नवालिस द्वारा प्रारम्भ की गयी इस पद्धति से उन क्षेत्रों के लोग बहुत हताश हुए जहाँ कंपनी का शासन था क्योंकि शासन और सेना के ऊँचे पदों पर वे कभी नहीं पहुँच सकते थे। भारतीयों की योग्यता पर अविश्वास करना कार्नवालिस के शासन की नीति का सबसे निंदनीय पहलू था। भारतीयों के लिए कंपनी के अधीन प्रदेशों में प्रायः सभी ऊँची नौकरियों के लिए दरवाजे बंद कर दिये गये।

भ्रष्टाचार को दूर करने के उपाय

गवर्नर जनरल को यह जिम्मेदारी सौंपी गयी थी कि वह बंगाल सूबे में व्याप्त कम्पनी के अधिकारियों के भ्रष्टाचार को दूर करे। उसे कंपनी की सेवा में सुधार करने को कहा गया था। भारत आकर जब उसने छानबीन की तो उसे विश्वास हो गया कि शासन में 'अव्यवस्था, ढीलापन, फिजूलखर्ची तथा अक्षमता' का बोलबाला था। उसे ज्ञात हुआ कि सेना की एक ऐसी टुकड़ी का वेतन लिया गया था जो वास्तव में मौजूद ही नहीं थी। कंपनी के अधिकारियों का वेतन तो कम था परन्तु उनकी आमदनी के साधन असीमित थे। इससे भ्रष्टाचार फैला हुआ था। गवर्नर जनरल ने देखा कि बंगाल प्रेसीडेंसी का एक खजांची करीब तीन-चार लाख रुपये जमा की गयी पूँजी को मनमाना खर्च कर रहा था। उसने पाया कि प्रायः सभी कलेक्टर निजी व्यापार करने में व्यस्त थे जिससे न केवल कम्पनी को नुकसान पहुँचता था अपितु लोग भी सताये जाते थे। किस प्रकार कंपनी के उच्चाधिकारी धन बटोरने में लगे हुए थे इसका उदाहरण देने के लिए बनारस के रेजीडेंट की आमदनी पर प्रकाश डाला गया। इसका वेतन एक हजार रुपया प्रति माह था जब कि वह अपने अधिकार और प्रभाव का उपयोग करके लगभग तीस हजार रुपया प्रति माह कमा रहा था। इसी एक उदाहरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कंपनी के प्रशासन की क्या हालत थी।

इस स्थिति को सुधारने के लिए कार्नवालिस को कुछ आवश्यक उपाय करने पड़े। सबसे पहला कार्य उसने यह किया कि अयोग्य अधिकारियों को स्थानांतरित किया अथवा उन्हें पदमुक्त ही कर दिया गया। १७८७ में उसने बनारस के रेजीडेंट को हटाकर जोनाथन डंकन को बनारस का रेजीडेंट नियुक्त किया। डंकन ने बनारस के प्रशासन को सुधारने के सभी उपाय किये। एक लंबे समय से कंपनी के अधिकारी निजी व्यापार कर रहे थे। कार्नवालिस ने स्पष्ट रूप से निर्देश देकर कंपनी के अधिकारियों को आदेश दिया कि कोई भी अधिकारी निजी व्यापार अथवा किसी भी दूसरे साधन से अतिरिक्त आमदनी बढ़ाने के लिए कोई भी कार्य न करे। इस प्रकार पहली बार कंपनी के अधिकारियों के व्यापार करने के अधिकार पर रोक लगा दी गयी और गवर्नर जनरल ने चेतावनी भी जारी कर दी कि जो भी अधिकारी उसकी आज्ञा की उपेक्षा करेगा उसे तत्काल पदमुक्त कर दिया जायेगा। अनियमित ढंग से धन कमाने के तरीकों को अधिकारियों को छोड़ना ही पड़ा।

कार्नवालिस ने यह भी अनुभव किया कि कंपनी के अधिकारियों की आमदनी के प्रमुख स्रोत को रोकने के साथ-साथ उन्हें उचित वेतन देने की व्यवस्था करना भी जरूरी था। 'उदारतापूर्ण वेतन' देकर यूरोपीय अधिकारियों को संतुष्ट रखने की नीति को उसने आरम्भ किया जो उसके सभी उत्तराधिकारियों की नीति भी बनी रही।

कंपनी के अधिकारियों को इतनी अधिक आमदनी हो रही थी कि ब्रिटेन में अधिक से अधिक लोग कंपनी की नौकरी करने की कोशिश करते थे। ये नियुक्तियाँ अधिकतर सिफारिश के आधार पर ही की जाती थीं। कम्पनी के संचालकों तथा कम्पनी की व्यवस्था से सम्बन्धित लोग ज्यादातर अपने परिवार के सदस्यों की सिफारिश करके उन्हें कंपनी के विभिन्न पदों पर

नियुक्त करा देते थे। सिफारिश इस हद तक बढ़ गयी कि कार्नवालिस के शासन के आरंभ में ब्रिटेन के भावी सम्राट ने भी कंपनी के किसी पद के लिए गवर्नर जनरल की सिफारिश की। गवर्नर जनरल इससे और भी अचम्भे में पड़ गया। उसे समझ में आ गया कि इस तरीके से नियुक्तियाँ करने पर प्रशासनिक व्यवस्था को सुधारना कठिन होगा। गवर्नर जनरल ने भरसक कोशिश की कि नियुक्तियाँ सिफारिश के आधार पर नहीं बल्कि योग्यता के आधार पर की जायें। जब भी उस पर दबाव डाला गया, उसने ब्रिटेन-स्थित अधिकारियों से विरोध प्रकट किया। कार्नवालिस के समय से कंपनी की सेवाओं में योग्यता के आधार पर नियुक्तियाँ करने की स्वस्थ परम्परा शुरू की गयी।

जिला शासन का अधिकारी

वारेन हेस्टिंग्स के समय में पहली वार जिलों में कंपनी के अधिकारी नियुक्त किये गये थे। राजस्व वसूल करना इनका मुख्य कार्य था। इसी कारण इन अधिकारियों को कलेक्टर कहा गया। लेकिन आरम्भ में जिलों में इन अधिकारियों को बनाये रखने के सम्बन्ध में कोई निश्चित नीति नहीं अपनायी गयी थी। हेस्टिंग्स स्वयं इन अधिकारियों को जिलों से हटाने के पक्ष में था। वह चाहता था कि जहाँ तक सम्भव हो राजस्व सीधे कलकत्ता में जमा हो जाये। राजस्व वसूल करने के लिए फिर किसी अधिकारी को रखने की आवश्यकता ही न पड़ती। जमींदारों के राजस्व जमा करा देने से कंपनी को अधिकारियों पर खर्च भी नहीं करना पड़ता।

कार्नवालिस के भारत आगमन के कुछ महीनों पूर्व ही संचालक-मंडल ने जिला प्रशासन के विषय में अनिश्चितता को समाप्त करके यह आधारभूत निर्णय किया कि स्थायी शासन का निरीक्षण करने के लिए कलेक्टर का पद स्थायी रूप से बनाये रखा जाये। उस समय से भारत में केन्द्रीय प्रशासन के प्रतिनिधि के रूप में प्रत्येक जिले में इस अधिकारी की नियुक्ति करने की प्रणाली चल पड़ी। कलकत्ता की सुप्रीम कौंसिल और राजस्व बोर्ड की आज्ञाओं का पालन कराने के लिए यह सबसे प्रमुख स्थानीय अधिकारी था। कार्नवालिस ने राजस्व बोर्ड को भी पुनर्गठित किया। बंगाल में ३५ जिलों को घटाकर केवल २८ जिले कर दिये गये। इन जिलों में एक अंग्रेज कलेक्टर तथा उसके दो अंग्रेज सहायक नियुक्त किये जाने लगे। जिलाधीशों को १५०० रुपया प्रतिमास वेतन मिलता था। इसके अलावा जिले में जमा किये गये राजस्व का एक प्रतिशत भी उसे मिलता था। बर्दवान के कलेक्टर के लिए यह कमीशन २७००० रुपए सलाना था। इस प्रकार कम्पनी ने आरम्भ से ब्रिटिश अधिकारियों को वेतन के रूप में एक बड़ी धनराशि देने की नीति अपनायी।

कलेक्टर के पद पर नियुक्ति वरीयता के आधार पर करने का निश्चय किया गया। कार्नवालिस के शासनकाल में जिन अधिकारियों की इस पद पर नियुक्तियाँ की गयीं उनका कंपनी के शासन का पंद्रह से लेकर बीस वर्षों तक का अनुभव था। गवर्नर जनरल ने प्रत्येक जिले के अधिकारी के लिए यह भी आवश्यक कर दिया कि उसे भारतीय भाषा का ज्ञान हो।

राजस्व जमा करना कलेक्टर का मुख्य कर्तव्य था। बंगाल सूबे में यह राजस्व तीन करोड़ रुपये था। इस बड़ी धनराशि को वसूल करके केन्द्रीय सरकार के खजाने में जमा करना एक

कठिन काम था। कुछ वर्षों तक कलेक्टर न्यायाधीश का काम भी करता था। लेकिन बाद में कार्नवालिस ने शासन और न्याय के कार्य को जिलों में अलग-अलग कर दिया। शांति और व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी कलेक्टर के ऊपर था। पुलिस और जेल की वह निगरानी करता था। इसके अतिरिक्त जिले की सुरक्षा का ध्यान भी उसे ही रखना था। डाकुओं का दमन, यातायात के साधनों की देखभाल करना, नशीली वस्तुओं के विक्रय के नियम बनाना आदि जिले के प्रशासन की सारी जिम्मेदारी उसी के ऊपर थी। संचार व्यवस्था तथा द्रुतगामी सेवाओं के अभाव में स्थानीय शासन की निगरानी करने वाला अधिकारी और भी अधिक स्वतंत्र था। ए. एस्पिनाल के अनुसार 'वह अर्ध-निरंकुश सम्राट्' की तरह शासन करने लगा। कलेक्टर के अधिकार लगातार बढ़ते ही गये।

पुलिस और जेल

कलकत्ता की शांति और व्यवस्था की स्थिति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पुलिस का संगठन किस हद तक कमजोर हो गया था। इसे शहरों तथा जिलों में नये प्रकार से संगठित करने की आवश्यकता थी। कलकत्ता की कई सड़कों पर लोगों को सायंकाल के बाद चलने में जान का खतरा था। कलकत्ता की कुछ दूरी पर स्थित गाँवों में गुंडों और बदमाशों ने अपने अड्डे बना रखे थे। धनवान लोगों का जीवन असुरक्षित था। उन्होंने विशेष रूप से सरकार से उपाय करने की माँग की। कलकत्ता में पुलिस प्रशासन की देखरेख के लिए नये संचालक की नियुक्ति की गयी। उसकी सहायता के लिए दो सहायक भी नियुक्त किये गये। शहर की पुलिस को संगठित करने के लिए अतिरिक्त पुलिस की व्यवस्था की गयी।

जिलों की पुलिस व्यवस्था में अधिक परिवर्तन हुए। अभी तक जमींदार ही पुलिस के कार्य की देखरेख करते थे। वे ही थानेदारों की नियुक्ति करते थे और आवश्यकतानुसार अन्य कांस्टेबिल भी वे ही नियुक्त करते थे। जमींदार ही पुलिस अधिकारियों को वेतन देता था। प्रत्येक जमींदार व्यक्तिगत रूप से पुलिस कार्य की देखरेख करता था। इससे एक जमींदार की पुलिस और दूसरे जमींदार की पुलिस के बीच कोई सम्पर्क नहीं था। इसका लाभ उठाकर डाकू तथा अन्य अपराधी एक स्थान से भागकर दूसरे स्थान में शरण ले लेते थे। कार्नवालिस ने जमींदारों को पुलिस व्यवस्था से बिलकुल अलग कर दिया। इस प्रकार अब तक प्रचलित व्यवस्था में विशेष परिवर्तन किया गया। अंग्रेज मजिस्ट्रेट को प्रत्येक जिले में पुलिस के कार्य का निरीक्षण करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। वह एक पुलिस अधीक्षक की नियुक्ति करने लगा। जिले में करीब-करीब प्रत्येक बीस मील के इलाके में एक थाना बनाया गया। दरोगा को थाने का अधिकारी बनाया गया।

जेलों की दशा और भी खराब थी। एक उदाहरण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अपराधियों को जेल में कितने अधिक कष्ट उठाने पड़ते थे। बर्दवान जिले के मजिस्ट्रेट की १७८६ की रिपोर्ट से यह सूचना मिलती है कि जिन ४६ डाकुओं को मुकदमा चलाने के लिए बंदी बनाया गया उनमें से १३ बंदी तीन महीने में ही जेल में मर गये। जेल का जीवन बहुत ही कठोर था इसमें सुधार किये। नये बंदीगृहों का निर्माण कराने की योजना बनायी गयी जिससे बंदियों को स्वास्थ्य और भोजन की न्यूनतम सुविधाएँ उपलब्ध करायी जा सकें।

न्याय-व्यवस्था

कार्नवालिस ने दीवानी और फौजदारी न्यायालयों को पुनर्गठित किया। सबसे पहले अमीन और मुंसिफ की अदालतों को पचास रुपये तक के मुकदमें सुनने का अधिकार दिया गया। इन मुकदमों की अपील जिला अदालतों अथवा शहर की अदालतों में की जा सकती थी। प्रायः प्रत्येक मुख्य शहरों और जिलों में कचेहरियाँ स्थापित की गयीं। ऐसी कचेहरियों का प्रधान एक यूरोपीय जज नियुक्त किया जाने लगा। उसकी सहायता के लिए हिन्दू और मुसलमान व्यक्तियों को भी नियुक्त किया जाने लगा। विभिन्न प्रकार के दीवानी मुकदमें की सुनवाई यहाँ होती थी और इनके निर्णय की अपील प्रान्तीय न्यायालयों में की जा सकती थी। बंगाल में २६ जिला अदालतों की स्थापना हुई।

प्रान्तीय अदालतें चार केन्द्रों में स्थापित हुई। ये थे कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना। प्रत्येक न्यायालय का प्रधान एक यूरोपीय जज होता था तथा उसकी सहायता के लिए दो अन्य यूरोपीय जज भी नियुक्त किये जाते थे। प्रत्येक जज को सलाह देने के लिए एक काजी, मुफ्ती और पंडित नियुक्त किया जाने लगा। एक हजार रुपये तक के मुकदमों के लिए प्रान्तीय न्यायालयों को अंतिम निर्णय देने का अधिकार था। इससे अधिक धनराशि के मुकदमों में सदर दीवानी अदालत में अपील की जा सकती थी। कार्नवालिस द्वारा आरम्भ की गयी व्यवस्था में यह उच्चतम न्यायालय था। गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के सदस्य इसके सदस्य होते थे।

फौजदारी न्यायालयों को भी पूरी तरह से नया स्वरूप प्रदान किया गया था। कार्नवालिस के शासन-काल तक फौजदारी मामलों में कम्पनी ने पूरी जिम्मेदारी नहीं सँभाली थी। मोहम्मद रजा खाँ मुर्शिदाबाद में स्थित मुख्य फौजदारी न्यायालय का प्रधान था और इसी प्रकार से अन्य भारतीय न्यायाधीश भी प्रान्तीय न्यायालयों के प्रधान थे। इस समय तक फौजदारी मामलों में निर्णय करने का कार्य भारतीय न्यायाधीशों को ही था। कार्नवालिस ने इसे समाप्त करके प्रत्येक प्रकार के फौजदारी न्यायालयों के लिए अंग्रेज न्यायाधीश नियुक्त किये। भारतीयों को इस कार्य से मुक्त कर दिया गया। फौजदारी शासन में भी पूरी तरह से अंग्रेजीकरण की नीति अपनाई गयी।

फौजदारी मामलों में तीन श्रेणियों के न्यायालय स्थापित किये गये। जिला और शहरों की कचेहरियों के न्यायाधीशों को मजिस्ट्रेट का कार्य भी सौंपा गया। प्रत्येक प्रकार के अपराधों की छानबीन करने का उन्हें अधिकार दिया गया। साधारण मामलों में वे अंतिम फैसला सुनाते थे और सजा भी दे सकते थे। चार प्रान्तीय अदालतों को अपील सुनने का अधिकार था। इन न्यायालयों के जज हर छह महीने में जिलों का दौरा करके अपना निर्णय देते थे। गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के सदस्य फौजदारी मामलों की अंतिम अपीलें सुनते थे। इस प्रकार समस्त फौजदारी न्यायालयों का निरीक्षण किया जा सकता था।

कार्नवालिस कोड (१७९३)

प्रशासकीय, न्यायिक, पुलिस और राजस्व के संबंध में नियमों की एक संहिता भी तैयार

की गयी जिसकी घोषणा गवर्नर जनरल ने की। इसमें हर प्रकार के नियमों को संग्रहीत किया गया था जिससे नयी व्यवस्था के विषय में पूरी नियमावली की जानकारी सभी उपलब्ध हो सके।

कार्नवालिस कोड की दो मुख्य विशेषताएँ थीं – (१) फौजदारी न्यायालयों में भारतीय न्यायाधीशों के स्थान पर यूरोपीय न्यायाधीशों की नियुक्ति, (२) राजस्व, प्रशासन और न्याय-व्यवस्था को अलग करना। फौजदारी न्याय के विषय में हम पहले ही विचार कर चुके हैं।

राजस्व और न्याय के लिए अलग-अलग व्यवस्था करके जिला प्रशासन को एक नयी दिशा दी गयी। कार्नवालिस के आगमन के पूर्व राजस्व प्रशासन में कलेक्टर जिले का मुख्य अधिकारी था। इसके अतिरिक्त वह जिले का प्रधान न्यायाधीश तथा मजिस्ट्रेट था। इस प्रकार सारी शक्तियाँ एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित थीं। कलेक्टर न्याय-कार्य को गौण मानता था और इस तरह से न्याय के कार्य में रुकावट आती थी। एक प्रश्न यह भी था कि वह जहाँ एक ओर राजस्व को निर्धारित करता था और उसे वसूल करता था वहीं दूसरी ओर उन्हीं निर्णयों की सुनवाई वह न्यायाधीश के रूप में उचित ढंग से कैसे कर सकता था। किसान अथवा जमींदार उसकी निष्पक्षता पर कैसे विश्वास करते? कार्नवालिस कोड द्वारा कलेक्टर को केवल राजस्व के निर्धारण और उसकी वसूली का कार्य सौंपा गया और न्याय तथा मजिस्ट्रेट के कार्य उससे लेकर दूसरे अधिकारी को दे दिये गये।

कार्नवालिस कोड के द्वारा पहली बार नियमों की प्राथमिकता की घोषणा की गयी। प्रशासक के कार्यों से असंतुष्ट होने पर किसी को भी न्यायालयों में अपील करने का अधिकार था। पश्चिम में प्रचलित शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त को बंगाल में भी अपनाया गया था। कार्नवालिस ने इस सिद्धान्त को अपनाकर कंपनी के अधिकारियों पर अंकुश लगाने का निश्चय कियां। कलेक्टरों को भी आदेश दिये गये कि वे नियमानुसार ही कार्य करें।

गवाही के संबंध में अभी तक यह नियम था कि फौजदारी मामलों में मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं की गवाही को स्वीकार नहीं किया जाता था। अब इस व्यवस्था को समाप्त करके कोड में स्पष्ट रूप से नियम बनाया गया कि किसी व्यक्ति के अपराध के विषय में गवाही देने वाले के लिए धर्म के आधार पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं होगा। अभी तक अपराधियों के हाथ अथवा पैर काटने की सजा दी जाती थी। इसे समाप्त करके अन्य प्रकार के कठोर कारावास की सजा देने की व्यवस्था की गयी।

इस कोड द्वारा हिन्दू और मुसलमान वकीलों को भी लाइसेंस देने का निश्चय किया गया। सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त वकीलों को कोई भी प्रार्थी अथवा वादी अपना कानूनी प्रतिनिधि वना सकता था। वकीलों की फीस निश्चित कर दी गयी। वकीलों के कार्य को राज्य द्वारा पहली बार विधिवत् मान्यता मिली।

व्यापारिक सुधार

ईस्ट इंडिया कंपनी इस समय तक व्यापार करके लाभ कमाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थी। ब्रिटेन-स्थित संचालक-मंडल यह देखकर चिंतित था कि कंपनी के अधिकारियों

को निजी व्यापार से पर्याप्त लाभ हो रहा था। जो वस्तुएँ ये अधिकारी यूरोप भेजते थे उनसे उन्हें लाभ होता था। लेकिन जो वस्तुएँ कंपनी की ओर से भेजी जाती थीं वे यूरोप में कम दामों पर बिक पाती थीं। इससे संचालक-मंडल को यह भी ज्ञात हुआ कि कंपनी निर्यात के लिए जो सामान भेजती थी वह घटिया किस्म का होता था। कंपनी की व्यापारिक प्रणाली पर ध्यान देने पर गवर्नर जनरल इस नतीजे पर पहुँचा कि यह दोषपूर्ण थी। कंपनी द्वारा स्थापित व्यापार बोर्ड और ठेकेदारों के बीच की कड़ी में उसे अव्यवस्था दिखायी दी। ठेकेदार वस्तुओं का मूल्य तो अधिक ले रहे थे परन्तु वे माल घटिया किस्म का दे रहे थे। आवश्यकता यह थी कि बोर्ड के सदस्य ठेकेदारों पर निगरानी रखते। पर वे अपने कर्तव्य के प्रति सजग न थे। इसी से कंपनी को हानि हो रही थी। जाहिर था कि बोर्ड के सदस्य ठेकेदारों से लाभ कमा रहे थे। निजी स्वार्थों के लिए उन्होंने कंपनी के हितों की अनदेखी की।

कार्नवालिस ने व्यापार की प्रणाली को सुधारने के उपाय किये। व्यापार बोर्ड का पुनर्गठन किया गया। इसके सदस्यों की संख्या ग्यारह से घटाकर पाँच कर दी गयी। ठेकेदारों से खरीद करने की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। अब कंपनी वस्तुओं की खरीद व्यापारिक रेजीडेंट अथवा विशेष व्यापारिक प्रतिनिधियों द्वारा करने लगी। कंपनी के व्यापार में जो नयी व्यवस्था शुरू की गयी उसे एजेन्सी व्यवस्था कहा गया। कंपनी द्वारा नियुक्त रेजीडेंट अलग-अलग स्थानों पर रहते थे। ये अधिकारी कंपनी की ओर से उत्पादन करने वालों से सीधा संपर्क स्थापित करते थे। विशेष रूप से कपड़ा बुनने वालों अथवा अन्य प्रकार की आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करने वालों को ये अधिकारी कई बार पहले से ही धन दे देते थे और वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कर देते थे। रेजीडेंटों के कार्यों के संबंध में भी कार्नवालिस ने अलग से नियम बनाये। इन नियमों के द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि रेजीडेंट वस्तुओं को खरीदने के समय उत्पादन करने वालों अथवा व्यापारियों को परेशान न करें।

स्थायी भूमि-व्यवस्था

१७६५ से ईस्ट इंडिया कंपनी को जब बंगाल सूबे की दीवानी के अधिकार मिले, उसी समय से भू-राजस्व वसूल करने का उत्तरदायित्व भी उसी ने ग्रहण किया। बंगाल सूबे में भूमि-व्यवस्था शताब्दियों से चलती आ रही थी। हमें यह विचार करना है कि परम्परागत व्यवस्था किस प्रकार की थी और कंपनी के प्रशासन सँभालने पर इसमें किस तरह के परिवर्तन किये गये।

पृष्ठभूमि

प्रचलित प्रणाली के अनुसार भूमि की उपज में भाग लेने वाले तीन पक्ष थे सरकार, जमींदार और किसान। किसान उत्पादन करता था और परम्परानुसार उपज का एक निश्चित भाग प्रतिवर्ष भूमि-कर के रूप में सरकार को देता था। सरकार समय-समय पर भूमिकर अथवा लगान निर्धारित किया करती थी। इस भूमि-व्यवस्था में लगान निर्धारित करने से भी आवश्यक कार्य था इसे वसूल करने की प्रणाली १७६५ के पूर्व तक बंगाल सूबें में लगान वसूल करने

की जिम्मेदारी जमींदार को सौंप दी गयी थी। जमींदार किसान और उस समय की सरकार के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी था और मध्यस्थ के रूप में कार्य करता आ रहा था। किसान उपज का एक निश्चित भाग लगान के रूप में जमींदार को देता था। जमींदार की यह जिम्मेदारी थी कि वसूल की गयी लगान का दस प्रतिशत भाग अपने पास रखकर शेष नब्बे प्रतिशत भाग निश्चित समय पर राजकीय खजाने में जमा करे। परम्परानुसार भू-राजस्व वसूल करने का जमींदार का पद भी वंशानुगत होता गया। उसे अन्य कर वसूल करने के अलावा शांति और व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्व भी सौंप दिया गया था। स्वाभाविक था कि जमींदार का प्रभाव बढ़ता गया। इस भू-राजस्व प्रणाली की एक विशेषता यह थी कि जमींदार और किसान का निकट का संबंध था और वह अपने क्षेत्र के किसानों की समस्या की पूरी जानकारी रखता था। किसान का हित इसी में था कि लगान उदारता से लगाया जाये जिसे वह आसानी से अदा कर सके। सरकार की माँग यही रहती थी कि भू-राजस्व यथासमय जमा होता रहे।

१७६५ से १७७२ के बीच के सात वर्षों में बंगाल सूबे में दोहरा शासन लागू रहा। इस अवधि में लगान व्यवस्था पूर्ववत बनी रही क्योंकि शासन भारतीयों की सहायता से चलाया गया। लेकिन १७७२ के बाद से भू-राजस्व व्यवस्था में नये प्रयोग किये गये जिनके कारण परम्परागत प्रणाली में आमूल परिवर्तन हुए। वारेन हेस्टिंग्स अथवा उसके अधिकारियों ने भू-राजस्व प्रणाली को न तो समझने का प्रयास किया और न बंगाल सूबे में प्रचलित लगान के प्रबंध का तरीका ही उनकी समझ में ही आया। लेकिन फिर भी उसने जल्दबाजी में प्रचलित व्यवस्था के मूल स्वरूप को बदल डालने की दिशा में कदम उठाये। वारेन हेस्टिंग्स द्वारा किये गये निर्णयों के कारण भू-राजस्व व्यवस्था और भी उलझ गयी।

वारेन हेस्टिंग्स ने लगान-व्यवस्था को केवल एक ही दृष्टिकोण से देखा। वह अधिक से अधिक लगान वसूल करके सूबे की आमदनी बढ़ाना चाहता था। इस कारण व्यवस्था को सुधारने की बजाय जब उसने केवल सरकार की आमदनी बढ़ाने के उद्देश्य से निर्णय किये तो उलझनें पैदा हुई। अंग्रेज अधिकारियों ने यह अनुभव किया कि जमींदारों के प्रभाव के कारण सरकार को नुकसान हो रहा था। जमींदार जितना भू-राजस्व किसानों से वसूल करता था उससे वह तो पर्याप्त लाभ कमाता था लेकिन सरकार को वह उपज का निश्चित भाग अदा नहीं करता था। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अंग्रेज अधिकारियों का कहना था कि जमींदार किसानों से अधिक से अधिक लगान वसूल करके सरकार को कम से कम दिया करते थे। इससे केवल जमींदारों को ही लाभ हो रहा था और किसान तथा सरकार को धोखा दिया जा रहा था।

वारेन हेस्टिंग्स ने भू-राजस्व के संबंध में कई प्रयोग किये। आरंभ से ही उसने यह जानने की कोशिश की कि भूमि से सरकार को अधिकतम आमदनी कितनी हो सकती थी। वारेन हेस्टिंग्स ने आरम्भ में पाँच वर्षों के लिए और इसके बाद प्रतिवर्ष लगान वसूल करने की व्यवस्था की। भू-राजस्व वसूल करने की जिम्मेदारी अब जमींदारों के हाथों से छीनकर उन सभी लोगों को दी गयी जो सरकार के लिए किसी निश्चित क्षेत्र से अधिक से अधिक लगान वसूल करने को तैयार हुए। सभी क्षेत्रों के लिए लगान वसूल करने के अधिकार के लिए सरकार की ओर

से नीलामी की जाने लगी। यह एक निराला तरीका था। इससे लगान वसूली करने का अधिकार भी एक प्रकार का जुआ हो गया जिससे नीलामी बोलने वाले को लाभ भी हो सकता था और हानि भी। इस प्रणाली से बहुत सा लगान बकाया रह गया था। इस प्रथा में एक और दोष यह दिखायी दिया कि भू-राजस्व की वसूली में अनिश्चितता आ गयी। सरकार सही अनुमान ही नहीं लगा पाती थी कि किस वर्ष उसकी वास्तविक आमदनी इस स्रोत से कितनी होगी। किसानों को भी यह व्यवस्था असुविधाजनक मालूम पड़ी क्योंकि अब वे मुनाफाखोर लोग भूमिकर वसूल करने लगे थे जिन्हें किसानों की समस्याओं का कोई भी ज्ञान नहीं था। यह व्यवस्था पेचीदी भी बहुत अधिक थी।

कार्नवालिस का उत्तरदायित्व

कार्नवालिस की नियुक्ति करते समय संचालक-मंडल ने उसे एक मुख्य जिम्मेदारी सौंपी थी कि वह भू-राजस्व व्यवस्था में आवश्यक सुधार करे। उसे उन दोषों को दूर करना था जो वारेन हेस्टिंग्स के निर्णयों के कारण दिखायी दिये थे। उसे यह निर्देश दिया गया था कि 'उदार भू-राजस्व नियमित रूप से और ठीक समय पर वसूल किया जाये।'

कार्नवालिस ने भू-राजस्व प्रणाली में सुधार करते समय इस लक्ष्य को प्राप्त करने की पूरी कोशिश की। अनिश्चित योजनाओं में न उलझकर उसने लगान संबंधी समस्या के व्यावहारिक पहलुओं पर ध्यान दिया। उससे स्पष्ट शब्दों में यह भी कहा गया था कि लगान वसूल करने में वह जमींदारों का सहयोग ले सकता था।

कार्नवालिस ने भू-राजस्व व्यवस्था करने में पर्याप्त धैर्य से काम लिया। सात वर्षों तक भू-राजस्व से संबंधित प्रश्नों पर विचार करने के बाद उसने १७९३ में नयी व्यवस्था की घोषणा की। इस बीच वह स्वयं विचार करता रहा तथा उसने कंपनी के उच्चाधिकारियों से विचार-विनिमय किया। यह कहना आवश्यक जान पड़ता है कि कार्नवालिस को संचालक-मंडल के हाथों की कठपुतली कहना अनुचित होगा। यह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि उसने भू-राजस्व व्यवस्था संबंधी निर्णय करते समय संचालक-मंडल के निर्देशों के अनुसार ही कार्य किया। कई लेखकों का यह विचार न्यायसंगत नहीं जान पड़ता है कि उसे ब्रिटेन से नियंत्रित किया गया था अथवा वह किसी ऐसे मस्तिष्कविहीन दानव के समान कार्य करता रहा जो केवल मालिक के इशारे पर कार्य करता हो। कार्नवालिस ने १७९३ में जब स्थायी व्यवस्था अपनायी तो वह स्वेच्छा से निर्णय कर रहा था। किसी प्रकार की मजबूरी से प्रभावित होकर उसने स्थायी व्यवस्था के पक्ष में निर्णय नहीं किया।

वास्तविकता यही जान पड़ती है कि संचालक-मंडल और गवर्नर जनरल के विचार एक समान थे। कार्नवालिस खुद एक बड़ा जमींदार था। जमींदार वर्ग के प्रति उसे आरंभ से ही सहानुभूति थी और उसने भारत में स्वाभाविक रूप से ऐसी व्यवस्था को अपनाया जिसमें जमींदार वर्ग का प्रभाव बढ़े। उसने ब्रिटेन के समान बंगाल सूबे में भी अभिजात वर्ग को प्रभावशाली बनाने के उपाय किये। ब्रिटेन-स्थित संचालक-मंडल के सदस्य उसी प्रकार से जमींदारों के अधिकारों के पोषक थे जिस प्रकार कार्नवालिस था। ब्रिटेन में इस समय जमींदारों के पक्ष में तरह-तरह

की दलीलें दी जा रही थीं। कार्नवालिस ने स्थायी व्यवस्था की घोषणा करते समय ब्रिटिश पद्धति का उसी प्रकार अनुसरण किया जैसा उसने अन्य सुधार करते समय किया था। जेम्स मिल ने स्वीकार किया है कि कार्नवालिस ने इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर सुधार किये। कार्नवालिस ने १७९३ के पूर्व ही अपने उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा था – 'यह राज्य के हित में होगा कि भूमि का स्वामित्व ऐसे मितव्ययी और कम खर्च करने वाले वर्ग को मिले जो भूमि का सुधार कर सकें, किसानों की रक्षा कर सकें और इस प्रकार देश को समृद्धिशाली बना सकें।'

कार्नवालिस भूमि-व्यवस्था संबंधी निर्णय करते समय ब्रिटेन के जमींदारों द्वारा किये गये कार्यों से प्रभावित हुआ था। इस समय ब्रिटेन के जमींदारों ने निजी संपत्ति लगाकर खेती में तरह-तरह के सुधार किये थे। कार्नवालिस ने सोचा था कि बंगाल के जमींदार भी उन्हीं की तरह कृषि की उन्नति में सहायक होंगे। उसने आशा की थी कि भूमि पर स्थायी अधिकार मिल जाने पर जमींदार अपनी आमदनी से बची हुई धनराशि को खेती की दशा सुधारने में व्यय करेगा। इसी विचार से उसने जमींदारों के अधिकारों को स्वीकार किया था। कार्नवालिस ने खेती में पूँजी अथवा संचित आय लगाने के उद्देश्य से स्थायी भूमि-व्यवस्था के पक्ष में निर्णय किया था।

कार्नवालिस ने भूमि-प्रबंध व्यवस्था की अस्थिरता को दूर करके स्थिरता लाने के उद्देश्य से १७९३ की सुधार-योजना अपनायी। वह चाहता था कि कंपनी की नीति के बारे में स्पष्ट जानकारी जनसाधारण को मिल जाये। १७८६ से १७९३ के बीच के सात वर्षों में लगान-व्यवस्था के संबंध में लगातार बहस चलती रही। मुख्य रूप से दो तरह के विचार प्रस्तुत किये गये। कार्नवालिस किसी ऐसी व्यवस्था के पक्ष में आरंभ से ही था जो हमेशा के लिए की जाये, जो पूर्णरूप से स्थायी हो। लेकिन राजस्व बोर्ड का अध्यक्ष और कंपनी का जाना-माना विशेषज्ञ जान शोर गवर्नर जनरल से सहमत नहीं था। जान शोर का कहना था कि लगान के संबंध में और अधिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने के बाद ही स्थायी व्यवस्था के विषय में निर्णय करना उचित होगा। उसने प्रस्ताव किया कि स्थायित्व का सिद्धान्त अपनाने के पहले जमींदारों के साथ दस वर्षों की व्यवस्था की जाये। जान शोर गवर्नर जनरल के इस मत को भी स्वीकार करने को तैयार नहीं था कि जमींदार वर्ग कृषि में सुधार करेगा। कार्नवालिस ने जान शोर की आपत्तियों के बावजूद लगान-व्यवस्था के संबंध में किसी निर्णय को स्थगित करना अहितकर समझा। उसने यह तर्क दिया कि स्थायी भूमि-प्रबंध करना जरूरी था। गवर्नर जनरल अब तक चलती आ रही अनिश्चितता को दूर करने का पक्का इरादा कर चुका था। उसने संचालक-मंडल की अनुमति प्राप्त करके १७९३ में घोषणा जारी कर दी। जाहिर है कि स्थायी भूमि-व्यवस्था के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार गवर्नर जनरल ही था।

स्थायी भूमि-व्यवस्था की विशेषताएँ

कार्नवालिस ने १७९३ में लगान के विषय में जो निर्णय किये उसकी पहली और प्रमुख विशेषता यह थी कि सरकार ने संबंधित पक्षों को विश्वास दिलाया कि समय-समय पर नये

भूमि-प्रबंधों के स्थान पर अब वह एक स्थायी भूमि-व्यवस्था 'सदा के लिए' कर रही थी। कार्नवालिस ने इसी निर्णय के अनुसार यह घोषणा की कि सरकार द्वारा १७९३ में निर्धारित भू-राजस्व भविष्य में कभी भी बदला नहीं जायेगा। घोषणा में यह भी कहा गया कि जो भी भू-राजस्व या लगान इस समय सरकार अलग-अलग क्षेत्रों के लिए निर्धारित कर रही थी वह हमेशा के लिए किया जा रहा था और सरकार द्वारा इस निर्धारित लगान को कभी भी बढ़ाया नहीं जायेगा। कार्नवालिस की घोषणा में यह आश्वासन स्पष्ट रूप से दिया गया कि उस समय निर्धारित सरकार की माँग सदा के लिए और स्थायी तौर से की जा रही थी। १७९३ में यह व्यवस्था कंपनी के अधीन बंगाल, बिहार और उड़ीसा प्रांतों के लिए लागू की गयी थी।

दूसरी विशेषता यह थी कि चूँकि सरकार की माँग को स्थायी तौर पर और हमेशा के लिए किया जा रहा था इसलिये भू-राजस्व को जितना अधिक निर्धारित किया जा सका उतना १७९३ में निश्चित किया गया। कार्नवालिस की सरकार ने वसूल किये जाने वाले भू-राजस्व को अधिकतम सीमा तक बढ़ाया। सिद्धान्त रूप में यही कहा गया कि १७९०-९१ में जिन क्षेत्रों से जितना भू-राजस्व वसूल किया गया था उसी को आधार मानकर भविष्य के लिए लगान निर्धारित कर दिया जाये। यह धनराशि २६,८००,९८९ रुपया थी जो भविष्य में भी तीनों प्रांतों से वसूल की जाने लगी। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने कर निर्धारण करते समय लगान को किस प्रकार अधिक से अधिक तय किया यह इसी से सिद्ध किया जा सकता है कि १७९०-९१ में निर्धारित कुल लगान १७६४-६५ में वसूल किये गये लगान का तीन गुना था। इससे प्रकट है कि कंपनी की इस व्यवस्था से काफी लाभ की आशा की गयी थी।

तीसरे, हम आरम्भ में कह चुके हैं कि भूमि की उपज से संबंधित तीन पक्ष थे – सरकार, जमींदार और किसान। कार्नवालिस की भूमि-व्यवस्था द्वारा सरकार और जमींदार के अधिकारों की तो घोषणा कर दी गयी परन्तु तीसरे पक्ष अर्थात् किसानों के हितों की कोई भी चिंता नहीं की गयी। मूलतः इस व्यवस्था का लक्ष्य था बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सम्पत्तिवान वर्ग की पुनर्स्थापना और उसको प्रभावशाली बनाना।

कार्नवालिस ने स्थायी व्यवस्था करके जमींदारों का नया वर्ग सरकार के पक्ष में खड़ा कर दिया। उसकी स्थायी भूमि-व्यवस्था इन्हीं जमींदारों के साथ की गयी थी। इस व्यवस्था का प्रधान उद्देश्य था जमींदारों को संतुष्ट करना और उन्हें आश्वासन देना कि सरकार हमेशा उनके तथा उनके उत्तराधिकारियों के अधिकारों को सुरक्षित रखेगी। इधर कई बार जमींदारों की वास्तविक स्थिति के विषय में तरह-तरह के प्रश्न उठाये गये थे। गवर्नर जनरल इन सवालों में उलझा नहीं। उसने सभी प्रकार के उन लोगों को जमींदार मान लिया जो १७९३ में भूस्वामी थे और उन्हीं को अधिकार प्रदान कर दिये। जिन जमींदारों के साथ सरकार ने स्थायी प्रबंध किया वे चार तरह के थे। पहले वर्ग में स्वतंत्र सरदार थे, जैसे कूच बिहार, त्रिपुरा और असम के राजा। इनका अलग-अलग क्षेत्रों पर पहले से ही अधिकार था तथा ये मुगल शासकों के समय से ही वार्षिक शुल्क के रूप में भू-राजस्व अदा करते थे। दूसरे वर्ग के वे जमींदार थे जो लम्बे समय से भू-स्वामी थे और जिनके परिवार सदा से बंगाल के शासकों को निश्चित लगान देते

आ रहे थे। राजशाही, बर्दमान और दिनाजपुर के राजा इस श्रेणी में थे। इन राजाओं का पद पहले वर्ग के सरदारों की तुलना में कुछ नीचा जरूर था पर वे स्थायी तौर से अपने-अपने क्षेत्रों से राजस्व वसूल करते आ रहे थे। तीसरे वर्ग में वे जमींदार थे जिन्हें मुगलों के समय से ही भू-राजस्व वसूल करने का अधिकार मिला हुआ था। इसे वंशानुगत ढंग से स्वीकार किया गया था। चौथा वर्ग नया वर्ग था जो कंपनी के शासन की स्थापना के बाद उभरा था। इन्हें भी जमींदार कहा जाता था। इस नये वर्ग में बेनामी भू-स्वामी थे और कलकत्ता के वे व्यापारी थे जिन्होंने नीलामी द्वारा लगान वसूल करने का अधिकार प्राप्त किया था।

कार्नवालिस द्वारा आरंभ की गयी स्थायी व्यवस्था की चौथी विशेषता यह थी कि इसके द्वारा भूमि को सम्पत्ति के रूप में मानकर इसके स्वामी को इसे बेचने, दान देने अथवा किसी अन्य तरीके से दूसरे को दे देने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया और ऐसा करते समय यह आवश्यक नहीं था कि भूस्वामी सरकार से पूर्व अनुमति ले। इस नियम से बंगाल सूबे के भूमि के प्रबंध में अंग्रेजों ने ब्रिटिश पद्धति को लागू किया। १७९३ के पहले जमींदार का उत्तरदायित्व लगान वसूल करना अवश्य था लेकिन उसके अधीन भूमि को उसकी संपत्ति कभी नहीं माना गया था। लेकिन अब सरकार ने जो नियम बनाये उसके अनुसार भूमि को संपत्ति मान लिया गया। कृषि में निजी पूँजी लगाने के लिए जमींदारों को उत्साहित करने के उद्देश्य से अब तक की प्रचलित प्रणाली में यह परिवर्तन किया गया था। कार्नवालिस ने आशा प्रकट की थी कि अधिक से अधिक लोग भूमि को खरीदने में पूँजी लगायेंगे। उसने लिखा था – 'भू-संपत्ति हिन्दुस्तान में इतनी अधिक मूल्यवान हो जायेगी जैसी इसके पहले कभी नहीं थी।' भू-राजस्व को स्थिर करके उसने भू-संपत्ति के सिद्धान्त को भी अपनाया।

स्थायी भूमि-व्यवस्था के परिणाम-गुण और दोष

स्थायी भूमि-व्यवस्था के विषय में इतिहासकारों ने अलग-अलग ढंग से मत व्यक्त किये हैं। कुछ इसके प्रशंसक हैं और कुछ इसके आलोचक। इसके अलावा कुछ अन्य ने अपनी विचारधाराओं के अनुसार इस व्यवस्था की अच्छाइयों अथवा बुराइयों पर विचार प्रकट किये हैं। जे.सी. मार्शमैन का कथन है – 'यह एक साहसिक, निर्भीक और समझदारी का कदम था।' इसी प्रकार रमेश दत्त ने इसे बुद्धिमतापूर्ण और जनकल्याणकारी कार्य कहा था। लेकिन कार्नवालिस के निर्णय के आलोचकों ने उसकी जमकर खबर ली है। टी.आर. होम्स लिखता है – 'यह उसकी दुःखदायी और भारी भूल थी।' एडवर्ड थार्नटन का मत है – 'यह बंदोबस्त अज्ञानता के गहरे प्रभाव में किया गया है।' हमें ए. एसपिनाल का मत उचित जान पड़ता है। इस लेखक ने ठीक ही कहा है – 'इतिहास ने इस व्यवस्था के विरुद्ध न्याय दिया है।' यही कारण है कि इसे बंगाल सूबे के कुछ निकटवर्ती क्षेत्रों को छोड़कर भारत के किसी अन्य भाग में लागू नहीं किया गया। कार्नवालिस के लौट जाने के बाद इस व्यवस्था के पक्ष में विचार बदलने लगे और जब कंपनी का अधिकार क्षेत्र बढ़ा और भूमि व्यवस्था को लागू करने का सवाल आया तो स्थायी व्यवस्था को न अपनाकर अन्य प्रकार की व्यवस्थाओं को देश के विभिन्न भागों में लागू किया गया था। अब हम स्थायी भूमि-व्यवस्था के गुणों और दोषों पर विचार करेंगे।

व्यवस्था के गुण

प्रथम गुण तो इस व्यवस्था का यही था कि इससे सरकार को फायदा हुआ। लगान को अधिकतम सीमा तक बढ़ा दिया गया था। प्रतिवर्ष सरकार को एक निश्चित धनराशि मिलने लगी। इस भू-राजस्व के कभी घटने और कभी बढ़ने से सरकार ठीक प्रकार से योजना नहीं बना पाती थी। अब यह स्थिति समाप्त हो गयी और कंपनी यह विचार कर सकती थी कि लगान द्वारा प्राप्त आमदनी का उपयोग वह शासन के खर्चों में तथा व्यापार में किस प्रकार करे।

दूसरे, कंपनी को समय-समय पर भू-राजस्व निर्धारित करने के उत्तरदायित्व से मुक्ति मिल गयी। कंपनी के अधिकारियों को इस कार्य में काफी समय लगाना पड़ता था। अब वे इस उलझन से स्वतंत्र हो गये। इसी प्रकार किसान तथा जमींदार के ऊपर से भी बार-बार लगान निर्धारित करने का बोझ हल्का हो गया। अब दोनों पक्षों को यह मालूम था कि कितना लगान जमा किया जाना था। अगर इस व्यवस्था की तुलना हेस्टिंग्स के समय की व्यवस्था से की जाये तो आसानी से अंदाज लगाया जा सकता है कि भूमि के प्रबंध में स्थिरता आने से प्रत्येक पक्ष कितना आश्वस्त हो गया था।

तीसरे, राजनीतिक दृष्टि से भी यह व्यवस्था महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुई। मुगल व्यवस्था में जमींदार को बहुत से अधिकार मिले हुए थे। लगान वसूल करने के अलावा जमींदार अपने क्षेत्रों में पुलिस के कार्य करते थे, शांति और व्यवस्था के लिए उत्तरदायी थे तथा उन्हें शासन को प्रभावित करने के अधिकार थे। कार्नवालिस के समय यह अंतर आया कि जहाँ एक ओर जमींदारों के प्रशासकीय अधिकारों का अंत कर दिया गया वहाँ दूसरी ओर भूमि पर उनके स्वामित्व को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया गया। यह अधिकार इसके पूर्व उन्हें प्राप्त नहीं था। जमींदारों का किसानों पर आर्थिक प्रभाव बढ़ा। जमींदारों को कंपनी की सरकार से लाभ प्राप्त हुए थे। इस कारण यह वर्ग अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान हो गया। भारत में अंग्रेजों के शासन के युग में जमींदार हर समय अंग्रेजों का साथ देते रहे। अधिकतर जमींदार अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान बने रहे।

चौथे, बार-बार लगान निर्धारित करने की व्यवस्था समाप्त होने से कृषि में जो स्थिरता आयी उससे कृषि को भी बढ़ावा मिला। बंगाल में अधिक से अधिक भूमि को खेती के योग्य बनाया गया। जंगलों को काटकर नये खेत बनाये गये और नये गाँव बसे। अकाल के समय बंगाल की जनसंख्या घट जाने से उस समय खेती करने के लिए उचित संख्या में किसान नहीं थे। धीरे-धीरे यह स्थिति बिलकुल बदल गयी और किसानों के लिए भूमि की कमी पड़ने लगी।

पाँचवें, यह भी कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था से कंपनी का प्रशासन सुधरा। कंपनी के अधिकारी किसानों से सीधे किसी प्रकार का लगान का प्रबंध करने में सफल नहीं हुए थे। अब लगान वसूल करने का कार्य जमींदारों को सुपुर्द कर देने के बाद कंपनी के अधिकारियों को प्रशासन की ओर ध्यान देने का अधिक समय मिला।

दोष

इस व्यवस्था का पहला दोष तो यही था कि इसे निराश होकर आरंभ किया गया था।

यह तर्कसंगत नहीं मालूम होता कि कोई सरकार भविष्य में भू-राजस्व बढ़ाने का अधिकार छोड़ दे। परन्तु १७९३ में ऐसा ही किया गया। परिणाम यह हुआ कि अंततः आर्थिक दृष्टि से भी राज्य को नुकसान हुआ। भविष्य में जमींदारों की आमदनी बहुत बढ़ गयी, कृषि का विस्तार भी हुआ पर सरकार कभी भी अपना भू-राजस्व बढ़ा नहीं सकी।

दूसरे, कार्नवालिस ने बंगाल के जमींदारों से ब्रिटेन के जमींदारों के समान कृषि में सुधार करने के लिए अधिक पूँजी लगाने की जो आशा की थी वह पूरी नहीं हुई। बंगाल के जमींदारों ने खेती की दशा सुधारने तथा सिंचाई के साधन जुटाने की ओर ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार गवर्नर जनरल की इच्छा पूरी न हो सकी।

तीसरे, स्थायी व्यवस्था बहुत कठोर साबित हुई। यह हर प्रकार से नियमों पर आधारित थी जिससे कई बार जमींदारों को भी हानि हुई। इस व्यवस्था के आरंभ होने के पूर्व यदि जमींदार लगान जमा नहीं कर पाता था तो उसकी मूल्यवान वस्तुओं की कुड़की करा ली जाती थी अथवा उसे बंदी बना लिया जाता था। कुछ समय के बाद जमींदार को पुनः अधिकार दे दिये जाते थे। किन्तु अब ऐसा नहीं रहा। स्थायी व्यवस्था के अनुसार जो जमींदार ठीक समय पर लगान न जमा कर सके उसकी जमींदारी को बेच दिया जाता था और जमींदारी की भूमि पर उसका स्वामित्व समाप्त कर दिया जाने लगा।

आरम्भिक कुछ वर्षों में बहुत से जमींदार उचित समय पर लगान जमा नहीं कर सके और इस कारण उन्हें अपने पैतृक अधिकार से हाथ धोना पड़ा। उदाहरण के लिए जैसोर जिले के दो जमींदारों को छोड़कर शेष सभी जमींदारों के अधिकार धीरे-धीरे समाप्त कर दिये गये। प्रत्येक क्षेत्र में नये-नये लोगों ने जमींदारी की सम्पत्ति खरीदी। व्यापारी और धनी वर्ग के हाथ में भू-सम्पत्ति का अधिकार आ जाने से बंगाल के गाँवों के सामाजिक संगठन में परिवर्तन हुए।

चौथे, स्थायी व्यवस्था की एक बहुत बड़ी कमजोरी यह थी कि इसके द्वारा किसानों के अधिकार सुरक्षित नहीं रहे। किसान की मेहनत से ही जमींदार धनी हो सकता था और राज्य की आय भी बढ़ सकती थी। लेकिन व्यवस्था करते समय उसकी स्थिति को और भी कमजोर बना दिया गया। जमींदार को भू-राजस्व वसूल करने के सम्बन्ध में जो अधिकार मिले थे उनसे वह किसानों से अधिक से अधिक धन की माँग करने लगा। विशेष रूप से कुछ दशकों के बाद जब अधिक लोग खेती करने के योग्य भूमि के लिए लालायित हुए तो जमींदार किसान से ज्यादा-से-ज्यादा भू-राजस्व की माँग करने लगा। जमींदार की माँग को यदि किसान पूरा नहीं कर पाता था तो उसे बेदखल कर दिया जाता था। जमींदार समय-समय पर अपनी माँग को बढ़ाता रहा लेकिन राज्य को जमा करने की उसकी रकम स्थायी रही। इस प्रकार बाद में कृषि के विस्तार का लाभ जमींदारों को मिला। कार्नवालिस ने आशा की थी कि जमींदार द्वारा जो 'पट्टा' किसानों को दिया जायेगा उससे किसानों की स्थिति सुधर सकेगी किन्तु वास्तव में ऐसा कुछ नहीं हुआ। किसानों को प्रार्थना करने का एक ही स्थान था – न्यायालय। समय-समय पर किसानों ने जमींदारों के अत्याचारों के खिलाफ अपीलें कीं। लेकिन नयी न्याय-व्यवस्था भी उनकी रक्षा न कर सकी। यह न्याय-व्यवस्था बहुत खर्चीली थी और जमींदारों के मुकाबले में

किसान कचेहरियों से न्याय नहीं पा सकता था। इससे भी अधिक कठिनाई यह सामने आयी कि न्याय में बहुत विलम्ब होता था। किसान कुछ वर्षों में ही तबाह हो जाता था और जमींदार के आगे घुटने टेक देता था। कार्नवालिस ने आशा की थी कि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर सरकार किसानों के हित में नये कानून बनायेगी। उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाल के इतिहास से स्पष्ट है कि जमींदार इन नियमों की अवहेलना करते रहे।

इस स्थायी व्यवस्था का पाँचवाँ दोष यह था कि गाँवों के सामाजिक संगठन की दृष्टि से भी यह व्यवस्था दोषपूर्ण सिद्ध हुई। सबल और शक्तिशाली जमींदार को तो संपत्ति का अधिकार दे दिया गया तथा लगान वसूली के असीमित अधिकार दे दिये गये परन्तु निर्बल और कमजोर किसान वर्ग के कष्टों के निवारण की कोशिश नहीं की गयी। धनी और शक्तिशाली वर्ग करीब डेढ़ सौ वर्षों तक मनमानी करता रहा और सरकार किसानों के हितों की उपेक्षा करती रही। गाँवों की व्यवस्था में केवल जमींदारों का बोलबाला होने से अन्य वर्ग बहुत कमजोर रह गये।

यह कहना उचित ही जान पड़ता है कि कार्नवालिस ने उन कार्यों को पूरा किया जिनकी शुरुआत वारेन हेस्टिंग्स के कार्यकाल में हुई थी। कार्नवालिस ने कंपनी के प्रशासन को जो नया स्वरूप प्रदान किया, उसकी आधारशिला वारेन हेस्टिंग्स के समय में रखी गयी थी। कार्नवालिस ने न्याय-व्यवस्था और पुलिस प्रशासन में सुधार करके प्रशासनिक व्यवस्था को नया स्वरूप देने के वारेन हेस्टिंग्स के कार्य में योगदान किया। भूमि-व्यवस्था में सुधार करते समय भी गवर्नर जनरल ने पूर्ववर्ती प्रयोगों में गहरी दिलचस्पी दिखायी थी। एक लंबे समय तक उसकी अवस्थाओं और सुधारों को 'कार्नवालिस व्यवस्था' के रूप में स्मरण रखा गया। इससे जाहिर है कि भारत में कंपनी के प्रशासनिक स्वरूप को सुधारने में उसके कार्य को उचित ढंग से सराहा गया। लेकिन यहाँ यह भी याद रखना होगा कि उसकी व्यवस्था से भारतीयों को अलग रखा गया था। ए. एसपिनाल खुद स्वीकार करता है कि इससे 'कंपनी के अधीन लोगों की चारित्रिक उन्नति होने के बजाय उनका पतन हुआ।' कम से कम एक पीढ़ी तक अंग्रेज यह समझ सके कि इस प्रकार की प्रणाली कठोर और अनुदार थी। सुधार करते समय उसने भारतीयों की जिस प्रकार उपेक्षा की उससे यह जाना जा सकता था कि वह संकुचित नजरिये से कार्य कर रहा था।

●●●

सातवाँ अध्याय

हैदर अली और टीपू सुल्तान से अंग्रेजों का संघर्ष

अठारहवीं सदी के दौरान भारत में राजनीतिक अस्थिरता दिखायी दे रही थी। मुगलों, मराठों और यूरोपीय शक्तियों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष इस सदी के मध्य से जब तीव्र हो उठा तो देश के अलग-अलग क्षेत्रों में अव्यवस्था भी बढ़ी। मुगलों की ताकत लगातार घटती गयी, मराठों का उत्कर्ष पराकाष्ठा की ओर था और यूरोपीय ताकतें अपने पैर जमा रही थीं। ऐसे युग में साहसी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्तियों को सत्ता हथियाने का मौका मिला। देश में राजसत्ता का अधिकार जिन लोगों के हाथ में आया उनमें हैदर अली प्रमुख था। उसने १७६१ में मैसूर राज्य में सत्ता स्थापित की। दक्षिण में जिस राजनीतिक शक्ति का उदय इस समय हुआ उसने अठारहवीं सदी के अंत तक भारत के इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अंग्रेजों से डटकर लोहा लेने वाले राज्यों में मैसूर राज्य का नाम प्रमुख है।

पूर्वी और पश्चिमी घाट दक्षिण के सुदूर भाग में जहाँ मिलते हैं वहाँ मैसूर का छोटा सा राज्य था। सामान्य परिस्थितियों में यह राज्य शायद शक्तिसंघर्ष को प्रभावित न करता। मुगलों और मराठों के बीच होने वाले संघर्ष से यह राज्य बहुत दूर था। फिर भी इस राज्य के लिए कठिनाइयाँ बनी हुई थीं। निजाम और मराठे अपने प्रभाव को दक्षिण के क्षेत्रों में बढ़ाने की कोशिश कर रहे थे। इनके प्रभाव से मुक्त होकर मैसूर अलग न रह सका। यह राज्य पहले विजयनगर राज्य का एक भाग था। उसके नष्ट हो जाने पर वादयार वंश के राजाओं ने लंबे समय तक मैसूर पर शासन किया। लेकिन १७५० के आसपास तक मैसूर का राजा कमजोर हो चुका था और वहाँ का शासन देवराज और नंजराज नामक दो भाइयों के हाथों में था। इन दोनों मंत्रियों के समय में ही मैसूर में एक अन्य सैनिक अधिकारी, हैदर अली, का प्रभाव बढ़ता गया और अंततः १७६१ में उसने सेना की सहायता से शासन स्वयं सँभाल लिया। इस राजनीतिक क्रांति के फलस्वरूप हैदर अली मैसूर का शासक बन बैठा।

हैदर अली का जन्म १७२१ में डोलबालपुर के किले में हुआ था। उसका पिता फतेह मोहम्मद इसी किले का मुख्य अधिकारी था। लेकिन कुछ वर्षों बाद फतेह मोहम्मद युद्ध में मारा गया। कठिन परिस्थितियों में हैदर अली के परिवार को मैसूर राज्य में शरण लेनी पड़ी। यहीं पर एक सैनिक के रूप में हैदर अली नंजराज की सेना में भर्ती हो गया। नंजराज उसके गुणों से प्रभावित हुआ और सेना में एक के बाद दूसरे उच्च पदों पर हैदर की नियुक्ति की गयी। कई युद्धों में उसने साहस और योग्यता का परिचय किया। १७५५ में हैदर अली डिंडीगल का फौजदार बना। दक्षिण में हो रहे युद्धों से उसने जहाँ एक ओर अनुभव प्राप्त किया वहीं दूसरी ओर उसने धन भी जमा कराना शुरू कर दिया। धीरे-धीरे उसने अपनी सेना की संख्या को बढ़ाना आरंभ कर दिया।

हैदर अली मैसूर राज्य की राजधानी श्री रंगपट्टम आ गया। १७५८ में जब मराठों ने मैसूर राज्य पर हमला किया तो राज्य की रक्षा करने में हैदर अली ने प्रमुख भूमिका निभायी। हैदर अली मैसूर सेना का सबसे प्रभावशाली सैनिक अधिकारी हो गया। इसी समय राज्य की राजनीतिक स्थिति डावाँ-डोल हो रही थी और मंत्रियों में संघर्ष बढ़ रहा था। हैदर ने अवसर का लाभ उठाकर शासन की बागडोर खुद सँभाल ली। सेना की सहायता से वह मैसूर का शासक बन बैठा। १७६१ से १७९९ तक हैदर अली और उसके पुत्र टीपू सुल्तान ने मैसूर का शासन किया, राज्य-विस्तार किया और मैसूर को शक्तिशाली बनाया। सत्ता के संघर्ष के लिए मैसूर तथा अंग्रेजों के बीच चार युद्ध हुए जिनकी चर्चा हम आगे चलकर कर रहे हैं।

हैदर अली द्वारा मैसूर राज्य का विस्तार

सैन्य बल के सहारे हैदर अली ने मैसूर राज्य पर अधिकार जमाया था। इसी सेना की शक्ति के द्वारा उसने मैसूर राज्य को शक्तिशाली बनाना शुरू कर दिया। परिस्थितियाँ उसके पक्ष में थीं। पानीपत के युद्ध में पराजित हो जाने के बाद मराठों को कुछ समय भावी नीति पर विचार करने में लगा। हैदराबाद का निजाम कमजोर था। ईस्ट इंडिया कंपनी अभी तक दक्षिण भारत की प्रमुख शक्ति नहीं बन पायी थी। ऐसी स्थिति में हैदर अली ने मैसूर राज्य का विस्तार करना आरंभ कर दिया। १७६१ से १७६७ के बीच उसने कई निकटवर्ती क्षेत्र मैसूर राज्य में मिला लिये। इस अवधि में हैदर की मुख्य सफलता थी नायकवंश को समाप्त करके बेदनूर पर अधिकार करना। उसने मंगलौर पर भी कब्जा कर लिया। मालाबार का क्षेत्र भी हैदर के अधिकार में आ गया। दक्षिण कनारा और कालीकट मैसूर राज्य के अधिकार में आ गये। कोचीन और पालघाट के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इस प्रकार दक्षिण और पश्चिम के क्षेत्रों में उसने सीमा-विस्तार किया। अरब सागर के समुद्र-तट के बड़े भाग पर हैदर का अधिकार हो गया।

हैदर अली और अंग्रेजों के सम्बन्ध-तत्त्कालीन परिस्थितियाँ

अब हमें यह विचार करना है कि हैदर अली और ईस्ट इंडिया कंपनी के संबंधों को प्रभावित करने वाली परिस्थितियाँ किस प्रकार की थीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हम इन दोनों पक्षों में हुए संघर्ष के कारणों पर विचार कर सकते हैं।

मैसूर की भौगोलिक स्थिति कुछ इस प्रकार की थी कि दक्षिण की सभी ताकतों ने उसकी स्वतंत्र सत्ता को बनाये रखने में ही अपना हित समझा। मद्रास स्थित कंपनी की सरकार यह नहीं चाहती थी कि मैसूर पर अधिकार करके मराठे उसके नजदीक पहुँच जायें। इसी प्रकार से मराठों का हित भी इसी में था कि अंग्रेजों का प्रभाव समुद्र-तट के क्षेत्र तक ही बना रहे और वे अंदर के इलाकों में प्रवेश न कर सकें। निजाम भी इसी में अपना हित समझता था कि मराठों अथवा अंग्रेजों में से कोई भी मैसूर पर हावी न हो सके। भौगोलिक स्थिति का लाभ उठाकर हैदर अली ने दक्षिण के प्रभावशाली राज्यों की आशंकाओं से फायदा उठा सका। कूटनीति हैदर अली की सफलता का प्रमुख अस्त्र था।

हैदर अली को मराठों से भय बना रहा। समय-समय पर वे उसके राज्य की ओर सेना लेकर आ जाते थे और उसे सीमा-सुरक्षा के लिए चौकसी रखनी पड़ती थी। मराठों से राज्य की रक्षा करने के लिए हैदर अली ने अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करने का इरादा किया। वह अंग्रेजों से सुरक्षात्मक संधि करने को तैयार था।

हैदर अली आरंभ से कर्नाटक राज्य पर दाँत गड़ाये था। वह आसानी से कर्नाटक के कुछ भाग पर अधिकार भी कर सकता था क्योंकि कर्नाटक का नवाब अपनी रक्षा नहीं कर सकता था। लेकिन नवाब और अंग्रेजों के गहरे संबंध थे और कंपनी हर समय कनार्टक की रक्षा करने को तैयार थी।

मैसूर राज्य और अंग्रेजों के अधीन दक्षिण के क्षेत्रों की सीमाएँ एक दूसरे से मिलती थीं। इन सीमाओं के अस्पष्ट होने के कारण अंग्रेजों और हैदर अली के बीच संघर्ष की संभावना हमेशा बनी रहती थी। सीमा संबंधी विवादों ने इन दोनों पक्षों के बीच के मामलों को और भी जटिल बना दिया।

हैदर अली और फ्रांसीसियों के बीच संबंध आरम्भ से ही अच्छे थे। इस कारण भी मद्रास की सरकार आशंकित बनी रही। इसके अलावा हैदर अली के साहस और योग्यता से भी मद्रास की सरकार सहमी रही।

प्रथम मैसूर युद्ध (१७६७-६९)

इन परिस्थितियों से यह अंदाज लगाया जा सकता है कि हैदर अली और अंग्रेजों के बीच कभी भी संघर्ष की नौबत आ सकती थी। यह संघर्ष १७६७ में शुरू हो गया।

प्रथम मैसूर युद्ध का मूल कारण था दक्षिण में प्रभावशाली भूमिका निभाने की अंग्रेजों की इच्छा। अंग्रेज दक्षिण में अपनी सत्ता जमाने की कोशिश करने लगे थे। १७६५ में शाहआलम से संधि करते समय क्लाइव ने मद्रास के उत्तर में स्थित उत्तरी सरकार के जिलों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। वास्तव में ये जिले निजाम के अधिकार में थे जिन्हें उसने फ्रांसीसियों को सौंप दिया था। फ्रांसीसियों की पराजय के बाद अंग्रेजों ने इन जिलों पर अधिकार कर लिया और मुगल सम्राट् से संधि करके क्लाइव ने अधिकार की वैधता की घोषणा की। उत्तरी सरकार के जिलों पर अंग्रेजों का कब्जा पूरी तरह से स्थापित हो जाने पर उन्होंने दक्षिण की राजनीति में और अधिक रुचि लेना आरंभ कर दिया। अंग्रेजों की इसी नीति के कारण पहला मैसूर युद्ध हुआ।

युद्ध आरंभ करने के पहले अंग्रेजों ने हैदराबाद के निजाम और मराठों से संधियाँ करके दक्षिण भारत में हैदर अली के विरुद्ध एक गुट खड़ा कर दिया। सबसे पहले अंग्रेजों ने हैदराबाद के शासक निजाम अली को अपनी ओर मिला लिया। उत्तरी सरकार के जिलों पर जिस तरीके से अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था उससे निजाम असंतुष्ट था। अतः अंग्रेजों ने निजाम से बातचीत शुरू की। निजाम अंग्रेजों से संधि करने के लिए राजी हो गया। अंग्रेजों ने उसे यह आश्वासन दिया कि भविष्य में आवश्यकता पड़ने पर कंपनी की सेना निजाम की रक्षा करने

के लिए सहायता करेगी। इस संधि से जाहिर है कि अंग्रेज अपनी ताकत के सहारे दक्षिण के राज्यों में प्रभाव वढ़ाने की कोशिश कर रहे थे। इसी समय निजाम हैदर अली के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता करने के लिए भी तैयार हो गया। दक्षिण की राजनीति उस समय और भी पेचीदी बन गयी जब मराठे भी हैदर अली के विरुद्ध बने इस गुट में शामिल हो गये। यहाँ यह सवाल उठता है कि ये तीनों शक्तियाँ किस प्रकार एकजुट होकर युद्ध करने को राजी हो गयीं। अंग्रेजों का उद्देश्य था युद्ध से लाभ उठाना और दक्षिण भारत में प्रमुख शक्ति बनना। इसी प्रकार दोनों भारतीय राज्य भी अपने-अपने हितों के अनुसार एक साथ मिल गये थे।

स्पष्ट है कि कंपनी और हैदर अली के बीच संघर्ष होने का कोई समुचित कारण न होते हुए भी अंग्रेजों की महत्त्वाकांक्षा के कारण युद्ध आरम्भ हो गया।

हैदर अली ने इस कठिन परिस्थिति में जिस धैर्य से काम किया उसी से यह अनुमान लग जाता है कि एक कुशल सेनानायक के अलावा चतुर राजनीतिज्ञ के गुण भी उसमें मौजूद थे। हैदर ने देखा कि दक्षिण की तीन प्रबल शक्तियाँ अचानक उसके विरुद्ध संगठित हो गयी थीं जिनका मुकाबला वह सेना द्वारा नहीं कर सकता था। उसने ठंडे दिमाग से परिस्थिति का विवेचन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि दोनों भारतीय राज्यों के उसके विरुद्ध हो जाने का कोई भी अनिवार्य कारण नहीं था। हैदर ने तुरन्त कूटनीति का जवाब कूटनीति से देना तय किया।

बिगड़ती हुई स्थिति पर उसने शीघ्र ही कावू पा लिया। हैदर अली ने सबसे पहले मराठों से संपर्क स्थापित किया। वह उनको धन देने पर राजी हो गया। मराठे कुछ समय बाद मैसूर युद्ध से अलग हो गये। हैदर के विरुद्ध बनाया गया गुट कमजोर पड़ा।

अगस्त, १७६७ में हैदर अली की सेनाओं और ब्रिटिश सेना के बीच कई स्थानों पर मुठभेड़ें हुईं। युद्ध शुरू होने पर निजाम और ब्रिटिश सेनाओं ने मिलकर हैदर पर हमला किया। इन सेनाओं को सफलता भी मिली। निजाम और कंपनी की सेनाएँ हैदर अली के राज्य के अंदर घुसती गयीं। लेकिन कुछ ही महीनों बाद हैदर और निजाम के बीच समझौता हो जाने से स्थिति बिल्कुल बदल गयी। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि निजाम हैदर को मदद तक देने को राजी हो गया। इस संधि से मैसूर युद्ध का स्वरूप ही बदल गया। मराठे और निजाम दोनों ही युद्ध से अलग हो गये थे। उनके साथ छोड़ जाने से ब्रिटिश सेनाओं को केवल अपने ही बलबूते पर हैदर से युद्ध करना पड़ा। अब राजनीतिक स्थिति मैसूर के सुल्तान के पक्ष में थी। निजाम के रुख से यह भी प्रकट होता है कि अंग्रेजों ने दक्षिण भारत की अस्थिर राजनीति की पेचीदगियों को समझे बिना ही पहला मैसूर युद्ध शुरू कर दिया था। वे अपने जाल में खुद ही फँसते चले गये।

ब्रिटिश सेनाएँ बंबई और मद्रास दोनों ओर से मैसूर राज्य की ओर बढ़ीं। उत्तरी अर्काट के निकट चाँगमा पर मैसूर की सेनाओं और ब्रिटिश सेनाओं में युद्ध हुआ जिसमें दोनों पक्षों को क्षति उठानी पड़ी। अंबूर में भी हैदर अली को सफलता न मिल सकी। पश्चिमी किनारे पर स्थित मंगलौर भी बंबई से आती हुई ब्रिटिश सेना के कब्जे में आ गया था। पर हैदर ने युद्ध

जारी रखा। उसे कुछ महीनों में सफलताएँ भी मिलीं। नवंबर, १७६८ में वह बारामहल की ओर आगे बढ़ने में सफल हो गया। करूर उसके कब्जे में आ गया। कनार्टक क्षेत्र पर उसका दवाव बढ़ता गया। वह अपनी स्थिति मजबूत करता गया। उसने अचानक अपने घुड़सवारों को लेकर मद्रास पर हमला कर दिया। कर्नाटक क्षेत्र को पार करती हुई जब उसकी सेनाएँ मद्रास के निकट पहुँच गयीं तो अंग्रेजों को संधि का प्रस्ताव करने पर मजबूर होना पड़ा।

प्रथम मैसूर युद्ध की समाप्ति जिस संधि से हुई उसके लिए मद्रास-स्थित कंपनी की सरकार को प्रार्थना करनी पड़ी थी। इस समय हैदर अली की सेनाएँ मद्रास के निकट डटी हुई थीं और वह संधि की शर्तों के लिए मद्रास सरकार पर दबाव डाल सकता था। लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। हैदर अली अंग्रेजों की शक्ति से परिचित था और संधि करते समय उसकी इच्छा थी अंग्रेजों से मित्रता करके मैसूर राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था करना। इस संधि द्वारा अंग्रेजों ने हैदर अली को आश्वासन दिया कि भविष्य में जब भी मैसूर पर कोई आक्रमण होगा तो वे उसकी मदद करेंगे। इस संधि द्वारा दोनों पक्षों के बीच रक्षात्मक समझौता हुआ। संधि की शर्तों से साफ जाहिर होता है कि प्रथम मैसूर युद्ध की समाप्ति पर हैदर अली ने अंग्रेजों से मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित करने की कोशिश की थी।

पहले मैसूर युद्ध से अंग्रेजों को किसी प्रकार के लाभ न मिले। उन्होंने जितने युद्ध लड़े उनमें से यह युद्ध उनके लिए सबसे अधिक लज्जाजनक था। इस युद्ध से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को भारी धक्का लगा। कई इतिहासकारों ने इस युद्ध के लिए विशेष रूप से मद्रास के गवर्नर की आलोचना की है। उनका कहना है कि इस युद्ध को शुरू करना उसकी भूल थी।

१७६९ से १७७७ की अवधि में मैसूर की समस्याएँ

मद्रास की संधि करते समय हैदर ने मैसूर राज्य की सुरक्षा का ध्यान रखा था। वह भली प्रकार से समझता था कि मराठे किसी भी समय उसके राज्य पर हमला कर सकते थे। शीघ्र ही जनवरी, १७७० में हैदर अली के लिए संकट के काले बादल दिखायी देने लगे। पेशवा माधवराव ने अचानक मैसूर पर चढ़ाई कर दी। पेशवा स्वयं सेना की गतिविधियों का निरीक्षण कर रहा था। हैदर अली ने संधि की शर्तों के अनुसार मद्रास सरकार से सहायता की माँग की। मराठों और मैसूर की सेनाओं के बीच युद्ध करीब दो वर्षों तक चलता रहा। लेकिन अंग्रेजों ने कभी भी हैदर की मदद करने का अपना वचन पूरा नहीं किया। हैदर अली ने किसी न किसी प्रकार मराठों का मुकाबला तो किया पर अंग्रेजों के रुख से उसको गहरा आघात लगा। उसका अंग्रेजों पर से विश्वास उठ गया। यह भी कहा जा सकता है कि मैसूर का सुल्तान अंग्रेजों का विरोधी बन गया। मौका मिलते ही वह अंग्रेजों को सबक सिखाने का पक्का इरादा कर चुका था। मराठों की वापसी के बाद हैदर अली दक्षिण के प्रदेश की ओर मुड़ा। १७७२-७३ में उसने कुर्ग पर अधिकार कर लिया और मालाबार में अपनी स्थिति को मजबूत किया।

दूसरा मैसूर युद्ध

आरंभ में ही हम अंग्रेजों और हैदर के बीच हुए दूसरे युद्ध के कारणों पर विचार करेंगे। पहले कारण का जिक्र हम ऊपर कर चुके हैं। मद्रास की संधि की शर्तों के अनुसार जब अंग्रेजों

ने मैसूर के सुल्तान की मदद न की तो वह क्षुब्ध हुआ और उसने यह गाँठ बाँध ली कि अंग्रेजों को वह भी सवक सिखायेगा। धीरे-धीरे अन्य कारणों से दोनों के बीच दरार और भी चौड़ी होती गयी। संबंधों के विगड़ने का दूसरा प्रधान कारण था ब्रिटिश सेना द्वारा माहे पर अधिकार। माहे अरब सागर के किनारे पर स्थित एक ऐसा बंदरगाह था जो फ्रांसीसियों के अधिकार में था। यूरोप में फ्रांस और ब्रिटेन के बीच युद्ध आरंभ हो जाने पर गवर्नर जनरल ने फ्रांस द्वारा अधिकृत क्षेत्रों पर कब्जा कर लेने का निश्चय किया। इसी निर्णय के अनुसार ब्रिटिश जहाजी बेड़े ने माहे बंदरगाह पर अधिकार कर लिया। मार्च, १७७६ में अंग्रेजों द्वारा उठाये गये इस कदम से हैदर अली की परेशानी बढ़ी क्योंकि मालाबार के समुद्री किनारे के आसपास के इलाके पर उसका अधिकार था। माहे पर अंग्रेजों के पैर जमने से कभी भी हैदर अली के लिए खतरा उत्पन्न हो सकता था। हैदर की परेशानी का एक कारण यह भी था कि माहे से ही मैसूर की सेना के लिए आवश्यक सामग्री आती थी। भविष्य में उसकी कठिनाइयाँ बढ़ सकती थीं। हैदर अली की सेना पश्चिमी ढंग से प्रशिक्षित थी और उसकी दक्षता को बनाये रखने के लिए अस्त्र-शस्त्रों को खरीदना जरूरी था। माहे पर अधिकार करके अंग्रेज उसके लिए जो बाधा उपस्थित कर रहे थे उसे हैदर अली अधिक समय तक स्वीकार नहीं कर सकता था। तीसरा कारण था हैदर और फ्रांसीसियों के संबंध। विशेषतः ब्रिटिश लेखकों ने वार-बार इसकी चर्चा की है। मद्रास सरकार हैदर और फ्रांसीसियों के बीच बढ़ते हुए संबंधों को देखकर चिंतित थी। चौथा कारण था गुंटूर पर अंग्रेजों का कब्जा। ब्रिटिश सरकार ने गुंटूर पर अधिकार जमा कर इस भाग को जब उत्तरी सरकार के जिलों से मिला लिया तो हैदर निराश हुआ। वह स्वयं गुंटूर तक अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का इरादा कर रहा था।

अंग्रेजों और मैसूर राज्य के बीच दूसरा युद्ध छिड़ जाने का अंतिम कारण था दक्षिण की तीन प्रमुख शक्तियों के बीच समझौता होना। नाना फड़नवीस की कोशिशों से १७८० में मराठे, निजाम और हैदर ने एक संगठन बना लिया और यह तय किया कि तीनों शक्तियाँ एकजुट होकर अंग्रेजों का मुकाबल करें। दक्षिण की इस बदलती हुई राजनीति से प्रोत्साहित होकर जुलाई १७८० में हैदर अली तुरंत ही युद्ध में शामिल हो गया।

दूसरे मैसूर युद्ध का आरम्भ होने तक हैदर अली ने सैनिक तैयारियाँ पूरी कर ली थीं। उसकी सेना की संख्या एक लाख तक पहुँच गयी थी। इसके विपरीत अंग्रेजों की शक्ति दक्षिण भारत में काफी कमजोर थी। वह हैदर की सेनाओं का सामना करने की स्थिति में नहीं थी। इस विशाल सेना को लेकर हैदर तेजी से कर्नाटक क्षेत्र में आगे बढ़ने लगा। एक सप्ताह में ही मद्रास से चालीस मील दूर स्थित कांजीवरम पर उसने अधिकार कर लिया। मद्रास सरकार की सेनाएँ उसे रोक नहीं सकीं। हेक्टर मुनरो तथा बेली इन दोनों ब्रिटिश सेनानायकों को सेना लेकर पीछे हटाना पड़ा। अक्टूबर, १७८० तक अर्काट पर भी हैदर अली का अधिकार हो गया था।

मद्रास की सेनाओं की पराजय से यह जाहिर हो गया था कि हैदर अली की शक्ति किस प्रकार बढ़ चुकी थी। इन समाचारों से गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को स्थिति की गंभीरता का अंदाज मिल गया। गवर्नर जनरल ने मद्रास के गवर्नर को उसके पद से हटा दिया और हेक्टर

मुनरो के स्थान पर सेना के संचालन का कार्यभार कूट को सौंपा। कलकत्ता से और अधिक सेना को दक्षिण की ओर रवाना किया गया। गवर्नर जनरल ने सैन्य संगठन को पुनर्गठित करके हैदर अली का मुकाबला करने की तैयारियाँ पूरी कीं।

१७८० से १७८१ के बीच हैदर ने कर्नाटक पर पैर जमा लिये थे। वह धीरे-धीरे इस राज्य के प्रमुख किलों पर अधिकार जमाता जा रहा था। जुलाई १७८१ में हैदर और कूट की सेनाओं में पोर्टो नोवो के स्थान पर जो युद्ध हुआ उसमें ब्रिटिश सेनाओं की विजय हुई। लेकिन इस युद्ध का द्वितीय मैसूर युद्ध पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कूट और हैदर अली की सेनाओं में झड़पों का क्रम चलता रहा। यहाँ यह भी स्मरण रखना होगा कि जिन स्थानों पर हैदर का कब्जा पहले हो चुका था उन स्थानों से कहीं पर भी उसे एक इंच जमीन भी खाली नहीं करनी पड़ी।

दूसरे मैसूर युद्ध को प्रभावित करने वाली घटना इसी बीच मई, १७८२ में घटी। इस समय सालाबाई की संधि की शर्तें तय हो जाने से वह संगठन करीब-करीब समाप्त हो गया जिससे प्रोत्साहित होकर हैदर अली ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष आरंभ किया था। यह सत्य है कि नाना फड़नवीस ने अभी तक इस संधि को स्वीकार नहीं किया था क्योंकि वह हैदर के साथ की गयी संधि की उपेक्षा करके कोई कदम उठाने को तैयार नहीं था। फिर भी यह तो जाहिर था कि वह सालाबाई की संधि का अधिक समय तक विरोध नहीं कर सकता था। अंग्रेजों के विरुद्ध बनाया गया संगठन कारगर साबित न हो सका। इस स्थिति ने मैसूर युद्ध की घटनाओं पर असर डाला। यह भी संभव था कि हैदर अली से संबंधित कुछ शर्तों पर पुनर्विचार किया जाता। लेकिन इसी बीच हैदर अली की अचानक मृत्यु हो जाने से स्थिति बदल गयी। मूल रूप में ही सालाबाई की संधि स्वीकार कर ली गयी और पूना तथा निजाम ने भी इस पर हस्ताक्षर कर दिये। इससे मैसूर के हितों को गहरा धक्का लगा। युद्ध के दौरान हैदर अली के मित्रों ने उसे बीच धार में ही छोड़ दिया।

अर्काट के निकट चित्तूर में दिसम्बर, १७८२ में हैदर अली की मृत्यु पीठ पर हुए दर्दनाक फोड़े से हो गयी। अंग्रेजों और मैसूर सेना के बीच इस समय तक युद्ध चल रहा था। हैदर अली का पुत्र टीपू सुल्तान तुरन्त ही मैसूर का शासक बना और युद्ध का संचालन करता रहा। यह युद्ध मार्च, १७८४ तक चलता रहा तथा करीब चार वर्षों तक जारी रहा। दूसरा मैसूर युद्ध मंगलौर की संधि करके समाप्त किया गया। इस संधि की मुख्य शर्त यही थी कि अंग्रेजों के अधीन क्षेत्रों को उनके सुपुर्द कर दिया जाय। इस लम्बे संघर्ष के फलस्वरूप किसी भी पक्ष को कोई लाभ नहीं हुआ। यथास्थिति को बनाये रखा गया।

हैदर अली की उपलब्धियाँ

हैदर अली ने एक साधारण परिवार में जन्म लेकर मैसूर के शासक का पद केवल अपनी प्रतिभा और योग्यता के बल पर प्राप्त किया। जन्म और परिवार उसकी सफलता में सहायक नहीं हुए। उसके जीवन से जाहिर है कि उसने अपनी सफलता का मार्ग स्वयं खोज निकाला।

हैदर अली ने मैसूर में सत्ता के नये केन्द्र की स्थापना की। परिस्थिति का लाभ उठाकर

वह मैसूर का शासक बन बैठा। धीरे-धीरे राजसत्ता उसके हाथ में केन्द्रित होती गयी। उसने मैसूर राज्य का विस्तार किया और इसे दक्षिण भारत की एक प्रमुख शक्ति बनाया। कुछ वर्षों में ही वह शासन का सुदृढ़ आधार तैयार कर गया था जिससे उसके पुत्र टीपू सुल्तान को पर्याप्त सहायता मिली।

हैदर अली का मुख्य गुण यह था कि वह एक साहसी सेनानायक था। उसने बड़ी कुशलता से मैसूर की सेना को संगठित किया। हैदर अली ने मैसूर की सेना को पश्चिमी ढंग से प्रशिक्षित किया, सेना को आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये तथा उसे युद्ध के लिए सर्वदा तैयार रहने के लिए प्रोत्साहित किया। करीब अस्सी हजार सेना को उसने संगठित कर दिया था जो उसके गुणों को सिद्ध करने का स्पष्ट प्रमाण है। हैदर की सेना की विशेष शक्ति थी उसकी घुड़सवार सेना, जिसकी सहायता से वह तेज गति से विरोधी को कठिनाई में डाल देता था।

हैदर अली में कूटनीतिज्ञ की क्षमता भी थी। उसने पहले मैसूर युद्ध के आरंभ होने पर यह सिद्ध कर दिया कि आवश्यकता पड़ने पर वह कूटनीति की उलझनों पर भी काबू पा सकता था। उसने जिस चतुराई से दक्षिण भारत की राजनीति को अपने पक्ष में कर लिया उसी से वह स्थिति को सँभाल सका। उसने बड़ी सूझ-बूझ से काम लेकर निजाम और मराठों को अपने पक्ष में कर लिया। १७६१ में जब हैदर अली का उत्कर्ष आरंभ हुआ तो दक्षिण की शक्तियाँ उसको पनपने देने का अवसर नहीं देना चाहती थीं। मराठे, निजाम और अंग्रेज सभी ने यह कोशिश की कि हैदर को पैर जमाने का मौका न मिल सके। कहने का आशय यही है कि आरंभ से ही उसे गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा। उसने सफलतापूर्वक मैसूर राज्य के विरोधियों को उत्तर दिया।

एक प्रश्न यह भी उठता है कि क्या हम हैदर अली को अंग्रेजों का जन्मजात विरोधी मान सकते हैं। तथ्यों से ऐसा नहीं लगता कि आरंभ से ही उसने अंग्रेजों के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाया। पहले मैसूर युद्ध के फलस्वरूप मद्रास की संधि करते समय उसने अंग्रेजों की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया था। उसने मैसूर राज्य के हितों का ध्यान रखते हुए अंग्रेजों से सहायता की अपेक्षा की और संधि करके वह आश्वस्त भी हो गया। परन्तु जब अंग्रेजों ने अपना वचन नहीं निभाया तो हैदर अली के रूप में परिवर्तन आया। दूसरे मैसूर युद्ध के समय उसने अन्य राज्यों से मिलकर वारेन हेस्टिंग्स के लिए गंभीर खतरा पैदा कर दिया।

प्रशासनिक व्यवस्था की ओर भी हैदर अली ने समुचित ध्यान दिया। एक विशाल सेना को बनाये रखने के लिए अर्थव्यवस्था एक अनिवार्य आधार थी। सेना के खर्च के लिए राज्य की आय को उसने बढ़ाया, राज्य-विस्तार किया तथा व्यापार को प्रोत्साहन दिया। धर्म को उसने राजनीति से ऊँचा स्थान नहीं दिया। एक शासक की हैसियत से हैदर अली ने हिन्दुओं के साथ किसी भी तरह का भेदभाव नहीं किया। उसने उदार धार्मिक नीति अपनायी।

टीपू सुल्तान का अंग्रेजों से संघर्ष

हैदर अली की मृत्यु के पश्चात् उसका बत्तीस वर्षीय बड़ा बेटा टीपू मैसूर का शासक बना। टीपू के शासक बनने के समय तक मैसूर राज्य का काफी विस्तार हो चुका था। उत्तर

में कृष्णा नदी, दक्षिण में ट्रावनकोर राज्य, पूर्व में पूर्वी घाट तथा पश्चिम में अरब सागर तक इसकी सीमाएँ थीं। ८८,००० सैनिकों की एक विशाल सेना भी उसने तैयार की थी जो उस समय भारतीय राज्यों की सेनाओं से कभी भी मुकाबला करने की स्थिति में थी। राज्य की स्थिति अच्छी थी और टीपू के शासक होने तक एक विशाल धनराशि हैदर इकट्ठा कर गया था।

तत्कालीन दक्षिण की पेंचीदी राजनीति में मैसूर के विरोधी राज्य हैदर अली के उपरान्त कभी भी प्रबल हो सकते थे। मराठे और निजाम दोनों ही मैसूर के कुछ क्षेत्रों पर अपना दावा करते थे और अंग्रेजों को इस प्रकार हस्तक्षेप का कभी भी अवसर मिल सकता था। टीपू को दो रास्तों में से एक को चुनना था। या तो वह कुछ समय तक शांत रहता और अन्य राज्यों के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित करके क्षेत्रीय अधिकार की समस्या को सुलझाने की कोशिश करता अथवा विस्तारवादी नीति अपनाकर विरोधियों को ललकारता। उसने दूसरी तरह की नीति अपनायी। वह अपने पिता द्वारा प्राप्त राज्य की सीमाओं के विस्तार में आरंभ से ही लग गया। सेना की शक्ति ने उसकी महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहित किया। वह स्वयं कुशल सेनानायक था और इस कारण युद्ध से डरने वाला नहीं था।

मंगलौर की संधि के एक वर्ष बाद ही १७८५ में उसने नारगुंड और कित्तूर पर आक्रमण करके इन दोनों राज्यों पर अधिकार कर लिया। नाना फड़नवीस टीपू के इस अधिकार को सहन नहीं कर सकता था क्योंकि इस प्रकार मराठा राज्य की ओर मैसूर की शक्ति संगठित हो रही थी। नाना फड़नवीस ने तुरन्त युद्ध करने का निश्चय किया और निजाम से भी समझौता कर लिया। दोनों की सेनाओं ने मिलकर मैसूर की उत्तरी सीमाओं की ओर बढ़ने की कोशिश की। यह युद्ध १७८७ तक चलता रहा और अन्त में सीमा के सम्बन्ध में संधि करके युद्ध को रोक दिया गया।

तृतीय मैसूर युद्ध

कार्नवालिस की विस्तारवादी नीति के कारण तीसरा मैसूर युद्ध हुआ। गवर्नर जनरल ने देखा कि अंग्रेजों की प्रभुत्ता को दक्षिण में स्थापित करने का यह एक अच्छा अवसर था जबकि मराठे और निजाम मैसूर की ताकत को दबाना चाहते थे। परिस्थिति का उपयोग करके गवर्नर जनरल ने इन दोनों शक्तियों से सम्पर्क स्थापित किया। किन्तु कोई निश्चित कदम उठाने के पूर्व वह ऐसी घटना की प्रतीक्षा कर रहा था जिससे इस योजना को पूरा कर सके।

यह अवसर कार्नवालिस को मैसूर और ट्रावनकोर राज्यों के बीच हुए विवाद से मिला। मैसूर के दक्षिण में ट्रावनकोर का राज्य था। यहाँ के राजा राम वर्मा ने ट्रावनकोर की रक्षा की दृष्टि से अंग्रेजों से संबंध स्थापित किया था तथा ट्रावनकोर की सीमा पर ब्रिटिश सेना तैनात करने को राजी हो गया था। टीपू ने ट्रावनकोर के राजा की नीति से नाराज होकर दिसम्बर १७८९ में ट्रावनकोर पर आक्रमण कर दिया। कार्नवालिस के ट्रावनकोर पर आक्रमण को अंग्रेजों को एक चुनौती माना क्योंकि उसका कहना था कि अंग्रेजों के एक मित्र पर हमला अंग्रेजों पर हमला है। इस प्रकार ट्रावनकोर राज्य के प्रश्न को लेकर तीसरा युद्ध आरंभ हो गया।

युद्ध आरंभ करने के पूर्व कार्नवालिस से दक्षिण की राजनीति को अपने पक्ष में कर लिया

था। मई, १७९० में मैसूर युद्ध आरंभ करने के पहले अंग्रेजों, मराठों और निजाम ने आपस में टीपू के विरोध में संधि कर ली। इस संधि द्वारा यह निश्चय किया गया कि मराठे और निजाम अलग-अलग २५,००० सेना के साथ मैसूर की उत्तरी सीमा पर आक्रमण करेंगे। टीपू के विरुद्ध इस गुट के वन जाने से मैसूर राज्य की जहाँ एक ओर कठिनाइयाँ बढ़ गयीं वहाँ दूसरी ओर अंग्रेजों की शक्ति बढ़ी। इस गुट का निर्माण तथा युद्ध के दौरान इसकी सक्रियता टीपू की कूटनीतिक पराजय थी, जिसकी उसे भारी कीमत अदा करनी पड़ी।

१७९० के युद्ध में घटनाएँ टीपू के पक्ष में रहीं। अंग्रेजी सेना युद्ध में कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकी। टीपू कर्नाटक की ओर बढ़ आया और तीरुवन्नमलाई को उसने अपने अधिकार में ले लिया।

१७९१ में कार्नवालिस ने स्वयं मद्रास पहुँचकर सेनापति का पद सँभाला। इससे अंग्रेजी सेना का उत्साह बढ़ा और मराठे तथा निजाम ने भी तत्परता से सैनिक सहायता दी। शीघ्र ही टीपू की कठिनाइयाँ बढ़ने लगीं।

कार्नवालिस ने वड़े गुप्त तरीके से वंगलौर की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया और घमासान युद्ध के बाद बंगलौर पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। इसके बाद गवर्नर जनरल ने बरामहल के किलों पर भी अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् कार्नवालिस की सेनाएँ तथा बम्बई से आयी सेना मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टम तक पहुँच गयीं। यहाँ पर टीपू ने अंग्रेजों की शर्तों को स्वीकार करके संधि कर ली। फरवरी, १७९२ की इस संधि को श्रीरंगपट्टम की संधि कहते हैं।

इस संधि के द्वारा यह तय किया गया कि मैसूर राज्य के आधे भाग पर टीपू का अधिकार समाप्त हो और इस भाग को मराठे, निजाम और अंग्रेज आपस में बाँट लें। टीपू को तीन करोड़ तीस लाख रुपये की बड़ी रकम भी एक वर्ष में देने के लिए राजी होना पड़ा। जब तक यह धन टीपू अदा नहीं कर देता उसके दो बड़े पुत्रों को अंग्रेजों ने अपने अधिकार में रखा।

तृतीय मैसूर युद्ध में टीपू की पराजय से उसे भारी क्षति हुई। संधि के बाद उसकी शक्ति बहुत घट गयी थी। इस कारण इतिहासकारों का मत है कि टीपू के पतन का समय निकट आ गया था। राज्य के आधे भाग के हाथ से निकल जाने से मैसूर की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गयी। वड़ी धनराशि अदा करने से भी टीपू की कठिनाइयाँ बढ़ीं। अब वह एक विशाल सेना को बनाये रखने की स्थिति में नहीं था। इस कारण उसे सेना की संख्या घटानी पड़ी।

इस युद्ध के विषय में कार्नवालिस ने अपनी नीति स्पष्ट करते हुए लिखा था – 'हमने अपने मित्रों को ताकतवर बनाये बिना ही अपने दुश्मन को कमजोर बना दिया है।' कार्नवालिस ने संधि करते समय यह ध्यान रखा था कि निजाम और मराठे बहुत ताकतवर न बन जायें। कार्नवालिस का उद्देश्य था इनकी सहायता से टीपू को कमजोर बनाना। इसमें वह सफल रहा। ट्रावनकोर के राजा का पक्ष लेकर युद्ध आरंभ किया गया था लेकिन संधि करते समय उसका कहीं नाम नहीं लिया गया।

चौथा मैसूर युद्ध

मई, १७९८ में जब वेलेज्ली गवर्नर जनरल बनकर आया तो आरंभ से ही उसने सीमा-विस्तार की नीति अपनायी। सहायक संधि के सिद्धान्त द्वारा निजाम को उसने अपने पक्ष में कर लिया। मराठों से भी उसने बातचीत की और यह अनुमान लगा लिया कि टीपू के खिलाफ अगर अंग्रेज कोई कार्यवाही करेंगे तो मराठे या तो उनका साथ देंगे अथवा तटस्थ रहेंगे। परिस्थिति इस प्रकार अंग्रेजों के अनुकूल थी।

टीपू के विरुद्ध गवर्नर जनरल ने यह आरोप लगाया कि वह फ्रांसीसियों से सहायता माँगकर अंग्रेजों के विरोध में शक्ति-संगठन की योजना बना रहा था। किन्तु यह टीपू की शक्ति कुचलने का एक बहाना मात्र था। यह बहुत कुछ सत्य है कि मैसूर के फ्रांसीसियों से संबंध थे। इसके भी प्रमाण थे कि टीपू ने नैपोलियन से संपर्क स्थापित करने का प्रयास किया तथा मारीशस के गवर्नर के पास उसके प्रतिनिधि गये थे। किन्तु अपने लम्बे अनुभव से टीपू यह भली-भाँति जानता था कि अधिक से अधिक उसे कुछ फ्रांसीसी सैनिकों को नौकर रखने की सुविधा मिल सकती थी। फ्रांसीसी सैनिकों की संख्या इस समय भी मैसूर सेना में २०० से अधिक नहीं थी। नैपोलियन अपनी ही समस्याओं में फँसा हुआ था और किसी प्रकार की सैनिक सहायता देने की स्थिति में नहीं था। इन तथ्यों को वेलेज्ली भी जानता था और अंग्रेजों को अपनी सुदृढ़ स्थिति पर भरोसा था। किन्तु टीपू को पत्र लिखकर गवर्नर जनरल ने फ्रांस के साथ संबंध रखने पर आपत्ति की। उसके उत्तर से संतुष्ट न होकर टीपू से सहायक संधि की शर्तें मानने को कहा गया और जब टीपू ने मैसूर के साथ किसी नयी संधि की आवश्यकता के लिए आपत्ति की तो मद्रास में बैठा हुआ वेलेज्ली और अधिक प्रतीक्षा न कर सका।

अंग्रेजी सेना पूरी तैयारी के साथ गवर्नर जनरल की आज्ञा की प्रतीक्षा कर रही थी। हुक्म मिलते ही फौज ने मार्च, १७९९ में मैसूर पर आक्रमण कर दिया। बम्बई की सेना ने भी पश्चिमी सीमा की ओर से अपने कदम बढ़ाये। आरंभ में सेना बिना किसी विरोध के आगे बढ़ती गयी। संभवतः टीपू अभी भी किसी प्रकार के राजनीतिक समाधान की आशा लगाये हुए था।

अंग्रेजों की विशाल और सुसज्जित सेना के सामने मैसूर सेना कमजोर थी। लेकिन टीपू ने श्रीरंगपट्टम में जमकर संघर्ष किया। एक साधारण सैनिक की तरह स्वयं उसने किले की रक्षा के लिए आगे बढ़कर युद्ध में भाग लिया और एक वीर सैनिक की तरह किले की रक्षा करते हुए उसकी मृत्यु हुई। कंपनी के प्रभुत्व को स्वीकार करने के बजाय राज्य की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए वह बलिदान हो गया। दो महीने के युद्ध में ही अंग्रेजों ने मैसूर पर अधिकार कर लिया।

पूरे मैसूर राज्य को इस समय ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जा सकता था किन्तु वेलेज्ली ने ऐसा नहीं किया क्योंकि दक्षिण के अन्य राज्यों को इससे धक्का लगता। मैसूर के मध्य भाग को वाडयार वंश के प्रतिनिधियों के अधिकार में देकर छोटे मैसूर राज्य को बनाये रखने का निर्णय किया गया। शेष क्षेत्र पर कंपनी ने अधिकार कर लिया और कुछ पर निजाम का अधिकार

स्वीकार किया गया। मराठों को भी कुछ क्षेत्र देने का प्रस्ताव था। उसे पेशवा ने अस्वीकार कर दिया।

चौथे मैसूर युद्ध के परिणामस्वरूप प्रायः संपूर्ण मैसूर क्षेत्र पर कंपनी का अधिकार हो गया। मैसूर के राजा का अधिकार केवल एक दिखावा था तथा निजाम को दिये गये जिलों से अंग्रेजों का प्रभुत्व नहीं घटा। निजाम ने पहले ही सहायक संधि की शर्तें मान ली थीं। दक्षिण में अंग्रेजों की स्थिति वारेन हेस्टिंग्स के समय की तुलना में बहुत मजबूत हो गयी थी जिसका उन्होंने शीघ्र लाभ उठाया।

टीपू की नीतियाँ तथा उसकी पराजय के कारण

टीपू सुल्तान अपने पिता के सामान ही कुशल सेनानायक था तथा युद्ध करने में उसने असाधारण साहस का प्रदर्शन किया। किन्तु इसके बावजूद अगर वह पराजित हुआ और अपने पिता द्वारा स्थापित सत्ता को बनाये न रख सका तो इसका मुख्य कारण था मैसूर राज्य के निजाम तथा मराठों के संबंध। यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण था कि टीपू के सम्बन्ध इन पड़ोसी देशी राज्यों से न सुधर सके। इसके लिए जितना टीपू उत्तरदायी था उतने ही अन्य पड़ोसी राज्य भी। निजाम और मराठों ने केवल कुछ समय के लिए होने वाले लाभ की ओर ध्यान दिया लेकिन यह विचार नहीं किया कि टीपू के अंत के बाद उन्हें भी अंग्रेज इसी प्रकार से निशाना बनायेंगे।

टीपू का जीवन यह भी सिद्ध करता है कि केवल साहस से ही नहीं बल्कि धैर्य और कूटनीति से कोई राज्य बनाये रखा जा सकता था। उसकी इस कमजोरी से उसकी कठिनाइयाँ बढ़ीं।

हैदर की तुलना में टीपू सुल्तान को कहीं अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कार्नवालिस के समय और उसके बाद अंग्रेजी सेना बहुत अधिक तैयारी कर चुकी थी। इस सेना का अन्य दो बड़े राज्यों ने दोनों युद्धों में या तो साथ दिया अथवा वे तटस्थ रहे। ऐसी परिस्थिति में टीपू बहुत समय तक अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं बनाये रख सकता था।

●●●

आठवाँ अध्याय

अवध और हैदराबाद पर कंपनी का बढ़ता हुआ प्रभुत्व

बक्सर के युद्ध के पश्चात् अवध के नवाब शुजाउद्दौला और अंग्रेजों के बीच १७६५ में इलाहाबाद की संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि के आरंभ में यह कहा गया था कि दोनों पक्षों के बीच 'चिरस्थायी और व्यापक शांति, वास्तविक मित्रता और सुदृढ़ संयोजन' की व्यवस्था की जा रही थी। दोनों राज्यों में से किसी एक पर बाहरी आक्रमण के समय यह निश्चय किया गया कि दूसरा राज्य सैनिक सहायता देगा। अवध के नवाब ने स्वीकार किया था कि यदि ब्रिटिश सेना का वह सुरक्षा के लिए उपयोग करेगा तो इसके संबंध में हुए खर्च को वह पूरा करेगा। इसी संधि के अनुसार नवाब ने युद्ध के हर्जाने के रूप में पचास लाख रुपया कंपनी को देना स्वीकार किया।

इस संधि के पश्चात् शुजाउद्दौला अथवा उसके उत्तराधिकारियों में से किसी भी अवध के नवाब ने कभी न तो अंग्रेजों के विरुद्ध कोई संघर्ष ही किया और न ही किसी ऐसे संघर्ष में भाग ही लिया जो अंग्रेजों के विरुद्ध किया गया हो। हमें यह विचार करना होगा कि इलाहाबाद की संधि करने के पश्चात् अवध के नवाब किन कारणों से कमजोर होते गये। १७६५ में शुजाउद्दौला एक स्वतंत्र शासक था और कंपनी के साथ उसने बराबर की संधि की थी। लेकिन कुछ वर्षों में ही उसका स्तर कंपनी की तुलना में नीचे गिर गया। इस प्रकार कंपनी की तुलना में नवाब की शक्ति में जो गिरावट आती गयी उसके कारणों पर हमें विचार करना होगा।

अंग्रेजों की कूटनीति तथा नवाब के चरित्र के कारण संबंधों में यह आधारभूत परिवर्तन हुआ। अवध के नवाब के साथ १७६५ की संधि करना अंग्रेजों के लिए आवश्यक था। लेकिन उन्होंने संधि करते समय यह सिद्ध करने की कोशिश की कि कंपनी हारे हुए नवाब के साथ उदार व्यवहार कर रही थी। नवाब ने भी कंपनी के अधिकारियों के प्रति विनम्र रुख अपनाये रखा। वह अंग्रेजों को आदर देता रहा जिसका प्रभाव यह पड़ा कि नवाब की सामाजिक मर्यादा घटी। अंग्रेजों ने सामाजिक संबंधों में प्राप्त प्रधानता का राजनीतिक उपयोग किया। इसके अतिरिक्त कंपनी समयानुसार संधि द्वारा प्राप्त अधिकारों का अतिक्रमण भी करती रही। वह आवश्यकतानुसार संधि की धाराओं की व्याख्या करती थी। एक संधि के बाद अन्य संधियाँ करने के लिए कंपनी ने अवध के नवाबों को मजबूर किया। प्रत्येक संधि द्वारा उसके अधिकारों की वृद्धि हुई तथा नवाब की शक्ति घटी। यह क्रम १७६५ के बाद तीन वर्षों से आरंभ होकर एक लंबे समय तक चलता रहा।

१७६८ की संधि

इलाहाबाद की संधि के पश्चात् शुजाउद्दौला ने पुनः अवध के सैन्य संगठन की ओर

ध्यान दिया। सेना को पश्चिमी ढंग से प्रशिक्षित किया जाने लगा और नये सैनिकों की भर्ती करके सेना की संख्या को भी बढ़ाया गया। नवाब ने सेना के लिए आवश्यक नवीनतम शस्त्र भी खरीदे। नवाब बक्सर के युद्ध को भूला नहीं था। उसने अवध राज्य की सुरक्षा के लिए सेना के पुनर्संगठन और विस्तार के जिस कार्यक्रम को आरंभ किया उसकी नितांत आवश्यकता थी। यदि इसी प्रकार नवाब के प्रयत्न जारी रहते तो वह अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सकता था। सैनिक शक्ति के सहारे शुजाउद्दौला स्वतंत्र रूप से राजनीतिक संबंधों को चला सकता था।

अंग्रेजों ने शुजाउद्दौला को सेना के विस्तार का अवसर नहीं दिया। कंपनी के अधिकारी अवध से कलकत्ता के गवर्नर को आने वाले खतरे के संकेत की सूचना भेजने लगे। उनका कहना था कि शुजाउद्दौला अंग्रेजों के विरुद्ध कार्य करने के लिए सैन्य शक्ति को बढ़ा रहा था। कुछ समय तो कलकत्ता के गवर्नर ने इन विवरणों पर ध्यान नहीं दिया। लेकिन जब बार-बार इसी आशय के समाचार मिले तो गवर्नर वेर्लस्ट कोई न कोई कार्यवाही करने के प्रश्न पर विचार करने लगा। कलकत्ता से एक प्रतिनिधिमंडल शुजाउद्दौला से बातचीत करने के लिए बनारस भेजा गया। प्रतिनिधिमंडल को यह कार्य सौंपा गया था कि वह शुजाउद्दौला से बातचीत करके उसे सेना की शक्ति घटाने को राजी करे।

बंगाल की सरकार के रुख से अवध का नवाब चिंतित हुआ। बनारस आकर उसने प्रतिनिधिमंडल से विचार-विमर्श किया। यहाँ पर अंग्रेजों ने उससे यह माँग की कि इलाहाबाद की संधि में कुछ परिवर्तन करके उससे एक नयी संधि की जाये। अंग्रेज अधिकारी अपनी माँग पर दृढ़ रहे। शुजाउद्दौला को अंत में इलाहाबाद की संधि में परिवर्तन के लिए तैयार होना पड़ा।

१७६८ की संधि द्वारा शुजाउद्दौला की सेना की संख्या सीमित कर दी गयी। शुजाउद्दौला ने संधि के द्वारा अंग्रेजों को यह आश्वासन दिया कि भविष्य में वह अपनी सेना में पैंतीस हजार से अधिक सैनिकों को नहीं रखेगा। इस सेना के संगठन के विषय में भी दोनों पक्षों में समझौता हो गया। नयी संधि में यह तय किया गया कि नवाब की सेना में इससे अधिक सैनिक होने की स्थिति में उनको अवध की सेना से हटा दिया जायेगा। इस संधि का प्रभाव यह पड़ा कि शुजाउद्दौला की सेना की शक्ति घट गयी और उसके विस्तार का क्रम अचानक रुक गया।

शुजाउद्दौला की अंग्रेजों पर बढ़ती हुई निर्भरता

शुजाउद्दौला की महत्त्वाकांक्षा उसकी राजनीतिक कठिनाइयों का प्रमुख कारण बनी। १७६८ की संधि के पश्चात् शुजाउद्दौला शाहआलम को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश करता रहा। शाहआलम के विरोध करने पर दोनों ने कलकत्ता के गवर्नर को आपसी संबंधों के विषय में हस्तक्षेप करने को कहा। परिणाम यह हुआ कि गवर्नर वेर्लस्ट एक प्रकार का न्यायाधीश बन गया जो शाहआलम और शुजाउद्दौला के आरोपों और प्रत्यारोपों के विरुद्ध सुनवाई करता रहा। इन मतभेदों के कारण शुजाउद्दौला अंग्रेजों के सम्मुख प्रार्थी के रूप में उपस्थित होता रहा।

जब शाहआलम मराठों के साथ दिल्ली चला गया तो केवल दिल्ली पर ही मराठों का प्रभाव न जमा बल्कि यह भी विश्वास किया जाने लगा कि वे शीघ्र ही रुहेलखंड पर भी आक्रमण करेंगे। रुहेलखंड अवध का पड़ोसी राज्य था और इस क्षेत्र पर मराठों के बढ़ते हुए प्रभाव का ध्यान

रखते हुए शुजाउद्दौला ने रुहेलखंड की घटनाओं में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी। उसकी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा जागी और जिस प्रकार भी संभव हो सके अवध का नवाब रुहेलखंड पर अधिकार करने की योजना बनाने लगा। राज्य विस्तार की इन योजनाओं को पूरा करने के लिए उसने इलाहाबाद की संधि के आधार पर अंग्रेजों से सैनिक सहायता माँगी। विदेशी सेना की सहायता से राज्य-विस्तार की नीति शुजाउद्दौला की भयंकर भूल थी। जब विदेशी सेना अवध में रहने लगी तो इसके कारण अंग्रेजों को अवध के मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिक अवसर मिलते गये। ब्रिटिश सहायता की निर्भरता के कारण नवाब की सैन्य शक्ति पर आँच आयी और उसका राजनीतिक प्रभाव घटा। अब हम इन घटनाओं पर विस्तार से विचार करेंगे।

बनारस की संधि (सितम्बर, १७७३)

शुजाउद्दौला का ध्यान इस समय रुहेलखंड में होने वाली घटनाओं की ओर लगा हुआ था। वह किसी भी तरह से ब्रिटिश सेना की सहायता पाने का इच्छुक था। अवध का नवाब बनारस में वारेन हेस्टिंग्स से इसी उद्देश्य से विचार-विमर्श करने आया था। बंगाल के गवर्नर और शुजाउद्दौला के बीच सितम्बर में एक नयी संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि की दो प्रमुख शर्तें थीं। पहली शर्त यह थी कि शाहआलम से लेकर कड़ा और इलाहाबाद के दोनों जिले नवाब को सौंप दिये जायें। नवाब इसके बदले में कंपनी को पचास लाख रुपया देने को तैयार हो गया। दूसरी व्यवस्था यह की गयी कि भविष्य में जब भी नवाब अंग्रेजों से सैनिक सहायता का आवेदन करेगा तो कंपनी उसकी मदद करने को सेना भेजेगी; नवाब इस सेना का पूरा खर्च कंपनी को देने को तैयार हो गया और इस संधि के द्वारा यह निश्चित किया गया कि प्रत्येक ब्रिटिश ब्रिगेड के खर्च के लिए नवाब दो लाख दस हजार रुपये प्रतिमाह के हिसाब से खर्च देगा।

बनारस की बैठक में वारेन हेस्टिंग्स और शुजाउद्दौला ने संधि की इन शर्तों के अलावा कुछ अन्य विषयों में भी निर्णय किये जो इस प्रकार थे :-

१. वारेन हेस्टिंग्स ने शुजाउद्दौला को रुहेलखंड पर विजय प्राप्त करने में सहायता देने का वचन दिया।
२. १७६८ की संधि के अनुसार अवध की सेना की संख्या को सीमित करने का जो निर्णय किया गया था उसे समाप्त कर दिया गया। नवाब को यह अधिकार दिया गया कि वह अपनी इच्छानुसार सेना का विस्तार कर सकता था।
३. शुजाउद्दौला ने राजधानी में ब्रिटिश रेजीडेंट रखना स्वीकार किया।
४. बनारस के राजा चेतसिंह और उसके उत्तराधिकारियों को राज्य पर शासन करने के अधिकार को दोनों पक्षों ने स्वीकार किया।
५. शुजाउद्दौला ने अवध तथा बंगाल के बीच व्यापार को बढ़ाने की शर्तों को स्वीकार नहीं किया लेकिन उसने बनारस के राजा और हेस्टिंग्स के बीच व्यापारिक समझौते को स्वीकार कर लिया जिसके अनुसार कंपनी के सामान को मिर्जापुर लाने तथा ले जाने की सुविधा देने की व्यवस्था की गयी।
६. नवाब ने ब्रिटेन के महाराजा के वजीर के रूप में भारत में कार्य करना स्वीकार किया और ब्रिटिश महाराजा के नाम के सिक्के अवध में चलाने के लिए वह राजी हो गया।

संधि की शर्तों की सूक्ष्म विवेचना करने पर ज्ञात होता है कि शुजाउद्दौला निजी स्वार्थों के कारण इतना अधिक व्यस्त था कि उसने न तो यह चिन्ता की कि ऐसी संधि का समूचे देश की घटनाओं पर क्या प्रभाव पड़ेगा और न ही उसने शाहआलम के प्रति अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रखा। अचानक मुगल सम्राट् की अधीनता अस्वीकार करके उसने ब्रिटिश सम्राट् का वजीर बनना स्वीकार कर लिया और उसके नाम के सिक्के चलाने को तैयार हो गया। नवाब राज्य-विस्तार के लिए कुछ भी करने को तैयार था। इसी कारण कड़ा और इलाहाबाद पर अधिकार प्राप्त करने के लिए नवाब इतनी बड़ी धनराशि देने को तैयार हो गया। इससे भी अधिक मूल्य वह रुहेलखंड पर अधिकार करने के लिए चुकाने को तैयार हो गया।

हेस्टिंग्स ने तत्कालीन लाभ तो उठाया ही पर इसके साथ-साथ उसने अवध पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करने की आधारशिला रखी। कंपनी को बनारस की संधि से आर्थिक लाभ हुए। शाहआलम का नजराना बन्द करके कंपनी ने बचत की। कड़ा और इलाहाबाद के जिलों को नवाब को देकर कंपनी ने पचास लाख रुपये प्राप्त किये। इसके अतिरिक्त कंपनी को करीब एक तिहाई सेना के खर्च में कमी हुई। जब ब्रिटिश सेना अवध में रहने लगी तो इस सेना का खर्च नवाब देने लगा। १७७३ में कंपनी की आर्थिक दशा बड़ी शोचनीय थी और वारेन हेस्टिंग्स ने अवध के नवाब से संबंध स्थापित करके इस स्थिति को सुधारने की कोशिश की। वारेन हेस्टिंग्स ने स्वीकार किया कि अवध के नवाब से दो वर्षों के दौरान उसने एक करोड़ इकत्तीस लाख रुपये वसूल किये। इस संधि के द्वारा नवाब अंग्रेजों की सैनिक सहायता पर निर्भर हो गया और भविष्य में यह निर्भरता बढ़ती ही गयी।

आसफुद्दौला पर बढ़ता हुआ कम्पनी का नियंत्रण

शुजाउद्दौला की मृत्यु के पश्चात् उसका छब्बीस वर्षीय पुत्र आसफुद्दौला १७७५ में अवध का नवाब बना। शुजाउद्दौला के शासन-काल में अवध राज्य का क्षेत्र दुगुना हो गया। गढ़वाल से लेकर आगरा तक के उत्तरी दोआब के जिलों और झाँसी डिवीजन के क्षेत्र को छोड़कर अवध राज्य की सीमाएँ करीब-करीब वर्तमान उत्तर प्रदेश के बराबर थीं। भारत के अन्य राज्यों के समान अवध में भी सैनिक तानाशाही प्रचलित थी। इसलिए शासन की सफलता अथवा असफलता और प्रजा की खुशहाली ज्यादातर शासक की सतर्कता पर निर्भर करती थी।

आसफुद्दौला ने १७७५ से १७९७ के बीच बाईस वर्षों तक अवध का शासन किया। उसके समय से अवध की अवनति होने लगी। इसका मुख्य कारण यह था कि इतने विशाल राज्य के प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने की योग्यता नवाब में न थी। नवाब ने राज्य की व्यवस्था को सुधारने की ओर कोई ध्यान न दिया। वह नाच-गानों और विभिन्न मनोरंजन के साधनों में ही अपना समय बिताने लगा तथा राज्य की समस्याओं को सुलझाने का कार्य उसने अन्य अधिकारियों को सौंप दिया।

फैजाबाद की संधि

शुजाउद्दौला की मृत्यु होते ही अंग्रेजों के रुख में परिवर्तन दिखायी दिया। उन्होंने

आसफुद्दौला को सूचित किया कि कंपनी और नवाब के बीच व्यक्तिगत आधार पर संधियाँ की गयी थीं और मृत नवाब के पश्चात् दोनों पक्षों के बीच संबंध समाप्त हो गये थे। आसफुद्दौला को बताया गया कि यदि वह चाहता हो तो कंपनी उसके साथ एक नयी संधि करके उसके उत्तराधिकार को स्वीकार कर सकती थी और भावी संबंधों का आधार निश्चित कर सकती थी। कंपनी का यह दृष्टिकोण सर्वथा अनुचित था क्योंकि अवध के साथ संधियाँ करते समय ऐसा निश्चय न तो किया गया था और न दो राज्यों के बीच संबंध किसी एक शासक की मृत्यु होने पर स्वतः समाप्त ही होते थे। वारेन हेस्टिंग्स और उसके सहयोगी नये नवाब से और अधिक लाभ उठाने तथा कंपनी की शक्ति बढ़ाने के लिए आरंभ से ही सचेत थे।

१७७५ में नवाब आसफुद्दौला और कंपनी के बीच एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। यह संधि फैजाबाद की संधि कहलायी। इस संधि की पहली धारा के अनुसार कंपनी ने किसी भी आक्रमण के समय अवध की सुरक्षा करने का वचन दिया। इस प्रकार की सुरक्षा की गारंटी कंपनी अवध के नवाब को इसके पूर्व की संधियों में भी दे चुकी थी और वर्तमान संधि में इस वचन को दुहराया गया लेकिन दुबारा वचन देने के समय अवध के नवाब को संधि की दूसरी धारा के अनुसार सुरक्षा का मूल्य चुकाने को कहा गया। यह कहा जा सकता है कि इस बहाने अवध राज्य के कुछ भाग पर अधिकार करने का आधार ढूँढ़ निकाला गया। अवध के नवाब ने बनारस, गाजीपुर और चुनार के जिलों को कंपनी के अधिकार में हमेशा के लिए सौंप दिया। तीसरी मुख्य धारा के अनुसार कंपनी की सेना को अवध में रखने के लिए अब पहले की तुलना में कंपनी को पचास हजार रुपये प्रति ब्रिग्रेड प्रतिमाह अधिक मिलने लगा। इस प्रकार कंपनी सेना रखने के नाम पर भी नवाब से अधिक धन वसूलने लगी।

फैजाबाद की संधि से केवल कंपनी को ही लाभ हुए। उसे अवध के तीन जिलों पर अधिकार मिल गया जिससे कंपनी की आमदनी बढ़ी। इसके अतिरिक्त सेना का भी अधिक खर्च वसूल किया गया। इस संधि के द्वारा अवध राज्य पर अंग्रेजों के अधिकार का क्रम आरंभ हुआ। अंग्रेज अवध की शक्ति को घटाने की नीति अपना रहे थे और वे मित्र राज्य को शक्तिहीन तथा दिवालिया देखना चाहते थे। १७७५ की संधि से उनके इन इरादों का पता चलता है।

ब्रिटिश सेना के बोझ से नवाब की आर्थिक कठिनाइयाँ

१७७४ में अवध के नवाब ने ब्रिटिश सेना को रुहेला युद्ध में भाग लेने के लिए बुलाया था और इसका खर्च देने को वह राजी हो गया था। रुहेला युद्ध के बाद भी ब्रिटिश सेना अवध में ही बनी रही और शुजाउद्दौला की मृत्यु के समय नवाब को भारी कर्ज की रकम कंपनी को अदा करनी थी। आसफुद्दौला के समय अवध राज्य का कर्ज लगातार बढ़ता गया। परिस्थिति की विवेचना करते हुए वारेन हेस्टिंग्स की कौंसिल के प्रमुख सदस्य फ्रांसिस ने मत व्यक्त किया था कि अंग्रेजी सेना ने अवध की रक्षा करने के बहाने उसके राजस्व को ही खा डाला।

आरंभ में ब्रिटिश सेना को अस्थायी रूप से अवध में रखा गया था। इस सेना को उसी समय तक रखा जा सकता था जब तक नवाब की इच्छा हो। फैजाबाद की संधि से इस स्थिति

में परिवर्तन आया। इस संधि द्वारा यह निश्चिय किया गया कि अवध की सुरक्षा के लिए कंपनी ने जो उत्तरदायित्व ग्रहण किया था उसे पूरा करने के लिए इस राज्य में ब्रिटिश सेना को रखना आवश्यक था। इस प्रकार कंपनी की सरकार यह निश्चय कर सकती थी कि कितनी सेना को अवध में रखा जाये। १७७५ में कंपनी की एक ब्रिगेड को अवध में तैनात किया गया और इसके दो वर्ष वाद एक अस्थायी ब्रिगेडं को भी फतेहगढ़ में रखा गया। १७७७ से करीव दस हजार ब्रिटिश सेना अवध में रहने लगी।

ब्रिटिश सेना के खर्च का बोझ अवध राज्य पर बढ़ता ही गया। १७७५ की संधि के द्वारा स्थायी ब्रिगेड का खर्च पचास हजार रुपया प्रतिमाह बढ़ा दिया गया था। १७७७ से अस्थायी ब्रिगेड भी अवध में रहने लगा था जिसका खर्च सत्रह लाख रुपया सालाना नवाव से वसूल किया जाने लगा। १७७५ से १७८६ के बीच कंपनी की सरकार हर संभव उपाय से अवध से अधिक से अधिक रुपया वसूल करती रही। हेस्टिंग्स के शासनकाल में अवध राज्य से औसतन चौहत्तर लाख रुपया प्रतिवर्ष वसूल किया गया।

इस आर्थिक बोझ के कारण अवध राज्य की अवनति होती गयी। राज्य की आमदनी का एक बड़ा भाग केवल कंपनी के कर्ज को पूरा करने में खर्च हो जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि नवाब की सेना की संख्या घटती रही और किसी ने भी राज्य की सेना के संगठन की ओर ध्यान नहीं दिया। यह आसफुद्दौला की महान भूल थी कि राज्य की सुरक्षा का कार्य उसने विदेशी सेना को सौंप दिया और इस सेना पर इतना अधिक खर्च होने लगा कि अवध की सेना को सुसंगठित नहीं किया गया और न ही इसकी आवश्यकता समझी गयी। ब्रिटिश सेना पर होने वाले खर्च के कारण राज्य के प्रशासन के कार्यों पर भी प्रभाव पड़ा। नवाब ने प्रजा की सुख-सुविधाओं की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया।

१७८७ में कार्नवालिस जब गवर्नर जनरल होकर भारत आया तो आसफुद्दौला ने उससे प्रस्ताव किया कि फतेहगढ़ में स्थित अस्थायी ब्रिटिश ब्रिगेड को अवध से हटा लिया जाये जिससे अवध पर बढ़ता हुआ आर्थिक बोझ कम किया जा सके। नवाब ने प्रस्ताव किया था कि केवल एक ब्रिटिश ब्रिगेड ही अवध में रखी जाये। कार्नवालिस ने नवाब के इस विचार का स्वागत तो नहीं किया कि अवध में ब्रिटिश सेना की संख्या को घटाया जाये पर उसने यह स्वीकार कर लिया कि भविष्य में नवाब ७४ लाख रुपया वार्षिक शुल्क के स्थान पर केवल ५० लाख रुपया ही दे। इस निर्णय से नवाब को कुछ राहत मिली।

वजीर अली का अपदस्थ किया जाना

२१ सितम्बर, १७९७ को आसफुद्दौला की मृत्यु हो गयी। उसी दिन आसफुद्दौला की माँ, राज्य के सामंतों तथा रेजीडेंट ने मिलकर अठारह वर्षीय युवक वजीर अली को नवाब बना दिया। यह प्रायः ज्ञात था कि वजीर अली आसफुद्दौला का पुत्र नहीं था, वह मृत नवाब का दत्तक पुत्र था और जन्म से ही सब सम्बन्धित पक्ष जानते थे कि वह गद्दी का उत्तराधिकारी था। इस कारण आरम्भ में वजीर अली के नवाव वनने में कोई कठिनाई नहीं हुई। गवर्नर जनरल ने भी आरम्भ में वजीर अली को नवाब स्वीकार कर लिया। किन्तु कुछ दिनों बाद ही गवर्नर

जनरल को ज्ञात हुआ कि अवध राजघराने के कुछ सदस्य और आसफुद्दौला का भाई सादात अली, जो बनारस में रहता था, इस परिवर्तन को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि वजीर अली का जन्म नीची जाति में हुआ था। इन समाचारों के मिलने पर गवर्नर जनरल ने रेजीडेंट को पूरी छानबीन करने को कहा। कुछ महीनों तक यही स्थिति बनी रही। अंत में गवर्नर जनरल स्वयं लखनऊ गया जिससे वह नये नवाब के शासक बनने के प्रश्न को सुलझा सके।

दिसम्बर मास में गवर्नर जनरल लखनऊ पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने वजीर अली के जन्म और गद्दी पर उसके अधिकार के विषय में विभिन्न लोगों से बातचीत की। जान शोर वजीर अली के उत्तराधिकार के प्रश्न पर अनावश्यक रुचि ले रहा था। इसी कारण वजीर अली के विरोधी और अधिक सक्रिय हो गये और उन्होंने नवाब को अपदस्थ करने की अपील की। गवर्नर जनरल ने स्वीकार किया कि वह अवसर का लाभ उठाकर अवध राज्य पर कंपनी के प्रभाव को स्थापित करना चाहता था। जब उसको यह अनुमान हुआ कि वजीर अली के शासक बने रहने से ब्रिटिश प्रभाव बनाये रखने में कठिनाई हो सकती थी तो उसने वजीर अली को अपदस्थ करने का निश्चय किया। इसके साथ-साथ गवर्नर जनरल ने आसफुद्दौला के भाई सादात अली को नवाब बनाने का निश्चय किया। सादात अली गवर्नर जनरल की हर शर्त मानने को तैयार था।

जनवरी, १७९८ में वजीर अली को नवाब के पद से हटा दिया गया। गवर्नर जनरल के हाथी में बैठकर सादात अली ने लखनऊ शहर में प्रवेश किया और राजगद्दी सँभाली। जान शोर ने ब्रिटिश शक्ति के द्वारा पहली बार खुले तौर पर अवध के उत्तराधिकार के प्रश्न पर हस्तक्षेप किया था। इस समय से अवध के नवाब की स्थिति और भी कमजोर होती गयी।

सादात अली से संधि (फरवरी, १७९८)

सादात अली से एक संधि करके जान शोर ने अवध पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ाया। इस संधि की मुख्य धाराएँ इस प्रकार थीं –

(१) अवध के नवाब ने कंपनी को ७६ लाख रुपया वार्षिक शुल्क देना स्वीकार किया। इस धारा के अनुसार अवध राज्य को अधिक शुल्क देने के लिए राजी कर लिया गया था।

(२) इलाहाबाद शहर में ब्रिटिश सेना को तैनात किया गया और इलाहाबाद के किले को ब्रिटिश सेना के अधिकार में दे दिया गया।

(३) ब्रिटिश सेना को ही यह उत्तरदायित्व दिया गया कि वह विदेशी आक्रमण से राज्य की रक्षा करे। नवाब ने यह स्वीकार कर लिया कि वह राज्य की सेना को घटाने की कोशिश करेगा।

अवध के प्रति वेलेज्ली की नीति

अवध का नया नवाब सादात अली अभी अपनी शक्ति को संगठित भी नहीं कर पाया था कि कंपनी के नये गवर्नर जनरल ने मई, १७९८ में अपना पद सँभाला। शीघ्र ही नये नवाब और नये गवर्नर जनरल के बीच एक लंबा संघर्ष आरंभ हो गया जिसके परिणामस्वरूप अवध

राज्य के करीब आधे भाग पर कंपनी ने अधिकार कर लिया। वेलेज्ली ने अवध के रेजीडेंट के पद पर कर्नल विलियम स्काट की नियुक्ति की। स्काट एक सैनिक अधिकारी था और वह सैनिक आवश्यकताओं के बारे में गवर्नर जनरल को सलाह देता रहा।

वेलेज्ली ने वाहरी हमले का खतरा दिखाकर अवध के नवाब पर दबाव डालना शुरू कर दिया। इतिहासकार पी.ई. राबर्ट्स स्वीकार करते हैं कि सबसे पहले उसने अफगानिस्तान के अमीर, जमनशाह, के संभावित आक्रमण का 'वहाना' बनाया। जमनशाह ने पहली बार १७९६ में भारत की ओर वढ़ने का प्रयास किया था। वह करीब ३३ हजार सैनिकों को लेकर लाहौर तक आ गया था। लेकिन वह लाहौर के आगे नहीं जा सका। कुछ महीनों के बाद आंतरिक विद्रोह का मुकाबला करने के लिए उसे स्वदेश जाना पड़ा था। दुबारा भी वह लाहौर तक ही पहुँच सका था। जनवरी, १७९९ में अफगानिस्तान लौटने के पश्चात् कभी भी उसने आक्रमण करने का विचार नहीं किया। १८०० में उसे अपदस्थ कर दिया गया और अफगानिस्तान के शासकों को आंतरिक संघर्ष के कारण कभी आक्रमण करने का विचार नहीं मिला। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि १७९८ के बाद अफगानिस्तान की ओर से किसी प्रकार का भय नहीं था और वेलेज्ली ने जो डर दिखाना चाहा उससे अवध का नवाब तनिक भी प्रभावित नहीं हो सका था। यहाँ यह कहना उचित होगा कि उत्तर भारत में भावी संघर्ष की योजना के लिए वेलेज्ली अवध की सुरक्षा को मजबूत कर रहा था। मई, १७९९ में टीपू सुल्तान की मृत्यु होने के बाद अंग्रेजों के लिए सुदूर दक्षिण का संकट टल गया था। अब केवल मराठे ही कंपनी की शक्ति का विरोध कर सकते थे। विशेष रूप से सिंधिया और होल्कर के विरुद्ध वेलेज्ली ने योजना बनानी आरंभ कर दी थी। मराठे ही फ्रांसीसियों से मिलकर कोई संकट की स्थिति पैदा कर सकते थे। अवध राज्य की कमजोर रक्षा-व्यवस्था का लाभ उठाकर मराठे कंपनी के लिए किसी प्रकार की कठिनाई का कारण हो सकते थे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वेलेज्ली के सामने अफगानिस्तान के आक्रमण का भय नहीं था।

वेलेज्ली ने १७९९ से ही अवध के नवाब से सैनिक सुधार की माँग की। सेना की नयी व्यवस्था अपनाने के जो कुछ भी कारण उसने दिये उनके अतिरिक्त उसका कहना था कि उसे सेना के विषय में माँग करने का पूरा अधिकार था। अवध और कंपनी के बीच जो संधियाँ थीं उनके अनुसार इस राज्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व कंपनी का था। देश की राजनीतिक स्थिति को देखते हुए गवर्नर जनरल ने यह माँग की कि अवध में स्थित ब्रिटिश सेना की संख्या को दुगनी करना आवश्यक था। ब्रिटिश सेना के रखने का किसी प्रकार का खर्च देने को कंपनी तैयार न थी। गवर्नर जनरल ने नवाब को आदेश दिया कि वह अधिक सेना के रखने के खर्च को पूरा करे। करीब बीस हजार ब्रिटिश सैनिक रखने के लिए नवाब सादात अली को पहले की अपेक्षा कहीं बड़ी धनराशि देने को कहा गया। अवध का नवाब पहले ही सेना के खर्च को पूरा करने में कठिनाई का अनुभव कर रहा था और जब इस वार्षिक शुल्क को और भी अधिक बढ़ाने का प्रस्ताव रखा गया तो नवाब अचम्भित हो गया। ब्रिटिश सेना के खर्च को पूरा करने के लिए नवाब से इसी समय एक अन्य माँग भी की गयी। उससे कहा गया कि नवाबी सेना को भंग कर दिया जाये और इस प्रकार जो बचत हो उससे ब्रिटिश सेना के रखने का अतिरिक्त खर्च पूरा किया जाये।

यहीं पर यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि अवध में ब्रिटिश सेना की संख्या को बहुत कुछ बढ़ाने का गवर्नर जनरल को अधिकार प्राप्त था अथवा नहीं। और यदि ब्रिटिश सेना को बढ़ाना जरूरी ही था तो कंपनी ने स्वयं क्यों अतिरिक्त खर्च पूरा नहीं किया। इस संबंध में वेलेज्ली की माँग पर प्रसिद्ध इतिहासज्ञ जेम्स मिल ने चार आपत्तियाँ की हैं। पहली आपत्ति वह यह करता है कि शांति के समय भी यह माँग गवर्नर जनरल ने की कि सेना का संगठन युद्ध के आधार पर हो। दूसरे, उसका कहना है कि सेना को बढ़ाने का प्रस्ताव अनावश्यक था। अफगान सेनाएँ अभी बहुत दूर थीं और उनके खिलाफ युद्धस्तर पर तैयारी की कोई आवश्यकता नहीं थी। तीसरे, अवध के नवाब को सेना के संगठन में परिवर्तन करने के लिए जो आदेश दिया जा रहा था उसका अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ यही था कि नवाब की सैनिक शक्ति का अस्तित्व ही मिट जाये और नवाब दूसरे राज्य की सेना की शक्ति पर आश्रित हो जाये। चौथे, जान शोर के समय जो संधि की गयी थी उसके अनुसार कभी-कभी सेना को बढ़ाने की व्यवस्था की गयी थी। लेकिन वेलेज्ली स्थायी तौर से सेना का विस्तार करने का प्रस्ताव कर रहा था।

अवध के नवाब का कहना था कि वह कंपनी को वार्षिक शुल्क नियमित ढंग से दे रहा था तथा राज्य के शासक को सुधारने की कोशिश कर रहा था। उसने तथा उसके पहले के शासकों ने कंपनी की हर माँग को पूरा किया था। वह स्वाभाविक रूप से यह चाहता था कि सेना को रखने के विषय में जिस प्रकार का भी निश्चय हो उसमें उसकी अनुमति भी ली जाये। लेकिन आरंभ से कठोर रवैया अपनाते हुए वेलेज्ली ने नवाब से कहा कि वह या तो कंपनी के प्रस्तावों को पूरी तरह से स्वीकार कर ले अथवा दोनों के बीच संधियाँ समाप्त कर दी जायें।

नवम्बर, १७६६ में वेलेज्ली के तरीकों से नवाब इतना निराश हो गया कि वह राजगद्दी छोड़ने के लिए तैयार हो गया। लेकिन इस प्रश्न को लेकर भी सादात अली और गवर्नर जनरल के बीच मतभेद हो गये। गवर्नर ने चाहा कि नवाब एक गुप्त संधि कर ले जिसके अनुसार कंपनी का सारा शासन कंपनी को सुपुर्द कर दिया जाये। परन्तु नवाब इस प्रकार के प्रबंध के लिए तैयार नहीं था। उसका प्रस्ताव केवल यह था कि उसके पदत्याग के पश्चात् उसका पुत्र नवाब बने। गवर्नर जनरल का पत्र मिलने के बाद नवाब ने गद्‌दी छोड़ने का विचार त्याग दिया। इससे वेलेज्ली अप्रसन्न हुआ और आरोप लगाया कि नवाब छल कपट की नीति अपना रहा था।

वेलेज्ली ने नवाब के विरोध की चिंता न करते हुए ब्रिटिश सेना को अवध की ओर प्रस्थान करने की आज्ञा दे दी। नवाब से कहा गया कि वह इस अतिरिक्त ब्रिटिश सेना के खर्च का इंतजाम करे। नवाब के पदत्याग के प्रस्ताव को लेकर जो चर्चा चली थी उसके बाद वेलेज्ली का रुख और भी कठोर हो गया था और वह नवाब की किसी भी कठिनाई को सुनने को तैयार नहीं हुआ।

१८०१ की संधि

अवध में सेना भेजकर भी वेलेज्ली पूरी तरह से संतुष्ट नहीं था। उसने बिना किसी हिचकिचाहट के नवाब को सूचित किया कि देश की राजनीतिक स्थिति बदल गयी है और 'नवाब अपने राज्य में ब्रिटिश सरकार के सक्रिय और निर्णयात्मक हस्तक्षेप के लिए तैयार रहे।' अब

नवाब के सम्मुख दो प्रस्ताव रखे गये और उससे माँग की ग़यी कि वह इनमें से किसी एक को स्वीकार कर ले। पहला प्रस्ताव यह था कि वह अपना राज्य कंपनी के अधिकार में सौंप दे और स्वयं नाममात्र का शासक बनने के लिए तैयार हो जाये। दूसरा प्रस्ताव यह था कि वह समस्त ब्रिटिश सेना के खर्च को पूरा करने के लिए राज्य के इतने भाग को कंपनी को सौंप दे जिसकी आय से ब्रिटिश सेना के खर्च को पूरा किया जा सके। कई महीनों तक नवाब इनमें से किसी भी माँग को स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। नवाब की स्थिति इतनी अधिक कमजोर और दयनीय थी इसका अनुमान उसके इस उत्तर से लगाया जा सकता है। उसने लिखा कि 'मेरे राज्य का सारा क्षेत्र और पूरा खजाना आपके अधिकार में है। विरोध करने की न मेरी इच्छा है और न शक्ति, लेकिन अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध ऐसे प्रस्ताव को मैं स्वेच्छा से किस प्रकार स्वीकार कर सकता हूँ?'

नवाब की इस कमजोर स्थिति का वेलेज्ली ने पूरा लाभ उठाया। उसने ब्रिटिश रेजीडेंट को आज्ञा दी कि यदि नवाब ज्यादा आनाकानी करे तो वह उतने क्षेत्र पर अधिकार कर ले जो सेना के रखने के खर्च के लिए आवश्यक हो। गवर्नर जनरल का भाई हेनरी वेलेज्ली बातचीत में भाग लेने के लिए तथा नवाब पर और अधिक दवाव डालने के लिए लखनऊ भेजा गया। जब सादात अली के सामने और किसी प्रकार का विकल्प न रहा तो मजबूर होकर उसने नवंबर, १८०१ की संधि करके गवर्नर जनरल की शर्तों को स्वीकार कर लिया।

इस संधि के अनुसार नवाब के करीब आधे राज्य पर कंपनी का अधिकार हो गया। इस प्रकार जो जिले कंपनी के अधिकार में दे दिये गये वे 'सौंपे हुए जिले' कहलाते रहे। संधि के अनुसार कंपनी को गोरखपुर, इलाहाबाद, कानपुर, फर्रुखाबाद, इटावा, बरेली और मुरादाबाद जिलों पर अधिकार मिल गया। यह अनुमान लगाया गया था कि इन जिलों पर अधिकार करने से कंपनी को करीब एक लाख पैंतीस हजार रुपये वार्षिक धनराशि प्राप्त होगी जो कंपनी की सेना को अवध में रखने के लिए पर्याप्त होगी। संधि के अनुसार वार्षिक शुल्क के स्थान पर अब अवध के निश्चित क्षेत्र पर अधिकार कर लिया गया। इससे कंपनी को दो लाभ हुए। पहला यह कि कंपनी सेना का खर्च वसूल करने के लिए अब नवाब पर आश्रित नहीं रही। दूसरे, अस्थिरता का क्रम समाप्त हो गया था। इस क्षेत्र से प्राप्त आमदनी द्वारा स्थायी तौर से सेना रखने की व्यवस्था हो गयी।

वेलेज्ली ने जिस प्रकार नवाब पर दबाव डालकर उसे संधि के लिए मजबूर कर दिया, उसकी निंदा की जाती है। वेलेज्ली ने इसके पूर्व दिये गये वचनों की कोई परवाह नहीं की। उसने नवाब के राज्य पर अधिकार करने के उद्देश्य से ही उस पर सेना रखने का दबाव डाला और सेना रखने के खर्च के बहाने नवाब के आधे राज्य को हड़प लिया।

इस संधि के फलस्वरूप अवध राज्य चारों ओर से ब्रिटिश राज्य से घिर गया। इसके साथ ही अवध की उत्तरी सीमाओं पर अधिकार करके ब्रिटिश सेनाएँ सिंधिया का मुकाबला करने को तैयार थीं। क्लाइव के समय में अवध को कंपनी के प्रदेशों की रक्षा के लिए ढाल के लिए प्रयोग में लाने की नीति को अब सर्वदा के लिए त्याग दिया गया था। अब परिस्थितियाँ बदल गयी थीं और अंग्रेज सामने आकर अपनी रक्षा करने को तैयार थे।

यह भी स्मरणीय है कि जिस क्षेत्र पर अवध के नवाब का अधिकार स्वीकार भी किया गया था उसका शासन करने के लिए भी उसे कंपनी के प्रतिनिधि की सलाह लेना आवश्यक था। वेलेज्ली ने आशा प्रकट की थी कि जनहित का ध्यान रखते हुए नवाब शासन-प्रबंध के कार्य करेगा और वह कंपनी के अधिकारियों की सलाह का ध्यान रखेगा। ब्रिटिश रेजीडेंट नवाब के कार्यों पर निगरानी रखता रहता था।

हैदराबाद

हैदराबाद राज्य की स्थापना मुगल साम्राज्य के प्रमुख सामंत निजामुलमुल्क ने की थी। निजामुलमुल्क का वास्तविक नाम कमारुद्दीन था। उसका पिता तूरानी दल का एक प्रमुख नेता था और औरंगजेब के दरबारियों में उसका ऊँचा स्थान था। अपनी योग्यता के बल पर कमारुद्दीन मुगल प्रशासन में प्रभावशाली होता गया और १७१३ में उसे दक्षिण के सूबेदार के पद पर नियुक्त किया गया। इसी समय मुगल सम्राट फरुखसियर ने उसे निजामुलमुल्क अर्थात् 'देश को उचित निर्देश देने वाला व्यक्ति' की पदवी से विभूषित किया। बाद में यह पदवी इतनी प्रचलित हो गयी कि यही उसका वास्तविक नाम माना जाने लगा। कुछ वर्षों के बाद उसे पुनः दिल्ली बुला लिया गया। सैयद बंधुओं का दमन करने में उसने मुगल शासक मोहम्मद शाह का साथ दिया। निजामुलमुल्क की योग्यता से मुगल बादशाह प्रभावित हुआ। निजामुलमुल्क को वजीर बना दिया गया। १७२२ से १७२४ के बीच इस पद पर कार्य करने पर उसने अनुभव किया कि मुगल शक्ति को बढ़ाना कठिन था। मुगल दरबार की दलबंदी और मुगल शासक की कमजोरी से परेशान होकर निजामुलमुल्क दक्षिण की ओर चल पड़ा। दक्षिण में स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने का उसका उद्देश्य था।

निजामुलमुल्क को दक्षिण में प्रभाव जमाने के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। मुगल दरबारियों ने हैदराबाद के गवर्नर को निजाम का विरोध करने को उत्साहित किया। मुवारिज खाँ इस समय मुगल गवर्नर था तथा औरंगाबाद से दक्षिण का शासन करता था। अक्टूबर, १७२४ में मुवारिज खाँ और निजाम की सेनाओं के बीच युद्ध हुआ। शकर खेड़ा के युद्ध में निजाम की विजय हुई। शकरखेड़ा की विजय से दक्षिण में एक स्वतंत्र शक्ति का उदय हुआ। इस समय से निजाम तथा उसके उत्तराधिकारियों ने स्वतंत्र शासक की तरह शासन किया। निजाम ने हैदराबाद को नये राज्य की राजधानी बनाया। इसके दो कारण थे। हैदराबाद मराठों की राजधानी से औरंगाबाद की तुलना में दूर था और यहाँ निजाम अधिक स्वतंत्रता से सैनिक तैयारियाँ कर सकता था। दूसरे, कर्नाटक पर भी वह प्रभाव बढ़ाना चाहता था जिसके लिए हैदराबाद अधिक उपयुक्त था।

मुगल सम्राट् जब अपने वजीर को दक्षिण में स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने से रोक न सका तो उसने उसे संतुष्ट करने का विचार किया। मुगल सम्राट् ने दक्षिण में निजाम द्वारा स्थापित राज्य को स्वीकार कर लिया। हालाँकि निजाम एक स्वतंत्र शासक था और युद्ध तथा संधि करने में भी वह मुगल सम्राट् के अधीन नहीं था, फिर भी उसने कभी भी अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा नहीं की। भविष्य में भी हैदराबाद के शासक मुगल सम्राटों की अधीनता मानते रहे। इतना ही नहीं, आवश्यकता पड़ने पर मुगल शासक ने जब १७३७ और १७४० में निजाम से सहायता माँगी तो एक बड़ी सेना लेकर निजाम उत्तर भारत भी गया।

हैदराबाद में निजाम द्वारा सत्ता स्थापित करने से दक्षिण भारत की राजनीति में एक नया मोड़ आया। अभी तक मुगल शासक के अधीन दक्षिण के छह राज्यों में अलग-अलग सूबेदार कार्य करते थे। ये सूबेदार अधिकतर निजी स्वार्थों में फँसे रहते थे और इनके बीच स्पर्धा होने के कारण कई कठिनाइयाँ थीं। अब निजाम द्वारा एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना करने से दक्षिण के सूबेदारों के बीच स्पर्धा का अंत हो गया।

निजामुलमुल्क मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से हर समय आतंकित बना रहा। पेशवा बालाजी राव को मुगल सम्राट् ने १७१६ में यह अधिकार दिया था कि मराठे दक्षिण के प्रांतों से चौथ तथा सरदेशमुखी कर वसूल कर सकते थे। निजाम ने इस संबंध में कोई भी आपत्ति नहीं की। उसके राज्यकाल में उसे कई बार मराठों का मुकाबला करना पड़ा। निजाम ने बड़ी कुशलता से तथा राजनीतिक सूब-बूझ से मराठों के आक्रमणों से अपनी रक्षा की। परन्तु उसकी मृत्यु के उपरान्त कोई भी ऐसा योग्य निजाम गद्दी पर नहीं बैठा जिसमें संस्थापक के गुण होते।

हैदराबाद पर फ्रांसीसियों का प्रभाव

हैदराबाद में निजामुलमुल्क की १७४८ में मृत्यु के बाद से लेकर १७६२ तक अस्थिरता का युग आया जिसमें तीन निजाम बने। इसके पश्चात् १७६२ से १८०३ के बीच चालीस वर्षों तक निज़ाम अली खाँ ने हैदराबाद पर शासन किया। पहले हम १७४८ से १७६२ के बीच हुए राजनीतिक परिवर्तनों पर ध्यान देंगे।

निजामुलमुल्क की मृत्यु के बाद उसके दूसरे पुत्र नासिरजंग ने सत्ता हथिया ली। पर आरंभ से ही उसके भतीजे मुजफ्फरजंग ने उसे चुनौती दी तथा यह दावा किया कि उसे ही हैदराबाद का शासक बनने का वास्तविक अधिकार था। मुजफ्फर ने चाँदा साहब की मदद से जब कर्नाटक में संघर्ष छेड़ दिया तो नासिरजंग ने स्वयं अर्काट की ओर प्रस्थान किया। दक्षिण में होने वाले इस संघर्ष का वर्णन अन्य स्थान पर किया गया है। परिणाम यह हुआ कि इस संघर्ष के दौरान नासिरजंग की मृत्यु हो गयी। मुजफ्फरजंग हैदराबाद का शासक घोषित तो किया गया परन्तु हैदराबाद पहुँचने के पूर्व ही वह भी मार डाला गया। अब निजामुलमुल्क के अन्य छोटे पुत्र सलाबतजंग को १७५१ में दक्षिण का सूबेदार बना दिया गया। इस संघर्ष में यूरोपीय शक्तियों ने हस्तक्षेप किया था तथा फ्रांसीसियों की सेना सलाबतजंग के साथ हैदराबाद आयी। बुजी इस सेना का सेनानायक था। सलाबतजंग अपने शासनकाल के आरंभिक सात वर्षों में बुजी की सहायता से शासन करता रहा। फ्रांसीसी सेनाएँ हैदराबाद राज्य की रक्षा करती रहीं। फ्रांसीसी सेना के खर्च के लिए समुद्र के किनारे के चार जिले फ्रांसीसियों को दे दिये गये। ये जिले थे मुस्तफानगर, एलोर, राजमहेंद्री और चिकाकोल जो उत्तरी सरकार कहलाये।

१७५८ में बुजी को जब हैदराबाद से वापस बुला लिया गया तो हैदराबाद में फ्रांसीसी प्रभाव घट गया और उसके स्थान पर निजाम अंग्रेजों के प्रभाव में आता गया। बुजी के जाने के कुछ समय बाद ही अंग्रेजी सेना ने उत्तरी सरकार के जिलों पर आक्रमण करके मछलीपट्टम पर अधिकार कर लिया। बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार सलाबतजंग ने शीघ्र ही अंग्रेजों से संधि कर ली। १७५६ की संधि के द्वारा हैदराबाद के शासक ने उत्तरी सरकार के जिलों

को अंग्रेजों के हाथ में सौंप दिया। यह पहला अवसर था जब निजाम अंग्रेजों के संपर्क में आया। उत्तर सरकार के कुछ जिले वह जिस प्रकार अंग्रेजों को देने के लिए तैयार हो गया उससे यह स्पष्ट हो गया कि वह हर प्रकार से शक्तिहीन था और क्लाइव की योजनाओं का विरोध करने की उसमें क्षमता नहीं थी।

क्लाइव उत्तरी सरकार के पूरे क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिकार स्थापित करना चाहता था। इस लक्ष्य को स्थापित करने का अवसर उसे १७६५ में मिला जब पराजित शाहआलम से इलाहाबाद की संधि उसने की। शाहआलम का प्रांतों पर कोई अधिकार नहीं था। फिर भी वैधानिक रूप से अभी भी मुगलों के अधीन क्षेत्रों पर उसकी सत्ता बनी हुई थी। बंगाल सूबे की दीवानी प्राप्त करने के साथ-साथ क्लाइव ने इस संधि द्वारा उत्तरी सरकार के संपूर्ण क्षेत्र पर भी अधिकार करने की अनुमति शाहआलम से प्राप्त कर ली। वैधानिक रूप से अधिकार मिलने पर अंग्रेजों ने तुरंत अपनी सेनाओं को इस ओर भेजा। वे निजाम की कमजोरी का पूरा लाभ उठाना चाहते थे। निजाम शाहआलम के हस्तक्षेप से नाराज तो हुआ लेकिन वह विरोध न कर सका। १७६६ में निजाम और ईस्ट इंडिया कंपनी के बीच एक और संधि हुई। इस संधि के अनुसार उत्तरी सरकार पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इस समझौते की मुख्य उपलब्धि थी गुंटूर पर अंग्रेजों का अधिकार। संधि में यह व्यवस्था भी की गयी कि जब भी निजाम को आवश्यकता होगी, उसकी सहायता करने के लिए कंपनी की सेनाएँ भेजी जायेंगी। सेनाओं का खर्च निजाम को देना था। इस संधि में हैदराबाद को सैनिक सहायता देने की जो शर्त रखी गयी और इस विषय में जो व्यवस्थाएँ की गयीं उन्हें वेलेज्ली के शासनकाल में सहायक संधियाँ करके अपनाया गया।

इस संबंध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि १७६२ में हैदराबाद में सत्ता के लिए एक आंतरिक संघर्ष हुआ था। इस समय सलाबतजंग बंदी बना लिया गया और उसका भाई निजाम अली हैदराबाद का शासक बना। निजाम अली ने १७६२ से १८०३ तक के बीच चालीस वर्षों से भी कुछ अधिक समय तक राज्य किया। १७६६ में अंग्रेजों से जिस प्रकार निजाम अली ने संधि की उससे यह प्रकट होता है कि हैदराबाद के अन्य शासकों के समान वह भी बड़ा कमजोर शासक था।

निजाम और कम्पनी के सम्बन्धों का आरम्भिक स्वरूप

उत्तरी सरकार क्षेत्र पर अधिकार करके अंग्रेजों ने दक्षिण भारत में अपनी स्थिति मजबूत करने की कोशिश की जिसका परिणाम हुआ अंग्रेजों और हैदर अली के बीच पहला मैसूर युद्ध। इस सैनिक संघर्ष से निजाम अली ने भी लाभ उठाने का प्रयत्न किया। पहले तो निजाम अली और अंग्रेजों की सेनाओं ने मिलकर हैदर पर आक्रमण किया किन्तु कुछ समय बाद ही निजाम का रुख बदल गया और उसने अंग्रेजों के विरुद्ध हैदर से संधि कर ली। अभी अंग्रेजों और हैदर अली के बीच युद्ध चल ही रहा था कि निजाम अली ने पुनः अंग्रेजों से १७६८ की संधि करके हैदर अली का साथ छोड़ दिया। उसके बदलते हुए रूप से निजाम के दोस्त और शत्रु दोनों ही परेशान हुए।

१७९० में कार्नवालिस ने टीपू के विरुद्ध सैनिक अभियान आरंभ करने के पूर्व निजाम और पेशवा के साथ संधि की। संधि की शर्तों के अनुसार निजाम ने टीपू के विरुद्ध अंग्रेजों को सैनिक सहायता दी। निजाम का पुत्र तथा वजीर उसकी ओर से युद्ध में भाग लेने के लिए गये थे। टीपू को पराजित होकर जब अंग्रेजों से संधि करनी पड़ी तो मैसूर राज्य के उत्तर के कुछ जिलों पर निजाम का अधिकार हो गया। इस प्रकार तीसरे मैसूर युद्ध में अंग्रेजों का साथ देने पर निजाम को पुरस्कृत किया गया। पर निजाम की प्रसन्नता क्षणिक ही सिद्ध हुई।

खर्दा का युद्ध (मार्च, १७९५)

१७९० में अंग्रेजों, मराठों और निजाम के बीच जो त्रिगुट समझौता टीपू के विरुद्ध किया गया था, वह टीपू की पराजय के बाद न चल सका। टीपू की शक्ति कमजोर हो जाने पर मराठों को निजाम पर दबाव डालने का अच्छा मौका था। उन्होंने निजाम से माँग की कि वह सरदेशमुखी और चौथ नामक वार्षिक कर मराठों को अदा करे। निजाम मराठों की माँगों को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। मराठों के दावों को अस्वीकार करते समय निजाम अंग्रेजों की सहायता पर पूरा भरोसा कर रहा था। कुछ महीनों तक दोनों पक्षों के बीच बातचीत चलती रही। जब यह स्पष्ट हो गया कि निजाम किसी प्रकार का वार्षिक कर मराठों को देने को राजी नहीं होगा तो पेशवा की सेनाओं ने हैदराबाद राज्य पर आक्रमण कर दिया। मार्च, १७९५ में खर्दा नामक स्थान पर निजाम की सेना मराठों के सामने जम न सकी, मराठों की शक्ति के आगे हैदराबाद की सेना के पैर उखड़ गये। मजबूर होकर निजाम को पेशवा से संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। पूना और हैदराबाद के बीच के ऐसे कई जिलों को निजाम को मराठों को सौंपना पड़ा जिनकी आमदनी से मराठों को वार्षिक कर और बकाया धनराशि मिल सकती थी। खर्दा के युद्ध में पराजय से निजाम को भारी नुकसान उठाना पड़ा।

जान शोर की हस्तक्षेप न करने की नीति

खर्दा के युद्ध में निजाम को अंग्रेजों द्वारा किसी प्रकार की भी सैनिक सहायता प्राप्त नहीं हुई। निजाम और कंपनी के बीच हुई संधियों में उसे कई बार इस प्रकार का आश्वासन दिया गया था। लेकिन जब यह युद्ध आरंभ हुआ तो उस समय गवर्नर जनरल जान शोर ने अन्य राज्यों के बीच होने वाले युद्धों से अलग रहने की नीति अपनायी। अंग्रेजों की नीति का एक अन्य कारण यह भी था कि ये मराठों के विरुद्ध अपनी सेना भेजने को तैयार नहीं थे।

अंग्रेजों के इस रुख से निजाम बहुत हताश हुआ। एक कठिन समय में अंग्रेजों ने उसे जब सहायता नहीं की तो खर्दा के युद्ध से लौटते ही निजाम ने अंग्रेजी सेना की टुकड़ी को राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया। अंग्रेजों का प्रभाव धीरे-धीरे घटने लगा। हैदराबाद के वजीर अजम-उल-उमरा को भी मराठे बंदी बनाकर ले गये थे। वह अंग्रेजों से दोस्ती बनाये रखने का प्रबल समर्थक था। अब वजीर के न रहने पर निजाम का अंग्रेजों के प्रति रवैया और भी अधिक कठोर होता गया।

जान शोर के शासनकाल (१७९३ से १७९८) में निजाम और अंग्रेजों के बीच तनाव बना

रहा। इन वर्षों में फ्रांसीसियों का प्रभाव हैदराबाद राज्य में बढ़ा। खर्दा के युद्ध में फ्रांसीसियों ने निजाम की ओर से युद्ध किया था। युद्ध की समाप्ति के बाद निजाम ने फ्रांसीसियों के सेनापति रेमांड को फ्रांसीसी सेना को शक्तिशाली बनाने की सभी सुविधाएँ दीं। रेमांड को सेना का खर्च पूरा करने के लिए उसे राज्य के कुछ जिले सौंप दिये गये। धीरे-धीरे अन्य राज्यों से भी आकर फ्रांसीसी हैदराबाद की सेना में मिलते रहे। रेमांड के अधीन फ्रांसीसी सेना कुछ वर्षों में ही दस हजार से भी अधिक हो गयी।

निजाम द्वारा सहायक संधि की स्वीकृति

१७९८ में वेलेज्ली के पद सँभालते ही कंपनी की नीति में परिवर्तन आया। जान शोर के समय की अहस्तक्षेप की नीति को छोड़कर नये गवर्नर जनरल ने विभिन्न राज्यों के साथ सहायक संधि करने की प्रणाली अपनायी। कंपनी और हैदराबाद राज्य के बीच संबंधों में भी इस कारण नया मोड़ आया।

वेलेज्ली आरंभ से ही फ्रांसीसियों के प्रभाव से चिंतित था। उसने प्रत्येक राज्य में फ्रांसीसियों के प्रभाव को समाप्त करने का बीड़ा उठाया। उसका प्रमुख उद्देश्य था हैदराबाद से फ्रांसीसियों को बाहर निकालने के लिए निजाम को राजी करना। निजाम इसे तभी स्वीकार कर सकता था जब अंग्रेज उसे सैनिक सहायता देने का वचन देते। जान शोर तो इसके लिए तैयार नहीं था परन्तु वेलेज्ली निजाम को पूर्ण सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया। वेलेज्ली समझता था कि निजाम मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित था। मराठों से रक्षा करना हैदराबाद राज्य की मुख्य समस्या थी। गवर्नर जनरल अंग्रेजी सेना भेजकर मराठों के विरुद्ध हैदराबाद की रक्षा के लिए तैयार हो गया। इस प्रकार कंपनी और हैदराबाद राज्य के बीच संबंधों का आधार तैयार हो गया। परिस्थितियाँ भी वेलेज्ली के पक्ष में थी। मराठों ने वजीर अजम-उल-उमरा को मुक्त कर दिया था। वजीर ने हैदराबाद आकर यहाँ के शासक निजाम अली को अंग्रेजों से संबंध सुधारने की राय दी। वजीर के आ जाने से अंग्रेजों का प्रभाव हैदराबाद राज्य में बढ़ने लगा। इसी समय एक अन्य परिवर्तन यह भी हुआ था कि वेलेज्ली के आगमन के कुछ समय पूर्व ही हैदराबाद स्थित फ्रांसीसी सेनापति रेमांड की मृत्यु हो गयी थी। उसका व्यक्तिगत प्रभाव भी समाप्त हो चुका था।

वेलेज्ली दक्षिण में कंपनी के प्रभाव को बढ़ाने का आधार तैयार कर रहा था। उसका लक्ष्य था टीपू की शक्ति को कुचलना। टीपू के विरुद्ध कोई अभियान आरम्भ करने के पूर्व उसने कार्नवालिस की नीति का अनुसरण करते हुए निजाम और मराठों को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया।

सितंबर, १७९८ में निजाम और कंपनी ने संधि कर ली। इस संधि के अनुसार यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश सहायक सेना हैदराबाद में रखी जाये। आरंभ में इसकी संख्या छह हजार निश्चय की गयी। निजाम ने इस सेना के खर्च के लिए ३४ लाख रुपये प्रतिवर्ष कंपनी को देना स्वीकार किया। संधि स्वीकार करते समय निजाम को यह आश्वासन दिया गया कि इस सेना द्वारा तथा आवश्यकतानुसार अन्य सैनिकों की सहायता से हैदराबाद राज्य की रक्षा

की जायेगी। संधि की एक अन्य धारा के अन्तर्गत ब्रिटिश रेजीडेंट राज्य के आंतरिक विषयों में भी हस्तक्षेप कर सकता था।

संधि करते समय यह निर्धारित किया गया था कि ब्रिटिश सहायक सेना के हैदराबाद आ जाने के तत्काल बाद ही निजाम फ्रांसीसियों की सेना को भंग कर देगा तथा इस सेना के अधिकारियों को ब्रिटिश रेजीडेंट के सुपुर्द कर देगा। कुछ समय बाद हैदराबाद के वजीर ने जब यह प्रस्ताव किया कि 'तत्काल बाद' के स्थान पर 'कुछ समय बाद' का संशोधन संधि में कर दिया जाये तो ब्रिटिश रेजीडेंट ने इसे स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सेना के आते ही फ्रांसीसियों को हैदराबाद से हट जाने को कहा गया। बिना किसी विवाद के यह कार्य पूरा हो गया। संधि में निजाम ने यह भी आश्वासन दिया था कि वह भविष्य में किसी भी फ्रांसीसी को नौकरी न देगा। संधि के फलस्वरूप फ्रांसीसी सेनाओं का प्रभाव समाप्त हो गया और अंग्रेजी सेना यहाँ स्थायी रूप से रहने लगी। इसका अर्थ यह हुआ कि १७९८ के बाद अंग्रेज निजाम पर दबाव डालने की स्थिति में हो गये। जब आंतरिक और बाह्य सुरक्षा के लिए निजाम कंपनी की कृपा पर आश्रित हो गया तो वह कभी भी अंग्रेजों की इच्छा के विपरीत कार्य नहीं कर सकता था। १७९८ की संधि से हैदराबाद राज्य पर जो अंग्रेजी प्रभाव एक बार स्थापित हुआ वह लगातार बढ़ता ही गया।

इस संधि द्वारा कंपनी का लक्ष्य तो पूरा हो गया परन्तु निजाम की चिंता दूर नहीं हुई। कंपनी हैदराबाद में फ्रांसीसी प्रभाव को खत्म करना चाहती थी। संधि के तुरंत बाद सारी फ्रांसीसी सेनाएँ हैदराबाद से हटा ली गयीं जिससे निजाम को टीपू के विरोध में अंग्रेजों की मदद करना आवश्यक हो गया। लेकिन निजाम का उद्देश्य इस संधि से पूरा न हो सका। वह अंग्रेजों से ऐसी संधि करना चाहता था जिससे मराठों के आक्रमण के समय उसकी पूरी तरह से रक्षा हो सके और यदि संभव हो सके तो उसे वार्षिक कर अदा करने के बोझ से भी मुक्ति मिल सके। संधि द्वारा ब्रिटिश प्रभाव तो हैदराबाद में बढ़ा, पर मराठों के विरुद्ध उसकी सुरक्षा का कोई स्पष्ट आश्वासन नहीं दिया गया था। ऐसा आश्वासन देने के पूर्व गवर्नर जनरल राजनीतिक परिवर्तनों की प्रतीक्षा कर रहा था।

१८०० की संधि

चौथे मैसूर युद्ध में टीपू की पराजय और मृत्यु के पश्चात् दक्षिण की राजनीति में जो नया मोड़ आया उसके अनुसार वेलेज्ली ने हैदराबाद के प्रति अपनायी गयी नीति में आवश्यक परिवर्तन किये। मैसूर पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित हो जाने पर दक्षिण भारत में प्रभुत्व स्थापित करने के प्रश्न को लेकर मराठों और अंग्रेजों में कभी भी संघर्ष छिड़ सकता था। निजाम मराठों के विरुद्ध सुरक्षा की कोशिश कर रहा था। अंग्रेजों और निजाम दोनों का ही हित इसी में था कि वे मराठों के विरुद्ध कोई समझौता कर लेते। निजाम और अंग्रेज शीघ्र ही एक नयी संधि के लिए तैयार हो गये।

१८०० की संधि के द्वारा यह निश्चित किया गया कि किसी भी विरोध की आशंका अथवा किसी भी राज्य द्वारा आक्रमण करने के समय हैदराबाद राज्य तथा कंपनी एक दूसरे की रक्षा

करेगी। निजाम को संधि के अन्तर्गत यह आश्वांसन दिया गया कि किसी भी मराठा राज्य द्वारा अकेले अथवा संगठित रूप से उसके राज्य पर आक्रमण होने की स्थिति में कंपनी की सेनाएँ उसकी रक्षा करेंगी। संधि में दोनों पक्षों के बीच घनिष्ठ संबंधों की व्याख्या करते हुए अतिरंजित शब्दावली का प्रयोग किया गया। यह कहा गया कि 'दोनों शक्तियों के हित, नीतियाँ, मित्रता और सम्मान एक प्रकार के हो गये थे।'

इस संधि के पूर्व कभी भी अंग्रेजों ने हैदराबाद की सुरक्षा की इतनी स्पष्ट रूप से गारंटी नहीं दी थी। गवर्नर जनरल ने अनुभव किया कि यह उचित अवसर था जब निजाम को आश्वस्त किया जा सकता था। निजाम को सुरक्षा का वचन देने के पूर्व गवर्नर जनरल ने उसे भारी मूल्य चुकाने के लिए राजी कर लिया। निजाम के राज्य में अंग्रेजी सहायक सेना का विस्तार किया गया। अब इस सेना की संख्या करीब छह हजार से बढ़ाकर दस हजार कर दी गयी। इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठा कि निजाम इस सेना के वार्षिक खर्च की रकम किस प्रकार अदा करेगा। संधि के पूर्व इस विषय पर निजाम और गवर्नर के बीच लंबे समय तक बातचीत हुई। वेलेज्ली ने सहायक संधि करते समय अब एक नया तरीका अपनाया। उसने कहा कि हैदराबाद किसी निश्चित धनराशि के स्थान पर राज्य के कुछ जिले अंग्रेजों के अधिकार में सौंप दे। इन जिलों से मिलने वाले राजस्व से सेना रखने का खर्च चलाया जा सकता था। वेलेज्ली हैदराबाद और कर्नाटक क्षेत्र के उन जिलों पर दाँत गड़ाये हुए था जिन पर निजाम ने तीसरे और चौथे मैसूर युद्धों के बाद अधिकार किया था। जब वह अपनी माँग पर अड़ा रहा तो निजाम को उसकी शर्त स्वीकार करने पर राजी होना पड़ा। इस संधि के द्वारा निजाम को तुंगभद्रा तथा कृष्णा नदी के दक्षिण के जिले हमेशा के लिए कंपनी को सौंप देने पड़े। इस प्रकार दक्षिण-पूर्व के हैदराबाद राज्य के एक भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

सहायक सेना के खर्च के लिए राज्य का कुछ प्रदेश स्थायी रूप से हस्तांतरित करने को जब निजाम राजी हो गया तो इसका अर्थ यह हुआ कि निजाम ने एक स्थायी व्यवस्था के लिए अपनी स्वीकृति दे दी। इन जिलों को कंपनी को देकर निजाम ने स्थायी रूप से कम्पनी की सेना के खर्च की व्यवस्था कर दी थी और कंपनी ने भी स्थायी रूप से सेना रखने का वचन दिया था। निजाम से दूसरी सहायक संधि करते समय वेलेज्ली सहायक सेना रखने की स्थायी व्यवस्था कर रहा था। वह यह नहीं चाहता था कि आवश्यकता पड़ने पर तो निजाम वार्षिक खर्च देता रहे पर सुरक्षा का भय दूर हो जाने के बाद वह सेना को हट जाने को कहे।

सहायक संधि के परिणाम

सहायक संधियाँ स्वीकार करते समय निजाम ने अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार किया। अंग्रेजी शक्ति की मदद से उसने राज्य की सुरक्षा का स्थायी प्रबंध किया। उसे मराठों से हर समय भय बना रहता था और खर्दा के युद्ध से उसने अनुभव कर लिया था कि हैदराबाद की सेनाएँ बिना किसी बाहरी सहायता के मराठों का मुकाबला नहीं कर सकेंगी। इस सुरक्षा की समस्या का समाधान करते हुए निजाम ने १७९८ और १८०० की संधियाँ कीं। संधि के बाद हैदराबाद पर कोई भी बाहरी आक्रमण नहीं हुआ। खर्दा के युद्ध के पश्चात् राज्य के अस्तित्व

को जो खतरा उत्पन्न हो गया था वह समाप्त हो गया।

सहायक संधियों से निजाम को कुछ अन्य प्रदेशों पर अधिकार मिला तथा आर्थिक लाभ भी हुए। चौथे मैसूर युद्ध में उसने अंग्रेजों का साथ दिया था। युद्ध के वाद टीपू के राज्य का कुछ भाग उसके अधिकार में आया। अंग्रेजों और मराठों के बीच हुए युद्धों में भी निजाम ने अंग्रेजों का साथ दिया। जब ब्रिटिश सेना की विजय हुई तो सहायता देने के कारण निजाम को पुरस्कृत किया गया। १८०३ में सिंधिया तथा भोंसले के राज्यों के कुछ भागों पर निजाम का अधिकार हो गया। निजाम को विशेष लाभ यह हुआ कि बरार क्षेत्र उसके अधिकार में आ गया। निजाम को जो वार्षिक कर मराठों को देना पड़ता था उस दायित्व से भी उसे छुटकारा मिल गया।

परन्तु इन लाभों को देखते हुए सहायक संधि के जो दुष्परिणाम दिखायी दिये उनसे निजाम अली तथा उनके उत्तराधिकारी बार-बार अपनी गलती पर पछतावा करते रहे। उन्हें मालूम पड़ने लगा कि संधियाँ करके उन्होंने अपनी स्वतंत्र सत्ता के अधिकार को हमेशा के लिए खो दिया था। संधियों के बाद अंग्रेजी प्रभाव हैदराबाद में बढ़ने लगा और गवर्नर जनरल तथा ब्रिटिश रेजीडेंट निजाम तथा वजीर पर अपना दबाव बढ़ाने लगे। परिस्थिति भी उनके अनुकूल थी। निजाम अली बूढ़ा हो गया था और उसे यह चिन्ता होने लगी थी कि उसकी मृत्यु के बाद राज्य का उत्तराधिकारी कौन होगा। इसके पूर्व उत्तराधिकार की समस्या के कारण हैदराबाद में कई बार अस्थिरता आयी थी।

निजाम अली की अगस्त, १८०३ में मृत्यु के बाद उसके पुत्र सिकन्दरजाह ने शीघ्र ही नये शासक का पद सँभाला। अंग्रेजों की सहायता के कारण अन्य किसी भी राजकुमार ने अथवा पड़ोस के राज्य ने हस्तक्षेप नहीं किया। नये निजाम ने एक प्रपत्र पर हस्ताक्षर करके कंपनी और राज्य के बीच की गयी संधियों को स्वीकार किया। नये निजाम का हैदराबाद में तथा दक्षिण भारत में वह प्रभाव नहीं था जो उसके पिता का था। वेलेज्ली के समय कंपनी का जो प्रभाव दक्षिण भारत में बढ़ा था उससे अंग्रेज अधिकारी प्रोत्साहित हुए और वे हर प्रकार से राज्य पर अपना प्रभाव बढ़ाने लगे। कुछ समय में ही निजाम हतोत्साहित हो गया और वह शासन के कार्यों से विमुख होकर जीवन बिताने लगा।

१८२९ में सिकंदरजाह की मृत्यु के समय एक बार पुनः उत्तराधिकार का पेंचीदा मसला सामने आया। इस बार भी अंग्रेजों के प्रभाव के कारण तथा हैदराबाद स्थिति सेना की कार्यवाही के फलस्वरूप कोई संघर्ष नहीं हुआ। सिकंदरजाह की इच्छा थी कि उसके बाद उसका छोटा भाई अकबरजाह निजाम बने। पर गवर्नर जनरल ने इसे स्वीकार नहीं किया। अंग्रेजों ने उत्तराधिकारी के रूप में सिंकदरजहा के बड़े पुत्र नासिरुद्दौला को चुना। १८२९ में इसी निर्णय के अनुसार कार्य किया गया। सेना की पूरी सहायता नासिरुद्दौला को दी गयी और इस कारण वह निजाम बन गया। इस घटना ने एक बार फिर साबित कर दिया कि अंग्रेजों के प्रभाव के कारण उत्तराधिकार के लिए संघर्ष नहीं हुआ था। यह तो स्पष्ट ही है कि जिस राजकुमार को ब्रिटिश रेजीडेंट तथा गवर्नर जनरल निजाम बनाना चाहते थे उसे छोड़कर कोई दूसरा दावेदार

निजाम नहीं बन सकता था। १८०० के बाद जब भी नये निजाम के पदग्रहण करने का प्रश्न सामने आया तो अंग्रेज सचेत रहे। वे चाहते थे कि हैदराबाद की गद्दी पर ऐसे शासक बैठे जो संधि की शर्तों के अनुसार ही कार्य करें।

राज्य-प्रशासन में ब्रिटिश हस्तक्षेप

निजाम के उत्तराधिकार के समय ही नहीं, ब्रिटिश रेजीडेंट ने मंत्रियों की नियुक्ति में भी हस्तक्षेप किया। ब्रिटिश नीति यह थी कि निजाम को केवल नाममात्र का शासक बनाये रखा जाये तथा प्रशासन के कार्य वजीर या उसके सहायक मंत्रियों को सौंप दिये जायें। इस नीति को अपनाने में समय-समय पर कठिनाइयाँ उपस्थित हुई क्योंकि निजाम ने ब्रिटिश रेजीडेंट के हस्तक्षेप का विरोध किया। मंत्रियों का प्रश्न निजाम और रेजीडेंट के बीच संघर्ष का कारण बना रहा। अगर वजीर निजाम की इच्छानुसार कार्य करता था तो रेजीडेंट अप्रसन्न रहता था और यदि वजीर अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार कार्य करना चाहता था तो निजाम उसे शंका की दृष्टि से देखने लगता था।

अजम-उल-उमरा की १८०४ में मृत्यु के बाद मीर आलम नया वजीर बना। उसके सम्मुख यह एक बड़ी कठिनाई बनी रही कि किस प्रकार निजाम और रेजीडेंट दोनों को संतुष्ट किया जा सकता था। १८०८ में इस वजीर की मृत्यु से यह पेचीदा प्रश्न पुनः निजाम के सम्मुख आया। कुछ महीनों तक निजाम निर्णय न कर सका। अंत में उसने रेजीडेंट से भी इस मसले पर सलाह माँगी। इस प्रकार उसने यह परम्परा आरम्भ की कि वजीर के पद के लिए चुनाव करते समय अंग्रेजों से भी संपर्क किया जाये। मुनीर मुल्क १८०९ से १८३२ तक वजीर के पद पर कार्य करता रहा। किन्तु मुनीर के पद सँभालने के समय से ही ब्रिटिश रेजीडेंट की इच्छानुसार चंदूलाल को पेशकार का पद दिया गया। चंदूलाल का पद कुछ भी रहा हो, वह रेजीडेंट का मुख्य कृपापात्र था और इस कारण वजीर को शासन चलाने में चंदूलाल की सलाह माननी पड़ी। अंग्रेजों के प्रभाव के कारण चंदूलाल की शक्ति बढ़ती गयी और १८३२ में वह वजीर बन गया। १८४३ तक वह उस पद पर कार्य करता रहा। चंदूलाल की सफलता का श्रेय अंग्रेजों को ही है। जब तक वह उनका विश्वासपात्र बना रहा, उसका हैदराबाद राज्य में प्रभाव बना रहा और जब अंग्रेजों ने उस पर भरोसा करना छोड़ दिया तो उसका भी पतन हो गया।

निजाम और उसके मंत्रियों की नियुक्तियों तथा उनके कार्यों में ब्रिटिश हस्तक्षेप का प्रभाव यह हुआ कि हैदराबाद राज्य का शासन अव्यवस्थित होता गया। किसी ने भी जनकल्याण के कार्यों की ओर ध्यान नहीं दिया और हैदराबाद के निवासियों का जनजीवन दिन प्रतिदिन कष्टप्रद होता गया।

सहायक सेना के खर्च का बोझ

हैदराबाद में स्थित कंपनी की सेना अंग्रेजों के लिए हर प्रकार से लाभप्रद सिद्ध हुई। इसका पहला परिणाम तो यह हुआ कि ब्रिटिश प्रभाव हैदराबाद में बढ़ा। दूसरे, देश के मध्यवर्ती क्षेत्र में स्थित इस सेना का उपयोग किसी भी आवश्यकता के समय किया जा सकता था। विशेषतः

अंग्रेजों और मराठों के बीच हुए निर्णायक संघर्ष में इस सेना ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। तीसरे, इस सेना के रखने में अंग्रेजों का किसी प्रकार का खर्च नहीं होता था। यह तरीका कंपनी की शक्ति को बढ़ाने के लिए बहुत ही उपयोगी था।

जहाँ अंग्रेजों को सहायक सेना से ये लाभ हुए वहीं निजाम के लिए यह सेना ऐसा बोझ बन गयी जिसे उठाने में राज्य की अर्थव्यवस्था ही जर्जर हो गयी। सेना पर इतना अधिक खर्च होने लगा जिसे राज्य उठा नहीं सका। सहायक सेना के खर्च के अलावा निजाम को एक अन्य सेना भी रखनी पड़ी जो हैदराबाद सैन्य दल कहलाता था। इसमें यूरोपीय अधिकारियों के वेतन पर और सेना की अन्य सामग्री पर इतना अधिक खर्च होने लगा था कि राज्य की आमदनी का एक बड़ा भाग इसी प्रकार खर्च हो जाता था। अभिप्राय यह है कि सेना के संगठन पर खर्च होने के बाद जो धन शासन चलाने के लिए बचता था वह बहुत ही अपर्याप्त था। निजाम ने प्रशासन के खर्च को चलाने की भरसक कोशिश कि किन्तु हर समय या तो उसे कर्ज लेना पड़ता था अथवा किसानों से अधिक कर वसूल किया जाता था।

अंग्रेजों और हैदराबाद के बीच सम्बन्धों के इस अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहायक संधियों के बाद से निजाम की कठिनाइयाँ बढ़ती गयीं। हैदराबाद एक स्वतंत्र राज्य से एक संरक्षित राज्य बन गया और गवर्नर जनरल तथा ब्रिटिश रेजीडेंट की इच्छानुसार ही उसे प्रशासन चलाना पड़ा। अंग्रेजों ने साम्राज्य-विस्तार के लिए हैदराबाद राज्य के स्रोतों का पूरा उपयोग किया।

●●●

नवाँ अध्याय

वेलेज्ली द्वारा साम्राज्य विस्तार

(मई, १७९८ से जुलाई, १८०५ तक)

गवर्नर जनरल का पद सँभालने के समय से ही वेलेज्ली ने भारत में कंपनी के साम्राज्य का हर संभव उपाय से विस्तार करने का निश्चय किया। आरंभ से ही जिस प्रभावोत्पादक ढंग से उसने ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाने के तरीके का अनुसरण किया उससे उसके इरादे दिखायी पड़ने लगे। उसके कार्यकाल में 'भारत का नक्शा बड़े ही नाटकीय ढंग से बदला।' वेलेज्ली का ब्रिटिश साम्राज्य के विकास में यही प्रमुख योग था। उसने कंपनी के साम्राज्य का इतना अधिक विस्तार किया जितना उसके पहले किसी अन्य गवर्नर जनरल ने नहीं किया था। इतना ही नहीं, वह भविष्य में भी कंपनी की सर्वोच्च सत्ता की स्थापना की आधारशिला तैयार कर गया। हमें यह विचार करना है कि जब वह भारत पहुँचा तो यहाँ की राजनीतिक स्थिति किस प्रकार की थी और वह मानचित्र कैसा था जिसे बदल डालने की उसने ठान ली।

वेलेज्ली के आगमन के समय भारत की राजनैतिक स्थिति

पहले हम उन क्षेत्रों पर ध्यान दे सकते हैं जो कंपनी के अधिकार क्षेत्र में थे। इनमें सबसे प्रमुख और बड़ा क्षेत्र बंगाल का सूबा था जिसके अन्तर्गत बंगाल, बिहार और उड़ीसा शामिल थे। कंपनी ने इस प्रदेश में केवल बनारस, गाजीपुर और इलाहाबाद को क्लाइव के समय से अब तक मिलाया था। कंपनी की सत्ता का विस्तार इस ओर अधिक नहीं हुआ था। मद्रास क्षेत्र में कंपनी का अधिकार कई क्षेत्रों में स्थापित किया गया था। लेकिन बंगाल सूबे की तरह ये संगठित न होकर एक दूसरे से पृथक् थे। इससे कंपनी को दक्षिण में प्रभाव जमाने की तथा मद्रास में शक्ति-स्थापना की अधिक चिंता थी। मद्रास नगर और उसके आसपास के थोड़े से क्षेत्र पर ही कंपनी का अधिकार था। इसके अलावा मैसूर से प्राप्त बारामहल, डिंडीगल और कालीकट के क्षेत्र भी कंपनी के अधीन थे। ये सभी एक दूसरे से जुड़े नहीं थे। यही स्थिति उत्तरी सरकार के जिलों की थी। बंबई क्षेत्र में कंपनी का अधिकार क्षेत्र बहुत सीमित था। उसके पास बंबई नगर के आसपास का प्रदेश तथा सेलसट द्वीप थे।

स्पष्ट है कि १७९८ में कंपनी के अधिकार में जो क्षेत्र थे वे भारत के किसी भी अन्य बड़े राज्य के बराबर ही थे। अभी भी कंपनी भारत की कई शक्तियों में से एक थी। कंपनी के भारतीय साम्राज्य की कुछ विशेष कठिनाइयाँ भी थीं। कंपनी के तीनों भाग एक दूसरे से अलग थे और आवश्यकता पड़ने पर संपर्क करने के लिए अथवा सहायता पहुँचाने के लिए केवल सामुद्रिक रास्ते का ही उपयोग हो सकता था। प्रांतीय सरकारों और केन्द्र सरकार के बीच तालमेल बैठाने के उद्देश्य से विभिन्न उपाय किये गए थे। लेकिन फिर भी इन तीनों सरकारों में मतभेद समाप्त नहीं हुए थे।

१७९८ में अथवा अठारहवीं सदी के अंत होने के समय भारतीय राज्यों की स्थिति पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मुगल सम्राट् शाहआलम की स्थिति पहले से भी कमजोर हो चुकी थी। वह अंधा हो गया था और मराठा सरदार महादाजी सिंधिया के प्रभाव-क्षेत्र में था। अवध राज्य पर कंपनी का प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा था। धीरे-धीरे अवध के नवाब की स्वतंत्रता को खतरा दिखायी देने लगा था। उसके आंतरिक प्रशासन में अंग्रेज अधिकारियों का हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा था। उस पर ब्रिटिश रेजीडेंट का नियंत्रण बढ़ता जा रहा था, ब्रिटिश सेना की इच्छा के विपरीत नवाब कुछ भी निर्णय नहीं ले सकता था। हैदराबाद के निजाम की कमजोरी से भी वेलेज्ली ने पूरा फायदा उठाने का विचार किया। निजाम को मराठों से भय बना हुआ था। अपनी रक्षा के उपाय करते वह अंग्रेजों की ओर झुका। भारतीय राज्यों के आपसी मतभेदों का वेलेज्ली ने पूरा लाभ उठाया और उसे दक्षिण की राजनीति में इसी कारण पर्याप्त सफलता मिली।

मैसूर राज्य और मराठों के प्रति गवर्नर जनरल विशेष रूप से सतर्क था। क्योंकि इन्हीं दोनों राज्यों ने कंपनी का विरोध किया था और १७९८ में भी वे पुनः प्रतिरोध कर सकते थे। वारेन हेस्टिंग्स ने और उसके बाद कार्नवालिस ने मैसूर के सुल्तान पर हमला करके उसकी शक्ति को कुचल देने की भरसक कोशिश की थी। परिणाम यह हुआ था कि टीपू सुल्तान की स्थिति उतनी सुदृढ़ नहीं रह गयी थी जितनी तीसरे मैसूर युद्ध के पहले थी। टीपू की सत्ता को मटियामेट करने का पक्का इरादा करके वेलेज्ली भारत आया था। दक्षिण भारत में पैर जमाने के लिए अंग्रेजों को यह जरूरी दिखायी दिया।

मराठा संगठन और उसके साथ अंग्रेजों के लिए किस प्रकार के संबंध रहे, इसका विवरण हम अलग से दे रहे हैं। यहाँ पर केवल कुछ विशेषताओं का जिक्र करना पर्याप्त होगा। वेलेज्ली के आगमन के पहले करीब बीस वर्षों से मराठों और अंग्रेजों के बीच शान्ति बनी हुई थी। लेकिन अठारहवीं सदी का अंत होते-होते जहाँ एक ओर कंपनी की शक्ति बढ़ी थी वहीं दूसरी ओर मराठा संगठन पहले की तुलना में कमजोर हो गया था। एक कठिन समय में मराठों का नेतृत्व अयोग्य और भ्रष्ट पेशवा के हाथों में आया और उसके निर्णयों के कारण गवर्नर जनरल को मराठा राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया। दूसरे मराठा युद्ध के पहले की स्थिति अंग्रेजों के अनुकूल थी।

राजपूत राजाओं की शक्ति बहुत घट गयी थी। वे हमेशा एक दूसरे से युद्ध करते थे जिससे उनके बीच मतभेद तो बढ़े ही परन्तु इसके साथ उनकी शक्ति भी घटी। राजपूत राजा भी मराठों से तंग आ चुके थे। ऐसी स्थिति में वे अंग्रेजों के प्रभाव में आने को तैयार थे। पंजाब की स्थिति साफ नहीं थी। वेलेज्ली के शासनकाल में रणजीत सिंह ने जब लाहौर और अमृतसर पर अधिकार कर लिया तभी कंपनी के अधिकारियों का ध्यान पंजाब की ओर गया।

साम्राज्य-विस्तार के उपाय

राज्य-विस्तार करने के सभी सम्भव तरीकों को वेलेज्ली ने अपनाया। उसके दो प्रमुख साधन थे युद्ध करना और कूटनीति। उसने टीपू सुल्तान पर आक्रमण करके उसे पराजित किया

तथा दूसरा मराठा युद्ध लड़ा। इसके अलावा सहायक संधि-प्रणाली के सहारे भी उसने राज्य-विस्तार किया। कमजोर राज्यों को धमकी देकर ही उसने ब्रिटिश प्रभाव स्थापित कर लिया। १७९८ के बाद से कंपनी देश की राजनीति में प्रमुख राजनीतिक भूमिका अदा करने लगी और गवर्नर जनरल ने विभिन्न प्रभावशाली राजाओं, नवाबों और सरदारों को जैसा चाहे नचाना शुरू कर दिया। यह भारत के इतिहास का एक बड़ा मोड़ था जब वेलेज्ली और उसके उत्तराधिकारी भारत में चल रहे सत्ता के संघर्ष में द्रष्टा न होकर उस शक्ति-संघर्ष के नियामक बन गये।

वेलेज्ली ने अग्रगामी नीति अपनायी। सात वर्षों के शासन काल में वह लगातार किसी न किसी भारतीय राज्य के विरुद्ध संघर्ष में जूझता रहा। बड़े ही सक्रिय ढंग से उसने भारतीय राजनीति पर हावी होना शुरू कर दिया। स्वयं वह घटना की प्रतीक्षा नहीं करता था। इसके विपरीत वह स्वयं घटनाओं का साधन बना। मिसाल के तौर पर चौथे मैसूर युद्ध को ही देखा जा सकता है। इतिहासकार एडवर्ड इनग्रम उसके पत्रों का हवाला देते हुए कहता है कि 'गवर्नर जनरल लगातार यही लिखता रहा कि टीपू सुल्तान आक्रमण करने की योजना बना रहा था लेकिन वास्तविकता यही थी कि अंग्रेज उस पर हमला करने वाले थे।' वेलेज्ली ने अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए तथा अपने इरादों पर पर्दा डालने के लिए कंपनी के विरोधी पर तरह-तरह के लांछन लगाये। वेलेज्ली ने हमेशा अपने आक्रामक इरादों पर पर्दा डाला और युद्ध करने के पूर्व ही ब्रिटेन स्थित नियंत्रक-मंडल को अपने पक्ष में कर दिया। नियंत्रण-मंडल का अध्यक्ष चाहता हुआ और न चाहता हुआ भी उसके राज्य-विस्तार के कार्यों को स्वीकार करता रहा।

सहायक संधि प्रणाली

अब तक हमने वेलेज्ली की सहायक संधि प्रणाली की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने की कोशिश की है। वेलेज्ली की इस प्रमुख व्यवस्था को समझने के लिए यह जरूरी है कि हम उसके आगमन के समय की भारतीय राजनीति पर भी ध्यान रखें तथा देखें कि तब कंपनी की शक्ति किस प्रकार की थी। दूसरा महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि वेलेज्ली ने अहस्तक्षेप की नीति को बदलकर किस प्रकार सक्रिय हस्तक्षेप की नीति का अनुकरण किया और सहायक संधि प्रणाली कैसे उसकी सक्रिय राजनीति का एक मुख्य अंग बन गयी। तीसरा प्रश्न हमने ऊपर यह उठाया है कि ब्रिटेन-स्थित नियंत्रक-मंडल ने वेलेज्ली को राज्य-विस्तार करने की अनुमति किन परिस्थितियों में प्रदान की। हमने फ्रांस के आक्रमण के भय को इसका आधारभूत कारण माना है। इस प्रकार हम उन तत्कालीन परिस्थितियों का विश्लेषण कर चुके हैं जिनसे प्रभावित होकर वेलेज्ली ने सहायक संधि प्रणाली को अपनाया।

सहायक संधि प्रणाली उसके मूल लक्ष्य का एक प्रमुख साधन थी। वेलेज्ली ने राज्य-विस्तार करने तथा भारत में कंपनी को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य से ही इस सहायक संधि व्यवस्था को अपनाया। सहायक संधियाँ करके उसने विभिन्न राज्यों पर कंपनी का प्रभाव बढ़ाया। सहायक संधि प्रणाली एक मकड़ी के जाले की तरह थी। जिस प्रकार मकड़ी के जाले में फँसने के बाद कोई भी कीड़ा बाहर नहीं निकल पाता है उसी प्रकार जो भारतीय राज्य सहायक संधि के जाल

में एक बार फँसा वह कभी भी उससे बाहर नहीं निकल सका। एक बात और भी कही जा सकती है। जाले में बैठी हुई मकड़ी जैसे अपने जाल में फँसे शिकार को सुविधानुसार कभी भी दबोच सकती है उसी प्रकार कंपनी ने भी जब आवश्यक समझा, भारतीय राज्य पर फंदा कड़ा कर दिया। यह ध्यान रखना है कि वेलेज्ली की सहायक संधि योजना के दूरगामी परिणाम हुए। इस प्रणाली का प्रभाव १८५७ तक लगातार अनुभव किया गया और जब भी किसी गवर्नर जनरल को भारतीय राज्यों के खिलाफ कोई कदम उठाना हुआ, उन्होंने किसी न किसी संधि की धारा को मनमाने ढंग से आधार बना लिया। हैदराबाद और अवध राज्यों के साथ अंग्रेजों के संबंधों के लंबे इतिहास से यह आसानी से समझा जा सकता है।

सहायक संधि पद्धति को वेलेज्ली के समय पहली बार लागू नहीं किया गया। वास्तविकता यही है कि किसी न किसी प्रकार से इस प्रणाली का आरंभ १७६८ से ही हो गया था। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सहायक संधि व्यवस्था का क्रमिक विकास हुआ। अल्फ्रेड लायल के अनुसार चार चरणों में इस व्यवस्था का विकास हुआ। पहले चरण में कंपनी किसी मित्र राज्य के युद्ध में उसको सैनिक सहायता भेजने को तैयार हुई। १७६८ में निजाम के साथ संधि करते समय उसे सहायता देने का आश्वासन दिया गया था। दूसरे चरण में कंपनी की सेनाएँ स्वतंत्र रूप में किसी युद्ध के समय सामने आयीं और किसी भारतीय राज्य की सेनाएँ कंपनी की सेनाओं के साथ युद्ध में उतरीं। लेकिन यह स्थिति भी अधिक समय तक न चल सकी क्योंकि ब्रिटिश सेनापति भारतीय राज्यों की सेनाओं से संतुष्ट न हो सके। इससे तीसरे चरण का रूप सामने आया जब कंपनी भारतीय सहायक राज्य से यह कहने लगी कि वह आवश्यक सेना न भेजकर केवल धन देने की जिम्मेदारी ले लें। तीसरे चरण में कंपनी की नीति यह दिखायी दी कि सहायक राज्य से धन प्राप्त करके उसी खर्च से वह एक निश्चित आकार की सेना संगठित करे, प्रशिक्षित करे और उसको वेतन भी दे। सहायक संधि प्रणाली का चौथा चरण वेलेज्ली की व्यवस्था से प्रकट हुआ।

वेलेज्ली ने जिस प्रकार से सहायक संधि प्रणाली को कारगर ढंग से लागू किया वह उसके पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों द्वारा अपनायी गयी व्यवस्था से बहुत कुछ भिन्न थी। १७९८ के पहले जब कंपनी ने मित्र राज्यों से सहायक संधियाँ की थीं तो उनका उद्देश्य सीमित था। कंपनी अपनी सीमा की सुरक्षा करने का ऐसा तरीका ढूँढ रही थी जिसमें उसे कम से कम खर्च करना पड़े। कंपनी ने संधि करने वाले शासक की सत्ता अथवा उसकी स्वतंत्रता को किसी प्रकार से कम करने की कोशिश नहीं की। लेकिन वेलेज्ली ने जिस प्रकार की सहायक संधियाँ कीं वे पहले की संधियों से भिन्न थीं। उसकी संधियों के आधार में और पूर्ववर्ती संधियों के आधार में मूलभूत अंतर था जिससे जाहिर है कि वेलेज्ली ने सहायक संधि-प्रणाली को निराला रंग-रूप प्रदान किया। वेलेज्ली ने जो सहायक संधियाँ कीं उनका उद्देश्य था संधि करने वाले राज्य के निर्णय करने के अधिकार पर अंकुश लगाना। जब सहायक संधि करने वाले राज्यों को असलियत का अंदाज हुआ तो वे भी एक बार उलझन में पड़ गये। परन्तु एक फंदे में आ जाने के बाद कोई भी राज्य संधि-व्यवस्था को तोड़कर बाहर न जा सका। यह वेलेज्ली और उसके उत्तराधिकारियों की स्वेच्छा पर निर्भर था कि जब उन्होंने चाहा तब फंदे को कड़ा कर दिया।

सहायक संधि की शर्तें

वेलेज्ली द्वारा की गयी सहायक संधियों की कुछ सामान्य शर्तें प्रायः सभी संधियों में थीं जिन पर हम यहाँ विचार कर सकते हैं।

संधि पर हस्ताक्षर करने वाला शासक यह स्वीकार करता था कि उसके और कंपनी के 'हित नीति, और प्रतिष्ठा' समान हैं। प्रायः संधि की भूमिका में कहा गया है कि 'एक दूसरे की सीमाओं की सुरक्षा तथा मित्रों और आश्रित राज्यों की सुरक्षा के लिए इस सुरक्षात्मक संधि की आवश्यकता थी।' देखने में सहायक संधि कंपनी और संबंधित राज्य के बीच एक सुरक्षात्मक संधि थी।

सहायता प्राप्त करने वाला राज्य यह स्वीकार करता था कि किसी भी दूसरे राज्य से संबंध करने के पूर्व वह कंपनी की अनुमति प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार सहायता प्राप्त करने वाले राज्य की वैदेशिक नीति पर कंपनी का पूरा अंकुश हो गया। कंपनी की यह जिम्मेदारी हो गयी कि वह उस राज्य पर आक्रमण होने की हालत में उसकी रक्षा करे।

इन संधियों को सहायक संधि इस कारण कहा गया था क्योंकि सम्बन्धित राज्य में निश्चित संख्या में कंपनी की सेना रहने लगी। सहायता का अर्थ था कंपनी की सेना की सहायता। इस सेना का प्रशिक्षण, संगठन और नेतृत्व सभी कुछ पूरी तरह से कंपनी के अधिकारियों के हाथ में था।

इस कंपनी की सेना के खर्च का भार सहायता प्राप्त करने वाले राज्य को वहन करना पड़ा। उसे यह स्वीकार करना पड़ा कि उसके राज्य में सेना रखने का जो भी खर्च हो उसे वह कंपनी को दे। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि प्रतिवर्ष सेना रखने में खर्च कितना हुआ था, इसका निर्णय करने की जिम्मेदारी कंपनी के ऊपर थी और संबंधित राज्य का शासक इस विषय में कुछ भी नहीं कर सकता था।

कंपनी की ओर से एक राजनीतिक प्रतिनिधि सम्बन्धित राज्य में रहने लगा। यह अधिकारी रेजीडेंट कहलाता था जो प्रायः राज्य की राजधानी के निकट ही रहता था। कंपनी और भारतीय राज्य के बीच संबंध उसी के द्वारा होते थे।

सहायता प्राप्त करने वाले राज्य को यह भी स्वीकार करना पड़ता था कि कंपनी की पूर्व अनुमति के बिना वह किसी भी यूरोपीय को अपने राज्य की सेवा में नियुक्त नहीं करेगा।

सहायक संधियों से लाभ और हानियाँ

वेलेज्ली ने भारत में सहायक संधियों का जाल इस कारण बिछाया था क्योंकि वह समझता था कि इनके द्वारा कंपनी को भारत में प्रभावशाली बनाया जा सकता था। स्वाभाविक रूप से संधियों से कंपनी को लाभ पहुँचे, उसकी स्थिति सुदृढ़ हुई। लेकिन इस संधि-व्यवस्था में शामिल होने वाले राज्यों की स्थिति कमजोर होती गयी। हम आगे चलकर स्पष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं कि इस प्रणाली से राज्यों को तात्कालिक लाभ भले ही दिखायी दिये हों परन्तु वास्तविकता यही है कि उन्हें कई प्रकार से हानियाँ ही हुईं।

सहायक संधियों से लाभ

सहायक संधियाँ करके कंपनी अपनी सेनाएँ उन राज्यों में रख सकी जो इस व्यवस्था को स्वीकार कर रहे थे। इससे कंपनी की शक्ति बढ़ी। उसकी सेनाओं की संख्या का विकास हुआ। यह सेना दूर-दूर क्षेत्रों में फैल गयी। विशेष बात यह थी कि सहायक सेना रखने का सारा खर्च किसी न किसी भारतीय राज्य को देना था। यह एक निराला तरीका था जिसके अनुसार बिना अतिरिक्त खर्च किये हुए कंपनी को अपनी सैनिक शक्ति का विस्तार करने का अवसर मिल गया।

कंपनी को इस व्यवस्था से दूसरा लाभ यह मिला कि उसका प्रभाव क्षेत्र पहले की तुलना में बहुत बढ़ गया। वास्तविक रूप में कंपनी की सीमाएँ उन राज्यों की सीमाओं तक बढ़ गयी जिन्होंने कंपनी की सेनाएँ रखना स्वीकार किया था। सहायता करने वाली कंपनी की सेनाएँ संबंधित राज्य की सुरक्षा तो करने ही लगीं परन्तु साथ-साथ कंपनी की भी वे अप्रत्यक्ष रूप से सुरक्षा करने लगीं। इसका एक दूसरा पहलू भी था। कंपनी की सेनाएँ बड़ी आसानी से इन राज्यों की सीमाओं से आगे बढ़कर कंपनी का विरोध करने वाले राज्य का मुकाबला कर सकती थीं।

सामरिक दृष्टि से कंपनी को लगातार यह कठिनाई होती थी कि भारत ऐसे विशाल क्षेत्र में ब्रिटिश सेनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक भेजने में अनेक कठिनाइयाँ होती थीं। इसका किसी भी युद्ध पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। अब कंपनी की आवागमन की समस्याएँ बहुत हद तक दूर हो गयीं। उसकी सेनाएँ मैसूर, हैदराबाद, पूना और लखनऊ आदि स्थानों में केन्द्रित थीं जहाँ से वे आसानी से निकटवर्ती इलाकों की ओर बढ़ सकती थी।

चौथा लाभ कंपनी को यह मिला कि सहायक संधियों से उसके साम्राज्य का विस्तार भी हो सका। हैदराबाद के निजाम से संधि करके कंपनी मैसूर राज्य पर आसानी से हमला कर सकी और मैसूर राज्य के बड़े भाग पर उसका अधिकार हुआ। इसी प्रकार अवध के साथ संधि करके कंपनी ने रुहेलखंड, आगरा, दिल्ली के बड़े क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। कंपनी ने राज्यविस्तार का रास्ता यह अपनाया कि सहायक सेना के खर्च के लिए प्रतिवर्ष रकम वसूलने की बजाय कंपनी ने राज्य के कुछ भाग पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार जो राजस्व कंपनी को मिला उससे सहायक सेना का खर्च चलाया जा सकता था।

सहायक संधियों से कंपनी को जो राजनीतिक लाभ मिले उसके दूरगामी परिणाम हुए। कंपनी ने संधि पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों की वैदेशिक नीतियों को प्रभावित करना शुरू कर दिया। अब ये राज्य एक दूसरे से सीधा सम्पर्क नहीं कर सकते थे। उन्हें कंपनी की इच्छानुसार ही किसी दूसरे राज्य से संबंध रखना पड़ा। कंपनी इन राज्यों की सहायक थी और ये कंपनी के सहायक। इस प्रकार भारत के प्रमुख राज्यों पर राजनीतिक और सैनिक प्रभाव जमा चुकने के पश्चात् कंपनी के लिए अपनी राजसत्ता को बढ़ाना आसान हो गया।

कंपनी को छठा लाभ यह मिला कि पिछले कुछ दशकों से अलग-अलग राज्यों में फ्रांसीसी

सैनिकों के रहने के कारण जो आशंका बनी रहती थी वह समाप्त हो गयी। सहायक संधियों के माध्यम से भारत में फ्रांसीसी प्रभाव पूरी तरह से खत्म हो गया।

हानियाँ

सहायक संधियाँ स्वीकार करने वाले राज्यों ने संभवतः संधि पर हस्ताक्षर करते समय यह नहीं समझा था कि इस व्यवस्था में आ जाने के फलस्वरूप उन्हें किस प्रकार की कठिनाइयाँ होंगी। ये संधियाँ आरंभ में जिन उद्देश्यों से भी की गयी हों, परन्तु कुछ समय बाद इनके कारण भारतीय राज्यों को तरह-तरह की हानियाँ नजर आने लगीं।

संधि को स्वीकार करने वाले राज्य को पहली हानि तो यही हुई कि उसके राज्य के लिए कंपनी की सेना रखने का आर्थिक बोझ इतना अधिक हो गया जो वह राज्य बर्दाश्त न कर सका। इन राज्यों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था कि वे सेना पर होने वाले खर्च के बारे में कुछ छानबीन कर सकें अथवा उस खर्च को कम करा सकें। जो भी खर्च सेना रखने के कारण होता था उसे पूरा करने का उत्तरदायित्व लेकर भारतीय राज्य जिस कठिनाई में फँसे उससे वे निकल न सके।

दूसरा नुकसान या तो तुरंत दिखायी देने लगा अथवा कुछ समय बाद। सहायक संधियों में कहीं-कहीं यह व्यवस्था की गयी थी कि राज्य का कुछ भाग कंपनी के अधिकार में दे दिया जाये। इससे भारतीय राज्यों के अधिकार वाले प्रदेशों का अधिकार घटा।

भारतीय राज्यों की सैनिक शक्ति और अधिक घटती गयी। वे ब्रिटिश सेना के अलावा अलग से अपनी सेना रखने की स्थिति में नहीं रह गये। उनके पास इतना कम धन बचता था कि वे इसमें उचित संख्या में सेना नहीं रख सकते थे। परिणाम यह हुआ कि भारतीय राज्यों की अपनी सेना की संख्या कम होने लगी, उनका प्रशिक्षण कमजोर हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सहायक संधि करने वाले नरेश ब्रिटिश सेना पर निर्भर रहने लगे। टामस मुनरो ने ठीक ही कहा है कि 'इन राज्यों ने सुरक्षा को तो खरीद लिया था परन्तु उन्हें स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ा।' ये राज्य धीरे-धीरे पूरी तरह से ब्रिटिश प्रभाव में हो गये और उनकी सत्ता तभी तक बनी रह सकी जब तक ब्रिटिश सरकार ने चाहा।

भारतीय राज्यों के शासक सुरक्षा की समस्या से मुक्त होकर पराश्रयी हो गये। उनका आलस्य बढ़ता गया। ये शासक अकर्मण्य और विलासी हो गये।

इन राज्यों के आंतरिक प्रशासन में भी ब्रिटिश रेजीडेंटों का हस्तक्षेप बढ़ने लगा। वे शांति और व्यवस्था बनाये रखने से संबंधित सभी प्रश्नों में राज्य के प्रशासक को सलाह देने लगे। राज्यों की राजनीतिक गतिविधियों में वे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे।

सहायक संधि-प्रणाली का क्रियात्मक स्वरूप

वेलेज्ली की नीतियों तथा सहायक संधि-प्रणाली की शर्तों पर विचार कर लेने के बाद हमें यह विचार करना है कि किन भारतीय राज्यों ने इस व्यवस्था को स्वीकार किया। संधि करने

के पूर्व किन परिस्थितियों से प्रभावित होकर भारतीय राज्य संधि के लिए तैयार हो गये, इसे भी समझना आवश्यक है। वेलेज्ली ने सहायक संधियाँ लागू करने का हर संभव उपाय किया। भारतीय राज्यों ने भी निजी कठिनाइयों से छुटकारा पाने का यह आसान उपाय किया।

वेलेज्ली ने छह प्रमुख राज्यों के साथ संधियाँ कीं। ये संधियाँ बहुत कुछ एक ही तरह की थीं और इनकी शर्तों पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। यहाँ संधि करने वाले राज्य के साथ संधि के समय के संबंधों पर तथा किसी न किसी विशेष पहलू पर ही विचार किया जा सकता है। संधि करने वाले राज्य और संधि करने का समय इस प्रकार है – (१) हैदराबाद राज्य के साथ १७९८ और १८०० की संधियाँ, (२) मैसूर के साथ १७९९ की संधि, (३) अवध के साथ नवंबर, १८०१ की संधि, (४) पेशवा के साथ दिसम्बर, १८०२ की संधि, (५) बरार के भोंसला राज्य के साथ १८०३ की संधि, (६) सिंधियाँ के साथ १८०३ की संधि।

हम अलग-अलग अध्यायों में हैदराबाद, अवध, मैसूर और मराठों के साथ कंपनी के संबंधों की विस्तृत चर्चा कर रहे हैं। संधि करने के समय की परिस्थितियों की चर्चा उन्हीं अध्यायों में की जा रही है। यहाँ हम तत्कालीन परिस्थितियों की केवल संक्षिप्त चर्चा ही कर रहे हैं।

(१) हैदराबाद

हैदराबाद के निजाम के साथ १७९८ में संधि करके वेलेज्ली ने भारत में सहायक-संधि-प्रणाली की शुरुआत की थी। यह संधि करते समय गवर्नर जनरल के सम्मुख दो उद्देश्य थे। वह टीपू सुल्तान पर हमला करने के पहले निजाम से सहयोग प्राप्त करना चाहता था। उसका उद्देश्य था हैदराबाद राज्य में स्थित फ्रांसीसी सेना की टुकड़ी को भंग करना। निजाम जान शोर के समय से कंपनी की अहस्तक्षेप की नीति के कारण खिंचा हुआ था। जब वेलेज्ली ने उससे संधि करने का प्रस्ताव किया तो वह राजी हो गया। दोनों पक्ष संधि करके अपनी-अपनी स्थिति मजबूत कर रहे थे। १७९८ की संधि के द्वारा निजाम अपनी सुरक्षा के लिए कंपनी पर निर्भर हो गया।

दो वर्ष बाद ही वेलेज्ली ने निजाम को एक और संधि के लिए राजी कर लिया। इस बीच दक्षिण की राजनीति में एक बड़ा परिवर्तन आ गया था। टीपू सुल्तान की पराजय और मृत्यु से दक्षिण भारत में अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ गया था। स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान मराठों की ओर गया। निजाम भी मराठों के विरुद्ध रक्षा का आश्वासन चाहता था। वेलेज्ली ने स्पष्ट शब्दों में निजाम को सुरक्षा का वचन दे दिया। लेकिन निजाम को भी ब्रिटिश सहायता की कीमत अदा करनी पड़ी। जो सहायक सेना हैदराबाद में रखी गयी थी उसकी संख्या अब छह हजार से बढ़ाकर दस हजार कर दी गयी। १८०० की संधि में सहायक संधि-प्रणाली का एक और नया रूप यह सामने आया कि सहायक सेना के खर्च के लिए प्रतिवर्ष धन प्राप्त करने के स्थान पर कंपनी ने एक स्थायी व्यवस्था कर ली। निजाम के राज्य के दक्षिण के क्षेत्र पर कंपनी ने अधिकार कर लिया और यह कहा गया कि इस तरह से जो राजस्व प्राप्त होगा उससे सेना का खर्च निकल आयेगा। सहायक सेना के खर्च के नाम पर कंपनी ने राज्य-विस्तार का रास्ता इस संधि से ढूँढ निकाला। पी.ई. राबर्ट्स ने इसे 'नमूने की सहायक संधि' कहा है। इससे यह स्पष्ट होता है कि

संधि करने के साथ-साथ राज्य-विस्तार के क्रम को यह लेखक वेलेज्ली की संधि-प्रणाली की एक विशेषता स्वीकार करता है।

(२) मैसूर के साथ संधि

आरम्भ से ही वेलेज्ली मैसूर पर आक्रमण करने की योजना बना रहा था। जैसे ही उसकी तैयारियाँ पूरी हो गयीं, उसने टीपू सुल्तान के विरुद्ध चौथा मैसूर युद्ध छेड़ दिया। ब्रिटिश सेनाओं की विजय हुई और समूचे राज्य पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। इससे वेलेज्ली को दो प्रकार की सफलताएँ मिलीं। पहली सफलता उसकी यह थी कि दक्षिण भारत के समुद्री तट पर कम्पनी का अधिकार स्थापित हो गया। अब मैसूर अथवा कोई दूसरा राज्य अरब सागर की ओर से किसी भी विदेशी शक्ति से सीधा संपर्क स्थापित नहीं कर सकता था। गवर्नर जनरल को दूसरी सफलता यह मिली कि सुदूर दक्षिण क्षेत्र में शक्ति-संतुलन कंपनी के पक्ष में हो गया।

इस युद्ध के बाद वेलेज्ली को मैसूर राज्य के भविष्य के विषय में निर्णय लेना था। उसने टीपू सुल्तान के अधीन मैसूर राज्य को दो भागों में बाँट दिया। करीब आधे भाग पर कंपनी ने अधिकार कर लिया। शेष मैसूर राज्य पर हैदर अली के वंश के किसी भी उत्तराधिकारी के शासन करने के अधिकार को अस्वीकार कर दिया गया। वेलेज्ली के इस निर्णय के कारण अल्पकालीन हैदर अली के वंश का मैसूर राज्य पर शासन समाप्त हो गया। गवर्नर जनरल ने मैसूर राज्य के प्रशासन के लिए बिल्कुल नयी व्यवस्था की जिससे मैसूर पर कंपनी का प्रभाव बना रहे। मैसूर के वादयार राजवंश के एक प्रतिनिधि को यहाँ का राजा बनाया गया। राजा के पद पर जानबूझकर एक ऐसे उत्तराधिकारी को बैठाया गया जो उस समय बच्चा ही था। कृष्णराज मैसूर का राजा तो बन गया परन्तु अंग्रेजों के संरक्षण में ही वह बड़ा हुआ।

इन परिस्थितियों में मैसूर के नये उत्तराधिकारी के साथ जब सहायक संधि की गयी तो गवर्नर जनरल को पूरी छूट प्राप्त थी। उसने संधि के लिए जो भी शर्तें रखीं, मैसूर राज्य की ओर से उनका प्रतिरोध करने वाला कोई भी नहीं था। अतः जुलाई, १७९९ में की गयी यह संधि अन्य संधियों की तुलना में अधिक कठोर थी। इस संधि को श्रीरंगपट्टम की संधि कहते हैं। गवर्नर जनरल ने संचालक-मंडल को लिखे एक पत्र में स्वीकार किया था कि उसने 'आवश्यकता पड़ने पर मैसूर के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने के स्पष्ट और व्यापक अधिकार कंपनी के लिए सुरक्षित रखे थे।' इसके अलावा वेलेज्ली ने यह भी कहा था कि कंपनी ने 'मैसूर राज्य की सीधी व्यवस्था करने के असीमित अधिकार भी सुरक्षित कर लिये थे।' गवर्नर जनरल ने श्रीरंगपट्टम की संधि के तुरंत बाद ही मैसूर राज्य के विषय में जो दावे किये उससे जाहिर है कि अंग्रेजों ने परिस्थिति का लाभ उठाकर मैसूर के राजा पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगा दिये।

के.एम. पनिक्कर ने उचित ही कहा है कि यह संधि 'एक अपवाद' थी क्योंकि कंपनी ने अन्य राज्यों के साथ सहायक संधियाँ करते समय आंतरिक मामलों में भारतीय राजाओं को पूरी स्वतंत्रता प्रदान की थी। उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशक में कंपनी साम्राज्य के लिए अधिक जिम्मेदारियाँ लेने की स्थिति में नहीं थी।

(३) अवध की संधि (नवम्बर, १८०१)

इलाहाबाद की संधि द्वारा पहली वार कंपनी और अवध के बीच संबंध स्थापित हुए थे। तबसे कंपनी का प्रभाव अवध में बढ़ता गया था और वेलेज़्ली के आगमन के समय करीब दस हजार ब्रिटिश सेना अवध की सुरक्षा के लिए वहाँ तैनात थी। इस सेना के खर्च के लिए अवध का नवाब कंपनी को प्रतिवर्ष ७४ लाख रुपये देता था। नवाब इस रकम को नियमित रूप से अदा कर रहा था।

वेलेज़्ली ने गवर्नर जनरल का पद सँभालते ही अवध पर दबाव डालने की नीति अपनायी। उसने यह बहाना बनाया कि अफगान आक्रमण से अवध की सुरक्षा करने के लिए ब्रिटिश सेना की संख्या को बढ़ाना आवश्यक था। नवाब सादात अली से कहा गया कि सेना के खर्च को पूरा करने के लिए वह राज्य की सेना को भंग कर दे और पूर्णरूप से ब्रिटिश सेना पर निर्भर हो जाये। कुछ समय तक तो नवाब विरोध करता रहा लेकिन गवर्नर जनरल ने अधिक प्रतीक्षा नहीं की। अतिरिक्त ब्रिटिश सेना को अवध की ओर बढ़ने की आज्ञा दे दी और नवाब से कहा गया कि वह ब्रिटिश सेना तथा अतिरिक्त सेना के खर्च की व्यवस्था करे।

वेलेज़्ली ने अवध के नवाब की कमजोरी का पूरा फायदा उठाया। वह जानता था कि नवाब किसी भी तरह से गवर्नर जनरल की माँगों का प्रतिरोध नहीं कर सकता था। नवाब बहुत कुछ उस पक्षी के समान था जिसके पंख कटे हुए थे। वेलेज़्ली ने दबाव डालकर अवध के नवाब से १८०१ की सहायक संधि की शर्तें स्वीकार करा लीं।

वेलेज़्ली और नवाब सादात अली के बीच के सम्बन्धों से यह प्रकट होता है कि गवर्नर जनरल केवल अपने पक्ष को ही प्रस्तुत कर अपनी माँगों पर अड़ा रहा। उसने एक के बाद दूसरी शर्तों को नवाब पर लादा। नवाब की स्थिति इतनी कमजोर थी कि उसे वेलेज़्ली की शर्तों को स्वीकार करना ही पड़ा। नवम्बर, १८०१ में भी बड़ी मजबूरी में सादात अली ने संधि की शर्तों को स्वीकार किया। उसके सामने कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था।

कंपनी और अवध के बीच जिस संधि पर नवम्बर, १८०१ में हस्ताक्षर किये गये वह बहुत कुछ उसी प्रकार की थी जैसी संधि कंपनी और निजाम के बीच की गयी थी। इस संधि की मुख्य व्यवस्था यही थी कि कंपनी की सेना का खर्च पूरा करने के लिए किसी वार्षिक शुल्क के स्थान पर अवध राज्य का बड़ा क्षेत्र कंपनी के अधिकार में दे दिया जाये। इस निश्चय के अनुसार गंगा और यमुना के बीच का क्षेत्र और रुहेलखंड का पूरा भाग नवाब के हाथ से लेकर कंपनी के अधिकार में सौंप दिया गया। यह अनुमान लगाया गया था कि कंपनी को इस क्षेत्र से करीब एक लाख ३५ हजार रुपये की आमदनी प्रतिवर्ष होगी जिससे ब्रिटिश सेना के रखने का खर्च पूरा किया जा सकता था।

इस संधि से उत्तर भारत में कंपनी की शक्ति बढ़ी। नवाब पर दबाव डालकर उसके आधे राज्य पर कंपनी ने अधिकार कर लिया था। संधि की कुछ अन्य शर्तों के अनुसार यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश सेना भविष्य में अवध राज्य के किसी भी भाग में रखी जा सकती थी। नवाब की सेना की संख्या घटा दी गयी। अवध राज्य की सुरक्षा का उत्तरदायित्व कंपनी की सेना का था और नवाबी सेना केवल राज्य में शांति और व्यवस्था के लिए ही रखी गयी।

नवम्बर, १८०१ में अवध के साथ जिस प्रकार की सहायक संधि की गयी वह एकपक्षीय थी। इस संधि से अवध पर कंपनी का प्रभाव बढ़ा। जिस ढंग से वेलेज्ली ने नवाब पर दबाव डाला उससे यह प्रकट होता है कि अवध का शासक अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव के अनौचित्य से बचना चाहता था। लेकिन गवर्नर जनरल ने उसे इसका मौका नहीं दिया।

(४) पेशवा के साथ संधि (दिसम्बर, १८०२)

१८०२ तक टीपू सुल्तान पराजित हो चुका था और अंग्रेजों ने हैदराबाद के निजाम पर प्रभाव जमा लिया था। दक्षिण भारत में जब अंग्रेजों की स्थिति मजबूत हो गयी तो वेलेज्ली का ध्यान मराठा संघ के केन्द्र पूना की ओर गया। हालाँकि उसने १७९८ में ही पेशवा से संधि का प्रस्ताव किया था पर उस समय पेशवा कंपनी के साथ मित्रता बढ़ाने को तैयार नहीं हुआ। तब पेशवा सिंधिया के प्रभाव में था। उसकी इच्छा के विपरीत पेशवा कुछ भी करने को तैयार नहीं हुआ। लेकिन गवर्नर जनरल उचित अवसर की प्रतीक्षा करता रहा।

कुछ ही वर्षों में मराठा संघ की राजनीति ने पलटा खाया। अचानक पूना में गृह-कलह भड़क उठी और पेशवा बाजीराव द्वितीय मराठा राज्य से भाग निकला। पेशवा पूना से भागकर अंग्रेजों के संरक्षण में चला गया। बम्बई के निकट बेसीन द्वीप में जाकर उसने शरण ली। इसी स्थान पर पेशवा ने अंग्रेजों के साथ दिसम्बर, १८०२ में जो संधि की वह बेसीन की संधि कहलाती है। घटना-चक्र से जाहिर है कि पेशवा बाजीराव द्वितीय बेसीन की संधि करते समय लेन-देन करने की स्थिति में नहीं था। संधि पर हस्ताक्षर करते समय वह कंपनी की सहायता से अपनी खोई सत्ता को हथियाने की चिंता में था। निजी स्वार्थ के कारण ही वह संधि कर रहा था। अतः वेलेज्ली ने उसे उन सभी शर्तों को मानने को राजी कर लिया जो शायद वह साधारणतया स्वीकार नहीं करता। बेसीन की संधि की शर्तों की चर्चा हम दूसरे अध्याय में कर रहे हैं।

ब्रिटिश सेना को लेकर बाजीराव द्वितीय पूना पहुँचा और उसने एक बार फिर पेशवा की गद्दी पर अधिकार कर लिया। लेकिन यह उचित ही कहा गया है कि कुछ महीनों में ही उसकी स्थिति बदल गयी थी। ब्रिटिश सेना अब पूना में रहने लगी और यह सर्वविदित था कि सहायक संधि के भरोसे पर ही बाजीराव द्वितीय पेशवा बना था।

बेसीन की संधि के कारण अन्य प्रमुख मराठा सरदारों के लिए भी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गयी। वेलेज्ली ने अब यह तर्क देना शुरू किया था कि पेशवा द्वारा की गयी संधि अन्य मराठा सरदारों पर भी समान रूप से लागू थी क्योंकि वह मराठा संघ का प्रधान था। लेकिन कुछ मराठा सरदारों ने बेसीन की संधि का विरोध किया जिससे दूसरा मराठा युद्ध छिड़ गया।

(५) भोंसले राजा से संधि (दिसम्बर, १८०३)

वेलेज्ली केवल मराठों और कंपनी के बीच के संबंधों को प्रभावित करके ही संतुष्ट नहीं हो सकता था। इससे भी अधिक उसकी नीति यह थी कि वह एक मराठा सरदार और दूसरे मराठा सरदार के बीच के संबंधों को भी नियंत्रित करे। दूसरे शब्दों में, मराठा संघ में शामिल सभी सरदारों को उसने सहायक संधियों के माध्यम से प्रभावित करने का प्रयास किया। बेसीन की संधि के कारण दूसरा मराठा युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में भोंसला सरदार और सिंधिया दोनों

शामिल हुए थे। परन्तु अन्य मराठा सरदार इस युद्ध से दूर रहे। कुछ महीने बाद ही गवर्नर जनरल और इन दो सरदारों के बीच अलग-अलग संधियाँ स्वतंत्र रूप से हुई। इस तथ्य से भी मालूम देता है कि सभी मराठा सरदारों की सत्ता को गवर्नर जनरल ने अलग-अलग स्वीकार किया।

दिसम्बर, १८०३ में भोंसला राजा के साथ वेलेज्ली ने जो संधि की उसे देवगाँव की संधि कहा जाता है। इस संधि के द्वारा कंपनी ने कटक प्रांत तथा समुद्रतट के क्षेत्र के जिले भोंसला राजा से लेकर अपने अधिकार में कर लिये। इससे कम्पनी को एक महत्वपूर्ण फायदा यह हुआ कि कलकत्ता और मद्रास के बीच का स्थल-मार्ग जुड़ गया और भविष्य में सेनाएँ इस रास्ते से आ जा सकती थीं। भोंसला राजा ने संधि में स्वीकार किया कि निजाम अथवा पेशवा से किसी प्रकार का विवाद होने पर वह अंग्रेजों की मध्यस्थता स्वीकार करेगा। उसके राज्य में ब्रिटिश रेजीडेंट रहने लगा।

(६) सिंधिया से संधि (दिसम्बर, १८०३)

इसी पृष्ठभूमि में सिंधिया से भी संधि की गयी। यह संधि करते समय भी गवर्नर जनरल की वही नीति थी जो उसने भोंसला राजा के प्रति अपनायी। सिंधिया के साथ भी अलग से संधि की गयी। इस संधि को अर्जुन गाँव की संधि कहते हैं। सिंधिया दूसरे मराठा युद्ध में पराजित हो चुका था और इस कारण संधि का उचित मूल्य चुकाने के लिए उसे राजी करना बहुत कठिन नहीं रहा।

इस संधि के द्वारा सिंधिया के अधीन एक बड़ा क्षेत्र उसके हाथ से निकल गया। वेलेज्ली ने इस संधि के द्वारा राज्य-विस्तार का लक्ष्य पूरा किया। गंगा और यमुना के बीच का सारा क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। सिंधिया ने यह भी स्वीकार किया कि राजपूत राज्यों पर अंग्रेज अपना प्रभाव बढ़ा सकते थे। सिंधिया ने स्वीकार किया कि वह अपने राज्य में विदेशी जाति के लोगों की भर्ती नहीं करेगा। कंपनी की सेना के विषय में विशेष व्यवस्था की गयी। कंपनी ने स्वीकार किया कि उसकी सेनाएँ सिंधिया के राज्य में रहने के वजाय किसी भी सीमावर्ती इलाके में रहेंगी। एक ब्रिटिश रेजीडेंट सिंधिया के राज्य में रहने लगा।

सहायक संधि-प्रणाली की समीक्षा

जिन परिस्थितियों में भारतीय राज्यों ने वेलेज्ली की सहायक संधि-प्रणाली को स्वीकार किया उनपर ध्यान देने से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने या तो दबाव के कारण अथवा युद्ध के फलस्वरूप कंपनी की शर्तों को स्वीकार किया। इन देशी राज्यों ने तत्कालीन कठिनाइयों की ओर तो ध्यान दिया पर वे इन संधियों के दूरगामी नतीजों का ठीक तरह से अनुमान न लगा सके। उदाहरण के लिए निजाम अथवा पेशवा द्वारा की गयी संधियों से ऐसा ही आभास होता है। लेकिन कुछ समय में ही इन राज्यों को यह समझ में आने लगा कि इस प्रकार से उनकी स्वतंत्र सत्ता पर कुठाराघात हुआ था। बाद में जब पेशवा अथवा मराठा सरदारों ने अंग्रेजों के

बढ़ते हुए प्रभाव का विरोध करना चाहा तब तक काफी देर हो चुकी थी और वे ब्रिटिश शक्ति का मुकाबला न कर सके।

सहायक संधि-योजना के माध्यम से वेलेज्ली ने राज्य-विस्तार किया, ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र को बढ़ाया और अंग्रेजों की सैनिक शक्ति को प्रतिष्ठित किया। उसके सामने एक सवाल यह था कि ब्रिटिश संसद ने कंपनी को निर्देश दिया था कि वह राज्य-विस्तार न करे। गवर्नर जनरल उसके अधिनियमों की उपेक्षा नहीं कर सकता था। इसी कारण उसने सहायक संधि प्रणाली के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करने के अपने इरादों को छिपाने की कोशिश की।

वेलेज्ली द्वारा आरंभ की गयी राजनीतिक व्यवस्था १८५७ तक चलती रही। उसके उत्तराधिकारियों ने उसकी योजना को और अधिक कारगर ढंग से अपनाया। इस कारण वेलेज्ली की व्यवस्था की कुछ विशेषताओं पर ध्यान देने की आवश्यकता है। वेलेज्ली के समय जो संधियाँ की गयीं उनके अनुसार कंपनी और भारतीय राज्यों का बराबरी का दर्जा था। कंपनी ने इस समय तक समूचे देश में सर्वोच्चता का दावा नहीं किया था। भारतीय राज्यों की सार्वभौमिकता को संधियों में स्वीकार किया गया था। भारतीय राज्यों को यह गारंटी दी गयी थी कि राज्य की आंतरिक व्यवस्था के मामलों में वे पूरी तरह से स्वतंत्र थे।

ये तथ्य अपनी जगह पर सही थे पर कुछ वर्षों में ही राज्यों की वास्तविक स्थिति कमजोर होने लगी। विशेष करके सहायक सेना के खर्च का प्रश्न ऐसा था जिसके कारण उलझनें पैदा हुई। प्रत्येक राज्य ने सहायक सेना रखने के लिए राज्य के राजस्व का करीब एक तिहाई भाग कम्पनी को देना स्वीकार किया था। गवर्नर जनरल जानता था कि प्रतिवर्ष सहायक सेना का खर्च देना इन राज्यों के लिए आसान नहीं होगा। भविष्य में इसी प्रश्न को लेकर राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप करने के कई अवसर वेलेज्ली के उत्तराधिकारियों को मिले।

अन्य अधीन राज्यों के प्रदेशों पर अधिकार

युद्ध और कूटनीति के अलावा वेलेज्ली ने राज्य-विस्तार का कार्य पूरा करने का एक अन्य तरीका भी अपनाया। उसने कंपनी के अधीन कमजोर राज्यों पर अधिकार कर लिया। कर्नाटक, तंजौर और सूरत पर उसने दबाव डालकर अपना अधिकार बढ़ाया।

वेलेज्ली ने जिन परिस्थितियों में कर्नाटक पर अधिकार किया उससे उसके इरादे समझे जा सकते हैं। चौथे मैसूर युद्ध के पश्चात् श्रीरंगपट्टम में मिले कुछ कागजातों के आधार पर गवर्नर जनरल ने कर्नाटक के नवाब पर यह आरोप लगाया कि वह टीपू सुल्तान के साथ मिलकर कंपनी के विरुद्ध योजना बना रहा था। लेकिन इस तर्क के लिए उसके पास किसी प्रकार के ठोस प्रमाण नहीं थे। वह कर्नाटक के नवाब को जब फँसा न सका तो उसने राजनीतिक परिवर्तन से लाभ उठाया। जुलाई, १८०१ में कर्नाटक के नवाब उमदुतुल्मरा की मृत्यु हो गयी। जैसे ही गवर्नर जनरल ने यह समाचार सुना, उसने ब्रिटिश सेनाओं को यहाँ की राजधानी की ओर रवाना किया। नवाब के महल को इन सेनाओं ने घेर लिया। गवर्नर जनरल ने यह निश्चय किया था कि नये नवाब को केवल नाममात्र का शासक बनाये रखा जाये और कर्नाटक के शासन को

कम्पनी अपने हाथों में ले ले। जब भूतपूर्व नवाव के बेटे ने गवर्नर जनरल की शर्तों को अस्वीकार कर दिया तो उसके भतीजे को नवाव बनाने का निश्चय किया गया। भूतपूर्व नवाब के भतीजे अजीमुद्दौला ने गवर्नर जनरल की सभी शर्तों को मान लिया। कर्नाटक पर कम्पनी का अधिकार स्वीकार करते हुए उसने एक संधि कर ली। नवाब और उसके उत्तराधिकारियों को कम्पनी की ओर से वार्षिक पेंशन दी जाने लगी।

शक्तिहीन राज्यों पर अधिकार जमाने के क्रम में वेलेज्ली ने तंजौर के उत्तराधिकार के प्रश्न से भी लाभ उठाया। तंजौर के राजा को पेंशन दे दी गयी और उसे एक ऐसी संधि को स्वीकार करना पड़ा जिसके अनुसार तंजौर राज्य अंग्रेजों के अधिकार-क्षेत्र में आ गया। इसी प्रकार सूरत पर भी गवर्नर जनरल ने अधिकार किया।

पी.ई. राबर्ट्स ने मत व्यक्त किया है कि वेलेज्ली ने 'निश्चित रूप से और जागरूक होकर उद्देश्यों' को निर्धारित किया। हमने अब तक यह स्पष्ट करने की कोशिश की है कि उसके उद्देश्यों का मूल आधार था भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना। इस नीति का अनुसरण करते हुए उसने सहायक संधि-प्रणाली अपनायी, युद्ध किये तथा कमजोर राज्यों के अस्तित्व को समाप्त किया। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ से ही दिखायी देने लगा था कि अंग्रेज सभी संभव उपायों से अपने पैर जमा रहे थे और अनिश्चितता का युग समाप्त हो चुका था।

●●●

दसवाँ अध्याय

लार्ड हेस्टिंग्स द्वारा भारत में ब्रिटिश सर्वोच्चता की स्थापना

लार्ड हेस्टिंग्स का दस वर्षों का कार्यकाल (१८१३ से १८२३ तक) भारतीय इतिहास में उल्लेखनीय है। इस अवधि में उसने सम्पूर्ण देश में ब्रिटिश राजनीतिक प्रभुता को स्थापित कर दिया। कई दशकों से भारत में शक्ति-संघर्ष चल रहा था। कंपनी भी भारत की अन्य शक्तियों की तरह एक शक्ति थी। परन्तु १८२३ के पश्चात् कंपनी भारत की प्रमुख सत्ता बन गयी और अन्य राज्यों को उसकी प्रभुता स्वीकार करनी पड़ी। हमें यह विचार करना है कि लार्ड हेस्टिंग्स ने किस प्रकार कंपनी को इस उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया।

लार्ड हेस्टिंग्स ने वेलेज्ली के अधूरे कार्य को पूरा किया। वेलेज्ली ने ब्रिटिश सेना को देशी राज्यों में रखने के उद्देश्य से कई सहायक संधियाँ की और इस प्रकार ब्रिटिश सैन्य शक्ति का विकास किया गया। इन संधियों के द्वारा कंपनी की सैनिक सीमा उसकी राजनीतिक सीमा से कहीं आगे बढ़ गयी। पर वेलेज्ली के विदा लेते ही इस अग्रगामी नीति को रोक दिया गया। संचालक-मंडल ने आज्ञा दी कि भारतीय राज्यों के मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी जाये। कंपनी की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए यह आवश्यक जान पड़ा। ब्रिटेन नैपोलियन के विरुद्ध युद्धों में व्यस्त था और यह आवश्यक समझा गया कि भारत में युद्धों पर रोक लगा दी जाये। १८१३ में जब हेस्टिंग्स गवर्नर जनरल बना तो उसने अहस्तक्षेप की नीति का पालन नहीं किया। एक बार फिर नया गवर्नर जनरल ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाने में जुट गया।

भारत की रानजीतिक स्थिति का अध्ययन करने पर लार्ड हेस्टिंग्स को अनुभव हुआ कि कंपनी के प्रभाव को बढ़ाने का यह एक अच्छा अवसर था। आवश्यकता यह थी कि कम्पनी इस स्थिति का लाभ उठाने को तैयार हो। गवर्नर जनरल का उत्साह इससे बढ़ा कि ब्रिटिश प्रभुत्व को बढ़ाने का प्रमुख साधन उसके पास था। यह साधन था सैन्य बल। हालाँकि उसका लक्ष्य राजनीतिक था पर इसे प्राप्त करने के लिए उसने सेना का सहारा लिया। लार्ड हेस्टिंग्स का सारा जीवन सेना में ही व्यतीत हुआ था। भारत आने के समय भी उसने गवर्नर जनरल के अतिरिक्त सेनापति का पद भी सँभाला था। ऐसे व्यक्ति ने अगर युद्धों के द्वारा ब्रिटिश शक्ति का विस्तार किया तो इसमें किसी प्रकार का अचम्भा नहीं होता।

आरंभ में ही यह विचार करना होगा कि देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार के बीच १८१३ में संबंध किस प्रकार के थे। इससे यह अनुमान लगाना आसान हो जायेगा कि लार्ड हेस्टिंग्स के कार्यकाल में इन संबंधों में किस प्रकार के परिवर्तन आये। देशी राज्य तीन प्रकार के थे –

(१) सहायक, (२) संरक्षित, (३) स्वतंत्र। प्रथम वर्ग में वे राज्य थे जिनके साथ कंपनी ने सहायक संधियाँ की थीं। पेशवा, निजाम, गायकवाड़, मैसूर और अवध ऐसे प्रमुख राज्य थे। संधि-व्यवस्था से ये राज्य पूरी तरह से संतुष्ट नहीं थे। उनकी शक्ति घट चुकी थी और वे स्वतंत्र रूप से कार्य नहीं कर सकते थे। वेलेज्ली के चले जाने के वाद वे ऐसे अवसर की तलाश में थे जब वे खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सकें। दूसरे वर्ग के राज्य वे थे जिन्हें कम्पनी ने अपने अधिकार में कर रखा था, जिनके साथ कंपनी ने संधियाँ की थीं पर जिन राज्यों में अलग से ब्रिटिश सेना नहीं रहती थी। ये राज्य पहले वर्ग के राज्यों की तरह महत्त्वपूर्ण नहीं थे। कोल्हापुर, भरतपुर, अलवर, रामपुर आदि राज्य इस श्रेणी में थे। इन दो प्रकार के राज्यों के साथ कंपनी के संवंधों को देखकर यह सहज ही अंदाज लगाया जा सकता है कि भारत में कंपनी अपनी श्रेष्ठता को बढ़ा चुकी थी। तीसरे वर्ग के राज्यों के प्रति लार्ड हेस्टिंग्स ने विशेष रूप से ध्यान दिया। ये राज्य अभी भी कंपनी के प्रभाव-क्षेत्र के वाहर थे। ये स्वतंत्र राज्य तीन मराठा राज्य थे – भोंसला, सिंधिया और होल्कर। १८१३ तक ये राज्य राजनीतिक रूप से स्वतंत्र थे और इन पर कंपनी किसी प्रकार का नैतिक अंकुश भी नहीं लगा सकी थी।

लार्ड हेस्टिंग्स अंग्रेजों के सैन्य बल से भली-भाँति आश्वस्त था। वह जानता था कि कंपनी की सेना किसी भी स्थिति का मुकावला करने में सक्षम थी। यदि सव देशी राज्य मिलकर भी अंग्रेजों का मुकाबला करने की योजना वनाते तो वह उनसे भी डरने वाला व्यक्ति नहीं था। वह यह भी जानता था कि अंग्रेजों के विरुद्ध ऐसा संगठन बनना संभव भी नहीं था। कहने का अर्थ केवल यह है कि गवर्नर जनरल किसी भय के कारण तैयारी नहीं कर रहा था। कंपनी की सुरक्षा को किसी प्रकार का खतरा नहीं था। यदि इसके बावजूद उसने युद्ध किये तो इसका कारण यह था कि वह अन्य विरोधियों का दमन करके भारत में कंपनी को एकमात्र शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहता था। उसके समय में कंपनी इतनी शक्तिशाली वन गयी कि किसी भी भारतीय राजा को उसे चुनौती देने की अथवा उसकी अवहेलना करने की हिम्मत नहीं पड़ी।

१७५७ से १८१३ तक कंपनी ने अन्य राज्यों के प्रति जो नीति अपनायी उसे प्रसिद्ध लेखक ली वारनर ने 'घेरा डालने' की नीति कहा है। इस समय कंपनी सुरक्षा के लिए चिंतित थी। इस उद्देश्य से उसने अपनी सीमा के राज्यों के साथ बराबरी की संधियाँ कीं। वेलेज्ली के समय में इस नीति में परिवर्तन आये। कंपनी की श्रेष्ठता बढ़ी। लेकिन फिर भी अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते समय कोई नयी नीति नहीं अपनायी गयी। ली वारनर का कथन है कि कंपनी अभी भी घेरे के अंदर ही रहने को तैयार थी। घेरे के बाहर के नरेशों के साथ उसने सम्बन्ध बनाने में किसी प्रकार की उत्सुकता नहीं दिखायी। लार्ड हेस्टिंग्स ने घेरा डालने की नीति को बदलकर जिस नयी नीति का आरम्भ किया उसे 'अधीनस्थ पृथकता' की नीति कहा जाता है। इसे लार्ड हेस्टिंग्स के समय से लेकर डलहौजी के समय तक अपनाया गया। इससे यह जाहिर है कि गवर्नर जनरल ने नयी दृष्टि से कंपनी और देशी राज्यों के बीच सम्बन्धों को स्थापित किया। उसकी नीति थी ब्रिटिश प्रभुता की स्थापना करना और देशी राज्यों को इस शक्ति के अधीन बनाना। आगे चलकर हम उसकी संधियों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

नेपाल युद्ध (१८१४-१६)

लार्ड हेस्टिंग्स के शासनकाल तक नेपाल एक शक्तिशाली राज्य बन चुका था। १७६७ में महाराजा पृथ्वीनारायण ने काठमांडू घाटी पर अधिकार करके गोरखा राज्य को संगठित किया। धीरे-धीरे इस मध्य क्षेत्र से गोरखा शक्ति को बढ़ाया गया। कुमायूँ, गढ़वाल और शिमला क्षेत्र के पहाड़ी इलाकों पर नेपाल शासक का अधिकार हो गया। सतलज नदी से लेकर सिक्किम तक यह राज्य करीब सात सौ मील तक फैला हुआ था। हिमालय की घाटियों पर अधिकार स्थापित करने के पश्चात् नेपाल के शासक तराई क्षेत्र के मैदानी भाग पर अधिकार करने की कोशिश करने लगे।

इसी बीच १८०१ में गोरखपुर जिले पर ब्रिटिश शासन स्थापित हो गया था। इस जिले की सीमा नेपाल राज्य की सीमा से मिलती थी। ब्रिटिश सीमा तथा नेपाल की सीमा अभी तक निर्धारित नहीं हुई थी। इससे किसी भी समय सीमा-विवाद के प्रश्न को लेकर दोनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो सकते थे। गोरखपुर जिले की सीमा पर स्थित बुटवल और शिवराज क्षेत्र पर नेपाली सेनाओं ने अधिकार कर लिया। यह घटना उस समय हुई जब नया गवर्नर जनरल अपना पद सँभाल चुका था। ब्रिटिश सेना ने तुरन्त कार्यवाही की और नेपाली सैनिकों को इन क्षेत्रों को खाली करके पीछे हटना पड़ा। मई, १८१४ में गोरखा सेना ने पुनः बुटवल और शिवराज पर अधिकार कर लिया। कुछ पुलिस के कर्मचारी और अधिकारी मारे गये। इस घटना के कारण ही नेपाल युद्ध प्रारंभ किया गया।

लार्ड हेस्टिंग्स के सामने नेपाल के साथ विवाद निबटाने के दो ही रास्ते थे। या तो कूटनीतिक प्रयासों से इसे दूर करने की कोशिश की जाती अथवा युद्ध का सहारा लिया जाता। लार्ड हेस्टिंग्स ने नेपाल से किसी प्रकार की बातचीत नहीं की। उसने इस सीमा-विवाद का लाभ उठाकर शीघ्र ही युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दीं। पड़ोस के राज्य को शक्ति के सहारे दबाने की परम्परागत ब्रिटिश नीति को एक बार फिर अपनाया गया। राज्य-विस्तार की संभावना उसे स्पष्ट रूप से दिख रही थी। इससे भी वह उत्साहित हुआ। अब प्रश्न यह था कि युद्ध का खर्च किस प्रकार पूरा किया जाये। इसके लिए अवध के नवाब से माँग की गयी। दोस्ती के नाते उसने युद्ध के संचालन के लिए गवर्नर जनरल को दो करोड़ रुपया दिया।

नेपाल पर पाँच दिशाओं से आक्रमण किया गया। इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि कितने बड़े पैमाने पर युद्ध की तैयारियाँ की गयी थीं। लुधियाना से ब्रिटिश सेनापति ओक्टरलोनी शिमला क्षेत्र पर अधिकार करने के लिए बढ़ा। यहाँ पर गोरखा सेना का प्रसिद्ध सेनापति अमरसिंह थापा मुकाबले के लिए डटा हुआ था। पहली सैन्य टुकड़ी को सहायता देने के लिए मेरठ और सहारनपुर से दूसरी ब्रिटिश सेना देहरादून घाटी की ओर बढ़ी। ब्रिटिश सेनाधिकारी जिलेस्पी को इस टुकड़ी का नेतृत्व करने का कार्यभार सौंपा गया। तीसरी और चौथी ब्रिटिश सेना का दल क्रमशः गोरखपुर और पटना से रवाना हुआ। इस सेना को काठमांडू की ओर बढ़ने को कहा गया था। माले और जानवुड इन सेनाओं के प्रधान चुने गये थे। पाँचवीं सेना की टुकड़ी पूर्णिया जिले से नेपाल के पूर्वी क्षेत्र पर आक्रमण करने के लिए बढ़ी। ब्रिटिश

सेना ने पहाड़ी जातियों को मिलाकर उनका सहयोग प्राप्त करने की जो कोशिश की उसमें भी उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

इस युद्ध में जहाँ ब्रिटिश सेना की संख्या चौंतीस हजार थी वहाँ गोरखा सैनिक केवल बारह हजार थे। ब्रिटिश तिगुने होते हुए भी १८१४ में कठिनाई में पड़ गये। बहादुर गोरखों ने जमकर विभिन्न क्षेत्रों में विरोधी सेना का मुकावला किया। पहाड़ी युद्ध से वे परिचित थे और प्राकृतिक परिस्थितियों का उन्होंने लाभ उठाया। माले और वुड को पीछे हटना पड़ा और जिलेस्पी युद्ध में ही मारा गया। इस तरह सें मध्यवर्ती और पूर्वी क्षेत्रों की ओर ब्रिटिश सेना को मुँह की खानी पड़ी। एक बार तो गवर्नर जनरल भी परेशान हो उठा कि इस पहाड़ी युद्ध का संचालन किस प्रकार किया जाये। ब्रिटिश सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी थी। जिस प्रकार से ब्रिटिश सेना ने आरम्भ में युद्ध में भाग लिया उससे स्पष्ट हो गया था कि गवर्नर जनरल ने सही तरीके से परिस्थिति का मूल्याँकन नहीं किया था।

ब्रिटिश सेना के साधन इतने अधिक थे कि वे लम्बे समय तक युद्ध को चला सकते थे। गोरखा सेना के न तो इतने अधिक सैनिक ही थे और न सामग्री ही। परिणाम यह हुआ कि आरम्भिक मुठभेड़ के बाद अंग्रेजी सेना को सफलताएँ मिलने लगीं। विशेष रूप से १८१५ में अल्मोड़ा और कुमायूँ की पहाड़ियों पर उनका अधिकार हो जाने से आक्टरलोनी का हौसला बढ़ा। दोनों पक्ष इस स्थिति में संधि के लिए तैयार हो गये।

सगौली की संधि

नेपाल युद्ध के बाद जो संधि हुई उससे कंपनी को पर्याप्त लाभ मिले। सारे कुमायूँ क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इस प्रकार नैनीताल, अल्मोड़ा, गढ़वाल और शिमला पर कंपनी के अधिकार को नेपाल राज्य ने स्वीकार कर लिया। इसी समय तराई क्षेत्र का इलाका भी ब्रिटिश अधिकार में आ गया। कंपनी और नेपाल के बीच तराई क्षेत्र की सीमा निर्धारित कर दी गयी। गोरखों ने यह भी आश्वासन दिया कि वे सिक्किम क्षेत्र से हट जायेंगे। इससे इस पर्वतीय क्षेत्र पर भी ब्रिटिश प्रभाव जमाया जा सका। ब्रिटिश रेजीडेंट काठमाँडू में रहने लगा।

इस संधि के द्वारा नेपाल की शक्ति घटी। उसका विस्तार भी रुक गया। लेकिन दोनों राज्यों ने एक दूसरे के साथ इतने अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर लिए कि भविष्य में दोनों के बीच किसी प्रकार युद्ध नहीं हुआ। यह एक उल्लेखनीय उपलब्धि थी। नेपाल ने सगौली की संधि का पालन किया और ब्रिटिश सरकार ने बड़ी संख्या में गोरखों को ब्रिटिश सेना में नौकरी देने की नीति का अनुसरण किया। इस युद्ध में गोरखों की बहादुरी से ब्रिटिश सैनिक अधिकारी प्रभावित हुए थे और उन्होंने उनका सहयोग प्राप्त करके ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति को दृढ़ करने की नीति अपनायी।

पिंडारियों का दमन

पिंडारियों का दल स्वतंत्र लुटेरों का संगठन था जो उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में विशेष रूप से सक्रिय हुआ। पिंडारियों की तुलना टिड्डी दल से इस कारण की गयी है कि

ये अचानक किसी भी क्षेत्र में हमला बोल देते थे और लूटपाट करके पुनः ऐसे विलीन हो जाते थे कि इनका पता लगाना कठिन हो जाता था। ये सभी घुड़सवार होते थे। तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक भागने को तत्पर होने के लिए वे बहुत थोड़ा सामान अपने साथ रखते थे। लंबा भाला उनका विशेष अस्त्र था। वैसे वे अन्य प्रकार के अस्त्र-शस्त्र भी लेकर चलते थे। पिंडारियों का अपना निजी संगठन था। पर इसका आधार जाति अथवा धर्म नहीं था। मध्यभारत के क्षेत्र में नर्मदा की घाटियों में ही वे अधिक समय बिताते थे। किसी भी समय वे युद्ध में भाग नहीं लेते थे। खुले युद्ध में भाग लेने की उनकी इच्छा नहीं रहती थी। पिंडारियों की संख्या का सही अंदाज लगाना कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि १८१२ के आस-पास इनकी संख्या तीस हजार से कुछ अधिक थी।

पिंडारियों की उत्पत्ति और मराठों के साथ उनके संबंधों के विषय में इतिहासकार एकमत नहीं हैं। इनके बारे में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों की अव्यवस्थित राजनीतिक स्थिति के कारण इनका जन्म हुआ। आरंभ से ही पिंडारियों का मराठों से घनिष्ठ संबंध रहा जो मराठों की शक्ति के उतार-चढ़ाव के साथ-साथ बदलता रहा। पिंडारी लोग मराठा सेना के संरक्षण में रहते थे। इनको किसी प्रकार का नियमित वेतन नहीं दिया जाता था। ये आसपास के क्षेत्रों में लूटमार करते थे और लूट का निश्चित भाग मराठा सरदारों को देते थे। युद्ध के समय इनका उपयोग उस समय किया जाता था जब युद्ध समाप्त होने की स्थिति में होता था। ऐसे समय ये घुड़सवार अचानक दुश्मन पर धावा बोलकर उसे हक्का-बक्का कर देते थे। लूटमार करने का उन्हें अच्छा अवसर मिल जाता था। पानीपत के तीसरे युद्ध के समय तक पिंडारी पूरी तरह से मराठों के प्रभाव में रहे। परन्तु इसके बाद स्थिति में अंतर आना शुरू हो गया। यह मराठा और पिंडारियों के बीच सम्बन्धों का दूसरा काल था। इसी दृष्टि से यह विचार प्रकट किया है कि जैसे-जैसे मराठों की शक्ति घटती गयी उसी अनुपात में पिंडारियों की शक्ति बढ़ती गयी। जब तक मराठा संघ संघटित था, पिंडारी उन्हीं कार्यों को करते थे जो उन्हें सौंपे जाते थे। लेकिन जब मराठा संघ ढीला पड़ने लगा तो पिंडारियों को भी स्वतंत्र रूप से कार्य करने का अवसर मिला। इसी समय पिंडारियों के दो संगठन बन गये। पहला संगठन सिंधियाशाही और दूसरा होल्करशाही कहलाया। सिंधिया और होल्कर सरदारों के प्रभाव में पिंडारी मध्य भारत के क्षेत्र में रहने लगे।

वेलेज्ली के जाने के बाद पिंडारियों का प्रभाव कई कारणों से बढ़ा। पहला कारण यह था कि द्वितीय मराठा युद्ध के पश्चात् मराठों में फूट बढ़ गयी। इस स्थिति से पिंडारियों को स्वतंत्र रूप से लूटमार करने के अधिक अवसर मिले। दूसरे, उनके कुछ प्रभावशाली नेता सामने आये। इसमें अमीर खाँ सबसे प्रमुख था। अमीर खाँ का प्रभाव होल्कर राज्य में बढ़ने लगा और इस महत्वाकांक्षी व्यक्ति ने पिंडारियों को कई राज्यों में लूटमार करने को भेजा। तीसरे, सहायक संधि की नीति का परिणाम यह हुआ कि कई राज्यों के नरेशों ने अपनी सेना को हटा दिया। इस प्रकार जिन सैनिकों को नौकरी से हटा दिया गया था वे भी पिंडारियों से जा मिले। इससे पिंडारियों की शक्ति बढ़ी। यह सत्य ही कहा गया है कि आरंभ में मराठा बाघों के साथ पिंडारी

उन गीदड़ों की तरह थे जो बाघों द्वारा मारे गये शिकार का भोजन करके जीवित रहते थे। लेकिन बाद में जब ये बाघ एक दूसरे के खून के ही प्यासे हो गये तो ये गीदड़ मराठों की हड्डियों को ही चूसने लगे। इतिहासकार ग्रांट डफ इसका कारण देते हुए कहता है कि जब मराठों ने अन्य क्षेत्रों पर आक्रमण बंद कर दिये तो जीवनयापन के लिए पिंडारी मराठा राज्यों पर ही आक्रमण करने लगे। जब पिंडारी होल्कर, भोंसला तथा सिंधिया के राज्यों पर धावा बोलने लगे तो यह जाहिर था कि वे मराठा सरदारों के काबू के बाहर हो गये थे। मराठा सरदारों की इच्छा के विरुद्ध पिंडारियों ने राजपूत राज्यों पर आक्रमण किये और रकम वसूल करने के बाद ही वे वापस आए। यह स्मरण रखना इस कारण भी आवश्यक है क्योंकि ब्रिटिश इतिहासकारों ने बार-बार यह कहा कि पिंडारियों और मराठा सरदारों के बीच साठगाँठ थी। इससे लार्ड हेस्टिंग्स ने जब पिंडारियों का दमन करने का निश्चय किया तो उसे मराठों का भी दमन करना जरूरी हो गया।

लार्ड हेस्टिंग्स जब नेपाल युद्ध से छुटकारा पा गया तो उसका ध्यान पिंडारियों की ओर गया। पिंडारियों ने इस बीच कुछ कमजोर राज्यों पर आक्रमण करना आरंभ कर दिया था। भोंसला राज्य की राजधानी नागपुर को उन्होंने घेर लिया था। इसके अलावा उन्होंने उत्तरी सरकार के जिलों, मिर्जापुर आदि क्षेत्रों को भी लूटा। जब पिंडारी ब्रिटिश क्षेत्र पर हमला करने लगे तो इनके विरुद्ध कार्यवाही करने की आवश्यकता पड़ी।

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि क्या लार्ड हेस्टिंग्स के लिए यह आवश्यक था कि वह एक लाख से अधिक सेना को एकत्र करके पिंडारियों का नामोनिशान मिटाने का बीड़ा उठाता। जान यह पड़ता है कि अभी भी गवर्नर जनरल संचालक-मंडल के रुख से आश्वस्त नहीं था। उसे विश्वास नहीं था कि मराठों के विरुद्ध युद्ध आरंभ करने की उसे अनुमति मिलेगी अथवा नहीं। इस कारण उसने पिंडारियों की लूटमार का वर्णन बहुत बढ़ा-चढ़ा कर किया। गवर्नर जनरल ने ब्रिटेन को जो पत्र लिखे उसमें पिंडारियों के कृत्यों का विस्तृत वर्णन किया गया है। बार-बार यह कहा गया कि देश के मध्यवर्ती भाग में अशांति और अव्यवस्था फैलती जा रही थी। संचालक-मंडल भी इससे प्रभावित हुआ और उसने यह स्वीकार किया कि पिंडारियों का दमन करना आवश्यक था।

पिंडारियों के विरुद्ध जब विशाल सैनिक अभियान आरम्भ किया गया तो वे उनका मुकाबला करने की स्थिति में नहीं थे। वे युद्ध के लिए कभी भी तत्पर नहीं रहते थे। अतः इस समय भी वे विशाल ब्रिटिश सेना का सामना नहीं कर सके। पिंडारियों में भी मतभेद थे। १८१७ में भी करीम खाँ और चीतू एक दूसरे के खून के प्यासे थे और ये पिंडारी नेता आपस में ही झगड़ रहे थे। मराठा सरदारों से पिंडारियों के मतभेद चल रहे थे। उन्होंने कई बार इनकी इच्छा के विरुद्ध कार्य किये थे। इस कारण मराठा सरदार भी उनकी अधिक सहायता करने को तैयार नहीं थे। गवर्नर जनरल का यह दावा भ्रामक जान पड़ता है कि सिंधिया इन पिंडारियों का संरक्षक था। वास्तविकता यह है कि सिंधिया के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए उसे कोई बहाना चाहिए था। यह अवसर पिंडारियों ने उसे दिया।

कुछ ही वर्षों में पिंडारियों की कमर तोड़ दी गयी। वे या तो जंगल में भाग गये, बंदी बना लिये गये अथवा मारे गये। लार्ड हेस्टिंग्स ने सैनिक अभियान द्वारा पिंडारियों का सफाया कर दिया।

मराठों से संघर्ष

वेलेज्ली के समय के युद्धों ने मराठा संघ को भारी क्षति पहुँचायी। इसके बाद मराठा राज्य पनप नहीं सके। इन राज्यों का शासन सुव्यवस्थित नहीं था सैन्य शक्ति को बढ़ाने की किसी ने भी कोशिश नहीं की तथा मराठों में कोई भी ऐसा नेता सामने नहीं आया जो इस कठिन समय में मराठा राज्यों को एक सूत्र में बाँध सके। इस प्रकार लार्ड हेस्टिंग्स के समय तक मराठे पनप नहीं सके थे। इस स्थिति का गवर्नर जनरल ने लाभ उठाया। उसके समय जो तृतीय मराठा युद्ध आरंभ हुआ उसका वर्णन हम एक अध्याय में अलग से कर रहे हैं।

यहाँ पर हमें मुख्य रूप से लार्ड हेस्टिंग्स की मराठा नीति पर विचार करना है। वह भारत की राजनीतिक स्थिति में आमूल परिवर्तन करना चाहता था जिससे कि कंपनी एक ऐसी सत्ता बन जाय कि उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी भी राज्य को कुछ करने की हिम्मत न हो। यह ध्येय सैन्य बल से ही प्राप्त हो सकता था। इसलिए उसने युद्ध की तैयारी जारी रखी। लार्ड हेस्टिंग्स समझता था कि उसका विरोध करने के लिए तीनों स्वतंत्र मराठा राज्य तैयार थे। सिंधिया, होल्कर और बरार की स्वतंत्र सत्ता आरंभ से ही उसकी आँखों में खटकती थी। इस तीन मराठा राज्यों से उसे चिंता बनी रहती थी। अतः उसने इस स्थिति को समाप्त करने का निश्चय किया। ब्रिटिश प्रभुता को सारे देश में स्थापित करने के लिए स्वतंत्र मराठा राज्यों का दमन करने का उसने पक्का इरादा कर लिया।

इन तीन मराठा राज्यों की कमजोर स्थिति और उनके बीच एकता की कमी ने गवर्नर जनरल को अवसर प्रदान किया। उसने इस मौके का पूरी तरह से लाभ उठाया। सिंधिया अथवा होल्कर की सेनाएँ पहले से भी अधिक कमजोर थीं और वे ब्रिटिश सेनाओं का सामना नहीं कर सकती थीं। गवर्नर जनरल जानता था कि वे ब्रिटिश सेना की कार्यवाही के सम्मुख घुटने टेक देंगे। भावी घटनाओं से यह प्रकट हो गया कि उसका अनुमान गलत नहीं था। मराठों की प्रमुख शक्ति सिंधिया ने १८१७ में बिना किसी प्रकार के विरोध के ही अंग्रेजों की शर्तों को स्वीकार करके संधि कर ली। इसी से यह समझा जा सकता है कि उसमें शक्ति की कितनी कमी थी। अथवा यह कहा जा सकता है कि सिंधिया गवर्नर जनरल की विशाल सेना से इतना आतंकित हो गया कि उसने बिना हथियार उठाये ही ब्रिटिश कंपनी की अधीनता को स्वीकार करना उचित समझा। भारत की शक्तियों का कितना ह्रास हो चुका था इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अंतिम संघर्ष के समय मराठों की प्रमुख शक्ति ने बिना विरोध किये ही कंपनी की प्रभुता को स्वीकार कर लिया।

१८१७ और १८१८ में मराठा शक्ति का पतन नहीं हुआ बल्कि वह स्वयं गिर गयी अथवा ढह गयी। इतिहास का यह नियम है कि जिस राज्य को अपने पैरों पर खड़े रहने का बल नहीं

रहता वह या तो स्वयं समाप्त हो जाता है अथवा कोई न कोई दूसरी शक्ति उसे धक्का दे देती है। मराठा राज्यों की अवनति के समय भी कुछ ऐसा ही हुआ। लार्ड हेस्टिंग्स ने बड़ी सरलता से उनपर काबू पा लिया।

लार्ड हेस्टिंग्स ने होल्कर और सिंधिया की शक्ति का दमन इस कारण भी किया कि वह राजपूत राज्यों को ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में लाना चाहता था। इसके पूर्व कंपनी ने इन मराठा राज्यों से जो संधियाँ की थीं उनमें उन्हें राजपूत राज्यों पर अधिकार बढ़ाने की स्वतंत्रता दी गयी थी। कंपनी ने आश्वासन दिया था कि वह पश्चिम के राजपूत राज्यों के विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगी। अब गवर्नर जनरल इस बंधन से मुक्त होना चाहता था। कंपनी इन राजपूत राज्यों पर तभी प्रभाव जमा सकती थी जब मराठों के प्रभाव का अंत कर दिया जाये और मराठे इस स्थिति को आसानी से स्वीकार नहीं कर सक़ते थे। इसलिए तृतीय मराठा युद्ध को आरंभ करना गवर्नर जनरल ने आवश्यक समझा।

१८१७ में गवर्नर जनरल ने विशाल सैनिक अभियान आरंभ करके मराठा शक्ति का दमन किया। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस सैनिक अभियान को यह कहकर आरंभ किया गया कि पिंडारियों का विनाश करने के लिए यह आवश्यक था। पर वास्तव में उसका उद्देश्य कुछ और ही था। उसने इसी समय मराठा राज्यों को ब्रिटिश प्रभाव में लाने के उद्देश्य से तीसरा मराठा युद्ध छेड़ दिया। मराठा राज्यों के सम्मुख अब दो ही विकल्प थे। वे या तो ब्रिटिश सत्ता की अधीनता स्वीकार करें अथवा युद्ध के लिए तैयार हो जायें। सिंधिया ने पहला रास्ता चुना और होल्कर ने दूसरा। परन्तु दोनों ही स्थितियों में गवर्नर जनरल को सफलता मिली। इस प्रकार तृतीय मराठा युद्ध के समय सैनिक और कूटनीतिक पहल उसी के हाथ में रही। मराठा राज्य अपनी सुरक्षा की चिंता में लगे रहे। किन्तु किसी भी समय किसी भी सैनिक मुठभेड़ में उन्हें सफलता नहीं मिली। लार्ड हेस्टिंग्स युद्ध के सहारे उस राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हुआ ज़िसे प्राप्त करने के लिए उसने योजना बनायी थी।

लार्ड हेस्टिंग्स की एक बड़ी सफलता थी पेशवा के पद को समाप्त करके मराठा संघ को समूल नष्ट करना। जब तक पेशवा अपने पद पर आसीन था उस समय तक मराठा संघ को संगठित करने की संभावना थी, पर उसने पेशवा के पद को ही समाप्त करने का कदम उठाया। इसके दूरगामी परिणाभ हुए। मराठा संघ का अंत हो जाने से भविष्य में अंग्रेजों का मुकाबला करने वाली कोई भी शक्ति भारत में नहीं बची। गवर्नर जनरल अपने लक्ष्य को पूर्णरूप से प्राप्त कर सका। केवल मराठा शक्ति को ही अपंग नहीं बना दिया अपितु मराठों के अधीन विशाल भूभाग पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

राजपूत राज्यों को ब्रिटिश प्रभाव में लाना

डॉ. मोहन सिन्हा मेहता लिखते हैं कि लार्ड हेस्टिंग्स के पद सँभालने के समय राजपूत राज्यों की दशा बड़ी शोचनीच थी। अस्त-व्यस्तता और लूटमार के परिणामस्वरूप ये राज्य गरीबी की निम्न दशा तक पहुँच चुके थे। जब मराठों का उत्थान हुआ तो उन्होंने इन राजपूत राज्यों पर कई बार आक्रमण किये। इन राज्यों को लूटकर इन्हें खोखला बना दिया गया था।

इसके पश्चात् पठान नेता अमीर खाँ ने पिंडारियों की मदद से राजपूत राज्यों पर आक्रमण करके उन्हें और भी अधिक कमजोर बना दिया। इन बाहरी हमलों से छुटकारा पाने का एक तरीका यह था कि ये राज्य संगठित होकर आक्रमणकारी का मुकाबला करते। पर इन राज्यों में इतने अधिक आपसी मतभेद थे कि वे ऐसा न कर सके। अतः उनके सामने दूसरा रास्ता यही था कि वे कंपनी का संरक्षण स्वीकार करके अपना बचाव करते। १८१७ और १८१८ में उन्होंने ऐसा ही किया। राजपूत राज्यों की इस दशा का लाभ गवर्नर जनरल को मिला।

लार्ड हेस्टिंग्स के पहले के गवर्नर जनरल मैसूर, मराठे आदि शक्तियों का दमन करने में इतने व्यस्त थे कि वे राजपूत राज्यों के प्रति ध्यान नहीं दे सके। १८०४ में वेलेज्ली के समय में कंपनी ने जयपुर राज्य के साथ संधि की थी। लेकिन उसके जाने के बाद जो नीति अपनायी गयी उसके अनुसार इस संधि को भी भंग कर दिया गया। सिंधिया और होल्कर के साथ कंपनी ने जो संधियाँ वेलेज्ली के समय अथवा उसके जाने के बाद्र कीं उनके अनुसार कंपनी राजपूत राज्यों के विषय में हस्तक्षेप न करने के लिए वचनबद्ध थी। हेस्टिंग्स को ये संधियाँ बिल्कुल नापसंद थीं। आरंभ से ही वह चाहता था कि कंपनी इस प्रकार के बंधन से जल्द से जल्द मुक्त हो। मराठों के विरुद्ध जब उसने अभियान छेड़ा तो उसका एक उद्देश्य यह भी था कि गवर्नर जनरल राजपूत राज्यों को ब्रिटिश प्रभाव में लाना चाहता था। यह इससे प्रकट हो जाता है कि अक्टूबर, १८१७ में जब सिंधिया ब्रिटिश सरकार की माँगों पर विचार ही कर रहा था तो इसके साथ ही दिल्ली के ब्रिटिश रेजीडेंट को आज्ञा भेज दी गयी कि वह राजपूत राज्यों से बातचीत आरंभ कर दे। गवर्नर जनरल ने होल्कर और सिंधिया के साथ नयी संधियाँ करने के समय तक भी प्रतीक्षा नहीं की। उसका उतावलापन इसी से दिखाई देंता है।

राजपूतों और मराठों के वैमनस्य से गवर्नर जनरल को अवसर मिला। उसने लिखा कि राजपूत राज्य 'स्वाभाविक रूप से हमारे मित्र और मराठों के शत्रु हैं।' गवर्नर जनरल ने इस स्थिति का लाभ उटाने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया।

राजपूत राज्यों पर प्रभाव जमाने से लार्ड हेस्टिंग्स को कई लाभ दिखाई पड़े। सबसे पहले तो वह राजपूतों पर मराठों तथा पिंडारियों के प्रभाव का अंत करना चाहता था। ऐसा करने से अंग्रेजों का प्रभुत्व जमाना आसान हो गया। दूसरे, लार्ड हेस्टिंग्स समूचे देश में ब्रिटिश प्रभुता को स्थापित करना चाहता था। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भी राजपूत राज्यों पर प्रभाव जमाना उपयोगी साबित होता। तीसरे, गवर्नर जनरल यह भी चाहता था कि इन राजपूत राज्यों के साधनों का उपयोग वह कंपनी की सुरक्षा के लिए करे। पश्चिमी सीमा की ओर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ने से कंपनी की शक्ति बढ़ी। उसने विचार प्रंकट किया कि इस प्रकार 'सिखों और उन राज्यों के बीच एक शक्तिशाली अवरोध बन जायेगा जो सिखों की मदद कर सकते थे।' अभी पश्चिमी सीमा की ओर ब्रिटिश साम्राज्य विकसित नहीं हुआ था। लार्ड हेस्टिंग्स इस विस्तार की तैयारी कर रहा था।

गवर्नर जनरल के प्रतिनिधियों ने जब राजपूत राज्यों से संधि का प्रस्ताव किया तो उन्हें आशा से अधिक सफलता मिली। कुछ महीनों में ही ये कूटनीतिक प्रयास सफल हुए और

राजपूताना के विशाल क्षेत्र पर ब्रिटिश प्रभाव जम गया। कुछ प्रमुख राज्यों के साथ जो संधियाँ हुईं उनके स्वरूप का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पहली प्रमुख संधि कंपनी और कोटा राज्य के बीच दिसम्बर, 1817 में हुई। कोटा एक स्वतंत्र राजपूत राज्य था जो आकार में छोटा था। यहाँ का प्रशासन उस समय जालिम सिंह के हाथ में था। उसने बड़ी कुशलता से राज्य का प्रबंध किया था तथा मराठा और पठानों की लूटपाट से राज्य की रक्षा की थी। शक्तिशाली राज्यों से अच्छे संबंध बनाये रखने की उसने लगातार कोशिश की। स्वाभाविक ही था कि जालिम सिंह अंग्रेजों का संरक्षण स्वीकार करने के लिए अन्य राज्यों से पहले ही तैयार हो गया। दिल्ली के ब्रिटिश रेजीडेंट चार्ल्स मेटकाफ तथा कोटा राज्य के प्रतिनिधि के बीच जिस संधि पर हस्ताक्षर हुए वही संधि अन्य राजपूतों के लिए भी एक नमूना बन गयी। कुछ साधारण परिवर्तनों के बाद इसी प्रकार की संधियों पर उन्होंने भी हस्ताक्षर किये।

इस संधि की पहली धारा के अनुसार कोटा के महाराव ने ईस्ट इंडिया कंपनी के साथ 'स्थायी मित्रता, सहयोग और समान हित' बनाये रखने का वचन दिया। दूसरे, कोटा के महाराव ने ब्रिटिश संरक्षण को स्वीकार किया और यह भी माना कि वह किसी भी अन्य राज्य के साथ किसी प्रकार के भी संबंध नहीं रखेगा। तीसरे, कोटा राज्य के सारे मतभेद ब्रिटिश सरकार की मध्यस्थता के लिए छोड़ देने का निश्चय किया गया। चौथे, कोटा के महाराव ने ब्रिटिश प्रभुत्व को स्वीकार किया और हमेशा अधीनस्थ सहयोग के आधार पर कार्य करना स्वीकार किया। पाँचवें, कोटा राज्य ने प्रतिवर्ष उतना वार्षिक नजराना देना स्वीकार किया जितना वह मराठों को देता था। छठा और अंतिम प्रावधान यह किया गया कि आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटिश सरकार कोटा राज्य की सेना की सहायता ले सकती थी।

शीघ्र ही अन्य राजपूत राज्यों ने भी इसी प्रकार की संधियों को स्वीकार कर लिया। चार्ल्स मेटकाफ के सहायक की हैसियत से टाड ने भी कई राजपूत राज्यों का दौरा किया। कोटा के साथ संधि हो जाने के बाद बूँदी राज्य के साथ संधि की गयी। मार्च, 1818 में लार्ड हेस्टिंग्स ने इस संधि को स्वीकार कर लिया। जोधपुर राज्य ने जनवरी, 1818 में संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। अन्य धाराएँ समान होते हुए भी जोधपुर राज्य के उत्तरदायित्व को स्पष्ट किया गया। जोधपुर राज्य की ओर से चार्ल्स मेटकाफ को यह वचन दिया गया कि ब्रिटिश सरकार की सहायता के लिए राज्य की ओर से 1500 घुड़सवार भेजे जायेंगे तथा आवश्यकता पड़ने पर उतनी सैनिक सहायता दी जायेगी जितनी कि राज्य अपने साधनों के अनुसार दे सकता था। इसके एक सप्ताह बाद ही एक दूसरे महत्त्वपूर्ण राजपूत राज्य ने भी संधि की शर्तें स्वीकार कर लीं। यह राज्य था प्रसिद्ध मेवाड़ राज्य। इस राज्य को पिछले दशकों में मराठों और पठानों ने रौंद डाला था और इस राज्य की दशा बहुत ही खराब हो चुकी थी। राज्य की आर्थिक दशा दयनीय थी। इस संधि की शर्तें भी उसी प्रकार की थीं जैसी कोटा और जोधपुर की संधियाँ थीं। कुछ समय बाद किशनगढ़ और बीकानेर राज्यों ने भी संधियाँ कर लीं। जयपुर राज्य ने सबसे बाद में संधि की। अप्रैल, 1818 में इस संधि को भी विधिवत् स्वीकार कर लिया गया। जयपुर राज्य कितना वार्षिक कर ब्रिटिश सरकार को दे, इस प्रश्न पर कई बार विचार हुआ। यह तय किया गया कि धीरे-धीरे प्रति वर्ष राज्य अधिक कर देगा। कुछ वर्षों के बाद जयपुर से आठ

लाख रुपया वसूल करने का निश्चय इस संधि में किया गया। इस प्रकार सब प्रमुख राज्य ब्रिटिश प्रभाव में आ गये। शेष छोटे राज्यों ने भी बड़े राजपूत राज्यों का अनुसरण करके इसी प्रकार की संधियाँ कर लीं।

अब तक जिन संधियों की चर्चा की गयी है उनकी विवेचना करने पर यह दिखायी देता है कि गवर्नर जनरल दो उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयत्न में लगा रहा। उसका पहला सिद्धान्त था राज्यों के बीच मतभेदों में ब्रिटिश मध्यस्थता, आपस में संघर्ष करने पर रोक और कंपनी के राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाना। यह सिद्धान्त कोई नया नहीं था। लार्ड हेस्टिंग्स ने इसे अपनाया। परन्तु उसकी योजना का दूसरा भाग ऐसा था जिसे केवल उसी के समय अपनाया गया। उसके पूर्व किसी भी गवर्नर जनरल ने यह माँग नहीं की थी कि सभी राज्यों में जितने भी साधन हों वे ब्रिटिश सरकार को उपलब्ध करा दिये जायें। इससे कंपनी का प्रभुत्व अन्य राज्यों पर बढ़ा क्योंकि राज्य इस प्रकार की सहायता के लिए पहले ही वचन दे चुके थे। सैनिक सहायता की शर्त को जान-बूझकर लचीला रखा गया। पहले से इसकी किसी सीमा को स्वीकार नहीं किया गया। राजपूत राज्यों से संधि करके ब्रिटिश प्रतिष्ठा बढ़ी। कई प्रसिद्ध प्राचीन राजवंश जब कंपनी के अधीन हो गये तो इससे समूचे देश में कंपनी की प्रभुता स्थापित करने के कार्य में सहायता मिली।

लार्ड हेस्टिंग्स ने वेलेज्ली के कार्य को किस प्रकार पूरा किया

यह प्रायः सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि लार्ड हेस्टिंग्स ने वेलेज्ली के अधूरे कार्य को पूरा किया। लार्ड हेस्टिंग्स की उपलब्धियों का महत्त्व इस कारण और भी अधिक बढ़ जाता है कि वह वेलेज्ली के तुरंत बाद गवर्नर जनरल नहीं बना। यदि ऐसा हुआ होता और उसने अपने पूर्ववर्ती जनरल की नीतियों का अनुसरण किया होता तो लार्ड हेस्टिंग्स के कार्यों को इतिहासकार इतना महत्त्व नहीं देते। वेलेज्ली के भारत से विदा लेने और लार्ड हेस्टिंग्स के आगमन के बीच करीब आठ वर्ष का अंतराल आया। इस बीच ब्रिटेन के संचालक-मंडल ने आज्ञा देकर वेलेज्ली की विस्तारवादी नीति के स्थान पर भारतीय राज्यों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अपनायी। लार्ड हेस्टिंग्स की नियुक्ति भी इसी आशा से की गयी थी कि वह कंपनी की सीमाओं का विस्तार न करके शांति-स्थापना करने की कोशिश करेगा। नियुक्ति के पहले गवर्नर जनरल वेलेज्ली की योजनाओं का आलोचक रहा। पर १८१३ में जब उसने कार्यभार सँभाला तो वह स्वयं वेलेज्ली द्वारा बताये गये मार्ग पर चल पड़ा।

दोनों गवर्नर जनरलों की योजनाओं पर प्रकाश डालते हुए डॉ. मोहन सिन्हा मेहता इस प्रकार अपना विचार प्रस्तुत करते हैं : 'मुख्य रूप से वेलेज्ली की नीति के फलस्वरूप अंग्रेजों ने जो सैनिक प्रबलता प्राप्त कर ली उससे उन्हें भारत में एक श्रेष्ठता का पद प्राप्त हो गया। हेस्टिंग्स ने इस पद से अंग्रेजों को प्रभुता के पद तक पहुँचा दिया।' इस कथन से स्पष्ट है कि दोनों गवर्नर जनरलों ने सक्रिय रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति को भारत में स्थापित करने का प्रयत्न किया। दोनों का साधन एक ही था – सैन्य बल। वेलेज्ली ने ब्रिटिश सेना की ताकत के भरोसे विरोधियों को खुली चुनौती देने का तरीका अपनाया। पहले उसने फ्रांसीसियों की बची

हुई ताकत को समाप्त किया। फिर उसने टीपू सुल्तान पर आक्रमण किया। टीपू की जब मृत्यु हो गयी और मैसूर राज्य ब्रिटिश प्रभाव में आ गया तो अंग्रेजों को चुनौती देने वाली एक प्रबल भारतीय शक्ति का अंत हो गया। विशेष रूप से दक्षिण में ब्रिटिश प्रभाव बढ़ा। इसके पश्चात् वेलेज्ली मराठों से भिड़ गया और दूसरा मराठा युद्ध लड़ा गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि वह लगातार एक के बाद दूसरे भारतीय राज्यों से सैनिक संघर्ष करता रहा। उसके समय में कंपनी की शक्ति का विकास हुआ। दस वर्षों से भी कुछ अधिक समय के बाद १८१७ में लार्ड हेस्टिंग्स ने पुनः यही रास्ता चुना। एक लाख से भी अधिक बड़ी सेना को सुसज्जित करके उसने मराठा राज्यों को करारी मात देने की ठान ली। सिंधिया, होल्कर और बरार राज्यों ने अंग्रेजों के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया और पेशवा के पद को समाप्त कर दिया गया। वेलेज्ली ने मराठों की ताकत को जो जोरदार धक्का दिया था उसका लाभ उठाकर लार्ड हेस्टिंग्स ने उसे धराशायी कर दिया। मराठों का दमन करने में दोनों गवर्नर जनरलों ने बहुत कुछ एक प्रकार का ही रवैया अपनाया।

वेलेज्ली ने सिद्ध कर दिया था कि संधियों का जाल बिछाकर ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाया जा सकता था। वेलेज्ली ने जो सहायक संधियाँ कीं उनमें अन्य राज्यों को बराबरी का दर्जा दिया गया था। कम से कम दिखावा तो यही था कि ब्रिटिश सरकार और संधि करने वाले राज्य एक दूसरे पर आश्रित थे। लेकिन लार्ड हेस्टिंग्स के समय ब्रिटिश सत्ता के सामने अन्य राज्य बराबर नहीं थे। उसकी नीति का आधार था देशी राज्यों का 'अधीनस्थ सहयोग'। यह स्वाभाविक ही था कि कुछ वर्षों के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपना बनावटी मुखौटा उतार दिया और वह वास्तविक रूप में दिखायी देने लगी।

वेलेज्ली ने राजपूत राज्यों से संपर्क आरंभ करके जयपुर राज्य के साथ १८०३ में संधि की थी। इस प्रकार का उसका कार्य अधूरा ही रह गया जिसे आगे चलकर लार्ड हेस्टिंग्स नें पूरा किया।

वेलेज्ली ने ब्रिटिश साम्राज्य के विकास की हर प्रकार से कोशिश की। राज्य-विस्तार करना उसका लक्ष्य था। लार्ड हेस्टिंग्स ने भी ऐसा ही किया। युद्ध करके अथवा संधियों द्वारा कई क्षेत्रों में उसने ब्रिटिश सीमा का विस्तार किया।

ब्रिटिश प्रभुता की स्थापना

लार्ड हेस्टिंग्स का शासनकाल आधुनिक इतिहास में इस कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि उसके समय में सारे भारत में ब्रिटिश प्रभुता की स्थापना हो गयी। अन्य राज्यों को ब्रिटिश प्रभाव स्वीकार करना पड़ा। भारतीय राज्यों की प्रभुता उसी अनुपात में घटी जिस अनुपात में ब्रिटिश प्रभुता का विकास हुआ। अन्य राज्यों की बाह्य प्रभुता पर निश्चित रूप से असर पड़ा। अब केवल आंतरिक प्रभुता ही उनके पास रही। १८१८ के पश्चात् भारतीय राजे केवल आंतरिक शासन के संचालन में ही स्वतंत्र थे और धीरे-धीरे ब्रिटिश सत्ता उनके इस स्वामित्व को भी प्रभावित करने लगी। वेलेज्ली के समय देशी राज्यों को जिस समानता का पद मिला हुआ था वह हेस्टिंग्स के समय में समाप्त हो गया। कंपनी की सैनिक ताकत जैसे-जैसे बढ़ती गयी वह

एक राज्य और दूसरे राज्यों के बीच संबंधों को प्रभावित करने लगी। भारतीय राज्य बिना ब्रिटिश सरकार की इच्छा के न तो एक दूसरे के विरुद्ध युद्ध कर सकते थे और न कोई संधि ही। इससे भारत की राजनीति में एक बड़ा परिवर्तन आ गया। सारे देश में ब्रिटिश शक्ति ही सर्वोच्च बन गयी और उसकी इच्छा के बिना कोई भी राज्य कार्य नहीं कर सकता था।

१८१८ के पूर्व के दशकों में भारत में कई प्रमुख शक्तियाँ थीं। कंपनी भी इनमें से एक शक्ति थी। स्वाभाविक रूप से इन शक्तियों में संघर्ष चलता रहा और कई राज्य अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहे। जब तक भारत में कई शक्तियाँ थीं, इस देश में एक प्रकार का शक्ति-संतुलन बना रहा। पर १८१८ में मराठा शक्ति का पतन हो जाने के बाद पूरी स्थिति ही वदल गयी। भारत में कंपनी ही एक मुख्य शक्ति बन गयी और अन्य सब शक्तियाँ उसके अधीनस्थ हो गयीं। इस प्रकार सारे देश में कंपनी का सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो जाने के साथ-साथ उसकी राजनीतिक प्रभुसत्ता को भी स्वीकार किया जाने लगा। अन्य सब भारतीय राज्य शक्तिहीन होते गये और उनके अधिकार धीरे-धीरे घटते गये। यह क्रम पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में चलता रहा। लेकिन इस क्रम का आरम्भ लार्ड हेस्टिंग्स के समय में होने के कारण उसके कार्यकाल का महत्त्व स्वीकार किया जाता है।

●●●

ग्यारहवाँ अध्याय

अंग्रेजों और मराठों में सत्ता संघर्ष

(पहले मराठा युद्ध से अंतिम संघर्ष तक)

(१७७८-१८१८)

अठारहवीं सदी के अंतिम दो दशकों से लकर १८१८ तक मराठे भारत की प्रवलतम शक्ति थे। इनकी मुख्य ताकत थी मराठा राज्यों की एकजुटता और पूना में पेशवा का प्रभावी नेतृत्व। जब तक मराठों में एकता बनी रही उनकी शक्ति का दवदबा बना रहा और जब मराठा सरदार अलग-अलग रास्तों पर चलने लगे और पेशवा के पद का गौरव निस्तेज पड़ गया तो फिर मराठों की शक्ति भी बिखरने लगी। वारेन हेस्टिंग्स द्वारा आरंभ किये गये पहले मराठा युद्ध में कम्पनी मराठा राज्यों पर अपना प्रभाव स्थापित करने में असफल रही थी। इस स्थिति के कारण अंग्रेज गवर्नर जनरलों ने प्रतीक्षा करने की नीति अपनायी। लेकिन वाजीराव द्वितीय द्वारा १८०२ में बेसीन की संधि करने से मराठा संघ में फूट पड़ गयी। इसके पश्चात मराठों की शक्ति लगातार घटती गयी। अंग्रेजों और मराठों के बीच सत्ता संघर्ष की सविस्तार चर्चा प्रस्तुत है।

पूना में गृह कलह

पानीपत के तीसरे युद्ध में मराठों को जो अपार क्षति हुई थी उसे पूरा करने के लिये मराठा राज्य में कुशल नेतृत्व की आवश्यकता थी। बारह वर्षों के शासनकाल में चौथे पेशवा माधवराव ने न केवल मराठों की शक्ति को पुनर्गठित किया अपितु विरोधियों की चुनौती का मुँहतोड़ जवाब भी दिया। पेशवा ने शासन-व्यवस्था को सुव्यवस्थित किया। ऐसे योग्य नेता की नवम्बर, १७७२ में २७ वर्ष की आयु में मृत्यु हो जाने से मराठा राजनीति ने एक नया मोड़ लिया। माधवराव की मृत्यु के बाद से मराठों को एक सूत्र में बाँधने की किसी में क्षमता न रही। सत्ता के लिए जो संघर्ष पूना में आरंभ हुआ उसने समूचे मराठा राज्य को हिला दिया। इसके पश्चात् या तो पेशवा पूना से भागा रहा अथवा इतनी अल्पायु का था कि वह स्वयं शासन की बागडोर सँभाल सकने में असमर्थ था। इसी कारण इतिहासकार सरदेसाई कहते हैं कि मराठा राज्य 'अध्यक्षहीन' हो गया। पेशवा के नाम पर पूना में अन्य मंत्रियों ने मराठों के केन्द्र को शक्तिशाली बनाये रखने की जो कोशिश की वह अधिक सफल न हुई। पूना का प्रभाव कमजोर होने से दूसरे मराठा सरदार और अधिक स्वतंत्र रूप से काम करने लगे। निजी स्वार्थ के लिये उन्होंने मराठा संघ के प्रति कर्तव्यों को भुला दिया। मराठा शक्ति ऐसे समय में बिखरने लगी जब उसमें एकता की सबसे अधिक आवश्यकता थी। मराठा संघ में व्याप्त इस फूट का अंग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया। वे ऐसे अवसर की प्रतीक्षा ही कर रहे थे जब वे मराठों के आंतरिक संघर्ष में हस्तक्षेप कर सकें। यह अवसर उन्हें शीघ्र ही मिल गया।

पेशवा माधवराव का छोटा भाई नारायणराव करीब आठ महीने ही पेशवा के पद पर कार्य कर सका। अगस्त, १७७३ में उसकी हत्या कर दी गयी। उसकी हत्या के बाद मृत पेशवा का चाचा रघुनाथराव पेशवा बना। वह राघोबा के नाम से अधिक जाना जाता है। पेशवा के पद सँभालने के समय से ही राघोबा के विरुद्ध यह आरोप था कि उसने भूतपूर्व पेशवा नारायणराव की हत्या के षड्यंत्र में प्रमुख भूमिका निभायी थी। धीरे-धीरे इसके और अधिक प्रमाण मिल जाने से राघोबा के विरुद्ध पूना के प्रमुख सरदारों का अंसतोष बढ़ता गया। अप्रैल, १७७४ में मृत पेशवा के पुत्र का जन्म हुआ। इस बच्चे को जन्म के चालीस दिन बाद ही इसे माधवराव द्वितीय के नाम से पेशवा घोषित कर दिया गया। प्रमुख मराठा सरदारों की इस चुनौती को देखकर राघोबा पूना से भाग निकला। वह इसके बाद लगातार पेशवा के पद को पुनः प्राप्त करने की कोशिश करता रहा। राघोबा अपनी कोशिश में सफल तो नहीं हुआ लेकिन फिर भी उसने मराठा संघ के लिए अचानक समस्याएँ पैदा कर दीं। वह पूना से भागकर बम्बई पहुँचा और उसने अंग्रेजों से सहायता प्राप्त करके पूना की गद्दी हासिल करने का जो दुर्भाग्यपूर्ण प्रयत्न किया उसी से पहले मराठा युद्ध की भूमिका तैयार हुई। राघोबा का पक्ष लेकर ब्रिटिश सेना को मराठों के विरुद्ध कार्यवाही करने का मौका मिल गया।

मद्रास और बंगाल की तुलना में बम्बई के आसपास के क्षेत्र पर अंग्रेज इस समय तक राज्य-विस्तार तो नहीं कर पाये थे पर उन्होंने अपना लक्ष्य निर्धारित कर रखा था। सबसे पहले वे अरब सागर स्थित सेलसट, बेसीन, केनरी, एलिफैंटा और करांजा बन्दरगाहों पर अधिकार जमाना चाहते थे। इस ओर पहला कदम उन्होंने दिसम्बर, १७७४ में उठाया। राघोबा और मराठा सरदार जब संघर्ष में लगे हुए थे तो अंग्रेजों ने सेलसट पर आक्रमण करके उसपर अधिकार कर लिया। मराठों के अधीन इस क्षेत्र पर अधिकार करके अंग्रेजों ने राज्य विस्तार की ओर आरम्भिक कदम उठाया।

सूरत की संधि

पूना से भागकर राघोबा ने जब बम्बई की सरकार से पूना की गद्दी प्राप्त करने के लिए सैनिक सहायता माँगी तो अंग्रेज अत्यधिक प्रसन्न हुए। इससे वे जहाँ एक ओर बम्बई के आसपास के क्षेत्र में राज्य-विस्तार कर सकते थे वहाँ दूसरी ओर मराठों के आन्तरिक संघर्ष में हस्तक्षेप भी कर सकते थे। अंग्रेज यह भी जानते थे कि सैनिक सहायता से उन्हें आर्थिक लाभ भी हो सकते थे। मार्च, १७७५ में राघोबा और बम्बई की सरकार के बीच एक संधि की गयी। इसे सूरत की संधि कहते हैं। इस संधि के द्वारा बम्बई की सरकार ने राघोबा को पूना पर अधिकार स्थापित करने के लिए सैनिक सहायता देने का वचन दिया। सेना का सारा खर्च राघोबा देने के लिए तैयार हो गया। इसके अलावा राघोबा सेलसट और बेसीन को अंग्रेजों के अधिकार में देने के लिए भी राजी हो गया। पेंडेरल मून के शब्दों में अंग्रेजों को 'लाभप्रद षड्यंत्र' करने का अवसर राघोबा ने प्रदान किया था।

बम्बई प्रेसीडेंसी का गवर्नर सूरत की संधि करते समय इतना उत्साहित था कि उसने

गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति प्राप्त करने की भी आवश्यकता नहीं समझी। राघोबा को संरक्षण प्रदान करके इस गवर्नर ने मराठों से संघर्ष करने का निश्चय कर लिया। राघोबा से लाभ उठाने के लिए वह पूरी तरह से तैयार हो गया चाहे उसके पास शक्ति-संघर्ष के उचित साधन थे अथवा नहीं।

आरंभ में तो वारेन हेस्टिंग्स ने बंबई की सरकार द्वारा की गयी संधि की शर्तों का विरोध किया परंतु धीरे-धीरे वह उसी प्रकार से कार्य करने लगा जैसा बंबई की सरकार चाहती थी। सूरत की संधि का विरोध उसने विशेष रूप से इस कारण से किया कि रेगुलेटिंग ऐक्ट के अनुसार उससे पूर्व अनुमति ले लेने के बाद ही ऐसा कोई कदम उठाया जा सकता था। इसके अलावा १७७५ में कंपनी की जो स्थिति थी उसमें वह मराठों से संघर्ष नहीं करना चाहता था।

वारेन हेस्टिंग्स द्वारा की गयी पुरन्दर की सन्धि

वारेन हेस्टिंग्स ने शीघ्र अपना प्रतिनिधि भेजकर मराठों से पुरन्दर की संधि की। यह संधि पूना दरबार के साथ मार्च, १७७६ में की गयी। यह तय किया गया कि यह संधि सूरत की संधि के स्थान पर वैध मानी जाये। इस संधि के द्वारा अंग्रेजों का सेलसट पर अधिकार स्वीकार कर लिया गया। इसके पूर्व सैनिक तैयारियों में कंपनी का जो खर्च हुआ था उसकी क्षतिपूर्ति के लिए पूना दरबार ने बारह लाख रुपया देना स्वीकार किया। इस संधि में और सूरत की संधि में एक विशेष अंतर यह था कि इस संधि द्वारा अंग्रेजों ने राघोबा का साथ छोड़ देने का वचन दिया। उन्होंने यह स्वीकार किया कि वे उसके साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं रखेंगे। इस संधि से मराठों और अंग्रेजों के सम्बन्ध सुधारे न जा सके क्योंकि इसके अनुसार भविष्य में अमल नहीं किया गया। बम्बई की सरकार पूर्ववत् राघोबा को संरक्षण देती रही। बम्बई की सरकार पुरन्दर की संधि से संतुष्ट नहीं हुई। उसने संचालक-मंडल से अपील की। संचालक-मंडल ने बम्बई की सरकार द्वारा की गयी संधि को स्वीकार कर लिया। इससे वारेन हेस्टिंग्स को भी अपनी नीति बदलनी पड़ी। उसने समझ लिया कि बम्बई की सरकार के रुख के कारण मराठों और अंग्रेजों के बीच शीघ्र ही सैनिक संघर्ष छिड़ जायेगा। यह भी कहा जाता है कि फ्रांसीसी सेनापति सेंट ल्यूविन के इसी समय पूना पहुँचने से हेस्टिंग्स और अधिक चिंतित हो उठा और उसने फ्रांसीसियों के प्रभाव को न बढ़ने देने के लिए भी पूना के खिलाफ शक्ति-संघर्ष करने का निश्चय किया।

१७७८ में वारेन हेस्टिंग्स मराठों से युद्ध करने को तैयार हो गया। गवर्नर जनरल का मत था कि इस संघर्ष के लिए परिस्थितियाँ अंग्रेजों के अनुकूल थीं। वह आश्वस्त था कि ऐसी नीति में अंग्रेजों को केवल रक्षात्मक नीति अपनाने से लाभ नहीं हो सकता था। युद्ध में विजय प्राप्त करके वह अंग्रेजों के गौरव को बढ़ाने का अवसर तलाश रहा था। मराठों पर विजय-पताका फहराकर यश अर्जित करने के उद्देश्य से उसने प्रथम मराठा युद्ध की तैयारियाँ आरंभ कर दीं।

वारेन हेस्टिंग्स के प्रोत्साहित होने का एक कारण यह भी था कि कंपनी ने अवध में

हस्तक्षेप करके अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ कर लिया था। किसी भी युद्ध के लिए धन की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। वारेन हेस्टिंग्स हर संभव उपाय से धन इकट्ठा कर चुका था। १७७२ में कंपनी कर्ज से लदी हुई थी। १७७६ तक इस सारे कर्ज का भुगतान किया जा चुका था और कंपनी डेढ़ करोड़ के लाभ में थी। एक वर्ष बाद गवर्नर जनरल ने स्वीकार किया कि कंपनी इतनी सम्पन्न थी जितनी आरंभ से कभी नहीं थी।

इस समृद्धि के अलावा कंपनी का राजनीतिक प्रभाव भी बढ़ रहा था। मुगल सम्राट् के प्रति नीति अपनाकर, रुहेला युद्ध करके और अवध के नवाब पर प्रभाव जमाकर अंग्रेज उत्तर भारत में अपनी धाक जमा चुके थे। बंगाल की सुरक्षा का उन्हें भय नहीं था। इससे वारेन हेस्टिंग्स मराठों से युद्ध के लिए तैयार हो गया। वारेन हेस्टिंग्स का कौंसिल में जो विरोध अब तक चलता आ रहा था वह भी समाप्त हो गया था। कौंसिल पर वह हावी हो चुका था और मराठा-युद्ध के समय कलकत्ता में उसकी धाक जमी हुई थी जिससे उसे आंतरिक विरोध की चिंता नहीं थी।

युद्ध की तैयारियों के साथ-साथ वारेन हेस्टिंग्स ने कूटनीतिक प्रयास भी आरंभ कर दिये। वह बरार राज्य को मराठा संघ से अलग करने की योजना बनाने लगा। बरार में उसने स्वतंत्र मराठा शक्ति की स्थापना करने की नीति अपनायी। बंगाल के दक्षिण-पश्चिम में वह अवध के समान एक अन्य राज्य पर प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न करने लगा। १७७८ में उसने बरार के राजा से बातचीत करने के लिए अपना प्रतिनिधि भेजा किंतु इस प्रतिनिधि की मृत्यु हो जाने से योजना अधूरी रह गयी।

प्रथम मराठा युद्ध

कलकत्ता की सेना के आगमन के पूर्व ही बम्बई की सरकार ने पूना पर आक्रमण करने के लिए सेना भेज दी थी। बम्बई की सेना और मराठों के बीच हुए युद्ध में ब्रिटिश सेना पराजित हुई। अधिक नुकसान से बचने के लिए इस सेना को मराठों की सभी शर्तें स्वीकार करके बाँदगाँव की संधि जनवरी, १७७९ में करनी पड़ी। लेकिन हेस्टिंग्स ने इस संधि का अनुमोदन नहीं किया। कलकत्ता से भेजी गयी सेना ने शीघ्र ही मराठों के खिलाफ और भी व्यापक संघर्ष छेड़ दिया।

गवर्नर जनरल द्वारा भेजी गयी सेना को आरंभिक सफलता सेनापति गोडार्ड के कुशल नेतृत्व के कारण मिली। पहली बार मध्य भारत को पार करती हुई ब्रिटिश सेना फरवरी, १७७९ में सूरत पहुँची। उसने अहमदाबाद पर अधिकार कर लिया। गुजरात के मराठा सरदार ने ब्रिटिश सेना की शक्ति को देखते हुए संधि करना ही उचित समझा। १७८० में फतेहसिंह गायकवाड़ और अंग्रेजों के बीच सुरक्षात्मक संधि हो गयी। इस संधि से गायकवाड़ पूना दरबार से अलग हो गया और उसने स्वतंत्र रूप से अंग्रेजों से समझौता कर लिया।

गोडार्ड को पूना के विरुद्ध कोई सफलता नहीं मिली। पश्चिम घाट में मराठों ने हर स्थान पर ब्रिटिश सेना का डटकर मुकाबला किया। अंग्रेजी सेना यदि कुछ स्थानों पर अधिकार करती भी थी तो उन्हें वह स्थान बिलकुल खाली और निर्जन मिलता था। अंग्रेजी

सेना के लिए रसद का सामान मिलना भी कठिन हो गया। अंत में गोडार्ड को पूना पर आक्रमण करने की योजना छोड़ देनी पड़ी। अगस्त, १७८० में अंग्रेजी सेना को ग्वालियर के किले पर अधिकार करने में अचानक ही सफलता मिल गयी। सिंधिया की सेनाएँ जब गुजरात में संघर्ष कर रही थीं तभी अंग्रेजी सेना ने अवसर देखकर कार्यवाही की। सिंधिया को मालवा और बुंदेलखंड की ओर आकर सुरक्षा की दृष्टि से युद्ध में भाग लेना पड़ा।

अंग्रेजों के विरुद्ध संगठन का आयोजन

नाना फड़वनीस के नेतृत्व में पूना में अंग्रेजों के विरुद्ध पूरी तैयारियाँ की गयी थीं। वह बड़ी कुशलता से सैन्य संचालन कर रहा था। जनवरी, १७८० में फड़वनीस ने अंग्रेजों के विरुद्ध एक संगठन तैयार किया। हैदर अली, निजाम और बरार के राजा ने उसे पूरा सहयोग देने का आश्वासन दिया। इस समझौते से वारेन हेस्टिंग्स को कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ा।

वारेन हेस्टिंग्स ने अंग्रेजों के विरोध में निर्मित संगठन को तोड़ने के लिए कूटनीतिक चाल चलने में कोई देर नहीं की। निजाम मद्रास की सरकार के रुख से अप्रसन्न था और कुछ क्षेत्रों पर दावा कर रहा था। गवर्नर जनरल ने निजाम को अपने पक्ष में करने के लिए ये क्षेत्र उसे दे दिये। निजाम के समान ही बरार का राजा भी संगठन का निरुत्साही सदस्य था। भोंसला राजा पहले भी कंपनी से संधि करने के लिए तैयार हो गया। संगठन ने बरार के राजा को बंगाल पर आक्रमण करने का दायित्व सौंपा था। यदि वह इसे निभाता तो अंग्रेजों के लिए एक भारी संकट खड़ा हो जाता। लेकिन मघोजी के पुत्र चमनजी के नेतृत्व में जो सेना बंगाल की ओर बढ़ी उससे गवर्नर जनरल ने आसानी से ही समझौता कर लिया। सोलह लाख रुपये की रकम देकर उसने बरार की सेना से सारी शर्तें मनवा लीं। बरार का राजा भविष्य में अपने राज्य से अंग्रेजी सेना को जाने देने के लिए भी राजी हो गया। बरार की सेना वापस लौट गयी और बंगाल पर किसी प्रकार के हमले का खतरा नहीं रहा।

संगठन में शामिल के दो राज्यों को आसानी से अपने पक्ष में करके गवर्नर जनरल ने परिस्थिति पर काबू पा लिया था। कंपनी से कोई संघर्ष करने के पूर्व ही संगठन टूटने लगा था। भोंसले राजा ने बड़े कठिन समय में मराठों को धोखा दिया था। मराठा युद्ध के दौरान ही गायकवाड़ और भोंसले ने अपने-अपने हितों को ही प्राथमिकता दी थी। विपत्ति के समय मराठा सरदार एकजुट होकर अंग्रेजों की चुनौतियों का सामना न कर सके। मराठे युद्ध से थक गये थे। वे अधिक समय तक युद्ध को जारी न रख सके।

इसी बीच हैदर अली के हस्तक्षेप के फलस्वरूप परिस्थितियाँ तेजी से बदलीं। जुलाई, १७८० में हैदर अली ने कर्नाटक पर एक बड़ी सेना लेकर आक्रमण कर दिया था। मद्रास सरकार इस सेना को रोक नहीं सकी। हैदर की सेना की शक्ति से वारेन हेस्टिंग्स परिचित था। अतः उसने सारी शक्ति लगाकर दक्षिण में हैदर की चुनौती का सामना करने का निश्चय किया। अंग्रेजों की सेना को अधिक से अधिक संख्या में भेजने की योजना बनायी

जाने लगी और यह आवश्यक हो गया कि मराठों से संधि की जाये। वारेन हेस्टिंग्स ने तुरंत मराठा सरदारों से संपर्क करके संधि के प्रस्ताव किये। मराठों के साथ समझौता करने के बाद वह पूरी शक्ति से दक्षिण में हैदर अली के विरुद्ध संघर्ष करना चाहता था।

अंग्रेजों की प्रस्तावित संधि के प्रति महादजी सिंधिया का रुख महत्त्वपूर्ण था क्योंकि मराठा युद्ध में उसने सक्रिय रूप से भाग लिया था। महादजी समझौता करके युद्ध समाप्त करने के पक्ष में था। वह राजनीतिक स्वार्थों से प्रभावित हुआ था। वह उत्तर भारत में अपनी शक्ति का विस्तार करना चाहता था। अंग्रेजों से संधि करने के बाद उसे इस उद्देश्य को प्राप्त करने का अवसर मिलता दिखायी पड़ रहा था। यह ध्यान देने योग्य है कि महादजी सिंधिया ने भी मराठा राज्य संघ की चिंता न करके संधि की शर्तो पर विचार करते समय केवल अपनी शक्ति को बढ़ाने पर ही ध्यान दिया। सिंधिया स्वतंत्र रूप से अंग्रेजों से संधि करने के लिए इसी कारण तैयार हो गया। उसने अन्य सहयोगियों से अनुमति नहीं ली।

सालवाई की सन्धि

महादजी सिंधिया और गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि के बीच ग्वालियर से सत्ताईस मील दूर सालवाई के स्थान पर हुई महत्त्वपूर्ण संधि द्वारा प्रथम मराठा युद्ध समाप्त हुआ।

१७८२ में की गयी सालवाई की संधि की प्रमुख शर्तो पर विचार कर लेना उपयुक्त होगा। इस संधि में पहली व्यवस्था यह की गयी कि युद्ध के दौरान जिन क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था उन्हें पेशवा के अधिकार में वापस दे दिया जायेगा। केवल सेलसट और उसके आसपास के छोटे द्वीपों पर अंग्रेजों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। दूसरे, गवर्नर जनरल ने आश्वासन दिया कि भविष्य में अंग्रेज राघोबा की किसी प्रकार की सहायता नहीं करेंगे। पेशवा द्वारा उसे पेंशन दिये जाने की व्यवस्था की गयी। तीसरे, यह तय किया गया कि पेशवा हैदर अली पर यह दबाव डालेगा कि वह उन स्थानों को खाली कर दे जिनपर उसने अधिकार कर लिया था। चौथे, फतेहसिंह गायकवाड़ के विषय में यह निश्चय किया गया कि उसके राज्य की सीमाओं में कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा तथा वह पूर्ववत् पेशवा को कर देता रहेगा और मराठा राज्य के प्रति अपने उत्तरदायित्व को निभाता रहेगा। पाँचवें, मराठों और अंग्रेजों के मित्रों के संबंध में स्पष्टीकरण कर दिया गया और दोनों पक्षों में से कोई भी भविष्य में एक दूसरे के मित्र को परेशान नहीं करेगा। संधि की शर्तो के अलावा महादजी सिंधिया ने यह भी घोषणा की कि यदि हैदर अली संधि की शर्तो को अस्वीकार करेगा तो मराठे अंग्रेजों से मिलकर उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ देंगे।

अंग्रेजों को इस संधि से निम्नलिखित लाभ हुए :-

(१) मराठा राज्य के साथ अंग्रेजों की संधि हो गयी।

(२) मराठा राज्य से अंग्रेजों को यह आश्वासन मिल गया कि हैदर अली कर्नाटक प्रदेश से हट जायेगा। हैदर अली के इन्कार करने पर मराठे उसके विरुद्ध अंग्रेजों का साथ देने को राजी हो गये।

(३) यह आशंका समाप्त हो गयी कि मराठे फ्रांसीसियों से किसी प्रकार की संधि कर सकते थे।

(४) अंग्रेजों के दो प्रमुख सहयोगियों को भी इस संधि में शामिल किया गया था। ये थे कर्नाटक और अवध के नवाब। इन राज्यों पर अंग्रेजों का प्रभाव स्वीकार कर लिया गया और इन राज्यों को भविष्य में मराठों के आक्रमण का भय नहीं रहा।

(५) महादजी सिंधिया के इस संधि पर हस्ताक्षर करने से अंग्रेजों ने यह भी आशा की थी कि उसका निजी प्रभाव मराठी राज्य में बढ़ेगा लेकिन मराठा संघ की एकता पर इसका प्रतिकूल असर पड़ा।

नाना फड़वनीस इस संधि से असंतुष्ट था और कुछ महीनों तक गवर्नर जनरल की चिंता यह थी कि वह इस संधि के प्रति क्या रुख अपनायेगा। विशेष रूप से हैदर अली के विषय में किये गये निर्णयों द्वारा संगठन की अवहेलना की गयी थी। फड़वनीस हैदर के विरुद्ध कोई कदम उठाने के पक्ष ने नहीं था। लेकिन दिसंबर, १७८२ में हैदर की मृत्यु हो जाने से उसकी यह कठिनाई दूर हो गयी। पूना दरबार ने छह महीने के विलम्ब के बाद सालवाई की संधि को स्वीकार कर लिया।

संधि की समीक्षा करते समय यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रथम संघर्ष में अंग्रेज अपने उद्देश्य को प्राप्त न कर सके। वारेन हेस्टिंग्स पूना में प्रभाव जमाने के प्रयास में असफल रहा। मराठों का दमन करने के उद्देश्य से जो सैनिक तैयारियाँ की गयी थीं उसमें कंपनी को किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली। वारेन हेस्टिंग्स ने संधि के बाद कहा था: 'यह शांति-स्थापना के लिए किये गये प्रस्तावों की सफलता है....मेरी कठिनाई के सबसे निराशाजनक समय में'। इससे स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल युद्ध को किसी भी तरह समाप्त करने के पक्ष में था। संधि के समय नाना फड़वनीस और महादजी सिंधिया ऐसे योग्य नेताओं के होने से मराठा राज्य में किसी प्रकार एकता बनी रही। लेकिन इन नेताओं ने दूरगामी नीति नहीं अपनायी। यही अवसर था जब वे अंग्रेजों की कठिनाइयों का लाभ उठा सकते थे। जिस समय मराठों को अंग्रेजों के प्रति आक्रमणात्मक नीति अपनाना चाहिए था उन्होंने रक्षात्मक नीति का अनुसरण किया। करीब बीस वर्षों तक मराठों और अंग्रेजों के बीच कोई मुठभेड़ नहीं हुई। लेकिन संघर्ष तो अनिवार्य था और लगभग दो दशकों के उपरांत हुए शक्ति संघर्ष के समय तक अंग्रेज अपनी शक्ति को कहीं अधिक संगठित कर चुके थे। सालबाई की संधि से मराठों को नहीं बल्कि कंपनी को लाभ हुआ।

सालबाई के संधि के उपरांत मराठों में बढ़ते हुए मतभेद

प्रथम मराठा युद्ध के बाद के बीस वर्षों तक अंग्रेजों और मराठों के बीच कोई सैनिक संघर्ष नहीं हुआ। लेकिन अंततः १८०२ में वेलेज्ली ने दूसरे मराठा युद्ध के लिये तैयारी शुरू की। दोनों पक्ष जानते थे कि कभी न कभी ऐसी नौबत आ सकती थी। अतः मराठों को ऐसी स्थिति के लिये तैयार रहना चाहिए था। लेकिन दुबारा परीक्षा होने के समय तक मराठों में

बिखराव आने लगा था। पेशवा की गद्दी पर ऐसा व्यक्ति बैठा जिसने निजी स्वार्थ के कारण समूचे मराठा संघ को संकट में डाल दिया। बाजीराव द्वितीय पेशवा को न तो कोई नेतृत्व प्रदान कर सका और न उसमें इसकी कोई योग्यता थी। इससे पेशवा और प्रमुख मराठा सरदारों के बीच के मतभेद प्रकट हो गये।

दिसंबर, १७९५ में बाजीराव द्वितीय पेशवा बना। उसके पद-ग्रहण के समय कोई भी मराठा सरदार उपस्थित नहीं हुआ। पेशवा का प्रमुख सहायक था नाना फड़वनीस। इस अनुभवी और योग्य सहायक के कारण आरंभिक चार वर्षों तक बाजीराव द्वितीय के सम्मुख अधिक कठिनाइयाँ नहीं आयीं। लेकिन नाना फड़वनीस की मृत्यु से पूना की शक्ति घटने लगी। मराठा सरदार पेशवा का विरोध करने लगे।

मराठा राज्य संघ में आये इस बिखराव के फलस्वरूप प्रत्येक मराठा सरदार स्वतंत्र होकर कार्य करने लगा। उन्होंने अंग्रेजों के इरादों की उपेक्षा करके कठिनाइयाँ मोल ले लीं।

मराठा साम्राज्य में गृह कलह इस सीमा तक पहुँच गयी कि १८०२ में पूना के निकट यशवंतराव होल्कर और महादजी सिंधिया की सेनाओं के बीच खुलेआम युद्ध हुआ। इन मराठा सरदारों की सेनाओं ने एक दूसरे का खून बहाकर समूचे मराठा संघ को संकट में डाल दिया। दोनों पक्षों के छह हजार से अधिक सैनिक मारे गये और वड़ी संख्या में जख्मी हुए।

पूना से भागकर पेशवा का अंग्रेजों की शरण में पहुँचना

होल्कर और सिंधिया के दबाव से बचने के उद्देश्य से पेशवा बाजीराव द्वितीय ने पूना से भागकर अंग्रेजों की शरण में जाने का निश्चय किया।

पेशवा बाजीराव द्वितीय ने ३० अक्टूबर १८०२ को बंबई के गवर्नर को पत्र लिखा। पत्र में उसने अंग्रेजों और राघोबा के बीच मित्रता की चर्चा करते हुए बंबई की सरकार से होल्कर के विरुद्ध सुरक्षा की माँग की। बाजीराव ने लिखा कि वह अंग्रेजों की शरण में आना चाहता था। उसने गवर्नर को यह आश्वासन देने को कहा कि यदि पेशवा के विरोधी उसे अधिकार में करना चाहेंगे तो वह इस माँग को अस्वीकार कर देगा।

बंबई के गवर्नर ने पेशवा को सूचित किया कि गवर्नर जनरल की अनुमति पाकर ही वह कोई नीति संबंधी आश्वासन दे सकता था। लेकिन गवर्नर ने पेशवा को संरक्षण देना स्वीकार कर लिया। अंग्रेज गवर्नर ने पेशवा को लाने के लिए प्रबंध कर दिये। एक ब्रिटिश जलयान में बैठकर वह बंबई के निकट बेसीन द्वीप तक पहुँच गया।

वेलेज्ली की मराठों के प्रति नीति

पेशवा बाजीराव द्वितीय ने जब अंग्रेजों के संरक्षण में जाकर उनसे संधि करने का प्रस्ताव किया तो गवर्नर जनरल वेलेज्ली को भारत आने के करीब चार वर्षों बाद मराठों पर प्रभाव जमाने का वह अवसर स्वतः प्राप्त हो गया जिसकी वह लगातार कोशिश कर रहा था। यहाँ यह विचार करना उपयुक्त होगा कि १८०२ में कंपनी की स्थिति किस प्रकार की थी

तथा गवर्नर जनरल ने पेशवा के साथ संपर्क स्थापित करते समय किस प्रकार की नीति अपनायी।

वेलेज्ली ने अपना पद सँभालते ही विस्तारवादी नीति अपनायी। वह देश के अधिक से अधिक क्षेत्र को ब्रिटिश अधिकार में लाना चाहता था। इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उसने मराठा साम्राज्य के विषय में भी हस्तक्षेप की नीति अपनायी। उसकी नीति का आधार यह था कि वह केवल मराठों और अंग्रेजों के बीच संबंधों पर ही नियंत्रण नहीं रखना चाहता था बल्कि मराठा राज्यों के आपसी संबंधों पर भी नियंत्रण रखना चाहता था। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि गवर्नर जनरल ने मराठा सरदारों के एक दूसरे के साथ संबंधों को प्रभावित करने की नीति अपनायी। वह स्पष्ट रूप से मराठा संघ के संगठन को अंग्रेजों के प्रभाव में लाने की कोशिश करने लगा।

वेलेज्ली के आगमन के समय तक ब्रिटिश सरकार और मराठा साम्राज्य के बीच अधिक संपर्क नहीं थे। मराठों ने अंग्रेजों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में कभी रुचि नहीं दिखायी थी। जब तक संभव हो सका वे अंग्रेजों से दूर रहे। वेलेज्ली ने आरम्भ से ही मराठा सरदारों के साथ रक्षात्मक संधि करने का प्रस्ताव किया। विशेष रूप से उसने पेशवा से १७९८, १७९९ और १८०० में तीन अलग-अलग अवसरों पर संधि के प्रस्ताव किये और सिंधिया से भी १८०१ में संधि करने का आग्रह किया गया। वेलेज्ली के ये आरंभिक प्रयास सफल नहीं हुए और कोई भी मराठा सरदार संधि के लिए तैयार नहीं हुआ। उसने जिस प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करने में उतावलापन दिखाया उससे यह संकेत मिलता है कि गवर्नर जनरल मराठों के साथ सम्बन्ध बढ़ाने को इच्छुक था। बाजीराव द्वितीय ने जब उसे १८०२ में यह अवसर प्रदान किया तो वेलेज्ली तुरंत उसके साथ संधि करने को तैयार हो गया।

१८०२ में राजनीतिक स्थिति भी अंग्रेजों के पक्ष में थी। इससे वेलेज्ली अधिक उत्साहित होकर मराठा राज्य के विषय में नीति अपना सका। टीपू सुल्तान को पराजित करके अंग्रेज मैसूर पर अधिकार जमा चुके थे। इसके बाद निजाम और अवध ने भी अंग्रेजों से सहायक संधियाँ कर ली थीं। इसका परिणाम यह हुआ था कि ब्रिटिश सरकार अथवा उसके सहायक राज्यों की सीमाएँ मराठा साम्राज्य के निकट तक आ गयी थीं। अब ब्रिटिश सेनाएँ बिना किसी कठिनाई के किसी भी मराठा राज्य के विरुद्ध युद्ध करने को तैयार थीं। ब्रिटिश साम्राज्य के विकास तथा अन्य राज्यों के साथ की गयी संधियों के फलस्वरूप भारत में अंग्रेजों की शक्ति पहले की तुलना में कहीं अधिक बढ़ चुकी थी। वेलेज्ली ने अनुभव किया कि समय उसके अनुकूल था। यह स्वाभाविक ही था कि उसके ऐसे महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति ने अनुकूल परिस्थितियों का पूरा लाभ उठाने का निर्णय लिया।

वेलेज्ली के आगमन के समय से मराठा साम्राज्य का स्वरूप भी बदलता जा रहा था। मराठों के योग्य नेताओं की मृत्यु हो चुकी थी। महादजी सिंधिया, नाना फड़वनीस और तुकोजी होल्कर के समान योग्य व्यक्तियों के समय मराठा राज्य में एकता बनी रही। लेकिन

शीघ्र ही मराठा सरदार एक दूसरे के विरुद्ध खुलेआम युद्ध करने लगे थे। मराठा साम्राज्य में आंतरिक गृहकलह और विद्वेष व्याप्त हो गया। बढ़ती हुई फूट से मराठे कमजोर हो गये, उनके साम्राज्य की एकता शिथिल हो गयी और प्रत्येक सरदार निजी स्वार्थ में फँस गया। इस स्थिति में अंग्रेजों और मराठों के बीच संघर्ष होने में मराठा साम्राज्य को शक्ति बनाये रखने की कोई आशा नहीं थी। वेलेज्ली ने मराठों में व्याप्त इस फूट का पूरा लाभ उठाकर दूसरा मराठा युद्ध छेड़ दिया।

बेसीन की संधि (दिसम्बर, १८०२)

जब पेशवा बाजीराव द्वितीय शरणार्थी के रूप में अंग्रेजों के संरक्षण में आया तो गवर्नर जनरल के सामने कई रास्ते थे। पहला विकल्प यह था कि गवर्नर जनरल उसे किसी प्रकार का भी संरक्षण न देता। यदि वह इस प्रकार का निर्णय लेता तो इसका परिणाम यह होता कि सिंधिया पुनः बाजीराव को अपने संरक्षण में लाने की कोशिश करता। अंग्रेजों को इस स्थिति से यह लाभ मिल सकता था कि सिंधिया और होल्कर में संघर्ष चलता रहता। इस संघर्ष से ये दोनों प्रमुख मराठा सरदार शक्तिहीन हो जाते। किंतु इस प्रकार बाजीराव को सहायता न देने की नीति बेलेज्ली की प्रवृत्ति के विरुद्ध थी। इस कारण उसने इस रास्ते को नहीं अपनाया।

वेलेज्ली के लिए दूसरा विकल्प यह हो सकता था कि वह पूना में एक नये व्यक्ति को पेशवा बनने में मदद कर सकता था। अमृतराव को होल्कर पेशवा बनाना चाहता था। अन्य कुछ मराठा सरदार भी इस परिवर्तन को स्वीकार कर सकते थे। अमृतराव बाजीराव द्वितीय से अधिक योग्य व्यक्ति था और ब्रिटिश सरकार उसकी सहायता करके लाभ उठा सकती थी। लेकिन वेलेज्ली को होल्कर के प्रभाव पर अधिक भरोसा नहीं था। इसी कारण उसने यह नीति नहीं अपनायी। तीसरी नीति यह अपनायी जा सकती थी कि गवर्नर जनरल पेशवा को संरक्षण और सहायता देने को उस समय तैयार होता जब मराठा संघ के अन्य सरदार अंग्रेजों का साथ देने को तैयार होते। यह एक कठिन रास्ता था क्योंकि इसकी सफलता के लिए चारों प्रमुख मराठा सरदारों के साथ लंबी कूटनीतिक बातचीत करनी पड़ती। वेलेज्ली इतनी प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं था।

चौथा विकल्प, जो वास्तव में अपनाया गया, यही था कि पेशवा के अनुरोध को स्वीकार करके ब्रिटिश सेनाओं द्वारा उसे पूना की गद्‌दी पर पुनः बिठाया जाये।

पेशवा बाजीराव बेसीन तक १७ दिसंबर को पहुँच गया था और ३१ दिसंबर को उसने ब्रिटिश सरकार के साथ जिस संधि पर हस्ताक्षर किया वह बेसीन की संधि कहलाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि गवर्नर जनरल ने संधि करने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया और दो सप्ताह में ही संधि की शर्तों पर सहमति हो गयी। अंग्रेजों को पेशवा के साथ यह संधि करने में सफलता इसी कारण मिली क्योंकि वह लेनदेन करने की स्थिति में नहीं था और अंग्रेजों की सहायता पाने का इतना अधिक इच्छुक था कि उसने शर्तों पर अधिक विवाद नहीं किया। वेलेज्ली पेशवा के साथ सुरक्षा संधि करने के लिए इसलिए तैयार था क्योंकि सहायक संधि की प्रणाली को वह मराठों के साथ सहयोग करके पूरा करना चाहता था।

संधि के विषय में बातचीत मुख्य रूप से इस प्रश्न को लेकर हुई कि पेशवा सहायक सेना रखने के खर्च को पूरा करने के लिए कौन से प्रदेश ब्रिटिश सरकार को सौंप दे। गुजरात का कुछ भाग तथा ताप्ती नदी और नर्मदा तथा तुंगभद्रा के बीच का क्षेत्र पेशवा अंग्रेजों को देने को तैयार हो गया।

बेसीन की संधि की भूमिका में यह कहा गया कि यह एक 'सामान्य रक्षात्मक संधि' थी जिसका उद्देश्य कंपनी, पेशवा और कंपनी के सहायकों के राज्यों की रक्षा करना था। इस संधि की निम्नलिखित प्रमुख बातें थीं-

(१) यह निश्चित किया गया कि कंपनी की कम-से-कम छह हजार सैनिकों की टुकड़ी पेशवा के राज्य में रहेगी।

(२) यह अनुमान लगाया गया कि इस सेना को रखने में करीब २६ लाख रुपये प्रतिवर्ष व्यय होंगे जिसे पेशवा देगा। आरंभ से ही यह व्यवस्था कर दी गयी कि पेशवा के राज्य के कुछ जिले कंपनी के अधिकार में दे दिये जायें। इन जिलों से प्राप्त हुए राजस्व की आय से सेना का खर्च पूरा किया जाने लगा।

(३) कंपनी को पेशवा के अन्य राज्यों के साथ संबंधों पर नियंत्रण रखने का अधिकार प्राप्त हुआ। संधि में विशेष रूप से यह कहा गया कि भविष्य में पेशवा और निजाम के बीच होने वाले किसी भी विवाद में कंपनी के प्रतिनिधि मध्यस्तता करेंगे।

(४) कंपनी को यह अधिकार मिला कि वह पेशवा और अन्य मराठा राज्यों के बीच के संबंधों पर भी निगरानी रखे।

(५) पेशवा का यह उत्तरदायित्व था कि भविष्य में किसी भी युद्ध की स्थिति में वह कम्पनी की सहायता करे। इसके अलावा एक अन्य व्यवस्था द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया कि पेशवा कंपनी की इच्छा के विरुद्ध किसी भी दूसरे राज्य से युद्ध नहीं करेगा और न अपनी सेना ही राज्य के बाहर भेजेगा।

संधि के परिणाम

सरदेसाई के अनुसार 'बेसीन की संधि ने शिवाजी द्वारा स्थापित मराठों की स्वतंत्रता का अन्त कर दिया।'

बाजीराव द्वितीय ने संधि की शर्तों को स्वीकार करते समय केवल व्यक्तिगत हित का ध्यान रखा। वह किसी भी परिस्थिति में पेशवा का पद पुनः प्राप्त करना चाहता था। ब्रिटिश सेना मई, १८०३ में उसे लेकर बम्बई से पूना पहुँची और पेशवा ने गद्दी को पुनः सँभाला।

छह महीने के बाद बाजीराव की वापसी का यह अर्थ नहीं था कि उसकी स्थिति में किसी प्रकार का अंतर ही नहीं आया था। वास्तविकता यह थी कि पेशवा की पुनः प्रतिष्ठा परंपरागत व्यवस्था की पुनः प्रतिष्ठा नहीं थी। इन महीनों में पेशवा के पद में एक बड़ा अंतर आ गया था। अंग्रेजों की शरण में जाने के पूर्व वह स्वतंत्र था। उसके पद का गौरव समस्त मराठा साम्राज्य में व्याप्त था और अन्य राजनीतिक शक्तियाँ भी उसके पद के महत्त्व को

समझती थीं। लेकिन जब वह वापस आया तो ब्रिटिश सेना के संरक्षण में पूना आया और यही ब्रिटिश सेना उसकी सुरक्षा के लिए पूना में तैनात थी। यह एक अजीब दृश्य था जिसे देखकर सभी को आश्चर्य हो रहा था।

यह संधि वेलेज्ली की व्यवस्था की सफलता का चरम बिंदु थी। गवर्नर जनरल ने मराठा राज्य पर ब्रिटिश प्रभाव जमाने का एक साहसिक कदम उठाया था। इस सफलता से भारत में अंग्रेजों की प्रभुता को स्थापित करना संभव हो सका।

बेसीन संधि के विषय में यह विचार प्रस्तुत किया गया है कि अंग्रेजों ने यह संधि "शून्य" के साथ की। अगर कंपनी ने किसी शक्तिहीन शासक से संधि की तो इसका कारण यह था वे इससे होने वाले राजनीतिक लाभ से परिचित थे। अंग्रेजों को मराठा साम्राज्य में हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया था तथा पूना में सेनाओं को रखकर वे अधिक शक्ति से भावी घटनाओं को प्रभावित कर सकते थे। पेशवा ने यह भी स्वीकार किया था कि वह हैदराबाद के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इससे निजाम पूर्णरूप से अंग्रेजों के प्रभाव में आ गया।

बेसीन की संधि के विषय में थामसन और गैरट के विचार उल्लेखनीय हैं। इनका मत है कि "बेसीन की संधि करके अब गवर्नर जनरल को ऐसा बहाना मिल गया जिसकी तलाश वह बहुत समय पहले से बड़े परिश्रम से कर रहा था।" वेलेज्ली का तर्क यह था कि पेशवा मराठा संघ का प्रधान था और इस संधि को प्रत्येक मराठा सरदार को स्वीकार करना चाहिए। वह जानता था कि कुछ मराठा राज्य संभवतः पेशवा द्वारा की गयी संधि को अस्वीकार कर देंगे। ऐसे राज्यों के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने के लिए गवर्नर जनरल पूरी तरह से तैयार था। पेशवा का पक्ष लेकर उसने अन्य मराठा सरदारों पर भी सहायक संधियाँ लादने का निश्चय कर लिया था।

बेसीन की संधि के फलस्वरूप मराठा-संघ में फूट पड़ गयी। कुछ सरदार संधि को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गये और कुछ इसके विरोधी थे। बाजीराव ने संधि करने के पूर्व किसी भी मराठा सरदार से परामर्श नहीं किया था और न संधि में इस प्रकार की कोई व्यवस्था थी कि अन्य मराठा सरदारों की स्वीकृति मिलने के पश्चात् इसे वैध माना जाये। गायकवाड़ अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ भी करने को तैयार नहीं था और यशवंतराव होल्कर विद्वेष के कारण अंग्रेजों का विरोध करनेवाले सरदारों का साथ देने को तैयार नहीं हुआ। परिणाम यह हुआ कि केवल सिंधिया और भोंसले ने ही पेशवा का विरोध किया तथा द्वितीय मराठा युद्ध का आरंभ हो गया।

इस संधि के कारण कंपनी की शक्ति बढ़ी। अब कंपनी की सेनाएँ मैसूर, हैदराबाद और लखनऊ के अलावा पूना में भी तैनात हो गयीं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशक में किसी भी युद्ध की स्थिति में सेना के आवागमन में बहुत अधिक समस्याएँ उपस्थित होती थीं। अंग्रेजों ने सहायक संधिया करके इस कठिनाई पर काबू पा लिया था और द्वितीय मराठा युद्ध के समय वे कुछ ही दिनों में किसी भी मराठा राज्य की सीमाओं को पार कर

आक्रमण करने की स्थिति में थे। गवर्नर जनरल ने अन्य मराठा राज्यों के विरुद्ध संघर्ष करते समय इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया।

द्वितीय मराठा युद्ध की परिस्थितियाँ और लक्ष्य

मई, १८०३ में पेशवा को लेकर ब्रिटिश सेनाएँ पूना पहुँच गयीं। इस घटना के करीब तीन महीने पश्चात् अगस्त, १८०३ में अंग्रेजों ने द्वितीय मराठा युद्ध आरंभ कर दिया। युद्ध के समय ब्रिटिश सेनाओं की संख्या, जो निजाम राज्य के उत्तरी भाग में तैनात थीं, साठ हजार से भी अधिक थीं। इसके पूर्व कभी भी अंग्रेजी सेना ने इतनी भारी संख्या में किसी युद्ध में भाग नहीं लिया था। इस तथ्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि अंग्रेजों ने युद्ध के आरंभ के पूर्व पूरी तैयारियाँ कर ली थीं। गवर्नर जनरल के भाई आर्थर वेलेज्ली को दक्षिण की ब्रिटिश सेना का सेनापति नियुक्त कर दिया गया तथा स्टिवेंसन को उसका सहायक नियुक्त कर दिया गया। सैनिक तैयारियाँ पूरी करके ब्रिटिश अधिकारियों ने मराठा सरदारों की गतिविधियों पर पूरा ध्यान दिया तथा आवश्यकता पड़ने पर तुरंत कार्यवाही की।

बाजीराव द्वितीय की वापसी के समय से मराठा संघ की एकता को छिन्न-भिन्न करने के प्रयास गवर्नर जनरल ने आरम्भ कर दिये। पहले गायकवाड़ से संपर्क स्थापित किया गया और वेलेज्ली को यह जानकर सन्तोष हुआ कि वह किसी भी प्रस्तावित संघ से तटस्थ रहने को तैयार था। पुनः यशवंतराव होल्कर और बाजीराव द्वितीय के भाई अमृतराव को सन्तुष्ट करने की कोशिश की गयी जिससे उन्हें निष्क्रिय बनाया जा सके। अमृतराव ने ब्रिटिश संरक्षण स्वीकार कर लिया। उसे पेंशन देकर बनारस भेज दिया गया। मराठा संघ की एकता पर यह पहला आघात था। अंग्रेजों ने होल्कर को सन्तुष्ट रखने के लिए उसकी सेना से संघर्ष नहीं किया। इसके अलावा होल्कर से कूटनीतिक संबंध बनाये रखा गया। यशवन्तराव सिंधिया के व्यवहार से इतना अधिक संतुष्ट था कि इस आपत्ति के समय में भी उसने चुप रहना उचित समझा। होल्कर ने अपनी सेनाओं को मालवा भिजवा दिया।

आरम्भ से ही वेलेज्ली का ध्यान मुख्य रूप से सिंधिया की ओर था। वह सिंधिया की सेनाओं की शक्ति से भली-भाँति परिचित था। अतः उसकी नीति यह थी कि ब्रिटिश सेनाएँ जब सिंधिया के विरुद्ध धावा आरम्भ करें तो इस मराठा सरदार की सहायता के लिए अन्य मराठा शक्तियाँ शामिल न हो पायें। इस लक्ष्य को प्राप्त करने में उसे बहुत कुछ सफलता मिली। मराठा युद्ध के समय केवल बरार के भोंसला राजा ने ही सिंधिया का साथ दिया।

बेसीन की संधि का समाचार सुनते ही दौलतराम सिंधिया अपनी सेना लेकर उज्जैन से चलकर बुरहानपुर पहुँचा। यहाँ आकर उसने दूसरे मराठा सरदारों से संपर्क करना आरंभ कर दिया। भोंसला राजा ने आकर उससे भेंट की और दोनों मिलकर यह विचार करने लगे कि संधि से उत्पन्न स्थिति के अनुसार क्या किया जाये। भोंसला और सिंधिया की सेनाएँ निजाम की सीमा से कुछ दूर ही थीं और वे सुविधानुसार पूना अथवा औरंगाबाद की ओर अग्रसर हो सकती थीं। लेकिन गवर्नर जनरल भी इन दोनों मराठा सरदारों की गतिविधियों पर नजर रखे हुए था। गवर्नर जनरल के प्रतिनिधि ने सिंधिया तथा भोंसले से संपर्क स्थापित

करके संधि का ब्यौरा दिया। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने इन मराठा सरदारों से सेनाओं को पीछे हटा लेने को कहा। कुछ समय तक अंग्रेजों और इन दोनों मराठा सरदारों के बीच बातचीत चलती रही। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। मराठा सरदारों ने सेनाओं को हटाना स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि मराठा सेनाएँ उन्हीं के राज्यों में थीं और अपने राज्यों में सेनाएँ रखने का उन्हें अधिकार था।

लेकिन वेलेज्ली सिंधिया और भोंसला के विरुद्ध युद्ध करने की पूरी तैयारी कर चुका था। वह और अधिक समय तक बैठने को तैयार नहीं था क्योंकि उसे आशंका थी कि समय मिलने पर अन्य मराठा सरदार अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष करने में सिंधिया और भोंसला का साथ दे सकते थे। मालूम तो यही पड़ता है कि ब्रिटिश प्रतिनिधि को केवल इसीलिए भेजा गया था जिससे उचित समय पर और उपयुक्त भू-भाग पर युद्ध आरंभ करने का ब्रिटिश सेना को मौका मिल जाये। जनरल वेलेज्ली जानता था कि मराठों पर आक्रमण करने के लिए बरसात का मौसम सबसे उपयुक्त था और वह इसी मौसम में युद्ध आरंभ करने की प्रतीक्षा कर रहा था। वर्षा होने पर मराठों की प्रसिद्ध घुड़सवार सेना अधिक कार्य नहीं कर सकती थी। युद्ध आरंभ करते समय ब्रिटिश सेना ने सुभीते के अनुसार उपयुक्त भू-भाग का चुनाव किया।

द्वितीय मराठा युद्ध

अगस्त, १८०३ में यह युद्ध आरम्भ हो गया। ब्रिटिश सेनाओं ने अहमदनगर के किले पर अचानक आक्रमण करके युद्ध की पहल की। चार महीनों में कई स्थानों पर दोनों पक्षों के बीच प्रसिद्ध लड़ाइयाँ लड़ी गयीं।

इस युद्ध का एक खेदजनक पहलू यह दिखायी दिया कि मराठा सेना के प्रमुख यूरोपींय अधिकारियों ने युद्ध के दौरान धोखा दिया। विशेष रूप से सिंधिया की सेना पर इसका प्रभाव पड़ा। सिंधिया की सेना फ्रांसीसी तथा अन्य यूरोपीय अधिकारियों द्वारा प्रशिक्षित की गयी थी और उन अधिकारियों को ही सेना के संचालन का गुरुतर भार सौंपा गया था। युद्ध आरंभ होने के बाद कई स्थानों पर सैनिक अधिकारियों के आत्म समर्पण कर देने से सिंधिया की सेनाओं का हौसला पस्त हो गया। विदेशियों की मदद से सेना को संगठित करने की नीति के लिए सिंधिया को बड़ी कीमत चुकानी पड़ी।

आर्थर वेलेज्ली ने युद्ध का आरंभ करके बुरहानपुर और अहमदनगर के किलों पर अधिकार करने का लक्ष्य निर्धारित किया। अहमदनगर के किले में रसद और युद्ध-सामग्री का विशाल भंडार था जो सिंधिया की सेना के उपयोग के लिए रखा गया था। जैसे ही ब्रिटिश सेनाओं ने इस किले पर गोलाबारी आरंभ की, सिंधिया की सेना के यूरोपीय अधिकारियों ने आत्मसमर्पण कर दिया। दो दिन के संघर्ष के फलस्वरूप अंग्रेजों ने इस किले पर अधिकार कर लिया। इस सफलता से अंग्रेजों को यह लाभ हुआ कि पूना के लिए उनका मार्ग खुल गया।

अहमदनगर के पतन के बाद भोंसला और सिंधिया की, सेनाओं ने निजाम के राज्य की सीमा पार करके आगे बढ़ना आरंभ कर दिया। २३ सितंबर को औरंगाबाद से ४५ मील उत्तर की ओर स्थित असेई गाँव के निकट मराठों की सेना और ब्रिटिश सेना के बीच एक बड़ा युद्ध हुआ। इस युद्ध में भी ब्रिटिश सेनाओं ने ही पहल की। अवसर देखकर वह मराठों पर टूट पड़ी। मराठा सरदारों को विरोधी सेना से अधिक सचेत रहना चाहिए था क्योंकि युद्ध के आरंभ में ही उनकी रक्षा पंक्ति मराठा सेना को सुरक्षा नहीं प्रदान कर सकी। सिंधिया के तोपखाने ने ब्रिटिश सेना को भारी क्षति पहुँचायी। लेकिन घुड़सवार और पैदल सेना तोपखाने की रक्षा ठीक प्रकार से नहीं कर सकी। इस कारण मराठों की सेना को पराजित होकर पीछे हटना पड़ा। ब्रिटिश सेना के करीब दो हजार तीन सौ सैनिक और अधिकारी असेई के युद्ध में मारे गये। लेकिन फिर भी गवर्नर जनरल इस समाचार को सुनकर संतुष्ट हुआ कि ब्रिटिश सेना युद्ध में सफल रही।

असेई की विजय से उत्साहित होकर आर्थर वेलेज्ली और स्टिवेंसन दोनों की सेनाओं ने मराठों के अन्य प्रमुख किलों तथा नगरों पर अधिकार करने का क्रम जारी रखा। दोनों ब्रिटिश सेनाओं ने युद्ध के संचालन में शिथिलता नहीं आने दी। बुरहानपुर और असीरगढ़ के किले पर अधिकार करने में ब्रिटिश सेना को किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई। असीरगढ़ के किले के नौ यूरोपीय अधिकारियों ने ब्रिटिश सेना के सामने हथियार डाल दिये। असीरगढ़ का किला इतनी सरलता से मराठों के हाथ से निकल जाने से मराठों की सेना की स्थिति कमजोर होने लगी। इस किले पर ब्रिटिश सेना का अधिकार होने के पश्चात् सिंधिया के अधीनस्थ दक्षिण के क्षेत्रों पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया था।

दक्षिण प्रदेश में भोंसला राजा की सेना अभी भी सक्रिय थी। सिंधिया की सेना से अलग होकर भोंसला पश्चिम की ओर बढ़ा। बुरहानपुर से पचास मील पूर्व स्थित अरगाँव नामक स्थान पर मराठा सेनाओं और ब्रिटिश सेना के बीच टक्कर हुई। यहाँ भी ब्रिटिश सेना ने मराठों पर पहले आक्रमण किया। मराठा सेना जमकर युद्ध न कर सकी और ३८ तोपें तथा अन्य युद्ध सामग्री छोड़कर मराठा सैनिक पीछे हट गये। अरगाँव से बढ़कर ब्रिटिश सेना ने भोंसला के प्रसिद्ध दुर्ग गाविलगढ़ पर अधिकार कर लिया। इस विजय से दक्षिण भारत में मराठों के पैर उखड़ गये। कुछ महीनों के संघर्ष में ही मराठा सेना की कमजोरी प्रकट होने लगी थी।

उत्तर भारत में युद्ध

१७६२ से सिंधिया दक्षिण भारत के क्षेत्रों में रहने लगा था। यहाँ की गतिविधियों में उसे विशेष रुचि थी और वह पूना के निकट के क्षेत्र में ही रहता था। उत्तर भारत के क्षेत्रों का अधिकार सिंधिया के फ्रांसीसी सेनापतियों के हाथों में ही रहा। डीबोय उसका विश्वासपात्र अधिकारी था जिसने बड़ी योग्यता से सिंधिया की सेना को संगठित किया था। १७६५ में डीबोय भारत से चला गया और उसके पश्चात् दूसरे सहायक फ्रांसीसी सेनापति पैरों को सिंधिया के प्रदेशों की निगरानी करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। पैरों सेना के

संगठन के निरीक्षण के अतिरिक्त प्रशासन कार्य की देखभाल करता था। उसके अधीन अन्य फ्रांसीसी अधिकारियों को भी सेना और प्रशासन में उच्च पदों पर नियुक्त किया गया था। मराठा युद्ध के समय सिंधिया के दक्षिण के युद्ध में फँसे रहने के कारण उत्तरी क्षेत्र के युद्ध संचालन का भार पैरों और उसके फ्रांसीसी सहयोगियों के हाथ में आया। लेकिन इस कठिन समय में इन्होंने धोखा दिया। पैरों ब्रिटिश सेना से जा मिला और उसने हथियार डाल दिये। कई अन्य फ्रांसीसियों ने भी ऐसा ही किया। इससे सिंधिया की स्थिति उत्तर भारत में कमजोर हो गयी और ब्रिटिश सेना का काम आसान हो गया। पैरों के अधीन उत्तर भारत में ४५ हजार सैनिक थे। अगर ये सैनिक उचित ढंग से ब्रिटिश सेना से लोहा लेते तो सिंधिया का पक्ष कमजोर नहीं होता।

अलीगढ़ सिंधिया की सेना का मुख्य केन्द्र था। जब ब्रिटिश सेनापति लेक ने अगस्त, १८०३ में इस पर अधिकार करने के लिए चढ़ाई की तो पैरों की सेना ने बिना युद्ध किये ही हथियार डाल दिये। कुछ सैनिकों ने युद्ध अवश्य किया लेकिन वे ब्रिटिश सेना को रोक नहीं सकते थे। अलीगढ़ पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। युद्ध में काम आने वाला विशाल भंडार उनके हाथ लगा। फ्रेंच सेनापति पैरों को सुरक्षित रूप में लखनऊ पहुँचा दिया गया। वहाँ से वह स्वदेश वापस चला गया।

इस सफलता से अंग्रेजों के लिए आगे का मार्ग खुल गया। सितंबर मास में ही इस सेना ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। शीघ्र ही जनरल लेक मथुरा की ओर मुड़ा और उसने इस स्थान पर अधिकार जमाया। भरतपुर का राजा अंग्रेजों से संधि के लिए तैयार हो गया। कुछ दिनों बाद आगरा पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया। अंतिम युद्ध आगरा से कुछ मील दूर लासवाड़ी नामक स्थान पर हुआ।

लेक की उत्तर भारत की इन विजयों से दौलतराव सिंधिया भौंचक्का रह गया। दो महीने के अन्दर ही उसके अधीनस्थ प्रमुख क्षेत्रों पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया था। उत्तर भारत की इन विजयों से सिंधिया की सेना का दक्षिण में मनोबल गिर गया। स्वयं सिंधिया भी गिरे दिल से युद्ध करता रहा।

भोंसले और सिंधिया के साथ संधियाँ

दिसंबर, १८०३ में जनरल आर्थर वेलेज्ली ने सिंधिया और भोंसले के साथ संधि करके युद्ध समाप्त करने का निश्चय किया। आर्थर वेलेज्ली को जानकारी मिल गयी थी कि दोनों मराठा सरदार संधि के लिए तैयार थे। दोनों मराठा सरदारों को युद्ध में भारी क्षति उठानी पड़ी थी और किसी दूसरे संघर्ष को आरंभ करने के पूर्व उन्हें तैयारी करना आवश्यक था। जनरल वेलेज्ली जानता था कि अभी भी इन सरदारों की घुड़सवार सेना काफी शक्तिशाली थी और ब्रिटिश सेना उसकी शक्ति को पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकती थी। युद्ध के कारण ब्रिटिश सेना के सामने भी कई कठिनाइयाँ थीं जिन्हें शांति के समय दूर किया जा सकता था। अतः जनरल वेलेज्ली ने सिंधिया तथा होल्कर को नीचा दिखाने की अपेक्षा उनको अहानिकर शक्ति के रूप में स्वीकार करना उचित समझा। संधियों द्वारा

अंग्रेजों को सब लाभ मिल सकते थे। गवर्नर जनरल अपने भाई के इन प्रस्तावों से अधिक संतुष्ट नहीं था। उसकी इच्छा थी कि मराठा सरदारों को बंदी बनाकर कलकत्ता में उसके सम्मुख उपस्थित किया जाता। लेकिन आर्थर वेलेज्ली ने उसे यह सूचित किया कि यह न तो संभव था और न आवश्यक ही।

दोनों मराठा सरदारों ने साथ-साथ युद्ध में भाग लिया था। इस कारण वे एक साथ मिलकर ही संधि करना चाहते थे। लेकिन जनरल वेलेज्ली इसके लिए तैयार नहीं हुआ। उसने भोंसले और सिंधिया के साथ अलग-अलग संधियाँ कीं। इन दोनों संधियों में एक धारा समान रूप से यह रखी गयी थी कि किसी भी आंतरिक विवाद के समय वे अंग्रेजों की सर्वोच्च शक्ति को स्वीकार करते हुए उनके निर्णय को स्वीकार करेंगे।

देवगाँव की संधि (१७ दिसंबर, १८०३)

एलिचपुर से कुछ मील दूर देवगाँव में भोंसला राजा और जनरल वेलेज्ली के बीच संधि की शर्तें निश्चित की गयीं और दोनों पक्षों की ओर से संधि पर हस्ताक्षर किये गये। देवगाँव की संधि की मुख्य धाराएँ निम्नलिखित थीं-

(१) इस संधि की एक मुख्य धारा के अनुसार भोंसला राजा ने कटक प्रांत तथा उसके समुद्री तट के क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में सौंप दिये।

(२) भोंसला राजा ने पश्चिमी बरार का वर्धा नदी तक का भाग निजाम को दे दिया।

(३) भोंसला राजा ने उन संधियों को स्वीकार करने का वचन दिया जो ब्रिटिश सरकार तथा अन्य राज्यों के बीच की गयीं थीं।

(४) भोंसला राजा ने मराठा संघ को भंग करना स्वीकार किया और भविष्य में अंग्रेजों के किसी दुश्मन को नौकरी न देने का वचन दिया।

अर्जुनगाँव की संधि (३० दिसंबर, १८०३)

सिंधिया और अंग्रेजों के बीच भी कुछ दिनों बाद जो संधि हुई वह अर्जुनगाँव की संधि कहलायी। इस संधि की मुख्य धाराएँ इस प्रकार थीं-

(१) सिंधिया के अधीन उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। सिंधिया ने यमुना-गंगा दोआब का क्षेत्र अंग्रेजों और गुजरात के कुछ जिलों में सौंप दिया। दिल्ली-आगरा क्षेत्र, बुंदेलखंड का कुछ भाग, भड़ोच के अधिकार में कुछ जिले, अहमदनगर का किला तथा गोदावरी तक अजंता का क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

(२) सिंधिया ने मुगल सम्राट पर अपना प्रभाव छोड़ दिया।

(३) सिंधिया ने पेशवा, निजाम और गायकवाड़ पर अपने दावों को छोड़ दिया। उसने उन समस्त राज्यों की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया जिन्होंने अलग से ब्रिटिश सरकार से संधियाँ की थीं।

(४) सिंधिया ने यह स्वीकार किया कि वह भविष्य में किसी भी फ्रांसीसी को अथवा अन्य ब्रिटिश-विरोधी को अपने राज्य में नौकर नहीं रखेगा।

संधियों के परिणाम

इन दोनों संधियों से भारत की परंपरागत राजनीति में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए। मराठा संघ छिन्न-भिन्न हो गया और इस समय तक तीन प्रमुख मराठा शक्तियों ने अलग-अलग होकर अंग्रेजों से संधियाँ कर ली थीं। कुछ समय तक स्वयं मराठा सरदार भी बदली हुई स्थिति का अंदाज नहीं लगा सके। जब संधि के बाद रघुजी से पूछा गया कि वह अंग्रेज का मित्र था अथवा शत्रु, तो वह निश्चित उत्तर नहीं दे सका। उसने कहा कि वह इन शब्दों का अर्थ नहीं समझ पा रहा था।

दौलतराव सिंधिया को इस युद्ध से भारी हानि उठानी पड़ी। सफलता और गौरव के चरम बिन्दु से वह अचानक दुर्दशा और अभाव की निम्नतम स्थिति में आ गया था। उसकी शक्ति का आधार था शक्तिशाली और प्रबल सेना। अब यह सेना बहुत कुछ नष्ट हो गयी थी। विशाल क्षेत्रों पर उसका अधिकार समाप्त हो गया था। इससे उसकी आय के साधन घट गये थे और सेना को पुनर्गठित करना भी उसके लिए कठिन हो गया। सिंधिया के राज्य में मेल्कन और नागपुर में एलफिंस्टन ब्रिटिश रेजीडेंट नियुक्त किये गये। इन ब्रिटिश अधिकारियों ने भविष्य में अंग्रेजों और मराठों के बीच संबंधों को प्रभावित किया।

दो प्रमुख मराठा राज्यों पर प्रभाव जमाकर वेलेज्ली ने निश्चित रूप से सफलता प्राप्त की। अंग्रेजों की सत्ता देश के बड़े भाग में स्वीकार की जाने लगी थी और विशाल क्षेत्र ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया।

सिंधिया की पराजय के दो मुख्य कारण दिखायी पड़ते हैं। पहला था उसका होल्कर से वैमनस्य। होल्कर के विरुद्ध युद्ध करने में सिंधिया की शक्ति और धन घट गया था। यदि वह होल्कर से संबंध सुधार लेता तो मराठा सेना कहीं अधिक शक्ति से अंग्रेजों का मुकाबला कर सकती थी। दूसरा कारण था सिंधिया द्वारा सैन्य प्रणाली में परिवर्तन करना। मराठा सेना ने आरंभ से घुड़सवार सेना पर ही विश्वास रखा था। सिंधिया ने घुड़सवारों की संख्या को घटाकर पैदल सैनिकों को प्रशिक्षित करने में अधिक ध्यान दिया। यह नीति द्वितीय मराठा युद्ध में सफल नहीं हुई।

होल्कर से युद्ध

होल्कर ने सिंधिया और भोंसले का द्वितीय मराठा युद्ध में साथ न देकर बहुत बड़ी भूल की थी। विपत्ति के समय में भी वह सिंधिया के साथ समझौता न कर सका था। लेकिन सिंधिया और भोंसले की पराजय के पश्चात् उसे बेचैनी होने लगी। उसकी समझ में भी आ गया कि पेशवा तथा दो प्रमुख मराठा सरदारों का दमन करने के बाद वेलेज्ली का ध्यान उसकी ओर जायेगा। उसके सम्मुख दो ही विकल्प थे- या तो अंग्रेजों की इच्छानुसार उनसे संधि करना अथवा ब्रिटिश सेना से युद्ध के लिए कमर कस लेना। वह अंग्रेजों से संधि करने

को तैयार अवश्य था पर उसकी माँगों को स्वीकार करने के लिए, इस बदली हुई परिस्थिति में, गवर्नर जनरल तत्पर नहीं था। होल्कर ने मार्च, १८०४ में यह प्रस्ताव किया था कि उसे चौथ वसूल करने का अधिकार हो और इटावा, दोआब और बुंदेलखण्ड के ज़िले उसे सौंप दिये जायें। उसने यह माँग की कि उसके अधीन क्षेत्रों के संबंध में उसके अधिकार को संधि में ब्रिटिश सरकार स्वीकार करे। होल्कर के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया गया। होल्कर को सूचना भेजी गयी कि संधि की बातचीत के लिए आधार तभी तैयार हो सकता था जब वह अपनी कार्यवाही केवल राज्य तक ही सीमित रखे। ब्रिटिश सरकार उसके चौथ वसूल करने के अधिकार को किसी भी रूप में स्वीकार करने को राजी नहीं थी क्योंकि इस प्रकार वह राजस्थान के राज्यों पर जब चाहे चढ़ाई कर सकता था। होल्कर जब सेना लेकर अजमेर की ओर पहुँचा तो गवर्नर जनरल ने उसके विरुद्ध युद्ध करने की आज्ञा दे दी।

ब्रिटिश सेनापति लेक यशवंतराव होल्कर से असंतुष्ट था। वह लिखता है कि 'मुझे किसी ने इतना परेशान नहीं किया जितना कि यह शैतान कर रहा है।' उसने गवर्नर पर दबाव डाला कि शांति स्थापित करने के लिए इस "लुटेरे" की शक्ति को नष्ट करना जरूरी था। अब प्रत्येक अंग्रेज अधिकारी को होल्कर के कार्य से परेशानी होने लगी थी।

विजय के जोश में अंग्रेजों ने होल्कर के विरुद्ध युद्ध आरंभ करने में जल्दबाजी की। अप्रैल, १८०४ में युद्ध आरंभ किया गया। गर्मी का मौसम ब्रिटिश सेना के लिए उपयुक्त नहीं था और एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में कठिनाइयाँ हुईं। दूसरे, होल्कर के विरुद्ध युद्ध का संचालन जिन अंग्रेज अधिकरियों को सौंपा गया उन्होंने उतावलेपन में होल्कर की सेना का अनुमान लगाये बिना ही धावा बोल दिया। होल्कर एक जोशीला सेनापति था जो किसी भी जोखिम को उठाकर युद्ध में कूद पड़ता था। उसकी घुड़सवार सेना शीघ्रता से एक स्थान से दूसरे स्थान तक जा सकती थी। इस गति का लाभ उठाकर होल्कर की सेनाओं ने ब्रिटिश सेना के दाँत खट्टे कर दिये। एक अन्य बात भी ध्यान देने योग्य है। उसके प्रत्येक सैनिक और अधिकारी ने उसका साथ दिया। कुछ यूरोपीय अधिकारी सेना में थे। इनकी स्वामिभक्ति पर शक होते ही होल्कर ने उन्हें फाँसी दे दी। अंग्रेजों ने होल्कर के सहायक अमीर खाँ को लालच देकर उसे होल्कर की नौकरी छोड़ने को कहा था परन्तु उसने ऐसा कुछ भी करने से इन्कार कर दिया।

होल्कर पर आक्रमण करने की योजना यह थी कि उत्तर से सेनापति लेक मुख्य सेना लेकर प्रस्थान करे तथा दूसरी सैनिक टुकड़ियाँ गुजरात, मालवा और दक्षिण की ओर से आकर मुख्य सेना से मिल जायें। आरंभ में तो कोई अड़चन नहीं पड़ी और होल्कर के मुख्य ठिकाने रामपुर पर ब्रिटिश सेना का अधिकार हो गया। इसपर वह मालवा की ओर हटने लगा। कर्नल मानसन को ब्रिटिश सेना को साथ लेकर मराठा सरदार का मार्ग रोकने के लिए भेजा गया। तभी समाचार मिला कि होल्कर के सैनिक अधिकारी अमीर खाँ ने बुन्देलखंड-स्थित ब्रिटिश सेना को परास्त कर उसकी तोपें छीन ली थीं।

इसी समय होल्कर की सेना ने मानसन के नेतृत्व में बढ़ती हुई ब्रिटिश सेना को पीछे

ढकेल दिया। मानसन को केवल रक्षात्मक कार्य करने की आज्ञा दी गयी थी। लेकिन वह इससे संतुष्ट नहीं हुआ और वह होल्कर के राज्य में आगे बढ़ गया, मुकन्दरा से लौटती हुई ब्रिटिश सेना पर होल्कर ने हमला कर दिया। यह सेना पराजित होकर पीछे हट गयी। लेक ने इसे 'लज्जाज़नक और अनर्थकारी घटना' कहा। ब्रिटिश सेनापति ने इस चुनी हुई सेना की पाँच बटालियन और कंपनियों के नष्ट होने पर खेद प्रकट किया। उसने यह स्वीकार किया कि इस हानि को आसानी से पूरा नहीं किया जा सकता था।

इस विजय से उत्साहित होकर होल्कर उत्तर की ओर बढ़ा। उसने मथुरा पर अधिकार कर लिया। इसके बाद उसने दिल्ली पर भी अधिकार करने की कोशिश की पर उसे सफलता नहीं मिली। कुछ स्थानों पर होल्कर की सेना और सेनापति लेक की ब्रिटिश सेना में टक्कर हुई। होल्कर सेना लेकर भरतपुर आ गया। भरतपुर का राजा रणजीत सिंह भी अंग्रेजों के विरुद्ध हो गया था। कई महीनों तक ब्रिटिश सेना भरतपुर के किले पर घेरा डाले रही। लेक की सेना किले पर अधिकार न कर सकी और भारी नुकसान होने पर वह पीछे हट गया। जनवरी से अप्रैल, १८०५ के बीच के इस अभियान की असफलता से ब्रिटिश शक्ति को धक्का लगा।

होल्कर के विरुद्ध ब्रिटिश सेना की असफलता का समाचार जब इंग्लैंड पहुँचा तो कंपनी के संचालकों ने गवर्नर जनरल को वापस बुला लिया। होल्कर के विरुद्ध अभी अभियान चल ही रहा था कि गवर्नर जनरल भारत से विदा हो गया।

वेलेज्ली की वापसी के पश्चात् सिंधिया को संतुष्ट करने के लिए उसके साथ दूसरी संधि करके ग्वालियर उसे दे दिया गया। गोहड पर भी उसका अधिकार स्वीकार कर लिया गया। कंपनी ने यह भी स्वीकार किया कि वह राजपूत राज्यों से किसी प्रकार की संधि नहीं करेगी। इन राजपूत राज्यों पर प्रभाव जमाने का सिंधिया को पुनः अवसर मिल गया।

यशवंतराव होल्कर ब्रिटिश सेना का अधिक समय तक मुकाबला नहीं कर सकता था। वह एक साहसी व्यक्ति था तथा सेना को लेकर संघर्ष करने की हिम्मत रखता था। लेकिन उसके पास लंबे समय तक युद्ध चलाने के लिये साधन नहीं थे। अंत में होल्कर पंजाब पहुँचा और उसने रणजीत सिंह से सहायता माँगी। लेक की सेनाएँ बराबर उसका पीछा कर रही थीं। रणजीत सिंह ने मराठा सरदार की किसी प्रकार की मदद नहीं की।

ऐसी स्थिति में होल्कर ने अंग्रेजों से संधि कर लेना उचित समझा। जनवरी, १८०६ में उसने अंग्रेजों से संधि की। चंबल नदी के उत्तर की ओर उसने अपने दावों को छोड़ दिया। उसे चंबल के दक्षिण की ओर अधिकार करने की स्वतंत्रता दे दी गयी। होल्कर वंश के साथ अंग्रेजों की यह पहली संधि थी। यशवंत राव होल्कर संधि के दुःख को सह नहीं सका। १८११ में उसकी मृत्यु हो गयी। मृत्यु के समय उसकी आयु केवल तीस वर्ष की थी। उसमें साहस और वीरता की कमी नहीं थी। वह बहुत कुशल सेनापति था। लेकिन वह धैर्य से परिस्थिति की गंभीरता को समझकर अपने समवयस्क सिंधिया सरदार के साथ सहयोग करता तो संभवतः मराठा राज्य की रक्षा अधिक कुशलता से कर सकता था।

द्वितीय मराठा युद्ध के बाद के दशक में मराठा राज्य

वेलेज्ली की नीति को कंपनी के संचालकों ने पसंद नहीं किया और होल्कर के विरुद्ध ब्रिटिश सेनाओं की पराजय का समाचार जैसे ही लंदन पहुँचा, गवर्नर जनरल को लौट आने की आज्ञा दे दी गयी। वेलेज्ली के स्थान पर दूसरा गवर्नर जनरल नियुक्त करते समय उसे स्पष्ट शब्दों में आदेश दिया गया कि वह 'सबसे अधिक अलाभकारी और विनाशकारी संग्राम' को समाप्त करेगा। जार्ज बार्लो मिंटो ने इसी कारण देशी राज्यों के प्रति शांतिपूर्ण नीति अपनायी। किसी प्रकार राज्य विस्तार करने अथवा ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाने की योजनाओं को इन परिस्थितियों में अपनाया नहीं जा सकता था। संचालकों की इच्छा के कारण गवर्नर जनरल मिंटो ने अहस्तक्षेप की नीति का अनुसरण किया।

ब्रिटिश सरकार की अहस्तक्षेप की नीति से मराठा राज्यों को अपनी शक्ति को पुनर्गठित करने का मौका मिला। ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रभाव से लोहा लेने का एक ही आधार हो सकता था – मराठा शक्ति का विस्तार। शक्ति के द्वारा ही मराठे अपनी रक्षा कर सकते थे और गवर्नर जनरलों की विस्तारवादी योजनाओं को नाकाम कर सकते थे। किन्तु १८०५ से १८१६ के बीच के वर्षों का मराठा राज्यों का इतिहास यह बताता है कि उनके किसी भी राज्य में उन्नति और संगठन के प्रयास नहीं किये गये। कोई मराठा सरदार मराठों को संगठित नहीं कर सका।

द्वितीय मराठा युद्ध के बाद भी मराठों की दशा सुधर न सकी। प्रत्येक राज्य में अवनति ही दिखायी पड़ रही थी। कोई भी ऐसा योग्य नेता नहीं था जो मराठों का नेतृत्व करके उन्हें एक सूत्र में बाँध सके। बाजीराव द्वितीय पेशवा की गद्दी पर विराजमान था। वह मराठा संघ का अध्यक्ष था और इस नाते अन्य मराठा सरदारों के ऊपर उसका प्रभाव था। लेकिन बाजीराव द्वितीय में मराठों को संगठित करने की क्षमता नहीं थी। बेसनी की संधि पर हस्ताक्षर करने के कारण उसका शेष प्रभाव भी मराठों पर समाप्त हो गया था। मराठा सरदार परम्परागत रीति से उसे आदर देते रहे। पर किसी को भी उसके ऊपर भरोसा नहीं था। यही कारण है कि जब उसने अंग्रेजों के विरुद्ध अभियान छेड़ा तो अन्य मराठा सरदारों ने उसका साथ नहीं दिया। बेसीन की संधि के कारण पेशवा भी पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं था। ब्रिटिश रेजीडेंट पूना में रहता था और उसकी प्रत्येक गतिविधि पर उसकी नजर रहती थी। इसके अतिरिक्त पूना में ब्रिटिश सेना रहने लगी थी।

बड़ौदा का सरदार द्वितीय मराठा युद्ध के समय संघर्ष से दूर रहा था। बड़ौदा के गायकवाड़ सरदारों पर धीरे-धीरे ब्रिटिश प्रभाव और अधिक बढ़ता गया। १८०२ में आनंदराव ने अंग्रेजों के साथ संधि कर ली जिसके अनुसार ब्रिटिश रेजीडेंट बड़ौदा में नियुक्त किया गया था। १८०३ में आनंदराव की मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसके भाई फतेह सिंह को राज्य का संरक्षक नियुक्त किया गया जो ब्रिटिश रेजीडेंट की सलाह से शासन करता रहा।

सिंधिया, भोंसले और होल्कर द्वितीय मराठा युद्ध के बाद भी वस्तुतः स्वतंत्र थे। इन

राज्यों ने किसी प्रकार से भी ब्रिटिश सरकार की राजनीतिक श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया था। ब्रिटिश सहायक सेना भी इन राज्यों में नहीं थी। लेकिन द्वितीय मराठा युद्ध से इन्हें जो गहरा धक्का लगा उससे ये राज्य सँभल न सके। इन तीनों मराठा राज्यों में भोंसला राजा रघुजी सबसे अधिक कमजोर था। युद्ध के कारण राज्य का बड़ा भाग उसके हाथ से निकल गया था तथा उनकी सेना नष्ट हो गयी थी जिसे वह संगठित नहीं कर सका। राज्य की रक्षा करने के लिए उसने अंग्रेजों से अच्छे संबंध बनाये रखना ही उचित समझा। १८०९ में पठान सरदार अमीर खाँ ने आक्रमण करने की धमकी दी तो अंग्रेजी सेना रघुजी भोसला की रक्षा करने के लिए भेजी गयी। रघुजी को पिंडारियों और पठानों के आक्रमणों का भय बना रहा। यशवंतराव होल्कर की १८११ में मृत्यु से होल्कर राज्य में अव्यवस्था फैलती गयी। यशवंतराव के चार वर्षीय पुत्र की संरक्षिका के रूप में मराठा सरदार की विधवा रानी तुलसीबाई ने शासन की बागडोर सँभाली। लेकिन होल्कर राज्य में शक्ति के लिए संघर्ष चलता रहा और तुलसीबाई को अमीर खाँ तथा अन्य सरदारों पर निर्भर रहना पड़ा। सेना में असंतोष बढ़ता गया। वेतन ठीक समय पर न मिलने से यहाँ के सैनिक विद्रोह करने को तैयार थे। होल्कर राज्य में इतनी अधिक अव्यवस्था और फूट थी कि इसके शासक अपनी स्वतंत्र स्थिति का लाभ न उठा सके। होल्कर राज्य में अंग्रेजों का विरोध करने की कोई भी शक्ति नहीं थी।

दौलतराव सिंधिया के राज्य की स्थिति भी संतोषजनक न थी। लेकिन फिर भी अन्य मराठा सरदारों की तुलना में सिंधिया अधिक शक्तिशाली था। उसकी सेना विशाल थी और होल्कर अथवा भोंसले की तुलना में उसके साधन भी अधिक थे। वह अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति से नाराज अवश्य था लेकिन वास्तव में अंग्रेजों का विरोध करने के लिए उसने किसी प्रकार का संगठन नहीं बनाया। ऐसा दिखायी देता है कि द्वितीय युद्ध के बाद से उसने परिस्थितियों से समझौता कर लिया था। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में अंग्रेजों के प्रति उसका रुख बदला हुआ था।

लार्ड हेस्टिंग्स की नीति

लार्ड हेस्टिंग्स की नीति पर हमने विस्तार से अन्य स्थान पर विचार किया है। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि १८१३ में उसने भारत आते ही वेलेज्ली के अधूरे काम को पूरा करने का निश्चय किया। देश की राजनीतिक स्थिति का अध्ययन करने पर उसने अनुभव किया कि भारतीय राज्यों की कमजोर स्थिति का लाभ उठाकर संपूर्ण भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को स्थापित करने का यह अच्छा अवसर था। मराठा राज्यों की शक्ति को वेलेज्ली के समय में जो धक्का लगा था अभी तक वे उससे सँभल न सके थे। अतः उनकी शक्ति को नष्ट करने का उसे यह उचित अवसर दिखायी दिया।

लार्ड हेस्टिंग्स के उद्देश्य राजनीतिक थे लेकिन इन्हें प्राप्त करने के लिए उसने युद्ध का सहारा लिया। इसी कारण तीसरा मराठा युद्ध आरम्भ हो गया। गवर्नर जनरल ने मराठा राज्यों के विरुद्ध लंबे पैमाने पर सैनिक अभियान आरम्भ कर दिया।

तीसरा मराठा युद्ध (१८१७-१८)

लार्ड हेस्टिंग्स की सक्रियता ने तीसरे मराठा युद्ध को निकट ला दिया। उसने पिंडारियों का दमन करने के वहाने एक विशाल सेना मध्य भारत की ओर रवाना की। यह मात्र सैनिक प्रदर्शन न होकर मराठों को प्रभाव में लाने की एक अप्रत्यक्ष कार्यवाही थी।

मराठों और अंग्रेजों के बीच तनाव वढ़ता जा रहा था। जिस प्रकार से ब्रिटिश सरकार मराठा राज्यों पर अंकुश लगाने की लगातार कोशिशें कर रही थी और ब्रिटिश रेजीडेंटों को हस्तक्षेप करने के लिए प्रोत्साहित कर रही थी, उससे मराठा सरदारों की बेचैनी बढ़ रही थी। इसके अलावा वे संधियों के बंधनों को भी अधिक समय तक स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। सभी मराठा सरदारों में यह तीव्र इच्छा वनी हुई थी कि जैसे भी हो सके, एक बार फिर ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त होकर पूर्णरूप से स्वतंत्र सत्ता स्थापित की जाये। ऐसी स्थिति में शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार ने सैनिक ताकत के बल पर इन राज्यों पर और अधिक प्रभाव बढ़ाने की नीति अपनायी तथा मराठा राज्य के लिए विकल्प यही था कि या तो वे युद्ध के लिए तैयार हो जायें अथवा ब्रिटिश प्रभुत्ता को स्वीकार करें। लार्ड हेस्टिंग्स ने तलवार के सहारे मराठों पर प्रभाव जमाने की नीति अपनायी थी और मराठा सरदारों ने किस प्रकार इसका प्रत्युत्तर दिया, यह युद्ध की घटनाओं से स्पष्ट हो जायेगा।

तीसरे मराठा युद्ध की घटनाओं का वर्णन करते समय हम प्रत्येक मराठा राज्य और ब्रिटिश सरकार के बीच हुए युद्धों का विवरण अलग-अलग प्रस्तुत कर रहे हैं।

पेशवा

बेसीन की संधि से मराठों की केन्द्रीय सत्ता को भारी धक्का लगा था। पेशवा बाजीराव द्वितीय ब्रिटिश सरकार पर आश्रित हो गया था। अंग्रेजी सहायक सेना पूना में रहने लगी। मराठा संघ के अधीन राज्य पूना से अलग कर दिये गये थे और पेशवा का इन राज्यों पर प्रभाव समाप्त कर दिया गया। परिस्थितिवश बाजीराव द्वितीय ने इन शर्तों को स्वीकार तो कर लिया पर कुछ वर्षों वाद से वह ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त होकर कार्य करने की कोशिश करने लगा। जब ब्रिटिश रेजीडेंट ने उस पर अंकुश लगाये रखना चाहा तो पेशवा ने विरोध किया। इस स्थिति में तीसरा मराठा युद्ध आरंभ हो गया।

बाजीराव द्वितीय और गायकवाड़ के बीच कई वर्षों से धन-संबंधी विवाद चलता आ रहा था। पेशवा यह माँग कर रहा था कि बकाया धनराशि को गायकवाड़ तुरंत अदा करे। किन्तु बड़ौदा की सरकार इसके विरुद्ध अन्य दावे करती थी जिसमें भड़ोंच से प्राप्त कर की माँग भी शामिल थी। ब्रिटिश सरकार के इस सुझाव पर कि व्यक्तिगत प्रतिनिधियों के माध्यम से इन विवादों को दूर किया जाये, बड़ौदा का मंत्री गंगाधर शास्त्री १८१४ में पूना आया। करीब एक वर्ष तक गंगाधर शास्त्री पूना में रहा। लेकिन फिर भी दोनों पक्षों के बीच विवाद दूर नहीं किया जा सका।

जुलाई, १८१५ में पूना के निकट ही गंगाधर शास्त्री की हत्या कर दी गयी। इस

समाचार को सुनते ही ब्रिटिश रेजीडेंट एलफिन्सटन ने पेशवा से हत्या के मामले की छानबीन करने को कहा। एलफिन्सटन को यह सूचना मिली थी कि इस हत्या में पेशवा के प्रमुख सहायक त्र्यंबकजी डंगलिया का हाथ था। कुछ ही महीनों बाद पेशवा को रेजीडेंट की माँग स्वीकार करके त्र्यंबकजी को अंग्रेजी सेना के अधिकार में सौंपना पड़ा। इस हत्या के फलस्वरूप बाजीराव द्वितीय का प्रमुख सहायक जब रेजीडेंट द्वारा बंदी बना लिया गया तो इससे पेशवा नाराज हुआ। त्र्यंबकजी के प्रश्न को लेकर पेशवा और रेजीडेंट के बीच मतभेद बढ़ते गये। सितम्बर, १८१६ में त्र्यंबकजी अचानक अंग्रेजों के अधिकार से भाग निकला। अब त्र्यंबकजी और बाजीराव द्वितीय मिलकर सैनिक तैयारियाँ करने लगे।

ब्रिटिश रेजीडेंट ने बाजीराव द्वितीय से माँग की कि वह तुरन्त त्र्यंबकजी को पकड़कर अंग्रेजों के अधिकार में सौंप दे। एलफिन्सटन पेशवा की गतिविधियों से शंकित था। उसने उसे अंग्रेजों के विरुद्ध सैनिक तैयारियाँ करने का अवसर नहीं दिया। १८१७ के आरम्भ में जब पेशवा ने अन्य मराठा सरदारों से संपर्क स्थापित करके संगठित होकर विरोध करना चाहता तो अंग्रेजों ने गुप्तचरों की सहायता से इसका भी पूरा पता रखा।

ब्रिटिश रेजीडेंट एलफिन्सटन ने जून, १८१७ में पेशवा को एक अन्य संधि पर हस्ताक्षर करने को कहा। इस संधि द्वारा पेशवा को यह चेतावनी दी गयी कि वह ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र में भाग न ले। पेशवा के आमदनी के साधनों को संधि द्वारा घटाया गया, उसके अधीन राज्य के टुकड़े कर दिये गये और पेशवा के पद को घटा दिया गया। मराठा संघ को इस संधि द्वारा भंग कर दिया गया। संधि की कठोर शर्तों को पेशवा सहन नहीं कर सका और निराश होकर उसने हथियार उठा लिये।

इस अपमानजनक संधि को पेशवा चुपचाप सहन नहीं कर सकता था। उसने पूना-स्थित अंग्रेजी सेना के विरुद्ध नवंबर, १८१७ में धावा बोल दिया। पहले रेजीडेंसी के भवन पर आक्रमण किया गया और उसमें आग लगा दी गयी। किन्तु अंग्रेजों को अधिक नुकसान नहीं हुआ। ब्रिटिश रेजीडेंट और उसके सहायक पहले ही पूना से हट गये थे। पूना के निकट किरकी की ब्रिटिश छावनी पर पेशवा की सेनाओं ने हमला किया। पेशवा की सेना की संख्या लगभग दस हजार थी। रेजीडेंट ने इस समय तक हमले के लिए तैयारियाँ कर ली थीं और पड़ोस के क्षेत्रों से ब्रिटिश सेना यहाँ आ चुकी थी। ब्रिटिश सेना ने आगे बढ़कर पेशवा की सेनाओं का मुकाबला किया। मराठों की सेना अधिक समय-तक युद्ध न कर सकी। उसे किरकी से पीछे हटना पड़ा। ब्रिटिश सेना में ८६ सैनिक ही मरे अथवा जख्मी हुए जबकि मराठों के ५०० सैनिक हताहत हुए।

कुछ दिनों के बाद ब्रिटिश सेना पूना पर अधिकार करने के लिए बढ़ी। इस युद्ध में भी पेशवा की सेनाएँ हार गयीं और पूना पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। ब्रिटिश सेनाओं की इन आरंभिक सफलताओं से पेशवा भयभीत होकर पूना से भाग निकला। अन्य स्थानों पर ब्रिटिश सेना की उससे मुठभेड़ हुई। कोरेगाँव के युद्ध में भी वह पराजित हुआ।

कुछ महीनों तक संघर्ष करके जब पेशवा थक गया तो उसने मई, १८१८ में

आत्मसमर्पण कर दिया। लार्ड हेस्टिंग्स ने एक घोषणा द्वारा पेशवा के पद को समाप्त कर दिया और पेशवा के राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। मराठों की शक्ति का दमन करने के लिए उसने इस पद को समाप्त करने का निर्णय किया क्योंकि वह जानता था कि इसके प्रति मराठा सरदारों में जो सम्मान था उसका आगे चलकर कोई अन्य महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति लाभ उठा सकता था। लेकिन गवर्नर जनरल ने यह ध्यान रखा कि मराठों को इस निर्णय से अधिक ठेस न लगे। इसके लिए यह चाल चली गयी कि शिवाजी के वंशज सतारा के राजा को अलग से राज्य देकर उसके अधिकार को स्वीकार किया गया। सतारा के राजा के साथ अलग से एक संधि की गयी।

१८१८ में भी बाजीराव द्वितीय ने अपनी कायरता का परिचय दिया। जब ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ मालकम ने उसे आठ लाख रुपया वार्षिक पेंशन देने का प्रस्ताव किया तो लालच में आकर उसने अंग्रेजों की शर्तों को स्वीकार कर लिया। उसने पेशवा की गद्दी को छोड़ दिया और पूना से बहुत दूर, कानपुर के निकट बिठूर में गंगा के किनारे उसने शेष जीवन बिताया। १८५१ में ७७ वर्ष की आयु में इसी स्थान पर उसकी मृत्यु हुई।

भोंसला राज्य

वेलेज्ली के समय से अंग्रेजों ने भोंसला राजा रघुजी भोंसला से कई बार आग्रह किया कि वह सहायक संधि करने के लिए तैयार हो जाये। रघुजी इसके लिए राजी नहीं हुआ। १८१६ में रघुजी की मृत्यु से इस राज्य में सत्ता के लिए जो उथल-पुथल मची उससे अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया।

रघुजी भोंसला के पुत्र परसोजी बालासाहब को भोंसला राजा तो मान लिया गया पर तुरन्त ही इस प्रश्न को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ कि उसका संरक्षक किसे नियुक्त किया जाये। परसोजी की आयु लगभग ३८ वर्ष थी। उसे लकवा मार गया था तथा उसकी आँखों की ज्योति भी प्रायः समाप्त हो चुकी थी। वह स्वयं शासन नहीं चला सकता था। यह आवश्यक था कि राज्य के प्रशासन की देखभाल करने का कार्य किसी अन्य व्यक्ति को सौंप दिया जाता। कुछ समय तक नागपुर में राजनीतिक दाँवपेंच चलते रहे। इसके बाद परसोजी भोंसले के चचेरे भाई बीस वर्षीय मुधोजी अप्पा साहब को संरक्षक नियुक्त कर दिया गया। परसोजी की माता बुकाबाई इस व्यवस्था से संतुष्ट नहीं हुई? धर्माजी भोंसले तथा अन्य अधिकारी विधवा रानी के पक्ष में थे।

अप्पा साहब ने अपना पक्ष मजबूत करने के लिए अंग्रेजों से सहायक संधि कर लेने का विचार किया। ब्रिटिश रेजीडेंट जेंकिंस इस अवसर की ताक में ही था। उसने तुरंत संधि की शर्तों पर बातचीत पूरी कर ली। मई, १८१६ की इस संधि के द्वारा ब्रिटिश सहायक सेना भोंसला राज्य में रहने लगी। नागपुर राजा ने आश्वासन दिया कि वह अन्य राजाओं के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा और किसी भी विवाद को ब्रिटिश सरकार के निर्णय के लिए सुपुर्द कर देगा। मालकम ने इस संधि के विषय में लिखा है कि अंग्रेजों के लिए तत्कालीन परिस्थिति में इससे अधिक कोई सुखदायी समाचार नहीं हो सकता था। इस संधि से मराठा

संघ को गहरा आघात लगा। सहायक सेना को रखकर अंग्रेजों ने न केवल सुरक्षा की व्यवस्था की अपितु आवश्यकता पड़ने पर वे इसी सेना का उपयोग आक्रमण करने के लिए भी कर सकते थे।

संधि के कारण नागपुर में पुनः विवाद छिड़ गया। अप्पा साहब के विरोधियों ने संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए उसकी तीव्र आलोचना की। अप्पा साहब को विरोधियों से इतना भय होने लगा कि वह नागपुर से हटकर उस छावनी में रहने लगा जहाँ ब्रिटिश सेना रहती थी। फरवरी, १८१७ में परसोजी की मृत्यु हो गयी। अप्पा साहब अब नागपुर का राजा बन गया।

शासक बनने के पश्चात् अप्पा साहब यह कोशिश करने लगा कि वह अंग्रेजों के चंगुल से निकल जाये। वह संधि के बंधन से मुक्त होना चाहता था। उसे अंग्रेजों का हस्तक्षेप असह्य होने लगा।

नवम्बर, १८१७ में अप्पा साहब ने नागपुर में एक विशेष समारोह आयोजित किया। उसने बाजीराव द्वितीय द्वारा भेजे गये सेनापति के पद के परम्परागत वस्त्रों को औपचारिक रूप से पहनने के लिए जनसभा बुलायी। ब्रिटिश रेजीडेंट जेंकिंस को भी भाग लेने को कहा गया। रेजीडेंट अप्पा साहब के इस कार्य से बहुत क्रोधित हुआ। उसका कहना था कि बाजीराव द्वितीय अंग्रेजों के विरुद्ध खुले तौर से संग्राम कर रहा था। ऐसे पेशवा से किसी प्रकार का संबंध रखना रेजीडेंट के विचार से असंगत था। इसका यह अर्थ भी निकाला जा सकता था कि अप्पा साहब अंग्रेजों के विरोधी संगठन से मिलकर कार्य करने की योजना बना रहा था। जेंकिंस ने शीघ्र ही अप्पा साहब के विरुद्ध युद्ध की तैयारियाँ आरंभ कर दीं।

२६ और २७ नवम्बर, १८१७ को सीताबल्दी पहाड़ी पर युद्ध हुआ। नागपुर से दो मील दूर इस पहाड़ी पर ही ब्रिटिश रेजीडेंसी थी जिस पर अप्पा साहब की सेनाओं ने आक्रमण किया। ब्रिटिश सेना की संख्या करीब तेरह सौ थी जबकि मराठा सेना में लगभग अठारह हजार सैनिक थे। ब्रिटिश सैनिकों ने मराठा सेना का जमकर मुकाबला किया। भारी नुकसान के बाद अप्पा साहब की सेना पीछे हट गयी।

सीताबल्दी के युद्ध के बाद दो सप्ताह तक अप्पा साहब ने ब्रिटिश सेना के विरुद्ध और कोई कदम नहीं उठाये। उसकी इस हिचकिचाहट का ब्रिटिश रेजीडेंट ने पूरा लाभ उठाया। इसी बीच अन्य क्षेत्रों से बढ़ती हुई ब्रिटिश सेनाएँ नागपुर पहुँच गयीं। रेजीडेंट की स्थिति जब मजबूत हो गयी तो उसने अप्पा साहब को अपनी माँगें पेश कीं। अप्पा साहब के लिए जो शर्तें रखी गयीं उनमें यह कहा गया कि वह स्वयं ब्रिटिश रेजीडेंसी में आकर आत्मसमर्पण करे, सेनाओं को भंग कर दे और सैनिकों को दूर जाने को कहे तथा अपने राज्य को ब्रिटिश सरकार की दया पर छोड़ दें। अप्पा साहब की कमजोरी और चारित्रिक दुर्बलता शीघ्र ही प्रकट हुई। उसने अंग्रेजों की दया का भरोसा करके रेजीडेंट के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया। उसमें अधिक समय तक संघर्ष करने की क्षमता ही नहीं थी। अप्पा साहब की इस दुर्बलता से अंग्रेजों को भोंसले राज्य पर अधिकार करने का अवसर मिल

गया। अप्पा साहब और अंग्रेजों के बीच संधि हो गयी। अब वह केवल नाममात्र का शासक था। राज्य पर ब्रिटिश सेना का अधिकार हो गया था।

अप्पा साहब दो महीने से अधिक शासन न कर सका। जैसे ही ब्रिटिश रेजीडेंट को यह समाचार मिला कि वह बाजीराव द्वितीय से संपर्क कर रहा है, उसे बंदी बना लिया गया। अप्पा साहब के विरुद्ध यह आरोप लगाया गया कि उसने परसोजी की हत्या करायी थी और उसे गद्दी से हटाने का निश्चय किया था। एक बच्चे को नागपुर का शासक बना दिया गया जिससे राज्य का शासन पूरी तरह ब्रिटिश रेजीडेंट द्वारा किया जा सके। अप्पा साहब कुछ समय बाद अंग्रेजों की कैद से भाग निकला और जीवन-रक्षा के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान को भागता रहा।

सिंधिया

गवर्नर जनरल ने दौलतराव सिंधिया का आरंभ से ही ध्यान रखा। १८१७ तक पिंडारियों के विरुद्ध उसने एक विशाल ब्रिटिश सेना संगठित कर ली थी। इस सेना के साथ जब लार्ड हेस्टिंग्स कानपुर आ गया तो उसने सिंधिया को संदेश भेजा। इस समय लार्ड हेस्टिंग्स सिंधिया के विरुद्ध सैनिक अभियान के लिए तैयार था। अंग्रेजों की शक्ति से भयभीत होकर सिंधिया अंग्रेजों की माँगों को स्वीकार करने को तैयार हो गया। मराठों के सबसे शक्तिशाली शासक ने तीसरे मराठा युद्ध के दौरान बिना युद्ध में भाग लिये ही संधि की शर्तें स्वीकार कर लीं। उसके रुख से यह स्पष्ट हो जाता है कि मराठे आपस में ही विभाजित थे और अंग्रेजों का मुकाबला करने की उनकी हिम्मत समाप्त हो चुकी थी।

५ नवम्बर, १८१७ को सिंधिया और ब्रिटिश सरकार के बीच जिस संधि पर हस्ताक्षर हुए उसकी पहली शर्त के अनुसार सिंधिया पिंडारियों के विरुद्ध ब्रिटिश सेना के साथ सहयोग करने को तैयार हो गया। असीरगढ़ और हिंदिया के किले अस्थायी तौर से ब्रिटिश सेना के अधिकार में सौंप दिये गये। दूसरी मुख्य व्यवस्था राजपूत राज्यों के विषय में की गयी। १८०५ की संधि द्वारा राजपूत राज्यों पर सिंधिया का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। इस संधि के कारण लार्ड हेस्टिंग्स प्रत्यक्ष रूप से राजपूत राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर पा रहा था। अब सिंधिया का प्रभाव इन राजपूत राज्यों पर समाप्त कर दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि भविष्य में राजपूत राज्यों पर वह बिना किसी रोकटोक के अधिकार बढ़ा सकता था।

होल्कर

सिंधिया के साथ-साथ गवर्नर जनरल ने उत्तर भारत के एक अन्य प्रमुख मराठा राज्य को भी ब्रिटिश प्रभाव में लाने के लिए प्रयत्न आरम्भ कर दिया। उसका तरीका था कूटनीति तथा सेना का समान रूप से उपयोग।

अंग्रेजों की पहली सफलता अमीर खाँ के संबंध में मिली। अमीर खाँ पठानों का नेता था और होल्कर राज्य का सबसे शक्तिशाली सरदार था। अमीर खाँ ने स्वतंत्र रूप से

नवम्बर, १८१७ में ब्रिटिश सरकार से संधि कर ली। अमीर खाँ ने अपनी पठानों की सेना को भंग करने की स्वीकृति दी और उसने तोपखाना ब्रिटिश सेना को सौंप दिया। उसने स्वीकार किया कि वह किसी दूसरे राज्य पर हमला नहीं करेगा। इन शर्तों को स्वीकार करने पर गवर्नर जनरल ने उसके अधिकार में टोंक का राज्य सौंप दिया। अमीर खाँ टोंक का नवाब बन गया। अमीर खाँ के अलग हो जाने से होल्कर राज्य की शक्ति घट गयी।

होल्कर राज्य का शासन ग्यारह वर्षीय मल्हारराव होल्कर के नाम से किया जा रहा था तथा रानी तुलसी बाई उनकी संरक्षिका के रूप में राज्य का प्रशासन चला रही थीं। जब ब्रिटिश सेना होल्कर राज्य की ओर दिसम्बर, १८१७ में बढ़ने लगी तो तुलसी बाई को तुरन्त यह निश्चय करना था कि वह भी सिंधिया के समान अंग्रेजों से एक नयी संधि कर ले अथवा युद्ध के लिए कमर कसे। पर तुलसी बाई को निर्णय करने का अवसर ही न मिला। होल्कर राज्य के मराठा सरदारों को जब यह शक हुआ कि वह अंग्रेजों से संधि करना चाहती हैं तो नाराज होकर उन्होंने तुलसी बाई की हत्या कर दी। इससे होल्कर राज्य में अव्यवस्था फैल गयी।

ब्रिटिश अधिकारी होल्कर राज्य की गतिविधियों पर पूरी तरह से नजर रखे हुए थे। तुलसी बाई की मृत्यु के वाद ब्रिटिश सेना युद्ध के लिए आगे बढ़ी। उज्जैन के निकट महीदपुर में ब्रिटिश सेनाओं ने होल्कर की सेना पर हमला कर दिया। इन दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। २१ दिसम्बर, १८१७ के इस युद्ध में होल्कर की सेना के तीन हजार सैनिक मार डाले गये अथवा जख्मी हुए। ब्रिटिश सेना में भी हताहतों की संख्या लगभग आठ सौ थी। होल्कर की सेना पराजित हुई और ६३ तोपों को छोड़कर सेना मैदान से हट गयी।

जनवरी, १८१८ में होल्कर के साथ जो संधि की गयी वह मंदसौर की संधि कहलाती है। इस संधि से ब्रिटिश सरकार और होल्कर राज्य के संबंधों में एक मुख्य परिवर्तन यह आ गया कि जहाँ पहले इनके बीच बराबरी के संबंध थे वहाँ अब होल्कर एक अधीनस्थ राज्य हो गया। होल्कर राज्य में ब्रिटिश सेना रहने लगी। राज्य की सीमाएँ घटा दी गयीं और कई क्षेत्रों पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

मराठों की अवनति के कारण

१८०० से १८१८ के बीच मराठा शक्ति का पतन हो गया। अंग्रेजों के विरुद्ध मराठे जमकर संघर्ष न कर सके। अन्तिम संघर्ष के समय आसानी से ही उनकी शक्ति टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गयी। मराठा राज्यों में अवनति के स्पष्ट चिन्ह दिखाई देने लगे थे। ऐसा मालूम होने लगा था कि अचानक ही मराठों में विवेक और साहस का लोप हो गया था। किसी शक्ति की प्रगति अथवा अवनति में हमेशा कुछ ऐसे कारण होते हैं जो स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देते। इस कारण कोई भी निर्विवाद रूप से नहीं कह सकता कि मराठों का पतन क्यों हुआ। जिन प्रसिद्ध लेखकों ने इस प्रश्न पर विचार किया है उनमें भी मतैक्य नहीं है। कोई लेखक किसी विशेष कारण को महत्त्व देता है तो दूसरा किसी अन्य कारण को। फिर भी हम उन मुख्य कारणों पर ध्यान देने का प्रयास करेंगे जिनसे मराठा शक्ति की अवनति हुई।

(१) मराठों में आंतरिक कमजोरियाँ

एकता, अनुशासन व राष्ट्रीय देशभक्ति की कमी के कारण मराठों की अवनति हुई। मराठों में कभी भी जनतंत्रीय विचारधारा जड़ न पकड़ सकी और आवश्यकता के समय भी मराठे सामूहिक रूप से मिलकर कोई कार्य नहीं कर सके। मराठा राज्य के प्रमुख पदों पर तथा हर व्यवसाय में वंशानुगत नियम के अनुसार कार्य होता था। वंशानुगत अधिकारों को प्रमुखता देने का प्रभाव यह पड़ा कि व्यक्तिगत योग्यता अथवा व्यक्तिगत गुणों की उपेक्षा की गयी। इससे समाज का अधःपतन हुआ। यह मान्यता बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण थी कि अगर पिता प्रतिभाशाली था तो उसके पुत्र अथवा पौत्र में भी वही गुण विद्यमान होंगे। सरदेसाई का मत है कि 'जब चालीस दिन के बच्चे को पेशवा के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया तो इसके परिणाम खेदजनक हुए।' लेखक ने इस उदाहरण को देकर यह सिद्ध करना चाहा है कि इतने महत्त्वपूर्ण पद पर किसी योग्य व्यक्ति को बिठाने के बजाय जब किसी बच्चे को बिठा दिया गया तो संपूर्ण मराठा राज्य पर इसका विनाशकारी प्रभाव पड़ा। अन्य राज्यों में भी सभी महत्त्वपूर्ण पदों पर इसी प्रकार एक के बाद दूसरे अयोग्य व्यक्ति जब उत्तरदायित्व सँभालते रहे तो मराठों की शक्ति घटती गयी।

शिवाजी के समय से ही मराठों में राष्ट्रीय देशभक्ति की कमी थी। धार्मिक अथवा जातीय देशभक्ति से ही वे उत्साहित हुए थे। देश-प्रेम की भावना का उनमें संचार नहीं हुआ था। जिस संकुचित अर्थ में राष्ट्रीय भावना का आदर्श उनके सामने था उससे भी मराठों में एकता और बलिदान की भावना आ सकती थी। लेकिन मराठे किसी भी समय पूरी तरह से संगठित न हो सके। कई उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं कि किसी भी मराठा सामंत की इच्छा के अनुसार जब कार्यवाही नहीं हुई तो राष्ट्रप्रेम की चिंता किये बिना वह दुश्मन से मिल जाता था। जब अंग्रेजी सेना और बाजीराव द्वितीय के बीच युद्ध हुआ तो दक्षिण के मराठा सरदार अंग्रेजों से जा मिले। अंतिम कुछ दशकों में मराठा राज्य में प्रत्येक व्यक्ति निजी स्वार्थों को पूरा करने में ही लग गया और संपूर्ण मराठा संघ को शक्तिशाली बनाना तब और भी कठिन हो गया। मराठों में अनुशासन की कमी थी और सहयोग के द्वारा वे आवश्यक संस्थाओं का संचालन नहीं कर सके।

(२) शिथिल राजनीतिक संगठन

कमजोर केन्द्रीय व्यवस्था तथा सामंतवादी प्रथा के कारण मराठों की अवनति हुई। शिवाजी ने शक्तिशाली राजतंत्र की नींव डाली थी और अठारहवीं शताब्दी में पेशवाओं के हाथ में शासन की बागडोर आयी। लेकिन राजव्यवस्था का स्वरूप स्वेच्छाचारी ही बना रहा। कुछ सीमा तक यह आवश्यक ही था क्योंकि मराठे हर समय युद्ध करते रहते थे और सैन्य संचालन में नेतृत्व की नितांत आवश्यकता बनी रहती थी। किन्तु १७७२ के पश्चात् जब पेशवा का पद कमजोर होने लगा तो केन्द्रीय शक्ति घटने लगी। नाना फड़नवीस के बाद के समय में पूना-स्थित मराठा संघ का प्रधान ऐसा व्यक्ति था जिसके गुणों पर किसी को विश्वास ही नहीं था। बाजीराव द्वितीय की कमजोरी के कारण ही मराठा संघ की शक्ति बिखर गयी।

सामंतवादी व्यवस्था के कारण भी केन्द्र शक्तिहीन होता गया तथा मराठा संघ का संगठन शिथिल होता चला गया। मराठा संघ के स्वरूप के बदलने से भी नयी समस्याएँ सामने आयीं। जब मराठा राज्य की सीमाएँ एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र तक सीमित थीं तो इसका शासन आसानी से पूना से किया जा सकता था। लेकिन जब मराठा साम्राज्य का क्षेत्र बढ़ा तो सुदूर क्षेत्रों में स्थित मराठा सामंत शक्तिशाली होते गये। मराठा साम्राज्य के शासन और सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी इन्हीं मराठा सरदारों के हाथ में आ गया। मराठा सरदार ही चौथ तथा सरदेशमुखी नामक कर पड़ोस के राज्यों से वसूल करके केन्द्रीय सरकार को देते थे। धीरे-धीरे सिंधिया, होल्कर, गायकवाड़ और भोंसला राजवंश इसी सामंतवादी प्रथा के कारण पनप गये। इन मराठा राज्यों के बीच संबंध तभी तक ठीक रह सके जब तक पूना की सरकार शक्तिशाली थी। जब पेशवा कमजोर होने लगे तो विभिन्न मराठा सरदार पेशवा पर हावी होने लगे। सामंतवादी प्रथा के कारण ही पेशवा इन सरदारों के समान ही एक शक्ति बन गया। जब होल्कर और सिंधिया बाजीराव द्वितीय पर अधिकार करने के लिए खुले आम युद्ध करने लगे तो पेशवा ने अपनी रक्षा करने के लिए बेसीन की संधि कर ली और ब्रिटिश सेना की मदद से पुनः पूना का शासन करना आरंभ किया। यह मराठों के लिए बहुत ही विनाशकारी क्षण था। इसके बाद मराठों की अवनति का क्रम रोका न जा सका।

(३) अर्थ-व्यवस्था की ओर ध्यान न देना

मराठों ने अर्थ-व्यवस्था को समुचित ढंग से सुधारने की ओर ध्यान नहीं दिया। मराठों ने तलवार के बल पर राज्य-विस्तार किया और इसी तलवार के सहारे ही वे राज्य का संचालन करते रहे। युद्ध करना अथवा पड़ोस के राज्यों पर हमला करना उनकी जीविका का आधार बन गया। मराठे पड़ोस के राज्यों से जबर्दस्ती चौथ और सरदेशमुखी कर वसूल करते थे जिससे राज्य का खर्च पूरा किया जाता था। लेकिन जब मराठा राज्य का विस्तार चरम सीमा तक पहुँच गया तो कर प्राप्त करने के उनके स्रोत भी समाप्त होने लगे। इस कारण राज्य की अर्थ-व्यवस्था को चलाना कठिन हो गया। मराठों की नीति यह थी कि युद्ध करके जो धन प्राप्त हो उसी से सेना का खर्च पूरा किया जाये। लेकिन प्रत्येक युद्ध से इतना धन प्राप्त नहीं हो सकता था कि विशाल सेना रखी जा सके। सेना स्थायी रूप से रहती थी लेकिन इसके खर्च को पूरा करने के साधन अस्थायी थे। इस कारण हर एक मराठा राज्य के सामने कठिनाइयाँ आयीं और सेना को संतुष्ट करना उसके लिए कठिन हो गया। अंग्रेजों और मराठों के बीच जब दूसरा तथा तीसरा संघर्ष हुआ तो इस आर्थिक अव्यवस्था के कारण मराठों की स्थिति बहुत कमजोर थी।

एक विशाल साम्राज्य के संगठन के लिए मराठा सरदारों ने कृषि, उद्योग तथा व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। भूमि वैसे ही अधिक उपजाऊ नहीं थी और इसके साथ-साथ कृषि को सुधारने के भी जब प्रयास नहीं किये गये तो जनसाधारण की आवश्यकताओं को किस प्रकार पूरा किया जा सकता था। मराठा प्रशासकों को यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए था कि आर्थिक समृद्धि के फलस्वरूप ही राजकीय आय बढ़

सकती थी और निश्चित आय होती रहने पर ही प्रशासन तथा सेना को भली प्रकार संचालित किया जा सकता था।

(४) कमजोर सैन्य संगठन

किसी भी राज्य की स्वतंत्रता और अस्तित्व की रक्षा के लिए दक्ष सेना का संचालन एक आधारभूत आवश्यकता होती है। प्रशिक्षित सेना, सुयोग्य सेनापति तथा नवीनतम उपयोगी हथियारों के होने पर ही मराठा संघ की रक्षा हो सकती थी, लेकिन अंग्रेजों से संघर्ष के समय मराठों का सैन्य बल कमजोर हो गया था। अन्य किसी कमजोरी को दूर किया जा सकता था, नीति में सुधार हो सकता था, परन्तु सेना की निर्बलता एक ऐसा दुर्गुण था जिसके सामने और सब दोष फीके पड़ गये।

इतिहासकारों ने इस प्रश्न पर काफी विचार किया है कि क्या मराठों को परम्परागत गुरिल्ला युद्ध-प्रणाली अपनाना ही श्रेयस्कर होता। यह सर्वविदित है कि आरंभ में मुगलों से संघर्ष करते समय मराठों ने छापामार पद्धति से ही युद्ध किया था। वे इस प्रकार युद्ध करने की कला में निपुण थे। लेकिन जब मराठा साम्राज्य का उत्तर की ओर विस्तार हुआ तो यह अनुभव किया गया कि गुरिल्ला पद्धति के स्थान पर विशाल सेना को संगठित करना आवश्यक था। इस प्रकार गुरिल्ला पद्धति को छोड़ना एक अनिवार्य आवश्यकता हो गयी। मराठों की कमजोरी का कारण यह नहीं था कि उन्होंने छापामार पद्धति को छोड़ा, बल्कि सेना इस कारण कमजोर थी क्योंकि इसे योरोपीय ढंग से ठीक प्रकार प्रशिक्षित नहीं किया गया। अगर मराठा सरदार सेना को उचित प्रशिक्षण देने पर पूरा ध्यान देते तो मराठा सेना भी इस प्रणाली को अपना सकती थी। रणजीत सिंह ने एक विशाल सिख सेना को अगर संगठित किया तो मराठे भी ऐसा ही कर सकते थे। लेकिन कठिनाई यह थी कि मराठा सरदारों ने सेना की शक्ति को संगठित करने की ओर उचित ध्यान नहीं दिया।

मराठा सेना की कमजोरी का एक प्रमुख कारण यह भी था कि इस सेना के ऊँचे अधिकारी विदेशी थे। विदेशियों को सेना में ऊँचे पदों पर नियुक्त करने के कारण मराठा सरदारों को आपत्तियों का सामना करना पड़ा। विशेष रूप से सिंधिया की सेना में फ्रांसीसी अधिकारियों के हाथ में ही शक्ति थी। द्वितीय मराठा युद्ध के समय उत्तर भारत की सिंधिया की सेना का सेनापति फ्रांसीसी अधिकारी पैरों था। उसने युद्ध का आरंभ होते ही आत्मसमर्पण कर दिया। इसी प्रकार कई फ्रांसीसी अधिकारी भी युद्ध के समय दुश्मन से जा मिले। सेना का मनोबल इस कारण गिर गया।

मराठों की एक अन्य कमजोरी यह थी कि उनका तोपखाना अंग्रेजी सेना की तुलना में कारगर ढंग से काम न कर सका। मराठे तोपें और गोला-बारूद योरोपीय देशों से खरीदते थे। अधिकतर पुर्तगाली व्यापारियों अथवा फ्रांसीसियों से यह सामान खरीदा जाता था। अंग्रेज व्यापारियों से उन्हें युद्ध सामग्री प्राप्त नहीं होती थी। कई बार जो सामान मराठे खरीदते थे वह घटिया किस्म का होता था। लेकिन उनके पास और कोई तरीका भी नहीं था क्योंकि जो कारखाने उन्होंने स्थापित किये वे भी अच्छा सामान तैयार नहीं कर पाते थे। मराठों की तोपों के गोले अधिक दूर तक नहीं जा पाते थे। इसके साथ ही मराठों की तोपें

भारी थीं और उन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना कठिन था। दूसरे मराठा युद्ध के समय कई मुठभेड़ों में मराठा सेना इन तोपों की रक्षा न कर सकी और सैनिक तोपों को छोड़कर ही भाग गये। तोपखाने के संबंध में यह भी ध्यान देने योग्य है कि मराठे अधिकतर तोप चलाने के लिए विदेशियों पर निर्भर रहते थे। तोपखाने में कुशल मराठा सैनिकों के नाम उँगलियों पर गिने जा सकते हैं। सेना के इस आवश्यक अंग की उपेक्षा करना मराठा सरदारों का अनुचित कार्य था।

(५) अयोग्य नेतृत्व

निरंकुश राज्य-व्यवस्था के दोष और किसी समय इतने स्पष्ट रूप से नहीं दिखायी पड़े जितने अठारहवीं शताब्दी का अंत होने पर। अयोग्य और स्वार्थी नेताओं के हाथ में जब शक्ति आयी तो मराठा संघ का अस्तित्व खतरे में पड़ गया। बाजीराव द्वितीय, दौलतराव सिंधिया और यशवंतराव होल्कर ने निजी स्वार्थों में पड़कर मराठा संघ का सर्वनाश करने में कोई कसर नहीं रखी। जब प्रमुख नेताओं का चरित्र ही गिरा हुआ था तो वे किस प्रकार अपने साथियों को राष्ट्र के लिए बलिदान होने को तैयार कर सकते थे। मराठा नेता कुशलता, कूटनीति अथवा शौर्य में अंग्रेज सेनापतियों और अधिकारियों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। किसी भी संघर्ष के समय नेताओं के गुणों की परीक्षा होती है। द्वितीय और तृतीय मराठा युद्ध के समय मराठा सरदार इस परीक्षा के लिए किसी भी प्रकार से तैयार नहीं थे। उनकी पराजय मराठा संघ की पराजय साबित हुई।

(६) जाति-विद्वेष

जातियों के बीच जलन भी मराठा संघ के पतन का एक कारण बनी। पेशवा माधव राव की मृत्यु के पश्चात् जातियों का विद्वेष मराठा राजनीति को भी प्रभावित करने लगा। इस प्रकार जाति के कारण मराठा सरदारों के बीच फूट बढ़ती गयी। विभाजन के अन्य कारण तो पहले से ही मौजूद थे, जाति के घमंड से मराठों के बीच एकता लाना और भी कठिन हो गया। ऐसा दिखायी देता है कि बाद में जो पेशवा आये वे नियुक्तियाँ करते समय ब्राह्मणों का ध्यान रखते थे। पेशवा ब्राह्मण थे। इससे यह शंका बनी कि वे ब्राह्मणों का पक्ष ले रहे थे। इसके विपरीत प्रभू, मराठा अथवा सारस्वत वंश के क्षत्रियों को सामंतों द्वारा नौकरी दी जाने लगी। करीब-करीब सभी दक्षिणी जागीरदार ब्राह्मण थे। पटवर्धन परिवार के पत्रों में सांप्रदायिक भावना की झलक दिखाई देती है। गोपालराव पटवर्धन सखाराम बापू की आलोचना इसी कारण करता है। मराठा राजनीति में इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि जातीय विद्वेष ने भी उनमें फूट पैदा की। लेकिन इन तथ्यों पर अनावश्यक बल देने की जरूरत भी नहीं है।

●●●

बारहवाँ अध्याय

बर्मा पर ब्रिटिश नियंत्रण की स्थापना

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में बर्मा में एक नये राजवंश की स्थापना हुई। अलोनगप्या (१७५२-६०) इसका संस्थापक था। उसने बर्मा पर आधिपत्य जमाने के उपाय किये। उसके शासनकाल में ही सेना को संगठित करके वर्मा की शक्ति बढ़ाने का प्रयास किया गया। अलोनगप्या के उत्तराधिकारी लगातार यह प्रयत्न करते रहे कि पड़ोस के कमजोर देशों को पराजित करके बर्मा की सीमाओं का विस्तार किया जाये। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए १७६६ में स्याम पर आक्रमण करके बर्मा ने टेनासरिन के प्रदेश पर अधिकार किया। बर्मी राजवंश के दूसरे शासक बोदव्यपा (१७८२-१८१६) के लंबे शासनकाल में विस्तारवादी नीति का अुनसरण किया गया। १७८४ में वर्मा ने अराकान पर अधिकार कर लिया। इसके बाद १८१३ में मनीपुर राज्य पर भी बर्मी आधिपत्य जमा। वोदव्यपा ने भारतीय क्षेत्र के छोटे पड़ोसी राज्यों पर अधिकार किया। इसके अलावा उसकी एक अन्य सफलता थी आक्रमणकारी चीनी सेनाओं को मार भगाना। असम पर अधिकार करने के उद्देश्य से पहली बार बर्मी सेनाएँ मार्च, १८१७ में आगे बढ़ीं। असम के अहोम राजा ने मुकावला करने की कोशिश की। लेकिन कुछ महीनों में ही असम के शासक को पराजय स्वीकार करनी पड़ी। बर्मी सेनाएँ जोरहाट तक आ गयी थीं जो उस समय असम की राजधानी थी। बदनचन्द्र को असम का शासक नियुक्त करके बर्मा की सेनाएँ स्वदेश लौट गयीं। बोदव्यपा के उत्तराधिकारी बाग्योदा (१८१९-३७) ने सीमावर्ती राज्यों की ओर बर्मा का प्रभाव बढ़ाने की नीति का अनुसरण किया। एक बार फिर १८२१ में बर्मी सेनाओं ने असम की ओर प्रस्थान किया और सम्पूर्ण असम क्षेत्र में बर्मी सत्ता स्थापित की। बर्मी राजाओं की सीमा-विस्तार की नीति के परिणामस्वरूप भारत और बर्मा के बीच के क्षेत्र पर बर्मी प्रभाव स्थापित हो गया। अब चटगाँव क्षेत्र में अराकान सीमा पर तथा सिलहट क्षेत्र में असम सीमा पर ब्रिटिश सीमा बर्मी राज्य से मिल गयी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार चुप नहीं बैठ सकती थी। १८२४ के पूर्व कंपनी के अधिकारियों ने असम की ओर बढ़ते हुए बर्मी प्रभाव का विरोध नहीं किया क्योंकि उनका ध्यान भारत के अन्य प्रदेशों पर सत्ता जमाने की ओर लगा हुआ था। लार्ड हेस्टिंग्स ने अपने शासनकाल में इस कार्य को पूरा कर लिया। भारत में अंग्रेजों की सर्वोच्च सत्ता स्थापित हो गयी। लार्ड हेस्टिंग्स के विदा हो जाने के बाद उसके उत्तराधिकारियों को भारत की पूर्वीय सीमा की ओर ध्यान देने का अवसर मिला। बर्मी प्रभाव को असम में समाप्त करने के उद्देश्य से एमहर्स्ट युद्ध के लिए तैयार हो गया।

बर्मा और ब्रिटिश सरकार के साथ आरंभिक संबंध

१७६५ से १८२३ के बीच दोनों राज्यों के संबंध पर विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि गवर्नर जनरल की ओर से बर्मा के साथ कूटनीतिक संबंधों की स्थापना की कई बार

कोशिश की गयी। १७९५ में जान शोर ने एक विशेष प्रतिनिधि कैप्टन साइम्स को वर्मा भेजा था। बर्मा के राजा के साथ कूटनीतिक संवंध स्थापित करने का गवर्नर जनरल का प्रस्ताव इस विशेष प्रतिनिधि ने पेश किया। बर्मी शासक को यह भी वताया गया कि ब्रिटिश गवर्नर जनरल उसके साथ मित्रता की संधि करने को इच्छुक था। इस प्रस्ताव का कोई स्पष्ट उत्तर न मिलने पर एक वर्ष बाद ही जान शोर ने एक दूसरा प्रतिनिधि बर्मा भेजा। यह प्रतिनिधि हीरमन काक्स था जो बर्मा में नौ महीने रहा। पर उसने कलकत्ता आकर गवर्नर जनरल को सूचित किया कि बर्मा का राजा अंग्रेजों से किसी प्रकार के संबंध स्थापित करने का इच्छुक नहीं था। इसके बाद भी कंपनी की सरकार हताश नहीं हुई और कैप्टन कैनिंग को तीन बार १८०३, १८०६ और १८११ में बर्मा की राजधानी तक भेजा गया। इस बीच कंपनी की सरकार और बर्मा के शासक के बीच अराकन की सीमा के प्रशन को लेकर विवाद आरंभ हो गये थे। बर्मा के राजा की माँग यह थी कि अराकान के जो भी उपद्रवकारी भारतीय क्षेत्र में जाकर शरण लें उन्हें पकड़कर बर्मी अधिकारियों को सौंप दिया जाये। लेकिन गवर्नर जनरल ने इसे स्वीकार नहीं किया।

कंपनी की सरकार १८११ तक यह आशा किये हुए थी कि दोनों पड़ोसी राज्यों के बीच कूटनीतिक संवंध स्थापित हो जाने के बाद अराकान सीमा के विषय पर विवाद को दूर किया जा सकेगा। किंतु इसके वाद बर्मा की राजधानी के लिए कोई भी ब्रिटिश प्रतिनिधि नहीं भेजा गया। गवर्नर जनरलों को यह आभास मिल गया था कि किसी प्रकार की बातचीत के लिए बर्मा के शासक तैयार नहीं थे। १८११ से १८२३ के बीच बर्मा और कंपनी के बीच के संवंधों को सुधारने की ओर किसी प्रकार के प्रयास नहीं किये गये।

विभिन्न ब्रिटिश अधिकारियों की वर्मा यात्रा का एक परिणाम यह निकला कि ब्रिटिश सरकार को पूरी सूचना मिल गयी कि बर्मा सैनिक दृष्टि से कमजोर राज्य था। इससे भारतीय गवर्नर जनरल का उत्साह बढ़ा और वे बर्मा पर आक्रमण करने की योजनाएँ बनाने लगे।

गवर्नर जनरल ने १८१२ में इंग्लैंड-स्थित कंपनी के अधिकारियों को लिखा कि "बर्मा के समुद्री किनारों और प्रांतों पर हम आक्रमण कर सकते हैं... युद्ध में हमारी पूरी और तत्काल सफलता के विषय में किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए।" लेकिन यह समय ऐसा नहीं था जब कंपनी बर्मा के विरुद्ध कोई युद्ध आरंभ करती। जब उचित मौका आया तो १८२४ में गवर्नर जनरल बर्मा के विरुद्ध युद्ध छेड़ देने में तनिक भी नहीं हिचकिचाया। उस समय तक दोनों राज्यों के बीच राजनीतिक गतिरोध बना हुआ था और जब सीमा संवंधी विवादों को दूर न किया जा सका तो एमहर्स्ट ने युद्ध का सहारा लिया।

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध के कारण

प्रथम वर्मा युद्ध का आरंभ होने के पहले कारण की ओर इसके पूर्व ही ध्यान आकर्षित किया गया है। बर्मा के शासकों ने लगातार लंवे समय से ब्रिटिश भारत की सीमा की ओर राज्य-विस्तार की नीति अपनायी। बर्मी सेनाएँ असम और अराकान के क्षेत्रों में

आगे बढ़ीं। इस प्रकार ब्रिटिश सीमा और बर्मी सीमा एक दूसरे से मिल गयीं। जब तक ब्रिटिश भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर छोटे और कमजोर राज्य थे, गवर्नर जनरल के लिए सुरक्षा का कोई खतरा नहीं था। किंतु अब पड़ोस में एक शक्तिशाली और विस्तारवादी राज्य की सत्ता स्थापित हो जाने से कंपनी के अधिकारियों का ध्यान भी पूर्वी सीमा की ओर गया। ब्रिटिश भारत के उत्तर-पूर्व की ओर की सीमा का किसी प्रकार का निर्धारण नहीं किया गया था और न प्राकृतिक रूप से दोनों राज्यों के क्षेत्र एक दूसरे से अलग थे। ऐसी स्थिति में कभी भी सीमा संबंधी विवाद के कारण युद्ध की स्थिति आ सकती थी और १८२४ में ऐसा ही हुआ।

युद्ध का दूसरा कारण यह था कि राजनीतिक समाधान के लिए परिस्थिति अनुकूल नहीं थी। बर्मा और ब्रिटिश सरकार के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध नहीं थे। १८११ के पूर्व जब भी ब्रिटिश अधिकारी बर्मा भेजे गये तो उनके साथ न अच्छा व्यवहार किया गया और न ही बर्मा के किसी राजा ने किसी प्रश्न को सुलझाने में रुचि दिखलायी। फलतः १८११ के बाद फिर कोई भी अधिकारी बर्मा नहीं भेजा गया। पत्र-व्यवहार द्वारा दोनों राज्यों के बीच के विवादों में किसी प्रकार की प्रगति नहीं हुई थी। वास्तविकता यह थी कि बर्मा के राजाओं ने कंपनी के अधिकारियों की अवहेलना की। उनका कहना था कि नौकरी करने वाले अधिकारियों के साथ बर्मा का शासक किसी प्रकार की बातचीत नहीं कर सकता।

कई अन्य वर्णनों से ऐसा मालूम होता है कि बर्मा के शासकों को भारत में कम्पनी द्वारा स्थापित राज्य की शक्ति का उचित ज्ञान नहीं था। बर्मा के शासक तथा मंत्री आदि घमंड में डूबे रहे और कम्पनी के प्रस्तावों की उन्होंने उपेक्षा की। कंपनी की सरकार की शक्ति का अनुमान लगाने की उन्होंने यदि कोशिश नहीं की तो यह उनकी भारी भूल थी।

तीसरे, १८१८ के पश्चात् सीमा संबंधी प्रश्न के प्रति ब्रिटिश रुख में परिवर्तन आया। १८१८ के पूर्व के गवर्नर जनरल भारत की विभिन्न शक्तियों से संघर्ष कर रहे थे। अंग्रेज मैसूर के शासक तथा मराठों के विरुद्ध युद्ध कर रहे थे। अतः कार्नवालिस अथवा वेलेज्ली ने पूर्वीय सीमा की ओर ध्यान नहीं दिया। लार्ड हेस्टिंग्स के समय असम और मणिपुर पर बर्मी आधिपत्य स्थापित हुआ। लेकिन उसने असम में होनेवाले राजनीतिक परिवर्तन के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी। असम अथवा मणिपुर के राजाओं ने अंग्रेजों से सहायता माँगी किन्तु लार्ड हेस्टिंग्स ने इसे अस्वीकार कर दिया। लेकिन लार्ड हेस्टिंग्स के बाद ब्रिटिश नीति में परिवर्तन आया। जब १८२३ में एमहर्स्ट जनरल होकर भारत आया तो पूर्वीय सीमा पर बर्मी राज्य के बढ़ते हुए प्रभाव का उसने विरोध किया। वह पड़ोस में होनेवाली घटनाओं में रुचि लेने लगा और हस्तक्षेप के लिए तैयार हो गया। यदि एमहर्स्ट ने बर्मा के प्रति इस प्रकार की नीति अपनायी तो इसका मुख्य कारण यही था कि अब तक कंपनी भारत में सर्वोच्च शक्ति बन गयी थी। उसे भारत की शक्तियों से भय नहीं था। इससे गवर्नर जनरल को उत्तरपूर्वीय सीमा की ओर बर्मा के प्रभाव को रोकने और ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिला।

चौथे, यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार और बर्मा के बीच सीमा संबंधी मतभेदों के कारण संघर्ष की स्थिति निकट आ गयी। अराकान बर्मा के अधीन था। इसकी सीमाएँ चटगाँव जिले से मिलती थीं जो कंपनी का सीमास्थिति जिला था। अराकान में इस समय बर्मी आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह हो रहे थे। आत्मरक्षा के लिए उपद्रवकारी बर्मी सीमा पार करके पड़ोस के चटगाँव जिले में जाकर शरण लेते थे। बर्मी सरकार की माँग यह थी कि अराकान से भागे हुए उपद्रवकारियों को लौटाने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार का था। एक कठिनाई इसी सीमा क्षेत्र पर यह भी थी कि उपद्रवकारियों का पीछा करते हुए बर्मी सेना कभी भी नाफ नदी को पार करके ब्रिटिश क्षेत्र में आ जाती थी। अराकान सीमा के विवादों को दूर करने के लिए कई उपाय किये गये। गवर्नर जनरल ने चटगाँव में ब्रिटिश सैन्य शक्ति को बढ़ाया। प्रायः लार्ड हेस्टिंग्स के समय तक ब्रिटिश सरकार ने कोई कठोर कार्यवाही नहीं की। लेकिन उसने बर्मा की इस माँग को स्वीकार नहीं किया कि अराकान क्षेत्र से भागे लोगों को लौटाना ब्रिटिश सरकार की जिम्मेदारी थी। वर्मी सेना को नाफ नदी पार न करने को कहा गया।

असम सीमा पर भी ब्रिटिश सरकार और बर्मा के बीच विवाद बढ़ते गये। असम क्षेत्र पर अहोम वंश के राजाओं का अधिकार था। १८२१ तक अहोम के राजा को पराजित करके वर्मी सेनाओं ने असम पर अधिकार कर लिया। असम में तीन अन्य छोटे राज्य भी थे जो राजाओं के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। ये राज्य थे मणिपुर, कछार और जंतिया। मणिपुर राज्य की सीमाएँ बर्मा से मिलती थीं। मणिपुर पर बर्मा का अधिकार असम पर सत्ता स्थापित होने के पूर्व ही हो चुका था। अब बर्मा को सम्पूर्ण असम क्षेत्र में अपने प्रभाव को सुदृढ़ करने के लिए दो अन्य छोटे राज्य, कछार और जंतिया, पर प्रभाव जमाना आवश्यक था। १८२३ में एमहर्स्ट जब गवर्नर होकर भारत आया तो उसने अपने पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों की इस नीति को स्वीकार नहीं किया कि असम में होने वाली घटनाओं में ब्रिटिश सरकार किसी प्रकार की रुचि न ले। एमहर्स्ट ने असम में बर्मा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने की नीति अपनायी। इस कारण कछार और जांतिया के राज्यों को लेकर बर्मा और ब्रिटिश सरकार के बीच मतभेद तीव्र हो गये। गवर्नर जनरल ने जनवरी, १८२४ में कछार के राजा गोविन्दचन्द्र के साथ संधि करने का निश्चय किया जिसके अनुसार कछार के शासक ने अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। उसने यह भी स्वीकार किया कि वह ब्रिटिश सरकार को वार्षिक कर देगा। कछार राज्य के आन्तरिक मामलों में भी गवर्नर जनरल को हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया। जंतिया के शासक रामसिंह ने भी इसी प्रकार की संधि ब्रिटिश सरकार से कर ली।

असम क्षेत्र के इन दो छोटे राज्यों के प्रश्न को लेकर बर्मा के शासक और गवर्नर जनरल के बीच खाई बढ़ती गयी। बर्मा के राजा का दावा यह था कि समूचे असम क्षेत्र में वह अहोम राजा का उत्तराधिकारी था। जिस प्रकार अहोम राजा कछार और जंतिया के राजाओं पर अपना प्रभुत्व बनाये हुए थे उसी प्रकार बर्मा के राजा ने अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहा। बर्मी राजा ऐसी किसी भी संधि का विरोध करने को तैयार हो गया जिसके

अनुसार कछार और जंतिया पर ब्रिटिश हस्तक्षेप बढ़ता। लेकिन एमहर्स्ट भी पीछे हटने को तैयार नहीं था। उसने इन राज्यों में ब्रिटिश सेना भेज दी। इस सेना को किसी भी परिस्थिति का मुकाबला करने को कह दिया गया था। बर्मा ने भी अपनी सेनाओं को इन राज्यों की सीमाओं तक आगे बढ़ा दिया था। असम क्षेत्र में दोनों सेनाएँ युद्ध के लिए तैयार हो गयीं। युद्ध की घोषणा होने के पहले भी कई स्थानों में इन सेनाओं के बीच झड़पें हो चुकी थीं।

युद्ध आरंभ होने का पाँचवाँ कारण था शाहपुरी द्वीप के संबंध में विवाद। यह एक बहुत छोटा सा द्वीप था जो अराकान और ब्रिटिश सीमा को विभाजित करने वाली नाफ़ नदी के मुहाने पर स्थित था। जब ब्रिटिश सेना की संख्या चटगाँव सीमा पर बढ़ी तो कुछ सैनिक इस द्वीप की रक्षा करने के लिए भी पहुँचे। बर्मी पक्ष ने शाहपुरी द्वीप पर ब्रिटिश अधिकार का विरोध करने के लिए सितंबर, १८२३ में करीब एक हजार सैनिकों को भेजा। सैनिक संघर्ष में कुछ ब्रिटिश सैनिक मारे गये। बर्मी सेना केवल अपने दावे को सिद्ध करने के लिए द्वीप तक आयी थी। कुछ समय बाद बर्मी सैनिक द्वीप से चले गये। नवंबर, १८२३ में ब्रिटिश सेना पुनः इस द्वीप पर आयी और उसने इस पर अधिकार कर लिया। इस द्वीप के प्रश्न को लेकर भी दोनों सरकारों के संबंधों में तनाव आता गया।

एमहर्स्ट की नीति

प्रथम बर्मा युद्ध आरंभ होने का एक मुख्य कारण था नये गवर्नर जनरल एमहर्स्ट की नीति। उसके आने के पहले लार्ड हेस्टिंग्स के शासनकाल में ही असम क्षेत्र पर बर्मा का प्रभुत्व स्थापित हुआ था। लेकिन लार्ड हेस्टिंग्स ने असम में होनेवाली घटनाओं के प्रति किसी प्रकार की रुचि नहीं दिखायी। उसकी नीति थी पूर्वीय सीमा के विवादों से दूर रहना। लार्ड हेस्टिंग्स के जाने के सात महीने बाद अगस्त, १६२३ में एमहर्स्ट भारत आया। इस गवर्नर जनरल ने मार्च १८२४ में बर्मा के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इन तथ्यों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लार्ड हेस्टिंग्स के समय तो दोनों राज्यों के बीच किसी प्रकार के संघर्ष की संभावना नहीं थी किंतु एमहर्स्ट की नीति के कारण युद्ध आरंभ हो गया। दोनों गवर्नर जनरलों की नीतियों में एक बहुत बड़ा अन्तर था। जहाँ एक ओर लार्ड हेस्टिंग्स ने बर्मा के प्रति तटस्थता की नीति अपनायी वहाँ दूसरी ओर एमहर्स्ट ने इस नीति को बदलकर असम में बर्मा के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने का निश्चय किया। ऐसी स्थिति में एमहर्स्ट के आगमन के कुछ महीनों बाद ही ब्रिटिश सरकार और बर्मा के बीच जो युद्ध हुआ उसके लिए गवर्नर जनरल ही जिम्मेदार था।

भारत की पूर्वीय सीमा पर कुछ शक्तिहीन राज्यों के स्थान पर अब एक प्रबल शक्ति का अधिकार हो गया था। अतः बर्मा के विस्तार के कारण ब्रिटिश सीमा की सुरक्षा करना आवश्यक समझा जाने लगा। एमहर्स्ट ने ब्रिटिश सीमा की सुरक्षा की ओर ध्यान दिया और ब्रिटिश फौजें उत्तर-पूर्वी सीमा की रक्षा करने के लिए तैनात कर दी गयीं। ब्रिटिश सेनाओं के जमाव को देखकर बर्मा ने भी जब सैन्य शक्ति को बढ़ाया तो युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

कछार और जंतिया राज्यों के विषय में भी एमहर्स्ट ने सक्रिय हस्तक्षेप की नीति अपनायी। जनवरी, १८२४ में जब उसने इन राज्यों को ब्रिटिश प्रभाव में लाने का निर्णय किया तो वह जानता था कि वर्मी इसका विरोध करेंगे। लेकिन उसने इसकी चिंता नहीं की। इसका कारण यह था कि एमहर्स्ट बर्मा के शासक को सबक सिखाने का बहाना ढूँढ़ रहा था। वह किसी ऐसे मौके की खोज में था जब वह ब्रिटिश सैन्यबल का उपयोग कर सके। गवर्नर जनरल ने सीमा के विवाद को दूर करने के बहाने बर्मी शक्ति को कुचलने की नीति अपनायी।

एमहर्स्ट एक साम्राज्यवादी गवर्नर जनरल था जो ब्रिटिश शक्ति के विस्तार के लिए किसी भी युद्ध के लिए तैयार था। गवर्नर जनरल ने युद्ध करके ब्रिटिश साम्राज्य की सीमाओं का विस्तार करने का निश्चय किया। यह स्मरण रखना होगा कि सुरक्षा करना मात्र ही उसका ध्येय नहीं था। वह ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाने के उपाय कर रहा था।

युद्ध की घोषणा

मार्च, १८२४ में गवर्नर जनरल ने वर्मा से युद्ध करने की घोषणा कर दी। अपने पक्ष को स्पष्ट करते हुए उसने स्थिति की गंभीरता को सिद्ध करने का प्रयास किया। घोषणा में कहा गया कि "हमारी प्रजा की रक्षा के हेतु और हमारे जिलों की सुरक्षा के लिए, जो अब तक बर्मी सेना के निकट आने से पहले से ही आतंकित हैं, गवर्नर जनरल को आक्रमण की धमकी का मुकाबला करना है।" इस युद्ध की घोषणा में यह भी कहा गया कि राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए युद्ध किया जा रहा था। गवर्नर जनरल ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर युद्ध को आवश्यक सिद्ध करने का प्रयास किया।

युद्ध का आरम्भ

इस प्रथम बर्मी युद्ध की दो विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। पहली यह कि बर्मा की सेना पहली बार इस युद्ध में किसी ऐसी सेना से युद्ध कर रही थी जो पश्चिमी ढंग से प्रशिक्षित की गयी थी और जो नये-नये प्रकार के शस्त्रों से सुसज्जित थी। अभी तक बर्मा की सेना पड़ोस के राज्यों से ही लड़ी थी। पश्चिमी युद्ध-प्रणाली का उसे कोई भी ज्ञान नहीं था। दूसरी विशेषता थी ब्रिटिश सेना का समुद्र के मार्ग से आकर रंगून पर आक्रमण करना। बर्मा के अधिकारी समुद्र की सीमा को अब तक सुरक्षित सीमा मानते रहे थे। वे युद्ध के समय यह अनुमान तक नहीं लगा सके कि समुद्र के रास्ते से उनके देश पर आक्रमण हो सकेगा।

ब्रिटिश और बर्मी सेना की टक्कर एक साथ तीन क्षेत्रों में आरंभ हुई। ये क्षेत्र थे असम, अराकान-चटगाँव सीमा-क्षेत्र और रंगून।

असम के प्रश्न को लेकर ही दोनों राज्यों में गहरे मतभेद थे और दोनों पक्ष यहाँ अपनी-अपनी फौजों की शक्ति बढ़ा रहे थे। मार्च में ही ब्रिटिश फौजें असम की ब्रह्मपुत्र घाटी में पूर्व की ओर बढ़ने लगीं। गोलपाड़ा और गौहाटी पर अधिकार करने में ब्रिटिश सेना

को किसी प्रकार की भी कठिनाई नहीं हुई। बर्मी विरोध नाम मात्र का था। ब्रिटिश फौजें असम के प्रमुख शहर नौगाँव तक पहुँच गयीं। असम में दोनों सेनाओं के बीच विभिन्न स्थानों में जो टक्करें हुईं उनमें बर्मी सेना की कमजोरी दिखायी पड़ने लगी। कुछ महीनों के बाद ही असम के एक बड़े भाग पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया था।

चटगाँव-अराकान सीमा पर बर्मी फौजों का भारी जमाव था। बर्मी सेना का कुशल सेनापति महाबंदूला इसी क्षेत्र में तैनात था। महाबंदूला बहुत ही योग्य सेनापति था और बर्मी सेना को उसकी योग्यता पर पूरा भरोसा था। मई, १८२४ में नाफ नदी को पार करके बर्मी सेना ब्रिटिश क्षेत्र में आगे बढ़ी। रामू नामक स्थान पर इस सेना ने ब्रिटिश सेना पर विजय प्राप्त की। यदि बंदूला की सेना की प्रगति इसी प्रकार बनी रहती तो पूरे चटगाँव क्षेत्र पर उसका अधिकार हो सकता था। लेकिन बर्मियों की योजना पूरी नहीं हो सकी। इसी समय रंगून पर अंग्रेजों का अधिकार हो जाने से महाबंदूला और उसकी सेना को अराकान क्षेत्र से हटकर रंगून की ओर जाना पड़ा। बर्मी सेना की सारी योजना बदल गयी। इसका प्रभाव युद्ध की घटनाओं पर भी पड़ा।

रंगून पर ब्रिटिश सेना के आक्रमण से युद्ध का स्वरूप ही बदल गया। मई, १८२४ में ब्रिटिश सेना के नेतृत्व में कई जहाज और युद्धपोत मद्रास से रवाना होकर समुद्री मार्ग से रंगून के निकट पहुँच गये। इन जलयानों के द्वारा करीब ग्यारह हजार सैनिकों को बर्मा तक पहुँचाया गया था। इस सेना ने बिना किसी कठिनाई के रंगून पर अधिकार कर लिया। बर्मा की ओर से केवल छुटपुट गोलियाँ चली थीं। रंगून पर आक्रमण होने का बर्मा के शासक को किसी प्रकार का भय नहीं था। बर्मा का राजा यह समझ रहा था कि बर्मा और भारत की सीमा पर जिन प्रदेशों के संबंध में विवाद था, युद्ध उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रहेगा। उसने यह कल्पना ही नहीं की थी कि युद्ध के दौरान ब्रिटिश सेना समुद्री मार्ग से आक्रमण कर देगी। इस क्षेत्र पर अधिकार के संबंध में तो किसी प्रकार का भी विवाद नहीं था।

शीघ्र ही ब्रिटिश योजना सफल होती दिखाई देने लगी। रंगून पर अधिकार करने के बाद यह सेना इरावदी नदी के साथ-साथ उत्तर की ओर बढ़ी। इससे भयभीत होकर बंदूला और उसकी सेना को अराकान से हटना पड़ा। बर्मी योजना विफल हो गयी और इससे अंग्रेजों को लाभ हुआ।

नवंबर, १८२४ में महाबंदूला की सेना रंगून के उत्तरी प्रदेश में पहुँच गयी और कई स्थानों पर इस सेना और ब्रिटिश सेना के बीच मुकाबला हुआ। जब बर्मी सेनाएँ युद्ध में पूरे जोश के साथ भाग ले रही थीं तो अप्रैल, १८२५ में एक अप्रत्याशित घटना घटी। अचानक महाबंदूला को गोली लग गयी जिससे उसकी मृत्यु हो गयी। बर्मी सेना के लिए यह एक वज्रपात था। महाबंदूला के अलावा कोई भी ऐसा योग्य व्यक्ति नहीं था जिसमें बर्मी सेना का नेतृत्व करने की क्षमता हो।

यांडबू की संधि

करीब दो वर्षों के संघर्ष के पश्चात् फरवरी, १८२६ में युद्ध समाप्त हो गया और

यांडबू की संधि के द्वारा बर्मा के शासक ने अंग्रेजों की शर्तों को स्वीकार कर लिया। इस संधि की मुख्य धाराएँ निम्न थीं:-

(१) बर्मा के राजा को संपूर्ण असम क्षेत्र पर अपना अधिकार छोड़ना पड़ा। इस निर्णय से समूचा असम क्षेत्र अंगेजों के अधिकार में आ गया। असम के तीनों छोटे राज्य मणिपुर, कछार और जंतिया भी ब्रिटिश प्रभाव में आ गये। मणिपुर का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहा और यहाँ का राजा अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार करते हुए शासन करता रहा। कछार और जंतिया कुछ वर्षों में ही ब्रिटिश अधिकार में पूरी तरह से आ गये।

(२) बर्मा राज्य के दो प्रांतों पर भी कंपनी का अधिकार स्थापित हुआ। ये दो प्रांत थे अराकान और टेनासरिन जो समुद्र के किनारे के क्षेत्र थे। इन क्षेत्रों पर अधिकार करके अंग्रेजों ने पहली बार बर्मा की भूमि पर अपने पैर जमाये।

(३) यांडबू की संधि की तीसरी शर्त के अनुसार युद्ध के हर्जाने के रूप में एक करोड़ रुपया बर्मी शासक ने ब्रिटिश सरकार को अदा करना स्वीकार किया।

(४) इस संधि में यह भी निश्चय किया गया कि दोनों राज्यों के बीच कूटनीतिक संबंध स्थापित किये जायें। इसके अनुसार ब्रिटिश राजदूत को बर्मा भेजने का तथा बर्मी राजदूत को कलकत्ता भेजने का निश्चय किया गया।

(५) अंतिम धारा के द्वारा दोनों राज्यों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय किया गया। इसका निश्चय करने के लिए शीघ्र ही अलग से दोनों देशों के बीच एक व्यापारिक संधि हुई।

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध के परिणाम

यांडबू की संधि की शर्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश गवर्नर जनरल ने केवल सीमा-सुरक्षा के लिए ही युद्ध नहीं किया था। उसका लक्ष्य था ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना। इसी कारण संधि करते समय उसने असम पर अधिकार किया और बर्मा के दो प्रांतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया। एमहर्स्ट ने बर्मा पर पैर जमाकर भविष्य में अंग्रेजों को बर्मा पर अधिकार करने का मार्ग प्रशस्त किया। व्यापारिक संधि करके ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश व्यापारियों को बर्मा में लाभ कमाने का अवसर भी प्रदान किया।

यह युद्ध बर्मा के लिए बहुत ही महँगा पड़ा। बर्मा का राज्य-विस्तार तो रुका ही इसके साथ ही बर्मा को दो प्रांत भी ब्रिटिश सरकार को देने पड़े। सैनिक दृष्टि से भी इस युद्ध के दूरगामी परिणाम हुए। युद्ध में जो अनुभव ब्रिटिश सेना को हुए उसका उसने लाभ उठाया। बर्मा से युद्ध करने की तैयारी करने में उसे भविष्य में अधिक कठिनाई नहीं हुई। अंग्रेज अधिकारी बर्मियों की सैन्य पद्धति को जान गये थे।

लेकिन बर्मा के राजाओं ने इस युद्ध से किसी प्रकार की शिक्षा ग्रहण नहीं की। १८२६ के बाद बर्मा की सैन्य शक्ति और भी घटती गयी। बर्मी शासक इस स्थिति को सुधारने की दिशा में कुछ भी नहीं कर सके। यह बर्मा के लिए दुर्भाग्य की बात थी कि बर्मा की सेना

को संगठित करने की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया। वर्मा के शासक निजी संघर्षों में ही फँसे रहे और प्रशासकीय उत्तरदायित्व की ओर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। बर्मा की कमजोरियों का अंग्रेजों ने पूरा लाभ उठाया।

आंग्ल-बर्मा युद्ध में करीब तेरह करोड़ रुपया गवर्नर जनरल ने खर्च किया था। इस प्रकार यह एक बहुत ही खर्चीला युद्ध सावित हुआ। इस कारण ब्रिटेन की पार्लियामेंट में एमहर्स्ट की आलोचना की गयी। इसके अलावा गवर्नर जनरल ने युद्ध के संचालन की ओर भी उचित ध्यान नहीं दिया था। दो वर्षों के युद्ध के दौरान बड़ी संख्या में ब्रिटिश सैनिक मरे थे। इसके लिए भी गवर्नर जनरल को दोषी ठहराया गया था। लेकिन इस युद्ध का परिणाम अंग्रेजों के हित में था। इसलिए युद्ध के कारण जो कठिनाइयाँ हुईं उनपर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था।

युद्धोपरांत की बर्मी राजनीति

बाग्यिदा के शासनकाल में प्रथम बर्मा युद्ध हुआ था। इस शासक ने अंग्रेजों से संधि तो कर ली थी किंतु वह इससे कभी संतुष्ट न हुआ। उसकी तथा उसके बाद के अन्य बर्मी राजाओं की अभिलाषा यही बनी रही कि वे इस पराजय-कालिमा को किसी प्रकार धो लें। लेकिन राजनीति में केवल इच्छा करना काफी नहीं होता। खोये हुए राज्यों को पुनः प्राप्त करने के लिए शासन-व्यवस्था को पुनर्संगठित करना तथा सैनिक तैयारियाँ करना परम आवश्यक था। इस कार्य को बर्मा का कोई भी शासक न कर सका।

बाग्यिदा का स्वास्थ्य विगड़ते ही बर्मा के राजकुमार उसके खिलाफ षड्यंत्र करने लगे। अंत में १८३७ में उसके भाई का षड्यंत्र सफल हुआ। थारावड्डी नया राजा बना। १८३७ से १८४६ के बीच वह बर्मा का शासन करता रहा। किंतु शासन-व्यवस्था की ओर उसने कोई ध्यान नहीं दिया। बाग्यिदा के पुत्र पैगन ने षड्यंत्र करके अपने पिता को अपदस्थ कर दिया। पैगन ने स्वयं सत्ता हथिया ली। उसने १८४६ से १८५३ के बीच शासन किया। उसी के शासनकाल में दूसरा बर्मा युद्ध हुआ।

यांडबू की संधि द्वारा बर्मा की सरकार ने एक करोड़ रुपया हर्जाना देना स्वीकार किया था। इस रकम को १८३८ में पूरी तरह अदा किया गया। इसी संधि द्वारा कूटनीतिक संवंध स्थापित करने का निश्चय किया गया था। किंतु गवर्नर जनरल के पास अपने राजदूत को भेजना बर्मा की सरकार ने अपना अपमान समझा और कोई भी बर्मी राजनीतिज्ञ कलकत्ता नहीं भेजा गया। १८३० के बाद दस वर्षों में कुछ अंग्रेज रेजीडेंट वर्मा की राजधानी में रहे और उन्होंने बर्मा की राजव्यवस्था के विषय में विस्तृत रिपोर्ट लिखी। १८४० के बाद इन ब्रिटिश राजदूतों का रहना नये बर्मी शासक को अरुचिकर था तथा उसे हमेशा रेजीडेंट के हस्तक्षेप का भय लगा रहता था। बदलती परिस्थितियों में अंग्रेज रेजीडेंट को कार्य करना कठिन हो गया और १८४० के बाद दोनों राज्यों के बीच किसी भी प्रकार के संपर्क का यह साधन समाप्त हो गया।

द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध - कारण और परिणाम

द्वितीय बर्मा युद्ध के लिए ब्रिटिश सरकार और अंग्रेज अधिकारी जितने तैयार थे, बर्मा सरकार उससे उतना ही बचना चाहती थी। साम्राज्यवादी नीति के समर्थकों को युद्ध द्वारा पर्याप्त लाभ की आशा थी। इसके विपरीत बर्मा का राजा पहले युद्ध से सजग हो गया था। वह ब्रिटिश सामरिक शक्ति से आतंकित था। किसी भी युद्ध से दूर रहने की उसने भरसक कोशिश की लेकिन फिर भी १८५२ में उसपर युद्ध थोप दिया गया। हमें उन कारणों की विवेचना करना आवश्यक है जिनसे ब्रिटिश अधिकारियों को बर्मा पर आक्रमण करने का अवसर मिला।

पहला कारण था बर्मा और ब्रिटिश सरकार के बीच किसी प्रकार का राजनीतिक संबंध न होना। यांडबू की संधि द्वारा दोनों सरकारों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का निर्णय किया गया था किन्तु बर्मा के राजाओं ने इस ओर कोई रुचि नहीं दिखायी। राजनीतिक बातचीत का कोई साधन न होने के कारण आवश्यकता पड़ने पर पत्राचार का माध्यम अपनाया गया। किन्तु पत्रों के आदान-प्रदान में इतना विलंब हुआ कि दोनों सरकारों के बीच मामूली से मतभेद भी न सुलझाये जा सके।

दूसरा कारण था डलहौजी की साम्राज्य-विस्तार की नीति और यदि इसे ही सबसे मुख्य कारण कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। डलहौजी का लक्ष्य था भारत में एक बड़ा और सुसंगठित साम्राज्य स्थापित करना। सिंगापुर पर अंग्रेजों का अधिकार हो चुकने के बाद बंगाल की खाड़ी पर पूर्णरूप से प्रभुत्व जमाने के लिए इरावदी के मुहाने के क्षेत्र और वहाँ के उपयोगी बन्दरगाह रंगून पर अधिकार करके इस अभीष्ट को पूरा किया जा सकता था। समुद्र पर पूरी तरह से अधिकार करके व्यापार को बढ़ाने की नीति अपनायी गयी।

ब्रिटिश सैन्य शक्ति की प्रबलता इस युद्ध का एक अन्य कारण बनी। प्रथम बर्मी युद्ध के बाद ब्रिटिश सेना को पूर्ण विश्वास था कि वह कभी भी बर्मा पर अधिकार कर सकती थी। इससे भी महत्त्वाकांक्षी गवर्नर जनरल का आत्मविश्वास बढ़ा और वह किसी भी परिस्थिति में कार्यवाही करने को तैयार रहा।

चौथा कारण था ब्रिटिश व्यापारियों की शिकायतें करना। यांडबू की संधि के बाद बर्मा और ब्रिटिश सरकार के बीच अलग से एक संधि हुई थी जिसके द्वारा यह तय किया गया था कि ब्रिटिश व्यापारियों को रंगून तथा उसके आसपास के क्षेत्र में व्यापार की सुविधाएँ बर्मी सरकार द्वारा प्रदान की जायेंगी। १८२६ से १८५० तक यह व्यापार चलता रहा और इस संबंध में किसी प्रकार की कठिनाइयाँ सामने नहीं आयीं। किंतु १८५० में यही प्रश्न पेचीदा बन गया और द्वितीय बर्मा युद्ध का तात्कालिक कारण बना।

पैगन के सम्राट बनने के बाद से यूरोपीय व्यापारियों के कार्यों पर अधिक निगरानी की जाने लगी थी। रंगून के नये गवर्नर ने कर वसूल करने की कड़ी व्यवस्था की। उसने स्पष्ट आदेश दिये कि प्रत्येक व्यापारिक जहाज के माल की पूरी तरह छानबीन की जाये। इस प्रकार व्यापार पर निगरानी करने में चौकसी रखी जाने लगी तथा व्यापारियों को नियम

के अनुसार कर देने के लिए बाध्य किया गया। अंग्रेज व्यापारियों को नये गवर्नर के रुख से कठिनाइयाँ हुईं। अंग्रेज व्यापारियों का भारत और उसके आसपास के व्यापार का इतिहास बताता है कि ये कभी भी पूरा कर नहीं देना चाहते थे। अभी तक बर्मा की सरकार की लापरवाही से उनको इसका और भी मौका मिला था। लेकिन जब सख्ती की गयी तो व्यापारियों को असुविधा होने लगी।

अंग्रेज व्यापारियों ने व्यापार के नियमों का उचित रूप से पालन करने के बजाय गवर्नर जनरल से अपील करने का रास्ता अपनाया। साधारणतया इस प्रकार के पत्रों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाना चाहिए था। अगर व्यापार करना बर्मा में सुविधाजनक नहीं था तो अंग्रेज व्यापारी वहाँ से हट सकते थे। कोई उन्हें व्यापार करने के लिए बाध्य नहीं कर रहा था। पर उन्होंने अपनी ही शर्तों पर बर्मा में व्यापार करने की सुविधाओं की माँग की।

डलहौजी के पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों ने यह रुख अपनाया था कि दूसरे देशों में व्यापार करनेवालों की कठिनाइयों में ब्रिटिश सरकार कोई सहायता करने की स्थिति में न थी किंतु डलहौजी ने कुछ व्यापारियों के पत्र मिलते ही तुरंत बर्मा में हस्तक्षेप करने की नीति अपनायी। गवर्नर जनरल का कहना था कि अंग्रेज व्यापारियों को संधि के अनुसार बर्मा में व्यापार करने के अधिकार प्राप्त थे और यह बर्मा सरकार का उत्तरदायित्व था कि वह इस व्यापार के लिए सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करे। बर्मी सरकार की ओर से जो बर्मी गवर्नर रंगून में शासन करता था उसने अंग्रेज व्यापारियों पर जुर्माना लगाया और उनसे इसका भुगतान करने की आज्ञा दी। व्यापारियों ने तुरंत डलहौजी से अपील की। उन्होंने एक पत्र लिखकर गवर्नर जनरल से संरक्षण की माँग की।

डलहौजी बर्मा के मामले में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार ही बैठा था। वह केवल उचित अवसर की तलाश कर रहा था। अंग्रेज व्यापारियों ने शिकायत करके उसे यह मौका दे दिया। डलहौजी की इसी नीति से दूसरे बर्मा युद्ध का सूत्रपात हुआ।

पाँचवाँ कारण था डलहौजी की असाधारण कार्यवाही। जब उसे बर्मा में व्यापार करनेवाले अंग्रेज व्यापारियों की शिकायतें मिलीं तो उसने पूछताछ करने के उद्देश्य से एक उच्च अधिकारी को कलकत्ता से बर्मा रवाना किया। यह व्यापारिक समस्या धीरे-धीरे राजनीतिक बन गयी थी और इसका समाधान करने के लिए एक उच्च सैनिक अधिकारी को रंगून भेजा गया। इस नौसैनिक अधिकारी लैम्बर्ट के साथ युद्धपोत और सैनिक भी भेजे गये थे। यह एक असाधारण तरीका था जिसके कारण समस्या सुलझने के बजाय और अधिक उलझ गयी क्योंकि इस सैनिक अधिकारी ने आरंभ से ही बर्मा सरकार पर दबाव डालने का तरीका अपनाया। गवर्नर जनरल को आशा थी कि ब्रिटिश जहाजों को रंगून के निकट देखकर बर्मा सरकार उन सभी शर्तों को स्वीकार कर लेगी जिनकी माँग उससे की जायेगी। ब्रिटिश सरकार की पहली माँग यह थी कि रंगून-स्थित बर्मी गवर्नर को स्थानांतरित करके दूसरे गवर्नर की नियुक्ति की जाये। इसके अलावा यह माँग भी इसी समय की गयी कि भविष्य में अंग्रेज व्यापारियों को पूरी सुविधाएँ देने का वचन बर्मी सरकार दे। इसी के साथ यह भी कहा गया कि अंग्रेज व्यापारियों को जो असुविधाएँ हुई थीं उनके लिए उन्हें बर्मी सरकार मुआवजा दे। मुआवजे की रकम भी निर्धारित की गयी। यह ध्यान देने योग्य

है कि गवर्नर जनरल ने चार अंग्रेज व्यापारियों की शिकायतों पर ही यह कार्यवाही की थी। वह यह मानकर कार्य कर रहा था कि अंग्रेज व्यापारी जो भी माँग कर रहे थे वे सभी उचित थीं। वास्तविकता यह है कि अंग्रेज व्यापारी डलहौजी के रुख से परिचित थे और समझते थे कि गवर्नर जनरल उनके पक्ष में हस्तक्षेप करने में पीछे नहीं रहेगा।

डलहौजी ने ब्रिटिश सैन्य अधिकारी को जिस प्रकार भेजने का निश्चय किया और उसे जो आदेश दिये उससे उसके इरादे प्रकट हो जाते हैं। गवर्नर जनरल यह मानकर चला कि अंग्रेज व्यापारियों की कठिनाइयाँ सर्वथा उचित थीं। उसने अपने पत्र में लैम्बर्ट को लिखा कि व्यापारियों की शिकायतें उचित जान पड़ती हैं। फिर भी इस अधिकारी से कहा गया कि वह आवश्यकता पड़ने पर और अधिक छानबीन कर ले। गवर्नर जनरल का संकेत स्पष्ट था। रंगून पहुँचने पर ब्रिटिश अधिकारी का प्रयास केवल यही बना रहा कि किस प्रकार अंग्रेज व्यापारियों की मदद की जाये और बर्मी गवर्नर को सबक सिखाया जाये।

नवंबर, १८५१ में ब्रिटिश जहाजों के रंगून पहुँचने पर बर्मी गवर्नर अचरज में पड़ गया। उसे न तो इन जहाजों के आने का कारण ज्ञात था और न ही उसे इनके आगमन की पूर्व सूचना ही थी। रंगून पहुँचते ही ब्रिटिश अधिकारी लैम्बर्ट ने जिस प्रकार का रुख अपनाया उससे ऐसा दिखाई देता है कि उसका इरादा समस्या को सुलझाना नहीं था। वह स्थिति को और अधिक पेचीदा बनाता गया।

बर्मा के राजा ने गवर्नर जनरल की इच्छानुसार रंगून स्थित बर्मी गवर्नर को स्थानांतरित करके उसके स्थान पर दूसरे गवर्नर की नियुक्ति कर दी। उसने अपने पत्र में डलहौजी को यह आश्वासन भी दिया कि अंग्रेज व्यापारियों की शिकायतों पर छानबीन करके उचित कार्रवाई की जायेगी। लेकिन लैम्बर्ट इन आश्वासनों से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने नये बर्मी गवर्नर से यह माँग की कि वह व्यक्तिगत रूप से ब्रिटिश जहाज में आकर क्षमायाचना करें। बर्मी गवर्नर इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इस समय लैम्बर्ट ने यह माँग भी की कि बर्मी सरकार पहले की तुलना में और अधिक धनराशि मुआवजे के रूप में तुरंत अदा करे। इस प्रकार ब्रिटिश सरकार को संतुष्ट करने के लिए बर्मी सरकार ने जितनी कोशिश की वह उतनी ही कठिन शर्तें रखती गयी।

रंगून में अंग्रेज अधिकारी के आने के समय से दोनों पक्षों में जो बातचीत हुई उससे साफ जाहिर है कि वह एक के बाद दूसरी माँग करता रहा और बर्मी अधिकारी दबाव में आकर उसकी सभी शर्तों को स्वीकार करने को राजी नहीं हुए। स्वाभाविक था इससे दोनों पक्षों के बीच तनाव बढ़ता गया।

बर्मा के राजा पर और अधिक दबाव डालने की दृष्टि से लैम्बर्ट ने ब्रिटिश सैन्य शक्ति का प्रदर्शन करने का निश्चय किया जिससे स्थिति में एक नया मोड़ आ गया। ब्रिटिश युद्धपोतों को रंगून बन्दरगाह के निकट लाया गया और नाकाबंदी शुरू कर दी गयी। किसी भी बर्मी जहाज का समुद्री क्षेत्र में आना-जाना रोक दिया गया। यह एक ऐसी कार्यवाही थी जिससे कभी भी विस्फोटक स्थिति पैदा हो सकती थी। ब्रिटिश जहाजों ने जब बर्मा के राजा के पीले जहाज को भी समुद्र में घेर लिया और उसका रास्ता रोका तो बर्मी अधिकारी धैर्य

न रख सके।

जनवरी, १८५२ में रंगून के समुद्री क्षेत्र में गंभीर स्थिति लाने के लिए ब्रिटिश नौसैनिक अधिकारी लैम्बर्ट पूरी तरह से जिम्मेदार था। उसे बातचीत करने के लिए रंगून भेजा गया था। लेकिन वहाँ पहुँचते ही उसने धौंस जमाना शुरू कर दिया। लैम्बर्ट को भेजकर डलहौजी ने एक उत्तेजक स्थिति पैदा कर दी। गवर्नर जनरल ने एक सैनिक अधिकारी को भेजकर बर्मा पर आक्रमण करने का आधार तैयार कर लिया। डलहौजी द्वारा भेजे गये सैनिक अधिकारी और उसके जहाजों ने रंगून की जिस प्रकार से नाकेबंदी की उसी से दूसरा बर्मा युद्ध आरंभ हो गया। इसके लिए डलहौजी पूरी तरह से उत्तरदायी था।

युद्ध का आरम्भ

ब्रिटिश जहाजी बेड़े द्वारा रंगून वंदरगाह की नाकेबंदी करने पर दोनों पक्षों में संघर्ष की संभावना और अधिक बढ़ी। ब्रिटिश अधिकारी यह भली-भाँति जानते थे कि बर्मी समुद्र पर उनका मुकावला नहीं कर सकते थे। वर्मी गवर्नर भी अपनी कमजोरी जानता था। अतः उसने समुद्री किनारों की रक्षा करने के लिए लकड़ी के कटघरे खड़े कर दिये। लेकिन इससे उसे कोई लाभ नहीं हुआ। जब वर्मी सैनिकों ने इन कटघरों के पीछे से ब्रिटिश सैनिकों पर गोलियाँ चलायीं तो लैम्बर्ट ने वर्मी सैनिकों के कटघरों को तोड़ डालने की आज्ञा दे दी। ब्रिटिश सैनिकों ने आगे बढ़कर बर्मी सैनिकों पर हमला किया। मजबूर होकर वर्मी सैनिक पीछे हट गये।

इस आरंभिक मुठभेड़ का समाचार सुनते ही गवर्नर जनरल ने वर्मा पर आक्रमण करने की तैयारियाँ तेज कर दीं। अप्रैल, १८५२ में १६ युद्धपोत रंगून वंदरगाह पहुँच गये। इन जहाजों के द्वारा करीब नौ हजार सैनिक बर्मी समुद्री तट पर उतारे गये। १५६ तोपें इन सैनिकों के पास थीं। रंगून में हुई मुठभेड़ के बाद कुछ महीनों में ही ब्रिटिश सैनिक युद्ध में भाग लेने पहुँच गये। जिस तेजी से यह कार्यवाही पूरी की गयी उससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि डलहौजी बहुत पहले से ही बर्मा पर आक्रमण की योजना बना चुका था।

दो दिनों में ही ब्रिटिश सेना ने रंगून पर कब्जा कर लिया। इसी तथ्य से वर्मी सरकार की कमजोरी प्रकट हो जाती है। कुछ सप्ताहों में ही निचले अथवा दक्षिणी बर्मा क्षेत्र पर ब्रिटिश सेना ने अधिकार जमा लिया। इस क्षेत्र के दो प्रमुख नगर पीगू और प्रोम पर उनका अधिकार हो गया।

कुछ समय तक ब्रिटिश सेना ने दक्षिण बर्मा में अधिकार वनाये रखा। इसके आगे उत्तर की ओर यह सेना नहीं बढ़ी। वर्मा की सरकार ने न तो इस सेना पर आक्रमण किया और न उसने किसी संधि का प्रस्ताव ही प्रस्तुत किया। नवम्बर, १८५२ तक यही स्थिति बनी रही।

दक्षिणी बर्मा पर ब्रिटिश अधिकार

धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि बर्मी सरकार किसी भी राजनीतिक संपर्क के लिए तैयार नहीं थी। उसने संधि करने का कोई भी प्रस्ताव नहीं किया। ऐसी स्थिति में डलहौजी ने एकपक्षीय निर्णय लिया। उसने एक घोषणा जारी करके समूचे दक्षिणी वर्मा क्षेत्र पर

अधिकार कर लिया। इस प्रकार दक्षिणी बर्मा पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया। बर्मा की सरकार और ब्रिटिश सरकार के बीच किसी प्रकार की विधिवत संधि नहीं हुई। लेकिन फिर भी दोनों पक्षों ने यथास्थिति को स्वीकार कर लिया।

कुछ समय बाद बर्मी राजा पैगन को अपदस्थ करके मिंडन बर्मा का नया शासक बना। मिंडन ने अंग्रेजों के साथ संबंध सुधारने की नीति के आधार पर कार्य किया। उसने १८५२ की सीमाओं को स्वीकार कर लिया। मिंडन के शासनकाल में वर्मा और ब्रिटिश सरकार के संवंधों में विशेष कठिनाइयाँ नहीं आयीं।

द्वितीय बर्मा युद्ध के परिणाम

द्वितीय वर्मा युद्ध के फलस्वरूप बर्मा में भी ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो गयी। पहले बर्मा युद्ध के फलस्वरूप समुद्री तट के केवल दो प्रदेशों पर ब्रिटिश अधिकार हुआ था। लेकिन अब सम्पूर्ण दक्षिणी बर्मा पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हो गया। डलहौजी ने बर्मा में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की आधारशिला रखी थी और कुछ दशकों में ही बर्मा का शेष भाग भी अंग्रेजों के अधिकार में आ गया।

डलहौजी के इस निर्णय द्वारा बंगाल की खाड़ी के सभी बंदरगाहों पर ब्रिटिश सत्ता जम गयी। मद्रास, कलकत्ता आदि भारतीय बंदरगाहों से होकर अब व्यापारिक जहाज विना रोक-टोक रंगून होते हुए सिंगापुर जा सकते थे। इस उपयोगी समुद्री क्षेत्र पर अधिकार करने का जो सुनियोजित प्रयास चल रहा था उसकी परिणति इस युद्ध में हुई। इससे जहाँ एक ओर ब्रिटिश व्यापारिक हितों को बल मिला, वहीं दूसरी ओर ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा करना भी सरल हो गया।

बर्मा पर अधिकार करने का एक प्रमुख कारण यह था कि यह क्षेत्र अंग्रेजों के लिए पर्याप्त उपयोगी था। बर्मा से व्यापार के द्वार खुल गये। व्यापारियों की असुविधाएँ दूर हो गयीं तथा यह योजना भी बनायी जाने लगी कि चीन के साथ स्थल-मार्ग खोला जाये। इसके लिए दक्षिणी बर्मा पर अधिकार करना पहला कदम था।

तृतीय बर्मा युद्ध और समूचे बर्मा राज्य पर ब्रिटिश अधिकार

जैसा ऊपर कहा गया है, मिंडन के शासनकाल में उत्तरी बर्मा में शांति और सुव्यवस्था बनी रही। १८७८ में उसकी मृत्यु के बाद बर्मा में जिस प्रकार की राजनीतिक परिवर्तन हुए उनसे ब्रिटिश सरकार को हस्तक्षेप करने का अवसर मिल गया।

तृतीय बर्मा युद्ध और शेष बर्मी प्रदेश पर अंग्रेजों द्वारा अधिकार करने का विवरण अन्यत्र दिया जा रहा है। इससे यह साफ जाहिर हो जाता है कि एमहर्स्ट और डलहौजी तथा उनके बाद डफरिन ने प्रायः एक ही ढंग की नीति अपनायी। पड़ोस के कमजोर बर्मा राज्य पर आक्रमण करके उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किया।

●●●

तेरहवाँ अध्याय

पंजाब में सिख राज्य का उदय और इसका अन्त

अठारहवीं सदी में भारत में जिन अनेक शक्तियों का उदय हुआ उनमें से पंजाब का सिख राज्य प्रमुख था। प्रायः इस सदी के समाप्त होते-होते और उन्नीसवीं सदी के पहले दशक में एक नया सितारा चमका। जैसे महत्त्वाकांक्षी और सुयोग्य सेनानायकों का उदय भारत के अन्य क्षेत्रों में हुआ था उसी प्रकार के व्यक्ति ने पंजाब में एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना की। रणजीत सिंह जब तक शासन करता रहा सिख शक्ति का दबदबा कायम रहा। लेकिन रणजीत सिंह की मृत्यु के दस वर्षों बाद ही सिख राज्य समाप्त हो गया और पंजाब पर अंग्रेजों ने अधिकार कर लिया।

पंजाब में सिख शक्ति के उदय का इतिहास इस क्षेत्र में मुगल और अफगान प्रभाव के कमजोर होने से जुड़ा हुआ है। अहमदशाह अब्दाली ने पंजाब और इसके आसपास के इलाके पर अफगान सत्ता स्थापित करते समय मुगल सत्ता का वहाँ अन्त कर दिया था। १७७३ तक उसका नियंत्रण पंजाब पर बना रहा। लेकिन इस वर्ष, अब्दाली की मृत्यु हो जाने के उपरान्त उसका नियंत्रण भी पंजाब में क्षीण होने लगा। अब्दाली के अयोग्य उत्तराधिकारी पंजाब पर अफगान नियंत्रण कायम न रख सके। इस राजनीतिक और प्रशासनिक शून्यता की स्थिति में सिख सरदारों ने पंजाब के अलग-अलग क्षेत्रों में बारह सिख राज्य स्थापित कर लिये।

आरम्भ में इन बारह सिख राज्यों ने जो व्यवस्था की वह मिसल व्यवस्था कहलाई। यह एक प्रकार की लचीली संघीय व्यवस्था थी जो समान धर्म और समान राजनीतिक आवश्यकता के कारण चलायी गयी थी। ये बारह सिख राज्य वैसे तो स्वतंत्र थे लेकिन इन्हें हमेशा अफगानों तथा मुगलों का भय बना रहता था। मिसल व्यवस्था इस उद्देश्य से आरंभ की गयी थी कि किसी भी आक्रमण के समय ये सिख राज्य एक साथ मिलकर विरोधी का मुकाबला कर सकें। लेकिन ये छोटे राज्य किसी शक्तिशाली संघ की स्थापना नहीं कर सके। अठारहवीं सदी के अंतिम दशक में इन मिसलों में गहरे मतभेद दिखायी देने लगे। इन छोटे सिख राज्यों के सरदार जिस सत्ता-संघर्ष में व्यस्त हो गये उसके परिणामस्वरूप रणजीत सिंह को शक्ति बढ़ाने का मौका मिल गया।

१७९३ में जब जमनशाह अफगानिस्तान का शासक बना तो अपने पितामह के पदचिन्हों पर चलकर भारत की ओर आक्रमण करने और खोये हुए अफगान प्रदेशों को पुनः प्राप्त करने का बीड़ा उठाया। उसने १७९५, १७९६ और १७९८ में पंजाब तथा अन्य क्षेत्रों पर आक्रमण किये। उसने एक बड़ी सेना संगठित करके अफगानों के राज्य का विस्तार करने की योजना बनायी। लेकिन अफगानिस्तान में आंतरिक विद्रोहों के कारण जमनशाह

लंबे समय तक भारतीय प्रदेशों में नहीं रह सका। १७६७ में उसने लाहौर पर अधिकार तो कर लिया था। पर कुछ समय में उसे स्वदेश लौटना पड़ा।

सिख सरदार इस प्रकार के आक्रमणों का मुकाबला करने के लिए गुरिल्ला पद्धति ही अपनाते थे। वे विशाल सेना का मुकाबला सामने आकर नहीं करते थे। किसी भी आक्रमण के समय सिख सरदार और उनके साथी पहाड़ों की ओर भागकर छिप जाते थे और मौका देखकर अफगान सेना पर पीछे से हमला करके भाग निकलते थे। जब जमनशाह के हमले शुरू हुए उस समय भी मिसलों के सरदारों के सम्मुख यह प्रश्न आया कि इस स्थिति में क्या किया जाये। अफगान शासक का मुकाबला करने के लिए अधिकांश सिख सरदार तैयार नहीं थे। उन्होंने प्रस्ताव किया कि परंपरागत नीति के अनुसार वे पहाड़ों में भागकर छिप जायें। किंतु इन सरदारों की सभा में एक सत्रह वर्षीय नवयुवक भी था जिसने अफगान सेना का डटकर मुकाबला करने तथा मौके पर हमला करने का आह्वान किया। तुरंत स्थिति बदल गयी। परिस्थिति के अनुसार सिखों का एक नया नेता सामने आया। यह नेता रणजीत सिंह था जिसने अफगान आक्रमण के समय अपनी शक्ति बढ़ाना आरंभ कर दिया।

रणजीत सिंह का जीवन-परिचय और आरम्भिक सफलताएँ

रणजीत सिंह का जन्म १३ नवंबर, १७८० को हुआ था। उनके पिता महासिंह सुकेरचाकिया मिसल के सरदार थे। महासिंह गुजराँवाला के आसपास के छोटे से क्षेत्र के शासक थे। उनका राज्य अन्य सिख राज्यों की तुलना में छोटा था। उनकी मृत्यु अचानक ही हो गयी जिसके कारण बारह वर्ष की आयु में ही रणजीत सिंह इस मिसल का सरदार बन गया। रणजीत सिंह को आरम्भ से ही सैनिक जीवन से मोह था। युद्ध करने की कला वह बराबर सीखता गया। १७ वर्ष की उम्र में ही उसने छोटी सी सेना संगठित कर ली थी जिसने अफगानों से लोहा लेने में उसका पूरा साथ दिया।

अफगान सम्राट जमनशाह के आक्रमण से जो स्थिति पंजाब में उत्पन्न हुई उसका लाभ उठाकर रणजीत सिंह ने अपनी शक्ति बढ़ायी। १७६८ में जमनशाह ने पंजाब पर आक्रमण किया था। लाहौर पर उसका अधिकार हो गया था। लेकिन इस बार भी आंतरिक विरोध के कारण उसे स्वदेश लौटना पड़ा। जैसे ही अफगान सेनाएँ लौट रही थीं रणजीत सिंह ने अपनी सेना की सहायता से लाहौर पर अधिकार कर लिया। यह उसके जीवन की एक बड़ी चुनौती थी क्योंकि अभी तक भांगी सिख सरदार लाहौर पर अधिकार किये हुए थे। उन्हें हटाकर रणजीत सिंह ने पंजाब के इस प्रमुख शहर पर अधिकार किया था। उसके विरोधियों ने उसे अपदस्थ करने की कोशिश की। लेकिन वे इस प्रयास में सफल नहीं हुए। रणजीत सिंह की इस विजय से उसका प्रभाव बढ़ता गया। वह एक के बाद दूसरे राज्यों पर अपना अधिकार बढ़ाने लगा। कुछ ही वर्षों में वह सभी सिख सरदारों में प्रमुख सरदार हो गया।

बीस वर्षीय रणजीत सिंह ने १८०१ में 'पंजाब के महाराजा' की पदवी ग्रहण की। इसी से उसकी महत्त्वाकांक्षा का आभास मिल जाता है। सिखों की संघीय मिसल व्यवस्था

धीरे-धीरे कमजोर होने लगी थी। रणजीत सिंह ने इसे समाप्त करके पंजाब में एकतंत्रीय शासन स्थापित किया जिसका वह स्वयं ही आधार-स्तम्भ बना। उसके नेतृत्व और शक्ति के कारण ही पंजाब में एक नया सिख राज्य संगठित हुआ।

१७९९ से लेकर १८०५ तक रणजीत सिंह अपनी शक्ति बढ़ाता गया। छोटे-छोटे सिख राज्यों को अपनी ओर मिलाकर अथवा उनपर विजय प्राप्त करके उसने लाहौर के निकटवर्ती क्षेत्रों पर अधिकार करना शुरू कर दिया। इसके अलावा पड़ोस के अन्य राज्यों पर भी उसने कब्जा किया। इस समय की उसकी एक बड़ी सफलता थी अमृतसर पर अधिकार करना। लाहौर और अमृतसर पर अधिकार करके उसने सुदृढ़ आधार तैयार कर लिया। १८०५ तक जम्मू, नरवल, मिरोवाल, अकलगढ़, कासूर और कांगड़ा आदि क्षेत्र या तो उसके अधिकार में आ चुके थे अथवा इन राज्यों के शासक उसकी अधीनता स्वीकार कर चुके थे।

होल्कर का पंजाब में आगमन

१८०५ में प्रसिद्ध मराठा सरदार यशवंतराव होल्कर और रुहेला सरदार अमीर खाँ करीब पंद्रह हजार सैनिकों को लेकर पंजाब पहुँचे। इसके पूर्व वे दोनों सरदार ब्रिटिश सेना द्वारा पराजित हुए थे। वे इस आशा से पंजाब आये थे कि सिखों और अफगानों से सहायता प्राप्त करके वे दुबारा ब्रिटिश सेनाओं से मुकाबला कर सकेंगे। लेकिन ब्रिटिश सेना भी इनका पीछा करते हुए करनाल तक आ गयी थी। अंग्रेज सेनापति लेक ने रणजीत सिंह से पत्र लिखकर माँग की कि वह मराठा तथा रुहेला सरदारों को पंजाब में टिकने न दे और उन्हें पंजाब से बाहर खदेड़ दे।

रणजीत सिंह के लिए यह परीक्षा की घड़ी थी। एक ओर होल्कर उससे सहयोग करने को कह रहा था और दूसरी ओर ब्रिटिश सेना हस्तक्षेप करने के लिए तैयार खड़ी थी। पहली बार उसका अंग्रेजों से सम्पर्क हुआ। निर्णय करते समय उसने केवल यही ध्यान रखा कि उसका हित किस बात में था। रणजीत सिंह ने देखा कि ब्रिटिश सेना शक्तिशाली थी इसका विरोध करने पर उसे हानि हो सकती थी। रणजीत सिंह होल्कर और उसके सहयोगी की सेना से प्रभावित नहीं हुआ और इस कारण उसने होल्कर का साथ न देने का निश्चय किया। रणजीत सिंह और अन्य सिख सरदारों के पास इस समय साधारण सी सेना थी और उन्होंने विचार किया कि मराठों का साथ देना उचित नहीं होगा। निराश होकर होल्कर पंजाब से चला गया।

सतलज और यमुना के बीच का क्षेत्र

रणजीत सिंह का राज्य इस समय तक बहुत छोटा था और वह इसका विस्तार करने का अवसर तलाश रहा था। यह अवसर यमुना और सतलज के बीच के क्षेत्र में मराठों का प्रभाव समाप्त होने पर १८०६ में उसे मिला। इस इलाके में मराठों का प्रभाव समाप्त हो चुका था और अंग्रेज अभी भी यमुना नदी तक ही निर्धारित सीमा बनाये हुए थे। रणजीत

सिंह सतलज तक के राज्यों पर अपना प्रभाव जमा चुका था। अब उसने सतलज के पार के सिख मिसलों को अपने राज्य में मिलाकर अथवा उनपर प्रभाव जमाकर संगठित पंजाबी राज्य की स्थापना करने की योजना बनायी। रणजीत सिंह के लिए यह सुअवसर था और उसने पटियाला, नाभा, जिंद तथा अन्य छोटे राज्यों पर अधिकार जमाने के उद्देश्य से इन राज्यों के आपसी मतभेदों में रुचि दिखलायी। १८०६ और १८०७ में दो बार वह अपनी सेना के साथ इस ओर गया।

रणजीत सिंह की सतलज पार के सिख राज्यों की ओर बढ़ती हुई रुचि से ये सरदार चिंतित हो उठे। यह प्रायः स्पष्ट था कि लाहौर और अमृतसर क्षेत्र में अपनी शक्ति को संगठित करके वह सतलज पार के सिख राज्यों पर अधिकार करना चाहता था। रणजीत सिंह के प्रभाव से बचने के लिए पटियाला और जिंद के सरदारों ने दिल्ली के अंग्रेज रेजीडेंट से संपर्क स्थापित किया। अंग्रेजों से सहयोग करके उन्होंने रणजीत सिंह के राज्य विस्तार को रोकने की नीति अपनायी। इससे ब्रिटिश सरकार को पंजाब की ओर प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिल गया।

मिंटो की नीति

मिंटो को यमुना और सतलज के बीच के प्रदेश पर अंग्रेजों का प्रभाव स्थापित करने का मौका मिला। मिंटो पहले ही रणजीत सिंह के सतलज पार के इलाके पर प्रभाव जमाने के प्रयत्नों पर निगाह जमाये हुए था। अन्य सिख सरदारों ने अंग्रेजों को हस्तक्षेप करने का आग्रह किया तो यमुना पार के क्षेत्र में ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाने के लिए मिंटो तुरंत तैयार हो गया।

१८०७ में योरोप में टिलसिट की संधि पर हस्ताक्षर होने से पूर्व की ओर नेपोलियन की रुचि का प्रमाण ब्रिटिश सरकार को मिला तो तुरंत ब्रिटेन से मिंटो को सूचना भेजी गयी कि गवर्नर जनरल फ्रांसीसी आक्रमण के प्रति सजग रहे। ब्रिटिश सरकार की आशंका यह थी कि मध्य एशिया से होकर फ्रांसीसी सेनाएँ भारत की ओर बढ़ सकती थीं। मिंटो से कहा गया कि वह पंजाब की ओर ध्यान दे तथा मध्य एशिया की गतिविधियों पर नजर रखे। फ्रांस के आक्रमण के भय से भी मिंटो ने पंजाब की ओर ध्यान दिया।

गवर्नर जनरल ने निर्णय लिया कि लाहौर और काबुल के लिए ब्रिटिश मिशन भेजे जायें। १८०८ में चार्ल्स मेटकाफ को लाहौर भेजने का निश्चय किया गया। इस प्रकार अंग्रेजों और सिख राज्य के बीच सम्बन्धों का सूत्रपात हुआ। पंजाब की ओर अभी तक अंग्रेजों ने कोई स्पष्ट नीति नहीं अपनायी थी। मराठों का प्रभाव दिल्ली और उसके आसपास के क्षेत्रों में समाप्त हो चुका था और मेटकाफ मिशन भेजकर रणजीत सिंह से सीधा संपर्क स्थापित किया गया।

मेटकाफ शिष्टमंडल

सितंबर, १८०८ में मेटकाफ रणजीत सिंह के राज्य में पहुँचा। उसके शिष्टमंडल का

उद्देश्य था फ्रांस के संभावित आक्रमण के विरुद्ध रणजीत सिंह से सुरक्षात्मक संधि करना।

मेटकाफ के पंजाब आने से रणजीत सिंह के लिए पहली समस्या यह उत्पन्न हो गयी कि वास्तव में अंग्रेजों की नीति किस प्रकार की थी। ब्रिटिश सरकार ने एक साथ अफगानिस्तान और पंजाब के शासकों के साथ संपर्क करने के लिए प्रतिनिधि भेजे थे। अफगानों से सिखों का वैमनस्य था। पंजाब के शासक ने यह जानना चाहा कि गवर्नर जनरल के इरादे क्या थे।

रणजीत सिंह फ्रांस के संभावित आक्रमण के समाचार से न तो विचलित हुआ और न प्रभावित ही। आरंभ से ही उसने यही समझा कि इस प्रकार की शंका खड़ी कर देना अंग्रेजों की कोई चाल थी। मेटकाफ को इस प्रकार यह आभास होने लगा कि कूटनीतिक दाँव-पेंच में पंजाब का महाराजा भी अच्छा खिलाड़ी था। रणजीत सिंह की विशेष रुचि इस विषय में थी कि सतलज पार के राज्यों पर अधिकार करने का उसे अवसर मिल जाये। लेकिन इन क्षेत्रों को ब्रिटिश प्रभाव में लाने का निश्चय मिंटो पहले ही कर चुका था।

ऐसी स्थिति में मेटकाफ और रणजीत सिंह के बीच बातचीत में समय लगा। किसी राजनीतिक समाधान में विलंब होते देख रणजीत सिंह पर दबाव डालने की दृष्टि से फरवरी, १८०९ में औक्टरलोनी के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना को सतलज की ओर बढ़ने का आदेश दिया गया। यह स्पष्ट संकेत था कि यदि रणजीत सिंह अंग्रेजों के प्रस्तावों को स्वीकार नहीं करेगा तो सैनिक कार्यवाई के लिए भी अंग्रेज तैयार थे। फरवरी, १८०९ में लुधियाना पहुँचकर औक्टरलोनी ने सतलज पार के सिख सरदारों से संपर्क करके उन्हें सुरक्षा का आश्वासन दिया।

अमृतसर की संधि

अप्रैल, १८०९ में रणजीत सिंह और मेटकाफ के बीच जिस संधि की शर्तें तय हुईं वह इतिहास में अमृतसर की संधि के नाम से प्रसिद्ध है।

इस संधि के द्वारा अंग्रेजों और रणजीत सिंह के बीच स्थायी रूप से मित्रता बनाये रखने का निश्चय किया गया। इस संधि की मुख्य शर्त द्वारा रणजीत सिंह के राज्य की पूर्व की ओर की सीमा सतलज नदी तक निर्धारित कर दी गयी। रणजीत सिंह ने आश्वासन दिया कि सतलज पार से राज्यों पर प्रभाव बढ़ाने का प्रयास वह भविष्य में नहीं करेगा। अंग्रेजों ने भी वचन दिया कि सतलज के उत्तर-पश्चिम के पंजाब राज्य के मामलों में वे किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करेंगे। इस संधि द्वारा सतलज तक प्रभाव जमाने का अधिकार अंग्रेजों को मिल गया। अब यमुना नदी से आगे बढ़कर सतलज तक के क्षेत्र की सुरक्षा के लिए कदम उठाये गये। पंजाब राज्य और ब्रिटिश सीमा के बीच का अंतर समाप्त कर दिया गया।

जिन परिस्थितियों में रणजीत सिंह ने यह संधि की उससे साफ जाहिर होता है कि उसने दबाव में आकर ही यह संधि की। सतलज पार के राज्यों पर प्रभुता जमाकर एक

संगठित सिख राज्य स्थापित करने की उसकी महत्त्वाकांक्षा को अंग्रेजों ने पूरा नहीं होने दिया। वह अपने राज्य का विस्तार दिल्ली तक करना चाहता था लेकिन अब वह ऐसा नहीं कर सकता था। संधि के द्वारा अंग्रेजों ने अपनी सीमा का विस्तार सतलज तक कर लिया। अब ब्रिटिश सेना पंजाब की गतिविधियों पर निगाह रख सकती थी।

रणजीत सिंह का राज्य-विस्तार

इस संधि का परिणाम यह हुआ कि १८०६ के बाद रणजीत सिंह दक्षिण पूर्व की ओर राज्य विस्तार नहीं कर सकता था। किंतु कोई भी कुशल और योग्य नेता अपने लिए स्वयं रास्ता बना लेता है। रणजीत सिंह ने भी अमृतसर की संधि का उपयोग करने का निश्चय किया। अब वह जानता था कि अंग्रेज सतलज के उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। उसने इस सारे क्षेत्र में शक्ति-संगठन के उद्देश्य से तुरंत कदम उठाये। रणजीत यह भी नहीं चाहता था कि उसके सहयोगी संधि के फलस्वरूप निराश हों।

१८०६ में ही उसे उत्तरी सीमा के कांगड़ा राज्य पर सत्ता जमाने का अवसर मिला। यहाँ के राजा संसारचन्द्र पर गोरखों ने आक्रमण किया था। रणजीत सिंह ने आगे बढ़कर गोरखों के विरुद्ध उसकी सहायता की। इस कार्रवाई के फलस्वरूप कांगड़ा दुर्ग रणजीत सिंह के अधिकार में आ गया और संसारचन्द्र ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। इसके अलावा पहाड़ी क्षेत्र के अन्य राजाओं ने भी सिख महाराजा को कर देना स्वीकार कर लिया।

१८१३ में रणजीत सिंह की सेनाओं की अफगानों से मुठभेड़ हुई। इस युद्ध में रणजीत सिंह की विजय से उसकी सैन्य शक्ति का अंदाज लगाया जा सकता है। अटक पर उसका अधिकार इस विजय के बाद हो गया।

मुल्तान पंजाब के दक्षिण में एक समृद्ध राज्य था जिसपर सिख महाराजा कई बार आक्रमण कर चुका था। यहाँ के नवाब मुजफ्फर खाँ ने रणजीत सिंह की अधीनता भी स्वीकार कर ली थी। किंतु १८१८ में इस क्षेत्र पर अधिकार करने के निश्चय से एक बड़ी सेना मुल्तान भेजी गयी। किले पर सिखों का अधिकार हो गया तथा अफगानों के प्रभाव का अन्त कर दिया गया।

अब महाराजा एक बड़ी फौज लेकर कश्मीर की ओर १८१६ में बढ़ा। कश्मीर पर अफगानों का प्रभाव पहले से कमजोर हो चुका था। कश्मीर और अफगानिस्तान के बीच के मार्ग को उसने काट दिया था। कश्मीर का अफगान गवर्नर सिख सेना द्वारा पराजित हुआ। कश्मीर पर अधिकार रणजीत सिंह की महान् सफलता थी। अब उसके राज्य की सीमाएँ उत्तर में तिब्बत तथा चीन की सीमाओं तक पहुँच गयी थीं। कश्मीर पर शासन करने के लिए महाराजा ने एक गवर्नर नियुक्त किया।

कश्मीर पर अधिकार करने के बाद १८२१ में दक्षिण-पश्चिम के मंकेरा राज्य पर उसने आक्रमण किया। नवाब हाजिर अहमद खाँ का राज्य झेलम और सिंध के बीच के क्षेत्र

में सिंध सागर दोआव क्षेत्र में था। इस रेगिस्तानी इलाके में भी सिख सेना ने बहादुरी से युद्ध किया जिससे सिख महाराजा की इच्छा पूरी हो सकी।

१८२३ में सिख सेना पेशावर की ओर बढ़ी। अफगान सेना ने इसका डटकर मुकावला किया किंतु विजयश्री रणजीत सिंह के हाथ लगी। अपनी विजयी सेनाओं के साथ महाराजा पेशावर पहुँचा। यह उसके लिए गौरवशाली अवसर था जब उसने इन शहर पर कब्जा कर लिया। राज्य का विस्तार पेशावर तक १८३४ में किया गया। उस समय पेशावार को सिख राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार पंजाव राज्य की सीमा सुदूर उत्तर-पश्चिम तक पहुँच गयी थी।

सिखों और अंग्रेजों के सम्बन्ध (१८०६ से १८३६ तक)

रणजीत सिंह के अंग्रेजों के साथ संबंधों को दो भागों में बाँटा जा सकता है-- १८०६ से १८३१ तक तथा १८३१ से १८३६ तक। पहले काल में अंग्रेजों और सिखों के बीच कोई विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न नहीं हुई। सतलज के पश्चिम के राज्यों ने अंग्रेजों से रणजीत सिंह के खिलाफ अपील की। उन्होंने अमृतसर की सीमा संवंधी शर्त के अनुसार किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। रणजीत सिंह को इस प्रकार राज्य-विस्तार करने में कोई अवरोध नहीं था। रणजीत सिंह ने भी निष्ठापूर्वक संधि के अनुसार कार्य किया। इस समय अंग्रेज भी अन्य भारतीय क्षेत्रों में साम्राज्य-विस्तार में व्यस्त थे। अतः उन्होंने पंजाब के मामलों में अधिक रुचि नहीं दिखायी।

दूसरे काल में कुछ समस्याएँ अवश्य आयीं। रणजीत सिंह से कई बार सम्वन्ध स्थापित किये गये, समझौते हुए। लेकिन विशेषता यह है कि उसके और अंग्रेजों के बीच अच्छे संबंधों का आधार अमृतसर की संधि लगातार बनी रही। यह स्पष्ट है कि तीस वर्षों तक इस संधि को वनाये रखने का प्रयास दोनों ओर से किया गया। इसके कई कारण थे। पहला तो यह कि रणजीत सिंह की सैन्य शक्ति और कुशल शासन-व्यवस्था से पंजाब में पूर्ण शांति थी और इस समय अंग्रेजों को हस्तक्षेप का मौका नहीं मिला। दूसरे रणजीत सिंह की ईमानदारी से प्रत्येक गवर्नर जनरल प्रभावित रहा और उन्होंने सिख महाराजा से दोस्ती बनाये रखी। तीसरे, रणजीत सिंह भी अंग्रेजों की शक्ति से इतना प्रभावित था कि अपनी ओर से उसने ऐसा कोई भी कदम नहीं उठाया जिससे अंग्रेज अप्रसन्न होते।

१८३१ के बाद रणजीत सिंह और अंग्रेजों के बीच सिंध एक पेचीदे प्रश्न के रूप में आया। पंजाब में अब तक सिख महाराजा अपना राज्य संगठित कर चुका था और पंजाब के दक्षिण की ओर के सिंध क्षेत्र को अधिकार में लेने को लालायित था। सिंध के अमीर कमजोर थे और वे सिख सेना का अधिक समय तक विरोध करने की स्थिति में नहीं थे। रणजीत सिंह ने अमृतसर की संधि के विषय में मत देते हुए कहा कि सतलज को सीमा स्वीकार किया गया था लेकिन सुदूर दक्षिण तक राज्य-विस्तार करने का उसे पूरा अधिकार प्राप्त था।

कोई सैनिक कार्यवाही करने के पूर्व रणजीत सिंह ने सिंध के विषय में अंग्रेजों का मत जान लेना उचित समझा। इस समय तक गवर्नर जनरल सजग हो चुका था। विलियम बेंटिंक

को ब्रिटेन की सरकार ने पंजाब और सिंध पर ध्यान रखने के लिए इस कारण लिखा था कि अफगानिस्तान और परशिया पर प्रभाव जमाने की अंग्रेजों की योजना में ये दोनों राज्य कभी भी महत्त्वपूर्ण सिद्ध हो सकते थे। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज रणजीत सिंह के प्रति जागरूक रहे।

अक्टूबर, १८३१ में रूपड़ में रणजीत सिंह और विलियम बेंटिंक की भेंट हुई। विलियम बेंटिंक ने रणजीत सिंह से मुलाकात करके उसे सिंध के अमीरों तथा अंग्रेजों के बीच व्यापारिक संबंधों की सूचना दी। सिख महाराजा ने बार-बार यह चाहा कि सिंध पर प्रभुत्व स्थापित करने के बारे में गवर्नर जनरल कोई प्रस्ताव करें किंतु भेंट पूरी होने तक भी दोनों राज्याध्यक्ष एक दूसरे के रुख को समझने में सफल न हो सके।

रूपड़ की भेंट के बाद सिंध पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ता ही गया। एक ओर अंग्रेजों ने सिख महाराजा को बार-बार राय दी कि वह पंजाब की सीमा लाँघ कर सिंध की ओर न बढ़े और दूसरी ओर सिंध के अमीरों को यह भय दिखाया गया कि रणजीत सिंह उनके राज्यों पर हमला करना चाहता था और केवल अंग्रेजों की ताकत से उनकी रक्षा हो सकती थी। निदान, सिंध के अमीर अंग्रेजों के प्रभाव में आते गये और सिख महाराजा ने सिंध की ओर राज्य बढ़ाने का अवसर खो दिया। अंग्रेजों की इच्छा के विरुद्ध उसने सिंध पर आक्रमण करना उचित नहीं समझा। यही उसकी भारी भूल साबित हुई।

आकलैंड के भारत आते ही अफगानिस्तान से संबंध बनाने का प्रयास किया गया। अफगानिस्तान के प्रति किसी भी ब्रिटिश नीति से अंग्रेजों और सिखों के संबंधों पर असर पड़ा। १८३८ में जब आकलैंड ने अफगानस्तिान पर आक्रमण करने का निश्चय किया तो सबसे पहले उसका ध्यान रणजीत सिंह की ओर गया। उसका सहयोग अंग्रेजों के लिए परम आवश्यक था। १८३८ की त्रिगुट संधि के लिए तो रणजीत सिंह राजी हो गया लेकिन अपने हितों का उसने पूरा ध्यान रखा। रणजीत सिंह ने किसी बड़ी सिख सेना के अफगान आक्रमण में भाग लेने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और न ही उसने ब्रिटिश सेना को पंजाब से होकर अफगानिस्तान जाने की अनुमति प्रदान की। किंतु उसके सीमित सहयोग से भी अंग्रेजों को संतुष्ट होना पड़ा। सिख सेना ने प्रथम अफगान युद्ध में अपने उत्तरदायित्व को पूरी तरह निभाया।

रणजीत सिंह की शासन-व्यवस्था

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में संपूर्ण भारत में निरंकुश शासन-व्यवस्था ही प्रचलित थी। रणजीत सिंह के शासन में भी महाराजा ही सत्ता का केन्द्र-बिंदु था। राज्य की शक्तियाँ उसी के हाथ में केंद्रित थीं। रणजीत सिंह ने देश में प्रचलित परंपरा को ही अपनाया। किसी नयी व्यवस्था को अपनाने की न तो उसमें प्रतिभा थी और न उसे इस प्रकार का कोई प्रशिक्षण ही मिला था।

राजतंत्र का स्वरूप

शासन का स्वरूप एकतंत्रीय था। स्वयं महाराजा के हाथ में शासन के समस्त

अधिकार थे। वह प्रत्येक विषय पर अंतिम निर्णय लेता था और राज्य के प्रत्येक अधिकारी का यह परम कर्तव्य होता था कि वह निष्ठापूर्वक उसकी आज्ञाओं का पालन करे। शासन के सब अधिकारी उसकी कृपा पर निर्भर रहते थे। इन अधिकारियों पर वह पूरी निगरानी रखता था। यह उसकी इस पद्धति से और भी अधिक स्पष्ट होता है कि उसने राज्य के बड़े-से-बड़े अधिकारियों को भी संपत्ति एकत्रित करने का अवसर नहीं दिया। प्रत्येक अधिकारी की मृत्यु होने पर उसकी सारी संपत्ति को जब्त कर लिया जाता था और उसके परिवार को केवल आवश्यकता के अनुसार धनराशि दे दी जाती थी। रणजीत सिंह ने नियुक्तियाँ करते समय अथवा बड़े-बड़े पदों का उत्तरदायित्व सामंतों को देते समय केवल योग्यता का ही ध्यान रखा। ऐसा नहीं था कि केवल सिखों को ही ये पद दिये गये हों। इसके विपरीत उसने सामंतों के बीच भी संतुलन बनाये रखा और प्रत्येक वर्ग अथवा समुदाय के लोगों की नियुक्तियाँ कीं। शासन का क्षेत्र संकुचित नहीं था और महाराजा ने एक विशाल और शक्तिशाली राज्य की स्थापना करते समय सभी समुदायों और वर्गों को सेवा करने का अवसर दिया।

महाराजा का पद ग्रहण करने के बाद भी रणजीत सिंह ने स्वेच्छाचारी ढंग से शासन नहीं किया। विशेष रूप से उसने यह कहा कि वह सिखों के धार्मिक संघ 'खालसा' के प्रतिनिधि के रूप में ही कार्य कर रहा था। इसी कारण वह किसी बड़े राजसिंहासन पर नहीं बैठता था। कनिंघम ने यह मत प्रस्तुत किया है कि अपने प्रत्येक कार्य द्वारा महाराजा ने यह प्रदर्शित किया कि वह गुरु के लिए तथा सिख समुदाय के हित में कार्य कर रहा था। आज्ञापत्र जारी करते समय उसने केवल 'सरकार' अथवा 'सरकार खालसा' शब्द का ही प्रयोग किया। राजकीय मोहर पर उसने 'श्री अकाल सहाय' लिखवाया तथा सिक्कों पर भी 'नानक सहाय' या 'गोविंद सहाय' लिखा रहता था। रणजीत सिंह के नाम से सिक्के नहीं चले। प्रभावशाली आडंबरपूर्ण पदवियों को उसने कभी भी ग्रहण नहीं किया। सिखों की भावनाओं का हमेशा उसने आदर किया।

राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करके महाराजा प्रजा के कष्टों को व्यक्तिगत रूप से सुनता था। शिकायतों की छानबीन करके वह आवश्यकता पड़ने पर संबंधित अधिकारियों के साथ सख्ती से पेश आता था। रणजीत सिंह के शासन की यह विशेषता थी कि वह किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता था। प्रत्येक धर्म के माननेवालों को पूरी आजादी दी जाती थी। उच्चतम पदों पर उसने हर धर्म और सम्प्रदाय के व्यक्तियों की नियुक्ति की। सेना और प्रशासन में किसी संप्रदाय-विशेष को अकारण महत्त्व नहीं दिया गया।

महाराजा केन्द्रीय शासन के संचालन के लिए पाँच मंत्रियों की नियुक्ति करता था जो प्रत्येक विषय पर उसे सलाह देते थे। इन मंत्रियों में सबसे प्रमुख पद वजीर का था जो मुख्यमंत्री होने के कारण अन्य मंत्रियों से अधिक शक्तिशाली होता था। ध्यान सिंह महाराजा का प्रसिद्ध वजीर था। वजीर के बाद अन्य महत्त्वपूर्ण मंत्री वैदेशिक मंत्री था। फकीर अजीउद्दीन ने इस पद पर कार्य किया। प्रधान सेनापति महाराजा का सुरक्षा मंत्री था। इसी

प्रकार वित्त मंत्री की भी नियुक्ति की जाती थी। भवानीदास और दीनानाथ इन दोनों वित्त-मंत्रियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त बारह अलग विभाग भी बनाये गये थे जो शासन के विभिन्न कार्यों की व्यवस्था करते थे।

सूबों का शासन

राज्य में चार प्रमुख प्रांत थे जो सूबे कहलाते थे। कश्मीर, मुल्तान, पेशावर और लाहौर सूबे राज्य-शासन की प्रमुख इकाई थे। इनके अतिरिक्त सरदार और जागीरदारों को भी जागीरों का प्रबंध करने की स्वतंत्रता दी गयी थी। प्रत्येक सूबे में कई परगने थे और ये परगने तालुकों में विभाजित थे। हर तालुक में पचास से लेकर सौ तक मौजे थे। प्रशासन की सुविधा के अुनसार अथवा लगान वसूल करने की आवश्यकता के कारण यह वर्गीकरण किया गया था। महाराजा का मुख्य कृपापात्र ही सूबे का अधिकारी बनाया जाता था जो नाजिम कहलाता था तथा दूसरा मुख्य अधिकारी कारदार था। कारदार सूबे के किसी निश्चित भाग के शासन की निगरानी रखता था और प्रायः प्रत्येक कार्य का निरीक्षण करता था। स्थानीय शासन के लिए पंचायतों का संगठन किया जाता था।

वित्तीय प्रशासन

राज्य की लगभग तीन करोड़ रुपया वार्षिक आय में से दो करोड़ रुपया भूमि-कर से प्राप्त होता था। इस प्रकार भूमि-कर राज्य की आमदनी का प्रमुख साधन था और महाराजा को लगान वसूल करने का ध्यान रखना पड़ा। किसान की उपज के तैंतीस प्रतिशत भाग से लेकर पचास प्रतिशत भाग तक राज्य वसूल करता था। यह माँग अन्य प्रशासनों की तुलना में कहीं अधिक थी। कर-निर्धारण की पद्धति राज्य के विभिन्न भागों में अलग-अलग थी। १८२३ तक बँटाई के अनुसार राज्य द्वारा आय वसूल की जाती थी। बँटाई का तरीका यह था कि जब फसल को काटकर खलिहानों में जमा कर लिया जाता था तो राज्य के अधिकारी इस फसल का राजकीय भाग जमा कर लेते थे। इस प्रकार अनाज की वसूली करके राज्य का भूमि कर प्राप्त किया जाता था। इस व्यवस्था में यह दोष पाया गया कि खलिहानं में फसल का बँटवारा करने के लिए बड़ी संख्या में अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ती थी तथा फसल की निगरानी करनी पड़ती थी। १८२३ में भूमि-कर वसूल करने की कांकूत पद्धति अपनायी गयी जिसकी मुख्य विशेषता यह थी कि खड़ी फसल के आधार पर ही राज्य की माँग निर्धारित कर दी जाती थी और इसी आधार पर किसान को अनाज जमा करना पड़ता था। इन दोनों तरीकों में भूमि-कर अनाज के रूप में वसूल किया जाता था, धन के रूप में नहीं। कुछ वर्षों बाद किसानों को धन जमा करने के लिए कहा गया परंतु इस सम्बन्ध में कठोरता नहीं दिखायी गयी।

भूमि-कर के अतिरिक्त राज्य ने आय के अन्य साधन अपनाये। सीमा-शुल्क और आबकारी कर दो अन्य मुख्य कर थे। राज्य के प्रत्येक भाग में चौकियाँ बनी हुई थीं जो हर प्रकार का माल लाने अथवा ले जाने के समय शुल्क वसूल करती थीं। प्रायः प्रत्येक वस्तु पर यह कर लगाया जाता था और कई स्थानों पर सीमा-शुल्क देना पड़ता था। नमक के

उत्पादन पर राज्य का एकाधिकार था और नमक-कर से भी राज्य को आमदनी होती थी। जागीरों से भी राज्य को आमदनी होती थी।

न्याय-व्यवस्था

न्याय के लिए किसी प्रकार का लिखित विधि-संग्रह नहीं था। परम्परा और रीति-रिवाजों के आधार पर न्याय होता था। प्रत्येक धर्मावलंबी को उसके धर्म के नियमों के अनुसार न्याय किये जाने की व्यवस्था रणजीत सिंह ने की। इस प्रकार मुसलमानों का न्याय काजी करते थे।

न्याय पूरे राज्य में एक प्रकार का नहीं था। न्याय का ढंग स्थानीय था। प्रत्येक अपराध करने पर भारी जुर्माना देना पड़ता था। कुछ लेखकों ने इसी कारण कहा है कि न्याय-प्रणाली भी राज्य की आमदनी का साधन थी। किसी भी अपराधी के लिए सजा कम की जा सकती थी अगर अपराधी अधिक धन दंड के रूप में देने को तैयार हो।

महाराजा व्यक्तिगत रूप से हर प्रकार की अपीलें सुनते थे और अन्तिम निर्णय देते थे। न्याय करने के लिए अलग से अधिकारियों की नियुक्ति नहीं की जाती थी। नाजिम और कारदार विभिन्न प्रान्तों में न्याय करते थे। गाँवों की पंचायतें भी सक्रिय ढंग से कार्य करती थीं। प्रत्येक जागीरदार भी अपने-अपने क्षेत्रों में न्याय करते थे।

सेना का प्रबंध

एक विशाल और शक्तिशाली सेना संगठित करने की ओर रणजीत सिंह ने आरंभ से ही ध्यान दिया। राज्य-विस्तार के लिए तथा राज्य की सुरक्षा के लिए सेना की आवश्यकता का उसे ज्ञान था। सेना संगठित करने और प्रशिक्षित करने में उसने विशेष रुचि दिखायी।

रणजीत सिंह ने यूरोपीय ढंग से सिख सेना का संगठन किया। पैदल सेना, अश्वारोही सेना और तोपखाना उसकी सेना के तीन प्रमुख अंग थे। उसने सेना के इन तीनों अंगों को शक्तिशाली बनाने की कोशिश की। आरंभ में ऐसी धारणा थी कि पैदल सैनिक युद्ध के लिए विशेष उपयोगी नहीं थे। युद्ध के समय इन सैनिकों को पीछे छोड़ दिया जाता था। लेकिन कंपनी की सेना को देखकर सिख महाराजा ने पैदल सेना के महत्त्व को समझा। पैदल सेना को उसने अच्छा वेतन दिया तथा उसे प्रशिक्षित करने के लिए यूरोपीय अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। १८११ में सिख सेना में पैदल सैनिकों की संख्या लगभग चार हजार थी। रणजीत सिंह की मृत्यु के छह वर्ष बाद १८४५ में यह सेना सत्तर हजार से भी अधिक थी। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उसकी पैदल सेना की संख्या किस प्रकार से बढ़ती रही। पैदल सेना ही सिख सेना का मुख्य अंग बन गयी। इसकी तुलना में घुड़सवार सैनिकों की संख्या काफी कम रही। १८४५ में ही सिख सेना में लगभग छह हजार घुड़सवार थे।

रणजीत सिंह ने कंपनी की सेना और भारतीय राज्यों के बीच हुए युद्धों को देखकर तोपखाने के महत्त्व को समझा। उसने शक्तिशाली तोपखाना बनाये रखने के हर प्रकार के

उपाय किये। महाराजा ने तोपों तथा अन्य प्रकार के शस्त्रों का निर्माण करने के लिए लाहौर में कारखानों की स्थापना की। इसी प्रकार के कारखाने राज्य के अन्य भागों में स्थापित किये गये।

रणजीत सिंह की सफलताएँ

आधुनिक भारत के इतिहास में रणजीत सिंह एक महान् नेता, संगठनकर्ता तथा कुशल सेनानायक के रूप में प्रमुख स्थान रखता है। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में पंजाब छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। ये राज्य किसी भी प्रबल शक्ति के विरुद्ध अपनी रक्षा करने की स्थिति में नहीं थे। रणजीत सिंह ने इन छोटे राज्यों के स्थान पर पंजाब में शक्तिशाली और विशाल राज्य की स्थापना की।

अफगानों का प्रतिरोध करना रणजीत सिंह का एक मुख्य कार्य था। पंजाब यदि छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित रहता तो अफगानों की शक्ति कश्मीर, उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत और पंजाब में स्थापित हो जाती। यह भी सम्भावना थी कि ये भाग भारतीय क्षेत्र से अलग होकर अफगानों के प्रभाव में हो जाते। कमजोर छोटे राज्य जिस कार्य को पूरा नहीं कर सके उसे रणजीत सिंह द्वारा संगठित राज्य ने पूरा किया। उसने पंजाब क्षेत्र से अफगान प्रभाव का अंत किया। इसके अतिरिक्त सिख महाराजा ने अटक, पेशावर और कश्मीर में भी अफगानों की शक्ति को समाप्त किया। कई युद्धों में उसने अफगान सेना को पीछे हटने पर मजबूर किया और इन प्रदेशों को सिख राज्य में मिला लिया गया। अफगानों और सिखों के बीच घमासान युद्ध हुए जिनमें सिख सेना प्रायः विजयी रही।

रणजीत सिंह ने सिखों में आत्मविश्वास जगाया। उन्हें संगठित करने में उसने असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया। उसके संगठन का आधार था सैन्य शक्ति। पंजाब में युद्ध में बहादुरी दिखाने की प्रवृत्ति पहले से ही थी। यहाँ के निवासी अस्त्र-शस्त्र चलाने में निपुण थे। लेकिन व्यक्तियों के इन गुणों से ही किसी राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण नहीं हो जाता। इतिहास में कई ऐसे अवसर आते हैं जब कोई कुशल नेता व्यक्तियों के गुणों का लाभ उठाकर उन्हें सामूहिक शक्ति के रूप में संगठित करता है। रणजीत सिंह ने पंजाब में जनभावना को उत्साहित करके ऐसा ही ऐतिहासिक कार्य किया। विशाल सेना को संगठित करके उसने शक्तिशाली राज्य की नींव डाली और इस राज्य की सुरक्षा के लिए पंजाब के निवासियों को सब कुछ न्योछावर करने के लिए प्रेरित किया।

एक सफल सेनानायक के रूप में तो वह प्रसिद्ध है ही किंतु सफल प्रशासक के गुणों का भी उसने परिचय दिया। महाराजा ने जाति अथवा धर्म के आधार पर शासन-कार्य नहीं किया। उसका लक्ष्य यही था कि प्रत्येक धर्म तथा सम्प्रदाय के लोग राज्य को शक्तिशाली बनाने में योगदान करें। सिखों को राज्य में प्रधानता मिली हुई थी। परंतु किसी भी अन्य धर्म के माननेवाले को भी उसने उच्चतम पदों पर नियुक्त किया। इसका अर्थ यह हुआ कि सिख गुरु तथा खालसा के प्रति श्रद्धावान होते हुए भी उसने राज्य के अन्य वर्गों के प्रति किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि वह 'पंजाबी

राष्ट्रवाद" का संचार करने में सफल रहा और यही उसका परम लक्ष्य था।

अंग्रेजों से रणजीत सिंह ने अमृतसर की संधि कर ली थी। जिस समय उसने यह संधि की थी उस समय महाराजा अपनी शक्ति संगठित करने के लिए अवसर की तलाश कर रहा था। अतः उस समय अंग्रेजों से संघर्ष करना बुद्धिमानी न होती। लेकिन राज्यविस्तार कर लेने तथा सेना को संगठित कर लेने के बाद भी उसने ब्रिटिश सरकार से मित्रता बनाये रखी। यह एक विवाद का प्रश्न है कि उसकी मित्रता का आधार क्या था। कुछ लेखकों का कहना है कि वह ब्रिटिश शक्ति से भयभीत था। उसने समझ लिया था कि अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष करने से उसे कोई लाभ नहीं था। परिस्थिति से समझौता करके उसने यथार्थवादी रुख अपनाया। डाक्टर नरेन्द्रकृष्ण सिन्हा का कथन है कि किसी भी राजनीतिक मित्रता में एक घोड़ा होता है और एक आरोही। अंग्रेजों और रणजीत सिंह की मित्रता में ब्रिटिश सरकार आरोही तथा रणजीत सिंह घोड़ा था। कहने का अर्थ यह है कि ब्रिटिश सरकार ने हर प्रकार से इस मित्रता से लाभ उठाया और रणजीत सिंह ने प्रत्येक अवसर पर अंग्रेजों की इच्छा से ही कार्य किया। सिंध और अफगानिस्तान की घटनाओं से दोनों के बीच की मित्रता का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है।

रणजीत सिंह यह भली भाँति जानता था कि अंग्रेज उसके राज्य पर दाँत गड़ाए हुए थे। वह कहा करता था 'सब लाल हो जायेगा'। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि ब्रिटिश सरकार के प्रभाव का विरोध करने के लिए उसने हिचकिचाहट क्यों दिखायी। ऐसा मालूम पड़ता है कि वह बराबर रक्षापरक नीति अपनाता रहा। जब वह यह जानता था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति और सिखों में संघर्ष अवश्यम्भावी था तो फिर वह जीवन भर किस स्थिति की प्रतीक्षा करता रहा। युद्ध और राजनीति में समय रक्षापरक नीति के अनुगामी का साथ नहीं देता। पंजाब में भी ऐसा हुआ। रणजीत सिंह की मृत्यु के बाद दस वर्षों में ही उसका राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

अंग्रेजों और सिखों के बीच दो युद्ध तथा सिख राज्य का अंत

१८३९ में रणजीत सिंह की मृत्यु से महाराजा का पद केवल रिक्त ही नहीं हुआ बल्कि शून्य हो गया। सिख राज्य के संस्थापक की मृत्यु के बाद इसे बनाये रखने के लिए न तो योग्य महाराजा ही थे और न ही मंत्रियों में इसे कुशलतापूर्वक बनाये रखने की योग्यता थी। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों में ही सिखों और अंग्रेजों के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गयी। उन परिस्थितियों पर हमें विचार करना है जिनसे रणजीत सिंह के बाद केवल दस वर्षों में ही यह राज्य समाप्त हो गया। सिखों की बदलती हुई राजनीति के साथ ही अफगान युद्ध के पश्चात् सिख राज्य के प्रति अंग्रेजों की राजनीति में परिवर्तन हुआ और पंजाब की अस्थिरता का लाभ उठाकर उन्होंने इसे अपने अधिकार में कर लिया।

शक्तिहीन उत्तराधिकारी

रणजीत सिंह के सात पुत्रों में आरम्भ से ही कटुता बनी हुई थी और प्रत्येक राजकुमार महाराजा बनने का स्वप्न देखने लगा। सबसे पहले जून, १८३९ में रणजीत सिंह

के बड़े पुत्र खड़क सिंह को उसका उत्तराधिकारी स्वीकार किये जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। लेकिन चौदह महीनों के शासन के उपरांत नवंबर, १८४० में उसकी मृत्यु हो गयी। खड़क सिंह के गुणों से कोई भी प्रभावित नहीं हुआ था। वह हमेशा अफीम की धुन में रहता था। लेकिन खड़क सिंह का पुत्र नौनिहाल सिंह, जो अभी युवा ही था, नये महाराजा की शक्ति का आधार था। इस समय ब्रिटिश सेना अफगान आक्रमण में व्यस्त थी। नौनिहाल सिंह ने अफगानिस्तान पर आक्रमण के समय स्वयं सिख सेना का नेतृत्व किया था। ब्रिटिश सेना ने अफगानिस्तान पर अधिकार करके जब यह निश्चय किया कि कुछ सेना लौटेगी तथा शेष वहीं रह जायेगी तो सेना को वापस करने तथा शेष फौजी दस्ते के साथ संपर्क बनाये रखने के लिए महाराजा से सहयोग की माँग गवर्नर जनरल ने की। महाराजा न तो गवर्नर जनरल को अप्रसन्न करना चाहता था और न ही पंजाब से होकर विदेशी सेना को लौटने के लिए अनुमति देने के पक्ष में था। अंत में खड़क सिंह ने यह स्वीकार कर लिया कि सेना लाहौर के मुख्य मार्ग से न लौटाकर डेरा इस्माइल खाँ के घुमावदार रास्ते से लौटे। सैनिक सामग्री भेजने के लिए भी इसी मार्ग का उपयोग करने को कहा गया। इस महाराजा के समय में भी अंग्रेजों के साथ अच्छे संबंध बनाये रखने की दृष्टि से ही वे सुविधाएँ प्रदान की गयी थीं।

नवंबर, १८४० में खड़क सिंह की मृत्यु के बाद ही एक दर्दनाक दुर्घटना हुई। प्रायः सुनिश्चित था कि नौनिहाल सिंह अपने पिता के स्थान पर महाराजा बनेगा। लेकिन जब नौनिहाल सिंह अपने पिता का दाह संस्कार करके लौट रहा था तो एक द्वार के भाग के गिर जाने से उसे गहरी चोट लगी और उसकी मृत्यु हो गयी। नौनिहाल सिंह एक कुशल सेनानायक था और उसके नेतृत्व में सिख राज्य की शक्ति अवश्य बढ़ती। किंतु उसे शासक बनने का अवसर ही नहीं मिला।

सिख राज्य में राजनीतिक गतिविधियाँ इसके बाद तेज होने लगीं। रणजीत सिंह का दूसरा पुत्र शेर सिंह महाराजा बनने में सफल हुआ। शेर सिंह एक कमजोर शासक साबित हुआ। वह न तो अच्छा सैनिक ही था और न अच्छा शासक ही। उसकी एक और कठिनाई यह बनी रही कि लोग उसे रणजीत सिंह का पुत्र मानने में संदेह करते थे। दरबार में उसका कोई प्रभाव नहीं था। उसके समय से ही प्रमुख सरदारों में संघर्ष बढ़ा तथा सेना की शक्ति बढ़ने लगी। सिंधियानवाला सरदारों की हिम्मत इतनी बढ़ गयी कि उन्होंने सितंबर, १८४३ में महाराजा शेर सिंह की हत्या कर दी। महाराजा पर उस समय आक्रमण किया गया जब वह फौजी दस्ते का निरीक्षण कर रहा था। महाराजा के साथ ही उसका पुत्र मार डाला गया और उसी दिन डोगरा सरदार ध्यान सिंह की भी हत्या कर दी गयी। ध्यान सिंह रणजीत सिंह का विशेष कृपापात्र था और १८३९ से ही वह सिख राज्यों के वजीर के पद पर निष्ठापूर्वक कार्य कर रहा था।

इसके पश्चात् लाहौर दरबार में हत्याओं का सिलसिला चल पड़ा और प्रत्येक व्यक्ति

सत्ता हाथ में लेने के लालच में अपने विरोधी की हत्या के लिए तैयार हो गया। शेर सिंह की मृत्यु के बाद महाराजा के पद के लिए रणजीत सिंह के सबसे छोटे नौ वर्षीय पुत्र दलीप सिंह को चुना गया तथा अन्य राजकुमारों के अधिकार को स्वीकार नहीं किया गया। इस कठिन समय में, जब सेना और शासन में अस्थिरता तथा अराजकता बढ़ रही थी, तो एक योग्य शासक की आवश्यकता थी। बच्चे को रणजीत सिंह के सिंहासन पर बैठा देने से महाराजा के पद का महत्त्व ही समाप्त हो गया। दलीप सिंह केवल दिखावे के लिए एक शासक था और यह स्थिति छिपाई भी नहीं जा सकती थी। दलीप सिंह के संरक्षक के रूप में रणजीत सिंह की पत्नी रानी जिंदन राज्य की प्रमुख शक्ति बन गयीं। लेकिन जिंदन का पंजाब की जनता पर तथा सेना पर कोई प्रभाव नहीं था। उसका चरित्र भी अच्छा नहीं था और रानी के सम्बन्ध में उस समय भी लोग तरह-तरह की खबरें फैलाते थे। राज्य में इसके अलावा कोई अन्य योग्य व्यक्ति नहीं था जो विगड़ती हुई स्थिति को सुधार सकता। ऐसी स्थिति में सिख राज्य की शक्ति को बनाये रखना बहुत ही कठिन हो गया।

प्रमुख सरदारों में संघर्ष

१८३९ से १८४६ के बीच सरदारों के संघर्ष में प्रमुख भूमिका जम्मू के डोगरा राजपूत सरदारों ने निभायी। ये सरदार सिख नहीं थे जिससे कई बार सिख सरदारों ने मिलकर डोगरों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकना चाहा। इन सरदारों में प्रमुख तीन भाई थे- ध्यानसिंह, सुचेत सिंह और गुलाब सिंह। ध्यान सिंह ने सेना में उच्च स्थान प्राप्त किया था तथा रणजीत सिंह के समय ही उसका प्रमुख मंत्री बन गया था। मृत्यु के समय संस्थापक महाराजा ने ही उसे अपने पुत्र खड़क सिंह का मुख्य सलाहकार नियुक्त किया। १८३९ से १८४३ तक ध्यान सिंह का प्रभाव राज्य में बना रहा। अंग्रेज अधिकारियों ने अपने पत्रों में ध्यान सिंह की योग्यता तथा कुशल राजनीति की प्रशंसा की है। डोगरा सरदारों के हाथ में सतलज से लेकर काश्मीर तक का राज्य था जिससे उन्होंने संपत्ति एकत्र की तथा अपनी सेना को भी संगठित किया। गुलाब सिंह स्वयं जम्मू पर अधिकार किये हुए था।

सिंधियानवाला सिख सरदारों ने डोगरा राजपूतों के बढ़ते हुए प्रभाव का विरोध किया। अजीत सिंह और अत्तर सिंह ने अपनी सैनिक शक्ति बढ़ायी और अवसर पाकर १८४३ में महाराजा शेर सिंह तथा डोगरा सरदार ध्यान सिंह की हत्या करके सत्ता हाथ में लेने का प्रयास किया। किंतु सिंधियानवाला सरदारों का सेना पर प्रभाव नहीं था। ध्यान सिंह के पुत्र हीरा सिंह ने तुरंत कार्यवाही करके सेना को अपने पक्ष में कर लिया। कुछ समय तक हीरा सिंह वजीर बना रहा और राज्य की सत्ता उसके हाथ में रही। हीरा सिंह ने सिंधियानवाला सरदारों से बदला लेने की दृष्टि से अजीत सिंह, लहना सिंह तथा उनके छह सौ साथियों को मौत के घाट उतार दिया। सत्ता के संघर्ष में हत्याओं का क्रम जो एक बार आरंभ हुआ वह लगातार चलता रहा। राजनीतिक संघर्ष ने पंजाब में वीभत्स रूप ग्रहण कर लिया।

१८४३ से दरबार में रोज एक के बाद दूसरे संघर्ष आरंभ हो गये। दिसंबर, १८४४ में हीरा सिंह की भी हत्या कर दी गयी। रानी जिंदन का पक्ष धीरे-धीरे मजबूत होता दिखा।

अब हीरा सिंह के स्थान पर रानी जिंदन का भाई जवाहर सिंह प्रमुख मंत्री वना। इस समय तक सेना की शक्ति इतनी बढ़ गयी थी कि उसके कहने के अनुसार सितंबर, १८४५ में जवाहर सिंह को मृत्युदंड दे दिया गया। केवल महाराजा का पद ही सर्वथा शक्तिहीन नहीं हो गया था बल्कि उसके साथ ही १८४५ के अंत तक यह भी स्पष्ट हो गया था कि महाराजा की सत्ता को चलाने के लिए कोई योग्य मंत्री तक नहीं था। संघर्ष इतना भयावह हो गया था कि जव डोगरा राजपूत सरदार गुलाब सिंह को प्रमुख मंत्री पद सँभालने के लिए कहा गया तो वह राजी नहीं हुआ, इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि प्रथम सिख युद्ध के समय सिख राज्य का कोई अध्यक्ष ही नहीं था। राज्य योग्य नेतृत्व से पूर्णतया शून्य हो गया। सिख राज्य की अवनति के चिन्ह प्रथम युद्ध के आरंभ के पहले से ही दिखायी देने लगे थे।

शासन-व्यवस्था का लोप

इस राजनीतिक संघर्ष का परिणाम यह हुआ कि रणजीत सिंह ने जिस सिख राज्य को संगठित करने के लिए इतना परिश्रम किया था वह हर प्रकार से अवनति की दिशा की ओर उन्मुख हुआ। राज्य में शासन-व्यवस्था धीरे-धीरे समाप्त होने लगी।

रणजीत सिंह द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था का आधार था केन्द्र की शक्ति। महाराजा इस शासन की धुरी था जिसके द्वारा सारा शासन संचालित होता था। उसके अयोग्य और शक्तिहीन उत्तराधिकारियों के सत्ता सँभालने पर यह आधार ही समाप्त हो गया। एक अन्य संभावना यह भी थी कि सत्ता के संघर्ष के बाद कोई अन्य मंत्री ही सत्ता हथियाने में सफल हो जाता। लेकिन सिख राज्य में ऐसा भी नहीं हुआ। राजनीतिक अस्थिरता व्यापक होती गयी और १८४५ तक शासन हर प्रकार से निर्बल हो गया। दरबार के अधिकारी संघर्ष में लगे हुए थे। शासन की देखरेख करने की उन्हें फुरसत नहीं थी। राज्य में अराजकता बढ़ने लगी।

शासन की इस कमजोरी का सबसे अधिक प्रभाव राज्य की अर्थ-व्यवस्था पर पड़ा। राज्य की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ गयी। कर एकत्रित करना भी कठिन हो गया। कोई ऐसा अन्य स्रोत भी नहीं था जिससे राज्य को धन उपलब्ध हो सके। शासन जब आर्थिक व्यवस्था को सुधारने की स्थिति में नहीं रह गया तो उसके सामने एक कठिन समस्या यह आ गयी कि विशाल सेना का खर्च किस प्रकार पूरा किया जाये। सैनिक अधिक से अधिक वेतन की माँग कर रहे थे और उनको संतुष्ट करने की योग्यता दरबार के किसी प्रमुख व्यक्ति में नहीं थी।

सिख सेना का बढ़ता हुआ प्रभाव

रणजीत सिंह ने एक विशाल सेना का संगठन किया था जो उसके प्रति निष्ठावान् थी। महाराजा ने यह ध्यान नहीं रखा था कि उसके बाद के उत्तराधिकारियों को इस सेना पर प्रभाव बनाये रखना कठिन हो जायेगा। कमजोर शासक सिख सेना पर अधिकार रखने की स्थिति में नहीं थे। सैन्य शक्ति राजनीतिक शक्ति से प्रवल हो गयी।

रणजीत सिंह के पश्चात् की राजनीतिक अस्थिरता, सत्ता के संघर्ष और महाराजा की कमजोरी का प्रभाव सेना पर पड़ा। शेर सिंह के शासनकाल से ही सेना की शक्ति बढ़ने लगी थी। अब महाराजा सेना की सहायता से पद को सँभालना चाहता था तथा सत्ता के संघर्ष में भाग लेनेवाले और सभी सरदारों ने भी सेना में अपना प्रभाव जमाना शुरू कर दिया तो राज्य की बदलती हुई राजनीतिक स्थिति में सेना राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रकट हुई। महाराजा उसकी इच्छानुसार बनने और बदलने लगे तथा प्रमुख मंत्रियों और दरबारियों ने भी सेना की सहायता की याचना की। प्रत्येक पक्ष सहायता करने के बदले कुछ शर्तें रखता है। सिख सेना ने राजनीतिक परिवर्तनों के युग में कभी एक पक्ष को और कभी दूसरे पक्ष को सहायता देना आरंभ कर दिया।

जब दीवानी शासन करनेवाले सेना पर प्रभुत्व रखने की स्थिति में होते हैं उसी समय सुचारुरूप से शासन करना सम्भव होता है। इसके विपरीत जब सेना ही सिख शासन का सबसे शक्तिशाली स्तम्भ बन गयी तो शासन करना ही कठिन हो गया। सेना की शक्ति बढ़ने के कारण सिख शासन और राज्य की शान्ति-व्यवस्था शोचनीय हो गयी।

एक अन्य कारण से भी सेना का प्रभाव घातक सिद्ध हुआ। सेना में भी योग्य अधिकारी नहीं रह गये थे। रणजीत सिंह के शासनकाल में ही मुखमचंद, दीवानचंद, रामदयाल तथा हरी सिंह नलवा ऐसे अनुभवी सैनिक अधिकारियों की मृत्यु हो चुकी थी। जो सैनिक अधिकारी बचे हुए थे वे न तो योग्य थे और न राज्य के प्रति ईमानदार ही। नेतृत्वविहीन सेना शांति के समय अनुशासनहीन हो गयी और युद्ध के दौरान कुशल नेतृत्व न होने से सेना कारगर ढंग से युद्ध न कर सकी।

शेर सिंह के शासनकाल के दौरान ही सिख खालसा के नाम पर सेना ने प्रजातांत्रिक तरीकों से कठिन और पेचीदे राजनीतिक मसलों पर निर्णय देना आरंभ कर दिया तथा खालसा-संघ-व्यवस्था का निर्णय मानने के लिए महाराजा को बाध्य किया। सेना की पंचायतों में इस प्रकार राज्य के गंभीर प्रश्नों पर विचार किया जाने लगा। अनियंत्रित सैन्य शक्ति सिख राज्य के लिए एक खतरा बन गयी और प्रथम सिख युद्ध के समय इसे दिशा देने की क्षमता किसी भी सिख महाराजा अथवा मंत्री में नहीं थी।

अंग्रेजों की बदली हुई राजनीति

जब १८४२ में एलनबरो ने गवर्नर जनरल का कार्यभार सँभाला उस समय से ब्रिटेन की सरकार पंजाब की ओर विशेष रूप से ध्यान देने लगी। प्रथम अफगान युद्ध के दौरान ब्रिटिश सेना को जो दुर्दिन देखना पड़ा था उससे अंग्रेजों की आँखें खुल गयीं। अफगानिस्तान के इस अनुभव के साथ-साथ पंजाब में अस्थिरता बढ़ने से भारत की सरकार का ध्यान उत्तर-पश्चिम की ओर गया। विषम स्थिति को देखते हुए पंजाब और अफगानिस्तान की ओर की सीमा को 'सबसे कमजोर सीमा' कहा जाने लगा।

ब्रिटिश सरकार पंजाब राज्य की अव्यवस्था पर ध्यान लगाए हुए थी। सतलज की सीमा पर स्थित अंग्रेज अधिकारियों को दरबार की गतिविधियों के विषय में विस्तृत रिपोर्ट

समय-समय पर भेजते रहने को कहा गया। सिख राज्य में होनेवाली घटनाओं से गवर्नर जनरल भली-भाँति परिचित था। यह विचार करना शुरू कर दिया गया कि सिख राज्य में बढ़ती हुई अस्थिरता से लाभ उठाने के लिए भारत सरकार किस प्रकार की नीति अपनाये।

विस्तृत समाचार प्राप्त करके गवर्नर जनरल तथा अन्य प्रमुख अधिकारी इस आधार पर नीति अपनाने पर विचार करने लगे कि सिख राज्य विघटन के कगार पर खड़ा था। राज्य के छिन्न-भिन्न होने की घड़ी में ब्रिटिश सरकार की भूमिका पर बार-बार विचार किया जाने लगा।

यह स्पष्ट है कि सतलज के उस पार की घटनाओं के प्रति तथा सिख राज्य में बढ़ती हुई अराजकता से उत्पन्न कठिनाइयों के विषय में ब्रिटिश सरकार पूर्णरूप से सतर्क थी। अंग्रेजों ने यह विचार किया था कि सिख राज्य की घटनाओं के परिणामस्वरूप उन्हें सैनिक हस्तक्षेप करना होगा। ऐसे सीमावर्ती राज्य में होने वाली घटनाओं के प्रति अंग्रेज उदासीन नहीं रह सकते थे। यदि १८४२ के बाद भी वे कुछ वर्षों तक तटस्थ रहे और उन्होंने सिख राजनीति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया तो यह एक सुविचारित और सुनियोजित योजना थी। अफगानिस्तान में ब्रिटिश सेना को जो मुँह की खानी पड़ी थी उससे अंग्रेज सजग थे। उन्हें यह मालूम था कि रणजीत सिंह द्वारा तैयार की गयी सेना से भिड़ने के लिए ठीक समय चुनना जरूरी था। यदि ब्रिटिश सरकार ने कुछ समय प्रतीक्षा करने के पश्चात् ही सिख राज्य में हस्तक्षेप किया तो इसके दो कारण थे। पहला यह कि अंग्रेजों का अनुमान था कि सिख राज्य की कठिनाइयाँ बढ़ती जायेंगी। उन्होंने ऐसी स्थिति में सिखों से युद्ध करना तय किया जब उनके निजी मतभेद उग्र हो उठें। दूसरे, अंग्रेज अपनी तैयारी पूरी कर लेना चाहते थे। १८४२ से १८४५ के बीच सिखों से युद्ध करने की तैयारियाँ ब्रिटिश सरकार ने पूरी कर लीं।

सतलज-स्थित ब्रिटिश सेना की तैयारियाँ तेज कर दी गयीं। यह इसी से स्पष्ट हो जाता है कि जब हार्डिंज गवर्नर जनरल होकर भारत आया था उस समय पंजाब सीमा पर जुलाई, १८४४ में सत्रह हजार सैनिक थे। यह सेना सिखों से मुकाबला नहीं कर सकती थी। एक वर्ष के अंदर ही इस सेना की संख्या बढ़ाकर चालीस हजार कर दी गयी। पहले सीमा पर ६६ तोपें थीं जिन्हें बढ़ाकर ९४ कर दिया गया। सिख राज्य और अंग्रेजी राज्य की सीमा सतलज के जिस क्षेत्र पर मिलती थी वहाँ पर सेना का यह भारी जमाव पूर्णरूप से स्पष्ट करता है कि अंग्रेज युद्ध की पूरी तैयारी १८४५ तक कर चुके थे।

हार्डिंज भारत में आते ही सिखों के साथ युद्ध करने की संभावना पर विचार करने लगा। पूरी सैनिक तैयारी करके १८४५ में वह आश्वस्त हो चुका था कि ब्रिटिश सेना शीघ्र होनेवाले युद्ध में रणकुशलता का अच्छा परिचय देगी। जनवरी, १८४५ के एक पत्र में हार्डिंज ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वह युद्ध करने को तत्पर था। लेकिन अपनी कठिनाई को स्पष्ट करते हुए उसने लिखा कि आखिर किस बहाने सिखों पर आक्रमण किया जाये। उसे मालूम था कि सिख राज्य से अंग्रेजों के अच्छे संबंध रहे थे और कठिन परिस्थितियों

में सिखों ने अंग्रेजों का साथ दिया था। अतः अपने मित्र राज्य पर चढ़ाई करने के पूर्व गवर्नर जनरल उचित बहाने की तलाश में ही था और जैसे ही उसे मौका मिला, उसने युद्ध आरंभ करने में एक दिन का भी विलंब नहीं किया।

प्रथम सिख युद्ध के कारण

१८३६ से १८४५ तक की सिख राज्य की घटनाओं का विवरण देते हुए हमने उन कारणों की विस्तृत विवेचना की है जिनसे प्रथम सिख युद्ध आरम्भ हो गया। ये कारण थे: (१) रणजीत सिंह के कमजोर उत्तराधिकारी, (२) प्रमुख सरदारों में संघर्ष, (३) शासन-व्यवस्था का लोप, (४) सिख सेना का बढ़ता हुआ प्रभाव और (५) अंग्रेजों की बदलती हुई राजनीति। ऊपर हम स्पष्ट कर चुके हैं कि इन्हीं कारणों से दोनों पक्षों में मुठभेड़ की स्थिति उत्पन्न हो गयी।

शक्तिहीन उत्तराधिकारियों के होने से केन्द्र द्वारा शासन को जो आधार मिला हुआ था वह रणजीत सिंह के बाद अचानक समाप्त हो गया। राज्य में कुशल नेतृत्व यदि राजा न दे सका तो अन्य कोई सैनिक अधिकारी अथवा मंत्री भी सत्ता सँभाल सकता था। हमने विचार किया है कि पंजाब राज्य में मंत्रियों, सरदारों और सैनिक अधिकारियों में व्याप्त मतभेदों के फलस्वरूप तथा हत्याओं के कारण कोई भी व्यक्ति सत्ता को उचित ढंग से न सँभाल सका। दरबार में राजनीतिक सरगर्मियाँ बढ़ने से सिख राज्य में भय और आतंक का बोलबाला हो गया। राज्य में शासन-व्यवस्था एक प्रकार से विलीन हो गयी जिसका प्रभाव अर्थ-व्यवस्था पर भी पड़ा। इन सारी परिस्थितियों में रणजीत सिंह द्वारा संगठित विशाल सेना अधिक से अधिक बलवती होती गयी। जब सेना सत्ताधिकारियों को नचाने लगी तो पूरे राज्य में फिर कौन-सी शक्ति बच गयी थी जो व्यवस्था स्थापित करती। सिख राज्य में व्याप्त उस अराजकता से लाभ उठाकर अंग्रेज गवर्नर जनरल इस सीमावर्ती राज्य पर अधिकार करके अफगानिस्तान की ओर अपना प्रभुत्व बढ़ाने के तरीकों पर विचार करने लगे। उन्होंने यह समझ लिया कि शक्ति-संघर्ष के बिना सिख राज्य विलीन नहीं हो सकता था। अंग्रेज सोचने लगे कि सिख राज्य का विघटन हो रहा है तो फिर इस अनिश्चितता की स्थिति को समाप्त करने का निर्णय गवर्नर जनरल ने किया। इस प्रकार अंग्रेजों ने युद्ध को एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर १८४५ तक युद्ध की तैयारियाँ पूरी कर लीं।

अंग्रेजी सेना के सतलज की सीमा पर भारी जमाव से सिख दरबार चुप नहीं बैठ सकता था। ब्रिटिश सेना की सारी गतिविधियों की सूचना लाहौर में भी मिलती रही और इन सैनिक तैयारियों से सिख सेना भड़क उठी। ब्रिटिश शासकों ने सेना की संख्या को पंजाब सीमा पर बहुत अधिक बढ़ाकर युद्ध को उकसाने की कार्यवाही की। सिख सेना पहले से ही अंग्रेजों के इरादों से शंकित थी और निकटवर्ती क्षेत्र में सेना के जमाव से उनका रोष बढ़ा। फरवरी, १८४५ में सिंध नदी के द्वारा नावों का एक बहुत बड़ा बेड़ा सतलज तक पहुँचा। प्रत्येक नाव में एक तोप लगी थी और नावें मिलकर नदी को पार करने के लिए पुल का कार्य कर सकती थीं।

युद्ध का आरम्भ

स्थिति धीरे-धीरे गंभीर होती गयी। सिख दरबार के प्रतिनिधि ने सेना के जमाव का कारण बार-बार जानने की कोशिश की। किन्तु अंग्रेजों की ओर से यही कहा गया कि ये रक्षात्मक तैयारियाँ थीं। अन्त में सिख सेना ने आगे बढ़कर सतलज को पार करके युद्ध आरम्भ करना ही उचित समझा। इस प्रकार दिसंबर, १८४५ में अंग्रेजों और सिखों के बीच पहला युद्ध आरम्भ हो गया। गवर्नर जनरल हार्डिंज ने भी तुरन्त युद्ध की घोषणा कर दी।

कासूर के निकट पचास हजार सिख सेना ने सतलज को पार करके आगे बढ़ने का निश्चय किया। वजीर लाल सिंह और सेनापति तेज सिंह इस सिख सेना का नेतृत्व कर रहे थे। सिख सेना के भारी संख्या में आगे बढ़ने का निर्णय युद्ध की दृष्टि से सिखों के लिए कारगर सिद्ध हो सकता था क्योंकि अंग्रेजी सेना पूरे क्षेत्र में बिखरी हुई थी और किसी एक स्थान पर सिखों के अचानक आक्रमण को रोकने की स्थिति में नहीं थी।

दोनों सेनाओं की पहली टक्कर फीरोजपुर के निकट मुदकी नामक स्थान में हुई। यह युद्ध मध्य रात्रि तक चलता रहा। हालाँकि सिख सेना को पीछे हटना पड़ा था फिर भी इस आरंभिक संघर्ष से यह स्पष्ट हो गया कि यह सेना डटकर युद्ध करने योग्य थी। रणजीत सिंह ने जिस सेना को तैयार किया था उसपर विजय पाना कोई आसान काम नहीं था।

अंग्रेजों ने इसके बाद युद्ध की तैयारियाँ तेज कर दीं। भारी संख्या में सेना को सतलज सीमा की ओर भेजा गया। दिसंबर, १८४५ में ही फीरोजशहर का युद्ध सिख सेना के लिए परीक्षा की घड़ी था। २१ और २२ दिसंबर को दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। युद्ध अभी चल ही रहा था और ब्रिटिश सेना जिस समय थकी हुई थी, तेज सिंह दूसरी फौजी टुकड़ी के साथ युद्धस्थल के निकट आ गया। यह सेना बहुत मौके पर आयी थी। लेकिन तेज सिंह ने अवसर का लाभ नहीं उठाया और सेना को पीछे हट जाने को कहा। ब्रिटिश सेना को फीरोजपुर की ओर लौट जाने का अवसर मिल गया। तेज सिंह ने अपनी कमजोरी से एक सुनहरा अवसर खो दिया।

इसके बाद फरवरी, १८४६ में सैबरौन में पुनः जमकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में अंग्रेजों की विजय निर्णायक सिद्ध हुई। अब सिख सेना कमजोर होती गयी और अंग्रेज अपनी गति को बनाये रखने में सफल हुए। सिखों को पराजित होकर संधि के लिए तैयार होना पड़ा।

लाहौर की संधि (मार्च, १८४६)

अंग्रेजों और सिखों के बीच इस संधि द्वारा युद्ध को समाप्त किया गया। सिख राज्य के भविष्य के बारे में महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। तेरह वर्षीय सिख महाराजा दलीप सिंह को संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए गवर्नर जनरल के खेमे में लाया गया। युद्ध के समय ही गुलाब सिंह का प्रभुत्व दरबार में बढ़ बया और लाहौर दरबार की ओर से संधि की शर्तों पर बातचीत करने के लिए उसे नियुक्त किया गया था।

संधि करते समय गवर्नर जनरल ने एक मुख्य निर्णय यह लिखा कि समूचे सिख राज्य

पर ब्रिटिश अधिकार न किया जाये। सिख राज्य को मिला लेने का उत्तरदायित्व स्वीकार करने के लिए वह तैयार नहीं था।

इस संधि के द्वारा सतलज नदी के दोनों किनारों पर ब्रिटिश अधिकार को सिख राज्य ने स्वीकार किया। इसके साथ ही सतलज और व्यास के क्षेत्र पर भी अंग्रेजों का अधिकार हो गया।

गुलाब सिंह के साथ अलग से संधि करके उसे जम्मू और कश्मीर का भाग दे दिया गया और अंग्रेजों ने गुलाब सिंह को यहाँ का महाराजा स्वीकार किया। इस प्रकार सिख राज्य से अलग करके नये डोगरा राज्य की स्थापना हुई।

सिख सेना को पूर्णरूप से निर्वल वनाने के उद्देश्य से संधि के अंतर्गत यह तय किया गया कि भविष्य में लाहौर दरबार अधिक से अधिक ३२ हजार सैनिक रख सकेगा।

प्रथम सिख युद्ध के परिणाम

इस युद्ध के परिणामस्वरूप सिख राज्य की दो-तिहाई भूमि उसके हाथ से निकल गयी। जम्मू और कश्मीर में एक नये डोगरा राज्य की स्थापना करके सिख राज्य को छिन्न-भिन्न करने की दिशा में अंग्रेजों ने कदम उठाया। रणजीत सिंह ने जिस शक्तिशाली सेना का निर्माण किया था उसने विरोधी परिस्थितियों में भी इस युद्ध में अपनी वीरता का अच्छा परिचय दिया था। लेकिन युद्ध के बाद यह सेना बहुत कमजोर हो गयी। कुछ सेना तो नष्ट हो गयी और बाकी सैनिकों को पदमुक्त कर दिया गया। लाहौर दरबार को सीमित संख्या में ही सेना रखने का अधिकार था। इस निर्णय से सिखों की शक्ति बहुत घट गयी।

जहाँ प्रथम युद्ध के पश्चात् सिख राज्य सैनिक रूप से निर्वल हो गया वहीं उसकी राजनीतिक स्वतंत्रता में भी बाधा उपस्थित हुई। युद्ध के बाद अंग्रेज लाहौर पर छा गये। केवल अंग्रेज रेजीडेंट ही नहीं, ब्रिटिश सेना भी लाहौर में रहने लगी और सिखों की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगी।

१८४६ के पश्चात् लाहौर में सिख राज्य का संचालन करने के लिए जो व्यवस्था स्थापित की गयी वह हर प्रकार से अपंग थी। न तो सिख महाराजा प्रशासन करने में स्वतंत्र था और न सिख दरबार ही। धीरे-धीरे लाहौर दरवार की सत्ता उसके हाथ से निकलकर ब्रिटिश रेजीडेंट के हाथों में चली गयी।

सिखों के लिए यह एक आपत्ति का समय था। उनके राज्य के लिए संकट के बादल उमड़ते हुए दिखाई दे रहे थे। लेकिन इस घड़ी में भी सिख एकजुट होकर किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व में अंग्रेजों का मुकाबला करने की कोई योजना न बना सके। प्रथम सिख युद्ध की समाप्ति पर भी सिख राज्य में कोई नया नेता नहीं उभरा। अवसर का लाभ उठाकर डलहौजी ने सिखों पर दूसरा युद्ध थोपा जिससे समूचे सिख राज्य का अंत करने का उसे १८४६ में अवसर मिल गया। तीन वर्ष में ही बचा हुआ सिख राज्य ध्वस्त हो गया।

दूसरा सिख युद्ध (नवंबर, १८४८)

१८४६ से १८४८ तक की घटनाओं का अध्ययन करके यह समझा जा सकता है कि इतने थोड़े से समय में ही दुबारा युद्ध किस प्रकार भड़क उठा।

सिख राज्य पर ब्रिटिश प्रभाव निरंतर बढ़ता गया। गवर्नर जनरल ने संधि करके राज्य को तो बनाये रखा लेकिन यह राज्य स्वतंत्र रूप से शासन संचालित नहीं कर सकता था। दिसम्बर, १८४६ में अंग्रेजों ने लाहौर दरबार के साथ बातचीत करके मार्च की संधि की शर्तों के साथ ही कुछ अन्य शर्तें जोड़ दीं। रानी जिंदन के प्रभाव से अंग्रेज चिंतित हो रहे थे। उसे पेंशन देकर केवल शासन से ही अलग नहीं किया गया बल्कि रानी को बनारस में रहने के लिए कह दिया गया जिससे वह सिख राज्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर सके। दिसंबर, १८४६ से ब्रिटिश रेजीडेंट सिख राज्य के शासन की देख-रेख करने लगा। अब ब्रिटिश सरकार ही दलीप सिंह की संरक्षक बन गयी। ब्रिटिश रेजीडेंट की इच्छानुसार ही आठ मंत्री शासन का कार्यभार चलाने के लिए नियुक्त किये जाने लगे। ब्रिटिश सेना, जो अस्थायी तौर से लाहौर में रखी गयी थी, उसे और अधिक समय तक लाहौर में रखने का निश्चय किया गया। इन प्रशासकीय परिवर्तनों द्वारा जहाँ एक ओर सिख राज्य के शासन पर अंग्रेजों का प्रभाव स्थापित हो गया, वहीं दूसरी ओर सिख नेताओं का प्रभाव पंजाब राज्य पर घटता गया।

इस परिस्थिति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि लाहौर दरबार किसी भी प्रकार से अंग्रेजों का विरोध नहीं कर सकता था। अंग्रेजों के विरोध में संघर्ष करने के लिए कोई घटना लाहौर से दूर सिख राज्य के किसी प्रान्त में ही हो सकती थी। द्वितीय सिख युद्ध के पूर्व ऐसा ही हुआ।

मार्च, १८४८ में जो घटना मुल्तान में घटी उसने शीघ्र ही द्वितीय युद्ध का रूप ग्रहण कर लिया। ब्रिटिश रेजीडेंट की सलाह पर लाहौर दरबार ने मुल्तान के गवर्नर मूलराज पर दबाव डाला और उसे अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। मूलराज के स्थान पर नया गवर्नर नियुक्त किया गया। गवर्नर को शासन में सहायता देने के लिए दो अधिकारी भी नियुक्त किये गये। जब नया गवर्नर और उसके अंग्रेज सहायक १५०० सैनिकों के साथ मुल्तान पहुँचे तो मूलराज के सैनिक उत्तेजित हो उठे। उन्होंने दोनों अंग्रेज अधिकारियों को मार डाला। इस घटना से यह स्पष्ट हुआ कि ब्रिटिश प्रभाव के विरोध में सिख सेना में रोष बढ़ रहा था। मूलराज ने मुल्तानी सेना का नेतृत्व ग्रहण किया तथा लाहौर से आयी सेना भी मुल्तानी सेना से मिल गयी। सिख राज्य के दक्षिणी भाग में हुए इस सफल विद्रोह से यह प्रकट हो गया कि ब्रिटिश सेना और सिखों में कभी भी पुनः मुकाबला हो सकता था। डलहौजी इसी समय गवर्नर जनरल होकर भारत आया था। किंतु उसने तुरन्त हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा। वह जानता था कि विद्रोह के उग्र होने पर ही पंजाब में हस्तक्षेप करने का अवसर उसे मिलेगा।

पंजाब के हजारा प्रांत में भी विद्रोह आरंभ हो गया। यह विद्रोह भी अंग्रेजों की

हस्तक्षेप की नीति के कारण हुआ। उस प्रांत में स्थित रेजीडेंट के सहायक ने गवर्नर छत्तर सिंह को हटाकर उसकी जागीर पर कब्जा करने का निर्णय किया। निदान छत्तर सिंह और उसके पुत्र शेर सिंह ने इसका विरोध किया। शेर सिंह और मूलराज के सैनिकों ने मिलकर अंग्रेजों के खिलाफ शक्ति-संचय करना आरंभ कर दिया। अन्य अत्तारवाला सरदारों ने भी सिख सेना के संगठन में सहयोग किया।

डलहौजी ने तुरंत इस संगठित सिख सेना के खिलाफ कार्यवाही करने का फैसला किया। उसके लिखे हुए पत्रों से पता चलता है कि वह ऐसे मौके की प्रतीक्षा में ही था। लाहौर राज्य की ओर से हजारा के विद्रोह का दमन करने के लिए २४ हजार सैनिक ब्रिटिश सेनापति की अधीनता में भेजे गये। यह सेना रावी नदी को पार करके आगे बढ़ी और अंग्रेजों तथा सिखों के बीच दूसरा सिख युद्ध आरंभ हो गया। यहाँ यह कहना आवश्यक मालूम होता है कि दूसरे युद्ध की परिस्थितियाँ तथा इस युद्ध का स्वरूप पहले से कहीं अधिक भिन्न था। सिखों की ताकत बहुत कम हो चुकी थी और अंग्रेजों को यह भली-भाँति मालूम था कि किसी भी सैनिक कार्यवाही में लाहौर दरबार दर्शक मात्र बना रहेगा। अंग्रेजी सेना सिख राज्य के अंदर ही थी और गवर्नर जनरल का आदेश मिलते ही वह आगे बढ़ी।

सिख सरदार युद्ध के समय सैनिक शस्त्रों तथा संख्या दोनों ही तरह से विपक्षी सेना के मुकाबले में कमजोरी अनुभव कर रहे थे। इस कारण उन्होंने चेनाब और झेलम के बीच के क्षेत्र को युद्ध के लिए उपयुक्त समझा। यहाँ की घाटियों और घने जंगलों के बीच सिख सेना को विपक्षी सेना का विरोध करने का मौका था। दोनों पक्षों में शक्ति की असमानता के कारण सिखों में निराशा व्याप्त थी।

चिलियानवाला में जनवरी, १८४९ में जो युद्ध हुआ उसमें ब्रिटिश सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी। इसलिए अधिक तैयारी करके ब्रिटिश सेना दूसरी मुठभेड़ के लिए तैयार हुई। गुजरात नामक स्थान पर सिख पराजित हुए। बची हुई सेना के साथ शेरसिंह ने झेलम पार के क्षेत्र में शरण ली। शीघ्र ही अत्तारवालिया सरदारों द्वारा पराजय स्वीकार किये जाने पर डलहौजी ने युद्ध-समाप्ति की घोषणा कर दी। शेरसिंह को भी पकड़कर कलकत्ता भेज दिया गया। इस प्रकार संपूर्ण पंजाब पर ब्रिटिश सेना का कब्जा हो गया।

सिख राज्य पर अंग्रेजों का अधिकार

मार्च, १८४९ में गवर्नर जनरल की एक घोषणा द्वारा पंजाब में सिख राज्य समाप्त कर दिया गया और दलीप सिंह महाराजा के अधीनस्थ सारे राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। इस प्रकार सिख सेना की पराजय के तुरंत बाद बिना किसी प्रकार का विलंब किये हुए डलहौजी ने व्यक्तिगत रूप से पंजाब पर अंग्रेजी झंडा फहराने का निश्चय किया। बड़े गर्व के साथ उसने स्वदेश में अपने मित्र को सूचना भेजी कि पंजाब की हर इंच भूमि अंग्रेजों के कब्जे में कर ली गयी है।

यह स्मरणीय रहेगा कि पंजाब राज्य का अंत करने का निर्णय डलहौजी ने स्वयं

लिया। वह जानता था कि इंग्लैंड में इस प्रश्न पर मतैक्य नहीं था। यह भी संभव था कि डलहौजी को पंजाब पर अधिकार की अनुमति न मिलती। इस कठिनाई से बचने के लिए ही उसने इतना उतावलापन दिखाया और पंजाब पर अधिकार कर लेने के बाद इंग्लैंड सूचना भेजी गयी। इसीलिए पंजाब पर अधिकार करने की इतनी जल्दी की गयी। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि डलहौजी जिस प्रकार से भी संभव हो सके, पंजाब पर अधिकार करना चाहता था और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करने वालों में सर्वप्रमुख स्थान पाने के लिए कृतसंकल्प था।

डलहौजी की नीति इस प्रकार पूर्णरूप से स्पष्ट हो जाती है। उत्तर-पश्चिमी सीमा तक अंग्रेजों की शक्ति को बढ़ाने के लिए उसने बची हुई सिखों की ताकत को कुचल देने का निश्चय किया। लाहौर दरबार वैसे ही बहुत निस्तेज हो चुका था। वह अंग्रेजों के निर्णय का विरोध नहीं कर सकता था। दलीप सिंह को भी पंजाब के बाहर रख दिया गया और धीरे-धीरे उसका प्रभाव भी पंजाब पर समाप्त हो गया।

●●●

चौदहवाँ अध्याय

विलियम बैंटिंक का शासन

जुलाई १८२८ से मार्च १८३५ तक के विलियम बैंटिंक के सात वर्षों के शासनकाल के दौरान प्रशासनिक ढांचे में बदलाव लाने के साथ-साथ भारतीयों के कल्याण की ओर ध्यान देने की नीति अपनायी गयी। गवर्नर जनरल द्वारा अपनायी गयी ऐसी नीति के दो कारण थे। तत्कालीन परिस्थितियाँ ही ऐसी थीं कि गवर्नर जनरल को युद्ध और साम्राज्य विस्तार की नीति छोड़कर कुछ समय के लिये शांति बनाए रखना पड़ा। पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल ने पहले बर्मा युद्ध के समय इतना अधिक खर्च कर दिया था कि बैंटिंक को घाटे को दूर करना जरूरी हो गया था। गवर्नर जनरल को ये निर्देश दिये गये थे कि वह कंपनी की आर्थिक स्थिति को सुधारे। दूसरा कारण जिसने विलियम बैंटिंक की नीतियों को प्रभावित किया, यह था कि वह स्वयं ब्रिटेन में प्रचलित राजनीतिक सिद्धान्तों के अनुसार भारतीयों के कल्याण में रुचि रखता था। अतः उसने प्रशासनिक ढाँचे को नया रूप देने और सामाजिक सुधार करने के लगातार उपाय किये।

विलियम बैंटिंक के समय सामाजिक प्रश्नों के प्रति कंपनी की नीति में परिवर्तन आया। आवश्यकता पड़ने पर कंपनी सामाजिक प्रश्नों पर भी नियम बनाने को तैयार हो गयी। विलियम बैंटिंक के समय उपयोगितावादी विचारकों का कंपनी के शासन पर प्रभाव दिखाई दिया। ब्रिटेन के प्रसिद्ध विचारक बेन्थम और जेम्स मिल इस सिद्धान्त को प्रतिपादित कर रहे थे। ये दार्शनिक सामाजिक सुधारों की माँग कर रहे थे। विलियम बैंटिंक तथा उसके सहायक भी ब्रिटेन में उठती हुई इस सुधारवाद की लहर से अछूते नहीं रहे और उन्होंने कुछ ऐसे नियम बनाने की ओर ध्यान दिया जिससे भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को बल मिला। उपयोगितावादी दार्शनिकों ने पहली बार भारतीय समाज की कुरीतियों की ओर ध्यान दिलाया। उन्होंने परम्परा के स्थान पर उपयोगिता को महत्त्वपूर्ण बताया। उनके प्रभाव के कारण ही विलियम बैंटिंक के काल से भारत में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। विलियम बैंटिंक इन विचारों से प्रभावित हुआ।

विलियम बैंटिंक के शासनकाल में अनेक सुधार किये गये। उसके द्वारा किये गये आर्थिक, प्रशासनिक और सामाजिक सुधारों का विवरण इस प्रकार है :

आर्थिक सुधार

विलियम बैंटिंक ने कंपनी की अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के उपाय किये। गवर्नर जनरल ने राजकीय खर्च में कमी की और राज्य की आमदनी को बढ़ाने के तरीके अपनाये। इन सुधारों का विवरण इस प्रकार है :-

भत्ते को घटाना

गवर्नर जनरल को यह निर्देश दिया गया था कि वह सैनिक अधिकारियों को दिये जाने वाले भत्ते में कटौती करे। अतः यह कार्य उसने स्वेच्छा से नहीं अपितु अधिकारियों के कहने पर किया। भत्ता एक प्रकार की निश्चित धनराशि थी जो वेतन के साथ-साथ इन अधिकारियों को दी जाती थी। आरम्भ में किसी भी युद्ध की स्थिति में भत्ता दिया जाता था। जब सैनिक अधिकारी कंपनी की सीमा में हुए युद्ध में भाग लेते थे तो उन्हें सामान्य भत्ता दिया जाता था और जव वे कंपनी की सीमा के बाहर किसी युद्ध में भाग लेने के लिए जाते थे तो उन्हें दोहरा भत्ता दिया जाता था। क्लाइव जब दुबारा गवर्नर होकर आया तो उसने दोहरा भत्ता समाप्त कर दिया। परन्तु सामान्य भत्ता फिर भी सैनिक अधिकारियों को मिलता रहा और परिपाटी यह बन गयी कि युद्ध अथवा शांति किसी भी स्थिति में सैनिक अधिकारी यह अतिरिक्त धनराशि प्राप्त किया करते थे। गवर्नर जनरल ने एक आज्ञापत्र जारी करके इस भत्ते को आधा कर दिया। जो भी धनराशि प्रत्येक सैनिक अधिकारी को भत्ते के रूप में मिल रही थी उसे इस प्रकार घटा देने से कंपनी को प्रतिवर्ष दो लाख रुपये की बचत होने लगी। कुछ समय तक गवर्नर जनरल को कठिन स्थिति का मुकाबला करना पड़ा। उसकी आज्ञा के विरोध में सेनापति कोम्बरमेरे ने इस्तीफा दे दिया। बड़े सैनिक अधिकारी भी अप्रसन्न हुए। लेकिन गवर्नर जनरल अपने निर्णय पर डटा रहा।

प्रशासनिक खर्च में कमी

गवर्नर जनरल का पद सँभालने के कुछ समय बाद ही विलियम बैंटिंक ने प्रशासन के खर्च में कमी करने के उद्देश्य से दो समितियों का गठन किया। पहली समिति को नागरिक प्रशासन के विषय में तथा दूसरी समिति को सेना के खर्च में कमी करने का कार्य सौंपा गया। प्रत्येक समिति में बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रेसिडेंसियों का एक-एक सदस्य नियुक्त किया गया। इस प्रकार तीन सदस्यों की समितियों ने जो प्रस्ताव किये उनके अनुसार सैनिक और असैनिक विभागों के खर्च में कमी करने का निश्चय किया गया। जहाँ संभव हो सका, सेना की संख्या घटायी गयी। सैनिकों को जो अतिरिक्त धन वेतन के साथ दिया जाता था उसे भी कम किया गया। दोनों समितियों के प्रस्तावों के अनुसार कंपनी के वार्षिक व्यय में करीब डेढ़ करोड़ रुपये की कमी की गयी। इस मितव्ययिता से राजकीय बजट को संतुलित करना सम्भव हो गया।

अफीम के व्यापार को बढ़ावा

अफीम के व्यापार से कंपनी को जो आय होती थी उसे गवर्नर जनरल ने और अधिक बढ़ाने के उपाय किये। बंगाल सूबे में अफीम के उत्पादन पर सरकार का एकाधिकार था। सरकार उत्पादकों को निश्चित मूल्य देकर पूरी अफीम खरीद लेती थी और फिर इसे अधिक मूल्य पर व्यापारियों को बेचकर भारी मुनाफा कमाती थी। विशेष रूप से चीन तथा अन्य पूर्वी देशों में यह अफीम बेची जाती थी। विलियम बैंटिंक के समय में इस व्यापार के प्रश्न को लेकर एक नयी समस्या सामने आयी। बंगाल सूबे के अलावा मालवा क्षेत्र में भी अफीम

का उत्पादन होता था। यह क्षेत्र जिन राजाओं के अधिकार में था उन्होंने भी अफीम के व्यापार से लाभ उठाना आरंभ कर दिया। इस क्षेत्र की अफीम पहले कराची जाती थी और उसके बाद पुर्तगालियों के अधीन क्षेत्र गोवा और दमन पहुँचकर जहाज़ों द्वारा चीन की ओर भेज दी जाती थी। मालवा की अफीम कम दाम में बिकती थी। इससे यह प्रश्न उठा कि बंगाल में बिकने वाली अफीम के मूल्य को घटाया जाय। इस प्रकार के निर्णय से सरकार की आय घट जाती। शीघ्र ही इस समस्या का उचित समाधान निकाल लिया गया जिससे मालवा की अफीम की बिक्री से सरकार को लाभ होने लगा तथा अफीम के व्यापार में प्रतिस्पर्धा भी समाप्त हो गयी। गवर्नर जनरल ने देशी रियासतों में उत्पन्न की गयी अफीम को बंबई बंदरगाह से भेजने की आज्ञा दे दी। इस निर्णय से कंपनी को अफीम की बिक्री से सीमा-शुल्क प्राप्त होने लगा। यह सीमा-शुल्क उस खर्च के बराबर था जो अफीम को कराची भेजने और वहाँ से गोवा तथा दमन आने में व्यय होता था। मालवा की अफीम के व्यापारियों को इससे किसी प्रकार का नुकसान नहीं हुआ और इसके साथ-साथ बंबई में अफीम पर लगे सीमा-शुल्क से कंपनी की आय बढ़ी। कर की नयी प्रणाली के अनुसार अफीम से सरकार की आमदनी १ लाख ६६ हजार से बढ़कर करीब १२ लाख रुपये वार्षिक हो गयी।

भूमि-कर सम्बन्धी व्यवस्था

विलियम बैंटिंक ने उत्तर भारत में भूमि-व्यवस्था को सुधारने में भी रुचि दिखायी। उसने वर्तमान उत्तर प्रदेश का दौरा करके भूमि के नियमों की जानकारी प्राप्त की। कुछ वर्षों पूर्व इलाहाबाद में जिस राजस्व बोर्ड की स्थापना की गयी थी उसके सदस्यों से उसने इस संबंध में विस्तृत बातचीत की। जब उसे भूमि-व्यवस्था की उचित जानकारी मिल गयी तो उसने १८३३ में नयी प्रणाली अपनाने के निर्देश दिये। बैंटिंक ने दो सिद्धान्तों को महत्त्व दिया। पहला यह कि भूमि-व्यवस्था अस्थायी तो हो परंतु इसे लम्बे समय के लिए किया जाये। साधारणतया तीस वर्षों की व्यवस्था करने की पद्धति अपनायी गयी। यह आशा की गयी कि इससे जमींदार तथा किसान कृषि में सुधार लाने के प्रयत्न करेंगे। दूसरा सिद्धान्त यह अपनाया गया कि राज्य की माँग बहुत अधिक न बढ़ायी जाये। प्रत्येक नयी भूमि-व्यवस्था करते समय लगान केवल सामान्य रीति से ही बढ़ाने के लिए कहा गया। संपूर्ण उत्तर भारत में यह व्यवस्था लागू करने के लिए विशेष अधिकारियों को उत्तरदायित्व सौंपा गया जिन्होंने प्रत्येक जिले में विस्तृत नाप करके लगान निश्चित किया। इलाहाबाद राजस्व बोर्ड के अध्यक्ष राबर्ट बोर्ड ने कई वर्षों में इस कार्य को पूरा किया।

जागीरों के प्रति गवर्नर जनरल ने कठोर नीति अपनायी। लंबी अवधि से देश के प्रत्येक भाग में बहुत से ऐसे लोग थे जिनको भूमि किसी-न-किसी समय जागीर के रूप में मिली थी। इनके उत्तराधिकारी भी इन जागीरों के स्वामी बने रहे। जागीरों के स्वामी भूमि-कर नहीं देते थे। विलियम बैंटिंक ने आदेश दिया कि प्रत्येक जागीर के स्वामी के अधिकारों की विस्तृत छानबीन की जाये। कंपनी का कहना था कि बहुत से लोगों ने कर

बचाने के लिए बिना किसी प्रमाण के ही जागीर पर अधिकार कर लिया था। वास्तविकता का सही अनुमान लगाना कठिन है। लेकिन यह अवश्य कहा जा सकता है कि बहुत से जागीरदारों को इससे नुकसान हुआ। यदि वे उचित प्रमाण नहीं प्रस्तुत कर सके तो उनकी जागीर जब्त कर ली गयी। कंपनी ने जागीरों पर अधिकार करके भी अपनी आय बढ़ायी।

प्रशासनिक सुधार

कार्नवालिस ने जिस न्याय-प्रणाली का आरंभ किया था उसमें कुछ ऐसे दोष दिखायी दिये कि विलियम बैंटिंक को न्याय-प्रणाली में कुछ सुधार करना आवश्यक हो गया। पहले हमें विचार करना होगा कि न्याय-व्यवस्था किस प्रकार की थी और उसमें क्या दोष थे। बंगाल सूबा चार भागों में बाँट दिया गया था और प्रत्येक विभाग में एक सरकिट न्यायालय था। कंपनी के दो उच्च अंग्रेज अधिकारी सरकिट न्यायालय की अध्यक्षता करने के लिए नियुक्त किये गये। ये अधिकारी अपने क्षेत्र के जिलों का समय-समय पर दौरा करते थे और वहीं पर मुकदमों का निर्णय देते थे। इस व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष यह था कि जिलाधीश उन अपराधियों को कारागार में बंद कर देता था जिन्हें पुलिस अधिकारी दोषी समझते थे। अभियुक्तों के मुकदमों का निर्णय होने के पूर्व उन्हें कई महीनों तक जेलों में बंद कर दिया जाता था। मुकदमें का निपटारा होने के पहले किसी व्यक्ति को जेल में बंद कर देने की व्यवस्था दोषपूर्ण थी। यह भी ध्यान रखना होगा कि उस समय जेलों का जीवन बहुत ही कष्टप्रद था और बहुत से लोग तो मुकदमों के निर्णय की प्रतीक्षा में ही साँस तोड़ देते थे। दूसरा दोष बैंटिंक को यह दिखायी दिया कि न्यायाधीश उचित ढंग से कार्य नहीं कर रहे थे। गवर्नर जनरल ने यह अनुभव किया कि ये न्यायालय अयोग्य अधिकारियों के लिए आराम गृह बन गये थे। वे मुकदमों को सुनने में तथा निर्णय देने में अनावश्यक विलंब करते थे।

विलियम बैंटिंक ने प्रान्तीय अपील न्यायालय और दौरा न्यायालयों को भंग कर दिया। न्याय की दृष्टि से बंगाल प्रेसीडेंसी को बीस भागों में विभाजित कर दिया और प्रत्येक विभाग का प्रमुख अधिकारी कमिश्नर कहलाया। ये कमिश्नर भंग किये गये न्यायालयों के कार्य करने लगे। इसके अतिरिक्त कमिश्नरों को यह उत्तरदायित्व भी सौंपा गया कि अपने क्षेत्र की पुलिस-व्यवस्था तथा राजस्व-व्यवस्था का निरीक्षण करें। १८३१ में अलग से दीवानी न्यायालय संगठित किये गये। इसी वर्ष से भारतवर्ष में सेशन न्यायाधीशों तथा दीवानी न्यायालयों के पदों का आरम्भ किया गया।

कार्नवालिस ने जब न्यायालयों का संगठन किया था तो कंपनी का साम्राज्य उत्तर भारत में बनारस तक ही सीमित था। किंतु बैंटिंक के समय तक कंपनी के साम्राज्य का विस्तार सतलज नदी तक हो गया था। लेकिन अभी तक अन्तिम अपील की सुनवाई कलकत्ता में ही होती थी। वादियों और प्रतिवादियों को अपील करने के लिए सैकड़ों मील की यात्रा करनी पड़ती थी। विलियम बैंटिंक ने जनसाधारण की सुविधा के लिए कंपनी के साम्राज्य के मध्य भाग मे न्यायालय स्थापित किया। इलाहाबाद में एक सदर न्यायालय स्थापित किया गया जिसमें स्थानीय न्यायाधीशों के निर्णयों के बाद सुनवाई होती थी।

न्यायालयों में प्रयोग की जाने वाली भाषा के सम्बन्ध में भी एक महत्त्वपूर्ण निर्णय इस समय लिया गया। अभी तक केवल फारसी भाषा का न्यायालयों में प्रयोग होता था। इसका प्रयोग बंद कर दिया गया और यह नियम बनाया गया कि निचली अदालतों में स्थानीय भाषा तथा ऊपर की अदालतों में अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया जाये।

राजकीय नौकरियों में भारतीयों को स्थान देना

कार्नवालिस के समय से कंपनी की सेवाओं में किसी प्रकार के उत्तरदायित्व के पदों पर भारतीयों को अलग रखने की शरारतपूर्ण नीति का अनुसरण किया गया था। विलियम बैंटिंक ने इस नीति को बदला और कुछ पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया जाने लगा। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कंपनी सेवा के समस्त पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया जाने लगा क्योंकि १८५७ तक कंपनी के शासन में जिलाधीश अथवा कमिश्नर के पद पर किसी भी भारतीय को नियुक्त नहीं किया गया। बैंटिंक ने केवल निचले पदों पर भारतीयों को नियुक्त करने की नीति अपनायी। उसने इस प्रकार का जो निर्णय लिया उसके कुछ कारण थे। एक तो इस प्रश्न का सैद्धान्तिक पक्ष था। १८३० के बाद के युग में किसी प्रकार का जातीय भेद रखने की अनुमति ब्रिटिश पार्लियामेंट प्रदान नहीं कर सकती थी। १८३३ के अधिनियम में तो स्पष्ट रूप से कहा गया कि जाति अथवा रंग के आधार पर मतभेद नहीं किया जायेगा। इसके अलावा इस प्रश्न का एक आर्थिक पहलू भी था। भारतीयों को नियुक्त करने से कंपनी के खर्च में बचत हो सकती थी क्योंकि भारतीय अधिकारियों को कम वेतन देकर नियुक्त किया जा सकता था। कंपनी का साम्राज्य अब बढ़ गया था और प्रशासन को चलाने के लिए पहले से कहीं बड़ी संख्या में अधिकारियों और उनके सहायकों को नियुक्त करना आवश्यक था। अतः केवल अंग्रेज अथवा यूरोपीय लोगों को नियुक्त करने का सिद्धान्त बहुत समय तक नहीं चल सकता था।

बैंटिंक ने यह भी अनुभव किया कि कुछ पदों पर भारतीयों को नियुक्ति करना प्रशासन की दृष्टि से उपयोगी था। विशेष रूप से न्याय-व्यवस्था में उसने भारतीयों को अधिक अवसर प्रदान किये। १८३१ के पूर्व दो प्रकार के न्याय के पदों पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था। ये पद मुंसिफ और सदर अमीन के पद थे। लेकिन इन अधिकारियों को बहुत साधारण मुकदमें सुनने का अधिकार था तथा इन्हें बहुत कम वेतन दिया जाता था। बैंटिंक ने उच्च श्रेणी के न्याय-अधिकारियों का पद आरंभ किया। ये अधिकारी प्रमुख सदर अमीन कहलाये। इन्हें यह अधिकार दिया गया कि वे किसी भी मूल्य की संपत्ति के मुकदमें सुन सकते थे। इस प्रकार उन्हें विस्तृत अधिकार दिये गये तथा उनके वेतन भी बढ़ाये गये। इन न्यायाधीशों को ७२० रु० तक वेतन मिल सकता था।

सामाजिक सुधार

विलियम बैंटिंक ने सामाजिक सुधार करने में व्यक्तिगत उत्साह दिखाया। बड़े साहस के साथ उसने सामाजिक सुधार की प्रक्रिया आरंभ की। अभी तक कंपनी के अधिकारी रूढ़िवादी नीति का अनुसरण कर रहे थे। उनकी नीति यही थी कि भारतीयों के

रीति-रिवाजों तथा सामाजिक प्रथाओं में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाये। बैंटिंक ने इस संबंध में कंपनी की नीति बदली और यह सिद्ध किया कि सरकार भी किसी कुरीति अथवा कुप्रथा को बंद करने में सक्रिय रूप से हस्तक्षेप कर सकती थी। यह कहा जा सकता है कि अब पहली बार कंपनी ने सामाजिक विषयों के प्रति भी अपने उत्तरदायित्व को समझा। यहाँ हम उसके तीन प्रमुख सामाजिक सुधारों का वर्णन करेंगे। १. सती प्रथा का दमन, २. ठगी का अंत तथा ३. बाल-हत्या पर रोक लगाना।

सती-प्रथा का उन्मूलन

सती-प्रथा भारतीय समाज में सदियों से चलती आ रही थी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसकी विधवा पत्नी अपने पति की चिता में कूदकर उसके साथ ही जीवनलीला समाप्त कर देती थी। आरंभ में ऐसी घटनाएँ यदाकदा होती थीं। तब यह प्रथा एक आदर्श के रूप में थी और समाज ऐसी महिलाओं को आदर की दृष्टि से देखता था जो 'सत्य' के मार्ग के लिए 'सती' हो जाती थीं। किंतु कालांतर में देश के कुछ क्षेत्रों में, विशेष रूप से बंगाल में, इस प्रथा का रूप विकृत हो गया। सती प्रथा उच्च जातियों में अधिक प्रचलित हो गयी और सामाजिक दबाव के कारण इस वर्ग की महिलाओं को पति की चिता में जलने के लिए बाध्य किया जाने लगा। ऐसे भी समाचार मिलने लगे कि शोकसंतप्त महिलाओं को मादक पदार्थ खिला दिया जाता था जिससे कि आवेश में आकर आत्मदाह करने में न हिचकिचाएँ। जब कोई महिला पति की चिता की ओर जाती थी तो उसे चारों ओर से घेर लिया जाता था और शोरगुल में उनका विरोध भी नहीं सुनाई पड़ता था। आत्मदाह के लिए महिलाओं को विवश करना एक ऐसी प्रथा थी जिसे रोकने के लिए किसी-न-किसी प्रकार का सरकार का हस्तक्षेप आवश्यक हो गया।

ऐसी अमानवीय प्रथा किस प्रकार समाज में इतने लंबे समय तक चलती रही, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि किस प्रकार धार्मिक अंधविश्वासों के कारण किसी सभ्य समाज के लोग तार्किक ढंग से कुप्रथा को रोकने का प्रयास नहीं करते।

सती-प्रथा के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि आर्थिक कारणों से बंगाल के समाज में इसका प्रचलन बढ़ा। विधवा स्त्री उस परिवार के लिए बोझ बन जाती थी जिसमें उसका पति रहता था। अधिकतर संयुक्त परिवारों में विधवाओं के रहने से संपत्ति के झगड़े भी सामने आते थे। इस स्थिति से बचने के लिए विधवाओं के सती हो जाने का रिवाज शुरू करा दिया गया। देश के अन्य क्षेत्रों की तुलना में इसका सबसे विकृत रूप बंगाल में ही दिखाई दिया, १८२८ के पूर्व के दस वर्षों में बंगाल में ही, सरकारी सूचना के अनुसार, औसतन छह सौ महिलाएँ प्रतिवर्ष सती हुईं। यह भी संभव है कि बहुत सी घटनाओं की सूचना स्थानीय पुलिस को न मिलती हो। इन आँकड़ों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सती-प्रथा एक गंभीर समस्या बनी हुई थी।

बंगाल में ब्रिटिश शासन स्थापित हो जाने के कुछ समय बाद अंग्रेज अधिकारियों ने सती-प्रथा पर रोक लगाने के प्रश्न पर विचार करना आरंभ कर दिया। विलियम बैंटिंक के

आगमन के पूर्व कई गवर्नर जनरलों ने इस समस्या पर विचार किया। प्रायः सब अधिकारी सती-प्रथा के विरुद्ध थे। वे इन असहाय और अभागी महिलाओं के जीवन को बचाना भी चाहते थे, परंतु सती-प्रथा को रोकने के लिए किसी प्रकार की दबाव की नीति नहीं अपनायी गयी। कंपनी की नीति यह थी कि सामाजिक रीति-रिवाजों पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जाये। लार्ड हेस्टिंग्स और लार्ड एमहर्स्ट इन दोनों गवर्नर जनरलों ने सती-प्रथा का विरोध किया। पर उन्होंने इस सामाजिक कुरीति को रोकने के लिए किसी प्रकार के कदम नहीं उठाये। इन गवर्नर जनरलों तथा उनके पूर्ववर्ती अधिकारियों को यह भय था कि सती-प्रथा पर प्रतिबंध लगाने से जनसमुदाय के विरोध का उन्हें सामना करना होगा। यह भी आशंका थी कि भारतीय सैनिक भी भड़क उठेंगे। यही कारण है कि सती-प्रथा को अमानवीय मानने के बावजूद वे उसे रोकने के लिए कोई कारगर उपाय न कर सके।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जो कदम उठाने में अन्य गवर्नर जनरल हिचकते रहे उसे उठाकर विलियम बैंटिंक ने निजी साहस का परिचय दिया। यदि हम इस गवर्नर जनरल के विचारों पर ध्यान दें तो यह भी स्वीकार करना होगा कि विलियम बैंटिंक अन्य गवर्नर जनरलों की तुलना में अधिक सुधारवादी था। वह दृढ़ विचारोंवाला व्यक्ति था और भारत आने के तुरंत बाद ही सती-प्रथा के उन्मूलन के लिए उसने सक्रिय ढंग से कार्य करना आरंभ कर दिया। सती-प्रथा का अंत करने का मुख्य उत्तरदायित्व उसी का था।

यहीं पर इस प्रश्न पर भी विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है कि क्या गवर्नर जनरल को ब्रिटेन के संचालक-मंडल ने किसी प्रकार का आदेश इस विषय में दिया था? ब्रिटेन के संचालक-मंडल ने गवर्नर जनरल को केवल सिद्धान्त वाक्य ही लिखे और कुप्रथा की बुराइयों की ओर उसका ध्यान खींचा। लेकिन इसके अतिरिक्त उन्होंने और कुछ भी नहीं कहा। ब्रिटेन में यह विचारधारा प्रचलित थी कि कंपनी-प्रशासन अपने प्रभाव के द्वारा सती-प्रथा को कम करे। ब्रिटेन के अधिकारियों ने यह उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल को ही सौंप दिया कि वह आवश्यकतानुसार जो कार्यवाही उचित मालूम पड़े उस पर अमल करे। ब्रिटेन के अधिकारी इतने सतर्क थे कि प्रसिद्ध दार्शनिक जेम्स मिल ने भी बैंटिंक को अधिनियम द्वारा सती-प्रथा पर रोक लगाने की कभी भी सलाह नहीं दी।

विलियम बैंटिंक ने सती-प्रथा पर प्रतिबंध लगाने से पूर्व विशेष रूप से दो प्रश्नों पर विचार किया। उसके सामने पहला प्रश्न यह था कि क्या हिंदू धर्म इस प्रथा की स्वीकृति देता है। दूसरा प्रश्न यह था कि यदि सरकार द्वारा इस प्रथा पर रोक लगा दी जाये तो इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी।

सती-प्रथा के धार्मिक पक्ष के विषय में बैंटिंक को ज्ञात हुआ कि यह विवादास्पद प्रश्न था। कुछ लोग धर्म-ग्रंथों का हवाला देकर यह सिद्ध कर रहे थे कि हिंदू धर्म में इस प्रथा का विधान था। किंतु अन्य जानकार लोगों का कहना था कि सती-प्रथा केवल परंपरा के अनुसार चल रही थी और हिंदू धर्म से इसका किसी प्रकार का संबंध नहीं था। उस युग के प्रबल विचारक और लेखक राजा राममोहन राय का यही कहना था कि हिंदू धर्म सती-प्रथा की अनुमति नहीं देता।

गवर्नर जनरल ने गोपनीय पत्र लिखकर ५६ अधिकारियों से जानकारी प्राप्त की। उसने इन अधिकारियों से यह पूछताछ की कि सती-प्रथा को रोकने के लिए राजकीय आदेश जारी करने पर जनता की तथा भारतीय सैनिकों की क्या प्रतिक्रिया होगी। इन अधिकारियों को शासन का लंबा अनुभव था और उनका मत समझ लेने के पश्चात् ही गवर्नर जनरल ने सती-प्रथा के विषय में कोई कदम उठाया। जिन अधिकारियों की राय माँगी गयी थी उनमें से पाँच सती-प्रथा के विषय में किसी प्रकार के भी हस्तक्षेप के विरोधी थे। बारह अधिकारी प्रथा को समाप्त तो करना चाहते थे परंतु कंपनी की सरकार द्वारा नियम पारित करने के पक्ष में नहीं थे। आठ अधिकारी किसी ऐसे अप्रत्यक्ष तरीके के पक्ष में थे जिससे सती-प्रथा समाप्त कर दी जाये। चौबीस अधिकारियों ने स्पष्ट रूप से राजकीय आदेश द्वारा सती-प्रथा को समाप्त करने के पक्ष में अपना मत दिया। १८२६ में निजामत अदालत के सभी न्यायाधीशों ने भी इस प्रथा को तुरंत समाप्त करने के लिए गवर्नर जनरल से आग्रह किया। गवर्नर जनरल ने अधिकारियों तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियों के विचारों से यह अंदाज कर लिया कि सती-प्रथा पर रोक लगाने से किसी प्रकार के व्यापक विरोध की संभावना नहीं थी।

राजा राममोहन राय ने भी इसी समय सती-प्रथा के विरोध में जनमत तैयार किया। राममोहन ने कई पुस्तिकाएँ लिखीं। प्रथा की अमानुषिकता के प्रति उन्होंने जनभावना जाग्रत की। इस प्रकार के कार्य से राममोहन ने गवर्नर जनरल को निर्णय लेने का सुविधाजनक वातावरण तैयार किया।

विलियम बैंटिंक ने गवर्नर जनरल का पद सँभालने के एक वर्ष बाद ही सती-प्रथा का अंत करने के लिए सरकारी आदेश जारी कर दिया। ४ दिसंबर, १८२६ को राजकीय अधिनियम की घोषणा कर दी गयी। इसमें कहा गया कि "सती की घृणित प्रथा मानव भावना की विरोधी है।" अधिनियम में यह भी कहा गया कि धर्म इसे अत्यावश्यक कर्तव्य नहीं स्वीकार करता। विधवाओं का आत्मदाह करना अथवा आत्मदाह करने में मदद करना राजकीय अधिनियम के द्वारा गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

सती को नरहत्या का अपराध घोषित कर दिया गया तथा सती होने और किसी महिला को सती होने के लिए सहायता करने वाले पर फौजदारी न्यायालयों में मुकदमा चलाया जा सकता था। इस अपराध में मृत्युदंड तक की सजा दी जा सकती थी। हर संबंधित व्यक्ति का यह उत्तरदायित्व हो गया कि वह ऐसी किसी भी घटना की पूरी सूचना अधिकारियों को अविलंव दे। ऐसा न करने पर भी किसी भी व्यक्ति को सजा दी जा सकती थी।

विलियम बैंटिंक ने अधिनियम जारी करके सती-प्रथा का अंत करने का जो प्रयास किया वह पूर्णरूप से सफल हुआ। राजकीय आदेश के फलस्वरूप बंगाल में सती-प्रथा बंद हो गयी। इस प्रकार पहली बार सामाजिक कुरीति का उन्मूलन करने के लिए कंपनी की सरकार द्वारा आवश्यक कार्यवाही की गयी।

गवर्नर जनरल ने जिन विचारों से प्रभावित होकर राजकीय आदेश की घोषणा की

उनपर यहाँ ध्यान देना उचित होगा। आदेश जारी करने के कुछ समय पूर्व नवंबर, १८२८ में बैंटिंक ने एक लंबा विवरण लिखा। उसने विचार व्यक्त किया कि वह एक 'भयंकर उत्तरदायित्व' निभा रहा था। उसने दावा किया कि वह अधिनियम द्वारा ब्रिटिश शासन पर लगे घृणित कलंक को दूर कर रहा था। इस प्रपत्र में बैंटिंक ने उन प्रबुद्ध सिद्धांतों का वर्णन किया जिनसे प्रभावित होकर उसने यह निर्णय किया था। गवर्नर जनरल ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उसका प्रमुख लक्ष्य हिंदुओं को लाभ पहुँचाना था।

सती-प्रथा अंत करने का नियम बनाने में विलियम बैंटिंक ने जो व्यक्तिगत रुचि दिखायी वह सराहनीय है। पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों की तरह वह भी सतर्कता के कारण चुप बैठा रह सकता था। लेकिन वह चुप बैठा रहने वाला व्यक्ति नहीं था और पद ग्रहण करने के तुरंत बाद ही उसने इस कुप्रथा का उन्मूलन करने का निश्चय किया। गवर्नर जनरल ने जनता की प्रतिक्रिया का उचित अनुमान लगाया था। उसके अधिनियम का बंगाल में कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। कुछ समय में ही सती-प्रथा समाप्त हो गयी। बैंटिंक के अधिनियम का उद्देश्य पूर्णरूप से सफल रहा।

ठगों का दमन

बैंटिंक का दूसरा सामाजिक सुधार ठगों का दमन करना था। कंपनी का शासन आरंभ होने के समय से ही उत्तर भारत के प्रत्येक जिले से ठगों की कार्यवाही के समाचार लगातार मिलते थे। किंतु ठगी का दमन करने के लिए बैंटिंक के पूर्व किसी भी गवर्नर जनरल ने उचित कदम नहीं उठाये। बैंटिंक ने विधिवत् तरीके से कार्य करने के उद्देश्य से अलग से एक विभाग संगठित किया। करीब दस वर्षों के सतत प्रयास के परिणामस्वरूप इन अपराधियों का सफाया किया जा सका।

सरकार ने आरम्भ में यह निर्णय किया कि ठगों के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी प्राप्त की जाये। अधिकारियों ने अलग-अलग स्थानों पर ठगों को पकड़कर उन्हें लालच देकर ठगों के संगठन से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त की। ठगों का दमन करने की दिशा में यह प्रारंभिक कार्यवाही थी। ठग बहुत ही गुप्त तरीके से अपने कार्य करते थे और उनका भेद खुलने पर ही अलग-अलग गिरोहों का उन्मूलन करना संभव हुआ।

ठगों के विषय में जो विस्तृत विवरण लिखे गये हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि ठग बड़े-बड़े गिरोह बनाकर अलग-अलग गाँवों में फैले रहते थे। वे किसी निश्चित जाति अथवा धर्म के नहीं थे। किसी भी व्यक्ति को वे अपने गिरोह में शामिल कर लेते थे। वे देवी के उपासक थे और किसी मंदिर में गोपनीयता की शपथ लेते थे। मुहूर्त निश्चित करके वे अपना कार्य करने के लिए निकल पड़ते थे। उस युग में बड़ी संख्या में लोग सड़कों पर लंबी यात्रा करते थे। ठग भी यात्री के वेश में एक या अधिक संख्या में अपने 'शिकार' के साथ हो लेते थे। बातचीत में वे इतने दक्ष होते थे कि सरलता से ही सहयात्री इन पर विश्वास कर लेता था। मौका पाकर किसी अनजान स्थान पर वे इस यात्री पर हमला करके उसे मौत के घाट उतार देते थे। इस प्रकार यात्री को लूटने के साथ ही वे उसकी हत्या भी कर देते

थे जिससे भविष्य में उनका भेद न खुल सके। वे ठग हमला करने के लिए किसी अस्त्र का प्रयोग नहीं करते थे। वे कपड़े का एक फंदा या फाँसा बना लेते थे और इतने सधे हाथों से यात्री पर फंदा डाला जाता था कि वह बच नहीं पाता था। शीघ्र ही उसका दम घुट जाता था और उसकी मृत्यु हो जाती थी। मृत शरीर को भूमि के नीचे जमीन में दफना दिया जाता था।

विलियम बैंटिंक ने एक वरिष्ठ सैनिक अधिकारी स्लीमैन को ठगों का दमन करने का कार्य सौंपा। उसकी सहायता के लिए अन्य सैनिक अधिकारी भी नियुक्त किये गये। एक विशेष नियम बनाया गया जिसकी सहायता से ठगों को लंबी अवधि तक जेल में बन्द रखा जा सकता था। बड़ी चतुराई से एक के बाद दूसरे गिरोहों को पकड़ा गया और इन अभियुक्तों को तरह-तरह की सजाएँ दी गयीं। १८२६ से १८३५ के बीच ही करीब दो हजार ठगों को या तो मृत्युदंड दिया गया अथवा उन्हें आजन्म कारावास की सजा सुनायी गयी। ठग कितनी क्रूरता से अपने कार्य करते थे, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि एक ठग ने स्वीकार किया कि चार वर्षों में उसने नौ सौ तीस हत्याएँ की थीं।

शांति और व्यवस्था स्थापित करने की दृष्टि से बैंटिंक ने एक आवश्यक कार्य किया। ठग समाज के लिए अभिशाप थे। उनके डर से यात्रा करने में लोगों को भय होता था। इनके उन्मूलन से लोगों ने चैन की साँस ली।

बाल-हत्या को रोकने का प्रयास

बाल-हत्या भी एक क्रूर और भयावह कृत्य उत्तर भारत, मध्य भारत और राजस्थान में प्रचलित था। कुछ जातियों के लोग और विशेष रूप से राजपूत, अपने परिवार में लड़कियों का जन्म होते ही उनकी हत्या कर देते थे। साधारणतया दो तरीके अपनाये जाते थे। या तो नवजात कन्या को तुरंत माता से अलग करके किसी दूसरे कमरे में डाल दिया जाता था अथवा उसे अफीम आदि जहरीला पदार्थ खिला दिया जाता था। नवजात कन्याओं की हत्या इस कारण कर दी जाती थी कि विवाह के समय परिवार को किसी समस्या या अपमानजनक स्थिति का सामना न करना पड़े। ब्रिटिश अधिकारियों को समय-समय पर इस प्रकार की घटनाओं का पता चलता था। इसका पता लगाने के लिए कि किस क्षेत्र में अथवा परिवारों में बाल-हत्या की जाती थी, पहला तरीका यह अपनाया गया कि ब्रिटिश अधिकारियों को उन क्षेत्रों की जनगणना करने की आज्ञा दी गयी। समय-समय पर की गयी जनगणना के आँकड़ों से यह साफ दिखाई पड़ा कि कुछ परिवारों में कम उम्र के बच्चों में लड़कों के अनुपात में लड़कियों की संख्या बहुत कम थी। ऐसे क्षेत्र पर अधिक निगरानी रखी जाने लगी और अधिकारी सतर्कता से घटनाओं का पता लगाने लगे।

बाल-हत्या की विधि का उन्मूलन करने के लिए विलियम बैंटिंक ने किसी प्रकार का अधिनियम नहीं पारित किया। कंपनी की यह नीति थी कि प्रत्येक क्षेत्र के अधिकारी अपने प्रभाव का उपयोग करें। ऐसे परिवारों के प्रमुख व्यक्तियों को स्थानीय अधिकारियों ने आदेश दिये। कुछ छोटी रियासतों के राजाओं पर भी जुर्माना लगाया गया। उनसे यह भी कहा गया

कि सरकार उनकी जागीर या संपत्ति को भी जब्त कर सकती थी। विलियम बैंटिंक ने उदयपुर के महाराजा को तथा काठियावाड़ के राजाओं को पत्र लिखे। इस प्रकार गवर्नर जनरल के समय में बाल-हत्या की प्रथा को रोकने का क्रम आरंभ हो गया और कुछ दशकों के पश्चात् ऐसी घटनाएँ कम होती गयीं।

नयी शिक्षा नीति

बैंटिंक के आगमन के पूर्व कंपनी की सरकार ने शिक्षा के संबंध में कोई निश्चित नीति निर्धारित नहीं की थी। वारेन हेस्टिंग्स ने परम्परागत ढंग से चलती आ रही शिक्षा-प्रणाली को स्वीकार करके कलकत्ता में १७८१ में एक मदरसा स्थापित किया था। वह भारतीय सभ्यता को आदर की दृष्टि से देखता था। उसके समय में संस्कृत और फारसी भाषाओं की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया। इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर १७९१ में बनारस में संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी।

१८१३ के अधिनियम से यह ज्ञात हुआ कि सरकार शिक्षा के प्रति जागरूक हो रही थी। इस अधिनियम में यह व्यवस्था की गयी कि ब्रिटिश शासन प्रतिवर्ष कम-से-कम एक लाख रुपया शिक्षा के विस्तार के लिए खर्च करेगा। लेकिन इसके पश्चात् भी शिक्षा के विषय में कोई कार्यवाही नहीं की गयी। दस वर्षों तक कंपनी की सरकार ने इस निर्धारित धनराशि का किसी प्रकार का उपयोग नहीं किया। इसके बाद १८२३ में सरकार ने एक सार्वजनिक शिक्षा समिति गठित की जिसे १८१३ में निर्धारित धनराशि को खर्च करने का उत्तरदायित्व सौंपा गया। १८२३ में एमहर्स्ट ने संस्कृत कालेज की स्थापना की। इससे यह प्रकट होता है कि इस समय तक सरकार की नीति परम्परागत शिक्षा प्रणाली को सहायता देने की थी।

ब्रिटेन में प्रचलित विचारधारा ने भी कंपनी की शिक्षा-नीति को प्रभावित किया। संचालक-मंडल ने कंपनी की सरकार को प्रभावकारी ढंग से लिखा कि 'उपयोगी ज्ञान' की व्यवस्था की जाये। अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा कि 'सरकार का लक्ष्य हिन्दू विद्या या मुस्लिम विद्या न होकर उपयोगी विद्या होना चाहिए।' कंपनी के अधिकारी भी इस प्रश्न पर विचार करने लगे कि कौन सी शिक्षा उपयोगी हो सकती थी और उन्होंने यह उत्तर ढूँढ निकाला कि वह भाषा ही उपयोगी मानी जा सकती थी जिसमें आधुनिक ज्ञान उपलब्ध हो। यह भाषा अंग्रेजी थी जिसके माध्यम से तत्कालीन यूरोपीय ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन भारतीय कर सकते थे। ब्रिटेन के अधिकारियों ने कंपनी की सरकार को अंग्रेजी भाषा में शिक्षा देने के लिए नहीं लिखा था। उन्हें विश्वास भी नहीं था कि अंग्रेजी भाषा भारत में प्रचलित हो सकती थी। यह निर्णय तो बैंटिंक ने स्वयं किया और इस प्रकार भारत की शिक्षा-प्रणाली में एक युगान्तकारी परिवर्तन का उसने सूत्रपात किया।

बैंटिंक के भारत पहुँचने तक ब्रिटिश सत्ता देश में पूर्णरूप से स्थापित हो चुकी थी। अंग्रेज यह विचार करने लगे कि वे किसी प्रकार लंबी अवधि तक साम्राज्य को स्थापित रख सकते थे। बदली हुई परिस्थिति में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति उनके दृष्टिकोण

में भी परिवर्तन आया। बैंटिंक और उसके सहयोगी खुले शब्दों में संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाओं की आलोचना करने लगे। गवर्नर जनरल और उसके सलाहकार कहने लगे कि इन भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान से भारत के निवासियों को किसी प्रकार का लाभ नहीं होगा। पश्चिमी भाषा, पश्चिमी सभ्यता और पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान को भारत में प्रचारित करने की नीति बैंटिंक ने अपनायी।

भारत की परिस्थितियाँ भी गवर्नर जनरल के लिए अनुकूल थीं। १८१७ में कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना वहाँ के प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने संगठित होकर की थी। इस कालेज में अंग्रेजी भाषा की शिक्षा आरंभ की गयी और पश्चिमी ढंग से शिक्षण आरंभ किया गया। वहुत से यूरोपीय विद्वान् यूरोप में प्रचलित विषयों का ज्ञान युवकों को देने लगे। सरकार इस कालेज की सफलता से प्रभावित हुई। बंगाल तथा उत्तर भारत के अन्य नगरों में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार आरंभ हो गया। ईसाई पादरी बड़े उत्साह से नये ढंग के स्कूल और कालेज स्थापित करने लगे तथा समाज के प्रतिष्ठित वर्ग ने उनका समर्थन भी किया। राजा राममोहन राय स्वयं अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दिये जाने के प्रबल समर्थक थे और उन्होंने सरकार से प्रार्थना की कि भारत में योरोपीय ढंग की शिक्षा ग्रहण करने के लिए भारत का प्रबुद्ध वर्ग तैयार था।

शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन करने का एक अन्य कारण भी था। बैंटिंक ने यह अनुभव किया कि उच्च वर्गों को कंपनी के शासन में नौकरी देना आवश्यक था। प्रभावशाली वर्गों को अब तक उचित नौकरियाँ नहीं दी गयी थीं जिससे वे असंतुष्ट थे। अंग्रेजी शिक्षा देकर उच्च जाति के लोगों को कंपनी की नौकरी के लिए तैयार किया जा सकता था। इस प्रकार अंग्रेजी शिक्षा का प्रचलन नौकरियों के कारण भी बढ़ा।

विलियम बैंटिंक उपयोगितावादी विचारधारा का प्रबल समर्थक था। उसे विश्वास था कि भारत में सांस्कृतिक परिवर्तन लाने की एकमात्र कुंजी अंग्रेजी भाषा थी। इस भाषा का प्रचार करके उसने भारतीय समाज को नयी दिशा दी। उसके समय में बार-बार 'नैतिक कर्तव्यों' की दुहाई दी गयी और यह कहा जाने लगा कि अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के द्वारा ही इसे पूरा किया जा सकता था। गवर्नर जनरल के प्रभाव के कारण ही शिक्षा-नीति में परिवर्तन आया।

१८३३ में जब ब्रिटिश संसद द्वारा अधिनियम पारित किया गया तो कंपनी की सरकार को यह उत्तदायित्व सौंपा गया कि वह कम-से-कम १ लाख रुपये के स्थान पर भविष्य में १० लाख रुपये शिक्षा पर खर्च करे। शिक्षा-कोष जब बढ़ गया तो शीघ्र ही शिक्षा-समिति के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि इस धन को किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए खर्च किया जाये। शिक्षा समिति के १० सदस्यों में से पाँच यह माँग कर रहे थे कि परम्परागत ढंग से शिक्षा की व्यवस्था हो और संस्कृत, अरबी और फारसी भाषाओं को समुन्नत करने में सरकार सहयोग दे। इसके विपरीत पाँच दूसरे सदस्य माँग कर रहे थे कि अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाय। १८३४ में मैकाले गवर्नर जनरल की कौंसिल का विशेष सदस्य

होकर ब्रिटेन से भारत आया। उसे शिक्षा-समिति का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। मैकाले के आगमन से अंग्रेजी शिक्षा की माँग करने वाले सदस्यों की शक्ति बढ़ी क्योंकि मैकाले इस भाषा के माध्यम से ही शिक्षा देने का प्रबल समर्थक था।

फरवरी, १८३५ में मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में एक विस्तृत विवरण लिखकर गवर्नर जनरल को पेश किया। इसमें उसने कटु शब्दों में संस्कृत भाषा तथा अन्य भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान की आलोचना की। उसने कहा कि सरकार को इस प्रकार की भाषा को बढ़ावा न देकर अंग्रेजी भाषा में शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। उसने यह आशा प्रकट की कि इस प्रकार 'भारत में ऐसे व्यक्तियों को संगठित किया जा सकेगा जो केवल रुधिर से और रंग से भारतवासी होंगे लेकिन स्वाद में, विचारों में, नैतिकता और बुद्धि में अंग्रेजों के समान होंगे।' इस वाक्य से मैकाले के विचार समझे जा सकते हैं।

विलियम बैंटिंक ने मैकाले के विचारों का समर्थन किया और कंपनी सरकार ने १८३५ में नयी शिक्षा-नीति की घोषणा कर दी। इस घोषणा में कहा गया कि "यूरोपीय साहित्य और विज्ञान की शिक्षा को भारतीयों में प्रोत्साहित करना ब्रिटिश सरकार का महान् लक्ष्य होना चाहिये और शिक्षा के लिए प्राप्त सभी धनराशि का सबसे अच्छा उपयोग केवल अंग्रेजी शिक्षा के द्वारा होगा।"

गवर्नर जनरल का यह निर्णय भारत में शिक्षा के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था। इसके द्वारा कंपनी सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह भविष्य में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार और प्रसार के लिए ही हर प्रकार के उपाय करेगी। इस प्रकार अंग्रेजी भाषा भारतीय शिक्षा-व्यवस्था का आधार बन गयी।

●●●

पन्द्रहवाँ अध्याय

प्रथम अफगान युद्ध और सिंध पर ब्रिटिश अधिकार की स्थापना

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में अहमद शाह दुर्रानी ने अफगानिस्तान में जिस स्वतंत्र राज्य की स्थापना की थी उसकी शक्ति अहमद शाह के उत्तराधिकारियों के समय में कम होती गयी। तीमूर शाह (१७७३-९३), जमन शाह (१७९३-१८००) और मोहम्मद शाह (१८००-१८०३) के समय में अफगानिस्तान का प्रभाव पड़ोस के राज्यों पर घटता ही रहा। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में अफगानिस्तान में सत्ता के लिए समय-समय पर संघर्ष होते रहे। १८०९ में अफगान शासक शाहशुजा ने राजसिंहासन छोड़कर प्राणरक्षा के लिए भारत में आकर शरण ली। अहमद शाह दुर्रानी के वंशज सदोजिया वंश के थे। शाहशुजा के भागने के बाद उसका भाई शाह मोहम्मद अफगानिस्तान का शासक बना। इस समय तक सदोजिया वंश का प्रभाव बना रहा परन्तु कुछ समय में परिवर्तन के चिह्न दिखाई पड़ने लगे। शाह मोहम्मद की सफलता का श्रेय फतेह खाँ को था जो बरकजिया वंश का था। फतेह खाँ ने प्रधानमंत्री बनकर अपनी शक्ति को बढ़ाने पर ध्यान दिया। फतेह खाँ के परिवार में उसके बीस भाई थे जो सत्ता के संघर्ष में उसके सहायक हुए। १८१८ में बरकजिया भाइयों ने अफगानिस्तान राज्य के अलग-अलग क्षेत्रों पर अधिकार करके अहमद शाह दुर्रानी के वंशजों का शासन समाप्त कर दिया।

सत्ता परिवर्तन के बाद ही यह साफ दिखाई देने लगा था कि बरकजिया भाइयों में गहरे मतभेद थे और ये सब भाई अलग-अलग शासन नहीं कर सकते थे। शीघ्र ही इनमें संघर्ष हुए और दोस्त मोहम्मद की शक्ति बढ़ती गयी। अपनी योग्यता के बल पर १८२६ में दोस्त मोहम्मद गजनी काबुल का शासक बन गया। लेकिन अफगान राज्य अभी भी विभाजित था। दोस्त मोहम्मद के दो भाई कंधार और पेशावर पर शासन कर रहे थे। हेरात पर अभी भी बरकजिया बंधुओं का अधिकार नहीं हो सका था। यहाँ पर मोहम्मद शाह शासन करता रहा।

दोस्त मोहम्मद अफगानिस्तान के मुख्य भाग पर शासन तो करता रहा परन्तु १८२६ से १८३६ के बीच के दस वर्षों में भी उसकी कठिनाइयाँ पूर्ववत् बनी हुई थीं। इसी बीच १८३४ में रणजीत सिंह ने पेशावर पर अधिकार कर लिया था। दोस्त मोहम्मद सिखों के इस क्षेत्र पर अधिकार करने से चिंतित हुआ।

मध्य एशिया में रूस और ब्रिटेन की प्रतिद्वंद्विता

१८२८ में रूस की सेनाओं ने परशिया को पराजित करके उसे तुर्कोमांची की संधि करने पर मजबूर कर दिया। इस संधि के अनुसार कैस्पियन सागर के पश्चिमी प्रदेश को परशिया ने रूस को सौंप दिया, क्षतिपूर्ति के लिए परशिया ने तीस लाख पौंड की धनराशि दी और रूस

को व्यापारिक सुविधाएँ देना भी स्वीकार कर लिया। इस संधि के द्वारा रूस का जो कूटनीतिक और आर्थिक प्रभाव एक बार एशिया पर स्थापित हुआ वह बढ़ता ही रहा। मध्य एशिया में रूसी साम्राज्य के उत्तरोत्तर विकास से ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ चिंतित हो उठे और तुरंत ही रूसी प्रभाव को रोकने के उपायों पर विचार किया जाने लगा। मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से ब्रिटेन में यह आशंका व्यक्त की जाने लगी कि रूस भविष्य में ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के लिए खतरा उत्पन्न कर सकता था। रूस भारत की ओर दो मार्गों से आगे बढ़ सकता था। पहला मार्ग ओक्सस नदी की घाटी से होकर था जहाँ पर खीवा और बोखारा के राज्य थे। दूसरा मार्ग परशिया तथा हेरात से होकर था। यह प्रायः स्वीकार किया जा रहा था कि इस समय रूस के आक्रमण का भय नहीं था। संघर्ष मुख्य रूप से राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव तक सीमित था और दोनों यूरोपीय शक्तियों ने परशिया तथा अफगानिस्तान पर अपने-अपने प्रभाव को बढ़ाने और प्रतिद्वंद्वी शक्ति के प्रभाव को रोकने की कोशिश की।

तुर्कोमांची की संधि से परशिया और अफगानिस्तान के प्रति ब्रिटिश नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। संधि के पूर्व ब्रिटेन ने परशिया को यह आश्वासन दिया था कि परशिया और अफगानिस्तान के बीच के किसी भी संघर्ष में वह अलग रहेगा। रूस के परशिया पर बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए ब्रिटिश नीति बदल दी गयी। अब परशिया के अफगानिस्तान पर किसी भी आक्रमण का विरोध करने का निश्चय ब्रिटिश सरकार ने किया। इसका अर्थ यह भी हुआ कि रूस के प्रभाव का विरोध करने के लिए ब्रिटिश सरकार परशिया पर विश्वास नहीं कर सकती थी। उसे केवल अफगानिस्तान पर ही भरोसा करना था। इस स्थिति में १८३० से ब्रिटेन तथा भारत में अफगानिस्तान के साथ संबंध बढ़ाने के प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया जाने लगा। मध्य एशिया के संघर्ष में यह भारत की सुरक्षा के लिए उपयोगी भूमिका अदा कर सकता था।

ब्रिटिश सरकार द्वारा आकलैंड को निर्देश

ब्रिटेन का वैदेशिक मंत्री पामर्स्टन अफगानिस्तान पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करने के लिए सक्रिय नीति अपनाने को तैयार हो गया। उसने निश्चय किया कि जिस प्रकार रूस परशिया में प्रभाव जमाकर मध्य एशिया में अपनी स्थिति को मजबूत कर रहा था उसी प्रकार ब्रिटेन अफगानिस्तान में अपने प्रभाव के द्वारा मध्य एशिया के राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष में रूस का विरोध कर सकता था।

१८३६ में आकलैंड भारत का गवर्नर जनरल बना। उसके पद सँभालते ही कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने जून, १८३६ में उसे एक आवश्यक पत्र लिखा। इस पत्र में उसका ध्यान अफगानिस्तान की ओर आकर्षित किया गया था। इस पत्र में गवर्नर जनरल से कहा गया कि 'अब समय आ गया है जब तुम्हारे लिए अफगानिस्तान के मामलों में निश्चित रूप से हस्तक्षेप करना उपयुक्त होगा।' पत्र में आगे कहा गया कि हस्तक्षेप की आवश्यकता या तो उस क्षेत्र पर परशिया के प्रभाव के कारण अथवा रूसी प्रभाव के अतिक्रमण के विरुद्ध कोई रोक लगाने के लिए पड़ सकती थी। गवर्नर जनरल का ध्यान इस 'बहुत आवश्यक प्रश्न' की ओर खींचने के

अतिरिक्त इस पत्र में किसी प्रकार के स्पष्ट निर्देश नहीं दिये गये थे कि इस सम्बन्ध में किस प्रकार की कार्यवाही की जाय। कार्यवाही का उत्तरदायित्व गवर्नर जनरल पर छोड़ दिया गया। ब्रिटेन स्थित कंपनी के अधिकारियों को पूरा भरोसा था कि गवर्नर जनरल कोई भी कदम उठाने में हिचकिचाहट नहीं दिखायेगा।

आकलैंड को अफगानिस्तान के प्रति हस्तक्षेप करने की जिस नीति को अपनाने का आदेश प्राप्त हुआ था उसे उसने पूर्ण उत्साह के साथ स्वीकार किया। गवर्नर जनरल ने अफगानिस्तान के प्रति जिस सक्रियता से कार्य किया उसे देखते हुए यह कहना उचित नहीं होगा कि इंग्लैंड के अधिकारियों ने उसे कोई ऐसी नीति अपनाने को बाध्य किया जिस पर उसे अधिक विश्वास नहीं था। इस नीति की सफलता अथवा असफलता के लिए आकलैंड स्वयं ही जिम्मेदार था। इसका अनुसरण करते हुए उसने जो भी निर्णय लिए उसके लिए ब्रिटेन के अधिकारियों को दोष देना ठीक नहीं होगा।

बर्न्स मिशन की काबुल यात्रा

आकलैंड ने जव गवर्नर जनरल का पद सँभाला तो उसे शुभकामनाएँ भेजते समय अफगानिस्तान के अमीर दोस्त मुहम्मद ने ब्रिटिश सरकार के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की थी। आकलैंड ने अमीर के पत्र का कोई उत्साहजनक उत्तर नहीं भेजा। कुछ समय बाद उसने एक ब्रिटिश अधिकारी (एलाक्जांडर बर्न्स) को काबुल भेजने का निर्णय किया। अफगानिस्तान पर ब्रिटिश प्रभाव जमाने की दिशा में यह पहला कदम था। कहने के लिए तो इसे केवल एक व्यापारिक मिशन कहा गया किन्तु वास्तव में बर्न्स को दोस्त मुहम्मद के साथ राजनीतिक समस्याओं पर बातचीत करने को कहा गया था। गवर्नर जनरल ने यह माँग की कि दोस्त मोहम्मद परशिया अथवा रूस से किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार न करे। अंग्रेजों की अनुमति के बिना वह इन राज्यों से किसी प्रकार का संबंध स्थापित न करे। यह माँग भी की गयी कि दोस्त मोहम्मद रणजीत सिंह के साथ मित्रता बनाये रखे और पेशावर पर किसी प्रकार का दावा न करे।

एलेक्जांडर बर्न्स सितंवर, १८३७ से अप्रैल, १८३८ तक काबुल में रहा। इन छह महीनों के दौरान उसने कई बार दोस्त मोहम्मद से बातचीत की और अफगानिस्तान की राजनीतिक स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण किया। दोस्त मोहम्मद ने ब्रिटिश मिशन को सभी प्रकार की सुविधाएँ प्रदान कीं और बर्न्स अमीर के व्यवहार से संतुष्ट बना रहा। बर्न्स दोस्त मोहम्मद की बातचीत के ढंग से प्रभावित हुआ और उसने अमीर की योग्यता के विषय में गवर्नर जनरल को सूचित किया।

किसी भी वार्तालाप की सफलता के लिए एक आवश्यक शर्त यह होती है कि दोनों पक्ष एक दूसरे की स्थिति को समझने के लिए तैयार हों तथा संबंधित राज्य एक दूसरे के हित के लिए कुछ करने की स्थिति में हों। आकलैंड ने बर्न्स मिशन को सफल बनाने के लिए ऐसा कुछ भी नहीं किया। वह यह माँग तो करता रहा कि अफगान अमीर ब्रिटिश सरकार की इच्छानुसार अन्य राज्यों के साथ सम्बन्ध रखे किन्तु दोस्त मोहम्मद को संतुष्ट करने के लिए गवर्नर जनरल

कुछ भी करने को राजी नहीं हुआ। ऐसी दशा में दोस्त मोहम्मद किस प्रकार गवर्नर जनरल की मर्जी से कार्य करने पर राजी हो सकता था।

दोस्त मोहम्मद की मुख्य माँग यह थी कि ब्रिटिश सरकार पेशावर पर अधिकार दिलाने में उसकी मदद करे। पेशावर पर पहले अफगानिस्तान का अधिकार था। १८३४ में रणजीत सिंह ने पेशावर पर अधिकार कर लिया था। दोस्त मोहम्मद ने यह माँग की कि पेशावर सिखों से लेकर उसे दिला दिया जाये। एलेक्जांडर बर्न्स ने काबुल से गवर्नर जनरल को लिखा कि मिशन की सफलता के लिए अमीर को पेशावर के विषय में संतुष्ट करने की आवश्यकता थी। बर्न्स अमीर के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपना रहा था। प्रसिद्ध इतिहासकार जे.ए. नौरिस का कथन है कि दोस्त मोहम्मद को एलेक्जांडर बर्न्स से अच्छा वकील कभी नहीं मिल सकता था। लेकिन आकलैंड बर्न्स के विचार से प्रभावित नहीं हुआ। गवर्नर जनरल ने पेशावर के विषय में दोस्त मोहम्मद की माँगों को अस्वीकार कर दिया। उसका कहना था कि रणजीत सिंह के अंग्रेजों से घनिष्ठ सम्बन्ध थे और वह दोस्त मोहम्मद की संभावित मित्रता के लिए विश्वासपात्र मित्र को अप्रसन्न नहीं कर सकता था।

गवर्नर जनरल और बर्न्स के बीच पत्रों का जो आदान-प्रदान हुआ उससे यह साफ जाहिर है कि आकलैंड ने दोस्त मोहम्मद को संतुष्ट करने के लिए कुछ भी नहीं किया। वह केवल यह माँग करता रहा कि अमीर अंग्रेजों की इच्छा के अनुसार कार्य करने का आश्वासन दे। परिणाम यह हुआ कि बर्न्स मिशन असफल हो गया और आकलैंड ने उसे वापस आने की आज्ञा दे दी।

हेरात का घेरा

नवम्बर, १८३७ से अफगानिस्तान की पश्चिमी सीमा की ओर परशिया की सेनाएँ आगे बढ़ीं। परशिया का सुल्तान मोहम्मद शाह रूस का मित्र था और ब्रिटिश सरकार को आशंका यह थी कि रूस के उकसाने पर ही परशिया की सेनाएँ हेरात की ओर बढ़ी थीं। इन सेनाओं ने हेरात शहर पर घेरा डाल दिया था। परशिया की विजय हो जाने से हेरात पर भी रूसी प्रभाव बढ़ सकता था और हेरात तथा कंधार से भारत की ओर जाने वाले मार्ग पर रूस का प्रभाव भारतीय सुरक्षा के लिए कभी भी खतरा सिद्ध हो सकता था। अतः गवर्नर जनरल तथा ब्रिटेन की सरकार ने परशिया के आक्रमण का हर तरीके से विरोध करने का निश्चय किया।

हेरात पर इस समय दोस्त मोहम्मद का अधिकार नहीं था। दोस्त मोहम्मद का विरोधी कामरान यहाँ का शासक था, जो अधिक समय तक परशिया की सेनाओं का मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था। अप्रैल, १८३८ के बाद आकलैंड ने जब अफगान नीति का पुनर्मूल्याँकन किया तो हेरात पर परशिया के आक्रमण का प्रश्न भी उसे परेशान कर रहा था।

दोस्त मोहम्मद को अपदस्थ करने का गवर्नर जनरल का निर्णय

बर्न्स मिशन की असफलता के पश्चात् गवर्नर जनरल ने शीघ्र ही अफगानिस्तान पर

ब्रिटिश प्रभाव जमाने के लिए हस्तक्षेप करने का निर्णय किया। आकलैंड दोस्त मोहम्मद के रुख से पूर्णरूप से असंतुष्ट था। उसने मत प्रकट किया कि जब तक वह अमीर बना रहेगा, अफगानिस्तान और भारत सरकार के साथ संबंध सुधर नहीं सकते थे। मई, १८३८ में अफगान नीति पर विचार करते समय दोस्त मोहम्मद की उसने कटु आलोचना की। उसका कहना था कि दोस्त मोहम्मद ने जान-बूझकर ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत मित्रता के प्रस्तावों को ठुकरा दिया था। आकलैंड ने निश्चय किया कि ब्रिटिश प्रभाव को अफगानिस्तान में स्थापित करने के लिए अफगानों और सिखों के संबंधों को सुधारने के लिए पहला आवश्यक कदम यह था कि दोस्त मोहम्मद को हटाकर किसी ऐसे व्यक्ति को अमीर बनाया जाय जो अंग्रेजों की इच्छानुसार कार्य करने के लिये तैयार हो। अंग्रेजों ने भारतीय राजाओं के प्रति इसी प्रकार का व्यवहार किया था। जब भी वे किसी भारतीय शासक से असंतुष्ट हो जाते थे तो उसे हटाकर किसी अन्य राजा को राजगद्दी पर बिठा देते थे। इस समय अफगानिस्तान के प्रति भी गवर्नर जनरल ने कुछ ऐसी ही नीति अपनायी।

दोस्त मोहम्मद के स्थान पर आकलैंड ने शाहशुजा को अफगानिस्तान का अमीर बनाने का निश्चय किया। शाहशुजा १८०३ से १८०९ तक अफगानिस्तान का शासक रह चुका था। सत्ता के लिए होने वाले संघर्ष के कारण उसे अफगानिस्तान से भागकर भारत में शरण लेनी पड़ी थी। ब्रिटिश सरकार उसे पेंशन देती रही थी। आकलैंड ने विचार किया कि शाहशुजा के अमीर बन जाने से अफगानिस्तान पर एक मित्र का शासन हो जायेगा।

गवर्नर जनरल यह भली-भाँति समझता था कि दोस्त मोहम्मद को अपदस्थ करके शाहशुजा को अमीर उसी स्थिति में बनाया जा सकता था जबकि अफगानिस्तान के विरुद्ध कोई सैनिक अभियान भेजा जा सके। इस संबंध में पहले उसने रणजीत सिंह से बातचीत करना उचित समझा।

त्रिदलीय समझौता

१८३८ के मध्य तक आकलैंड ने अफगानिस्तान के प्रति सक्रिय अग्रगामी नीति अपनाने का निर्णय कर लिया था। रणजीत सिंह से बातचीत करने के लिए गवर्नर जनरल ने विदेश-सचिव, मैकनघटन को लाहौर भेजा। यहाँ पर जून, १८३८ में एक त्रिदलीय समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। ब्रिटिश सरकार, रणजीत सिंह और शाहशुजा के बीच शर्तें तय हुई। इस समझौते के अनुसार अफगानिस्तान तथा ब्रिटिश सरकार के वीच भावी संबंधों पर मुख्य निर्णय किये गये। यह निश्चय किया गया कि शाहशुजा और रणजीत सिंह की सेनाएँ मिलकर सैनिक अभियान में भाग लेंगी। ब्रिटिश सरकार ने संधि करते समय इससे अधिक उत्तरदायित्व नहीं लिया था कि वह धनराशि देगी तथा सहायता के लिए कुछ अधिकारी देगी।

कुछ ही महीनों में अभियान के संबंध में अंग्रेजों के उत्तरदायित्व में एक विशेष परिवर्तन आया। अब यह दिखाई देने लगा कि सिख सेना पर अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता था। रणजीत सिंह किसी बड़ी सेना को अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए भेजने को तैयार नहीं था। शाहशुजा के समर्थन के लिए अब मुख्य कार्य ब्रिटिश सेना को ही करना था। इस प्रकार अफगान युद्ध में मुख्य भूमिका इसी सेना को निभानी थी।

प्रथम अफगान युद्ध

अक्तूबर, १८३८ में आकलैंड ने अफगानिस्तान पर आक्रमण करने की घोषणा कर दी। इस घोषणा में दोस्त मोहम्मद के कार्यों का विस्तार से उल्लेख करते हुए युद्ध का उत्तरदायित्व उसी पर डालने का प्रयास किया गया। इस घोषणा में गवर्नर जनरल ने कहा कि अफगानिस्तान के अमीर ने ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया तथा पेशावर पर अधिकार करने के लिए सिखों पर आक्रमण कर दिया। दोस्त मोहम्मद राज्य-विस्तार की योजनाएँ बना रहा था जिससे भारत सरकार के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। घोषणा में दोस्त मोहम्मद पर यह दोष भी लगाया गया कि उसने परशिया की सहायता की थी। यह भी कहा गया कि शाहशुजा की लोकप्रियता अफगानिस्तान में बढ़ती जा रही थी और वह अपने साथियों और सहयोगियों की सहायता से काबुल का राजसिंहासन प्राप्त कर लेगा।

इस घोषणा में गवर्नर जनरल ने अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए सारा दोष दोस्त मोहम्मद को दिया। इस घोषणा के विषय में इतिहासकार हेनरी बेवरिज लिखता है कि इसमें 'अनुचित दोषारोपण, मिथ्या कथन तथा निरर्थक कल्पनाओं' की भरमार थी।

काबुल पर आक्रमण

दिसम्बर, १८३८ में इक्कीस हजार ब्रिटिश सेना अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के उद्देश्य से फीरोजपुर से आगे बढ़ी। हेनरी फेन इस सेना का सेनापति था। रणजीत सिंह ने अफगानिस्तान पर धावा बोलने के लिए पंजाब से ब्रिटिश सेना को रास्ता देना स्वीकार नहीं किया था। इस कारण ब्रिटिश सेना सिंध के रास्ते से अफगानिस्तान की ओर आगे बढ़ी। सिंध नदी को पार करके सेना क्वेटा पहुँची। अप्रैल, १८३९ में ब्रिटिश सेना ने बोलन दर्रा पार किया। इस सेना को मार्ग में बहुत कष्ट उठाना पड़ा, लेकिन अफगानों से युद्ध करने की आवश्यकता अधिक नहीं पड़ी। कंधार पर अधिकार करने में सेना को किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा। जुलाई में गजनी के किले पर अधिकार करने के लिए अफगान सेना से टक्कर हुई, लेकिन किले पर अधिकार करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई। इसके पश्चात् अगस्त, १८३९ में सेना काबुल के निकट पहुँची। यहाँ पर दोस्त मोहम्मद ने सेना का विरोध करने के लिए किसी प्रकार का युद्ध करने के बजाय राजधानी को खाली कर देना ही उचित समझा। दोस्त मोहम्मद अपने सहयोगियों के साथ हिन्दूकुश की ओर भाग गया। अफगानिस्तान के अमीर के पास इतनी सैनिक शक्ति नहीं थी कि वह ब्रिटिश सेना का विरोध करने की हिम्मत करता। इस प्रकार अगस्त में ही बिना किसी कठिनाई के ब्रिटिश सेना ने काबुल पर अधिकार कर लिया। सितम्बर में खैबर के रास्ते से आकर सिख सेना भी काबुल पहुँची। इस सेना ने अफगानिस्तान के शेष भाग पर अधिकार कर लिया था।

शाहशुजा की कमजोर स्थिति

अक्तूबर की घोषणा करते हुए गवर्नर जनरल ने विचार प्रकट किया था कि अफगान लोगों में शाहशुजा की लोकप्रियता बढ़ती जा रही थी। लेकिन जैसे-जैसे ब्रिटिश सेना अफगानिस्तान

के मध्य से होकर काबुल की ओर बढ़ी, यह प्रकट होने लगा कि शाहशुजा के प्रति अफगानों में किसी प्रकार का लगाव नहीं था। जब शाहशुजा ने काबुल पहुँचकर एक बार पुनः अपने पूर्वजों की राजगद्दी को प्राप्त किया तब भी राजधानी के निवासियों में किसी प्रकार का उत्साह नहीं दिखाई पड़ा। काबुल पहुँचने की शाहशुजा की यात्रा किसी शवयात्रा के समान दिखाई दी। शाहशुजा एक विदेशी सेना के साथ अफगानिस्तान आया था। अभिमानी अफगान ऐसे शासक का स्वागत करने को तैयार नहीं थे जिसने अपने बाहुबल के भरोसे नहीं, अपितु विदेशियों की मदद से राजगद्दी पर अधिकार किया था।

आकलैंड की नीति की कमजोरियाँ शीघ्र ही दिखाई देने लगीं। अफगानिस्तान के शासक पद के लिए उसने जिस व्यक्ति को चुना था वह अपने पैरों पर खड़ा होने की स्थिति में नहीं था। शाहशुजा ब्रिटिश सेना की सहायता के बिना शासन नहीं कर सकता था। ऐसी स्थिति में गवर्नर जनरल को अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। उसने अफगान युद्ध आरम्भ होने के पूर्व यह विश्वास प्रकट किया था कि शाहशुजा के शासक बन जाने के बाद सारी ब्रिटिश सेना तुरन्त अफगानिस्तान से वापस आ जायेगी। किन्तु काबुल पर अधिकार के बाद शाहशुजा की स्थिति को देखते हुए करीव नौ हजार ब्रिटिश सेना को अफगानिस्तान में अस्थायी तौर पर रखने का निश्चय किया गया। यह सेना काबुल, जलालाबाद, गजनी और कंधार के अलावा अफगानिस्तान के अन्य क्षेत्रों में फैली हुई थी।

अफगानिस्तान में एक प्रकार की दोहरी सरकार की स्थापना हुई। शांति और व्यवस्था तथा कर-संबंधी कार्यों के लिए अफगान अधिकारियों के अलावा ब्रिटिश सेना भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से शासन में हस्तक्षेप करने लगी।

अफगानिस्तान में ब्रिटिश सेना को रखने का आकलैंड का निर्णय दुर्भाग्यपूर्ण था। ब्रिटिश सीमा से दूर विरोधियों के बीच सेना रखने से किसी भी समय संकटपूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ सकता था। अफगान लोग स्वतंत्रता-प्रेमी थे और अधिक समय तक अपने देश में विदेशी सेना के आधिपत्य को वे सहन नहीं कर सकते थे। दो वर्षों तक तो शाहशुजा का शासन चलता रहा। किन्तु उसके बाद अचानक ही जो विस्फोट हुआ उसने आकलैंड की अफगान नीति के दोषों को प्रकट कर दिया।

अफगान विद्रोह

नवम्बर, १८४१ में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध अफगानों ने काबुल में विद्रोह आरंभ कर दिया। अलेक्जांडर बर्न्स और कुछ अन्य अधिकारियों की हत्या कर दी गयी। विद्रोह की आग धीरे-धीरे सुलगती रही और ब्रिटिश अधिकारियों ने विद्रोह का आरम्भ में ही तत्परता से दमन करने में ढिलाई की। धीरे-धीरे अफगानों का हौसला बढ़ता गया और वे हजारों की संख्या में काबुल को घेरने लगे।

दोस्त मोहम्मद का पुत्र अकबर खाँ इसी समय अपनी सेना लेकर काबुल आ गया और अफगानों के विद्रोह को संगठित करने लगा। अफगान सरदारों ने ब्रिटिश सेना को मिलने वाली सामग्री तथा रसद के सारे रास्ते बंद कर दिये। विद्रोही अफगान सरदार यह जानते थे कि भोजन

का संकट उत्पन्न हो जाने पर अंततः ब्रिटिश सेना को काबुल छोड़ना पड़ेगा।

आरम्भ से ही ब्रिटिश अधिकारियों ने विद्रोहियों से समझौता करने की नीति अपनायी। उन्होंने अफगानों का मुकाबला करने की हिम्मत ही नहीं की। दिसम्बर, १८४१ में ब्रिटिश सेना के अधिकारियों और अकबर खाँ के बीच समझौते की शर्तें तय हो गयीं। प्रमुख शर्त यह थी कि समस्त ब्रिटिश सेना अफगानिस्तान से हट जायेगी। यह सेना यथाशीघ्र हटने लगेगी और अकबर खाँ ने पूर्ण सुरक्षा से ब्रिटिश सेना को भारतीय सीमा तक जाने की व्यवस्था करने का वचन दिया। शाहशुजा के विषय में यह निश्चय किया गया था कि वह चाहे तो अफगानिस्तान में रह सकता था अथवा ब्रिटिश सेना के साथ वापस जा सकता था।

जनवरी, १८४२ में चार हजार ब्रिटिश सैनिक तथा अन्य बारह हजार असैनिक काबुल से भारतीय सीमा की ओर चले। कुछ ही समय बाद ब्रिटिश सेना के इतिहास में एक बहुत ही दर्दनाक घटना हुई। अकबर खाँ और उसके साथियों ने इस लौटती हुई सेना पर अचानक धावा बोल दिया। सारी सेना और असैनिक भी अफगानों द्वारा मार डाले गये। केवल एक अधिकारी जीवित बचा जिसने जलालाबाद आकर ब्रिटिश सेना के विनाश की घटना कही।

ब्रिटिश सेना का पुनः आक्रमण

ब्रिटिश सेना के सर्वनाश का समाचार जब भारत पहुँचा तो आकलैंड स्वदेश रवाना होने वाला ही था। अफगान विद्रोह के समाचार तथा ब्रिटिश सेना के मारे जाने के समाचार से वह स्तंभित रह गया। उसने भारत से जाने के पूर्व ही अपनी अफगान नीति के भयंकर दुष्परिणामों को देख लिया था। हताश अवस्था में और भारी मन से वह भारत से चला गया।

आकलैंड के उत्तराधिकारी एलनबरो ने अफगानों को सबक सिखाने के लिए तुरंत एक विशाल सेना अफगानिस्तान भेजने का निश्चय किया। एलनबरो ब्रिटिश सैन्य शक्ति की प्रतिष्ठा को अफगानिस्तान में पुनस्थापित करना अपनी पहली जिम्मेदारी समझता था। विद्रोहियों का पूर्ण दमन करने का भी निश्चय किया गया।

सितंबर, १८४२ में ब्रिटिश सेना ने एक बार फिर काबुल पर अधिकार किया। अकबर खाँ और उसके साथी सरदार कुछ समय तक मुकाबला करने के पश्चात् भाग गये। ब्रिटिश सेना ने मृतकों का बदला लेने के लिए काबुल के प्रसिद्ध बाजार को मटियामेट करके धूल में मिला दिया। इसी प्रकार के अन्य नृशंस कार्य करके ब्रिटिश सैन्य-शक्ति की छाप अफगानिस्तान पर लगाकर यह सेना वापस आ गयी।

दोस्त मोहम्मद का पुनः अमीर बनना

विद्रोह के दौरान ही शाहशुजा की हत्या कर दी गयी थी और काबुल की गद्दी खाली हो गयी थी। विद्रोह का दमन करने के पश्चात् जब सैनिक कार्यवाही पूरी हो गयी तो एलेनबरो को यह विचार करना था कि काबुल में अमीर की गद्दी के लिए ब्रिटिश सरकार की क्या नीति हो। गवर्नर जनरल ने निश्चय किया कि अफगानों का राष्ट्रीय विद्रोह हो जाने से ब्रिटिश सरकार के लिए पुनः किसी अमीर को काबुल की गद्दी पर बिठाना उचित नहीं होगा। उसने यह निर्णय

करने का कार्य अफगानों पर छोड़ दिया। वे जिसे चाहें अपना शासक चुन सकते थे। अफगान युद्ध की घटनाओं के विषय में एलेनबरो ने घोषणा जारी की। इसमें गवर्नर जनरल ने आकलैंड की नीति की आलोचना करते हुए कहा कि किसी शासक को अफगानों की इच्छा के विरुद्ध उन पर शासन करने के लिए बैठाने की नीति उचित नहीं थी। दोस्त मोहम्मद बंदी बनाकर भारत में ले आया गया था। एलेनबरो ने उसे मुक्त कर दिया। दोस्त मोहम्मद के स्वदेश पहुँचने पर अफगानों ने उसका स्वागत किया। वह पुनः काबुल का शासक बन गया। दोस्त मोहम्मद ने प्रथम अफगान युद्ध के बाद १८६३ तक शासन किया। संपूर्ण अफगानिस्तान को एक करने का उसने प्रयत्न किया और उसके ब्रिटिश सरकार से संतोषजनक संबंध बने रहे।

आकलैंड की अफगान नीति का मूल्याँकन

अफगान युद्ध की घटनाओं को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि आकलैंड की अफगान नीति हर प्रकार से असफल रही। विभिन्न इतिहासकारों ने उसके कार्यों की कटु आलोचना की है।

आकलैंड के उत्तरदायित्व के विषय में यह कहा गया है कि ब्रिटेन की सरकार के आदेशों का वह पालन कर रहा था और यदि नीति असफल हुई तो इसका दोष ब्रिटेन की नीति निर्धारित करने वालों को भी देना चाहिए। लेकिन तथ्य यह है कि जून, १८३६ में अफगानिस्तान के प्रति सक्रिय नीति अपनाने के अतिरिक्त और किसी प्रकार के सुझाव आकलैंड को नहीं दिये गये थे। गवर्नर जनरल ने दो वर्षों के बाद जब अचानक दोस्त मोहम्मद को अपदस्थ करने का निर्णय किया तो यह उसका ही निर्णय था। यह उसे मालूम था कि अमीर को हटाने के लिए सैनिक कार्यवाही करनी होगी। स्वयं गवर्नर जनरल ने ही ब्रिटिश सेना को अफगान अभियान के लिए भेजा। उसने केवल ब्रिटेन की सरकार को पूर्व-सूचना भेज दी थी। यह ध्यान रखना होगा कि ब्रिटेन के अधिकारियों ने उससे कहा था कि युद्ध पर विचार करने के पूर्व दोस्त मोहम्मद से पुनः बातचीत करने की कोशिश करे। लेकिन गवर्नर जनरल ने ऐसा कुछ नहीं किया। युद्ध करने के लिए आकलैंड को किसी प्रकार का निर्देश नहीं दिया गया और अफगानिस्तान पर आक्रमण करने की पूरी जिम्मेदारी केवल उसी की थी।

अफगानिस्तान ऐसे स्वतंत्र राज्य के बारे में आकलैंड ने जिस प्रकार की हस्तक्षेप करने की नीति अपनायी वह अनैतिक और अनुचित थी। दोस्त मोहम्मद परशिया अथवा रूस के साथ संबंध रखने को स्वतंत्र था। यह भी उसकी स्वेच्छा पर निर्भर करता था कि वह ब्रिटिश सरकार के प्रस्तावों को किस प्रकार स्वीकार करता। बर्न्स मिशन की असफलता के कुछ महीनों बाद ही दोस्त मोहम्मद को अपदस्थ करने का गवर्नर जनरल का निर्णय अन्यायपूर्ण था। उसे ऐसा करने का किसी प्रकार का अधिकार नहीं था।

आकलैंड ने बड़ी जल्दबाजी में अफगानिस्तान पर आक्रमण करने का निर्णय किया। बर्न्स के वापस आ जाने के पश्चात् कम से कम एक बार तो उसे कूटनीतिक प्रयास अवश्य करना चाहिए था। यह संभव था कि किसी चेतावनी से अमीर सचेत हो जाता। लेकिन उसे ऐसा अवसर नहीं दिया गया। आकलैंड ने दोस्त मोहम्मद के विषय में बर्न्स के मत की अवहेलना करके उस

पर अविश्वास किया। उसने यह विचार नहीं किया कि अमीर की दोस्ती उसके लिए कितनी उपयोगी सिद्ध हो सकती थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि १८३८ के मध्य में उसने आवेश में आकर दोस्त मोहम्मद को गद्दी से हटाने का निर्णय कर लिया। इस निर्णय से गवर्नर जनरल की कठिनाइयाँ बढ़ती गयीं।

गवर्नर जनरल की नीति की एक बड़ी कमजोरी यह भी थी कि जिस व्यक्ति को उसने अपना मोहरा बनाया वह सर्वथा अयोग्य था और उसकी कमजोरियों के कारण ब्रिटिश सरकार संकट की स्थिति में फँस गयी। शाहशुजा करीव तीस वर्ष पूर्व अफगानिस्तान से भागकर भारत आ गया था। इस बीच उसने कई बार अफगानिस्तान पर अधिकार करने की कोशिश की थी किन्तु वह सफल नहीं हो सका था। इतने समय के पश्चात् अफगानों पर भी उसका कोई प्रभाव नही रह गया था। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों की मदद से जिस प्रकार उसे काबुल का सिंहासन प्राप्त हुआ उसी प्रकार उनकी मदद से ही उसने शासन भी करना चाहा। यह व्यवस्था चल नहीं सकी और दो वर्षों के दौरान भी अफगान उसके विरोधी ही बने रहे। अंत में वह अपने देश में ही मार डाला गया। शाहशुजा की असफलता गवर्नर जनरल की असफलता थी।

आकलैंड अफगानिस्तान में ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करना चाहता था। लेकिन युद्ध की घटनाओं का परिणाम ठीक इसके विपरीत निकला। जब अंग्रेजों ने अफगानिस्तान को छोड़ा तो अफगानों की मित्रता प्राप्त नहीं कर सके थे। इतिहासकार जे.डब्ल्यू.के. का कहना है कि अफगान युद्ध के फलस्वरूप 'अफगानिस्तान के हर गाँव और शहर अंग्रेजों के दुश्मनों से भरे हुए थे।'

आकलैंड ने रूसी खतरे का सामना करने के लिए घबड़ाहट में कार्य किया। ब्रिटिश पालियामेंट में डिजराइली ने विचार प्रकट किया था कि रूस तब भी भारतीय सीमा से दो हजार मील दूर था। जब कि विरोधी इतना अधिक दूर था तो आकलैंड ने विरोधी से नहीं बल्कि उसकी छाया से संघर्ष करने का निश्चय किया। इसी प्रकार आकलैंड के आलोचकों ने कहा है कि अफगान अभियान का आरम्भ होने के पूर्व ही परशिया ने हेरात का घेरा हटा लिया था। ऐसी स्थिति में युद्ध आरम्भ करने का प्रमुख आधार समाप्त हो चुका था। लेकिन फिर भी गवर्नर जनरल ने यह कहकर अफगानिस्तान पर आक्रमण किया कि परशिया की सेनाओं के पीछे हट जाने से समस्या का समाधान नहीं हुआ था क्योंकि किसी समय परशिया पुनः आगे बढ़कर संकट पैदा कर सकता था।

आकलैंड ने अफगान नीति निर्धारित करते समय अफगानों की राष्ट्रीय भावना का कोई ध्यान नहीं दिया था। उसका अनुमान था कि शाहशुजा के काबुल पर अधिकार करने तथा दोस्त मोहम्मद को अपदस्थ करने की कार्यवाही को अफगान के निवासी मूक स्वर में स्वीकार कर लेंगे। लेकिन घटनाक्रम ने सिद्ध कर दिया कि अफगानों में ब्रिटिश सेना के आगमन से विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होती रही और जब विस्फोट हुआ तो स्वयं गवर्नर जनरल स्तंभित रह गया। वह सोच भी नहीं सकता था कि ब्रिटिश सेना को इस प्रकार के संकट का सामना करना पड़ सकता था।

अफगान युद्ध के परिणाम

इसमें कोई संदेह नहीं कि अफगान युद्ध से किसी भी पक्ष को कोई भी लाभ नहीं हुआ। अंग्रेजों का मुख्य उद्देश्य अफगानिस्तान में एक मित्र शासक को गद्दी पर बैठाना था। अंग्रेज इस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके। शाहशुजा केवल दो वर्ष तीन महीने तक ब्रिटिश सेना की सहायता से शासन कर सका। इसके बाद वह मार डाला गया। दोस्त मोहम्मद पुनः अफगानिस्तान का शासक बन गया और इसके पश्चात् भी इक्कीस वर्षों तक शासन करता रहा। इस प्रकार अंग्रेज़ अफगानिस्तान में युद्ध के कारण कोई विशेष सुविधा प्राप्त नहीं कर सके।

इस अभियान के कारण ब्रिटिश सरकार को धन और जन की अपार क्षति हुई। युद्ध में बीस हजार से अधिक व्यक्ति मार डाले गये और कम से कम दो करोड़ रुपया बिना किसी कारण ही खर्च कर डाला गया। इतिहासकार जे.डब्ल्यू.के. ने इसी कारण मत प्रकट किया कि 'इतिहास के पन्नों में इतनी पूर्ण और जबर्दस्त असफलता का उल्लेख नहीं मिलता।'

इस युद्ध के परिणामस्वरूप ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने की नीति छोड़ दी। एलेनबरो ने घोषणा की कि अफगानिस्तान के निवासी ही यह निर्णय करेंगे कि कौन उनका शासक बने। स्पष्ट है कि हस्तक्षेप की नीति की असफलता का ध्यान भावी शासकों को भी बना रहा।

सिंध पर अंग्रेजों का अधिकार

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में बलूची जाति की तालपुरा शाखा के एक प्रमुख सरदार फतेह अली खाँ ने सिंध पर अधिकार स्थापित किया। १८०० में इसकी मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार के सदस्यों ने इस प्रदेश को आपस में विभाजित कर लिया। सिंध के शासक अमीर कहलाते थे और तीन प्रमुख राजवंश के प्रतिनिधि वहाँ शासन करने लगे – एक सिंध के उत्तरी भाग में जिसकी राजधानी खैरपुर थी, दूसरा सिंध के दक्षिण के क्षेत्र में जिसकी राजधानी हैदराबाद थी और तीसरा उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में जिसकी राजधानी मीरपुर थी। सिंध की जनसंख्या अधिक नहीं थी। अनुमान यही है कि इस प्रदेश में करीब दस लाख लोग रहते थे। उपजाऊ भूमि की कमी थी और इस प्रदेश के कई भाग जंगलों से घिरे थे। सिंध के अमीरों के मतभेदों के कारण और इस राज्य की निर्धनता के फलस्वरूप यह प्रदेश सैनिक दृष्टि से शक्तिहीन था।

सिंध की भौगोलिक स्थिति के कारण इन अमीरों को हर समय भय बना रहता था। सिंध के पश्चिम में अफगानिस्तान राज्य था जिसके शासकों ने सिंध को अपने अधिकार-क्षेत्र में कर लिया था। १८०० के उपरान्त भी अफगान शासक सिंध पर अधिकार का दावा करते थे। जब तक अफगानिस्तान में आंतरिक गृहकलह और सत्ता के लिए संघर्ष चल रहा था, अफगानिस्तान के शासक को सिंध की ओर ध्यान देने का अवसर नहीं था किन्तु वहाँ किसी भी शक्तिशाली अमीर द्वारा सत्ता सँभालते ही सिंध पर दबाव बढ़ सकता था। सिंध की सीमा के उत्तरी भाग तक रणजीत सिंह के राज्य का विस्तार हो चुका था। रणजीत सिंह ने एक विशाल सेना भी संगठित कर ली थी और वह ऐसे अवसर की प्रतीक्षा कर रहा था जब सिंध की ओर भी वह अपने राज्य को बढ़ा सके। सिंध के पूर्व में कच्छ तक ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार हो चुका था। कच्छ से अंग्रेज भी इस प्रदेश की ओर ध्यान देने लगे थे।

विलियम बेंटिंक की सिंध के प्रति नीति

१८३० तक अंग्रेजों ने सिंध में प्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया। उनका ध्यान देश के अन्य क्षेत्रों पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करने में लगा हुआ था। लेकिन सिंध पर वे किसी अन्य शक्ति का प्रभाव भी नहीं बढ़ने देना चाहते थे। विशेष रूप से अंग्रेजों को रणजीत सिंह की विस्तारवाद की योजना पर निगरानी रखनी पड़ी। जब भी रणजीत सिंह ने सिंध की ओर बढ़ने का प्रयास किया, उसे ऐसा करने से रोका गया। १८३१ में विलियम बेंटिंक और रणजीत सिंह के बीच जब रूपड़ में बातचीत हुई तो गवर्नर जनरल ने बड़ी सतर्कता से बातचीत की। रणजीत सिंह और अंग्रेजों के बीच मित्रतापूर्ण संबंधों को बनाये रखना भी उतना ही आवश्यक था जितना सिंध की ओर उसके राज्यविस्तार को रोकना। इसी भेंट में रणजीत सिंह ने यह भी प्रस्ताव किया कि अंग्रेज और सिख मिलकर सिंध पर अधिकार कर लें। विलियम बेटिंक ने ऐसे प्रस्ताव का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया। गवर्नर जनरल सिखों की सहायता से नहीं अपितु केवल ब्रिटिश सेना के बल पर किसी उपयुक्त अवसर में सिंध पर अधिकार जमाने की नीति अपना रहा था।

१८३० में इंग्लैंड-स्थित कंपनी के अधिकारियों ने मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए एक लंबी अवधि की योजना तैयार की। उन्होंने गवर्नर जनरल को निर्देश दिये कि बोखारा से कैस्पियन सागर के बीच के मध्य एशिया के राज्यों से संपर्क बढ़ाने के उद्देश्य से व्यापारिक संबंध स्थापित किये जायें। यह विचार किया गया था कि व्यापार बढ़ जाने के बाद ब्रिटेन के राजनीतिक प्रभाव को इस क्षेत्र में बढ़ाना संभव हो सकेगा। मध्य एशिया के राज्यों के साथ व्यापार बढ़ाने के लिए सिंध नदी के जलमार्ग का उपयोग करने का निश्चय किया गया। इसे 'सिंध योजना' कहा गया। योजना का उद्देश्य यह था कि सिंध नदी के मार्ग से जहाजों और बड़ी नौकाओं की मदद से वस्तुओं को समुद्र से उत्तर के क्षेत्रों तक पहुँचाया जाय। इस योजना को कार्यरूप देने के पूर्व सिंध नदी का पर्यवेक्षण करने की आवश्यकता थी। सिंध जलमार्ग की पूरी जानकारी प्राप्त करने के लिए एक अंग्रेज अधिकारी अलेक्जांडर बर्न्स को सिंध से होकर लाहौर जाने के लिए तैयार किया गया। सिंध नदी द्वारा यात्रा करने का बहाना यह बनाया गया कि ब्रिटेन के महाराजा ने छह घोड़े और कुछ अन्य वस्तुओं को महाराजा रणजीत सिंह को भेंट करने का निश्चय किया था जिन्हें लाहौर तक पहुँचाना जरूरी था।

अंग्रेज अधिकारी की सिंध नदी की यात्रा के पूर्व सिंध के अमीरों से अनुमति प्राप्त की गयी। सिंध के अमीर अंग्रेजों से बहुत शंकित रहते थे और हर प्रकार से इस देश से वे अंग्रेजों को दूर रखना चाहते थे। परन्तु सिख महाराजा के दबाव के कारण उन्हें बर्न्स की यात्रा को स्वीकार करना पड़ा। १८३१ में बर्न्स सिंध नदी से होकर लाहौर गया। उसने गवर्नर जनरल को सूचना भेजी कि सिंध नदी व्यापार के लिए पूर्णरूप से उपयुक्त थी।

व्यापारिक संधि

बर्न्स मिशन की सूचना के अनुसार गवर्नर जनरल और अन्य अधिकारियों में यह विश्वास बढ़ा कि सिंध नदी के मार्ग से व्यापार का विस्तार किया जा सकता था। विलियम बेंटिंक ने

हेनरी पोटिंगर को सिंध जाकर तीनों प्रमुख अमीरों से बातचीत करने को कहा। इस अंग्रेज अधिकारी को अमीरों के साथ व्यापारिक संधि की आज्ञा दी गयी। आरम्भ में अमीर तैयार नहीं थे। उन्हें आशंका थी कि व्यापार की सुविधा की माँग करने के पश्चात् अंग्रेज किसी भी समय सिंध जलमार्ग का उपयोग सैनिक कार्यों के लिए कर सकते थे।

अप्रैल, १८३२ में सिंध के अमीर अंग्रेजों से व्यापारिक संधि के लिए तैयार हो गये। सिंध के अमीर व्यापारियों को नदी से या सड़कों से वस्तुओं को ले जाने की सुविधा देने को तैयार हो गये। संधि करते समय यह स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया गया था कि सिंध से किसी प्रकार का युद्ध में काम आने वाला सामान नहीं ले जाया जायेगा।

ब्रिटिश रेजीडेंट की नियुक्ति

सिख महाराज रणजीत सिंह सिंध की ओर साम्राज्य बढ़ाने की कोशिश कर रहा था। सिंध के अमीर उसकी सैन्य शक्ति से भयभीत थे। अंग्रेजों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। एक ओर तो उन्होंने सिख महाराज को चेतावनी दी कि वह शिकारपुर पर अधिकार करने के लिए अपनी सेनाएँ सिंध की ओर न भेजे तथा दूसरी ओर उन्होंने अमीरों से प्रस्ताव किया कि वे सिंध की सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार का संरक्षण स्वीकार कर लें। ब्रिटिश नीति थी रणजीत सिंह का भय दिखाकर सिंध के अमीरों पर प्रभाव बढ़ाना।

अमीरों और अंग्रेजों के बीच संबंध अब व्यापार तक ही सीमित नहीं रह गये। १८३८ में जब उन्होंने सिंध में ब्रिटिश रेजीडेंट की नियुक्ति को स्वीकार कर लिया तो दोनों पक्षों के बीच राजनीतिक संबंधों का आरंभ हुआ ब्रिटिश रेजीडेंट जब सिंध में रहने लगा तो अंग्रेज सिंध पर प्रभाव जमाने की स्थिति में हो गये। हेनरी पोटिंगर को पहला रेजीडेंट नियुक्त किया गया। रेजीडेंट की सुरक्षा के लिए कुछ ब्रिटिश सेना रखी गयी। ब्रिटिश रेजीडेंट हैदराबाद में रहने लगा।

प्रथम अफगान युद्ध और सिंध

१८३९ से १८४३ तक सिंध में होने वाली घटनाएँ प्रथम अफगान युद्ध से सम्बद्ध थीं। रणजीत सिंह, शाहशुजा और अंग्रेजों के बीच हुए त्रिदलीय समझौतों तथा आकलैंड द्वारा अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के निर्णय से अमीर अत्यधिक प्रभावित हुए।

यद्यपि त्रिदलीय समझौते में सिंध को शामिल नहीं किया गया था फिर भी इसके कारण अंग्रेजों ने एक बड़ा आर्थिक बोझ अमीरों के ऊपर लादा। अमीरों के साथ किया गया अंग्रेजों का यह पहला अन्याय था। अमीरों से कहा गया कि वे पच्चीस लाख रुपया शाहशुजा को दें। इस माँग का आधार यह बताया गया कि कुछ दशकों पूर्व अमीरों ने अफगानिस्तान के शासक को वार्षिक कर देने का आश्वासन दिया था। यह कहा गया कि इस धनराशि को प्राप्त करने के पश्चात् अमीरों को इस कर से हमेशा के लिए मुक्त कर दिया जायेगा। जब ब्रिटिश रेजीडेंट ने शाहशुजा की ओर से यह माँग प्रस्तुत की तो अमीर अचम्भे में पड़ गये। उन्होंने कहा कि अफगानिस्तान के शासक को इस प्रकार की माँग करने का कोई अधिकार नहीं था क्योंकि कई वर्षों पूर्व उन्होंने अफगान शासक से इस विषय पर समझौता कर लिया था। इसके अनुसार अफगानिस्तान के शासक ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि भविष्य में किसी प्रकार के कर की

माँग उनसे नहीं की जायेगी। अमीरों ने ब्रिटिश प्रतिनिधि को इस संबंध में दस्तावेज भी प्रस्तुत करने चाहे। लेकिन पोटिंगर ने उनकी हर दलील को अस्वीकार कर दिया। निदान, अमीरों को यह धनराशि अदा करनी पड़ी।

लेकिन केवल धन अदा करने से ही अमीरों की कठिनाइयों का अंत नहीं हुआ। १८३८ में ही ब्रिटिश सेना को सिंध से होकर अफगानिस्तान पर आक्रमण करने के लिए भेजा गया। ब्रिटिश सेना के आने और जाने में अमीरों को सहयोग करने को कहा गया। सेना के आवागमन की दृष्टि से सिंध के कुछ स्थानों पर ब्रिटिश सेना ने अधिकार कर लिया। इस प्रकार कराची, शिकारपुर तथा बक्कर पर अधिकार कर लिया गया। फरवरी, १८३६ में सिंध के अमीरों के साथ आकलैंड ने पुनः एक संधि की जिसके अनुसार ब्रिटिश प्रभाव सिंध पर और अधिक बढ़ा। इस संधि की मुख्य शर्त यह थी कि सिंध के अमीर ब्रिटिश सहायक सेना रखने को तैयार हो गये। इस सहायक सेना के खर्च के लिए उन्होंने प्रतिवर्ष तीन लाख रुपया कंपनी को देना स्वीकार कर लिया। इसी संधि के अनुसार अमीरों ने यह स्वीकार किया कि वे ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना किसी अन्य राज्य से सम्बन्ध स्थापित नहीं करेंगे।

इस संधि की शर्तों से तथा ब्रिटिश सैन्यशक्ति के बढ़ते हुए दवाव को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अफगान युद्ध के दौरान अमीर अपनी स्वतंत्र सत्ता को हमेशा के लिए खो चुके थे। अब अंग्रेजों के बढ़ते हुए प्रभाव से बचना अमीरों के लिए संभव नहीं था। आकलैंड के समय में सिंध अंग्रेजों के राजनीतिक और सैनिक प्रभाव क्षेत्र में आ चुका था।

एलेनबरो की नीति

मार्च, १८४२ में एलेनबरो ने गवर्नर जनरल का पद सँभाला। संधि के समय से अब तक की परिस्थिति बदल चुकी थी। अफगान संकट के बाद उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ब्रिटिश प्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता थी। गवर्नर जनरल इस कारण प्रभावशाली नीति अपनाने के पक्ष में था। इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्रथम अफगान युद्ध के समय सिंध के सामरिक महत्त्व का ज्ञान अंग्रेजों को हो चुका था। उन्होंने अनुभव किया कि अफगानिस्तान पर प्रभाव जमाने के लिए सिंध पर अधिकार करना एक आवश्यक कदम था। इस स्थिति में आकलैंड के समय में सिंध के प्रति मित्रता का जो रुख दिखायी देता रहा था उसमें परिवर्तन आया।

सिंध के अमीरों ने अफगान युद्ध के दौरान सभी संभव तरीकों से अंग्रेजों की सहायता की थी। लेकिन गवर्नर जनरल ने कभी इसे स्वीकार नहीं किया। इसके विपरीत अमीरों पर यह दोषारोपण किया गया कि वे कंपनी के विरुद्ध अन्य राज्यों से साठगाँठ कर रहे थे। यह आरोप भी लगाया गया कि उन्होंने संधि की शर्तों की अवहेलना करके युद्ध के कार्यों में बाधा डाली थी और ब्रिटिश अधिकारियों के साथ अच्छा व्यवहार भी नहीं किया था।

चार्ल्स नेपियर की नियुक्ति

गवर्नर जनरल ने सितंबर, १८४२ में एक नये रेजीडेंट, चार्ल्स नेपियर, की नियुक्ति की।

नेपियर एक सैनिक अधिकारी था जो कुछ ही महीनों पूर्व भारत आया था। उसे यह आज्ञा दी गयी कि वह सिंध में स्थित ब्रिटिश सेना को संगठित करे तथा अमीरों से राजनीतिक संबंध स्थापित करे। नेपियर को कूटनीति पर अधिक भरोसा नहीं था। उसने आरम्भ से ही सिंध में ब्रिटिश सैन्य शक्ति को बढ़ाया। शीघ्र ही उसने अमीरों के विरुद्ध युद्ध आरंभ करके सैनिक संघर्ष में अपनी योग्यता दिखाने का अवसर ढूँढ निकाला।

नेपियर को गवर्नर जनरल ने यह आदेश दिया कि अमीरों के साथ एक नयी संधि की जाये। इस संधि की शर्तें ब्रिटिश प्रतिनिधि के पास भेज दी गयीं। प्रस्तावित संधि द्वारा यह माँग की गयी थी कि कराची बंदरगाह, शिकारपुर तथा सिंध नदी पर स्थित सक्कर और बक्कर के किले तथा उसके आसपास की भूमि अंग्रेजों को सौंप दी जाय। सहायक सेना के खर्च के बदले इन क्षेत्रों पर अधिकार की माँग की गयी। अमीरों से यह माँग भी की गयी कि ब्रिटिश स्टीमरों को अधिक सुविधाएँ दें। इसी संधि में यह धारा भी थी कि सिंध में सिक्के चलाने का अधिकार कंपनी के हाथ में हो। इन सिक्कों के एक ओर ब्रिटिश शासक का चित्र रहना था।

सिंध के अमीर अभी तक अंग्रेजों की माँगों को स्वीकार करते आ रहे थे। उन्होंने किसी भी संधि को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं किया था। जब इस संधि की शर्तों का उन्हें ज्ञान हुआ तो उनके धैर्य का बाँध टूट गया। उन्होंने देखा कि उनके अधिकार पूर्णरूप से समाप्त हो जायेंगे और उनके राज्य में ब्रिटिश सेना स्थायी रूप से रहने लगेगी। इस बार वे संधि को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे और नेपियर अमीरों की आपत्तियाँ सुनने को तैयार नहीं था। इससे दोनों पक्षों के बीच संघर्ष की नौबत आ गयी।

इसी समय खैरपुर के अमीर के पद के लिए संघर्ष छिड़ जाने से परिस्थिति और भी जटिल हो गयी। खैरपुर के बूढ़े अमीर अली रुस्तम के उत्तराधिकार के लिए उसके छोटे भाई अली मुराद और उसके पुत्र के बीच संघर्ष था। नेपियर ने अली मुराद का पक्ष लिया। उसके हस्तक्षेप करने से अन्य सरदार अप्रसन्न हो गये और वे उसका विरोध करने के लिए संगठित होने लगे।

फरवरी, १८४३ में सिंध के अमीरों की सेना तथा बलोची सरदारों के सहायकों और नेपियर की ब्रिटिश सेना के बीच हैदराबाद से छह मील दूर मैयामी नामक स्थान पर युद्ध छिड़ गया। यहाँ पर अमीरों की सेना और ब्रिटिश सेना के बीच घमासान युद्ध हुआ जिसमें करीब पाँच हजार बलोची सैनिक मारे गये। नेपियर की विजय हुई। युद्ध के समय उसने जिस साहस और योग्यता का परिचय दिया उसकी सर्वत्र प्रशंसा की गयी।

सिंध पर अधिकार

मैयामी की विजय के पश्चात् ब्रिटिश सेना ने हैदराबाद पर अधिकार कर लिया। एक महीने के बाद ही उन्होंने दूसरा युद्ध जीतकर खैरपुर पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सिंध पर उनका अधिकार हो गया। कुछ महीनों के पश्चात् सिंध को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। सिंध पर शासन करने के लिए नेपियर को गवर्नर बनाया गया।

सिंध की घटनाओं से यह स्पष्ट है कि अफगान युद्ध के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र पर भी

ब्रिटिश प्रभाव बढ़ता गया। एलेनबरो ने नेपियर ऐसे महत्त्वाकांक्षी सैनिक अधिकारी को सिंध पर ब्रिटिश अधिक़ार जमाने का अवसर प्रदान किया। नेपियर ने शीघ्र ही युद्ध करके सिंध पर अधिकार कर लिया। नेपियर ने स्वीकार किया था कि 'हमें सिंध को जीतने का कोई अधिकार नहीं है, फिर भी हम ऐसा करेंगे और यह एक लाभदायक, उपयोगी और मानवतापूर्ण धूर्तता होगी।' इतिहासकार एल.जे. ट्रोटर का मत है कि सिंध पर अधिकार करना ब्रिटिश भारत पर शासन करने वालों का 'सबसे बुरा अपराध था।' गवर्नर जनरल के कार्य की ब्रिटिश पार्लियामेंट में भी कटु आलोचना की गयी। लंदन के प्रसिद्ध दैनिक 'द टाइम्स' ने इस अन्यायपूर्ण कार्य की आलोचना करते हुए सिंध की 'खुल्लमखुल्ला लूट' की भर्त्सना की।

●●●

सोलहवाँ अध्याय

डलहौजी द्वारा राज्य विस्तार और सुधार के उपाय

१८४८ से १८५६ तक कम्पनी के प्रशासन का संचालन डलहौजी ने किया। गवर्नर जनरल का पद सँभालते ही उसने राज्य-विस्तार के उपाय ढूँढने शुरू कर दिये और लगातार किसी न किसी भारतीय राज्य को ब्रिटिश अधिकार में लेने की कोशिशें करता रहा। विस्तारवादी नीति, अपनाते समय उसने ब्रिटिश अधिकार क्षेत्र को हर सम्भव तरीके से बढ़ाया क्योंकि उसने अनुभव कर लिया था कि समय उसके अनुकूल था। उसके कार्यकाल शुरू होने तक भारतीय राज्य पर्याप्त निर्बल हो चुके थे। ब्रिटिश अधिपत्य का विरोध करने की उनमें क्षमता नहीं थी। गवर्नर जनरल ने इस वस्तु स्थिति को समझते हुए अंग्रेजों के अधीन क्षेत्रों का विस्तार करने का सिलसिला जारी रखा। डलहौजी के कार्यकाल का एक पहलू और भी है। उसने अनेक प्रशासनिक, सामाजिक और आर्थिक सुधार किये। उसके शासनकाल पर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता इस कारण है क्योंकि उसके भारत से जाने के एक वर्ष बाद ही विद्रोह प्रारम्भ हो गया। उसके शासन की परख करते समय इस विशेष संदर्भ को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

डलहौजी की राज्य-विस्तार की नीति

टामसन और गैरेट ने ठीक ही कहा है कि डलहौजी के समय 'कंपनी किसी भी बहाने राज्यों को हड़पने के ज्वर की लहर' में थी। देशी राज्यों के संबंध में कंपनी की नीति के तीन विभाग किये गये हैं। आरंभिक काल में कंपनी की नीति थी सुरक्षा की दृष्टि से देशी राज्यों के घेरे को कंपनी के राज्य के चारों ओर बनाये रखना। १८१८ तक इस नीति का अनुसरण किया गया। देशी राज्यों को 'विदेशी राज्य' माना जाता था और कंपनी इनके आंतरिक मामलों में कम से कम हस्तक्षेप करती थी। दूसरा काल १८१८ से १८५८ तक रहा। इस समय 'अधीनस्थ अलगाव' की नीति अपनायी गयी। लार्ड हेस्टिंग्स ने इस नीति का आरंभ किया था और डलहौजी के शासनकाल तक इसी नीति के अनुसार कार्यवाही की गयी। इस युग की विशेषता यह है कि कंपनी की सर्वोपरि सत्ता एक ऐसा सत्य बन गयी कि इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता था। सभी संभव उपायों से कंपनी के अधिकारी इस 'सर्वोपरि सत्ता' के सिद्धांत का प्रतिपादन करने लगे। कंपनी देशी रियासतों पर पूरी तरह से हावी हो गयी। कंपनी की सैनिक शक्ति के सहारे देशी नरेश अपने राज्य का शासन चलाते थे। उनकी निजी शक्ति इतनी कमजोर हो चुकी थी कि वे किसी भी समय कंपनी को चुनौती देने का विचार नहीं कर सकते थे। कंपनी ने सम्पूर्ण भारत में शांति बनाये रखने का एकाधिकार ग्रहण कर लिया था। देशी रियासतों में किसी भी प्रकार की अशांति को रोकने के बहाने कंपनी हस्तक्षेप करने लगी थी। लार्ड हेस्टिंग्स के शासनकाल से डलहौजी के समय तक प्रत्येक गवर्नर जनरल देशी रियासतों पर अधिक से अधिक

प्रभाव जमाने की नीति अपनाने लगा तथा हस्तक्षेप करना उसके लिए एक सर्वमान्य अधिकार बन गया। इससे यह स्पष्ट है कि डलहौजी के आने के समय तक कंपनी का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ चुका था और गवर्नर जनरल हर संभव ढंग से देशी राज्यों की व्यवस्था को संचालित करने लगे थे।

डलहौजी द्वारा जो नीति देशी राज्यों के प्रति अपनायी गयी वह उसके पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों से भिन्न थी। अन्य गवर्नर जनरलों ने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में उसी स्थिति में मिलाया जब कोई विशेष सैनिक अथवा राजनीतिक आवश्यकता थी। किन्तु डलहौजी ने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में जिस प्रकार भी संभव हो सके, मिला लेना अपना लक्ष्य बना लिया और बराबर इसी लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहा। इतिहासकार इंस ने उसकी नीति के विषय में इस प्रकार लिखा है : 'उससे पहले के गवर्नर जनरलों ने साधारणतया इस सिद्धांत के आधार पर कार्य किया कि जिस प्रकार भी संभव हो राज्य विस्तार न किया जाये। डलहौजी ने इस सिद्धांत पर कार्य किया कि जिस प्रकार भी हो सके राज्य विस्तार को उचित सिद्ध करके पूरा किया जाये।'

अब हमें विचार करना होगा कि डलहौजी ने राज्य विस्तार की नीति किन परिस्थितियों में अपनायी। इसके कई कारण दिये जा सकते हैं। प्रथम तो गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत चरित्र के कारण ऐसी नीति अपनायी गयी। डलहौजी साम्राज्यवादी विचारों का व्यक्ति था। उसने ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करके नाम कमाने का दृढ़ निश्चय किया। दूसरे, भारत की परिस्थितियाँ १८४८ में इस प्रकार की थीं कि किसी भी महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति का उत्साह बढ़ सकता था। इस समय तक ब्रिटिश शक्ति समूचे भारत पर स्थापित हो चुकी थी। कई बार बिना कोई युद्ध किये ही कंपनी बड़े से बड़े राज्यों को नचा देती थी। दो उदाहरण लिये जा सकते हैं। डलहौजी ने हैदराबाद के निजाम को जैसे ही धमकी दी, वह बरार का क्षेत्र अंग्रेजों को सौंपने के लिए तैयार हो गया। अवध ऐसे बड़े राज्य को अंग्रेजों ने ब्रिटिश राज्य में मिला लिया, लेकिन इसके लिए उन्हें एक भी गोली चलाने की आवश्यकता न पड़ी। देशी राज्य पेड़ में लगे उस प्रकार के पके फलों की तरह थे जिन्हें केवल हिलाकर ही तोड़ लिया जा सकता था और डलहौजी ने ऐसा ही किया। बड़ी सरलता से वह एक के बाद दूसरे देशी राज्यों को हड़पता गया। तीसरे, डलहौजी भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के स्वरूप को बदल डालना चाहता था। १८४८ में उसने देखा कि भारत का क्षेत्र सीधे अंग्रेजों के अधीन था, वह उस क्षेत्र से काफी कम था जो देशी राज्यों के अधीन था। गवर्नर जनरल ने इस अनुपात को तुरंत बदल देने का निश्चय किया। उसे यह स्थिति कदापि पसंद नहीं थी कि देश के इतने बड़े भाग पर देशी राजाओं का शासन हो। चौथे, सुधारवादियों के प्रभाव के कारण भी साम्राज्य-विस्तार की भावना को बल मिला। प्रसिद्ध उदारवादी दार्शनिक जेम्स मिल ने देशी नरेशों के शासन को समाप्त करने की माँग की थी। उसका कहना था कि ये नरेश मनमाने ढंग से शासन करते थे। मिल तथा अन्य सुधारवादी लेखकों ने ब्रिटेन में यह विचार प्रचारित किया कि जब तक ब्रिटिश सरकार शासनसूत्र को स्वयं नहीं सँभालेगी, न्याय और व्यवस्था कायम नहीं होगी। डलहौजी जब भारत आया तो उसने सुधारवादियों की नीति के अनुसार कार्य करना चाहा। उसने मत व्यक्त किया कि ब्रिटिश शासन

देशी नरेशों के शासन से कहीं अधिक अच्छा था। इस प्रकार उसने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि अंग्रेजी शासन के द्वारा भारतीय जनता को देशी नरेशों के शासन के मुकाबले में अधिक लाभ होगा और उनके कल्याण के लिए अधिक उपाय किये जायेंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन प्रणाली की श्रेष्ठता सिद्ध करके डलहौजी ने राज्य-विस्तार को उचित ठहराया। भारत आने के कुछ महीनों बाद ही उसने अपनी नीति की व्याख्या इस प्रकार की : 'मैं अपना दृढ़ और संकल्पित मत व्यक्त कर रहा हूँ कि ब्रिटिश सरकार के लिए यह एक सूझ-बूझ और समझदारी की नीति होगी कि वह अधिक से अधिक क्षेत्र पर अधिकार करे तथा अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करने वाले अवसर को अपने हाथ से न जाने दे।' इसी वक्तव्य में पाँचवाँ कारण स्पष्ट होता है। राज्य-विस्तार हर प्रकार से कंपनी के लिए लाभ का सौदा था। इस तरीके से उसने कंपनी की आमदनी को चालीस लाख पौंड बढ़ाया। इसके अलावा राज्य-विस्तार से अन्य आर्थिक लाभ भी हुए। ब्रिटेन में इस समय औद्योगिक क्रांति हो रही थी। ब्रिटेन के उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता थी। बरार क्षेत्र पर अधिकार करके तथा नागपुर राज्य को हड़प कर अंग्रेजों ने बढ़िया कपास पैदा करने वाले क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लिया। यह कपास ब्रिटेन भेजी जाने लगी तथा ब्रिटेन के मिलों और कारखानों में बना हुआ सामान भारत आकर बिकने लगा। डलहौजी ने साम्राज्य-विस्तार करके ब्रिटेन के व्यापार का विस्तार करने का अवसर प्राप्त किया। डलहौजी को राज्य-विस्तार की भूख कभी भी पूरी न हो सकी। उसने दो प्रकार से देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया। एक तो ऐसे राज्य मिलाये गये जो ब्रिटिश साम्राज्य की सीमा पर स्थित थे, जैसे पंजाब और बर्मा। इन राज्यों पर अधिकार करने से ब्रिटिश सीमा बढ़ी। दूसरे प्रकार के वे राज्य थे जिनके चारों ओर अंग्रेजों का राज्य था और जिन पर अधिकार करके ब्रिटिश साम्राज्य को और अधिक 'संगठित' कर लिया गया। सतारा तथा अवध आदि राज्यों पर अधिकार करते समय यही तर्क रखा गया कि इससे ब्रिटिश साम्राज्य अधिक सुसंगठित हो जायेगा।

राज्य विस्तार की योजना पूरी करने के लिए डलहौजी ने चार प्रकार के साधन अपनाये– १. पड़ोस के राज्यों पर युद्ध लादना; २. कुशासन का आरोप लगाना; ३. कर्ज की रकम के बदले में, ४. गोद लेने की प्रथा का निषेध करके। इन साधनों का अलग-अलग वर्णन करना आवश्यक है।

युद्ध द्वारा राज्य विस्तार

डलहौजी ने सबसे पहले पंजाब पर आक्रमण कर दिया। दूसरे सिख युद्ध की चर्चा अन्यत्र की गयी है। इस युद्ध की घटनाओं से स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल ने परिस्थिति का पूरा लाभ उठाया। पंजाब के विद्रोह को दबाने के तुरंत बाद उसने इस प्रदेश को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया। डलहौजी इसके लिए इतना उतावला था कि उसने कोर्ट आफ डाइरेक्टर्स की अनुमति की प्रतीक्षा भी नहीं की। उसने पहले तो मनमाने ढंग से पंजाब पर अधिकार कर लिया और उसके बाद यह धमकी दी कि ब्रिटेन-स्थित संचालक-मंडल यदि इसका अनुमोदन नहीं करेगा तो वह इस्तीफा दे देगा।

डलहौजी ने पंजाब पर अधिकार करने के जो कारण बताये उन पर भी विचार करना आवश्यक है। उसने पहला कारण यह बताया कि लाहौर दरबार ने मिरोवल की संधि की शर्तों के अनुसार निर्धारित धनराशि ब्रिटिश सरकार को देने का वचन पूरा नहीं किया। गवर्नर जनरल का यह कथन था कि लाहौर दरबार ने एक पैसा भी अदा नहीं किया। किन्तु यह सत्य नहीं था। बाद में जो कागजात उपलब्ध हुए हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि १८४८ तक जो धन लाहौर दरबार को अदा करना था, उसका दो-तिहाई भाग वह दे चुका था। केवल एक तिहाई रकम बकाया थी।

डलहौजी ने दूसरा आधार यह बताया कि 'संपूर्ण सिख राष्ट्र ने जानबूझ कर और बिना उकसाये हुए हमारे विरुद्ध युद्ध आरंभ कर दिया।' यह कथन भी उचित नहीं है। जो विद्रोह पंजाब में शुरू हुआ था उसके लिए अंग्रेज पूरी तरह से उत्तरदायी थे क्योंकि महाराजा दलीप सिंह अभी भी नाबालिग था और उसकी ओर से ब्रिटिश रेजीडेंट लाहौर दरबार की बागडोर सँभाले हुए था। दरबार के किसी भी प्रमुख सदस्य ने विद्रोह में भाग नहीं लिया। विद्रोह का दमन करते समय कहा गया था कि महाराजा दलीप सिंह के अधिकारों की रक्षा के लिए कार्यवाही की जा रही थी। गवर्नर जनरल ने दलीप सिंह की रक्षा करने के बहाने शेष पंजाब राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की शर्मनाक चाल चली।

इसी प्रकार से उसने बर्मा-युद्ध को भड़काया। इस युद्ध की घटनाओं का वर्णन भी किया जा चुका है। इससे साफ जाहिर होता है कि डलहौजी ने पूर्वीय सीमा पर स्थित एक कमजोर राज्य को दबाने के लिए पहले सेना का उपयोग किया और उसके बाद समुद्रतटीय प्रदेश पर अधिकार कर लिया। वस्तुतः बर्मा पर अधिकार करने का कार्य उसी का था। उत्तरी बर्मा को बाद में अंग्रेजों ने भारत के साम्राज्य में मिला लिया।

कुशासन का आरोप लगाकर अवध पर ब्रिटिश अधिकार

डलहौजी का पक्ष लेने वाले कई लेखकों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि अवध राज्य में परिस्थितियाँ बहुत कुछ इस प्रकार की थीं कि मजबूर होकर गवर्नर जनरल को इस राज्य पर अधिकार करना पड़ा। लेकिन इस प्रकार का वक्तव्य देकर उसके कार्यों पर पर्दा डालने की कोशिश की गयी है। सच तो यह है कि डलहौजी एक साम्राज्यवादी गवर्नर जनरल था और आरंभ से ही उसकी निगाह अवध राज्य पर थी। कलकत्ता से पंजाब तक अंग्रेजों का शासन स्थापित हो चुका था। अवध का बड़ा राज्य कलकत्ता और लाहौर के बीच आवागमन में बाधा उपस्थित करता था। इस कारण अवध को हड़प कर संपूर्ण उत्तर भारत पर सीधे अधिकार करने की उसने योजना बनायी। अवध के राज्य से कंपनी को विशेष आर्थिक लाभ भी मिलने की आशा थी। डलहौजी जानता था कि जिस प्रकार भी संभव हो सके, अवध पर अधिकार करके कंपनी की आमदनी बढ़ायी जा सकती थी। इन दो कारणों के अतिरिक्त राज्य-विस्तार की भावना ने गवर्नर जनरल को प्रभावित किया। यह स्पष्ट है कि वह योजनाबद्ध रूप से अवध पर अधिकार करने के लिए प्रयत्नशील रहा और चलते-चलते उसने जब इस कार्य को पूरा कर लिया तो उसे बड़ा संतोष मिला।

अवध राज्य पर अधिकार करने की इच्छा को डलहौजी ने १८५३ में स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया। उसने इस प्रकार लिखा : 'अवध का राजा अहंकारी होता जा रहा है। जाने के पूर्व उसे निगल जाने में मुझे संतोष मिलेगा।' उसके इस कथन से साफ जाहिर है कि वह अवध राज्य पर अधिकार करने की योजना बना रहा था। इसके पूर्व भी उसने कहा था कि अवध राज्य एक पके फल के समान था जो थोड़ा-सा पेड़ के हिलाने पर गिर सकता था। १८५३ में ही नियंत्रक मंडल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड को लिखे पत्र में भी उसने इसी प्रकार का विचार प्रकट किया। गवर्नर जनरल का कार्यकाल समाप्त हो रहा था। उसका स्वास्थ्य भी गिरता जा रहा था। लेकिन फिर भी उसकी अभिलाषा यही थी कि वह अवध पर ब्रिटिश अधिकार स्थापित करके ही भारत से स्वदेश लौटे। डलहौजी के पत्रों को पढ़कर इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं रह जाती कि अवध राज्य को हड़पने के लिए वह कुछ भी करने को तैयार था।

डलहौजी के सम्मुख यह प्रश्न आया कि इस राज्य को ब्रिटिश राज्य में मिला लेने का आधार किस प्रकार तैयार किया जाये। टामसन और गैरेट लिखते हैं कि संधि के अधिकारों के दायरे में अथवा उनके बाहर कुछ-न-कुछ तो करना ही था। ब्रिटिश हस्तक्षेप के औचित्य को सिद्ध करने में डलहौजी को सात वर्ष का समय लग गया।

अवध के नवाब ब्रिटिश सरकार के प्रति 'हठीले ढंग से वफादार' थे। वे कंपनी की हर शर्त को निष्ठापूर्वक स्वीकार कर लेते थे। उन्हें इस कारण दोषी नहीं पाया जा सकता था। डलहौजी के लिए एक ही विकल्प था। वह इस आधार पर अवध राज्य को हड़पने का औचित्य सिद्ध करता था कि वहाँ की शासन-व्यवस्था बिगड़ती जा रही थी। कुशासन का आरोप ही अवध को हड़पने का साधन बनाया गया। किन्तु डलहौजी ने जिस सिद्धांत का सहारा लिया उसमें भी यह कमी थी कि यह कौन निश्चित करता कि किसी देशी राज्य की शासन-व्यवस्था बहुत बिगड़ चुकी थी। स्वाभाविक था कि गवर्नर जनरल का मत था कि भारत में ब्रिटिश सत्ता सर्वोपरि थी और उसे यह उत्तरदायित्व प्राप्त था।

वाजिद अली शाह १८४७ में अवध का नवाब बना। अंग्रेज अधिकारियों ने उसे प्रशासकीय उत्तरदायित्व के प्रति ध्यान देने को कहा। लेकिन नवाब ने प्रशासन के कार्यों को अन्य अधिकारियों पर छोड़ दिया। स्वयं नवाब आमोद-प्रमोद और विलासिता में फँसा रहा। वाजिद अली शाह समझता था कि जब तक वह गवर्नर जनरल के प्रति निष्ठावान था, उसे किसी प्रकार का खतरा नहीं था। उसे डलहौजी की योजनाओं का अंदाज अंतिम समय तक नहीं हो सका।

अवध पर कंपनी का अधिकार जमाने के पूर्व गवर्नर जनरल ने अवध में नियुक्त अंग्रेज रेजीडेंटों से विस्तृत रिपोर्ट भेजने को कहा। इन अधिकारियों ने उसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया जिससे गवर्नर जनरल प्रसन्न हो सके। कोई कार्यवाही करने के पूर्व डलहौजी ने लिखित विवरण एकत्र कर लिये जिससे आवश्यकता पड़ने पर ब्रिटेन-स्थित अधिकारियों के सामने उचित प्रमाण पेश कर सके। १८४८ में कर्नल स्लीमैन अवध में रेजीडेंट नियुक्त किया गया। बहुत घढ़ा-चढ़ाकर उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि अवध में चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी। स्लीमैन का कथन था कि सर्वत्र अराजकता फैली हुई थी। उसने नवाब को दोषी ठहराते हुए

लिखा कि वह कभी दरबार में उपस्थित ही नहीं होता था। स्लीमैन का कहना था कि कठोर कार्यवाही के बिना शासन-तंत्र नहीं सुधारा जा सकता था। लेकिन स्लीमैन इस पक्ष में नहीं था कि अवध को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया जाये। उसने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि ऐसा करने से ब्रिटिश प्रतिष्ठा को धक्का लगेगा। राज्य हड़पने के स्थान पर उसका सुझाव था कि अंग्रेज अधिकारियों की सहायता से शासन को सुधारने के लिए नवाब को राजी किया जाये। स्लीमैन की इस राय से डलहौजी की योजना सफल नहीं हो सकी। अतः उसने इस रिपोर्ट पर किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की; यहाँ तक कि नवाब वाजिद अली शाह को किसी प्रकार की चेतावनी भी नहीं दी गयी।

१८५४ तक डलहौजी अवध को हड़पने में सफल नहीं हो सका था। वह निराश भी नहीं हुआ। वह मौके की तलाश कर रहा था। इसी वर्ष उसने एक नये अधिकारी को रेजीडेंट के पद पर नियुक्त किया। जनरल ओटरम ने कुछ ही महीनों के बाद १८५५ में अवध के शासन के बारे में एक विस्तृत रिपोर्ट पेश की। यह रिपोर्ट परिस्थिति का सही मूल्याँकन नहीं थी। यह एक प्रकार का 'आरोप-पत्र' था जिसमें अवध-शासन के स्वरूप की विकृतियों का विस्तारपूर्वक विवरण दिया गया था। ओटरम की रिपोर्ट से गवर्नर जनरल का काम आसान हो गया। गवर्नर जनरल ने तथ्यों को तोड़-मरोड़कर संचालक मंडल को पत्र लिखकर अवध में कार्यवाही करने की अनुमति प्राप्त कर ली।

जनवरी, १८५६ में अवध के बारे में गवर्नर जनरल ने निर्णय किया। उसके हस्तक्षेप का आधार १८०१ की संधि थी जिसमें नवाब ने उचित ढंग से शासन करने का आश्वासन ब्रिटिश सरकार को दिया था। सबसे पहला निर्णय यह किया गया कि १८०१ की संधि को भंग कर दिया जाये। गवर्नर जनरल ने इसके लिए नवाब को दोषी ठहराया। उसका कहना था कि प्रशासनिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा करके नवाब ने संधि की एक मुख्य शर्त की अवहेलना की थी। पचास वर्षों तक प्रतीक्षा करने के बाद ब्रिटिश सरकार ने इस आधार पर संधि को भंग कर दिया। एक संधि को तोड़ देने के बाद डलहौजी ने दूसरी संधि तैयार की और वाजिद अली शाह से माँग की कि वह नयी संधि स्वीकार कर ले। नयी संधि के अनुसार अवध के नवाब को केवल औपचारिक अधिकार देकर उससे यह माँग की गयी कि वह प्रशासन का सारा कार्य कंपनी को सौंप दे। डलहौजी यह चाहता था कि नवाब इस संधि को स्वीकार कर ले। गवर्नर जनरल यह दिखावा कर सकता था कि राज्य को हड़पने के बजाय केवल प्रशासन का कार्य अंग्रेज अपने हाथ में ले रहे थे।

जब ओटरम ने वाजिद अली शाह के सामने गवर्नर जनरल की शर्तें पेश कीं तो नवाब ने किसी प्रकार का विरोध नहीं किया। वह केवल गिड़गिड़ाता रहा। इस कारण जो विशेष सेना इस समय लखनऊ बुला ली गयी थी उसे एक भी गोली नहीं चलानी पड़ी। नवाब ने केवल 'निष्क्रिय विरोध' किया। उसने अंग्रेजों द्वारा पेश की गयी नयी संधि को स्वीकार नहीं किया। केवल दिखाने के लिए वह नवाब बने रहने को तैयार नहीं था। वाजिद अली शाह लखनऊ से कलकत्ता चला गया। उसे आशा थी कि गवर्नर जनरल कुछ दया दिखाएगा। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। एक घोषणा जारी करके पूरे अवध राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

डलहौजी ने अवध पर अधिकार स्थापित करने के दो आधार बताये। पहला यह कि १८०१ की संधि की अवहेलना की गयी थी और दूसरा यह कि अवध की जनता पर कुशासन के कारण जो अत्याचार हो रहे थे उनके मूकदर्शक के रूप में ब्रिटिश सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठी नहीं रह सकती थी। एक सर्वोपरि शक्ति के नाते पूरे भारत में उचित प्रशासन स्थापित करने का दावा अवध के बारे में किया गया। हर संभव दलीलें देकर डलहौजी ने अपना पक्ष सिद्ध करने की भरसक कोशिश की।

कर्ज की अदायगी के आधार पर राज्य विस्तार

राज्य-विस्तार का तीसरा तरीका गवर्नर जनरल ने धन सम्बन्धी दावों को लेकर अपनाया। इसका एकमात्र उदाहरण हैदराबाद राज्य के बरार क्षेत्र पर अधिकार करने का है। १८०३ से कंपनी की सेना हैदराबाद राज्य में रहती थी जिसका खर्च पूरा करने का उत्तरदायित्व निजाम का था। वह चालीस लाख रुपये सालाना इस पर खर्च करता था। समय-समय पर निजाम पूरी धनराशि अदा नहीं कर सका। १८५१ तक ७८ लाख रुपये का कर्ज निजाम के ऊपर हो गया था।

डहलौजी ने निजाम पर दबाव डाला कि वह इस बकाया रकम की अदायगी करे। डलहौजी जानता था कि निजाम यह माँग पूरी नहीं कर सकेगा। कुछ समय तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् गवर्नर जनरल ने कर्ज की समस्या का निपटारा करने के लिए यह सुझाव रखा कि निजाम अपने राज्य का बरार क्षेत्र कर्ज के बदले में कंपनी को सौंप दे। निजाम ने कुछ समय तक तो विलंब किया। परन्तु इसके बाद १८५३ में वह झुक गया। ब्रिटिश सरकार ने बरार क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार डलहौजी ने दबाव डालकर ही अपनी माँग पूरी करा ली। पर यहाँ यह भी कह देना उचित होगा कि यदि निजाम बरार के विषय में आनाकानी करता रहता तो गवर्नर जनरल अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करता। उसने बल-प्रयोग करने की तैयारी पूरी कर ली थी।

गोद लेने की प्रथा का निषेध

राज्य-विस्तार करने के लिए डलहौजी ने जो विभिन्न साधन अपनाये, गोद लेने की प्रथा का निषेध करना उनमें एक प्रमुख साधन था। गवर्नर जनरल ने गोद लेने की प्रथा में विभेद किया। उसने यह सिद्धांत अपनाया कि गोद लिया गया पुत्र अपने पिता की निजी संपत्ति का उत्तराधिकारी हो सकता था, परंतु इसी प्रकार से किसी राज्य द्वारा गोद लिया गया पुत्र राज्य पर शासन करने का अधिकारी स्वाभाविक रूप से नहीं बन सकता था। दत्तक पुत्र उसी स्थिति में राज्य का शासक हो सकता था जब भारत की सर्वोपरि सत्ता की हैसियत से ब्रिटिश सरकार उसके उत्तराधिकारी को स्वीकार करे। डलहौजी का तर्क यह था कि उस स्थिति में, जहाँ किसी देशी राज्य का राजा किसी पुत्र को गोद लेता था, ब्रिटिश सरकार को उत्तराधिकार स्वीकृति करने अथवा न करने की पूर्ण स्वतंत्रता थी।

गोद लेने की प्रथा कोई नयी प्रथा नहीं थी। यह एक सर्वमान्य प्रथा थी जिसे हिन्दू

नियम-प्रणाली में प्राचीन युग से ही स्वीकार किया गया था। प्रत्येक हिन्दू को यह अधिकार था कि निजी पुत्र न होने पर वह अपने परिवार के बच्चे को अपना पुत्र बना सकता था। निश्चित धार्मिक रीति के बाद जब किसी बच्चे को गोद लिया जाता था तो इस दत्तक पुत्र को अपने पिता के उत्तराधिकारी के रूप में हर प्रकार के ऐसे अधिकार प्राप्त हो जाते थे जो किसी भी निजी पुत्र को प्राप्त होते थे। प्रचलित प्रथा के अनुसार दत्तक पुत्र और निजी पुत्र में किसी प्रकार का अंतर नहीं था। डलहौजी ने जो विभेद किया वह प्रचलित परंपरा के अनुकूल नहीं था। वह मनमाने ढंग से इस प्रथा के विषय में निर्णय ले रहा था।

गोद लेने की प्रथा का निषेध करते समय गवर्नर जनरल एक भी ऐसा उदाहरण नहीं दे सका जब किसी भारतीय सम्राट ने अधीनस्थ राज्य पर इस प्रथा के आधार पर अधिकार किया हो। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व मुगल सम्राट अथवा मराठा राज्य गोद लिये गये पुत्र से अधिक नजराना ले लेते थे। किन्तु उन्होंने किसी भी दत्तक पुत्र के अधिकार की वैधता को चुनौती नहीं दी। इस प्रकार भारत में प्रचलित परंपरा के विरुद्ध गवर्नर जनरल ने इस प्रथा का निषेध किया।

यह कहा जाता है कि डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा का निषेध करने का जो सिद्धांत अपनाया वह किसी प्रकार से निराला नहीं था क्योंकि उसके आने के पूर्व ही इसे अपना लिया गया था। यह कथन सत्य है। परन्तु इस सत्यता से डलहौजी का सिद्धांत उचित नहीं हो जाता। केवल उसका उत्तरदायित्व कुछ कम हो जाता है। १८३४ में संचालक-मंडल ने गोद लेने की प्रथा के बारे में नीति निर्धारित करते हुए गवर्नर जनरल को इस प्रकार से लिखा – 'जब कभी यह विकल्प तुम्हारे सामने हो कि गोद लिये गये पुत्र को राजा माना जाये अथवा नहीं तो तुम्हारी स्वीकृति अपवाद के रूप में होनी चाहिए। यह साधारण नियम न हो। यह मान्यता विशेष कृपा के रूप में ही देनी चाहिए, सामान्य परिस्थितियों में नहीं।' १८३४ से १८४८ के बीच के चौदह वर्षों में भी इस नीति को केवल साधारण जागीरों अथवा बहुत छोटी देशी रियासतों के बारे में लागू किया गया। इससे संचालक मंडल की नीति के प्रति किसी का ध्यान ही नहीं गया। १८४० में कोलाबा तथा इसके पूर्व मांडवी राज्य के प्रति इसे अपनाया गया। डलहौजी के आने के पूर्व गोद लेने की प्रथा के निषेध का सिद्धांत किसी भी महत्त्वपूर्ण देशी राज्य के प्रति लागू नहीं किया गया था।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्वयं ईस्ट इंडिया कंपनी गोद लेने की प्रथा को स्वीकार करती रही थी। १८२६ से १८४८ के बीच ऐसे पंद्रह उदाहरण दिये गये हैं जब देशी राज्यों में गोद लिये गये पुत्रों को कंपनी की सरकार ने राजा स्वीकार किया। जब डलहौजी ने गोद लेने की प्रथा को नहीं माना तो इसका प्रभाव यह पड़ा कि देशी राज्यों में यह भय उत्पन्न हो गया कि उनका अस्तित्व ही खतरे में था।

डलहौजी के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि उसने प्रत्येक देशी रियासत को विलीन करने का निश्चय नहीं किया था। डलहौजी ने देशी राज्यों को तीन भागों में बाँटा – १. 'स्वतंत्र', २. 'आश्रित', ३. 'अधीन'। पहली श्रेणी में उसने उन देशी राज्यों को रखा जो अंग्रेजों द्वारा सत्ता जमाने के समय से थे तथा जिनके साथ कंपनी ने संधियाँ की थीं और उनकी

स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया था। डलहौजी ने कहा कि ऐसे राज्यों को विलीन करने का उसका इरादा नहीं था और उसने विश्वास दिलाया कि यहाँ के नरेशों को गोद लेने का अधिकार पूर्ववत् मिलता रहेगा। दूसरी श्रेणी में उसने उन देशी राज्यों को रखा जो आरंभ से ही किसी न किसी सत्ता के अधीन थे, जैसे झाँसी राज्य पेशवा के अधीन रहा था। तीसरी श्रेणी में उसने उन राज्यों को रखा जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने बनाया था अथवा जो कंपनी की सनद द्वारा पुनः संगठित किये गये थे। गवर्नर जनरल का कहना था कि वह केवल दूसरी तथा तीसरी श्रेणी की देशी रियासतों के विषय में ही गोद लेने की प्रथा का निषेध करेगा।

यह वर्गीकरण उसने १८५२ में किया था। जब डलहौजी की नीति की ब्रिटेन में आलोचना की जाने लगी तो उसने यह स्पष्टीकरण दिया। यह वर्गीकरण पेचीदा था तथा गवर्नर जनरल की स्वेच्छा पर निर्भर था। वह जिस राज्य को चाहे प्रथम श्रेणी में तथा जिसे चाहे दूसरी श्रेणी में रख सकता था। गवर्नर जनरल स्वयं एक सीमा निर्धारित कर रहा था। इस सीमा का उल्लंघन वह जब चाहे कर सकता था तथा बाद में आने वाले गवर्नर जनरल किसी अन्य प्रकार की व्याख्या दे सकते थे। डलहौजी ने करौली राज्य को हड़पने के लिए उसे दूसरी श्रेणी में रखा। परन्तु संचालक-मंडल ने उसकी राय नहीं मानी। करौली राज्य पर डलहौजी कोई कार्यवाही नहीं कर सका। इसी से स्पष्ट है कि उसका वर्गीकरण बहुत व्यावहारिक नहीं था और अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए गवर्नर जनरल ने इस पद्धति को अपनाया था।

यह संयोग की बात है कि डलहौजी को अपना सिद्धांत लागू करने के लिए सात वर्षों में कम से कम सात अवसर मिले। इन राज्यों के नरेशों की जब मृत्यु हुई तो उनके निजी पुत्र नहीं थे। परम्परा के अनुसार गोद लेने की प्रथा का सहारा लिया गया। पर डलहौजी तो कमर कसे हुए था और उसने किसी भी गोद लिये गये पुत्र को मान्यता न देने की ठान रखी थी। परिणामतः ये देशी राज्य ब्रिटिश साम्राज्य में 'विलीन' हो गये। जब किसी देशी रियासत पर शासन करने के लिए राजा नहीं था तो सर्वोपरि सत्ता की हैसियत से ब्रिटिश सरकार ने इन राज्यों पर अधिकार कर लिया।

गोद लेने की प्रथा का निषेध करके डलहौजी ने निम्नांकित राज्यों पर अधिकार किया। १८४८ में सतारा, १८४९ में जैतपुर और संबलपुर, १८५० में बाघट, १८५२ में उदयपुर, १८५३ में झाँसी और १८५४ में नागपुर। इन राज्यों में तीन, सतारा, झाँसी और नागपुर प्रमुख देशी राज्य थे जिनके संबंध में विस्तृत चर्चा आगे चलकर की जायेगी। शेष राज्यों के विषय में आवश्यक विवरण पहले दिया जा सकता है। जैतपुर बुन्देलखण्ड क्षेत्र में एक छोटा सा राज्य था जिसका क्षेत्रफल १६५ वर्गमील था। डलहौजी ने इस राज्य के शासक के गोद लेने के अधिकार को अस्वीकार कर दिया। संबलपुर बंगाल की दक्षिण-पश्चिमी सीमा पर स्थित था। यह महानदी के दोनों ओर बसा था। यहाँ के राजा नारायण सिंह की मृत्यु १८४९ में हो गयी। उसका कोई भी निजी पुत्र नहीं था और न ही उसने किसी पुत्र को गोद ही लिया था। उसकी पत्नी स्वयं शासन चलाना चाहती थी, किन्तु गवर्नर जनरल ने उसके अधिकार को मान्यता नहीं दी। संबलपुर ब्रिटिश राज्य में मिला लिया गया। बाघट पंजाब की सीमा का एक राज्य था। १८४९

में यहाँ के राजा विजय सिंह की मृत्यु हो गयी। मृत राजा का भाई उमेद सिंह राजा बनना चाहता था। उसने अंग्रेज अधिकारियों से इस संबंध में प्रार्थना भी की, पर डलहौजी ने कुछ समय विचार करने के बाद राज्य पर अधिकार कर लिया। कुछ वर्षों के पश्चात् डलहौजी के उत्तराधिकारी ने यह राज्य उमेद सिंह के पुत्र को सौंप दिया और डलहौजी के निर्णय को बदल दिया गया। उदयपुर मध्यप्रदेश का छोटा सा राज्य था जिसकी सीमा दो हजार वर्गमील से कुछ अधिक थी। डलहौजी ने इस पर भी अधिकार कर लिया।

करौली राज्य के विषय में डलहौजी ने जो दृष्टिकोण अपनाया उसका विवरण भी आवश्यक है। करौली एक छोटा-सा राजपूत राज्य था जिसका शासक पेशवा की अधीनता स्वीकार करता था। पेशवा का पद समाप्त होने के बाद अंग्रेजों ने इस पर प्रभाव जमाया। करौली का शासक नरसिंह पाल वयस्क होने के पूर्व ही १८५२ में मर गया। वह स्वयं गोद लिया था। नाबालिग होते हुए भी उसने मृत्यु के समय परिवार के बच्चे भरतपाल को गोद लिया। मृत शासक के निकट संबंधी मदन पाल को गोद नहीं लिया था। इस प्रकार उसकी मृत्यु के पश्चात् गवर्नर जनरल के सामने एक प्रश्न यह आया कि वह दो में से किसे वैध उत्तराधिकारी माने। इसके साथ ही यह प्रश्न उठा कि क्या करौली राज्य के विषय में गोद लेने की प्रथा को अस्वीकार करने का अधिकार गवर्नर जनरल को था अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, गवर्नर जनरल को यह निश्चय करना था कि करौली राज्य प्रथम श्रेणी में था अथवा द्वितीय में। करौली राजवंश एक प्राचीन राजपूत राजवंश था और इस राज्य का अस्तित्व लंबे समय से था। लेकिन फिर भी डलहौजी ने पेशवा के अधिकारों का हवाला देते हुए इसे द्वितीय श्रेणी का राज्य माना। इस प्रकार उसने करौली को भी हड़पने की भूमिका तैयार कर ली। पर संचालक-मंडल ने डलहौजी को करौली पर अधिकार करने की आज्ञा नहीं दी। यह स्वीकार नहीं किया गया कि करौली एक आश्रित राज्य था। ली वारनर ने स्वीकार किया है कि डलहौजी की नीति का यह ऐसा पक्ष है जिसे न्यायसंगत नहीं कहा जा सकता।

सतारा

सतारा पहला राज्य था जिसके संबंध में डलहौजी ने गोद लेने के निषेध का सिद्धांत अपनाया। पूना और बेलगाँव के बीच स्थित सतारा एक छोटा-सा राज्य था। यह ऐसा राज्य था जिस पर अधिकार कर लेने से कंपनी के राजस्व में वृद्धि होती। डलहौजी राज्य की खुशहाली से प्रभावित हुआ। इसके अतिरिक्त सतारा राज्य पर अधिकार करके उसने कंपनी की सुरक्षा-व्यवस्था को भी मजबूत बनाया। सतारा पर अधिकार करके ब्रिटिश सरकार बम्बई और कलकत्ता के बीच का राजमार्ग खोलना चाहती थी। बिना किसी रोकटोक के सेना के आवागमन की व्यवस्था करने की दिशा में सतारा क्षेत्र उपयोगी हो सकता था।

१८१७ तक सतारा शिवाजी के वंशजों के अधिकार में था। जब पेशवा का पतन हो गया तो लार्ड हेस्टिंग्स ने यहाँ के शासन के साथ संधि करके इसे एक अलग राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया। प्रताप सिंह ने इस प्रकार संधि के अनुसार शासन करना आरंभ कर दिया। वह एक योग्य शासक था। परन्तु वह अंग्रेजों की इच्छानुसार शासन नहीं कर सका। उसे १८३९ में

अपदस्थ कर दिया गया और उसके भाई अप्पा साहब को सतारा का राजा बनाया गया। यह निर्णय करते समय ही सतारा पर अधिकार करने की योजना बना ली गयी थी। बंबई के गवर्नर ने लिखा था कि न तो प्रताप सिंह के कोई पुत्र था और न अप्पा साहब के ही कोई संतान थी। अतः कुछ वर्षों के पश्चात् सतारा राज्य में उत्तराधिकार का प्रश्न जब आया तो अंग्रेज अधिकारियों को किसी प्रकार का अचंभा नहीं हुआ।

अप्पा साहब ने १८४८ में अपनी मृत्यु के कुछ समय पूर्व वेंकटराव नामक बच्चे को गोद लिया था। डलहौजी को यह निर्णय करना था कि वह गोद लिये पुत्र को सतारा का राजा मानने को तैयार था अथवा नहीं। इसी देशी रियासत के प्रश्न को लेकर उसने राज्य-अपहरण का एक नया तरीका निकाला और भविष्य में बड़ी तत्परता से उस पर अमल किया। सतारा के विषय में उसने जो नीति अपनायी उससे गवर्नर जनरल का रुख साफ जाहिर होता है। उसने इस प्रकार लिखा – 'मेरी मान्यता है कि ऐसी परिस्थितियों में जब देशी राज्यों में प्राकृतिक रूप से जन्मे उत्तराधिकारी न हों तो उस राज्य को समाप्त कर देना चाहिए और गोद लेने की क्रिया को अस्वीकार कर देना चाहिए।' डलहौजी गोद लेने की प्रथा को हर प्रकार की स्थिति में अस्वीकार करने की वकालत कर रहा था। यही सिद्धांत अपनाते हुए डलहौजी ने अप्पा साहब द्वारा गोद लिये हुए पुत्र को उत्तराधिकारी नहीं माना और सतारा को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

इतिहासकार आरनल्ड ने सतारा के विषय में यह मत व्यक्त किया है कि यह 'विधिसंगत इनाम' नहीं था। हमें यह विचारना है कि डलहौजी को सतारा के विषय में क्या अधिकार थे और उसने राज्य पर जो अधिकार किया वह किसी प्रकार न्यायसंगत था। हमारा ध्यान विशेष रूप से १८१८ की संधि की ओर जाता है। इस संधि की धारा में सतारा के नरेश की 'स्वतंत्र सार्वभौमिकता' को स्वीकार किया गया था। यह भी स्वीकार किया गया था कि यह स्थिति 'निरंतर' बनी रहेगी। किन्तु फिर भी गवर्नर जनरल ने सतारा को केवल आश्रित राज्य मानकार उस पर जब अधिकार कर लिया तो देशी राज्यों के नरेश शंकित हो उठे। स्मरण रखना होगा कि गवर्नर जनरल का पद सँभालने के तुरंत बाद ही डलहौजी ने सतारा के विषय में यह निर्णय लिया था।

झाँसी

झाँसी बुन्देलखंड के मध्य में स्थित सुरक्षा की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण राज्य था जिसकी ओर गवर्नर जनरल ललचायी नजर से देख रहा था। जिस अवसर की उसे तलाश थी वह १८५३ में सामने आया। झाँसी के शासक गंगाधर राव की मृत्यु हो गयी। मृत नरेश का कोई भी निजी पुत्र नहीं था। इस कारण उसने आनन्दराव नामक परिवार के एक बच्चे को गोद लिया। गोद लेते समय झाँसी के राजा ने सतर्कता अपनायी। उसने ब्रिटिश रेजीडेंट को बुलाया और उससे प्रार्थना की कि वह दत्तक पुत्र के अधिकार के लिए गवर्नर जनरल को लिखे।

डलहौजी की परिभाषा के अनुसार झाँसी एक आश्रित राज्य था। उसने विचार व्यक्त किया कि इस राज्य के विषय में सर्वोपरि सत्ता को किसी भी प्रकार का निर्णय लेने का अधिकार था। १८१८ में झाँसी पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हुआ था। उस समय रामचन्द्र राव को यहाँ

का राजा स्वीकार किया गया। १८३५ में रामचन्द्र राव की मृत्यु के बाद रघुनाथ राव यहाँ का शासक बना। १८३८ में उसकी मृत्यु हो गयी। इसी वर्ष गंगाधर राव शासक बना। झाँसी राज्य के विषय में यह एक विचित्र तथ्य सामने आता है कि १८१८ के बाद जो तीन नरेश शासन करते रहे उनमें से किसी के भी निजी पुत्र नहीं थे। दो बार गोद लेने की प्रथा के अनुसार यहाँ पर कार्यवाही की गयी थी। यदि गोद लिये गये पुत्र को योग्य नहीं माना गया तो भी झाँसी राज्य को विलीन नहीं किया गया था और परिवार के किसी अन्य व्यक्ति को राजा बनाया गया था। ऐसा ही निर्णय डलहौजी भी कर सकता था। यदि उसने झाँसी के प्रति अब तक की ब्रिटिश नीति में परिवर्तन किया तो इसका कारण यही था कि वह इस राज्य को हड़पना चाहता था।

नागपुर गोद लेने की प्रथा का निषेध करके डलहौजी ने जिन देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया, नागपुर उनमें सबसे बड़ा और धनी राज्य था। इसका क्षेत्रफल अस्सी हजार वर्गमील था और नागपुर पर अधिकार करने से कंपनी को चालीस लाख रुपया प्रतिवर्ष की आमदनी होने लगी। इन तथ्यों से यह जाहिर है कि गवर्नर जनरल ने एक समृद्धिशाली राज्य पर कब्जा किया। कंपनी को नागपुर पर अधिकार करने से अन्य लाभ भी दिखे। इस पर अधिकार करके कंपनी के बिखरे हुए क्षेत्र को संगठित करना संभव हो गया। हैदराबाद से मध्य भारत तक का क्षेत्र ब्रिटिश सीमा में आ गया। कलकत्ता से बम्बई के बीच का सारा क्षेत्र अंग्रेजों के अधिकार में आ जाने से व्यापार बढ़ा और सुरक्षा करना आसान हो गया। डलहौजी भली प्रकार से जानता था कि नागपुर पर अधिकार करके वह भारत में ब्रिटिश शक्ति को बढ़ा रहा था।

नागपुर एक प्रसिद्ध मराठा राज्य था जिस पर भोंसला राजवंश के नरेश शासन करते थे। १८१८ की संधि के अनुसार इस राजवंश के एक बच्चे को ब्रिटिश सरकार ने शासक स्वीकार किया था। १८३० में जब यह बच्चा वयस्क हो गया तो उसने राज्य का शासन सँभाला। रघुजी भोंसला तृतीय के नाम से उसने १८५३ तक नागपुर का शासन किया। इस राजा की मृत्यु १८५३ में हो गयी। उसके कोई भी पुत्र नहीं था। डलहौजी ने इस परिस्थिति का लाभ उठाकर किसी अन्य उत्तराधिकारी को राजा के रूप में स्वीकार नहीं किया और संपूर्ण नागपुर राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया।

भोंसला राज्य के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न ऐसे हैं जिन पर हमें विचार करना है। पहला यह कि इस राज्य में किसी उत्तराधिकारी को गोद लिया गया था अथवा नहीं। डलहौजी ने दावा किया था कि किसी भी उत्तराधिकारी को गोद ही नहीं लिया गया। दूसरा प्रश्न यह है कि नागपुर एक आश्रित राज्य की श्रेणी में था। यदि ऐसा नहीं था तो फिर डलहौजी को इसे विलीन करने का क्या अधिकार था।

पहले गोद लेने की घटना पर विचार कर लेना चाहिए। रघुजी भोंसला तृतीय ने कई बार ब्रिटिश रेजीडेंट से किसी बच्चे को गोद लेने की अनुमति माँगी, पर रेजीडेंट कुछ न कुछ बहाना बनाता रहा। राजा स्वेच्छा से परिवार के किसी भी बच्चे को गोद ले सकता था। उसने ऐसा इस कारण नहीं किया कि उसे डर था कि इससे ब्रिटिश सरकार नाराज हो जायेगी। इसी बीच

राजा की मृत्यु हो गयी। वह इसी पशोपेश में अपने जीवनकाल में किसी को गोद नहीं ले सका। डलहौजी इस समाचार से बड़ा प्रसन्न हुआ। रघुजी भोंसले तृतीय की विधवा पत्नी ने कुछ समय बाद परिवार के एक बच्चे यशवंत राव को विधिवत् गोद लिया और इसकी सारी रस्म भी पूरी की। मराठा राज्यों में इसके पूर्व भी कई अवसर आये जब किसी बच्चे को गोद लिया हो और ब्रिटिश सरकार ने इस प्रथा को मान्यता भी दी थी। लेकिन नागपुर के संबंध में डलहौजी ने इसको स्वीकार नहीं किया। डलहौजी अपने इस मत को लगातार दुहराता रहा कि वैध ढंग से नागपुर में किसी को भी गोद लिया ही नहीं गया। गवर्नर जनरल ने कहा कि गद्दी का कोई वास्तविक वारिस नहीं था। इस प्रकार उसने नागपुर के विलीनीकरण को सिद्ध किया। यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि डलहौजी आवश्यकता के अनुसार भोंसला परिवार के किसी भी सदस्य को राजा बना सकता था। इसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि किसी व्यक्ति को गोद लिया गया था अथवा नहीं। डलहौजी किसी न किसी प्रकार राज्य हड़पने की फिक्र में था और परिस्थिति से उसने लाभ उठाया।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या नागपुर एक आश्रित राज्य था। यह सर्वविदित है कि इस राज्य की स्थापना अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हुई थी। १८१८ में अंग्रेजों ने इस पर कब्जा कर लिया था। किन्तु उन्होंने कुछ ही समय बाद एक नयी संधि करके यहाँ के राजवंश की पुनर्स्थापना की। केवल इससे ही यह राज्य ब्रिटिश सरकार पर आश्रित नहीं हो गया। यह भी ध्यान रखना होगा कि संधि में यह नहीं कहा गया था कि भोंसला राज्य की स्थिति किसी प्रकार से बदल गयी थी। पर १८१८ और १८५३ की अंग्रजों की स्थिति में एक बड़ा अंतर यह आ गया था कि वे अब तक भारत में पूर्णरूप से शक्तिशाली हो चुके थे और इस आधार पर मनमानी करने में उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं था।

डलहौजी के इस सिद्धान्त का मूल्याँकन

यहाँ यह भी विचार कर लेना आवश्यक है कि डलहौजी के सिद्धांत के क्या परिणाम हुए. और इसे कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। अब तक के वर्णन से यह तो स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल ने गोद लेने की प्रथा को इस कारण अस्वीकार किया क्योंकि वह देख रहा था कि इससे राज्य-विस्तार के कार्य में बाधा पड़ती थी।

डलहौजी को क्या इस प्रकार का अधिकार था? इसका उत्तर इतिहासकार बेल इन शब्दों में देते हैं – 'भारत में किसी भी नरेश को बच्चा गोद लेने अथवा न लेने की स्वीकृति या अस्वीकृति देने का सर्वोच्च सत्ता को अधिकार नहीं था। यह ऐतिहासिक दृष्टि से गलत है।'

जब अंग्रेज अपने साम्राज्य का विकास कर रहे थे तो उन्होंने बार-बार यह आश्वासन दिया था कि वे भारतीयों की प्रथाओं और परम्पराओं के विरुद्ध कोई कार्य नहीं करेंगे। जब तक कंपनी को अन्य शक्तियों से भय रहा तब तक गोद लेने की प्रथा को वे इसी आधार पर स्वीकार करते भी रहे। बाद में डलहौजी के समय तक अंग्रेजों की धाक भारत में जम चुकी थी। कोई भी राज्य उनका विरोध नहीं कर सकता था। इस स्थिति का लाभ उठाकर डलहौजी ने परम्परा की अवहेलना करके गोद लेने की प्रथा की मनाही कर दी जिससे साम्राज्यलिप्सा की उसकी भूख पूरी हो सके।

डलहौजी ने गोद लेने का निषेध करके ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार किया। जिस समय वह भारत आया, परिस्थितियाँ ब्रिटिश सरकार के अनुकूल थीं। कंपनी अपनी शक्ति और बलबूते के सहारे जिस देशी राज्य को चाहे हड़प सकती थी। डलहौजी ने ऐसा ही किया। किन्तु उसके बिदा लेने के एक वर्ष बाद ही भारत में जो विद्रोहाग्नि फैली उसने ब्रिटिश सरकार को पुनर्विचार करने पर मजबूर कर दिया।

डलहौजी के सुधार

बेंटिंक के जाने के पश्चात् डलहौजी के समय ही विभिन्न सुधारों की ओर ध्यान दिया गया। इसके कई कारण थे। प्रथम, यूरोप में हुई वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति से भारत भी प्रभावित हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में यूरोप के देशों में रेलवे की स्थापना हुई तथा तार सेवा का आरंभ हुआ। ब्रिटेन में रेलवे की व्यापारिक सफलता से प्रभावित होकर कई कंपनियाँ भारत में भी रेलवे की सेवा का आरंभ करने का विचार करने लगीं। इस प्रकार पश्चिम के प्रभाव के परिणामस्वरूप सुधार करने की ओर भारतीय प्रशासकों का ध्यान गया। दूसरे, गवर्नर जनरल के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण भी सुधार कार्यक्रम में तेजी आयी। डलहौजी हर प्रकार से भारतीय जनमानस को प्रभावित करना चाहता था और उसके प्रभाव के कारण कई प्रकार के प्रशासनिक सुधार किये गये। तीसरे, बेंटिंक के समान उसके समय में भी उदारवादी विचारों से भारतीय प्रशासन प्रभावित हुआ। ब्रिटिश विचारक मानवतावादी सिद्धांतों का प्रचार कर रहे थे। इसका असर यह हुआ कि गवर्नर जनरल ने समाज-सुधार की ओर ध्यान दिया। चौथे, डलहौजी के समय कंपनी की आर्थिक स्थिति संतोषजनक थी। केवल राज्य-विस्तार करके ही उसने कंपनी की आय को चालीस लाख पौंड बढ़ा लिया था। १८४८ में कंपनी की आय २६० लाख पौंड थी। १८५४ में इसे ३०० लाख पौंड तक बढ़ा लिया गया था। डलहौजी विभिन्न योजनाओं में धन लगाने की स्थिति में था। इससे वह देश की आर्थिक प्रगति के लिए कुछ विशेष सुधार कर सका। पाँचवाँ और अंतिम कारण यह था कि भारत में कंपनी के शासन का औचित्य भी ढूँढा जा रहा था। इस प्रश्न पर विचार किया जाने लगा था कि भारत में कंपनी के शासन से साधारण जनता को क्या लाभ पहुँच रहा था। डलहौजी ने जनोपयोगी प्रगति को बढ़ावा देकर कंपनी के शासन का औचित्य सिद्ध करने की कोशिश की। उसने विश्वास व्यक्त किया कि निर्माण कार्यों से यह साबित हो सकेगा कि कंपनी चुपचाप नहीं बैठी थी बल्कि आर्थिक प्रगति के कार्य में जुटी हुई थी। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि डलहौजी का ध्यान भविष्य की ओर था।

डलहौजी के सुधारों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है – १. प्रशासकीय सुधार, २. आर्थिक सुधार, ३. सामाजिक सुधार। आर्थिक सुधारों में विशेष रूप से ऐसे सुधार थे जिनके द्वारा संचार-साधनों को आधुनिक बनाया गया। सामाजिक सुधार में हम शिक्षा में किये गये सुधारों का वर्णन करेंगे। इसके अतिरिक्त सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने की दिशा में कदम उठाये गये।

प्रशासनिक सुधार

डलहौजी के समय १८३३ के अधिनियम की अवधि समाप्त हुई और ब्रिटिश पार्लियामेंट को इसके स्थान पर एक नया अधिनियम पारित करने की आवश्यकता थी। यह अधिनियम १८५३ में पारित किया गया जिसके परिणामस्वरूप भारतीय प्रशासन में कुछ परिवर्तन हुए। डलहौजी ने विधान का मसविदा बनाये जाने के समय गृह सरकार को अपनी सलाह दी। १८५३ के अधिनियम में उसके कई सुझावों को स्वीकार कर लिया गया। लेकिन गवर्नर जनरल का प्रभाव केवल इतना ही नहीं था। उसने न केवल अधिनियम के निर्माण में अपितु उसके लागू किये जाने के समय भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।

डलहौजी ने विशेष रूप से तीन प्रश्नों को महत्त्व दिया। ये प्रश्न थे गवर्नर जनरल की स्थिति, विधि-निर्माण संबंधी व्यवस्था और बंगाल की सरकार का स्वरूप। जहाँ तक पहले विषय का प्रश्न था, उसने केन्द्रीय सरकार के स्वरूप को बनाये रखने का सुझाव दिया। वह चाहता था कि भारतीय प्रशासन के संचालन के समस्त अधिकार गवर्नर जनरल और उसकी कौंसिल के हाथ में बने रहने चाहिए। इसमें वह किसी प्रकार की ढील दिये जाने के पक्ष में नहीं था। उसने मत प्रकट किया कि भारतीय प्रशासन के संचालन के लिए सत्ता एक स्थान में ही केन्द्रित होनी चाहिए। उसकी माँग थी कि आवश्यकता पड़ने पर गवर्नर जनरल को कौंसिल की सम्मति की उपेक्षा करने का अधिकार हो। १८५३ के अधिनियम द्वारा उसके मत को स्वीकार किया गया। इसके द्वारा डलहौजी ने कई बार निर्णय किये।

डलहौजी के शासनकाल से कार्यकारिणी परिषद् और व्यवस्थापिका में विभेदीकरण कर दिया गया। केन्द्रीय सरकार के दो प्रमुख अंगों में यह विभेद १८५३ के अधिनियम के कारण नहीं, बल्कि गवर्नर जनरल के द्वारा किया गया। १८३३ के अधिनियम के समान इस अधिनियम ने भी कानून निर्माण करने वाली संस्था को 'कौंसिल ऑफ इंडिया' का नाम ही दिया। किन्तु गवर्नर जनरल को यह नामकरण पसंद नहीं आया। उसने कानून बनाने वाली संस्था को व्यवस्थापिका सभा कहने की परम्परा का आरंभ किया। डलहौजी ने इस सभा के अधिकारों को भी स्वीकार किया। १८५४ के बाद से व्यवस्थापिका सभा कानून बनाने में कई औपचारिकताएँ अपनाने लगी। किसी भी सदस्य को बिल पेश करने का अधिकार दिया गया। किसी भी बिल पर बहस के समय उसी प्रकार से पहली, दूसरी और तीसरी बार विचार किया जाने लगा जैसा ब्रिटिश पार्लियामेंट में होता था।

सपरिषद् गवर्नर जनरल को स्थानीय रीति-रिवाजों तथा परिस्थितियों से अपरिचित होने के कारण उपयोगी कानून बनाने में बहुत कठिनाई होती थी। इस शासकीय त्रुटि को दूर करने के लिए डलहौजी के समय में कुछ प्रान्तीय सदस्यों को सम्मिलित करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया। १८५३ के अधिनियम द्वारा प्रांतीय गवर्नर को गवर्नर जनरल की कौंसिल के लिए एक सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दिया गया। अब कानून बनाने के लिए बंबई, बंगाल, मद्रास और आगरा प्रांतों से एक-एक सदस्य चुना जाने लगा। इन चार सदस्यों के अलावा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा में दो न्यायाधीश भी भाग लेने लगे।

गवर्नर जनरल के उत्तरदायित्व को कुछ हल्का करने के लिए उसे बंगाल के शासन से पृथक कर दिया गया और इस प्रांत के लिए एक अलग गवर्नर नियुक्त किया जाने लगा। इस निश्चय से गवर्नर जनरल को सुविधा हुई। अब कंपनी का साम्राज्य बहुत अधिक बढ़ गया था। इससे यह अनुभव किया गया कि गवर्नर जनरल को केवल केन्द्रीय शासन के संचालन का कार्यभार ही सौंपा जाये।

कंपनी जिन नये प्रदेशों पर अपना अधिकार बढ़ाती थी उनके प्रशासन के लिए डलहौजी ने एक नया तरीका अपनाया। इन प्रदेशों की व्यवस्था को अन्य प्रांतों से अलग रखा गया। इन क्षेत्रों को केन्द्रीय प्रभाव में रखा गया। गवर्नर जनरल को यह अधिकार मिला कि वह कमिश्नरों की नियुक्ति कर सकता था। ये अधिकारी गवर्नर जनरल की आज्ञानुसार ऐसे क्षेत्रों का शासन चलाने लगे जो कुछ समय पूर्व ही कंपनी के अधिकार में आये थे।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण निर्णय इस समय यह किया गया कि विभागीय उत्तरदायित्व की व्यवस्था गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के लिए अपनाया जाये। डलहौजी के आने के समय तक सभी प्रमुख विषयों से संबंधित कागजात प्रत्येक सदस्य के पास भेजे जाते थे और कौंसिल का हर सदस्य समस्त विषयों पर अपने विचार देता था। इससे एक कठिनाई तो यह होती थी कि कार्यकारिणी परिषद् को निर्णय लेने में बहुत अधिक समय लग जाता था। दूसरे, कोई भी सदस्य किसी विशेष विभाग के कार्य के लिए पूरी तरह से जिम्मेदार नहीं था। डलहौजी के समय से केन्द्रीय कार्यकारिणी के लिए विभागीय पद्धति अपनायी गयी। प्रत्येक सदस्य को कुछ विभागों के लिए जिम्मेदार कर दिया गया और साधारणतया उस विभाग से संबंधित कागजात उसी के द्वारा देखे जाने लगे। ब्रिटिश कैबिनेट प्रणाली का अनुकरण करके इस प्रकार की पद्धति अपनायी गयी।

सार्वजनिक निर्माण विभाग का संगठन

डलहौजी सरकार के कार्यों को अलग-अलग किया जाना पसंद करता था। इस प्रकार प्रत्येक विभाग को अलग जिम्मेदारी सौंपी जा सकती थी और विशेष योग्यता-प्राप्त व्यक्ति को किसी विभाग का संचालन करने का कार्य दिया जा सकता था। इसी विचार से उसने केन्द्र में सार्वजनिक निर्माण के लिए पृथक विभाग की स्थापना की। डलहौजी के आगमन के पहले ऐसा कोई विभाग नहीं था। निर्माण कार्य के प्रस्ताव या तो गृह विभाग द्वारा अथवा विदेश विभाग द्वारा प्राप्त किये जाते थे। अभी तक एक प्रकार की 'जोड़जाड़' की व्यवस्था चल रही थी। डलहौजी ने इसके स्थान पर एक स्थायी विभाग का संगठन किया। यह विभाग संपूर्ण देश में सार्वजनिक निर्माण कार्य को नियोजित करने लगा। सरकार को सलाह देने के लिए एक अनुभवी इंजीनियर की नियुक्ति की गयी। निर्माण कार्यों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से इस मद के लिए अलग से धन की व्यवस्था की जाने लगी। प्रत्येक वर्ष यह निर्धारित खर्च करके यह नया विभाग विधिवत् कार्य करने लगा। गवर्नर जनरल ने प्रान्तीय सरकारों को इसी प्रकार सार्वजनिक निर्माण विभाग संगठित करने के संबंध में लिखा। उसने आश्वासन दिया कि वह प्रांतों की योजनाओं पर विचार करके धनराशि का इंतजाम करेगा।

भारत में रेलवे का आरम्भ

विश्व में पहला रेल मार्ग १८३० में यातायात के लिए ब्रिटेन में खुला। रेलवे व्यापारिक रूप से ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देशों में लाभकारी सिद्ध हुई। अतः ब्रिटेन की व्यापारिक कंपनियों का ध्यान भारत की ओर भी गया। लेकिन डलहौजी के पूर्व रेल निर्माण की योजनाएँ इस कारण सफल नहीं हुई क्योंकि किसी भी गवर्नर जनरल ने इस विषय में अधिक रुचि नहीं दिखायी। निर्माण का कार्य करने में कई अड़चनें थी और गवर्नर जनरल की सहायता के बिना इसमें प्रगति नहीं हो सकती थी। भारत आने के पूर्व डलहौजी ब्रिटेन के मंत्रिमंडल में कार्य कर चुका था और रेल विभाग के संचालन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा चुका था। ब्रिटेन की रेलवे की समस्याओं की जानकारी होने के कारण वह भारत में भी रेलवे के निर्माण की समस्याओं को समझ सका। उसने व्यक्तिगत रूप से रेलवे के कार्य में रुचि दिखायी और गृह सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली। १८५३ में भारत में पहली बार रेलवे मार्ग तैयार हुआ। बंबई से थाना तक रेल सेवा आरंभ की गयी। १८५४ में कलकत्ता से रानीगंज तक रेलवे मार्ग तैयार किया गया। कुछ समय में ही मद्रास से भी रेल मार्ग तैयार किया गया। इस तरह से देश के तीन प्रमुख नगरों से रेलवे की लाइनें बिछाने का कार्य उसके समय में आरंभ हुआ।

डलहौजी का समय रेलवे के विषय में आरंभिक तैयारी का समय था। उसके शासनकाल में केवल ३०० मील रेलवे की लाइनें बिछायी गयीं। किन्तु इससे भी अधिक उल्लेखनीय उपलब्धि यह थी कि सरकार ने इस ओर आरंभिक कार्यवाही की तथा भविष्य में इस दिशा में अधिक सक्रियता से कार्य किया गया। डलहौजी ने एक अन्य कार्य यह किया कि उसने भविष्य में रेलवे के विकास की योजनाएँ तैयार की, रेलमार्गों का आरंभ करने के लिए छानबीन पूरी की और खर्च की व्यवस्था की। भविष्य में जब भी रेलवे के विषय में कोई विवाद उठा, हर बार डलहौजी द्वारा लिखे पत्रों का अध्ययन किया गया।

भारत में रेलवे का निर्माण-कार्य करने के लिए विभिन्न कंपनियाँ बनीं जो सरकार के निरीक्षण में इस कार्य को करती थीं। आरंभ में रेलवे के निर्माण में केवल विदेशी पूँजी ही लगी। ब्रिटेन में भी लोग धन लगाने को तभी तैयार हुए जब भारत सरकार ने उन्हें यह गारंटी दी कि पाँच प्रतिशत का लाभ उन्हें होता रहेगा।

तार

डलहौजी ने भारत में बिजली के तार का आरंभ करके संचार-साधन में क्रांति ला दी। इस संबंध में आरंभ से ही कई बाधाएँ थीं। तार प्रणाली का पर्याप्त ज्ञान रखने वाले लोग भारत में बहुत कम संख्या में थे। यूरोप के देशों में भी तार का अनुभव कुछ वर्षों का ही था। इस कारण तकनीकी ज्ञान की कमी की समस्या का समाधान गवर्नर जनरल के लिए एक विचारणीय प्रश्न था। इसके अतिरिक्त भारत में सड़कें खराब थीं, तार की लाइनों को जंगलों से ले जाना जोखिम का काम था। इस काम में लगे व्यक्तियों की रक्षा के लिए पुलिस भी पर्याप्त मात्रा में नहीं थी। एक अन्य समस्या धन संबंधी थी। प्रति मील तार की लाइन बिछाने में ब्रिटेन में जो खर्च आया था, अमेरिका में उसकी एक-तिहाई धनराशि ही खर्च की गयी। डलहौजी का भी यही प्रयास रहा कि अमेरिका के समान ही धन भारत में इस विषय में व्यय हो।

डलहौजी ने शीघ्र ही विशाल अभियान आरंभ कर दिया और उसके शासनकाल में ही चार हजार मील लंबी तार सेवा आरंभ हो गयी। देश के प्रमुख शहर एक दूसरे से जुड़ गये। गवर्नर जनरल ने इस कार्य में २,१७,००० पौंड की धनराशि व्यय की जो उस समय के सरकारी खर्चों को देखते हुए एक बड़ी रकम थी। तार सेवा से सबसे अधिक लाभ सरकार को ही हुआ क्योंकि देश के प्रत्येक क्षेत्र में होने वाली घटनाओं की सूचना कलकत्ता पहुँचायी जा सकती थी। १८५७ की क्रांति के समय सरकार ने तार व्यवस्था की सहायता से विरोध का मुकाबला करने की कार्यवाही की। इसके अतिरिक्त व्यापार आदि अन्य कार्यों में भी तार का उपयोग धीरे-धीरे बढ़ा।

डाक सेवा

देश में डाक सेवा की कोई न कोई प्रणाली डलहौजी के समय तक अवश्य चल रही थी। लेकिन इसमें बहुत अधिक विलंब होता था तथा यह खर्चीली भी थी। उदाहरण के लिए एक पत्र भेजने के लिए करीब एक रुपया खर्च होता था। केवल बिरले लोग ही इतना खर्च कर सकते थे। डलहौजी ने जब डाक सेवा आरंभ की तो एक मुख्य निर्णय यह लिया गया कि देश के किसी भी भाग से दूसरे भाग तक केवल दो पैसे में पोस्टकार्ड भेजा जा सकता था। इससे अंदाज लगाया जा सकता है कि उसके शासनकाल में कितने महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये। पूरे देश में उसके समय में ही ७५३ डाकघर खोले गये और भविष्य में भी इसकी स्थापना का क्रम जारी रहा। डलहौजी ने डाक टिकटों का चलन भी आरंभ किया जिससे हर समय डाक सेवा के लिए नकद भुगतान की आवश्यकता नहीं रही। डाक व्यवस्था से साधारण जनता सबसे अधिक प्रभावित हुई। अब सभी व्यक्ति इसका लाभ उठाने लगे।

नहरों का निर्माण

डलहौजी ने नहरों के निर्माण के महत्त्व को समझा। कृषि के लिए नहरों के महत्त्व को प्रायः सभी अधिकारी स्वीकार करते थे। किन्तु फिर भी कंपनी के शासनकाल में अभी तक इस ओर ध्यान नहीं दिया गया था। डलहौजी ने गंगा नहर के निर्माण की योजना को कार्यरूप दिया। आठ वर्षों के सतत् प्रयास के बाद ५२५ मील लंबी नहर का निर्माण उसके कार्यकाल में पूरा हुआ। इस नहर के निर्माण में कुल १४,००,००० पौंड की धनराशि व्यय की गयी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य योजनाएँ जो इस समय पूरी की गयीं, वे थीं कृष्णा डेल्टा योजना, पोलार योजना और पंजाब की नहर योजनाएँ।

शिक्षा-नीति

बेंटिंक की शिक्षा-नीति की आधारभूत मान्यता थी 'नीचे छानना'। विचार यह था कि अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग जिस ज्ञान को प्राप्त करेंगे उसे वे जनसाधारण तक फैलाने के उपाय करेंगे और इस प्रकार पश्चिम की नयी रोशनी भारत में दूर-दूर तक फैलेगी। डलहौजी के समय तक यह अंदाज अधिकारियों को हो गया था कि बेंटिंक की नीति असफल रही थी और नये सिरे से शिक्षा के बारे में विचार करने की आवश्यकता थी। डलहौजी के सम्मुख एक योजना वर्तमान उत्तर प्रदेश प्रांत से आयी जिसे अपनाने को वह तैयार था। यहाँ का गवर्नर टामसन एक योग्य

व्यक्ति था। उसने कहा कि केवल अंग्रेजी माध्यम के विद्यालय उपयोगी नहीं हुए थे और इनके अतिरिक्त उसने प्रांत की भाषा में शिक्षा दिये जाने के कार्यक्रम का आरंभ किया। प्रांत में कई विद्यालय खोले गये। टामसन शिक्षा का प्रचार जनसाधारण तक करना चाहता था। इसके लिए उसने भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की नीति अपनायी। डलहौजी ने टामसन के सुझाव का समर्थन किया और ब्रिटेन की गृह सरकार को शिक्षा-नीति में परिवर्तन करने की सलाह दी। लेकिन इसी समय बोर्ड आफ कंट्रोल का अध्यक्ष चार्ल्स वुड भारतीय शिक्षा-प्रणाली में संशोधन करने के लिए और नयी शिक्षा-योजना पर एक प्रपत्र तैयार कर रहा था। वुड ने डलहौजी के सुझावों को न तो स्वीकार किया और न ही शिक्षा-नीति का प्रपत्र तैयार करने के पूर्व गवर्नर जनरल से किसी प्रकार की सलाह माँगी। यह प्रपत्र १८५४ में भारतीय सरकार को प्राप्त हुआ। यह एक महत्त्वपूर्ण योजना थी जिस पर लंबी अवधि तक कार्यवाही होती रही। वुड की विज्ञप्ति पर डलहौजी ने यही आपत्ति की कि पहले से उसे कुछ कहने का अवसर नहीं दिया गया तथा जो योजना उसने भेजी थी उसके विषय में कुछ भी नहीं कहा गया। वुड की विज्ञप्ति एक प्रकार से गवर्नर जनरल पर थोपी गयी थी। परन्तु फिर भी डलहौजी ने इसे कारगर ढंग से लागू करने में ढिलाई नहीं की।

वुड की विज्ञप्ति में यह विचार प्रकट किया गया था कि पश्चिमी शिक्षा भारतीय ढंग की शिक्षा से बेहतर थी और उसे ही भारतीय शिक्षा-नीति का आधार बनाना चाहिए। नयी शिक्षा-प्रणाली में चार मुख्य बातें कही गयी थीं। पहले निर्णय के अनुसार प्रत्येक प्रांत में जन-शिक्षा के लिए अलग से एक विभाग खोलने का निर्णय किया गया। दूसरे, लंदन विश्वविद्यालय के ढंग पर भारत में भी विश्वविद्यालय स्थापित करने का सुझाव दिया गया। तीसरे, अंग्रेजी शिक्षा और भारतीय भाषाओं में शिक्षा देने में समानता रखी गयी और चौथे, ब्रिटिश सरकार ने अनुदान देने की नीति को स्वीकार किया जिससे गैर सरकारी विद्यालयों को राज्य की ओर से सहायता दी जा सके।

डलहौजी ने स्त्रियों में शिक्षा-प्रसार को भी बढ़ावा दिया। कलकत्ता में एक महिला विद्यालय खोलने में गवर्नर जनरल व्यक्तिगत रूप से व्यस्त रहा। यह स्कूल बेथ्यून स्कूल कहलाया। इस स्कूल की स्थापना करके डलहौजी ने महिलाओं को शिक्षित करने के आंदोलन को शक्तिशाली बनाया।

सामाजिक सुधार

१८५८ तक कंपनी सामाजिक सुधार की जिस नीति पर चली उसका मुख्य आधार विलियम बेंटिंक के समय निश्चित कर दिया गया था। सरकार न्याय और मानवता के सिद्धांतों के अनुसार उन कुरीतियों का उन्मूलन करने को तैयार थी जो मानव प्रकृति के विरुद्ध थीं। सरकार केवल उन्हीं मामलों में हस्तक्षेप करना चाहती थी जिनसे हिन्दू धर्म के नियमों में बाधा न पड़े। बेंटिंक के चले जाने के पश्चात् केवल डलहौजी ने ही सामाजिक सुधार में रुचि दिखायी।

सबसे पहले गवर्नर जनरल ने शिशुहत्या की प्रथा को रोकने के कारगर उपाय किये। वर्तमान उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब में यह कुप्रथा विशेष रूप से चल रही थी। इसे रोकने के लिए भी लंबे समय से ब्रिटिश अधिकारी प्रयत्नशील थे। किन्तु फिर भी ये घटनाएँ होती थीं।

कई अधिकारियों ने इनकी रिपोर्ट गवर्नर जनरल को दी। शिशुहत्या को रोकने के लिए कोई कानून नहीं पारित किया गया। गवर्नर जनरल ने संबंधित परिवार के लोगों की सभाएँ बुलाकर अधिकारियों को उन्हें समझाने-बुझाने की सलाह दी। जगह-जगह इस प्रकार की सभाएँ की गयीं। पंजाब और वर्तमान उत्तर प्रदेश, इन दोनों प्रांतों में उसके जाने के समय तक इस प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया था।

डलहौजी ने मानव-बलि देने की प्रथा को भी रोका। उड़ीसा, मद्रास और मध्य प्रदेश की सीमा के पहाड़ी क्षेत्रों की वन्य जातियों में नरबलि की प्रथा प्रचलित थी। विशेष रूप से खोंड जाति के कबीले के सरदार बलि देते थे। डलहौजी के आने के पूर्व ही इन क्षेत्रों में हुए विद्रोह का दमन करने के लिए ब्रिटिश सेना यहाँ भेजी गयी थी और गवर्नर जनरल का विशेष प्रतिनिधि यहाँ का शासन चलाने लगा। डलहौजी ने नरबलि को रोकने के उपाय किये। उसने यह नीति अपनायी कि कबीले के सरदारों पर जोर डाला गया। उन्हें धमकाया भी गया तथा समझाने की कोशिश भी की गयी। अंग्रेज अधिकारियों के कड़े रुख का प्रभाव यह पड़ा कि कम से कम खुले आम नरबलि बंद हो गयी और धीरे-धीरे इस कुप्रथा पर अंकुश लगा दिया गया।

डलहौजी ने समाज-सुधार के दो अधिनियम पारित किये। पहला अधिनियम था अन्य धर्म अपनाने वालों को संपत्ति का अधिकार देना और दूसरा अधिनियम था विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार। पहले नियम की आवश्यकता इस कारण मालूम पड़ी क्योंकि हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों में यह नियम था कि धर्मत्यागी को परिवार की सम्पत्ति से हाथ धोना पड़ता था। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में बहुत से लोग ईसाई मत अपना रहे थे और संपत्ति का यह नियम उनके लिए बाधा साबित हो रहा था। डलहौजी ने १८५० में अधिनियम बनाकर यह बाधा दूर कर दी और धर्म का परित्याग करने वालों का संपत्ति पर अधिकार पूर्ववत् बना रहा। इस अधिनियम में ईसाई धर्म का कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया था। इस प्रकार देखने में तो केवल यह नीति निर्धारित कर दी गयी कि धर्म का परिवर्तन करने वाले का सम्पत्ति पर अधिकार बना रहे, लेकिन इस अधिनियम का लाभ ईसाई धर्म अपनाने वालों को ही मिला। परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं ने डलहौजी के इस अधिनियम की कटु आलोचना की। यह भी कहा गया कि गवर्नर जनरल ईसाई धर्म को प्रोत्साहन देने की नीति अपना रहा था।

दूसरे अधिनियम की आवश्यकता इस कारण पड़ी कि सती-प्रथा बंद हो जाने के बाद हिन्दू विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अवसर देना था। कम से कम कानूनी ढंग से तो उन्हें यह अधिकार मिल ही जाना चाहिये था। बंगाल में ईश्वरचंद्र विद्यासागर इस संबंध में जनमत तैयार कर रहे थे। सरकार ने इस आंदोलन के सिद्धांत को स्वीकार करके १८५६ में एक अधिनियम पारित किया। परंपरा के मानने वालों ने इस राजकीय अधिनियम की भी आलोचना की। वे किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं थे।

पेंशन तथा पदों की समाप्ति

डलहौजी ने अन्य राजाओं तथा राजवंशों के प्रतिनिधियों के साथ भी कठोरता का व्यवहार किया जिससे एक प्रभावशाली वर्ग ब्रिटिश नीति का विरोधी हो गया।

१८५१ में अपदस्थ पेशवा की मृत्यु हो गयी। वह कानपुर के निकट बिठूर में रहता था।

१८१८ के बाद से पेशवा बाजीराव द्वितीय को कंपनी की ओर से प्रतिवर्ष आठ लाख रुपया पेंशन दी जाती थी। धांधू पंत, जो कुछ वर्षों के बाद आरम्भ हुए विद्रोह में नाना साहब के नाम से प्रसिद्ध हुआ, बाजीराव द्वितीय का दत्तक पुत्र तथा उत्तराधिकारी था। उसने कंपनी से प्रार्थना की कि उसे भी वार्षिक पेंशन दी जाये। डलहौजी ने नाना साहब की माँग को अस्वीकार कर दिया। बाजीराव की मृत्यु के बाद पेंशन बंद कर दी गयी। डलहौजी ने अपने निर्णय को उचित ठहराते हुए लिखा कि पेंशन बाजीराव को व्यक्तिगत रूप से दी गयी थी। तथ्य यह जान पड़ता है कि अब अंग्रेजों को पेशवा के वंशजों को संतुष्ट करने की आवश्यकता नहीं दिखायी पड़ी।

कंपनी ने १८०१ में ही कर्नाटक पर अधिकार कर लिया था। लेकिन उस समय नवाब का पद समाप्त नहीं किया गया था। औपचारिक रूप से कर्नाटक के नवाव को अधिकार प्राप्त रहे। १८५५ में नवाब मोहम्मद गौस की मृत्यु के समय गवर्नर जनरल ने नवाबी पद को समाप्त कर देने की घोषणा कर दी। इस प्रकार अंग्रेज अपने दिये हुए आश्वासनों से पीछे हट गये। जिस नवाबी के पद को उन्होंने हमेशा के लिए स्वीकार किया था उसे उन्होंने डलहौजी के राज्यकाल में समाप्त कर दिया। तंजौर के राजा के प्रति भी यही नीति अपनायी गयी। डलहौजी ने १८५२ में मुगल सम्राट के पद को भी समाप्त करने का विचार किया था, पर संचालक-मंडल ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। डलहौजी ने यह विचार किया कि जिन राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया था उनके प्रतिनिधियों को मान्यता देते रहना कंपनी के हित में नहीं था।

१८५७ के विद्रोह के लिये उत्तरदायित्व

जब डलहौजी का कार्यकाल समाप्त हो रहा था, तो फरवरी, १८५६ में उसने बड़े आत्मविश्वास के साथ कहा था कि वह भारतीय साम्राज्य में आंतरिक और बाह्य शांति की स्थापना करके विदा हो रहा था परंतु उसके जाने के बाद करीब एक वर्ष में ही १८५७ का विद्रोह आरम्भ हो गया। स्वाभाविक ही था कि इतिहासकारों का ध्यान डलहौजी के कार्यों के प्रति गया और सभी ने किसी न किसी प्रकार से उसे जिम्मेदार बताया। डलहौजी ने इन आलोचनाओं का कोई भी उत्तर नहीं दिया। उसने केवल यही दावा किया कि रोष ठंडा हो जाने के वाद लोग उसके शासन के महत्त्व को समझेंगे।

जब कोई निर्माता किसी भवन का निर्माण करता है और यह प्रमाणित करता है कि उसकी आधारशिला को मजबूत बना दिया गया है और भवन को योजना के अनुसार तैयार कर दिया गया है तो फिर अगर हवा के एक ही झोंके के तुरंत बाद यह भवन गिरकर ध्वस्त हो जाये तो निर्माता को कटघरे में खड़ा ही करना चाहिए। उसे मुक्त कैसे किया जा सकता है? यही बात डलहौजी पर लागू होती है। लेकिन कटघरे में खड़े अभियुक्त का अपराध कितना है, इसे सिद्ध करना आसान काम नहीं होता। डलहौजी के उत्तरदायित्व को सिद्ध करते समय हमें भी सतर्क रहना होगा और यह ध्यान रखना होगा कि उसकी आलोचना करने वाले किस उद्देश्य से प्रेरित हैं?

अंग्रेज लेखकों ने जब १८५७ के बाद कुछ दशकों में विद्रोह के कारणों पर प्रकाश डाला तो उन्होंने मत प्रकट किया कि अधिकतर भारतीयों की प्रवृत्ति उन्नीसवीं सदी के

मध्य तक भी मध्ययुगीन थी। ये डलहौजी द्वारा किये गये उन सुधारों को स्वीकार नहीं कर सके जिनके द्वारा योरोप के विज्ञान की उपलब्धियों का प्रयोग भारत में किया गया था। इन लेखकों का कहना है कि विद्रोह ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय लोग प्रगतिशील प्रयत्नों के विरोधी थे। दो वक्तव्यों को देना उचित होगा। जे० डब्ल्यू० के कहते हैं, 'डलहौजी में कल्पनाशक्ति की कमी थी। वह यह नहीं समझा सका कि भारत के लोग किस प्रकार बड़ी श्रद्धा से पुराने रीति-रिवाजों से चिपके हुए थे।' दूसरे लेखक मेलसन लिखते हैं कि '१८५७ के गदर का मुख्य कारण यह था कि डलहौजी ने पश्चिमी विचारों को पूर्वीय लोगों पर लादने की कोशिश की थी।'

इन विचारों पर अगर हम गहराई से विचार करें तो ये सत्य नहीं मालूम पड़ते। यह सही है कि नये प्रयोगों के बाद विद्रोह भड़क उठा लेकिन यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि अगर रेलवे और तार सेवा आरम्भ न की जाती तो विद्रोह ही नहीं होता। किसी भी लेखक ने ऐसा नहीं कहा है। यह ध्यान रखना होगा कि विद्रोह मूल रूप से आर्थिक, राजनीतिक और सैनिक कारणों से ही हुआ। विद्रोह के सामाजिक कारणों पर आवश्यकता से अधिक बल देकर डलहौजी को दोषी ठहराने का प्रयास करना उचित नहीं है। १८५७ में रेलवे लाइन बंबई, कलकत्ता और मद्रास के आसपास बिछायी गयी थी। इन्हीं स्थानों में लोग इसका प्रयोग करते थे। लेकिन इन स्थानों के लोगों ने विद्रोह में कोई भाग नहीं लिया। इसी प्रकार स्त्री शिक्षा के प्रयासों की निंदा करना भी उचित नहीं है। जे० डब्ल्यू० के कहते हैं कि कलकत्ता में स्थापित बेथ्यून स्कूल विद्रोह का एक कारण बना। यह एक गलत बयान है। न तो कलकत्ता में स्त्री शिक्षा के विरुद्ध कोई भावना थी और न ही यहाँ के लोग किसी प्रकार से उद्विग्न ही हुए। इसी तरह से कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया के लेखक ने कहा कि गंगा नहर के निर्माण से लोग अंग्रेजों के विरोधी हो गये। यह बात समझ में नहीं आती क्योंकि भारत के लोग नहर की उपयोगिता से आरम्भ से ही परिचित थे। ब्रिटिश इतिहासकारों ने विद्रोह के आर्थिक तथा राजनीतिक कारणों पर ध्यान न देकर भारतीयों की प्रतिक्रियावादी विचारधारा को ही विद्रोह का मूल कारण बताने में भूल की है। उनके इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

डलहौजी के दोनों सामाजिक सुधारों का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। लोग ईसाइयत के प्रभाव से पहले से ही आतंकित थे। वे सरकार के किसी भी सामाजिक सुधार को हस्तक्षेप मानते थे। इस कारण डलहौजी के सामाजिक सुधारों की आलोचना की गयी।

डलहौजी के राजनीतिक कार्य अवश्य ही दोषपूर्ण थे। उसकी राज्य विस्तार की नीति की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। ब्रिटिश शासन के विस्तार से भारत का प्रभावशाली वर्ग असंतुष्ट हुआ। इसी प्रभावशाली वर्ग ने विद्रोह का नेतृत्व किया।

डलहौजी के कार्यों से यह विचार भी भारतवासियों में उपजा कि अंग्रेज अपने वायदों को पूरा नहीं करते। उसने गोद लेने की प्रथा का निषेध करके भारत में प्रचलित पारंपरिक व्यवस्था को जो चुनौती दी, उससे भारत के लोग चौंक उठे। डलहौजी के कार्यकाल में जो निर्णय किये गये उनकी प्रतिक्रिया भारत में हुई और उसे १८५७ के विद्रोह के लिए उत्तरदायी इसी से माना जाता है।

सत्रहवाँ अध्याय

१८५७ का विद्रोह

मई, १८५७ में भारत में एक अप्रत्याशित घटना घटी। अचानक देश के विशाल क्षेत्र में अंग्रेजों के आधिपत्य के विरुद्ध एक शक्तिशाली जन विद्रोह आरंभ हो गया। विदेशी शासन को जड़ से उखाड़ फेकने के उद्देश्य से देशव्यापी संघर्ष आरम्भ कर दिया।

यह विद्रोह एक जन-आन्दोलन था। समाज के प्रत्येक वर्ग ने इस संघर्ष में भाग लिया। सैनिकों और नागरिकों ने मिलकर प्रत्येक स्थान पर जमकर संघर्ष किया। निश्चय ही ब्रिटिश शासन के विरुद्ध समाज में व्यापक असंतोष था। वर्षों से आग सुलगती रही और अंग्रेजों की प्रशासकीय नीतियों तथा निर्णयों के कारण लोगों में रोष बढ़ता गया। अंत में इसी रोष ने विस्फोटक स्थिति को जन्म दिया। आरंभ में यही विचार करना होगा कि किन कारणों से विद्रोह हुआ।

विद्रोह के कारण

विद्रोह के कारणों पर विचार करने के पूर्व यह ध्यान दिलाना आवश्यक है कि बहुत से अंग्रेज लेखकों ने सैनिकों के असंतोष पर अनावश्यक बल दिया है। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि सैनिकों ने जोश में आकर अंग्रेज सैनिक अधिकारियों के विरुद्ध हथियार उठाये, लेकिन यह मत भ्रांतिपूर्ण है। यह विद्रोह बहुत अधिक व्यापक था। इसके कारण केवल सैनिक ही नहीं बल्कि राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक थे। एक अन्य प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि धार्मिक विषयों को लेकर यह विद्रोह उठ खड़ा हुआ।

राजनीतिक कारण

भारत पर अंग्रेजों का अधिकार कभी भी जनप्रिय नहीं हो सका। विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव के प्रति यहाँ विरोध की भावना पनपी और १८५७ में भारतीयों ने इस साम्राज्य को उखाड़ फेंकने की जोरदार कोशिश की। यह विद्रोह मुख्यतः अंग्रेज-विरोधी भावना के कारण आरंभ हुआ। पठान और मुगल भी विदेशी आक्रमणकारी के रूप में इस देश में आये थे परन्तु कालांतर में वे भारत में ही बस गये। यह देश ही उनका देश हो गया और मध्य एशिया के देशों से उनके संबंध नाममात्र के रह गये। अंग्रेजों का ऐसा कोई इरादा नहीं था। उनके शासन को इतिहासकारों ने 'अनुपस्थित प्रभुसत्ता' कहा है। इसका अर्थ यह है कि भारत में इस प्रभुसत्ता का केन्द्र नहीं था। भारत पर शासन ब्रिटेन से होने लगा और दूर देश में स्थित अधिकारी भारतीय शासन की बागडोर सँभाले रहे। इस प्रणाली से भारत के लोगों में राज्य के प्रति किसी प्रकार का निकट का संबंध नहीं पनप सका।

विद्रोह के एक दशक पूर्व डलहौजी के शासनकाल में राजनीतिक गतिविधियों में अचानक

तेजी आ गयी। इस गवर्नर जनरल ने जिस गति से एक के बाद दूसरे देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया उससे देशी राज्यों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। ब्रिटिश साम्राज्य के बढ़ते हुए प्रभाव से देश के प्रभावशाली वर्ग और जनसमुदाय असंतुष्ट हो उठे और उन्होंने भारतीय राजाओं के शासन की पुनर्स्थापना करने तथा अंग्रेजों की सत्ता को समाप्त करने का प्रयास किया। डलहौजी ने राज्यों को हड़पने की नीति अपनाते समय यह ध्यान नहीं रखा था कि कौन सा राज्य अंग्रेजों का पक्षपाती रहा था और कौन विरोधी था। उदाहरण के लिए पंजाब पर अधिकार करते समय तो यह बहाना वन सकता था कि सिख युद्ध करने का इरादा रखते थे और अंग्रेजों के लिए प्रबल विरोध को दबाना आवश्यक हो गया। लेकिन अवध के लिए ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता था। अवध के नवाबों ने सत्तर साल से भी अधिक समय से हमेशा कंपनी का साथ दिया था। कंपनी की हर शर्तों को अवध के नवाबों ने स्वीकार किया था। कभी भी अवध के नवाबों ने अंग्रेजों के विरुद्ध इस लंबी अवधि में तलवार नहीं उठायी थी। फिर भी डलहौजी वाजिद अली शाह को हटाने में जरा भी नहीं हिचका और कुशासन के नाम पर अवध को हड़प लिया गया। अवध के निवासी तो इससे अप्रसन्न हुए ही लेकिन संपूर्ण देश में भी उत्तेजना की लहर फैल गयी। सतारा, झाँसी और नागपुर आदि राज्यों में गोद लेने के अधिकार का निषेध करके गवर्नर जनरल इन्हें पहले ही ब्रिटिश साम्राज्य में मिला चुका था। इन घटनाओं से राजनीतिक सरगर्मी अचानक तेज हुई और अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार के प्रति असंतोष फैलता गया।

यह समाचार भी १८५६ में मिला कि डलहौजी के उत्तराधिकारी कैनिंग ने यह आदेश दे दिया था कि बहादुरशाह की मृत्यु के बाद मुगल सम्राट को लाल किले से हटाकर दिल्ली में अन्य स्थान पर रहने को कहा जायेगा। मुगल शासक के प्रति इस दुर्व्यवहार से लोगों के दिलों को ठेस लगी। इस समय तक मुगलों के अधिकार तो बहुत कुछ समाप्त हो चुके थे, पर इसके बाद भी मुगल शासक के प्रति देशवासियों में भावात्मक आस्था थी। उसका अपमान करने अथवा उसकी मर्यादा के विरुद्ध किये गये प्रयासों से ब्रिटिश शासन और भी अप्रिय हो गया।

ब्रिटिश शासकों की नीति के अलावा उनके शासन करने के तरीकों से भी भारतीय उत्तेजित हुए। अंग्रेजों की शासन-प्रणाली उस समय तक प्रचलित इस देश की प्रणाली से नितांत भिन्न थी। विदेशी शासन-पद्धति लागू करते समय उन्होंने यह समझने की कभी कोशिश नहीं की कि इससे यहाँ के लोगों की तकलीफें किस प्रकार बढ़ेंगी। कुछ उदाहरण देकर नये शासन के निर्णयों से उत्पन्न कठिनाइयों को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। भारतीय प्रणाली के अनुसार धार्मिक कृत्यों में व्यस्त लोगों को, पंडितों तथा मुल्ला-मौलवियों को ऐसी भूमि राज्य की ओर से दे दी गयी थी जिससे किसी प्रकार का कर नहीं वसूल किया जाता था। अंग्रेजों ने इस सिद्धांत को अस्वीकार करके प्रत्येक व्यक्ति से कर वसूल करने का नियम अपनाया। इसी प्रकार अंग्रेजों ने जिस न्याय-प्रणाली को अपनाया उससे समाज का प्रभावशाली वर्ग बहुत ही नाराज हो गया। ब्रिटिश प्रणाली के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति कानून की निगाह में समान था। जन्म, जाति, धर्म अथवा पद के कारण किसी के विशेषाधिकारों को अब न्यायालयों द्वारा स्वीकार नहीं किया जाता था। यह एक ऐसी स्थिति थी जो भारतीय समाज के लिए नयी थी क्योंकि

इसमें प्रत्येक व्यक्ति निजी अधिकारों की दुहाई देता था। इसके अतिरिक्त कानून की यह प्रणाली अन्य प्रकार से भी भिन्न थी। यह खर्चीली और पेचीदी थी तथा इस नये ढंग से निर्णय भी बहुत विलंब से सुनाये जाते थे। यह सारी की सारी न्याय-प्रणाली लोगों को अजीव सी मालूम पड़ी।

ब्रिटिश शासन-प्रणाली में एक अन्य दोष भी था। यह शासन अंग्रेजों द्वारा चलाया जाता था और भारतीयों को शासन में केवल निचले पद ही उपलब्ध थे। समाज के प्रभावशाली वर्गों के नवयुवकों को कभी भी अपनी प्रतिभा तथा गुणों के अनुसार पद प्राप्त होने की आशा नहीं रही। इससे प्रशासन से लोग निराश होने लगे। सर सैय्यद अहमद खाँ, जो विद्रोह के समय स्वयं एक अधिकारी थे, लिखते हैं कि ब्रिटिश अधिकारियों को जनता की भावनाओं का, उनकी आशाओं तथा आकांक्षाओं का कभी पता ही नहीं चला। शासन और शासित के बीच खाई बढ़ती गयी। विस्फोटक स्थिति हो जाने पर भी सरकार को इसका आभास तक नहीं हो सका। विद्रोह का आरंभ होने के समाचार से सभी ब्रिटिश अधिकारी भौंचक्के रह गये।

आर्थिक कारण

अंग्रेजों ने भारत को कभी भी अपना देश नहीं समझा। भारत उनके लिए एक उपनिवेश मात्र था। उनकी नीति थी, इस भारतीय उपनिवेश का अधिकाधिक शोषण करके ब्रिटेन में पूँजी को एकत्रित करना। सभी संभव उपायों से भारत के साधनों का उपयोग ब्रिटेन के हित में किया गया। जैसे-जैसे अंग्रेजों के राजनीतिक अधिकार बढ़ते गये, वे ब्रिटेन का स्वार्थसाधन करने के लिए नियम बनाने लगे। ब्रिटिश शासन-तंत्र द्वारा बनाये गये नियमों का प्रभाव यह पड़ा कि भारत गरीब होता गया। अंग्रेज व्यापारी और शासक मिलकर इस देश की पूँजी को ले जाकर ब्रिटेन में इकट्ठा करने लगे।

आर्थिक शोषण की नीति का सबसे अधिक प्रभाव भारतीय उद्योगों पर पड़ा। जब अंग्रेज इस देश में आये थे उस समय भारत का बना हुआ कपड़ा यूरोप को भारी मात्रा में भेजा जाता था। भारतीय माल अन्य देशों की तुलना में बहुत अधिक उच्चकोटि का था। किन्तु कुछ दशकों में भारत के निर्यात में बाधाएँ लगायी गयी और विभिन्न तरीकों से भारतीय उद्योगों को नष्ट किया गया। जो देश कपड़े के निर्यात के लिए प्रसिद्ध था वह कपड़े का आयात करने लगा। भारत के बड़े-बड़े शहर उजड़ने लगे और नये शहर बसे। ढाका, जो कपड़े के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था, उसकी आबादी एक लाख पचास हजार से घटकर केवल बीस हजार रह गयी। इन्हीं दशकों में ब्रिटेन में कपड़ा उद्योग के लिए कारखाने स्थापित किये गये थे। ब्रिटेन में बने कपड़े भारत में लाकर बेचे जाने लगे और यह किस गति से बढ़ा, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि १८१८ से १८३६ के बीच ब्रिटेन के निर्यात के बढ़ने का अनुपात १ की तुलना में ५२०० हो गया। १८२४ से १८३७ के बीच ब्रिटेन में बने कपड़े के निर्यात में दस गुने की वृद्धि हुई। यह क्रम लगातार चलता रहा। भारत का कच्चा माल ब्रिटेन पहुँचता रहा तथा ब्रिटेन के मिलों और कारखानों में बनी वस्तुओं को भारत लाकर बेचा जाने लगा। इससे जहाँ एक ओर ब्रिटेन को तो हर स्थिति में लाभ हुआ वहाँ भारत के उद्योग-धंधे प्रायः नष्ट हो गये।

भारतीय अर्थ-प्रणाली अंग्रेजों के आगमन के पूर्व एक संतुलित प्रणाली थी। इस अर्थव्यवस्था में उद्योग और कृषि में संतुलन बना हुआ था। ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के बाद यह संतुलन विगड़ गया। उद्योग-धंधे नष्ट हो जाने से समाज का प्रत्येक वर्ग कृषि पर आश्रित होता गया। खेती पर अनावश्यक बोझ पड़ा और देश की आर्थिक व्यवस्था इस असंतुलन के परिणामस्वरूप जो एक बार विगड़ी तो फिर अंग्रेजों के शासनकाल में सुधर नहीं सकी।

ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक और औद्यागिक नीति से भी अधिक असंतोष उसकी लगान संवंधी नीति के कारण बढ़ता गया। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व हमारे देश में भूमि किसी भी स्थिति में वेची नहीं जा सकती थी। अगर किसान कभी भी लगान नहीं दे पाता था तो उसे कारावास तक की सजा हो सकती थी। पर भूमि से वह बेदखल नहीं किया जाता था। अंग्रेज प्रशासकों ने इस व्यवस्था को बदल दिया। यदि किसान किसी कारण भूमिकर अदा न कर सके तो नये नियमों के अनुसार भूमि उससे छीनकर बेच दी जाने लगी। किसान इससे उत्तेजित हुए क्योंकि भूमि पर उनका अधिकार समाप्त होने से केवल उनकी संपत्ति ही नहीं छिनी अपितु वे बेकार भी हो गये। खेती के अलावा वे कोई अन्य धंधा भी गाँवों में करने की स्थिति में नहीं थे।

ब्रिटिश अधिकारियों ने इतना अधिक भूमि-कर लगा दिया कि किसान उसे दे ही नहीं सके। सरकार की ओर से लगान बढ़ा दिये जाने से किसान को इसे हर वर्ष जमा करना बहुत कठिन हो गया। सरकार की अधिक से अधिक लगान बढ़ाने की नीति से किसानों की कठिनाइयों की कोई सीमा न रही। मध्य प्रदेश के होशंगाबाद और सिवनी जिलों के उदाहरण हमारे सामने हैं। १८२५ में इन जिलों से प्राप्त होने वाले वार्षिक भूमि-कर को २२७७ पौंड से बढ़ाकर १३,८७७ पौंड कर दिया गया। करीब सात गुना लगान बढ़ा देने से किसान त्राहि-त्राहि करने लगे। जब इसे वसूल नहीं किया जा सका तो सरकार ने कर-निर्धारण को घटाया।

कर-निर्धारण सम्बन्धी नियमों में एक अन्य असुविधा यह थी कि यह लगान बार-बार बढ़ाया जाने लगा। जव भी दस या बीस वर्षों के बाद किसी क्षेत्र में कर-निर्धारण की कार्यवाही होती थी तो लगान और अधिक बढ़ा दिया जाता था। इससे किसानों की मुसीबतें और बढ़ जाती थीं।

इसके भी स्पष्ट प्रमाण हैं कि राजकीय अधिकारी कर वसूल करने में किसानों को यातनाएँ देने में भी नहीं हिचकते थे। जुलाई, १८५४ में ब्रिटिश पार्लियामेंट में एक प्रस्ताव पेश करते हुए यह माँग की गयी कि किसानों के कष्टों पर विचार करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति हो। पार्लियामेंट के एक सदस्य ने भारत सरकार पर आरोप लगाते हुए कहा कि बल प्रयोग करके किसानों से लगान वसूल किया जा रहा था। सदस्य का कहना था कि बहुत से किसानों को भुखमरी और कंगाली का सामना करना पड़ रहा था। एक दूसरे सदस्य जान ब्राइट ने मत व्यक्त किया कि सरकार को दिया जाने वाला लगान इतना अधिक था कि खेती करने में कोई लाभ ही नहीं था।

ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये नये नियमों के अनुसार प्रति वर्ष न्यायालय बड़ी संख्या

में जागीरों की बिक्री या नीलामी का आदेश जारी करने लगे। जब भी सरकार का कर बकाया होता था अथवा कोई अन्य कारण होता था तो जागीर को बेच दिये जाने के आज्ञापत्र तैयार किये जाते थे। यह भूमि अधिकतर शहर का व्यापारी वर्ग खरीदता था। इस प्रकार देश के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापारी वर्ग ने भूमि को खरीदना आरंभ कर दिया। यही बनिया ब्याज में धन भी देता था। बनिया गाँव में नहीं रहता था और यदि रहता भी था तो गाँव के लोग हमेशा उसे बाहरी व्यक्ति मानते थे। १८५७ के विद्रोह की घटनाओं से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि अवसर मिलते ही किसानों और जमींदारों ने मिलकर बनियों पर आक्रमण किये। बिक्री अथवा नीलामी के आदेश जला दिये गये और जहाँ भी लगान संबंधी कागजात उपलब्ध हुए, उन्हें नष्ट कर दिया गया।

ताल्लुकदारों और जमींदारों को कुचलने की नीति विलियम बेंटिक के समय से मध्य प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों तथा आगरा, मथुरा के आसपास के क्षेत्रों में अपनायी गयी थी। बाद में जब फरवरी, १८५६ में अवध का शासन भी अंग्रेजों के हाथ में आ गया तो वहाँ भी शीघ्र ही यह नीति अपनायी गयी। अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाने के बाद जो भूमि संबंधी नियम बनाये गये उनसे अवध का प्रभावशाली वर्ग बहुत असंतुष्ट हो गया। मार्च, १८५७ में लखनऊ के गवर्नर हेनरी लारेंस ने गवर्नर जनरल को सूचना दी कि फैजाबाद डिवीजन में कुछ ताल्लुकदारों की आधी जागीरों को और अन्य ताल्लुकदारों की संपूर्ण जागीर को सरकार ने जब्त कर लिया था। अवध के अन्य क्षेत्रों में भी ताल्लुकदारों के साथ ऐसा ही बरताव किया गया। शाहगंज के एक प्रभावशाली ताल्लुकदार मान सिंह की विशाल भूसंपत्ति पर उसका अधिकार समाप्त करके उसके अधीन किसानों को यह भूमि बाँट दी गयी। धारूपुर के ताल्लुकदार हनुमंत सिंह की भूसंपत्ति भी इसी प्रकार उसके हाथ से छिन गयी। अवध में ब्रिटिश शासन का आरंभ होते ही जमींदारों और ताल्लुकदारों की भूसंपत्ति को जब्त करके अन्य किसानों में बाँटने को जो क्रम आरंभ किया गया उससे यह वर्ग उत्तेजित हो उठा और १८५७ के विद्रोह में इन ताल्लुकदारों ने अवध में ब्रिटिश शासन का अंत करने की कोशिश की।

ऐसा नहीं था कि भू-संबंधी नियमों और आदेशों से केवल उत्तर भारत के किसान, जमींदार और ताल्लुकदार ही उत्तेजित हुए। यह असंतोष महाराष्ट्र क्षेत्र में भी व्यापक रूप से तथा अन्य क्षेत्रों में सीमित रूप से देखा जा सकता था। विलियम बेंटिक के समय से ही यह प्रयास किया गया था कि ऐसे लोगों की भूमि को जब्त कर लिया जाये जो किसी भी प्रकार का भूमि-कर नहीं दे रहे थे। डलहौजी ने इनाम कमीशन को यह कार्य सौंपा। इस कमीशन के आदेशों के द्वारा केवल महाराष्ट्र में ही करीव बीस हजार जागीरों को सरकार ने जब्त कर लिया। अधिकतर यह भूमि मुल्ला-मौलवियों, पंडितों तथा समाज के अन्य ऐसे लोगों के पास थी जो समाज का प्रबुद्ध वर्ग था। इस नियम से ये लोग अंग्रेजी शासन के विरोधी हो गये। यह सर्वविदित है कि मुल्ला-मौलवियों ने १८५७ के विद्रोह के समय ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना की। इनाम कमीशन ने १८५२ से अपना कार्य आरंभ किया। प्रत्येक जागीर के विषय में जब स्पष्ट प्रमाण माँगे गये तो बहुत से परिवार कागजात प्रस्तुत नहीं कर सके। कई परिवारों के पास या तो दस्तावेज थे ही नहीं अथवा वे नष्ट हो गये थे। वर्षों से भूमि पर उनका अधिकार था और

वे किसी प्रकार का लगान नहीं दे रहे थे। जब ब्रिटिश सरकार ने पूछताछ आरंभ की और भूमि को जब्त किया जाने लगा तो जागीरों के मालिक क्षुब्ध हो उठे।

सामाजिक कारण

ब्रिटिश सरकार के लगान संबंधी नियमों के कारण जमींदार तथा ताल्लुकदारों की भूमि का एक बड़ा भाग उनके हाथ से छीन लिया गया। उनकी जागीरों को या तो जब्त कर लिया गया अथवा उन्हें अन्य किसानों में बाँट दिया गया। भू-स्वामियों के प्रभाव को समाप्त करने की दृष्टि से ही ये सुधार किये गये थे। इन सुधारों का तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि समाज में अव्यवस्था फैल गयी। इस अभिजात वर्ग के प्रभाव के द्वारा समाज में शांति और व्यवस्था बनी हुई थी। उनका प्रभाव कम होने से सामाजिक पद्धति ही बदलने लगी। समाज में इस प्रभावशाली वर्ग का प्रभाव विद्रोह के समय तक वना हुआ था और अंग्रेजों के विरुद्ध जब आंदोलन छिड़ा तो इस वर्ग ने प्रमुख भूमिका निभायी।

सामाजिक असंतोष का एक कारण यह भी था कि अंग्रेज भारतीय लोगों को हेय दृष्टि से देखते थे। आगरा के मजिस्ट्रेट ने निम्नलिखित आदेश जारी किया था – 'किसी भी कोटि के भारतीय के लिए कठोर सजाओं की व्यवस्था करके उसे विवश किया जाना चाहिए कि वह सड़क पर चलने वाले प्रत्येक अंग्रेज को सलाम करे और यदि भारतीय घोड़े पर चढ़ा हो या किसी गाड़ी में हो तो उसे उतरकर आदर प्रदर्शित करते हुए उस समय तक खड़ा रहना चाहिए जब तक उक्त यूरोपीय चला नहीं जाता।' यह केवल एक उदाहरण है कि अंग्रेज किस प्रकार अपनी शान-शौकत को बनाये रखना चाहते थे और किसी भी भारतीय को बराबरी का दर्जा देने को तैयार नहीं थे। सेना तथा अन्य सरकारी पदों पर इसी कारण भारतीयों को हमेशा नीचे पदों पर रखा गया और अंग्रेजों को ऊँचे पदों पर। जातीय भेद और रंग-भेद की इस नीति से अंग्रेजों के प्रति घृणा बढ़ती गयी।

ब्रिटिश प्रशासकों ने भारतीय समाज को सुधारने की दृष्टि से जो नियम बनाए उनका प्रभाव भी यही पड़ा कि समाज का एक बड़ा वर्ग सरकार के इरादों पर शंका करने लगा। समाज-सुधार की देश में नितांत आवश्यकता थी और ब्रिटिश प्रशासकों ने जनकल्याण की दृष्टि से ही हिन्दुओं के सामाजिक नियमों में कुछ परिवर्तन किये थे। परन्तु बेंटिक से लेकर डलहौजी के शासनकाल तक होने वाली अन्य घटनाओं के कारण इन सुधारों से भी लोग आशंकित हुए। सबसे पहले सती प्रथा को बंद करने का नियम १८२९ में बना। लंबे समय तक बंगाल में इसका विरोध हुआ। इसके बाद डलहौजी के शासन-काल में दो अधिनियम पारित किये गये। पहला नियम १८५० में पारित हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो अपना धर्म छोड़कर ईसाई हो गया हो, यह अधिकार दिया गया कि उसे संपत्ति से वंचित नहीं किया जायेगा। इस नियम की प्रतिक्रिया यह हुई कि इस प्रकार भारतीयों को ईसाई धर्म अपनानें की सुविधा दी जा रही थी। हिन्दू सामाजिक परंपरा को भी इस नियम के द्वारा चुनौती दी गयी क्योंकि समाज में सैकड़ों वर्षों से यह परम्परा चलती आ रही थी कि उस पुत्र को ही पूर्वजों की संपत्ति पर अधिकार था जो पिता की मृत्यु के बाद उसके अंतिम संस्कार करे। ईसाई बन जाने पर ऐसा पुत्र न तो

दाह संस्कार ही कर सकता था और न तर्पण ही। अतः उसे संपत्ति पर अधिकार देकर इस नियमानुसार प्रचलित सामाजिक नियम की भी अवहेलना की गयी। दूसरा नियम १८५६ में पारित हुआ। इसके अनुसार हिन्दू विधवा स्त्रियों को पुनर्विवाह करने का अधिकार दिया गया। इसका भी यही अर्थ लगाया गया कि अंग्रेज अधिकारी सामाजिक नियमों को एक-एक करके तोड़कर हिन्दू समाज को अव्यवस्थित करने की कोशिश कर रहे थे। तत्कालीन परिस्थितियों में इन अधिनियमों के फलस्वरूप भी ब्रिटिश प्रशासन के प्रति भारतीय जनता की आस्था डिगी।

धार्मिक कारण

उन्नीसवीं शताब्दी के उन आरंभिक दशकों में, जिनकी चर्चा यहाँ की जा रही है, धार्मिक प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में महत्त्वपूर्ण थे। धार्मिक मान्यताओं के प्रति लोग आस्थावान् थे। धर्म को प्रभावित करने वाले विषय बहुत ही नाजुक और भावुकतापूर्ण थे। इस कारण जैसे ही ब्रिटिश सरकार और ईसाई पादरियों ने ऐसे कुछ कदम उठाये जिनसे हिन्दुओं अथवा मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँची तो लोग उत्तेजित हो उठे।

यह ध्यान देने योग्य है कि अठारहवीं शताब्दी के अंत तक अंग्रेज प्रशासकों ने ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया था जिससे भारत के हिन्दू अथवा मुसलमान नाराज होते। इस समय तक ईसाई धर्म के प्रसार का भी किसी प्रकार का डर नहीं था। परन्तु १८१३ में कुछ ऐसे निर्णय लिये गये कि लोग सचेत हो उठे। इस वर्ष पहली बार ईसाई पादरियों को भारत आने और धर्म-प्रचार करने की अनुमति दी गयी। इसी वर्ष शिक्षा के लिए भी यह निर्धारित किया गया कि कंपनी कम से कम एक लाख रुपये खर्च करेगी। भारत के एक बड़े भाग में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना होते ही यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि ब्रिटिश अधिकारी नैतिक और सांस्कृतिक प्रभाव बढ़ा रहे थे।

विलियम बेंटिक के समय अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा देने तथा पश्चिमी ढंग की शिक्षा-प्रणाली अपनाने का निर्णय हो जाने से भारत के कुछ प्रभावशाली वर्गों को आघात पहुँचा। उन्होंने यह अनुभव किया कि पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के प्रचार की ओर ही राज्य ध्यान दे रहा था और भारतीय शिक्षा-प्रणाली तथा विचारधारा को हेय दृष्टि से देखा जा रहा था। मैकाले के वक्तव्यों से लोग क्षुब्ध हुए। पंडितों और मुल्ला-मौलवियों को भी इस निर्णय से धक्का लगा। मौका मिलने पर इस प्रबुद्ध वर्ग ने अंग्रेजों के शासन के विरुद्ध जनभावना को उकसाने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए स्थान-स्थान पर जो स्कूल और कालेज खोले गये उनमें भी ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाने लगी। कुछ स्कूल, जिनको राजकीय सहायता प्राप्त थी, वास्तव में ईसाई पादरियों द्वारा चलाये जाते थे। पादरी लोग शिक्षक तो अच्छे थे परन्तु भारतीय जनता को उनके इरादों पर शक था। पादरी केवल विद्यार्थी के मस्तिष्क को सुधारने के लिए ही प्रयत्नशील नहीं थे अपितु उन्होंने बालकों की आत्मा के उद्धार की भी कोशिश की। उनके अनुसार केवल ईसाई धर्म द्वारा ही मुक्ति मिल सकती थी और ईसाई को छोड़कर कोई अन्य मुक्तिदाता नहीं था। नयी शिक्षा के इस पहलू से भारतीय आतंकित हो उठे। उनकी यह शंका

बलवती होती गयी कि अंग्रेज शिक्षा के माध्यम से बच्चों को ईसाई धर्म की ओर मोड़ रहे थे।

धीरे-धीरे ईसाई पादरी प्रत्येक स्थान पर दिखाई पड़ने लगे थे। स्कूलों, अस्पतालों, जेलों और बाजारों में वे सक्रिय रूप से धर्म-प्रचार के कार्य में रत थे। धर्म-प्रचार के उनके ढंग से जनता में बहुत अधिक रोष व्याप्त हुआ। इसका कारण यह था कि ईसाई पादरी खुलेआम सड़कों, चौराहों और बाजारों में धर्म-प्रचार करते थे। लोगों के लिए यह असह्य था क्योंकि वे केवल मंदिरों अथवा मस्जिदों में ही धार्मिक भाषण सुनने के अभ्यस्त थे। इस प्रचार में पादरियों ने एक और आपत्तिजनक कार्य किया। उन्होंने केवल ईसाई धर्म की प्रशंसा ही नहीं की बल्कि अन्य धर्मों की कटु आलोचना भी की। इस प्रकार के प्रचार से जनता की धार्मिक भावनाओं को ठेस पहुँची।

ईसाई धर्म के प्रचार के कुछ ऐसे भी उदाहरण सामने आये जिनसे यह दिखाई देने लगा कि ब्रिटिश अधिकारी लोगों को ईसाई बनाने में प्रोत्साहन दे रहे थे। निजी तौर से उनकी सहानुभूति पादरियों के साथ थी। फतेहपुर जेल के वर्णन से यह पता चलता है कि जिलाधीश की आज्ञा से जेल के कैदियों को नित्य ईसाई धर्म की विशेषताओं की शिक्षा की जाती थी। इस कार्य को पूरा करने के लिए एक पादरी की नियुक्ति की गयी थी।

भारतीय जनता को यह विश्वास होता गया कि सरकार पादरियों की सहायता कर रही थी। उनका कहना था कि पादरी अधिकारियों के निर्देश के अनुसार कार्य कर रहे थे। सर सैय्यद अहमद खाँ निजी अनुभव के आधार पर कहते हैं कि 'उस समय यह एक आम धारणा थी कि ईसाई पादरियों को सरकार ने नियुक्त किया था और वही उनके खर्च की व्यवस्था भी कर रही थी।' इस मत के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पादरियों के आपत्तिजनक कार्यों के लिए जनता ने ब्रिटिश सरकार को दोषी माना।

सैनिक कारण

भारतीय सैनिकों का अंसतोष विद्रोह का प्रमुख कारण सिद्ध हुआ। अतः यह जानना आवश्यक होगा कि इन सैनिकों ने किन परिस्थितियों में अंग्रेज अधिकारियों के विरुद्ध तलवार उठायी। भारत में इस समय कंपनी की सेना की कुल संख्या तीन लाख पन्द्रह हजार थी। इसमें इक्यावन हजार सैनिक और सेनाधिकारी यूरोपीय थे। इस प्रकार यह प्रकट हो जाता है कि कंपनी की सेना में यूरोपियों की संख्या पूरी सेना के एक छठे भाग से अधिक नहीं थी और भारतीय सैनिक इस सेना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे थे।

कंपनी की सेना तीन भागों में बँटी हुई थी – बंगाल सेना, मद्रास सेना और बंबई सेना। १८५७ की घटनाओं में केवल बंगाल सेना ने भाग लिया तथा शेष दो सेनाओं पर विद्रोह का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। बंगाल सेना कंपनी के अधीन तीनों सेनाओं में सबसे प्रमुख सेना थी और इसमें करीब एक लाख पैंसठ हजार सैनिक थे जिनमें तीस हजार यूरोपीय अधिकारी और सैनिक थे। आँकड़ों से स्पष्ट है कि बंगाल सेना में भी यूरोपीय सैनिकों की संख्या सीमित थी। कंपनी की ओर से लड़े गये युद्धों में इस सेना ने हर समय साहस का परिचय दिया था। उत्तर भारत के कई प्रमुख युद्धों में अंग्रेजों की विजय का श्रेय इसी सेना को था। स्वाभाविक ही था

कि इस सेना में काम करने वाले सैनिकों में वीरता की गौरवमय परंपरा थी और ये सैनिक आशा करते थे कि कंपनी की सरकार उनकी सेवाओं का स्मरण रखते हुए उन्हें उचित सुविधाएँ प्रदान करेगी। लेकिम ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। १८५७ में भारतीय सैनिक का वेतन करीब सात रुपये था। अन्य कुछ वर्ग के भारतीय सैनिकों को कुछ अधिक वेतन मिलता था। इन सैनिकों ने सेना में नौकरी इस कारण की थी कि वे अपने परिवार को प्रतिवर्ष कुछ धन बचाकर भेज सकें। लेकिन इन सैनिकों का वेतन तथा भत्ते इतने कम थे कि वे ऐसा कुछ भी नहीं कर पाते थे।

सेना में नौकरी का आकर्षण धीरे-धीरे घटता जा रहा था। सैनिकों के असंतोष का पहला कारण यही था कि उनका वेतन और भत्ता बहुत कम था और कंपनी की सरकार ने इसे बढ़ाने की माँगों पर लंबे अर्से से कोई ध्यान नहीं दिया था। वेतन और अन्य सुविधाओं का प्रश्न इस कारण भी भारतीय सैनिकों को कुरेद रहा था क्योंकि यूरोपीय सैनिकों के वेतन और भत्ते उनसे कहीं अधिक थे। सेना में भारतीय सैनिक सूबेदार के पद तक ही उन्नति कर सकता था। इसके ऊपर के अन्य सभी सैनिक अधिकारी यूरोपीय थे। सैनिकों को पदोन्नति के कोई साधन उपलब्ध नहीं थे। तत्कालीन लेखक होम्स कहते हैं : 'भारतीय सैनिक यह भली-भाँति जानते थे कि चाहे उसमें हैदर अली के समान सैनिक योग्यता हो फिर भी उनका वेतन यूरोपीय सैनिक के बराबर नहीं होगा।' इससे स्थिति का अंदाज लगाया जा सकता है।

बंगाल सेना का यह अर्थ नहीं कि इस सेना के सैनिक अधिकतर बंगाल सूबे से भर्ती किये गये थे। वास्तव में स्थिति इसके विपरीत थी। बंगाल क्षेत्र से बहुत कम सैनिक इस सेना में थे। इसका यह नाम तो इस कारण पड़ गया क्योंकि सबसे पहले बंगाल में अंग्रेजों की सत्ता की स्थापना हुई थी और यह सेना कालांतर में बढ़ती गयी। बंगाल सेना में अधिकतर सैनिक ऊँची जाति के हिन्दू थे। मुसलमान सैनिकों की संख्या करीब एक दशांश थी। सैनिक अधिकतर ब्राह्मण और क्षत्रिय थे और इन्हें अपनी जाति और धर्म के नियमों के प्रति पूर्ण आस्था थी। वे ऐसा कोई भी काम करने को तैयार नहीं थे जो उनके जातिगत और धर्मगत विश्वासों के विरुद्ध हो। बंगाल सेमा के सैनिकों में एकता की भावना इस कारण से तो थी ही, इसके अलावा एक कारण यह भी था कि इस सेना में बड़ी संख्या उन सैनिकों की थी जो अवध क्षेत्र अथवा उसके आसपास के निवासी थे।

बंगाल सेना के संगठन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये सैनिक किस प्रकार एकमत थे, कैसे उनकी कठिनाइयाँ समान थीं और आवश्यकता पड़ने पर अचानक अलग-अलग स्थानों पर होते हुए भी उन्होंने अंग्रेजी शासन का विरोध करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी।

बंगाल सेना के सैनिकों का क्षोभ इस कारण भी बढ़ता जा रहा था कि नये अंग्रेज अधिकारी उन्हें हेय दृष्टि से देखमे लगे थे। यूरोपीय अधिकारियों और भारतीय सैनिकों में संबंध नाममात्र के रह गये थे। सैनिक अधिकारियों को यह अनुमान ही नहीं हो सका कि क्या किसी प्रकार के विद्रोह की आग सुलग रही थी। नित्य ही ऐसी घटनाएँ होने लगी थीं जब बैरकों में

अंग्रेज अधिकारी भारतीय सैनिकों को दुतकारते थे और उन्हें भला-बुरा कहते थे। यह अपमान सहते-सहते भारतीय सैनिकों में कटुता वढ़ती गयी।

१८५६ में ब्रिटिश सरकार ने एक अन्य अधिनियम बनाया जिससे भारतीय सैनिकों की निराशा बढ़ी। अफगानिस्तान और वर्मा पर आक्रमण करने के लिए जब सैनिकों को भेजा जाने लगा था तो बंगाल सेना की कुछ टुकड़ियों ने विदेश जाने से अथवा समुद्र के रास्ते से जाने से इन्कार कर दिया था। सामाजिक रीतियों के कारण ये सैनिक दूसरे देशों में जाने को तैयार नहीं हुए। इन सैनिकों के विरुद्ध किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की गयी पर सरकार ने १८५६ के नियम द्वारा यह घोषणा की कि भविष्य में जो सैनिक सेना में भर्ती होगा उसे यह आश्वासन देना होगा कि वह अन्य देशों में जाकर युद्ध करने पर कोई आपत्ति नहीं उठायेगा। यह सही है कि यह अधिनियम उस समय कंपनी की सेना में लगे सैनिकों पर लागू नहीं हुआ। परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से अवध क्षेत्र से आने वाले सैनिक अवश्य प्रभावित हुए। दूसरी नौकरियों की तरह सेना की नौकरी भी वंशपरम्परा के अनुसार दी जाती थी। अवकाश प्राप्त करने वाला भारतीय सैनिक आशा करता था कि उसके बाद उसके पुत्र अथवा उसके किसी निजी रिश्तेदार को नौकरी मिल जायेगी। पर नये नियम द्वारा जो बाधा प्रस्तुत की गयी थी उसके कारण भारतीय सैनिकों ने यही समझा कि भविष्य में उसके परिवार के नवयुवकों के लिए सेना में नौकरी के दरवाजे भी बंद किये जा रहे थे। इससे बंगाल सेना के भारतीय सैनिकों की निराशा बढ़ी।

तात्कालिक कारण

१८५७ में भारतीय सैनिक किस प्रकार उत्तेजित थे, इसका सहज अनुमाण अब तक के वर्णन से लगाया जा सकता है। सैनिकों के असंतोष का एक विशेष कारण भी था। विद्रोह आरंभ होने के एक वर्ष पूर्व कंपनी की सरकार ने सेना को एक नयी तरह की राइफल का उपयोग करने की आज्ञा दी। नयी राइफल इसके पूर्व उपयोग में लायी जाने वाली राइफल से अच्छी थी और इस आज्ञा का आशय यही था कि भारतीय सेना को नवीनतम अस्त्र से लैस किया जाये। इस राइफल में जो कारतूस लगती थी उसके इस्तेमाल करने के पूर्व सैनिकों को उसे दाँतों से काटना पड़ता था। इस नये कारतूस के विषय में तुरन्त यह अफवाहें फैलने लगीं कि इसमें जो चर्बी लगायी गयी थी वह गाय तथा सुअर के मांस के मिश्रण से तैयार की गयी थी। हिन्दू और मुसलमान दोनों समुदायों के सैनिक इस समाचार को सुनकर आतंकित हुए। आरम्भ में उन्होंने अपनी आपत्तियों को यूरोपीय अफसरों तक पहुँचाने का यत्न किया। लेकिन अधिकारियों ने कारतूस का प्रयोग जारी रखा तथा ऐसा कोई आश्वासन भी उन सैनिकों को नहीं दिया कि निश्चित अवधि में कारतूसों को हटा दिया जायेगा। तथ्य यह है कि भारतीय सैनिकों की आपत्तियाँ निराधार नहीं थीं। बाद की छानबीन से यह सिद्ध हो गया कि कारतूसों में आपत्तिजनक चर्बी का प्रयोग किया गया था तथा अधिकारियों ने स्थिति पर विचार करने में बहुत अधिक समय लगा दिया।

कारतूस में लगी चर्बी का प्रश्न भारतीय सैनिकों को परेशान कर रहा था। उनकी आशंका यह थी कि उनकी धार्मिक रीतियों पर कुठाराघात करने की योजना बनायी जा रही थी। इस

अस्थिरता की स्थिति में किसी भी समय सैनिक अपना विरोध प्रकट करने का कोई दूसरा रास्ता अपना सकते थे। २९ जनवरी, १८५७ को कलकत्ता के निकट बैरकपुर छावनी में ऐसी ही घटना घटी। मंगल पांडे नाम के एक भारतीय सिपाही ने अपने योरोपीय अधिकारी पर गोली चलायी। घटना की जाँच से यह जाहिर हो गया कि मंगल पांडे अपना रोष प्रकट कर रहा था। वह अकेला नहीं था क्योंकि घटना के समय अन्य भारतीय सैनिकों ने योरोपीय अधिकारी की रक्षा का कोई प्रयास नहीं किया। योरपीय अधिकारियों ने तुरंत ही मंगल पांडे को फाँसी पर चढ़ा दिया। उसके साथ ही इस रेजीमेंट के जमादार ईश्वरी पांडे को भी असावधानी के अपराध में मृत्युदंड दिया गया। इस रेजीमेंट के सारे सिपाहियों को तुरन्त सेना से निकाल दिया गया। इस कार्यवाही की व्यापक प्रतिक्रिया हुई। प्रत्येक छावनी में जब मंगल पांडे की रेजीमेंट को बर्खास्त किये जाने का समाचार पहुँचा तो अन्यं भारतीय सैनिकों में भी उत्तेजना फैली। उन्हें यह विश्वास होने लगा कि धर्म की रक्षा में मंगल पांडे और उसके साथियों को यातनाएँ सहनी पड़ी थीं। यूरोपीय अधिकारी इस समय भी सचेत नहीं हुए और उन्होंने कारतूस के प्रयोग पर आपत्ति करने वालों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने की नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया। परिणाम यह हुआ कि १० मई, १८५७ को और भी भयंकर विरोध उठ खड़ा हुआ जिसने शीघ्र ही विद्रोह का रूप धारण कर लिया।

विद्रोह की प्रगति

मेरठ

विद्रोह का आरंभ मेरठ से हुआ। मेरठ छावनी के भारतीय सैनिक भी नये कारतूसों के प्रश्न पर उत्तेजित थे तथा देश में होने वाली घटनाओं से असंतुष्ट थे। अंग्रेज अधिकारियों ने उनकी भावनाओं की ओर ध्यान न देकर ६ मई, १८५७ को नब्बे चुने हुए सैनिकों को नये कारतूस के प्रयोग का प्रशिक्षण देने का निर्णय किया। इसमें से पाँच सैनिकों को छोड़कर शेष ने कारतूस का प्रयोग करने से इंकार कर दिया। सैनिकों को आशंका थी कि ऐसे कारतूस को देकर ब्रिटिश सरकार उनके धर्म पर आघात कर रही थी। अधिकारियों की आज्ञा की अवहेलना करने का दंड भी इन सैनिकों को शीघ्र ही सुनाया गया। सैनिक न्यायालय ने इन्हें दस वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुनायी तथा वे सेना से अलग कर दिये गये। ९ मई को एक खुले मैदान में इन पच्चासी सैनिकों को लाया गया और हजारों सैनिकों और नागरिकों के सम्मुख उनकी सैनिक पोशाकों को हटा दिया गया तथा हथकड़ी और वेड़ी पहनाकर उन्हें जेल भेज दिया गया। यह बहुत ही हृदय-विदारक दृश्य था जिसका असर अन्य सैनिकों पर पड़ा। इन सैनिकों ने तुरन्त ही इसका विरोध करने का निश्चय किया। दूसरे दिन रविवार, १० मई को सायंकाल विद्रोह भड़क उठा। सैनिकों ने शीघ्र ही अस्त्र-शस्त्रों के गोदाम पर धावा बोल दिया। जब यह भंडार उनके कब्जे में आ गया तो उन्होंने अपने साथियों को जेल से छुड़ा लिया। हजारों भारतीय सैनिक इस समय तक विद्रोहियों से आकर मिल गये थे।

मेरठ के संबंध में इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया है कि यह एक ऐसा स्थान था जहाँ पर योरोपीय सैनिकों और अधिकारियों की संख्या अन्य किसी भी छावनी की तुलना में

अधिक थी। यहाँ करीब दो हजार योरोपीय सैनिक थे। इन सैनिकों की उपस्थिति के कारण मेरठ विद्रोह का आरंभ करने के लिए उपयुक्त स्थान नहीं था। परन्तु १० मई को ये यूरोपीय सैनिक न तो भारतीय सैनिकों को किसी प्रकार से रोक ही सके और न इन्होंने इसकी कोई कोशिश ही की। कुशलता से यदि इन यूरोपीय सैनिकों का नेतृत्व किया जाता तो विद्रोह करने वाले सैनिकों को रोकना संभव था। परन्तु यूरोपीय सैनिकों ने कोई भी प्रतिरोध नहीं किया। १० मई की रात्रि को मेरठ के भारतीय सैनिक दिल्ली की ओर चल पड़े और दूसरे दिन वे उस ऐतिहासिक नगर में पहुँच गये। मेरठ के विद्रोह के विषय में सुरेन्द्रनाथ सेन का कथन है कि यह गर्मी की आँधी की तरह आकस्मिक और क्षणिक था।

दिल्ली

मेरठ के भारतीय सैनिकों ने शीघ्र ही दिल्ली पर अधिकार कर लिया। इसके बाद चार महीनों तक दिल्ली विद्रोह का केन्द्र बनी रही। मुगल शासक बहादुरशाह ने नेतृत्व सँभाला और दिल्ली का शासन चलाने के प्रबंध किये गये। बहादुरशाह का सहयोग मिलने से और लाल किले पर अधिकार हो जाने के परिणामस्वरूप सैनिकों का हौसला बुलंद हुआ। इन खबरों का प्रभाव शीघ्र ही उत्तर भारत के अन्य नगरों पर पड़ा। सैनिक तथा नागरिकों में उत्साह की जो लहर व्याप्त हुई उससे स्थान-स्थान पर विद्रोह होने लगे। हम इनमें से केवल कुछ स्थानों पर सैनिकों के विद्रोह तथा नागरिकों के संघर्ष का वर्णन कर रहे हैं। दिल्ली में भारतीय सैनिकों की संख्या बढ़ने लगी। आसपास के सैनिक आकर दिल्ली में एकत्रित होने लगे।

दिल्ली पर विद्रोही सैनिकों के अधिकार की खबर से ब्रिटिश सत्ता को भारी धक्का लगा। गवर्नर जनरल कैनिंग ने यह अनुभव किया कि ब्रिटिश प्रभुत्व की पुनर्स्थापना के लिए दिल्ली पर पुनः अधिकार जमाना आवश्यक था। इसके साधन भी उपलब्ध थे। पंजाब में यूरोपीय सेना का जमाव भारी संख्या में था। इसके अतिरिक्त गोरखा और सिख भी अंग्रेजों की मदद करने को तैयार हो गये।

दिल्ली पर अधिकार के लिए भारतीय सैनिकों और ब्रिटिश सेना तथा उनके सहयोगियों के बीच जोरदार संघर्ष हुआ। २० सितम्बर को अंग्रेजों ने दिल्ली पर पुनः अधिकार कर लिया। दोनों पक्षों के बीच हुए भीषण युद्ध का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि ब्रिटिश सेना के करीब चार हजार सैनिक और अधिकारी या तो गंभीर रूप से घायल हुए अथवा मार डाले गये। क्रांतिकारियों के नुकसान के सही आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

कानपुर

विद्रोह की अग्नि धीरे-धीरे उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में फैलने लगी। कानपुर विद्रोह का एक प्रमुख केन्द्र रहा। दिल्ली में मुगल वंश का प्रतिनिधि नेतृत्व कर रहा था तथा कानपुर में मराठा राजवंश के एक उत्तराधिकारी नाना साहब ने बागडोर सँभाली। अजीमुल्ला खाँ ने बड़ी योग्यता से उसका साथ दिया।

कानपुर के भारतीय सैनिक मेरठ और दिल्ली में होने वाली घटनाओं से प्रभावित होकर

संघर्ष की योजना पर कुछ समय से विचार कर रहे थे। योरोपीय अधिकारी सचेत थे और आशंकित थे कि किसी भी समय यहाँ ज्वाला भड़क सकती थी। इसी बीच लखनऊ में ३० मई को क्रांति हुई और कानपुर के सैनिकों ने भी ४ जून को विद्रोह आरंभ कर दिया। योरोपीय अधिकारियों में से कुछ को मौत के घाट उतार दिया गया और कुछ भाग निकले।

यह ध्यान देने योग्य है कि सैनिक विद्रोह का आरंभ होते ही कुछ ही समय में कानपुर के संघर्ष में नागरिकों ने प्रमुख भूमिका निभानी आरंभ कर दी। नानासाहब और अजीमुल्ला सैनिक अधिकारी नहीं थे अपितु कानपुर के संभ्रांत नागरिक थे। इसके अलावा दूसरे प्रमुख व्यापारियों और जमींदारों ने भी विद्रोह में उत्साह से भाग लिया। विद्रोह कानपुर तक ही सीमित नहीं रहा। सरकारी सूचनाओं से स्पष्ट है कि विद्रोहाग्नि बिठूर, जाजमऊ, शिवराजपुर, नरवल और रसूलाबाद तक फैल गयी। बिठूर में सब प्रमुख चौधरियों और जमींदारों ने विद्रोह में भाग लिया जिनके नामों की सूची ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा एकत्रित रिपोर्ट में मौजूद है। यही स्थिति अन्य स्थानों में भी थी। नाना साहब ने कानपुर में प्रशासन की तुरन्त व्यवस्था की और नगर तथा उसके आसपास के शासन की व्यवस्था की देखभाल के लिए अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। विद्रोह के पक्ष में जनसाधारण में कितना अधिक जोश था यह इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि जनरल हैवलाक के नेतृत्व में ब्रिटिश सेना को कानपुर और लखनऊ के बीच स्थित प्रत्येक गाँव से जाते हुए संघर्ष करना पड़ा था। जुलाई में अंग्रेजी सेना ने कानपुर पर अधिकार तो कर लिया पर संघर्ष इसके बाद कई महीनों तक चलता रहा।

लखनऊ और अवध

लखनऊ तथा अवध के अन्य भागों में नवाब वाजिद अली शाह के गद्दी से हटाये जाने से अत्यधिक असंतोष था। जैसे ही मेरठ तथा दिल्ली में भारतीय सेना के विद्रोह का समाचार लखनऊ पहुँचा, वहाँ भी ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध संघर्ष आरंभ करने की योजना बनायी जाने लगी। लखनऊ के अलावा सीतापुर, लखीमपुर खीरी, फैजाबाद, बहराइच, सुल्तानपुर, गोंडा आदि स्थानों में विद्रोह की अग्नि जून मास में ही फैल गयी। प्रायः पूरे अवध क्षेत्र में अंग्रेजी शासन का अंत हो गया। इस प्रकार अवध में विद्रोह का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस क्षेत्र के ताल्लुकदारों ने प्रत्येक स्थान से ब्रिटिश सत्ता को उखाड़ फेंकने के प्रयत्न किये।

लखनऊ में वाजिद अली शाह के ग्यारह वर्षीय पुत्र विर्जिस कादिर के नाम पर प्रशासन चलाया गया और बेगम हजरत महल उसकी संरक्षिका बनी। लखनऊ की रेजीडेंसी में अंग्रेज अधिकारी अभी भी जमा थे और वे अन्य स्थानों से सैनिक सहायता की आशा में थे। लखनऊ की रेजीडेंसी पर अधिकार के लिए संघर्ष कई महीने तक चलता रहा। जून, १८५७ से मार्च, १८५८ तक लखनऊ में जन-प्रशासन चलता रहा तथा शहर पर इन महीनों ब्रिटिश सत्ता का नामोनिशान तक मिटा दिया गया। जनवरी, १८५८ से मार्च तक विद्रोही नेताओं और ब्रिटिश सेना के बीच जमकर संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के विषद अध्ययन से यह स्पष्ट है कि यह केवल सैनिक विद्रोह नहीं था। इस विद्रोह की परिधि इससे कहीं व्यापक थी। यह एक ऐसा जन-विद्रोह था जिसमें प्रत्येक वर्ग और संप्रदाय के लोगों ने भाग लिया। युद्ध की तैयारी के लिए सब लोगों

ने धन एकत्रित किया। लखनऊ की हर सड़क में, हर घर में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध संघर्ष किया गया। बेगम हजरत महल ने बड़ी कुशलता और साहस से अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया।

झाँसी

झाँसी में भी ४ जून, १८५७ को विद्रोह आरम्भ हो गया। भारतीय सैनिकों ने यूरोपीय अधिकारियों की अवहेलना करके महारानी लक्ष्मीबाई से शासन सँभालने को कहा। झाँसी का विद्रोह महारानी के साहस के कारण इतिहास में अपनी अमिट छाप छोड़ गया है। अंग्रेजों के विरुद्ध उन्होंने बड़ी कुशलता से सेना को संगठित किया और किले की रक्षा की योजना भी बनायी। २२ मार्च, १८५८ को ब्रिटिश सेनानायक ह्यू रोज के नेतृत्व में कंपनी की सेना ने झाँसी के किले को घेर लिया। महारानी लक्ष्मीबाई ने सभी सम्भव उपायों से इस सेना का विरोध किया। करीब दो सप्ताह तक भीषण संघर्ष चलता रहा। जब अंग्रेजी सेना शहर के अंदर घुस आयी तो सड़कों-सड़कों पर युद्ध हुआ। झाँसी की रक्षा करते हुए कम से कम पाँच हजार लोगों ने अपने प्राण न्योछावर किये। अंग्रेज इतिहासकार मैलेसन ने स्वीकार किया है कि झाँसी पर अधिकार जमाने के लिए ब्रिटिश सेना को जिस प्रकार से संघर्ष करना पड़ा उससे विद्रोहियों में उत्साह की भावना का अंदाजा लगाया जा सकता है। एक सैनिक अधिकारी झाँसी पर ब्रिटिश अधिकार का वर्णन करते हुए लिखता है कि प्रत्येक वर्ग में विद्रोह की भावना इतनी प्रबल थी कि फकीरों और गुसाइयों ने भी अपने पवित्र स्थानों को छोड़कर अंग्रेजों के विरुद्ध शस्त्र उठा लिये। इस अंग्रेज अधिकारी ने स्वयं ब्रिटिश सेना की ओर से युद्ध में भाग लिया था और उसके वर्णन से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि जनसाधारण में विद्रोह की भावना का संचार किस सीमा तक हो चुका था।

झाँसी की रानी ४ अप्रैल को पुरुष के वेश में किले से बाहर निकल गयी और कालपी पहुँच गयी। वह अब अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष करने की दूसरी योजना बनाने लगी। कालपी पेशवा की सेना का मुख्यालय था। यहाँ कई स्थानों के विद्रोही नेता आकर मिलते थे। यहाँ भी रानी अधिक समय तक नहीं रुक सकी क्योंकि झाँसी पर अधिकार करने के पश्चात् ब्रिटिश सेना कालपी की ओर बढ़ी। इस समय विद्रोहियों का एक अन्य नेता भी रानी से आ मिला। इसका नाम ताँतिया टोपे था जिसने बहुत ही दिलेरी तथा साहस से मध्य प्रदेश के कई स्थानों में अंग्रेजी सत्ता को चुनौती दी थी। ताँतिया टोपे और महारानी लक्ष्मीबाई की योजना से ग्वालियर में विद्रोह को संगठित किया गया। सिंधिया की सेना शीघ्र ही विद्रोह में शामिल हो गयी और ग्वालियर पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया। ग्वालियर के निकट भारतीय सेना और ब्रिटिश सेना के बीच होने वाले संघर्ष में युद्ध करते हुए महारानी लक्ष्मीबाई ने अंतिम साँस ली। इस युद्ध के दौरान ही उसके साथियों ने नदी के निकट उस वीर महिला की चिता में आग लगा दी जिससे उसकी राख भी अंग्रेजों के हाथ न लग सके।

इलाहाबाद

इतिहासकारों का कहना है कि संपूर्ण शहर में अकस्मात् ही विद्रोह आरंभ हो गया। यहाँ

६ जून को भारतीय सेना ने विद्रोह किया। शीघ्र ही शहर के प्रत्येक भाग में भी जन-आंदोलन आरंभ हो गया। शहर के निवासियों ने सेना का हर स्थान पर साथ दिया। रेलवे की संपत्ति को तोड़ा गया। तार के खंभों को नष्ट कर दिया गया। सरकारी खजाने को लूटकर सारे कागजातों को आग लगा दी गयी। कुछ समय की अव्यवस्था के बाद मौलवी लियाकत अली को शहर का शासन चलाने की बागडोर सौंप दी गयी। लियाकत अली जुलाहे थे तथा एक स्कूल में अध्यापक थे। इनका अधिकार भी कुल दो सप्ताहों तक रहा परन्तु फिर भी इस घटना से यह सिद्ध होता है कि कई स्थानों पर विद्रोह के दौरान शासनतंत्र चलाने के लिए जनसाधारण में से ही किसी योग्य व्यक्ति को चुन लिया गया। जून का अंत होते-होते इलाहाबाद में विद्रोह का दमन कर दिया गया। जनविद्रोह का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि करीब आठ सौ विद्रोहियों को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। सारे शहर पर आतंक छा गया।

अन्य क्षेत्रों में विद्रोहाग्नि

अब तक केवल कुछ प्रमुख स्थानों में हुए विद्रोह का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। लेकिन इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि विद्रोह इन्हीं स्थानों तक सीमित रहा। वास्तविकता यह है कि यह बहुत ही व्यापक विद्रोह था जिसका प्रभाव आधुनिक बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पंजाब प्रदेशों के अलावा महाराष्ट्र तथा गुजरात के विभिन्न क्षेत्रों तक पड़ा। भारत के मानचित्र पर इस विद्रोह के विस्तृत क्षेत्र को समझने के लिए एक ऐसी रेखा खींची जा सकती है जो दिल्ली से बरेली, लखनऊ और गोरखपुर से होती हुई संभलपुर जा सकती है। इसके बाद यह रेखा संभलपुर से कालपी तथा नर्मदा के क्षेत्रों पर इस प्रकार खींची जा सकती है जिसमें झाँसी और कानपुर शामिल हों। यह रेखा पुनः रिवाड़ी की ओर बढ़ायी जा सकती है और उसमें वे सारे क्षेत्र शामिल किये जा सकते हैं जो विद्रोह की लपेट में आये थे। अलग-अलग स्थानों में यह विद्रोह संगठित किया गया और विद्रोह में भाग लेने वाले सैकड़ों नेताओं के बलिदान का अध्ययन करके ही विद्रोह के प्रभाव का अंदाज लगाया जा सकता है।

विद्रोह का स्वरूप

इस राष्ट्रव्यापी विद्रोह के स्वरूप को सही अर्थों में समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके द्विशाखन पर आरम्भ से ही विचार कर लिया जाये। विद्रोह के दो पहलू थे। इनमें से एक था सैन्य-विद्रोह और दूसरा था जन विद्रोह। दोनों पहलुओं पर समान रूप से ध्यान देने पर ही इस युगांतकारी घटना का उचित मूल्याँकन करना संभव है। सभी को यह स्वीकार करना होगा कि ब्रिटिश सत्ता पर पहला आघात सैनिकों ने ही किया। भारतीय सैनिकों की निजी कठिनाइयाँ थीं और उनका असंतोष बढ़ता जा रहा था। परन्तु ये सैनिक समाज से बिल्कुल अलग नहीं थे। उनके अस्तित्व को समाज के अन्य वर्गों से नितांत अलग करना सही नहीं होगा। सत्य तो यह है कि भारतीय सैनिक भी गाँव में रहने वाले किसानों के दुख दर्द का पूरी तरह से साझीदार था। सैनिक होते हुए भी उसके दिल में असैनिक वर्ग के प्रति पूरी हमदर्दी थी। सैनिकों में भी देश के सभी नागरिकों के समान यह आशंका बढ़ती जा रही थी कि अंग्रेज उनके धर्म और जाति को नष्ट करने पर तुले हुए थे। इस प्रकार ऐतिहासिक प्रक्रिया में विद्रोह के दोनों पहलुओं

को एक दूसरे से संबद्ध करके देखा जा सकता है। जब सैनिकों की कार्यवाही से उचित आधार तैयार हो गया तो प्रभावशाली वर्गों और नागरिकों ने नेतृत्व ग्रहण कर लिया। इस कारण सैनिक विद्रोह का स्वरूप शीघ्र ही बदलने लगा। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि किसी भी सैनिक में इतनी योग्यता नहीं दिखाई दी कि वह विद्रोही सेना का नेतृत्व ग्रहण करता। संघर्ष तो अचानक आरंभ हो गया और देश के विभिन्न क्षेत्रों में भी विद्रोहाग्नि भड़क उठी। पर संघर्ष को जारी रखने के लिए सैनिकों के पास न तो योजना थी और न पर्याप्त साधन। इस कारण सैनिकों ने प्रत्येक स्थान में शासन करने वाले राजवंशों के प्रतिनिधियों अथवा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों को सत्ता ग्रहण करने के लिए कहा। मेरठ के विद्रोह के बाद सैनिक दिल्ली पहुँचे और उन्होंने बहादुरशाह के हाथ में नेतृत्व सौंप दिया। इसका एक लाभ यह हुआ कि विद्रोह का राजनीतिक आधार स्थिर हो गया। ब्रिटिश सत्ता के स्थान पर अलग-अलग क्षेत्रों में उन लोगों ने सत्ता सँभाली जिनके पूर्वज पहले से वहाँ शासन कर रहे थे। अवध में नवाब वाजिद अली शाह के पुत्र को शासक घोषित किया गया और अपदस्थ नवाब की बेगम उनकी संरक्षिका बनी। इन घटनाओं से यह साफ जाहिर है कि विद्रोह में सेना की प्रधानता धीरे-धीरे घटने लगी और सैन्य विद्रोह तथा नागरिकों के विद्रोह एक दूसरे से जुड़ गये।

विद्रोह के विषय में इतिहासकारों ने जिस प्रकार के मत व्यक्त किए हैं उनसे स्थिति सुलझने के बजाय और भी अधिक पेचीदी बन गयी है। विद्रोह से संबंधित घटनाओं का केवल एकपक्षीय ब्यौरा ही हमें उपलब्ध है। जहाँ अंग्रेजों की ओर से ब्रिटिश पक्ष के बारे में सैकड़ों पुस्तकें तथा सरकारी विवरण प्रकाशित किये गये वहाँ दूसरी ओर भारतीय पक्ष को प्रस्तुत करने के साधन हमारे पास बहुत कम हैं। विद्रोह करने वाले अपने विषय में कुछ भी नहीं कहते। उन्होंने अलग-अलग क्षेत्रों में जो कुछ किया उसका विवरण उनकी ओर से न तो किसी नेता ने दिया और न तत्कालीन लेखक ने। इस प्रकार पराजित भारतीय पक्ष को इतिहासकारों ने प्रायः भुला दिया। विद्रोह का विवरण प्रस्तुत करने वाले ग्रंथों में पचास भारतीय नाम भी नहीं मिलते और जो नाम लिये भी गये वे उपेक्षा की दृष्टि से। यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विद्रोह को अंग्रेजों की विजय सिद्ध करने एवं अंग्रेज जाति के नैतिक गुणों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के प्रयत्न बराबर किये गये थे और आज भी किये जा रहे हैं। यह समय अंग्रेजों के लिए महान संकट का समय था और इस संकट में ब्रिटिश प्रभुत्व को पुनर्स्थापित करने में जिस ब्रिटिश अधिकारी ने जो कुछ भी योगदान दिया उसकी यशोगाथा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कही गयी। ब्रिटिश सैनिकों और सैन्य अधिकारियों की वीरता और साहस का वर्णन करने का क्रम १८५८ से ही आरंभ हो गया और कई दशकों तक चलता रहा।

वास्तविकता यह है कि १८५८ के बाद के ये दशक इतिहास-रचना के लिए उपयुक्त नहीं थे। विद्रोह के समय की घटनाओं के कारण भारतीयों और अंग्रेजों के बीच के संघर्ष ने जातीय रूप ग्रहण कर लिया था। ऐसी परिस्थिति में इतिहासकार के लिए निष्पक्ष रहना कठिन हो गया। ब्रिटिश लेखक हर संभव ढंग से भारत में ब्रिटिश सत्ता को बनाये रखने की चिंता में डूबा हुआ था। विद्रोह के समय सरकार की किसी भी नीति की आलोचना करने की स्थिति में वह नहीं

था। उससे किस प्रकार यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह अंग्रेजों के विरोधियों के विषय में निष्पक्ष जानकारी दे। ऐसा करने की न तो उसकी इच्छा थी और न उसे इसकी आवश्यकता महसूस हुई। इस कारण अंग्रेज इतिहासकारों ने विद्रोह के संबंध में एकपक्षीय जानकारी ही दी।

विद्रोह के विषय में तरह-तरह की भ्रांतियों का ऐसा जाल बिछाया गया है कि आज भी इसका सही रूप प्रस्तुत करने में कठिनाई होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि ब्रिटिश इतिहासकारों के प्रचार से इस विद्रोह को 'गदर' कहा जाने लगा। उनका कहना था कि १८५७ का संघर्ष कोरा सैन्य विद्रोह था और इससे अधिक कुछ नहीं। इसे 'गदर' सिद्ध करने के भी कारण थे। पहला कारण तो यह था कि इस प्रकार इस विद्रोह के स्वरूप को कमजोर बना दिया। यह सिद्ध करने की कोशिश की गयी कि नये कारतूसों के प्रयोग के विरुद्ध भारतीय सैनिक भड़क उठे और उन्होंने 'गदर' आरंभ कर दिया जिसे शीघ्र ही दबा दिया गया। सुदूर स्थित ब्रिटेन के अधिकारियों और पार्लियामेंट को यह समझाने की चेष्टा की गयी कि कंपनी का प्रभाव पूरी तरह से कायम था और उसे किसी प्रकार की ठेस नहीं पहुँची थी। एक अन्य कारण यह भी था कि सैन्य विद्रोह कहकर यह विश्वास दिलाने की कोशिश की गयी कि जनसाधारण को ब्रिटिश सरकार पर पूर्ण आस्था थी और विद्रोह के दौरान लोगों ने सैनिकों का कोई साथ नहीं दिया। जन-विद्रोह को स्वीकार कर लेने से १८५७ के पूर्व की अंग्रेजों की नीतियों पर पानी फिर जाता।

इतना सब कुछ कहने का अर्थ यह है कि १८५७ की घटनाओं को बहुत ही सीमित दायरे से न देखकर सारी परिस्थितियों का मूल्याँकन करने पर इसे केवल 'गदर' कहना नितांत भूल होगी। यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि कुछ ब्रिटिश इतिहासकार ऐसे भी हैं जो जन-विद्रोह से प्रभावित हुए और जिन्होंने अपने देश के इतिहासकारों के सुर में सुर न मिलाकर कुछ नया रास्ता चुना। यही रास्ता उचित था। ऐसे कुछ बिरले इतिहासकारों में तथ्य को ठीक ढंग से समझने की क्षमता थी। केवल कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा। चार्ल्स बौल अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ दि इंडियन म्यूटिनी' में कहता है कि 'यह विदेशियों में जुए को हटा फेंकने का राष्ट्रव्यापी निश्चय था।' दूसरे इतिहासकार जी.वी. मैलेसन के अनुसार यह आंदोलन धीरे-धीरे राष्ट्रीय रूप ग्रहण करता गया। वह आगे लिखता है कि चार उत्तरी प्रांतों – अवध, रुहेलखंड, बुंदेलखंड और सागर तथा नर्मदा में बड़ी संख्या में लोग ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उठ खड़े हुए। इसी प्रकार कुछ अन्य ब्रिटिश इतिहासकारों ने भी सैन्य विद्रोह के अलावा जन-आंदोलन के तथ्य को स्वीकार किया है।

इस विद्रोह में जन-आंदोलन सैनिक विद्रोह से अलग स्वतंत्र रूप से आरंभ हुआ। यह कहना उचित नहीं है कि पहले सैनिकों ने विद्रोह किया और उसके परिणामस्वरूप ज़नता संघर्ष के लिए आगे बढ़ी। १८५७ की घटनाओं का विश्लेषण करने पर यह निश्चय कर पाना कठिन है कि पहले किस प्रकार का विद्रोह कहाँ हुआ और उससे प्रभावित होकर अन्य प्रकार का विद्रोह कब हुआ। घटनाएँ इतनी तेजी से घटीं कि विभिन्न स्थानों में सैनिक विद्रोह और जन-आंदोलन की घटनाओं को जोड़ पाना संभव नहीं है। कई स्थानों में सैनिकों की सहायता के बिना ही लोगों ने विद्रोह आरंभ कर दिया। कुछ उदाहरण इस संबंध में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। मुजफ्फरनगर

में १४ मई को अचानक नागरिकों ने विद्रोह आरंभ कर दिया। तहसील को लूट लिया गया। जेल को नष्ट कर दिया गया। बनियों और महाजनों को लूट लिया गया। इस स्थान पर सैनिकों ने संघर्ष एक महीने के बाद २१ जून को आरंभ किया था। सहारनपुर में इसी प्रकार सैन्य विद्रोह आरंभ होने के पूर्व ही जन-संघर्ष आरंभ हो गया था। लखनऊ में भी ३० मई को, सैनिकों का विद्रोह आरंभ होने के कुछ सप्ताह पूर्व ही, जन-असंतोष की अग्नि भड़क उठी थी। बाँदा में भी ऐसा ही हुआ। इन घटनाओं के अलावा कई ऐसे स्थानों में भी आंदोलन हुए जहाँ सेना नहीं रहती थी। फतेहपुर सेना का अड्डा नहीं था, पर वहाँ विद्रोह हुआ। इसी प्रकार बिजनौर में हुआ। बदायूँ, सागर और जबलपुर में भी यही स्थिति रही।

यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि विद्रोह की अग्नि बहुत तेजी से देश में फैल गयी। विद्रोह जिस शीघ्रता से बढ़ा वह इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध जन-असंतोष चरम सीमा पर पहुँच चुका था और प्रत्येक गाँव और शहर में लोग सरकार के विरुद्ध किसी भी संघर्ष में भाग लेने को तैयार थे। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में संचार-साधनों की बहुत कमी थी तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक संदेश पहुँचने में समय लगता था। किन्तु फिर भी एक स्थान के बाद दूसरे स्थान में विद्रोह फैलता गया। यह तभी संभव हो सकता था जब समाज के असंतुष्ट वर्ग कारगर ढंग से कुछ करने को तत्पर हों। इसी को स्वीकार करते हुए जे.डब्ल्यू.के. लिखता है कि 'भीतर ही भीतर एक विशाल आंदोलन बढ़ता हुआ ग्राम्य समाज को प्रभावित करने लगा और देश से ब्रिटिश शासन के चिह्न धीरे-धीरे मिटने लगे।'

विद्रोह से संबंधित विस्तृत सरकारी प्रतिवेदनों से यह प्रकट हो जाता है कि यमुना और नर्मदा के बीच के क्षेत्र में ब्रिटिश शक्ति का संपूर्ण उच्छेदन हो गया था। यहाँ प्रश्न उठता है कि यह किस प्रकार संभव हुआ। छुटपुट होने वाले सैनिक विद्रोहों से इतने विशाल क्षेत्र में ब्रिटिश शक्ति को समाप्त नहीं किया जा सकता था। यह उसी समय संभव हो सकता था जब कोई शक्तिशाली जन-आंदोलन हो। विद्रोह के समय की घटनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि सेना द्वारा संघर्ष करने के परिणामस्वरूप ब्रिटिश शक्ति को कुछ स्थानों के अलावा अन्य क्षेत्रों में किसी प्रकार का धक्का नहीं लगा। किन्तु व्यापक जन संघर्ष आरम्भ होते ही स्थिति बदलने लगी। फर्रुखाबाद, कानपुर, दिल्ली, बिजनौर, बरेली, बदायूँ, लखनऊ, बाँदा, झाँसी आदि कई स्थानों में ब्रिटिश शासन का अंत हो गया और इन जिलों में विद्रोही सरकारें संगठित की गयीं। यही क्रम अन्य स्थानों में चलता रहा। फलतः उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में ब्रिटिश शक्ति समाप्त कर दी गयी। बाँदा के कलेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया कि 'कभी भी क्रांति इससे अधिक तेजी से नहीं फैली और कभी भी यह इससे अधिक सफल नहीं हुई।'

इस प्रकार विभिन्न स्थानों में लोगों ने स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष किया। जन-आंदोलन द्वारा केवल कुछ समय के लिए ही ब्रिटिश सत्ता का अंत किया जा सका। परन्तु फिर भी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना और स्वतंत्रता की रक्षा करने के प्रयास से यह तो सिद्ध होता ही है कि भारतीय इस महान आदर्श की प्राप्ति के लिए प्राणों की बाजी लगाने में पीछे नहीं रहे। ब्रिटिश इतिहासकार इसे स्वीकार करते हैं कि ब्रिटिश सेना ने बदला लेने की भावना

से युद्ध किया। जब हम यह विचार करते हैं कि यह विद्रोह क्यों हुआ तो यह समझना कठिन नहीं रहता कि इसका मुख्य कारण था विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने की प्रबल इच्छा। विद्रोह को स्वतंत्रता का पहला युद्ध कहना ही उपयुक्त होगा क्योंकि भारत के इतिहास में कभी भी विदेशी शक्ति के विरुद्ध इतना विराट संगठित आंदोलन नहीं हुआ था जिसकी तुलना इस आंदोलन से की जा सके। कभी भी देश में ऐसा युद्ध नहीं हुआ था जो इतने विशाल दायरे में एक वर्ष तक चलता रहा हो। यदि सामाजिक न्याय और समानता की स्थापना का सर्वोचित मार्ग यही दिखाई दिया कि तत्कालीन सरकार को अपदस्थ कर दिया जाये तो यह प्रयास स्वतंत्रता का संग्राम ही कहलाएगा।

कुछ इतिहासकार इस विद्रोह को राष्ट्रीय विद्रोह कहने में हिचकते हैं। अभी भी ब्रिटिश इतिहासज्ञों का इतना प्रभाव हमारे देश में बना हुआ है कि हम उनके विचारों से अलग कोई विचार प्रकट करने की हिम्मत नहीं करते। ब्रिटिश इतिहासकारों का सतत् प्रयास यही रहा है कि १८५७ के संघर्ष के महत्त्व को घटाया जाये। ऐसी स्थिति में वे इसके राष्ट्रीय स्वरूप को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते थे। हमें यह स्मरण रखना है कि राष्ट्रीय भावना का स्वरूप धीरे-धीरे विकसित हुआ और उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में राष्ट्रीय भावना केवल अर्द्ध-विकसित रूप में ही दिखलाई दी। राष्ट्रीयता का वर्तमान स्वरूप यदि उस समय पूरी तरह से नहीं दिखाई देता तो इसमें अचम्भे की क्या बात है? विद्रोह के विशाल क्षेत्र में विस्तार से ही यह सिद्ध हो जाता है कि यह राष्ट्रीय विद्रोह था। यह जरूर है कि बंगाल तथा सुदूर दक्षिण के कुछ प्रदेश विद्रोह से अछूते रहे। पर इससे स्थिति पर असर नहीं पड़ता। प्रसिद्ध इतिहासकार सुरेन्द्रनाथ सेन ने घटनाओं का सूक्ष्य विवेचन करते हुए लिखा है कि '१८५७ के आंदोलन की लोकप्रियता का मूल्याँकन करते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी भी विद्रोह में केवल कृतसंकल्प अल्पसंख्यक वर्ग ही प्रमुख भूमिका निभाता है और कहीं भी किसी विद्रोह को व्यापक सहयोग नहीं मिला।'

१८५७ की घटनाओं का अध्ययन करने के बाद यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इसका महत्त्व कुछ छावनियों में हुए गदर से कहीं अधिक है। यह आंदोलन विदेशियों की सत्ता के विरुद्ध एक व्यापक संघर्ष तो था ही परन्तु इससे अधिक यह संघर्ष लोगों में स्वतंत्रता की भावना ही प्रकट करता है। किसी भी क्रांति का स्वरूप इससे भी स्पष्ट होता है कि बाद की पीढ़ियों ने इसे किस रूप में स्वीकार किया। १८५७ के बाद के दशकों में भारतीय इसे हमेशा राष्ट्रीय विद्रोह मानते रहे और स्वतंत्रता-आंदोलन में भाग लेने वाला जनमानस इसे इस लक्ष्य की प्राप्ति का आरंभिक प्रयास स्वीकार करता रहा। यह राष्ट्रीय विद्रोह इस देश की जनता पर जो अमिट छाप छोड़ गया उसके महत्त्व का भी हमें ध्यान रखना चाहिए।

विद्रोह की असफलता

विद्रोह की असफलता का पहला कारण यह था कि इसके संचालन के लिए कोई भी निश्चित योजना नहीं थी। अन्य सफल क्रांतियों का अध्ययन करने पर यह दिखाई देता है कि उनका आरंभ करने तथा उन्हें सफल बनाने पर पहले ही विचार कर लिया गया था तथा

आवश्यकतानुसार नयी योजनाएँ वनीं। परन्तु न तो १८५७ के विद्रोह का आरंभ ही किसी योजना के फलस्वरूप हुआ और न इसकी प्रगति के दौरान ही कोई स्पष्ट योजना तैयार की गयी। इस विद्रोह की एक वड़ी कमजोरी यह थी कि अलग-अलग क्षेत्रों में विद्रोह हुए परन्तु सारे उत्तर भारत में हुए विद्रोहों को एक सूत्र में बाँधकर एक दूसरे के साथ सहयोग करने का न तो अवसर ही मिला और न आवश्यकता ही समझी गयी। विद्रोह की सफलता के लिए किसी केन्द्र से इसका संचालन और आवश्यकतानुसार विभिन्न स्थानों में सक्रिय प्रयास आवश्यक थे। भारतीय पक्ष जहाँ एक ओर असंगठित-सा दिखाई दिया वहाँ ब्रिटिश सत्ता पूरी तरह से केन्द्रीय स्वरूप को बनाये रखने में सफल रही। गवर्नर जनरल तथा ब्रिटिश सेनानायक ने संपूर्ण देश में विद्रोह की प्रगति पर नजर रखी और शीघ्र ही इसे विफल करने का यत्न किया। १८५७ के मध्य में जव स्थानीय युद्ध दिल्ली, कानपुर, लखनऊ, आगरा, इलाहाबाद आदि स्थानों में आरंभ हुए तो ब्रिटिश सेनानायक ने बड़ी कुशलता और चतुराई से युद्ध संचालन किया। उसके मुकावले में भारतीय पक्ष कमजोर रहा। विद्रोह की प्रगति के दौरान क्रांतिकारियों को रसद तथा युद्ध में काम आने वाले अन्य सामान की कमी अखरने लगी। संघर्ष में विजय प्राप्त करने के उचित साधन भारतीयों के पास बहुत कम थे।

योजना के महत्त्व का एक प्रमुख उदाहरण दिल्ली की सुरक्षा से मिलता है। दिल्ली पर भारतीय पक्ष के अधिकार से और बहादुरशाह द्वारा नेतृत्व ग्रहण करने के बाद क्रांतिकारियों का हौसला बढ़ा हुआ था। इस जोश को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक था कि दिल्ली पर वहादुरशाह का अधिकार बना रहे। पर अंग्रेज भी जानते थे कि दिल्ली पर अधिकार करके ही वे अपने प्रभाव को बढ़ा सकते थे। इस कारण उन्होंने भी तुरंत दिल्ली पर अधिकार स्थापित करने के प्रयास आरंभ कर दिये। दिल्ली की ओर ब्रिटिश सेनाएँ तथा सैनिक सामग्री पंजाब से आती रही। दिल्ली और पंजाब को जोड़ने के लिए जो मार्ग था वह वर्तमान उत्तर प्रदेश की सीमा पर था। क्रांतिकारियों को चाहिए था कि वे इस मार्ग को काट देते और पंजाब की सेना को तथा सैन्य सामग्री को दिल्ली पहुँचाने में बाधा उत्पन्न करते। परन्तु किसी ने इस पर विचार नहीं किया और अंग्रेज बराबर दिल्ली पर अपना दबाव बढ़ाते गये। अंत में दिल्ली का पतन हो गया। किसी भी दूसरे नेता ने दिल्ली की रक्षा करने में मदद नहीं की।

विद्रोह की असफलता के दूसरे कारण पर भी प्रत्येक इतिहासकार ने ध्यान खींचा है। यह कारण था नेतृत्व की कमी। विद्रोह का नेतृत्व किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं रहा। अगर ऐसा हो सकता तो देश के बड़े भाग में क्रांति का संचालन आसानी से किया जा सकता था। यह कहा गया है कि १८५७ में भारत को शिवाजी अथवा राणा प्रताप की योग्यता के देशभक्त की आवश्यकता थी। यदि ऐसा नहीं हो सका और संपूर्ण उत्तर भारत पर प्रभाव रखने वाला नेता सामने नहीं आया तो भी क्षेत्रीय नेता भी सफलतापूर्वक कार्य कर सकते थे। परन्तु क्षेत्रीय नेतृत्व भी कुछ वैसा ही शक्तिहीन दिखाई दिया जैसा केन्द्रीय नेतृत्व। बहादुरशाह को दिल्ली की बागडोर सौंप तो दी गयी पर वह करीब अस्सी वर्ष का कमजोर व्यक्ति था जिसने अपना जीवन नैराश्य में बिताया था। उसमें विद्रोह का अग्रणी बनने की न तो क्षमता थी और न योग्यता ही।

इसी प्रकार नाना साहब भी कानपुर में होने वाले विद्रोह को अधिक सफल नहीं बना सके। नाना साहब को सेना के संचालन का यथेष्ट अनुभव नहीं था और इस कारण वे परिस्थिति के अनुसार आवश्यक निर्देश नहीं दे सके। लखनऊ में वाजिद अली शाह का पुत्र नाबालिग ही था। इस कारण विद्रोह के संचालन का कार्य बेगम हजरत महल को करना पड़ा। आवश्यकता यह थी कि लखनऊ के विद्रोह का नेतृत्व किसी चुस्त और गतिशील सेनानायक के कंधों पर होता। नेतृत्व की चर्चा करते हुए हमारा अभिप्राय यह है कि इससे अधिक कुशल नेतृत्व की आवश्यकता थी। इतिहास में कई ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्तिगत गुणों से भी अधिक अपेक्षा नेतृत्व की योग्यता की होती है। यह भी ऐसा अवसर था जब अंग्रेजों से लोहा लेने के लिए भारतीय पक्ष में अधिक योग्य नेता होने पर ही सफलता की कुछ आशा थी।

विपक्षी ब्रिटिश पक्ष के सामने नेतृत्व संबंधी कोई कठिनाइयाँ नहीं थीं। कलकत्ता से गवर्नर जनरल विद्रोह के दौरान पूरे निर्देश देता रहा। सेना के उच्च अधिकारी अंग्रेज थे। अतः सैनिक अभियान में जिस अधिकारी को जो भी कार्य सौंपा गया उसे उसने पूरी निष्ठा से निभाया और विद्रोह का दमन करने में वे एक दूसरे की सहायता करते रहे।

तीसरा कारण यह था कि सैनिक संघर्ष में भारतीय सैनिकों की तुलना में ब्रिटिश सेना के पास अच्छे अस्त्र-शस्त्र थे। अंग्रेजी सेना ने नयी एनफील्ड राइफल का प्रयोग किया जिससे कारतूस चलाना बहुत आसान था और जो बड़े प्रभावशाली ढंग से कार्य करती थी। इसके विपरीत भारतीय सैनिकों ने मुँह बंद करके प्रयोग में लायी जाने वाली बंदूक का उपयोग किया। इसके अतिरिक्त भारतीय सैनिकों को रसद और गोला बारूद की कमी बनी रही।

चौथा कारण यह भी था कि डाक व्यवस्था और तारयंत्र का प्रयोग भी ब्रिटिश सरकार के लिए वरदान सिद्ध हुआ। अंग्रेज सेनापति को दूरसंचार साधनों द्वारा प्रत्येक स्थान में होने वाली घटनाओं की जानकारी मिल जाती थी। घटना की सूचना मिलते ही वह ब्रिटिश अधिकारियों को आवश्यक निर्देश दे देता था। इस प्रकार प्रायः प्रत्येक स्थान से संपर्क करके गवर्नर जनरल और ब्रिटिश सेनानायक गतिविधियों पर ध्यान रखते रहे। संकट के समय उचित सूचना मिलने का लाभ यह हुआ कि तुरंत कार्यवाही की जा सकी। दूसरी ओर भारतीय पक्ष के नेताओं के पास ऐसी कोई भी सुविधा नहीं थी। उन्हें घटनाओं की या तो पूरी जानकारी प्राप्त ही नहीं हुई अथवा यह जानकारी उचित समय पर नहीं मिली। विलंब से सूचना मिलने के कारण भारतीय पक्ष निर्बल हो गया।

देशी रियासतों के नरेशों का रुख पाँचवाँ कारण साबित हुआ। किसी भी प्रमुख देशी रियासत के नरेश ने विद्रोह में सहायता नहीं की। यदि ऐसा संभव हो पाता तो विद्रोह का पक्ष प्रबल होता तथा इसकी सफलता की आशा बढ़ती। भारतीय राजाओं का रुख इस कारण और भी अधिक दुर्भाग्यपूर्ण था कि उनमें से कई ने अंग्रेजों के हाथ मजबूत करने के लिए सक्रिय रूप से कार्य किया। यदि ग्वालियर, इंदौर तथा हैदराबाद के नरेश क्रांतिकारियों का पक्ष लेते तो इतिहास ही बदल जाता। गवर्नर जनरल ने सिंधिया के रवैये पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि 'यदि सिंधिया विद्रोहियों का साथ देता है तो मुझे कल ही भारत छोड़कर चले जाना होगा।'

इससे यह प्रकट होता है कि कुछ भारतीय राजाओं के सहयोग से १८५७ की घटनाओं में एक नया मोड़ आ जाता। यदि ऐसा नहीं हुआ और देशी राजा अंग्रेजों के पक्ष में रहे तो इसका कारण यही दिखाई देता है कि ये राजा अपने निजी हितों को भली-भाँति पहचानते थे। उन्होंने देखा कि अंग्रेजों की सहायता करने से ही उनका राज्य बना रह सकता था। व्यवस्था को बदलने की किसी भी कोशिश से वे दूर रहे। एक बात यह भी है कि विजयी पक्ष का सभी कोई साथ देना चाहता है। इन राजाओं को क्रांतिकारियों का पक्ष निर्बल दिखाई दिया और स्वार्थवश उन्होंने उनसे दूर रहने की नीति अपनायी।

छठा कारण था सिखों और गोरखों द्वारा अंग्रेजों को सक्रिय सहायता और सहयोग देना। पंजाब पर अंग्रेजों का अधिकार हुए कुछ वर्ष ही वीते थे और यह आशंका थी कि सिख अवसर का लाभ उठाकर एक बार पुनः सिर उठायेंगे। पर १८५७ में पंजाब में केवल छुटपुट घटनाएँ ही हुई। पंजाब के अधिकतर क्षेत्रों में शांति बनी रही। इससे ब्रिटिश सेना को पंजाब से हटाना आसान हो गया। इतना ही नहीं, सिख बड़ी संख्या में ब्रिटिश सेना में भर्ती होने लगे और अंग्रेजों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर उन्होंने क्रांतिकारियों पर गोलियाँ बरसायीं। दिल्ली पर अधिकार करने के लिए जब संघर्ष हुआ तो सिखों ने पूरी तरह से अंग्रेजों का साथ दिया। जिंद और पटियाला के राजाओं की सेनाएँ अंग्रेजों की ओर से लड़ीं। इन राजाओं ने सभी संभव उपायों से भविष्य में भी अंग्रेजों का पक्ष मजबूत किया। लखनऊ पर अधिकार करने में भी सिखों ने अंग्रेजों का साथ दिया। इसी प्रकार का रुख गोरखों का था नेपाल के राजा जंगबहादुर ने गोरखों को अंग्रेजों की ओर से युद्ध करने को भेजा।

परिणाम

इस विद्रोह का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटेन के निवासी भारतीय प्रशासन की समस्याओं के प्रति जागरूक हुए। पिछले कई वर्षों से ब्रिटेन में यह प्रश्न उठाया जा रहा था कि एक व्यापारिक कंपनी को किसी विशाल देश के प्रशासन का कार्य सौंपना अनुचित था। विद्रोह ने यह सिद्ध कर दिया की कंपनी का शासन करने का ढंग ठीक नहीं था। विद्रोह का अंत होते ही ब्रिटेन की पार्लियामेंट ने १८५८ में एक अधिनियम पारित कर भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर दिया। गवर्नर जनरल ने ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया की घोषणा जारी की। इस घोषणा में यह कहा गया कि भारत में कंपनी के स्थान पर अब ब्रिटेन की सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासन किया जायेगा। एक लंबे समय के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने अपने उत्तरदायित्व को समझा था और यह आशा बँधी कि भारत में नयी व्यवस्था द्वारा आवश्यक सुधार किये जायेंगे।

विद्रोह के फलस्वरूप देशी रियासतों के विषय में नयी नीति अपनायी गयी जिसका उद्देश्य था भारतीय राजाओं और महाराजाओं को आश्वस्त करना। डलहौजी ने जैसी नीति अपनायी थी उससे ऐसा आभास होने लगा था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा एक के बाद दूसरी देशी रियासतें हड़प ली जायेंगी। आशंका यह थी कि यदि डलहौजी के बाद के दूसरे गवर्नर जनरल भी ऐसी ही नीति अपनाते रहे तो भारतीय नक्शे से देशी रियासतों का अस्तित्व ही मिट जायेगा। विद्रोह

से अंग्रेजों ने यह सबक सीखा कि भारत में अंग्रेजी साम्राज्य बनाये रखने में ये रियासतें उपयोगी होंगी। अतः कैनिंग ने डलहौजी की नीति का परित्याग करने की घोषणा की। ब्रिटिश सरकार ने यह नीति अपना ली कि भविष्य में किसी दशा में किसी देशी राज्य को ब्रिटिश अधिकार में नहीं लिया जायेगा।

बंगाल सेना का असंतोष विद्रोह का एक मुख्य कारण साबित हुआ था। विद्रोह के दौरान कंपनी की इस सेना के बहुत से सैनिक या तो मारे गये अथवा बड़ी संख्या में सैनिक विद्रोह के बाद छिप गये। जो सैनिक सेना से निकाल दिये गये उनकी संख्या भी हजारों में थी। एक प्रकार से बंगाल की सारी सेना समाप्त हो गयी। ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार ने सेना के पुनर्संगठन की ओर तुरन्त ध्यान दिया। सेना के संबंध में नयी व्यवस्था करते समय अंग्रेजों ने ऐसे अधिक से अधिक उपाय किये कि भविष्य में कभी भी दूसरी सेना विद्रोह न करे। ब्रिटिश सैनिकों की संख्या बढ़ा दी गयी, तोपखाने से भारतीयों को हटा दिया गया तथा सेना में भर्ती करते समय यह ध्यान रखा गया कि किसी एक क्षेत्र, समुदाय अथवा जाति के लोग अधिक संख्या में न हों।

विद्रोह के बाद अंग्रेजों में जातीय विद्वेष की भावना और भी अधिक बढ़ी। ब्रिटेन के समाचार-पत्रों ने यूरोपीय अधिकारियों तथा उनके परिवारों पर यदाकदा हुए आक्रमणों का विवरण खूब बढ़ा-चढ़ाकर छापा। भारत में आने वाले प्रत्येक अंग्रेज को उकसाया जाने लगा कि भारत के निवासी विश्वास करने योग्य नहीं थे। यूरोपीय गोरी जाति के लोगों में बढ़ती हुई श्रेष्ठता की भावना से कई कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई।

इन तात्कालिक परिणामों के अलावा हमें यह स्वीकार करना होगा कि भारत के निवासियों को यह विद्रोह भविष्य में प्रेरणा देता रहा। उन्होंने हर समय अंग्रेजों के विरुद्ध किये गये संघर्षों को याद रखा। इस विद्रोह से राष्ट्रीय भावना पनपी और स्वतंत्रता के संघर्ष के युग में भारतीयों ने १८५७ के वीर सेनानियों के बलिदानों को बड़े गौरव से याद किया। यह सुनिश्चित है कि यह विद्रोह हमारे इतिहास की एक प्रेरणादायक घटना है जिसने पहली बार अंग्रेजी साम्राज्य की नींव हिला दी थी।

●●●

अठारहवाँ अध्याय

भारतीय नवजागरण – सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलन

उन्नीसवीं सदी में हमारे देश ने मध्यकाल से आधुनिक युग में प्रवेश किया। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उन्नीसवीं सदी में हुए नवजागरण के फलस्वरूप आधुनिक भारत का वास्तविक स्वरूप प्रकट होने लगा। यह सदी विभाजन करने वाली एक बड़ी रेखा है। इस समय परिवर्तन की जिस प्रक्रिया का आरंभ हुआ उसने भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था को इतना अधिक प्रभावित किया जितना पिछले एक हजार वर्ष की घटनाओं ने भी नहीं किया था। सामाजिक परिवर्तन का सिलसिला जब एक बार शुरू हो गया तो फिर वह बीसवीं सदी में भी अनवरत रूप से चलता रहा और यह क्रम अभी भी जारी है।

यह एक माना हुआ सिद्धांत है कि गहन अंधकार के बाद प्रकाश अवश्य आता है। अठारहवीं सदी भी भारत का ऐसा अंधकारमय युग था जब राजनीतिक अराजकता के साथ-साथ सभी ओर अवनति के चिह्न दिखाई दे रहे थे। भारतीयों में एकता का नितांत अभाव था। राजनीतिक जागरूकता के अभाव में अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से विदेशी साम्राज्यवादी शक्ति ने भारत में पैर जमाना शुरू कर दिये। देश में सर्वत्र युद्धों का क्रम चल रहा था तथा प्रभावशाली सामंतवादी वर्ग ने हर संभव उपाय से अपनी शक्ति को बनाये रखने की ही चिंता की। यह सामाजिक और सांस्कृतिक अवनति का काल था। लेकिन उन्नीसवीं सदी के आरंभिक दशकों में स्थिति बदलने लगी। ब्रिटिश साम्राज्य के स्थापित हो जाने के कारण भारत में नवचेतना की जो लहर आयी उससे देश का कोई भी वर्ग अछूता नहीं रह सका। अंग्रेजों का आधिपत्य केवल राजनीतिक सत्ता तक ही सीमित नहीं रहा। इसने देश के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए भी नयी चुनौतियाँ उपस्थित कीं। ब्रिटिश राज्य-व्यवस्था और पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से जो परिस्थितियाँ उन्नीसवीं सदी के भारत में उपजीं उनके परिवर्तनवादी प्रभाव के कारण ही भारत में नवजागरण का उदय हुआ। पहले हम नवजागरण अथवा नवोत्थान के स्वरूप की चर्चा करेंगे और उसके बाद यह विचार करना होगा कि किस प्रकार यूरोपीय प्रभाव के कारण भारत में यह नयी लहर आयी।

पश्चिम का प्रभाव

पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली परिवर्तनकारी शक्तियों ने जिस बौद्धिक कोलाहल की आवश्यकता को जन्म दिया, उससे भारत में समाज सुधार आंदोलन को प्रेरणा मिली। सभी प्रमुख लेखकों ने स्वीकार किया है कि इन बाहरी अथवा विदेशी शक्तियों के प्रभाव के कारण भारत में युगांतरकारी परिवर्तनों का सिलसिला शुरू हो गया। समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास

का कथन है कि 'ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज और संस्कृति में स्थायी और मौलिक परिवर्तन उत्पन्न किये।' इसी प्रकार के विचार अन्य लेखकों ने भी प्रकट किये हैं। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि समाज-सुधार आंदोलन के उत्तेजक तो बाहर के आये लेकिन पश्चिमी सभ्यता को यथावत् रूप में भारत ने कभी भी ग्रहण नहीं किया। यहाँ की परिस्थितियों के अनुसार पश्चिमी सभ्यता को आत्मसात् करके उसे भारतीय जीवन के लिए उपयोगी बनाने का प्रयास किया गया। भारत में समाज-सुधार करने का कार्य न तो किसी विदेशी ने और न ही विदेशी शासन ने किया। हमारे देश में समाज-सुधार के सभी प्रेरक भारतीय थे। उन्नीसवीं सदी के आरंभ से ही यूरोपीय विचारों को रूपांतरित करके आवश्यकतानुसार उन्हें ग्रहण किया गया।

पश्चिम के प्रभाव से भारत में नवचेतना आयी, सोचने और विचारने का क्रम बदलने लगा तथा बौद्धिक जागरण की प्रक्रिया सक्रिय हुई। अठारहवीं सदी के अंत तक यदि समाज-सुधार की कोशिश नहीं की गयी थी और उन्नीसवीं सदी से ही इस ओर सक्रिय प्रयास किये गये तो इसका मुख्य कारण यही था कि इसके पूर्व कभी भी सामाजिक परम्पराओं और मान्यताओं को स्वीकार करते समय प्रश्न चिह्न नहीं लगाये गये थे। कभी भी तर्क नहीं किया गया था कि समाज की प्रचलित व्यवस्था को क्यों स्वीकारा जाये। उन्नीसवीं सदी के आरंभ से सामाजिक व्यवस्था, मान्यताओं और आदर्शों को आँख बंद करके स्वीकार करने की प्रवृत्ति बदलने लगी। कम से कम कुछ लोगों ने यह प्रश्न पूछना आरंभ कर दिया कि किसी सामाजिक अथवा धार्मिक व्यवस्था को क्यों माना जाये। सामाजिक-धार्मिक परम्पराओं को चुनौती दी गयी और यह विचार पनपा कि उचित मान्यताओं को ही स्वीकार किया जाये। यहीं से भारत में सामाजिक धार्मिक परिवर्तन की प्रक्रिया का आरंभ हुआ जो निस्संदेह एक बड़ी उपलब्धि थी।

यूरोपीय प्रभाव से उत्पन्न होने वाले संस्थागत रूपांतरणों के कारण ही भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया सजग हुई। संस्थाओं में परिवर्तन का संक्षिप्त विवरण ही यहाँ दिया जा सकता है। भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना का सबसे बड़ा और परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा भारत की परम्परागत आर्थिक व्यवस्था पर। अंग्रेजों के आगमन के पूर्व आत्मनिर्भर गाँव भारत की अर्थ-व्यवस्था की आधारभूत इकाई था। शताब्दियों से गाँव का स्वरूप यथावत् बना रहा था। राजनीतिक परिवर्तनों ने इस आधारभूत आर्थिक प्रणाली को प्रभावित नहीं किया था। लेकिन ब्रिटिश प्रभाव के कारण गाँवों की अर्थव्यवस्था में आमूल परिवर्तन हुए। कृषि का व्यापारीकरण हुआ। गाँवों में उपजी वस्तुएँ धीरे-धीरे बड़े-बड़े बाजारों तक पहुँचने लगीं और बाद में उनका संबंध अंतर्राष्ट्रीय बाजार और औद्योगिकीकरण से स्थापित हुआ। कृषि में विशेषीकरण को बढ़ावा दिया गया। कपास, नील आदि विशेष प्रकार की खेती की जाने लगी। अंग्रेजों ने नयी प्रकार की भूमि-व्यवस्था की। भारत में स्थापित ब्रिटिश राज्य ब्रिटेन की पूँजीवादी व्यवस्था से जुड़ गया। ब्रिटेन में इस समय औद्योगिक क्रांति का क्रम चल रहा था। ब्रिटेन में बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किये गये जिनके लिए कच्चे माल की आवश्यकता पड़ती थी और बाद में इस माल को बेचने के लिए भारत को ही चुना गया। इस प्रकार भारत के आर्थिक शोषण का लंबा क्रम चलता रहा। इस व्यवस्था के कई सामाजिक और आर्थिक परिणाम हुए। भारत में जमींदार वर्ग पनपा जो एक विशिष्ट प्रकार का सामंत वर्ग था। इसी अर्थव्यवस्था के कारण सक्रिय मध्यम

वर्ग उत्पन्न हुआ जिसने सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। देश में नगरीकरण शुरू हुआ और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से नये उद्योगों के पनपने से तथा आवागमन और संचार-साधनों से भी सामाजिक परिवर्तन सक्रिय हुआ।

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के परिणामस्वरूप महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। कई प्रकार से यह विलक्षण प्रशासकीय व्यवस्था थी। नौकरशाही के विशाल और शक्तिशाली संगठन पर यह प्रणाली आधारित थी। यह हमारे देश में अपने ढंग का निराला प्रशासन था क्योंकि इसमें अधिकारियों की नियुक्ति जाति अथवा वंश के आधार पर न करके योग्यता के आधार पर की गयी। प्रत्येक अधिकारी को अपनी दक्षता प्रदर्शित करने का पूरा अवसर दिया जाता था और उसे ऊँचे पदों तक पहुँचने का अवसर था। इस प्रशासन से देश को शांति और सुरक्षा मिली जिससे भारत का सामाजिक और आर्थिक विकास करने का उचित वातावरण तैयार हुआ। भारत में राजनीतिक एकीकरण की भावना सबल हुई तथा सामाजिक प्रश्नों को केवल स्थानीय परिवेश में ही नहीं अपितु राष्ट्रीय परिवेश में भी देखा जा सका। देश के अलग-अलग क्षेत्रों में प्रचलित सामाजिक व्यवस्था का तुलनात्मक विवेचन करके सामाजिक कुरीतियों को समझना सरल हो गया। अंग्रेजों ने जिस प्रकार की विधि-प्रणाली का धीरे-धीरे विकास किया उसके कारण भी सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तेज हुई क्योंकि अब पहली बार सभी लोगों के साथ न्यायालयों में समान व्यवहार किया गया। इस विधि-प्रणाली में किसी भी जाति के लिए किसी प्रकार की विशेष सुविधाएँ नहीं थीं।

पश्चिम के प्रभाव का सबसे अधिक प्रभाव शिक्षा पर पड़ा। शिक्षा के माध्यम से ही भारतीयों को समाज-सुधार की प्रेरणा मिली। इसे कई प्रमुख समाज-सुधारकों ने स्वीकार किया। श्रीनारायण चंदावरकर ने अपने एक भाषण में कहा था कि शिक्षा ने 'लोगों के विचारों में उथल-पुथल मचा दी, नये विवाद उठ खड़े हुए और इस प्रकार सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया।' गोपाल कृष्ण गोखले ने भी कहा कि शिक्षा के द्वारा ही महत्त्वपूर्ण रूपांतरण हो सका। परंपरागत शिक्षा-पद्धति धीरे-धीरे बदलने लगी। ब्रिटिश प्रशासकों ने यह सिद्धान्त स्वीकार किया कि शिक्षा के संगठन का उत्तरदायित्व राज्य पर हो और शिक्षा जनसाधारण के लिए सुलभ होनी चाहिए। नयी शिक्षा-पद्धति के द्वारा ही यूरोपीय विज्ञानं, दर्शन, प्रौद्योगिकी, साहित्य का अध्ययन हमारे देश में शुरू हुआ। पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय लोग यूरोपीय विचारों से प्रभावित होने लगे। इस प्रकार उनको नये विचारों को ग्रहण करने का अवसर मिला। यूरोपीय साहित्यकारों के उत्तेजक विचारों के प्रभाव से भारतीयों को नयी दिशा मिली। व्यक्ति स्वातंत्र्य, समानता, प्रजातंत्र, राष्ट्रीयता आदि नये सिद्धांत सभी को प्रभावित करने लगे। भारतीयों ने यूरोपीय दर्शन से जो मुख्य सिद्धांत सीखा वह यह था कि मानवीय संबंधों का आधार परंपरागत व्यवस्था अथवा सत्ता न होकर तर्क होना चाहिए। अब भारतीय सामाजिक व्यवस्थाओं के औचित्य को समझना चाहते थे। वे परम्परागत रीति-रिवाजों के अंधानुकरण का विरोध करने लगे। इस प्रकार उनकी चिंतन प्रणाली भी बदलने लगी और स्वाभाविक था कि ऐसे लोगों ने सामाजिक और धार्मिक सुधारों का बीड़ा उठाया।

ईसाई पादरियों के कार्यों तथा विचारों के कारण भी भारत में सामाजिक सुधार का क्रम

तेज हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में जब ईसाई पादरियों को भारत में धर्म-प्रचार की छूट दे दी गयी तो उन्होंने बड़े सक्रिय ढंग से यह कार्य आरम्भ किया। ईसाई मिशनरियों ने स्थान-स्थान पर हिन्दू धर्म की कठोर आलोचना करना आरम्भ कर दिया। बहुदेववाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा की उन्होंने बुराई की तथा समाज में प्रचलित कुरीतियों के लिए भी उन्होंने इस धर्म को ही जिम्मेदार ठहराया। हिन्दू धर्म को ही उन्होंने आलोचना का केन्द्र बनाया था। इससे हिन्दुओं के लिए भी यह जरूरी हो गया कि वे उनकी चुनौतियों से अपनी रक्षा करने के उपाय ढूँढते। भारत में उन्नीसवीं सदी में कई सामाजिक-धार्मिक आंदोलन इसीलिए आरम्भ किये गये कि किस प्रकार ईसाई पादरियों तथा ईसाई धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा की जाये। ईसाई पादरियों को प्रशासकों का संरक्षण प्राप्त था। जो कुछ सामाजिक सुधार संबंधी अधिनियम सरकार ने पारित किये उनका एक कारण था इन पादरियों का अप्रत्यक्ष प्रभाव।

भारतीय नवजागरण का स्वरूप

अब तक हम भारत पर यूरोपीय प्रभाव की चर्चा कर रहे थे। इसमें कोई शक नहीं कि यूरोपीय प्रभाव एक झंझावात के समान आया जिसके झकोरों से भारतीय बौद्धिकता उसी प्रकार सचेष्ट हुई जैसे गंभीर निद्रा में मग्न व्यक्ति खतरे का अनुभव करके जाग उठता है। रामधारी सिंह 'दिनकर' अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखते हैं कि भारत और यूरोप की इस टकराहट से 'भारत की ऊँघती हुई बूढ़ी सभ्यता की नींद खुल गयी और भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान था।' भारत में जो नवोत्थान उठा उसका लक्ष्य अपने धर्म, अपनी परंपरा और अपने विश्वासों का त्याग नहीं, प्रत्युत यूरोप की विशिष्टताओं के साथ उनका सामंजस्य बिठाना था। भारत ने अपनी बौद्धिक परंपराओं में यूरोपीय सभ्यता का मूल्याँकन करके उसे अपने समन्वय में लाने का प्रयास किया। इसके दो परिणाम निकले। एक ओर भारत ने अतीत की गहराइयों को खोजा और दूसरी ओर यूरोप के प्रभाव से उत्पन्न पुनर्जागरण की रोशनी में अपनी संस्कृति को पुनः सँजोने और सँवारने की कोशिश की। यह भारत की परंपरा के सर्वथा अनुकूल था। भारत न तो कभी अपने विगत से चिपका ही रहा है और न कभी भी वह विगत को एकदम भुला ही सका है।

अतीत के आधार पर समन्वयवादी विकास भारतीय नवजागरण का प्रधान लक्षण था। इस नवजागरण के बाहरी उत्तेजक केवल निमित्त थे, न कि उपादान। यही कारण है कि भारत में समाज-सुधार आंदोलन क्रांतिकारी न होकर विकासशील रहा। किसी भी समाज-सुधारक अथवा धर्म-सुधारक ने परंपरागत व्यवस्था का आमूल परिवर्तन करके किसी नये समाज की संरचना की माँग नहीं की। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में केवल सुधारों की माँग की गयी, ऐसे सुधारों की जिनके द्वारा नवीन परिस्थितियों के अनुसार समाज भी प्रगतिशील बनाया जा सके।

उन्नीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों से व्यक्तिगत विद्रोहों द्वारा समाज का स्वरूप बदलने की कोशिशें की गयीं। भारत में ऐसे विद्रोह करने वाले हर समय सामने आये थे। कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने मध्यकाल में सामाजिक रीति-रिवाजों तथा धार्मिक मान्यताओं के खिलाफ

आवाज उठाई थी। उन्नीसवीं सदी में भी कुछ इसी प्रकार के सुधारक सामने आये। ये सुधारक मध्ययुगीन संतों से भिन्न थे, इनकी आवाज अलग थी तथा मान्यताएँ भिन्न थी। लेकिन फिर भी समाज ने इनके प्रभाव को स्वीकार किया और सभी सामाजिक विद्रोहियों को समाज-सुधारक माना गया। इसका अर्थ हुआ कि भारतीय समाज इनके क्रियाकलापों को स्वीकार करने के लिए तैयार था।

भारतीय नवजागरण मूल रूप से एक बौद्धिक कोलाहल था। इस बौद्धिक कोलाहल ने ही एक नयी सामाजिक नवजागृति उत्पन्न की। एक नये दृष्टिकोण से सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं का विवेचन करके यह विचार किया गया कि किन परंपराओं को अंगीकार किया जाये और किन्हें नहीं। नवीन परिवर्तनों का आधार तैयार हो गया। परिवर्तन के प्रवाह को सभी कोई स्वीकार करने लगा था।

सामाजिक नवचेतना ने ही भारत में विभिन्न सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों को जन्म दिया। सांस्कृतिक पुनरुन्नयन की प्रक्रिया तीव्र हुई। भारत को आधुनिकीकरण की ओर उन्मुख किया गया। धीरे-धीरे यह स्वीकार किया जाने लगा कि रूढ़िवादी व्यवस्था का नयी दृष्टि से अवलोकन करने की आवश्यकता थी। राममोहन राय से लेकर गाँधी और नेहरू तक कई प्रमुख विचारकों ने अपने-अपने ढंग से नवजागरण अथवा नवोत्थान में जिस प्रकार से योगदान किया उसकी चर्चा हम आगे कर रहे हैं।

समाज-सुधार आंदोलन के दो पहलू

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में समाज-सुधार आंदोलन जिस प्रकार भारत में विकसित हुआ उसका अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि यह क्रांतिकारी होने के बजाय धीरे-धीरे प्रगति करने वाला आंदोलन था। सभी समाज-सुधारकों की यह मान्यता थी कि सामाजिक परिवर्तन का उत्तरोत्तर तथा क्रमिक विकास हो। भारत में समाज-सुधार का अर्थ यह नहीं था कि सामाजिक ढाँचे अथवा सामाजिक संरचना को पुनः संगठित किया जाये। यहाँ पर समाज-सुधार के प्रणेता सामाजिक ढाँचे को यथावत् बनाए रखते हुए लोगों के जीवन को सुधारना चाहते थे। उन्होंने भारतीय समाज के सम्मुख नयी विचारधाराएँ रखीं तथा परंपरागत मान्यताओं को बदलने की योजना प्रस्तुत की। उन्नीसवीं सदी में समाज-सुधारक केवल कुछ पढ़े लिखे, उच्चवर्गीय तथा शिक्षित वर्ग तक अपना संदेश पहुँचा सके और उन्होंने यह आशा की थी कि धीरे-धीरे समाज के उच्चवर्गीय लोग दूसरे वर्गों को भी प्रभावित करेंगे। यह आशा की गयी थी कि उच्च वर्गों के जीवन से ही समाज का स्वरूप बदलने लगेगा। बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते समाज-सुधार आंदोलन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दिखाई देने लगा। अब समाज-सुधारकों ने जाति-प्रथा के बंधनों के खिलाफ आवाज उठाई और जो जातियाँ निम्न मानी जाती थीं उनके उत्थान के लिए प्रयास किये जाने लगे थे। बहुत से लोगों ने तो पूरी की पूरी जाति-प्रथा को समूल नष्ट कर देने तक की बात कहीं। बीसवीं सदी का समाज-सुधार आंदोलन थोड़े से वर्गों तक सीमित नहीं रहा। समाज-सुधार के अलावा समाज-सेवा की जरूरत अनुभव की गयी। पिछड़े, कमजोर और सताये वर्गों की दशा सुधारने की ओर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाने

लगा। समाज-सुधार आंदोलन के इन दो पहलुओं का अलग-अलग विवेचन हम आगे चलकर करेंगे।

एक अन्य दृष्टि से भी समाज-सुधार आंदोलन के दोनों पहलुओं का अध्ययन किया जा सकता है। सुप्रसिद्ध लेखक ओमाली ने भारतीय सामाजिक संस्थाओं की चर्चा करते हुए स्पष्ट किया है कि हमारी सामाजिक व्यवस्थाएँ धर्म पर आधारित रही हैं। हमारे समाज और धर्म में जितना निकट का संबंध बना रहा है वैसा पश्चिमी सामाजिक संरचना में नहीं था। ओमाली ने इसी कारण कहा है कि भारतीय व्यवस्था 'एक सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था है।' इसी कारण समाज-सुधार और धर्म-सुधार के कार्य एक दूसरे से कभी भी अलग नहीं किये जा सके।

अध्ययन की सुविधा के लिए भारत में सुधारकों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है – धर्म-सुधारक और समाज-सुधारक। धर्म-सुधारक धर्म के द्वारा समाज तक पहुँचते हैं अथवा पहुँचने पर बाध्य होते हैं तथा समाज-सुधारक समाज के द्वारा धर्म की व्यवस्थाओं तक पहुँच जाते हैं अथवा उन्हें ऐसा करना पड़ता है। धर्म-सुधारक मुख्य रूप से धर्म के स्वरूप को ही प्रभावित करना चाहते थे। इसके विपरीत समाज-सुधारक सामाजिक कुरीतियों को दूर करते हुए धर्म की व्यवस्थाओं तक आ जाते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाते हुए समाज-सुधारक धर्म-निरपेक्षता की ओर बढ़ते हैं। समाज-सुधारक मूलरूप से उदारवादी और मानवतावादी विचारों से प्रेरित थे। उन्नीसवीं सदी से बीसवीं सदी तक समाज-सुधार आंदोलन क्रमशः धर्मनिरपेक्ष होता गया। बाद में राष्ट्रीय आंदोलन की प्रेरणा से इसका दृष्टिकोण और भी अधिक व्यापक होता गया। राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, विवेकानन्द और एनी बेसेंट को हम धर्म-सुधार के प्रणेता कह सकते हैं तथा ईश्वरचंद्र, विद्यासागर, रानडे, गोखले, महात्मा गांधी और नेहरू को समाज-सुधारकों की श्रेणी में स्वीकार किया जाता है।

धर्म सुधारक के सुधार-आंदोलन का केन्द्र धर्म रहा। उन्नीसवीं सदी की तत्कालीन परिस्थिति में राममोहन राय से विवेकानंद तक सभी प्रमुख प्रणेताओं ने यह आवश्यक समझा कि हिन्दू धर्म के सर्वग्राह्य स्वरूप का पुनरुन्नयन किया जाये। उन्होंने समाज-सुधार की बात उसी सीमा तक की जितनी उनके प्रधान लक्ष्य से संबंधित थी। भारत में इस प्रकार की परंपरा पहले से ही थी। प्रत्येक धर्म-सुधारक ने या तो कोई अलग 'समाज' या 'मिशन' संगठित किया अथवा वह उस संगठन से सक्रिय रूप से संबद्ध था। ये धर्म-सुधारक बहुत कुछ अपने-अपने संगठनों के माध्यम से ही सुधार कार्य करने लगे। तरह-तरह के धार्मिक संगठन उभरे, विकसित हुए और उन्होंने अपने-अपने ढंग से कार्य किया। लेकिन समाज-सुधारकों का कार्य करने का तरीका इससे भिन्न था। उन्होंने अलग से कोई संगठन नहीं बनाया। उन्होंने सुधार संघों की स्थापना की। जन-जागृति की दृष्टि से देश के सभी समाज-सुधारक अपना वार्षिक सम्मेलन करने लगे और उन्होंने देश के सभी क्षेत्रों में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों पर विचार करके समान दृष्टिकोण अपनाने की कोशिश की। सभी लोग समाज-सुधार का उचित वातावरण तैयार करने के प्रयत्न में जुट गये। समाज-सेवा की दिशा में भी प्रगति होने लगी। यह अनुभव किया गया कि रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान देना आवश्यक था। समाज-सुधार आंदोलन उन्हीं क्षेत्रों में अधिक सफल

रहा जहाँ पश्चिम का प्रभाव अधिक था और जहाँ अंग्रेजी शिक्षा का अधिक प्रचार हो चुका था। बंगाल और महाराष्ट्र में समाज-सुधार आंदोलन इसीलिये सक्रिय रहा।

अब हम उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के मुख्य धार्मिक तथा सामाजिक सुधारों का वर्णन करते हुए उन प्रणेताओं के योगदान की चर्चा करेंगे जिन्होंने भारतीय नवजागरण को स्वरूप दिया।

राजा राममोहन राय

राजा राममोहन राय भारतीय नवजागरण के अग्रदूत और जनक थे। इस धारा को प्रवाहित करने का श्रेय उन्हीं को प्राप्त है। वे एक दूरदर्शी प्रणेता थे। उन्होंने समझ लिया था कि भारत भविष्य में किस दिशा की ओर मुड़ेगा और बड़े साहस से राममोहन राय ने यूरोपीय विचारों और विज्ञान का स्वागत किया। लेकिन जहाँ एक ओर वे अंग्रेजी भाषा तथा पश्चात्य विद्याओं का स्वागत करने को तैयार थे वहीं दूसरी ओर वे अपने धर्म, अपनी परंपरा और अपने विश्वासों के प्रति आस्थावान् थे। राय का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। उन्होंने भारतीयता और यूरोपीयता के उत्तम तत्त्वों का समावेश करके आधुनिक भारत के निर्माण का ठोस आधार तैयार किया।

राममोहन राय का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक था। उन्होंने धार्मिक सुधार, सामाजिक जागृति, बौद्धिक कोलाहल और राष्ट्रीय उत्थान के लिए समान दृष्टि से कार्य किया। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी तथा उनके कार्य-कलाप से समाज तथा राष्ट्र हर प्रकार से प्रभावित हुआ। इस कारण उनके योगदान की चर्चा करते समय यह जरूरी है कि सभी पहलुओं से उनके विचारों का अध्ययन किया जाये। वे एक महान चिंतक तो थे ही पर इसके साथ ही उन्होंने सक्रिय ढंग से समाज धर्म-सुधार का कार्य भी किया। प्रचार कार्य के लिए राममोहन राय ने तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार चार तरह के तरीके अपनाये जो इस प्रकार थे – १. धार्मिक संगठनों की स्थापना, २. पुस्तकों, लेखों आदि का प्रकाशन, ३. समय-समय पर सभाएँ करना, विचार-विमर्श तथा विवाद में भाग लेना, ४. शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करना। इस प्रकार उन्होंने हर संभव उपाय से तत्कालीन समाज को प्रभावित करने की कोशिश की।

राममोहन राय का जन्म २२ मई, १७७२ को बंगाल के हुगली जिले में राधानगर नामक गाँव में ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता, रमाकांत राय, एक संपन्न जमींदार थे जिन्होंने राममोहन की योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा देने की भरसक कोशिश की। जब राममोहन की आयु नौ वर्ष की थी तभी उन्हें फारसी और अरबी की शिक्षा के लिए घर से दूर पटना भेज दिया गया। पटना में रहकर उन्होंने इन भाषाओं का अच्छा ज्ञान तो प्राप्त किया ही पर इसके साथ ही एकेश्वरवाद के प्रति भी उनकी रुचि बढ़ी। बाद में वे बनारस भी गये जहाँ संस्कृत भाषा का उनका ज्ञान बढ़ा। इस प्रकार भारत की प्रमुख भाषाओं की उन्हें दक्षता प्राप्त हो गयी और मूल ग्रन्थों को वे आसानी से पढ़ सकते थे तथा उनकी विवेचना कर सकते थे। राममोहन राय ने निजी व्यापार से पर्याप्त धन अर्जित किया। पिता द्वारा अर्जित संपत्ति से भी उनकी आर्थिक स्थिति सुधरती गयी। उन्होंने करीब दस वर्षों तक कंपनी की नौकरी भी

की और इसी दौरान अंग्रेजी भाषा भी पढ़ी। १८१४ में राममोहन कलकत्ता आकर रहने लगे। उन्होंने दो मकान खरीद लिये और अर्जित धनराशि और जमींदारी से उन्हें जो आमदनी होती थी उसके कारण कलकत्ता के संपन्न तथा प्रभावशाली वर्गों के साथ वे बराबरी से रह सकते थे। इसके बाद उन्होंने अपना सारा समय समाज और धर्म की समस्याओं पर विचार करने में लगा दिया।

बौद्धिक दृष्टिकोण

राममोहन राय का दृष्टिकोण मूलतः बौद्धिक था। वे आधुनिक युग के पहले भारतीय बौद्धिक थे। बौद्धिक हम उसे कहते हैं जो परम्परा और विचारों का आलोचनात्मक मूल्याँकन करते हुए यह निर्णय करता है कि किस मान्यता को स्वीकार किया जाये और किसका विरोध किया जाये। विरोध करने की सक्षमता एक बौद्धिक का मुख्य लक्षण माना जाना चाहिये। लेकिन जहाँ एक बौद्धिक परंपरागत मूल्यों को जाँचता है वहीं पर उसका ध्यान नये मूल्यों की ओर भी रहता है। इस दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि राममोहन राय ने भारत के परंपरागत आदर्शों पर पैनी दृष्टि रखी, प्राचीन काल से चलती आ रही मान्यताओं की परीक्षा की तथा इसके साथ-साथ उन्होंने भविष्य की ओर पूरा ध्यान दिया और उसे प्रभावित करने की कोशिश की।

अठारहवीं शताब्दी तक जो व्यवस्था हमारे समाज में प्रचलित थी उसमें किसी बौद्धिक के लिए स्थान ही नहीं था क्योंकि उस समय तक सभी पढ़े लिखे व्यक्तियों का कार्य यही था कि वे परंपरागत ज्ञान का आदर करें। इस प्रकार की स्थिति में बौद्धिक का निजी व्यक्तित्व नहीं उभर सकता था। वह स्वयं अपने विचार और अनुभव के आधार पर कुछ नहीं कहता था। राममोहन राय ने इस प्रचलित परंपरा को स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपनी दृष्टि से, अपने विचार से तथा अपने अनुभव के द्वारा तत्कालीन विचारों तथा मान्यताओं को समझना चाहा और यदि उन्हें समाज में प्रचलित कुछ रीति-रिवाज उचित नहीं जान पड़े तो उन्होंने बड़े साहसपूर्ण ढंग से उनके विरुद्ध आवाज बुलंद की। हमेशा उनका दृष्टिकोण युक्तियुक्त था। वे अपने तर्क प्रस्तुत करते थे और दूसरे के उत्तर सुनने को तैयार रहते थे। उनका विरोध एक ऐसे व्यक्ति का विरोध था जिसने समाज और राष्ट्र को लंबे समय तक प्रभावित किया।

एक बुद्धिवादी विचार-आंदोलन को प्रेरित करने का कठिन कार्य राममोहन राय ने किया। वे बँगला साहित्य के एक प्रमुख साहित्यकार थे। बँगला और अंग्रेजी में उनके लिखे ग्रंथों और छोटी पुस्तकों की संख्या साठ से अधिक है। इसके अलावा उन्होंने अरबी, फारसी और अन्य भाषाओं में भी लिखा। भाषाओं का उन्हें विलक्षण ज्ञान था। बाइबिल के मूल स्वरूप का अध्ययन करने के लिए उन्होंने हिब्रू भाषा सीखी। इसी से समझा जा सकता है कि किस परिश्रम और लगन से उन्होंने बौद्धिक चिंतन किया।

तत्कालीन स्थिति का प्रभाव

राममोहन राय का जन्म उस संक्रमण काल में हुआ था जिसमें यूरोपीय प्रभाव दिखायी

देना आरंभ हो रहा था तथा भारत अठारहवीं सदी की मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था से निकलकर आधुनिक युग में प्रवेश कर रहा था। उन्हें चारों ओर सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक परिवर्तन होते हुए दिखायी दिये। उन्होंने बदलती हुई स्थिति का गहरा विवेचन किया। उनकी विशेषता यही है कि ऐतिहासिक परिस्थितियों की उनकी पकड़ सही है। १८१५ के आसपास ही ब्रिटिश साम्राज्य भारत में शक्तिशाली हुआ और यूरोपीय संस्थाओं के प्रति समादर की भावना बढ़ रही थी। राममोहन राय ने इस परिस्थिति को समझा और स्वीकार किया। ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति उनका आदर का दृष्टिकोण था जो उस समय की स्थिति को देखते हुए हमें अचंभे में नहीं डालता। राममोहन राय ने पूरी लगन से इस नयी स्थिति के अनुसार भारतीय संस्कृति के निर्माण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उनकी जीवनी की लेखिका ने उचित ही कहा है : 'इतिहास में राममोहन का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़कर भारत अपने असीम अतीत से निकलकर अज्ञात भविष्य की ओर अग्रसर होता है।' लेखिका उनके ऐतिहासिक कार्य पर प्रकाश डालते हुए आगे लिखती है कि 'प्राचीन जातिप्रथा तथा आधुनिक मानवतावाद के बीच जो खाई है, अंधविश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतंत्र के बीच जो अंतराल है तथा बहुदेववाद और एकेश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बाँधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर ले जाने वाले महापुरुष राममोहन राय थे।'

उस समय भारतीय समाज को एक नयी बौद्धिक तथा सामाजिक चेतना की आवश्यकता थी। पश्चिम के विचारों और पश्चिम की धारा को भारतीय जनमानस तक पहुँचाने का कार्य कौन कर सकता था? निश्चय ही यूरोपीय स्वयं यदि इस कार्य को करते तो यह पूरा नहीं हो सकता था। इसे केवल भारतीय ही पूरा कर सकते थे। पश्चिम की धारा को भारतीय परंपरा के अथाह सागर तक पहुँचाने का कार्य सबसे पहले राममोहन राय ने ही किया तथा उनके बाद के सुधारकों ने अपने-अपने ढंग से इस आदान-प्रदान के प्रति विचार व्यक्त किये। नयी स्थिति का मूल्याँकन करने वाले वे पहले व्यक्ति थे।

धार्मिक सुधार

तत्कालीन भारतीय समाज का विवेचन करके राममोहन राय ने देखा कि हिन्दू धर्म में तरह-तरह की कुरीतियाँ आ गयी थीं और धर्म के मूल स्वरूप के प्रति ज्ञान धुँधला पड़ गया था। धर्म का स्वरूप विकृत होने पर सभ्यता और संस्कृति में अवनति हुई थी। अतः मूल आवश्यकता थी फौव्वारे के उस मूल को साफ करना जिसके कारण राष्ट्र का विकास रुका हुआ था। धर्म सभ्यता का मूल तंत्र था और उसकी विकृतियों को दूर करके ही राष्ट्रीय उन्नति की जा सकती थी। राममोहन राय ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है कि उन्हें धार्मिक सुधार की ओर क्यों झुकना पड़ा। उन्होंने कहा – 'मुझे यह कहते हुए दुःख होता है कि हिन्दुओं की वर्तमान धर्म-व्यवस्था ऐसी है जिससे उनके राजनीतिक हितों की पूर्ति नहीं हो सकती। उनके बीच असंख्य विभाजन और उप-विभाजन को जन्म देने वाली जाति-प्रथा ने उनको राजनीतिक भावना से पूरी तरह वंचित कर दिया है और अगणित धार्मिक संस्कारों तथा सिद्धीकरण के नियमों ने उनको कोई भी कठिन और साहसपूर्ण कार्य करने के लिए अयोग्य बना दिया है। मेरे विचार से यह

आवश्यक है कि कम से कम उनके राजनीतिक और सामाजिक कल्याण के लिए उनके धर्म में कुछ परिवर्तन होने चाहिये।'

इससे यह स्पष्ट है कि राममोहन राय ने ऐसे धार्मिक सुधारों की माँग की जो राष्ट्रीय हितों की पूर्ति कर सकें और सामाजिक जागृति का माध्यम बनें। वे जानते थे कि उस समय की परिस्थितियों में यह कार्य बहुत आवश्यक हो गया था। उन्नीसवीं सदी के दूसरे दशक से ईसाई मिशनरी हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए धर्म-प्रचार का कार्य और भी अधिक उत्साह से करने लगे थे। राममोहन राय ने अनुभव किया कि ईसाई धर्म से हिन्दू धर्म की रक्षा करना आवश्यक था। वे हिन्दू धर्म का ऐसा स्वरूप सामने रखना चाहते थे जिससे इसका मूल रूप प्रकट हो जाये। इस कारण उन्होंने वेदान्त का सहारा लिया। उनका उत्तर था वेदान्त का निरूपण।

हिन्दू धर्म के पुनर्जागरण के उनके प्रयत्नों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है। पहली श्रेणी में उनके वे प्रयत्न आते हैं जिनके द्वारा राममोहन राय ने उस समय प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और अंधविश्वासों की आलोचना की। दूसरी श्रेणी में उनके धार्मिक विवेचनों पर विचार किया जा सकता है और तीसरी श्रेणी में उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज के स्वरूप पर विचार किया जा सकता है। अव हम उनके तीन प्रकार के प्रयत्नों का विवरण देंगे।

हिन्दू धर्म की गिरी हुई अवस्था का मुख्य कारण उन्होंने मूर्ति-पूजा को माना। राममोहन राय आरंभ से ही मूर्तिपूजा के विरोधी थे। १८०३ में फारसी में उन्होंने तुहफातुल-मुवाहिदीन नामक पुस्तक में मूर्तिपूजा का खण्डन किया था। इसके बाद उनका यह दृढ़ विचार बना रहा कि इसी के कारण हिन्दू धर्म में अन्य विकृतियाँ आ गयी थीं। इसी से विभिन्न प्रकार के अंधविश्वास उपजे थे और कर्मकांड आदि आडंबर बढ़े थे। लोग धर्म के बाहरी स्वरूप में ही उलझ गये थे और मूल धार्मिक प्रश्नों से उनका ध्यान हट गया था। जिस धर्म का दार्शनिक पक्ष इतना प्रबल था उसके स्थान पर तरह-तरह की कुरीतियाँ बढ़ गयी थीं। पुरोहितवाद की उन्होंने आलोचना की। राय का कहना था कि व्यक्तिगत विश्वासों और मान्यताओं तथा ईश्वर के बीच किसी प्रकार के पुरोहित की जरूरत नहीं थी।

राममोहन राय ने जब भी धार्मिक अथवा सामाजिक प्रश्नों का निरूपण किया तो उन्होंने धर्मग्रंथों को आधार बनाया। धर्मग्रंथों का अध्ययन करके ही वे हिन्दू धर्म के वास्तविक स्वरूप को प्रतिष्ठित कर सकते थे। उन्होंने देखा था कि गिने चुने लोगों को छोड़कर और किसी को भी धर्मशास्त्रों का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं था। पुरोहित वर्ग ने जनसाधारण को भुलावे में रखा था। इस कारण राममोहन राय ने शास्त्रों की मूल बातों को जनता तक पहुँचाने के लिए कई पुस्तकें लिखीं। उनका विचार यह था कि शास्त्रों से परिचय प्राप्त हो जाने पर पुरोहित का प्रभाव घटेगा। इसके साथ-साथ वे यह भी चाहते थे कि विभिन्न विषयों पर सभी लोग स्वतंत्र चिंतन करें। इस चिंतन का आधार तैयार करने के लिए भी उनकी पुस्तकें उपयोगी साबित हुई। सत्य को ढूँढ़ने के लिए उन्होंने मीमांसा पद्धति का अनुसरण किया। १८१५ में राममोहन राय ने वेदांत सूत्र का बँगला में अनुवाद प्रकाशित किया। १८१६ में उन्होंने ईश और केन उपनिषदों का अनुवाद बँगला और अंग्रेजी में किया। एक वर्ष बाद कठ और मुंडक उपनिषदों का अनुवाद

उन्होंने प्रकाशित किया। इसके बाद उन्होंने सामाजिक प्रश्नों के शास्त्रीय आधार पर प्रकाश डालते हुए कई छोटी पुस्तिकाएँ लिखीं। ईसाई धर्म के सिद्धांतों पर भी उन्होंने पुस्तकें लिखीं।

राममोहन राय ने हिन्दू धर्म के दर्शन की पुनः व्याख्या करने की ओर ध्यान दिया। उनके आध्यात्मिक अथवा धार्मिक विचारों का मूल सिद्धांत था एकेश्वरवाद। निराकार, निर्विकार और सर्वशक्तिमान् ईश्वर की उपासना पर उन्होंने बल दिया। वेदों और उपनिषदों के आधार पर उन्होंने निराकार ईश्वर के सिद्धांत को ही हिन्दू धर्म का मुख्य आधार बनाया।

राममोहन राय ने किसी नये धर्म की अथवा किसी विशेष धार्मिक व्यवस्था की स्थापना की कोशिश नहीं की। स्वतंत्र चिंतन को भारत में हमेशा स्वीकार किया गया था। इसी प्रचलित आधार को अपनाकर उन्होंने प्रगतिवादी और जनकल्याणकारी धर्म के सिद्धांतों को अपनाने की सलाह दी। उनका विश्वास था कि धार्मिक पुनर्जागरण करके वे समाज में एक नयी संजीवनी शक्ति का संचार कर देंगे। हिन्दू धर्म के व्यावहारिक और लचीले स्वरूप को प्रतिष्ठित करने का उनका प्रयास था। वे ऐसे धर्म का निरूपण कर रहे थे जो सामाजिक चेतना में सहायक हो और भारत की बदलती हुई परिस्थितियों में समाज-सुधार के लिए सभी को प्रेरित कर सके। जो धर्म पहले अपने में पूर्ण माना जाता था उसकी जाँच उन्होंने सामाजिकता की कसौटी पर की।

ब्रह्म समाज की स्थापना

अपने धर्म-सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से राममोहन राय ने अगस्त, १८२८ में ब्रह्म समाज की स्थापना की। वे कई वर्षों से संगठनों तथा सभाओं के माध्यम से कार्य कर रहे थे। १८१५ में उन्होंने आत्मीय सभा को संगठित किया था। कलकत्ता के प्रभावशाली विचारकों ने इसमें भाग लिया था। इस सभा की बैठकें प्रति सप्ताह होती थीं। इन सभाओं में धार्मिक तथा सामाजिक समस्याओं पर विचार किया जाता था। करीब चार वर्षों तक इस सभा ने कार्य किया। १८२१ में राममोहन राय ने कलकत्ता यूनिटेरियन सोसायटी की स्थापना की। लेकिन यह अधिक सफल नहीं हो सकी। कुछ वर्षों तक विचार करने के पश्चात् उन्होंने ब्रह्म समाज को संगठित करने का निश्चय किया।

ब्रह्म समाज एक ऐसी संस्था थी जो औपनिषदिक सत्यों पर आधारित थी। राममोहन राय हिन्दू धर्म में जो सुधार लाना चाहते थे उस कार्य को पूरा करने के लिए उन्होंने किसी संगठन की आवश्यकता अनुभव की। इसी संगठन के द्वारा उन्होंने प्रचार-कार्य किया। धीरे-धीरे उनका संदेश फैला। लेकिन इस संबंध में उनका प्रयास आरंभ में मध्यवर्गीय शिक्षित वर्ग तक पहुँचना ही था। उनका विचार था कि शिक्षित वर्ग में नयी चेतना फैल जाने पर ही अन्य वर्गों को प्रभावित करना संभव हो सकेगा।

ब्रह्म समाज का रूप हर प्रकार से भारतीय रखा गया। यह अद्वैतवादी हिन्दुओं की संस्था थी। इस समाज ने मूर्तिपूजा का विरोध किया, निराकार ब्रह्म की उपासना को आधार बनाया और शास्त्रों में प्रतिपादित दर्शन की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट किया।

इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह सभी धर्मों के प्रति सहानुभूतिशील

था। यह भावना हिन्दू धर्म के मूल उदारवादी रूप के अनुकूल थी। राममोहन राय की धार्मिक भावना की आधारभूत मान्यता थी सभी धर्मों का आदर। ब्रह्म समाज ने सभी धर्मों के मूल सिद्धांतों के आधार पर उनके तुलनात्मक अध्ययन की बात कही। उनके पूर्व किसी ने भी सभी धर्मों की विवेचना का प्रयास नहीं किया था। सभी वर्गों की एकता के तत्त्वों पर ध्यान देने के लिए ब्रह्म समाज का सहारा लिया गया।

समाज-सुधार

यह मत व्यक्त किया गया है कि 'राममोहन राय का प्रधान विषय धर्म नहीं समाज था' और यह सर्वथा उचित ही जान पड़ता है। डी.एस. शर्मा ने भी कुछ इसी ढंग के विचार प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन इस प्रकार है : 'वे धर्म के शुद्ध आध्यात्मिक पक्ष की अपेक्षा उसके सामाजिक और राजनैतिक पक्ष के प्रति अधिक उत्सुक थे।' हमने यह आरंभ में ही कहा है कि भारतीय समाज का संगठन ही कुछ इस प्रकार का रहा है कि कोई भी सुधारक समाज और धर्म के निकट के संबंध को मानकर ही नवचेतना और नवजागृति का कार्य कर सकता था। राममोहन राय ने इसलिए धर्म-सुधार और सामाजिक सुधार की माँग साथ-साथ की। लेकिन वे वास्तव में सामाजिक जागृति के प्रेरक थे। वे समाज को प्रगतिशील बनाना चाहते थे। उन्होंने ऐसे सामाजिक संबंधों का औचित्य सिद्ध किया जिसका आधार व्यापक हो।

राममोहन राय ने यह स्वीकार किया कि शिक्षा द्वारा ही सामाजिक न्याय प्राप्त किया जा सकता था। उनको यह अनुभव हुआ कि पश्चिमी ढंग की वैज्ञानिक शिक्षा और यूरोपीय विचारों से ओतप्रोत वर्ग सामाजिक चेतना और जागरूकता में योगदान देगा। उनका मुख्य अस्त्र था तर्क। हर प्रकार की सामाजिक व्यवस्था का कारण समझने की उन्होंने कोशिश की और तब उन्हें प्रचलित सामाजिक कुरीतियों का ज्ञान हुआ।

सामाजिक सुधार का औचित्य सिद्ध करते समय राममोहन राय ने शास्त्रों का सहारा लिया। उदाहरण के लिए जब सती प्रथा के विरुद्ध उन्होंने आवाज उठाई तो उनका मुख्य तर्क यही था कि हिन्दू शास्त्र सती प्रथा को मान्यता नहीं देते थे। सती प्रथा के पक्ष और विपक्ष में जब १८२० से १८३० तक बंगाल में विवाद छिड़ा तो शास्त्रों को आधार बनाकर ही बहस चलती रही। राममोहन राय अपने पक्ष को सिद्ध करने में सफल रहे। बेंटिक ने स्वीकार किया था कि सती प्रथा को धर्म स्वीकार नहीं करता था।

समाज-सुधार के लिए उनका मत यह था कि इस दिशा में अधिक सुधार किया जाये। धीरे-धीरे सामाजिक सुधार के पक्ष में वातावरण तैयार करना उनका मुख्य लक्ष्य था। उनका कहना था कि एक बार सामाजिक सुधार की आवश्यकता जब सभी कोई स्वीकार करने लगेगा तभी समाज में प्रचलित कुरीतियों और अंधविश्वासों को दूर किया जा सकेगा। यही कारण है कि कानून बनाकर समाज-सुधार करने का तरीका राममोहन राय को अधिक पसंद नहीं था। वे यह नहीं चाहते थे कि सरकार समाज-सुधार के विषय में नियम बनाये। ऐसा मालूम पड़ता है कि वे किसी बाहरी हस्तक्षेप के हिमायती नहीं थे। उनका मत यही था कि समाज का परिवर्तन क्रमिक हो और इसके सदस्यों द्वारा ही इसे पूरा किया जाये।

राममोहन राय ने जिस ढंग से सती प्रथा के विरुद्ध सक्रियता दिखाई उससे उनके साहस का परिचय मिलता है। उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं, खुला विवाद किया तथा समाज में प्रचलित इस कुप्रथा का डटकर विरोध किया। स्वयं वे स्थान-स्थान पर गये और उन्होंने सती प्रथा के समर्थकों को समझाने की कोशिश की। उनकी आवाज में ताकत थी, सत्य का बल था। सरकार ने दिसम्बर, १८२६ में एक अधिनियम बनाकर सती प्रथा को अवैध घोषित कर दिया। धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त हो गयी। राममोहन राय ने स्त्रियों को समाज में उचित स्थान दिलाने के प्रत्येक तरीके को स्वीकार किया। बहु विवाह की प्रथा का उन्होंने विरोध किया। इसी प्रकार बाल-विवाह के विरुद्ध भी उन्होंने अपना मत प्रकट किया। बंगाल के कुलीन ब्राह्मणों में विशेष रूप से ये कुरीतियाँ प्रचलित थीं। उस युग में केवल इसका सैद्धांतिक विरोध ही किया जा सका।

व्यक्तिगत तथा राजनैतिक स्वतंत्रता

राममोहन राय ने उस समय के प्रमुख यूरोपीय दार्शनिकों की पुस्तकों का गहन अध्ययन किया था और वे स्वाभाविक ढंग से उनके विचारों से प्रभावित भी हुए। उन्होंने व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की आवश्यकता पर पूरा बल दिया। स्वतंत्रता की चर्चा उन्होंने समय-समय पर की। राष्ट्र के उत्थान के लिए उन्हें यह एक आवश्यक सिद्धांत दिखाई दिया। यूरोप की घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया से यह स्पष्ट होता है। १८२० और १८३० में यूरोपीय देशों में क्रांतियाँ हुईं। १८३० में तो वे स्वयं इन क्रांतियों के द्रष्टा थे। यूरोप की यात्रा करने वाले वे पहले प्रमुख भारतीय थे। विपिनचन्द्र पाल ने स्वीकार किया है कि 'राजा साहब पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भारत में स्वतंत्रता का संदेश प्रसारित किया।' वे केवल सैद्धांतिक पक्ष की ही बात कर रहे थे। लेकिन फिर भी स्वतंत्रता के प्रति उनके अगाध प्रेम का गहरा प्रभाव पड़ा। वे ब्रिटेन में प्रचलित राजनीतिक परंपरा से प्रभावित हुए थे।

पत्रकारिता

राममोहन राय ने भारतीय पत्रकारिता को अपने पैरों पर खड़ा किया। उनके समय से ही देश में छापेखाने कार्य करने लगे थे। विशेष रूप से ईसाई पादरी अपनी प्रचार-सामग्री के प्रकाशन में प्रेस का उपयोग कर रहे थे। सामाजिक और धार्मिक प्रश्नों पर विवाद करने का अथवा अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करने का प्रेस बहुत अच्छा माध्यम था। सुधारवादी विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए पत्रकारिता को उन्होंने अपना साधन बनाया। १८२१ में उन्होंने 'संवाद कौमुदी' नामक पत्र की स्थापना की और एक वर्ष बाद ही 'मिरातुल अखबार' फारसी में उन्होंने चलाया। इन दोनों अखबारों को स्थापित करके राय ने सामाजिक चेतना जगाने का कार्य किया। उन्होंने पुस्तकों के प्रकाशन में तथा समाचार-पत्रों के लिए भी निजी धन व्यय किया। उस समय समाचार-पत्रों से किसी प्रकार की आमदनी होने की संभावना नहीं थी।

अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति

यूरोपीय विचारधारा का उन्होंने स्वागत किया। ब्रिटिश प्रशासन को वे आदर की दृष्टि से देखते थे। उनका विचार यह था कि यूरोपीय संपर्क से भारत नवजागृति की दिशा की ओर

अग्रसर होगा। इस कारण बेंटिक के शासनकाल के पहले जब भारत में शिक्षा के भावी स्वरूप पर बहस चली तो राममोहन राय ने खुलेआम अंग्रेजी भाषा के माध्यम से पश्चिमी ढंग की शिक्षा-प्रणाली की माँग की। इसी से उनके प्रगतिशील विचारों का पता चल जाता है। भारतीय भाषाओं के वे प्रकांड विद्वान थे। शास्त्रों के प्रति उन्हें पूरी आस्था थी। परन्तु फिर भी राष्ट्रीय जागृति के महान लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अनुभव किया कि भारत की प्राचीन भाषाओं के स्थान पर अंग्रेजी भाषा का प्रचार आवश्यक था। अंग्रेजी भाषा ही वह कुंजी थी जिसके बल पर यूरोपीय विचारधारा और विज्ञान के अथाह भंडार को ढूँढ़ा जा सकता था। राममोहन राय ने गवर्नर जनरल को प्रार्थनापत्र देकर आधुनिक शिक्षा-प्रणाली अपनाये जाने की माँग की। १८१७ में कलकत्ता में हिन्दू कालेज की स्थापना की गयी। राममोहन राय ने इस कालेज की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। १८२२ में उन्होंने ऐंग्लों-हिन्दू स्कूल स्थापित किया। १८२५ में उन्होंने वेदांत कालेज स्थापित किया। इस प्रकार वे केवल नवीन शिक्षा-प्रणाली के अपनाने की माँग ही नहीं करते रहे अपितु कलकत्ता और उसके आसपास विभिन्न श्रेणियों के विद्यालय उन्होंने स्थापित किये अथवा उनकी स्थापना में सक्रिय सहयोग दिया।

१८३० में राममोहन राय ने यूरोप की यात्रा आरंभ की। वे समुद्री मार्ग से गये। फ्रांस, ब्रिटेन आदि विभिन्न यूरोपीय देशों की व्यवस्था को निकट से देखने का प्रयत्न करने वाले वे पहले प्रमुख भारतीय थे। अभी तक भारत में तो हजारों यूरोपीय आ चुके थे लेकिन भारत के लोग यूरोप नहीं जाते थे। भारत और यूरोप के बीच केवल एकपक्षीय सम्बन्ध थे। राममोहन ने इस यात्रा से इस स्थिति को बदलने की कोशिश की। लेकिन दुर्भाग्य से १८३३ में ब्रिटेन में ही उनकी मृत्यु हो गयी। इस कारण यूरोप से वापस आकर वे अपने विचारों को अभिव्यक्त नहीं कर सके।

राममोहन राय भारतीय नवोत्थान के एक महान् पथ-प्रदर्शक थे। हमारे देश में यूरोपीय प्रभाव से जो बौद्धिक कोलाहल जन्मा उसका सूत्रपात करने का श्रेय उन्हीं को है। वे प्रगतिशील समाज-सुधारक के रूप में सर्वदा याद किये जायेंगे। समाज को प्रगति के पथ पर चलाने के लिए ही उन्होंने धार्मिक सुधारों की माँग भी की। ब्रह्म समाज की उन्होंने स्थापना की। लेकिन इस संस्था को सबल बनाने का उन्हें अवसर नहीं मिला। विभिन्न क्षेत्रों में उनके कार्यों से तथा उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा से उनके सशक्त व्यक्तित्व का परिचय मिलता है।

राममोहन राय ने अपने व्यक्तिगत प्रभाव के द्वारा समाज-सुधार किया, ब्रह्म समाज के नेता के रूप में नहीं। ब्रह्म समाज की स्थापना के पहले ही वे समाज को प्रगति का पथ दिखा चुके थे। वे व्यापक ढंग से कार्य करते हुए सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधार की तीनों धाराओं को दिशा दे सके।

वे इन तीनों प्रकार के विचारों में तालमेल बिठाकर यह सिद्ध कर सके कि राष्ट्रीय उत्थान के महान कार्य के लिए सभी क्षेत्रों में परिवर्तन लाने की जरूरत थी। परन्तु उनके बाद के प्रणेताओं के लिए सुधार-आंदोलन के विभिन्न पहलुओं को जोड़ना कठिन हो गया।

ब्रह्म समाज आंदोलन की प्रगति

राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद भी यदि ब्रह्म समाज आंदोलन ने प्रगति की तो इसका श्रेय मुख्यतः देवेंद्रनाथ ठाकुर और केशवचंद सेन को दिया जाना चाहिये। राममोहन ने १८२८ में समाज की स्थापना की थी और उसके दो वर्ष पश्चात् वे विदेश चले गये। १८३३ में उनका देहावसान हो गया। इस प्रकार जिस वृक्ष का वे बीजारोपण कर गये थे वह अभी कमजोर पौधे के रूप में ही था। उसे सींचने और पल्लवित करने का उन्हें अवसर नहीं मिला था। ऐसी स्थिति में ब्रह्म समाज की प्रगति का कार्य देवेंद्रनाथ ठाकुर ने सँभाला। इसी कारण कुछ लेखकों ने विचार प्रकट किया है कि यदि राममोहन राय द्वारा स्थापित संस्था को सशक्त बनाये रखने के उपाय न किये जाते तो यह संभवतः अधिक समय तक कार्य न कर पाती। देवेंद्रनाथ ने समाज में नयी जान डाली, उस संगठन को शक्तिशाली बनाया और उसकी विचारधाराओं, संस्कारों और सिद्धांतों की पुनः व्याख्या की।

देवेंद्रनाथ ठाकुर का परिवार बंगाल का बहुत ही संपन्न, सुसंस्कृत और प्रभावशाली परिवार था। वे स्वयं बड़े प्रतिभावान व्यक्ति थे। १८४३ में ब्रह्म समाज का नेतृत्व सँभालकर उन्होंने इस संगटन को नयी दिशा दी। उनके प्रभाव के कारण समाज के अन्य लोग भी ब्रह्म समाज की ओर आकृष्ट हुए। देवेंद्रनाथ और राममोहन के विचारों में कुछ भिन्नता दिखायी देती है। राममोहन की तरह वे ईसाई धर्म को आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। कहीं भी देवेंद्रनाथ बाइविल की चर्चा नहीं करते थे। वे ईसाई पादरियों का डटकर मुकाबला करते रहे।

ब्रह्म समाजियों के सिद्धान्तों में कुछ अन्य परिवर्तन भी इसी समय दिखायी दिये। अब वेदों को ईश्वरोक्त नहीं माना जाता था। यह कहा गया कि ब्रह्म समाजी किसी शास्त्र को धर्म का आधार न मानकर मानव हृदय में उपजे आत्मज्ञान में धर्म का आधार स्वीकार करेगा। आध्यात्मिक ज्ञान पर बल दिया गया। अवतारवाद को अस्वीकार किया गया। उपनिषदों की पवित्रता स्वीकार की गयी। देवेंद्रनाथ ने दो जिल्दों में ब्रह्मधर्म नामक पुस्तक लिखी जो उपनिषदों पर आधारित थी।

देवेंद्रनाथ ठाकुर ने ब्रह्म समाज को और अधिक शक्तिशाली बनाया तथा धर्म-सुधार की प्रक्रिया तेज की। इसी काल में ब्रह्म समाजी जीवन-दर्शन को तर्क और विवेक पर आधारित करने का प्रयास किया गया। हिन्दू धर्म का दार्शनिक पक्ष क्रमशः निखरा। धर्म को सरल बनाने का कार्य किया गया। देवेंद्रनाथ और उनकें सहयोगियों ने ब्रह्म समाज तथा हिन्दू समाज के बीच विशेष सम्बन्ध को महत्त्व दिया।

केशवचंद्र सेन

देवेंद्रनाथ और उनके सहयोगी हमेशा ब्रह्म समाज और हिन्दू धर्म के बीच विशेष प्रकार के संबधों पर जोर देते रहे। मूर्तिपूजा प्रथा को समाप्त करना और अंधविश्वासों को मिटाना ऐसे सिद्धांत थे जिनके द्वारा हिन्दू धर्म के परंपरागत स्वरूप को शुद्ध करने की बात कही गयी। बाद में यदि ब्रह्म समाज इस स्थिति से हटा तो यह केशवचंद्र सेन के प्रभाव का परिणाम था जिन्होंने १८५७ में ही समाज की सदस्यता ग्रहण कर ली थी और जो कुछ वर्षों में ही इसके अग्रगण्य

नेता हो गये। १८६२ में देवेंद्रनाथ ठाकुर ने केशवचंद्र को समाज के प्रधान आचार्य के पद पर नियुक्त कर दिया। इस प्रकार समाज के इतिहास में पहली बार पुरोहिती कार्य करने का उत्तरदायित्व एक ऐसे व्यक्ति को मिला जो ब्राह्मण नहीं था। जाति-प्रथा के बंधनों को अस्वीकार करके ब्रह्म समाज ने एक साहसपूर्ण कार्य किया था।

केशवचंद्र सेन का जन्म १८३८ में बंगाल के एक प्रतिष्ठित और संपन्न परिवार में हुआ था। कलकत्ता के हिन्दू कालेज में उन्होंने शिक्षा ग्रहण की। कालेज की शिक्षा प्राप्त करते हुए वे अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित हुए। प्रमुख यूरोपीय विचारकों के ग्रंथों का उन्होंने अध्ययन किया। संस्कृत भाषा का अध्ययन उन्होंने नहीं किया था और न ही प्राचीन धर्मग्रंथों के प्रति उनकी रुचि ही थी। राममोहन राय और केशवचंद्र सेन के विचारों में जो अंतर दिखाई देते हैं उनका मूल कारण यही है कि जहाँ राममोहन राय भारतीय दर्शन से प्रेरणा लेते हैं वहाँ केशवचंद्र सेन यूरोपीय दर्शन से। राममोहन राय भारतीय परंपरा के आधार पर पश्चिमी विचारों की विवेचना कर रहे थे परंतु केशवचंद्र सेन पश्चिमी दर्शन और विचारों के आधार पर भारतीय परंपरा और विचारधारा की परीक्षा कर रहे थे। कम से कम आरंभिक दशकों में तो स्थिति ऐसी ही थी। बाद में जब केशवचंद्र अध्यात्म की ओर और अधिक मुड़े तब वे भारतीय भक्ति-परंपरा से अधिक प्रभावित दिखायी दिये। यह स्मरण रखना आरंभ से ही आवश्यक है कि केशवचंद्र सेन ईसाई धर्म से बहुत कुछ प्रभावित थे। कुछ लेखकों ने तो यहाँ तक कहा है कि उन्होंने ब्रह्म समाज को ईसाई धर्म की ओर मोड़ा।

यूरोपीय दर्शन और विचारधारा का अध्ययन करने पर केशवचंद्र सेन के मस्तिष्क में तरह-तरह के प्रश्न उठे। तत्कालीन समाज के स्वरूप को देखकर वे गहरी चिंता में पड़ गये और इसी स्थिति में वे ब्रह्म समाज में आये। केशवचंद्र सेन ने स्वयं कहा है कि 'अंग्रेजी शिक्षा से मेरे मस्तिष्क में उथल-पुथल मच गयी थी जिसके कारण मुझे मानसिक रिक्तता अनुभव होने लगी।' इसी समय उनको ब्रह्म समाज का परिचय प्राप्त हुआ और वे उसमें शामिल हो गये।

केशवचंद्र सेन के आते ही ब्रह्म समाज में तेजी आ गयी, नये सवाल उठाये गये और सामाजिक चेतना एक बार फिर जगी। देवेंद्रनाथ ठाकुर के नेतृत्व में सारा विचार-विमर्श सैद्धांतिक था। केशवचंद्र सेन ने ब्रह्म समाज को व्यावहारिक सुधारों की ओर प्रेरित किया। केशवचंद्र ने समाज के अन्तर्गत 'संगत सभा' संगठित की जिसके द्वारा सामाजिक परिवर्तन के कार्य करने के लिए नवयुवकों को प्रेरित किया गया। संगत सभा के सदस्यों ने एक मुख्य निर्णय यह किया कि वे जाति को नहीं मानेंगे। यज्ञोपवीत धारण करने का विरोध किया गया। इसी समय ब्रह्म समाज के अनुष्ठानों को भी नया स्वरूप दिया गया। केशवचंद्र सेन ने 'ब्रह्म समाज अनुष्ठान' नामक पुस्तक लिखकर नये ढंग के संस्कार चलाये १८६२ में केशवचंद्र समाज के प्रधान आचार्य बन गये थे। देवेंद्रनाथ के अलावा वे ब्रह्म समाज के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हो गये थे।

केशवचंद्र ने सबसे पहले शिक्षा के प्रसार का कार्य अपने हाथ में लिया। उन्होंने पहली पुस्तक शिक्षा की समस्याओं पर ही प्रकाशित की। वे यह चाहते थे कि बौद्धिक जागृति का आधार धर्म हो। 'ईश्वरविहीन' शिक्षा प्रणाली से वे संतुष्ट नहीं थे। स्त्रियों को शिक्षित करने की कोशिश की गयी। १८६१ में एक पत्र का प्रकाशन आरंभ किया गया। प्रत्येक महीने में दो बार प्रकाशित

होने वाले इस पत्र का नाम 'इंडियन मिरर' रखा गया जो लगातार प्रगति करता गया और आगे चलकर राष्ट्रीय भावना को जागृत करने वाला प्रमुख पत्र बना। केशवचंद्र ने पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, व्याख्यानों आदि के माध्यम से जनजागृति का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

केशवचंद्र सेन ने सामाजिक जागृति और धार्मिक सुधारों के संबंध को हमेशा स्वीकार किया। उनका दृढ़ मत था कि धार्मिक पुनर्जागरण के बिना सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सकता था। यही कारण है कि वे धर्म-सुधार और सामाजिक सुधार को समान रूप से महत्त्व देते थे। इस विवाद में पड़ने की आवश्यकता नहीं है कि मूलतः ये समाज-सुधारक थे अथवा धर्म-सुधारक। दिखायी यही देता है कि उन्होंने इन दोनों प्रकार के सुधारों को आवश्यक माना। एक स्थान पर उन्होंने अपना मत स्पष्ट करते हुए कहा : 'मैं सामाजिक पुनर्जागरण के महत्त्व को कम नहीं मानता परन्तु तुम्हारे सभी सुधार-आंदोलनों का केन्द्रबिन्दु धर्म होना चाहिये . . धर्म के आधार पर ही पुनर्संगठित, परिवर्तित और नवजागृत भारत भविष्य में विकास के पथ पर आगे बढ़ेगा।' इस वक्तव्य से यह साफ जाहिर है कि केशवचंद्र सेन सामाजिक सुधार के लिए सतत् प्रयत्न करते रहे परन्तु उनकी प्रेरणा का स्रोत धर्म था।

समाज-सुधार के लिए केशवचंद्र सेन में जो व्यग्रता दिखाई देती है उसके दो कारण थे। वे राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत थे। राष्ट्रीय विकास के लिए उन्हें सामाजिक चेतना परम आवश्यक दिखाई दी। १८६० और १८७० के दशक में भारत में नवीन राष्ट्रीय उत्थान की लहर उठने लगी थी जिसके प्रणेता केशवचंद्र थे। उनकी व्यग्रता का दूसरा कारण था पश्चिम का प्रभाव। अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी विचारों से प्रभावित होकर वे सामाजिक सुधार की ओर उन्मुख हुए। जाति-प्रथा का विरोध करने वाले वे एक प्रमुख नेता थे। स्त्रियों की दशा सुधारने की उन्होंने आरंभ से कोशिश की। उनके प्रगतिशील विचारों को लेकर ही ब्रह्म समाज आंदोलन में दरार पड़ गयी। बहुत से ब्रह्म समाजी उनके सुधार कार्यक्रम से चौंके। परिणामतः १८६५ में ब्रह्म समाज दो भागों में विभक्त हो गया। केशवचंद्र सेन ने जो नया संगठन बनाया वह 'भारतीय ब्रह्म समाज' कहलाया और देवेंद्रनाथ तथा उनके समर्थकों ने परम्परागत स्वरूप को बनाये रखते हुए अपने संगठन को 'आदि ब्रह्म समाज' का नाम दिया। केशवचंद्र सेन ने जो नया ब्रह्म समाज स्थापित किया था उसका मुख्य लक्ष्य था सामाजिक सुधार की गति को तेज करना। देवेंद्रनाथ के समर्थक इस प्रकार की माँग के हामी नहीं थे।

सामाजिक सुधार का प्रतिपादन करते हुए केशवचंद्र ने केवल बंगाल के समाज तक ही अपना ध्यान सीमित नहीं रखा। वे संपूर्ण देश को सामाजिक विकास की परिधि में लाने के लिए आगे बढ़े। वे पहले प्रमुख व्यक्ति थे जिन्होंने व्यापक भारतीय समाज-सुधार आंदोलन को नयी दिशा दी। पहले उन्होंने उत्तर भारत का दौरा किया और फिर १८७० में वे यूरोप की यात्रा पर गये। इन यात्राओं और अनुभवों के आधार पर वे और भी सक्रिय होकर कार्य करने लगे। उन्होंने लौटकर आते ही समाज-सुधार संघ की स्थापना की जिसको अंग्रेजी नाम से ही पुकारा जाता था। इससे यह समझा जा सकता है कि किस सीमा तक यूरोपीय प्रभाव ब्रह्म समाज आंदोलन को प्रभावित कर रहा था। समाज-सुधार संघ के माध्यम से उन्होंने शिक्षित वर्ग को नैतिक तथा सामाजिक दशा सुधारने में संगठित किया। इस संघ के मुख्य उद्देश्य थे जनकल्याण

के लिए धन इकट्ठा करना, नारी-शिक्षा, प्राविधिक तथा सामान्य शिक्षा, नशाबंदी और सस्ते साहित्य की उपलब्धि। नारी शिक्षा के विकास के लिए कलकत्ता में १८७१ में दो प्रकार के स्कूल खोले गये महिलाओं को प्रशिक्षित करने के लिए नार्मल स्कूल और वयस्क महिलाओं को अलग से पढ़ाने के लिए स्कूल खोला गया। महिलाओं की स्थिति पर विचार करने के लिए एक अलग संगठन बनाया गया जिसे वामाहितैषिणी सभा कहा गया। इस सभा ने अलग से एक पत्रिका निकाली। वामावोधिनी पत्रिका द्वारा इस विषय में लिखा जाने लगा। कुछ समय बाद शिक्षा के अन्य स्तरों तक पढ़ाई की व्यवस्था हुई। केशवचंद्र ने मादक द्रव्यों की खपत के विरुद्ध आवाज उठायी और इस संवंध में सरकार की उपेक्षा की आलोचना की। उनका कहना था कि नशाबंदी को रोकने के कारगर उपाय करने की जरूरत थी। 'मदन-गरल' नामक एक मासिक पत्र केशवचंद्र ने निकाला जिसका नामकरण यह मानकर किया गया था कि शराब एक प्रकार से जहर थी। १८७६ में उनके प्रयास से एक औद्योगिक स्कूल की स्थापना की गयी जिसमें विभिन्न प्रकार की दस्तकारी कें कार्य सिखलाये जाते थे।

सामाजिक प्रगति के इन प्रयासों के अलावा केशवचंद्र सेन विवाह-प्रणाली में परिवर्तनों की माँग कर रहे थे। ब्रह्म समाज की यह माँग थी कि जिस विशेष पद्धति के अनुसार वह विवाह करा रहा था। उसकी वैधता को स्वीकार करते हुए सरकार एक विशेष कानून बनाए। १८७२ में केन्द्रीय सरकार ने इसे स्वीकार कर लिया। 'सिविल मैरेज अधिनियम' १८७२ में पारित कर दिया गया। यह कानून वहीं लागू होता था जहाँ दो जातियों अथवा दो धर्मों के लोग विवाह करते थे। इसका व्यापक उपयोग नहीं हो सका। इस अधिनियम में यह व्यवस्था हो गयी कि बाल-विवाह न हो, कोई भी व्यक्ति एक से अधिक महिला से विवाह न करे, विधवा-विवाह और अंतर्जातीय विवाह को भी वैध मान लिया गया था। केन्द्रीय सरकार ने कानून बनाकर केशवचंद्र सेन की इन माँगों को स्वीकार कर लिया। लेकिन कुछ ही वर्षों बाद १८७८ में जब केशवचंद्र ने अपनी चौदह वर्ष की लड़की का विवाह कूच बिहार के राजा के साथ कर दिया तो ब्रह्म समाजियों को ठेस लगी। यह विवाह हिन्दू पद्धति से हुआ था। इसी विवाह को लेकर उस ब्रह्म समाज में पुनः दरार पड़ गयी जिसका वे नेतृत्व कर रहे थे। केशव के विरोधियों ने साधारण ब्रह्म समाज बना लिया। इस घटना के बाद केशवचंद्र सामाजिक सुधार-कार्यक्रमों से हटकर आध्यात्मिक चिंतन की ओर झुक गये।

ब्रह्म समाज का योगदान

ब्रह्म समाज उन्नीसवीं सदी का पहला सामाजिक-धार्मिक आंदोलन था जो लंबे समय तक चलता रहा। राजा राममोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर और केशवचन्द्र सेन के अलावा कई अन्य प्रमुख व्यक्तियों ने इसकी सफलता में योगदान किया। भारतीय नवोत्थान को दिशा देने का महत्त्वपूर्ण कार्य इस समाज ने किया। समूचे देश में बौद्धिक कोलाहल जगाना इसका मुख्य लक्ष्य था।

ब्रह्म समाज एक सुधारवादी आंदोलन था। इसके प्रणेताओं ने धर्म और समाज दोनों के बीच के निकट संवंधों को स्वीकार करते हुए जब प्रगतिशील परिवर्तनों का प्रयास किया तो कई

बार वे यह निर्णय नहीं कर सके कि किस प्रकार के सुधारों की अधिक आवश्यकता थी। यह भी स्मरण रखना होगा कि इस समय समाज के क्रमिक विकास पर ही ध्यान नहीं दिया गया, किसी प्रकार के क्रांतिकारी सुधारों की चर्चा नहीं की गयी। इसी से कई बार ऐसा आभास होता है कि ब्रह्म समाज के नेताओं का उद्देश्य सीमित था।

'दिनकर' का मत है कि ब्रह्म समाजी नेता 'शरमाये हुए सूरमा' थे। उनका संघर्ष रक्षात्मक था। वे यूरोपीय प्रभाव से घबराए हुए थे तथा ईसाई धर्म के विस्तार को रोकने का मार्ग तलाश कर रहे थे। ब्रह्म समाज आंदोलन के इस पक्ष को लेकर तत्कालीन समाज में अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई।

यह आंदोलन अधिक प्रभावकारी न हो सका। इसका प्रभाव बहुत कुछ बंगाल तक ही सीमित रहा। देश के अन्य भागों में इसका प्रत्यक्ष प्रभाव अधिक नहीं पड़ा। फिर भी अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षित जनसमुदाय ने इससे प्रेरणा ग्रहण की। ब्रह्म समाज आंदोलन किसी भी क्षेत्र में जन-आंदोलन नहीं बन सका। यह थोड़े से पढ़े-लिखे लोगों और उनके परिवारों तक सीमित रहा। यही कारण है कि जनसाधारण इससे अधिक प्रभावित नहीं हुआ।

ब्रह्म समाज ने राष्ट्रीय आंदोलन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इसने राष्ट्रीय चेतना की भूमिका तैयार की। यह स्वाभाविक ही था कि ब्रह्म समाज के कई नेता आगे चलकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रमुख नेता बने और इसी के प्रभाव के कारण बंगाल में राजनीतिक जागरूकता अन्य क्षेत्रों की तुलना में अधिक थी।

स्वामी दयानन्द और आर्य समाज

उन्नीसवीं सदी में जो सामाजिक-धार्मिक जागृति हुई उसमें ब्रह्म समाज के प्रणेता यूरोप से प्रभावित दिखाई दिये। उनका संघर्ष रक्षात्मक था। किन्तु स्वामी दयानन्द का रुख ब्रह्म समाजी नेताओं से नितांत भिन्न था। वे भारत में उभरते हुए सांस्कृतिक आत्माभिमान के प्रतीक थे। १८५७ के पश्चात् देश में पुनः आत्मविश्वास बढ़ रहा था। इसी समय दयानन्द का आविर्भाव हुआ। उनकी वाणी में उग्रता थी, चुनौती थी और ललकारने की शक्ति थी। ब्रह्म समाज और आर्य समाज सामाजिक-धार्मिक नवजागृति की दो अलग-अलग धाराएँ हैं। ब्रह्म समाज आंदोलन का दायरा सीमित था। इसकी तुलना में दयानन्द ने जिस आर्य समाज का संगठन किया वह बहुत ही लोकप्रिय हुआ और इसका प्रभाव लाखों भारतीयों पर पड़ा। आर्य समाज उन्नीसवीं सदी का सबसे अधिक जनप्रिय आंदोलन था। यह नवोत्थान की दिशा में ब्रह्म समाज से आगे उठा हुआ कदम था। इसकी विशेषता थी दयानन्द का यह दृढ़ विश्वास कि भारत को नवजागरण और विकास की दिशा में आगे बढ़ने के लिए स्वयं अपने से प्रेरणा लेनी थी, किसी दूसरे देश अथवा दूसरे देश की विचारधाराओं तथा मान्यताओं से नहीं। यही कारण है कि भारतीयों में आर्य समाज के माध्यम से राष्ट्रीय भावना का संचार हुआ। उसने सभी भारतीयों को अपने देश, संस्कृति, धर्म पर गर्व करने का पाठ पढ़ाया।

दयानंद का जीवन-परिचय सैकड़ों हजारों संत-महात्माओं से किसी तरह भिन्न नहीं रहा।

उनके विषय में बहुत से तथ्यों की जानकारी हमें उपलब्ध नहीं है। गुजरात के एक परंपरावादी ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था। उनका नाम मूलशंकर बताया जाता है किन्तु कुछ इतिहासकार कहते हैं कि इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं। आरंभ से ही उन्हें संस्कृत भाषा की शिक्षा दी गयी और शास्त्रों का अध्ययन उन्होंने विधिवत् किया था। इक्कीस वर्ष की आयु में सन् १८४५ में इन्होंने घर छोड़ दिया। १८४५ से १८६० तक, करीब पंद्रह वर्षों तक, ज्ञान की खोज में एक साधारण सन्यासी की तरह देश के एक भाग से दूसरे भाग तक भटकते रहे। लेकिन छत्तीस वर्ष की आयु तक भी उन्हें कोई ऐसा गुरु नहीं मिला जो उनकी शंकाओं का समाधान करता तथा उनका मार्ग निर्देशन करता। अंततः १८६० में वे मथुरा के स्वामी ब्रजानंद के शिष्य बने। शास्त्रों के गहन अध्ययन का उनको एक और अवसर मिला। दयानंद ने अपने गुरु की आज्ञा से धर्म-सुधार का व्रत लिया। १८६६ में वे बनारस पहुँचे। यहाँ पर उनका दो विषयों को लेकर विद्वानों से शास्त्रार्थ हुआ। एक विषय था हिन्दू धर्मग्रंथों की सीमा और दूसरा मूर्तिपूजा की सत्यता। दयानंद ने यह प्रतिपादित किया कि वे वेद और उपनिषद् ही सच्चे अर्थों में हिन्दू धर्मग्रंथ हैं और उनमें मूर्तिपूजा का कोई स्थान नहीं है। इस शास्त्रार्थ से उनकी धाक जम गयी। सभी कोई उनकी विद्वता का लोहा मानने लगा। इसके बाद वे बंगाल गये। यह कहा जाता है कि उन्होंने केशवचंद्र सेन से बातचीत की। १८७४ में दयानंद ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की जो मूलतः हिन्दी में इसी उद्देश्य से लिखा गया था जिससे सभी कोई इसका अध्ययन कर सके। १८७५ में दयानंद ने आर्य समाज नामक नया संगठन स्थापित किया। वे कुछ समय तक ही इसे सगठित कर सके और १८८३ में ५६ वर्ष की आयु में अचानक उनका निधन हो गया।

धार्मिक विचार और दर्शन

दयानंद मूलरूप से एक महान् दार्शनिक और धार्मिक व्यक्ति थे। धर्म उनकी विचारधारा का केन्द्रबिंदु था। उनकी यह मान्यता थी कि धार्मिक सुधारों के द्वारा ही भारतीय समाज में जागृति आ सकती थी और राष्ट्रीय विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकता था। तत्कालीन स्थिति को देखकर ही वे भली प्रकार से अनुभव कर रहे थे कि भारत की अवनति का मूल कारण यह था कि हिन्दू तरह-तरह के पाखंडों में फँसे हुए थे। हिन्दुओं में जो विभिन्न प्रकार के संस्कार पनप चुके थे, जो बाह्य आडंबर धर्म के नाम पर फैलाये गये थे वे धर्म की अवनति दिखाते थे। धर्म के इस स्वरूप के प्रचलन का कारण था पुरोहितवाद जो हिन्दू धर्म पर छाया हुआ था। दयानंद ने इस पुरोहितवाद की तीव्र भर्त्सना की, धर्म के नाम पर तरह-तरह के प्रचलित संस्कारों का उन्होंने विरोध किया तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप पर सबका ध्यान केन्द्रित करने का व्रत लिया। मंदिरों की पूजा, उपासना, तीर्थ-यात्रा, व्रत-उपवास आदि संस्कारों की उन्होंने आलोचना की।

दयानंद मूर्तिपूजा के कट्टर विरोधी थे। शास्त्रों का आधार लेकर उन्होंने सिद्ध किया कि मूर्तिपूजा उचित नहीं थी। वे ईश्वर को निराकार मानते थे। उनका मत था कि ईश्वर अनादि, अजन्मा तथा सर्वेश्वर होने के कारण व्यापक है। उनका कहना था कि वह व्याप्य हो ही नहीं सकता था। वे अवतारवाद का भी समर्थन नहीं करते थे।

स्वामी जी की धार्मिक मान्यताओं का मुख्य आधार था वेद। उस समय भारत के लिए किसी नये पंथ अथवा संप्रदाय की आवश्यकता नहीं थी। आवश्यकता थी एक ऐसे व्यापक धर्म की जिसे सभी कोई स्वीकार कर लेता। इस कारण दयानंद ने हिन्दू धर्म के मूल स्वरूप पर बल दिया – उस स्वरूप को जिसका निरूपण वेदों और उपनिषदों में हुआ था। जिस प्रकार मुसलमानों के आधारभूत सिद्धांत कुरान में, ईसाइयों के सिद्धान्त बाइबिल में निहित थे उसी प्रकार दयानंद ने वेदों को हिन्दू धर्म का आधार बनाया। वे जानते थे कि वेद किसी प्रकार की कुरीतियों अथवा अंधविश्वासों को स्वीकार नहीं करते थे। दयानंद हिन्दू धर्म के सुदृढ़ वैदिक आधार पर ही सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन की ओर बढ़े। वेदों और उपनिषदों के अलावा उन्होंने किसी दूसरे धार्मिक ग्रंथ को स्वीकार नहीं किया।

स्वामी दयानंद ने किसी नये धर्म का कभी भी प्रचलन नहीं करना चाहा। वे तो हिन्दू धर्म के मूल स्वरूप का निरूपण करने में ही व्यस्त रहे। वे परम ज्ञानी पुरुष थे। वाद-विवाद में कोई भी उनका मुकाबला नहीं कर सकता था। अपनी प्रकांड योग्यता के बल पर ही उन्होंने वेदांत को एक नया आधार प्रदान किया।

इस समय दयानंद के द्वारा हिन्दू धर्म का उग्रवादी स्वरूप निखरा। जहाँ एक ओर उन्होंने हिन्दू धर्म की पूजा-उपासना के पाखंडों का विरोध किया वहाँ दूसरी ओर उन्होंने इस्लाम और ईसाई धर्म की खुली आलोचना भी की। इन दोनों धर्मों का एक प्रधान उद्देश्य था धर्म का प्रचार करना तथा दूसरे धर्मों के अनुयायियों को अपने धर्म में लाने की कोशिश करना। पर हिन्दू धर्म अन्य धर्म के लोगों को अपने धर्म में शामिल नहीं करता था। आर्य समाज को स्थापित करके दयानंद ने धर्म-परिवर्तन को स्वीकार किया और शुद्धि करके अन्य धर्म के अनुयायियों को हिन्दू धर्म में शामिल कराने की व्यवस्था की। शुद्धि और संगठन करके उन्होंने हिन्दू धर्म में उग्रता का संचार किया अथवा दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि हिन्दू-समाज में आत्मविश्वास जगाया।

सामाजिक जागृति

दयानंद ने प्रगतिशील सामाजिक सुधारों का प्रतिपादन करके सामाजिक नवचेतना को एक नयी दिशा प्रदान की। समाज में प्रचलित अंधविश्वासों को दूर करके तथा पुरोहितों के प्रभाव का विरोध करके उन्होंने सामाजिक जागृति का आधार तैयार किया। आर्य समाज की स्थापना करके उन्होंने एक ऐसा संगठन तैयार किया जो सामाजिक सुधार के लिए भविष्य में भी प्रयत्नशील बना रहा। समाज में सभी को समान अवसर दिये जाने की माँग दयानंद ने की। जिस प्रकार की सामाजिक संरचना का प्रतिपादन वे कर रहे थे उसकी विशेषता थी अधिकारों की समानता तथा सामाजिक विशेषाधिकारों का हर स्थिति में विरोध।

दयानंद ने जाति और वर्ण में भेद किया। उनका आदर्श था वैदिककालीन सामाजिक व्यवस्था जिसमें चारों वर्ण गुण के अनुसार स्वीकार किये गये थे, जन्म के आधार पर नहीं। दयानंद का कहना था कि चार वर्ण समाज के लिए उपयोगी थे क्योंकि समाज के सभी व्यक्तियों को गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार अलग-अलग वर्णों में बाँटना अनुचित नहीं था। सभी

लोग एक प्रकार के स्वभाव के हो भी नहीं सकते थे। इस प्रकार वे जन्म के आधार पर नहीं बल्कि गुण तथा कर्म के अनुसार सामाजिक वर्गीकरण को मानते थे। पर उन्होंने जातिप्रथा के उस तत्कालीन स्वरूप का विरोध किया जिसके अनुसार अलग-अलग जातियाँ और उपजातियाँ बनी हुई थीं। इस परंपरा के द्वारा कुछ को समाज में विशेषाधिकार मिले हुए थे, अन्य जातियों को ये अधिकार प्राप्त नहीं थे। दयानंद ने जाति-प्रथा पर आधारित सामाजिक असमानता का विरोध किया और केवल गुण-कर्मों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार किया जिसके अनुसार कोई भी व्यक्ति वैदिक परम्परानुसार एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जा सकता था।

दयानंद ने अछूतोद्धार की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया। जातिप्रथा के विरोध में आवाज उठाकर उन्होंने समाज के कमजोर वर्गों का साथ दिया। उनका स्पष्ट मत था कि हिन्दू समाज में प्रचलित छुआछूत एक अभिशाप था और किसी भी वर्ग को हमेशा के लिए निम्न श्रेणी में रख देना अनुचित था। दयानंद पहले सुधारक थे जिन्होंने यह जोर देकर कहा कि शूद्र वर्गों को सामान्य शिक्षा का ही नहीं वेदों का अध्ययन करने का भी अधिकार है।

हिन्दू समाज में स्त्रियों को उचित स्थान देने के तथा स्त्रियों को सभी प्रकार के अधिकार दिलाने के दयानंद हामी थे। उन्होंने यह कहा कि उनकी उन्नति के लिए शिक्षा में समान अवसर दिलाना चाहिये। आर्य समाज ने हर प्रकार के स्कूल और कॉलेज खोलकर स्त्रियों को शिक्षित करने के प्रयास किये। उनका मत था कि परदा प्रथा गलत थी। स्त्रियों को घर से बाहर आकर धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानों में भाग लेने का अवसर देने की उन्होंने राय दी।

वैवाहिक-परंपराओं के कारण भी हिन्दू समाज में तरह-तरह की कुप्रथाएँ प्रचलित थीं। दयानंद ने बाल-विवाह का विरोध किया और सोलह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करने की प्रथा के विरुद्ध मत दिया। उनका यह भी कहना था कि स्त्री-पुरुष का एक से अधिक विवाह हो सकता था। इस प्रकार विधवा-विवाह को उन्होंने स्वीकार किया। वे विवाह को स्त्री तथा पुरुष सभी के लिए आवश्यक मानते थे क्योंकि उनकी मान्यता थी कि गृहस्थाश्रम के कर्तव्य से किसी को विमुख नहीं होना चाहिये। दयानंद परंपरागत आश्रम-व्यवस्था को स्वीकार करते थे।

आर्य समाज की स्थापना

दयानंद ने अनुभव किया कि सामाजिक-धार्मिक पुनरुत्थान केवल व्यक्तिगत संघर्ष से नहीं किया जा सकता था बल्कि इसके लिए किसी ऐसे संगठन की आवश्यकता थी जो किन्हीं निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अनवरत कोशिश करता रहे। व्यक्तिगत प्रयास के अलावा सामूहिक और संगठित प्रयास करना उन्होंने स्वीकार किया। इसी उद्देश्य से आर्य समाज की स्थापना १८७५ में की गयी। बंबई और अहमदाबाद में सबसे पहले ये संगठन बनाये गये। इसके बाद पंजाब और उत्तर प्रदेश के विभिन्न स्थानों में आर्य समाज की शाखाएँ खोली गयीं। इन दोनों प्रांतों में यह आंदोलन शीघ्र ही जनआंदोलन बन गया। हजारों लाखों लोग आर्यसमाज के सदस्य बने तथा इनके सभाओं-सम्मेलनों में भाग लेने लगे। दयानंद कुछ वर्षों तक ही आर्य समाज का नेतृत्व कर सके। १८८३ में उनकी अचानक मृत्यु हो गयी। लेकिन कुछ वर्षों में ही उन्होंने अपने

विचारों से समाज में जागरूकता ला दी थी। उनके शिष्यों तथा अनुयायियों ने स्थान-स्थान पर सभाएँ कीं, भाषण दिये तथा सुधार-कार्यक्रम सभी के सम्मुख रखा।

आर्य समाज के माध्यम से दयानंद के धार्मिक और सामाजिक सुधार-कार्यक्रमों पर व्यापक चर्चा हुई। यह समाज उनके विचारों का दर्पण बना। उनके व्यक्तिगत आकर्षण के कारण ही आर्य समाज उन्नीसवीं सदी का सबसे अधिक सफल आंदोलन हुआ। आर्य समाज में धार्मिक नियमों की ऐसी सरल व्याख्या की गयी जिसे सभी कोई अंगीकार कर सकता था। जीवन के उच्च आदर्श प्रस्तुत किये गये। आर्य समाज के नियमों से स्पष्ट है कि दयानंद उच्च मानव धर्म के प्रवर्तक थे। वे धर्म के ऐसे स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे थे जो सभी के हित में हो और सभी के लिए कल्याणकारी हो। आर्य समाज के द्वारा सामाजिक सुधार का समर्थन किया गया, शिक्षा के विकास को नयी दिशा दी गयी तथा समाज के कमजोर वर्गों के दिलों में आशा बँधी।

राष्ट्रवादी प्रणेता

दयानंद एक प्रखर बुद्धिवादी तथा राष्ट्रवादी सुधारक थे जिनका मुख्य उद्देश्य था भारतीयों में आत्मविश्वास जगाना। यूरोपीय प्रभाव की चकाचौंध में लोग भारतीय संस्कृति की आलोचना करने लगे थे। दयानंद ने भारतीयों को समझाया कि राष्ट्रीय उत्थान के बीज इसी देश की संस्कृति और सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान थे। आवश्यकता थी उन स्रोतों को पहचानने की। एक बार भारतीयों को जगाने की आवश्यकता थी तथा उनमें नवचेतना जागृत करने की जरूरत थी। इसके बाद न तो ईसाइयत से खतरा था और न यूरोपीय भाषाओं अथवा आचार-विचारों से। जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना भारत में प्रबल होती गयी, पश्चिम की ओर देखने की प्रवृत्ति निर्बल होती गयी। दयानंद का स्वर राष्ट्रीय चेतना का स्वर था।

राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति के लिए एकीकरण अपेक्षित था। भारतीय समाज में एकता लाने का कार्य करने के लिए आर्य समाज की शाखाओं का जाल फैलाया गया। दयानंद जिस पृष्ठभूमि में कार्य कर रहे थे उसमें एकीकरण न तो केवल हिन्दुत्व के आधार पर हो सकता था और न ईसाइयत अथवा इस्लाम के आधार पर। आवश्यकता एक ऐसे मार्ग की थी जो यूरोप की विज्ञानवादिता के समक्ष युक्ति-युक्त हो और भारतीय होने के साथ-साथ हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत से भिन्न हो। फिर भी उसमें सामाजिक एकीकरण का ओज होने की जरूरत थी। यह मार्ग दयानंद को वेदों से मिला और उन्हीं के आधार पर उन्होंने भारतीय समाज को संगठित करने का बीड़ा उठाया।

विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन

आधुनिक भारत में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया को गति देने में विवेकानंद ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। राममोहन राय और दयानंद ने जिस प्रकार के सामाजिक-धार्मिक आंदोलन को सक्रिय रूप दिया था वह नितांत बुद्धिवादी था। लेकिन विवेकानंद ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों पर एक साथ बल दिया। राममोहन राय और दयानंद ने हिन्दू धर्म के समग्र रूप को स्वीकार करने में हिचकिचाहट दिखाई। नयी परिस्थितियों के अनुसार वे केवल हिन्दू धर्म के कुछ सिद्धांतों को स्वीकार करने को ही तैयार थे। विवेकानंद ने हिन्दुओं के धर्म

और परम्पराओं पर पूर्ण आस्था प्रकट की, उनका औचित्य सिद्ध किया तथा भारतीयों में आत्मविश्वास जगाया। उन्होंने एक महान् लक्ष्य देशवासियों के सम्मुख रखा। उनका कहना था। 'हम अपनी आध्यात्मिकता और दर्शन से समूचे विश्व पर विजय-पताका फहरायेंगे।' भारत की आध्यात्मिक श्रेष्ठता तथा मानवतावादी धर्म का डंका उन्होंने देश-विदेश में बजाकर पराजित और पराधीन भारत में नयी स्फूर्ति का संचार किया। स्वाभाविक था कि इस संदेश से राष्ट्रीय भावना को बल मिला। भारतीय समाज में उन्होंने एक नयी चेतना का शंखनाद किया। उन्हें योद्धा सन्यासी कहकर पुकारा जाता था।

तीक्ष्ण बुद्धि, प्रबल मेधा तथा अद्भुत स्मरणशक्ति का परिचय विवेकानंद ने बाल्यावस्था से ही दिया था। सन् १८६३ में कलकत्ता के एक मध्यवर्गीय परिवार में उनका जन्म हुआ था। वचपन से ही वे सुन्दर और स्वस्थ थे और जैसे-जैसे वे बड़े हुए, उनका व्यक्तित्व निखरता गया। पश्चिमी ढंग के विद्यालयों में उन्होंने शिक्षा पाई और बी.ए. की परीक्षा पास की। इस दौरान उन्हें अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी विचारधारा का अच्छा ज्ञान तो हुआ ही, पर इसके साथ-साथ वे संस्कृत भाषा के ग्रंथों का भी अध्ययन कर चुके थे।

सिस्टर निवेदिता का मत है कि विवेकानंद के विचारों के तीन स्रोत थे – शास्त्र, गुरु और भारत माता। शास्त्रों का उन्होंने स्वयं अध्ययन किया तथा अपने गुरु के चरणों में बैठकर शंकाओं का निवारण भी किया। यह बात तो सर्वविदित है कि परम जिज्ञासु पुरुष नरेंद्र विवेकानंद तभी वन सके जब उन्हें गुरु रूप में रामकृष्ण परमहंस मिले। रामकृष्ण ने उनके जीवन को नयी दिशा दी। और गुरु की प्रेरणा के कारण ही विवेकानंद, धार्मिक-सामाजिक चेतना जगाने के कार्य में जुट गये। छह वर्षों तक गुरु के उपदेशों से उन्हें जो ज्ञान मिला वह विवेकानंद की महान निधि बन गया। १८८६ में रामकृष्ण के देहावसान के बाद विवेकानंद उनके उत्तराधिकारी बने। शीघ्र ही उन्होंने रामकृष्ण मिशन का संगठन स्थापित करके सांस्कृतिक जागरण के कार्यक्रम के लिए नयी संस्था बनाई। १८८८ से १८६२ तक विवेकानंद भारत का भ्रमण करते रहे। उन्होंने देश के एक भाग से दूसरे भाग तक घूम-घूमकर यह समझने का यत्न किया कि उस समय देश की क्या स्थिति थी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने देश को समझा। इसके बाद वे अमेरिका गये और १८६३ में जो सर्वधर्म सम्मेलन वहाँ हो रहा था उसमें उन्होंने भाग लिया। पहली बार जव वे वहाँ भाषण देने खड़े हुए तो उनका व्यापक प्रभाव पड़ा। लोग अचरज में पड़ गये। उनकी भाषा नये ढंग की थी। उनका संदेश निराला था। विवेकानंद किसी निश्चित पथ अथवा 'ईश्वर' की व्याख्या नहीं कर रहे थे। इसके विपरीत उन्होंने वेदांत का सहारा लेकर व्यापक सिद्धांतों की चर्चा की। तीन वर्षों तक विदेशों का दौरा करके वे १८६६ में भारत लौटे। अब तक वे इस देश में बहुत प्रसिद्ध हो चुके थे। कुछ वर्षों के बाद वे अमेरिका और यूरोप के देशों में पुनः गये। ३६ वर्ष की अल्पायु में, १६०२ में, अचानक उनकी मृत्यु हो गयी।

विलक्षण प्रतिभा पुरुष विवेकानंद बिना अपने तर्क की कसौटी पर कसे किसी बात को स्वीकार नहीं करते थे। शास्त्रों के ज्ञान का उन्होंने अध्ययन अवश्य किया और प्रभावित भी हुए। लेकिन उनका मत था कि धार्मिक तथा सामाजिक परंपराओं और मान्यताओं को तभी मानना चाहिये जब वे उचित जान पड़ें। उन्होंने बार-बार कहा : 'किसी बात पर यह सोचकर

मत विश्वास कर लो कि तुमने इसे पुस्तक में पढ़ा है। किसी बात पर इसलिये विश्वास मत करो कि किसी ने ऐसा कहा है अपितु तुम स्वयं सत्य की खोज करो।' इस प्रकार उनका संदेश था आत्मविवेचन और आत्मचिंतन। अंधानुकरण के वे कभी भी हिमायती नहीं थे। उनके गुरु रामकृष्ण ने हर समय यही आधार मानकर शिक्षा दी कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिये ईश्वरबोध और इसके लिए जिस प्रकार की भी उपासना उसे उचित जान पड़े, वह कर सकता था।

विवेकानंद ने यह विश्वास व्यक्त किया कि भारतीय जीवन का मूल आधार धर्म था। उन्होंने घूम-घूमकर बार-बार यह कहा कि इस स्रोत को उदारवादी, मानवतावादी और भाईचारे के सिद्धांतों के आधार पर विकसित करने की आवश्यकता थी। केवल भारत में ही नहीं अपितु समूचे विश्व में वे हिन्दुत्व का संदेश फैलाना चाहते थे। वे हिन्दुत्व की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते रहे। लेकिन अपने किसी भी भाषण में उन्होंने किसी दूसरे धर्म की आलोचना नहीं की। उनके लिए हिन्दुत्व उतना ही मान्य तथा श्रेष्ठ था जैसे अन्य मतावलंबी अपने-अपने धर्मों को मानते थे। वे तुलनात्मक रूप से धर्म की व्यवस्था करते रहे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विवेकानंद ने हिन्दू धर्म को समग्र रूप में स्वीकार किया। वे किसी खंड-विशेष की स्थापना नहीं कर रहे थे। वे संपूर्ण हिन्दुत्व के भाष्यकार हैं। परिस्थितिवश वे यह उचित नहीं समझते थे कि धर्म की किसी भी मान्यता को छोड़ दिया जाये। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में ईसाइयत से कोई खतरा नहीं रह गया था और इस कारण यह आवश्यकता भी नहीं थी कि मूर्तिपूजा अथवा किसी आचार-विचार को त्यागने की बात इसलिए कही जाये क्योंकि ईसाई मिशनरी और पादरी उसे अस्वीकार कर रहे थे। उनकी वाणी में भारत का आत्मगौरव और आत्मविश्वास झलकता था।

वेदांत को उन्होंने पुनर्प्रतिष्ठित किया क्योंकि वे हिन्दुत्व के उन समान आधारों की तलाश कर रहे थे जिनके द्वारा देश में राष्ट्रीय चेतना विकसित की जा सकती थी। यह समान आधार उन्हें वेदांत में मिला जिसे जनभाषा में उन्होंने प्रचारित किया। उन्होंने अपनी यह मान्यता प्रकट की कि धर्म का लक्ष्य आत्मा की प्राप्ति करना है। विवेकानंद ने प्रभावशाली ढंग से यह कहा कि आत्मा अनंत है, उसका कोई छोर नहीं है।

यूरोपीय सभ्यता को विवेकानंद ने निकट से देखा था। इस कारण उनके संबंध में उनके विचारों का अपना अलग महत्त्व है। विवेकानंद ने अन्य देशों के साथ अधिकाधिक संबंध बनाये रखने की बात कही। उनका कहना था कि 'आदान और प्रदान जीवन का नियम है और यदि भारत एक बार फिर उन्नति करना चाहता है तो यह अत्यन्त् आवश्यक है कि वह अपने खजानों को बाहर लाये और अन्य राष्ट्रों में उनका प्रचार करे और स्वयं भी दूसरे से प्राप्त करने को तैयार रहे।' जीवन का सिद्धांत विस्तारवाद पर अवलंबित था। अतः यूरोपीय सभ्यता के अच्छे विचारों को ग्रहण करने की उन्होंने राय दी।

वे धर्म का वह स्वरूप प्रस्तुत कर रहे थे जो मानव-कल्याण में सहायक हो। उन्होंने कहा कि वे ऐसे धर्म पर विश्वास नहीं करते जो विधवा के आँसू न पोंछ सके अथवा अनाथ के मुँह

में रोटी का टुकड़ा न डाल सके। उन्होंने मानवतावादी धर्म की दुहाई दी। विवेकानंद ने धर्म के संकुचित स्वरूप को कभी नहीं माना। उनका मत था कि इस देश के निवासियों की कई समस्याओं का कारण था मुक्ति की तलाश।

विवेकानंद ने अपने गुरु की स्मृति में एक नया संगठन खड़ा किया जिसकी शाखाएँ देश तथा विदेशों में खोली गयीं। रामकृष्ण मिशन ने रामकृष्ण और विवेकानंद के संदेश का प्रचार किया तथा उसे सर्वसाधारण तक पहुँचाया। प्रारंभ से ही रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य था समाज के कमजोर से कमजोर व्यक्ति का भला करना तथा उसकी सेवा करना। इस मिशन द्वारा कई विद्यालय संचालित किये गये, अस्पताल खोले गये तथा अन्य सामाजिक विपत्तियों के समय कार्य करने के लिए स्वयंसेवक तैयार किये गये। इस प्रकार जनसेवा के लिए एक नया संगठन तैयार किया गया। दिनों-दिन इस संगठन की शक्ति बढ़ती गयी और इन दशकों में इसने प्रशंसनीय कार्य किये हैं।

विवेकानन्द के सामाजिक सुधार संवंधी विचारों का अध्ययन उनके धार्मिक जागरण के संदेश के संदर्भ में ही किया जा सकता है। उनकी धारणा यह थी कि धार्मिक चेतना और सामाजिक प्रगति के प्रश्न एक दूसरे से इतने अधिक जुड़े थे कि इनको अलग नहीं किया जा सकता था। सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए उन्होंने धार्मिक जागृति की आवश्यकता समझी। धर्मान्धता, रूढ़िवाद और मिथ्या विश्वासों को दूर करने पर उन्होंने जोर दिया। डा० हेमसथ ने विचार प्रकट किया है कि "वर्तमान युग में भारतीयों के भौतिक कष्टों और मिथ्या विश्वासों की सम्भवतः सबसे अधिक तीखी, जोरदार और कटु भर्त्सना विवेकानंद ने की।" आधुनिक युग में गांधीजी को छोड़कर किसी भी अन्य भारतीय नेता ने भारतीयों के कष्टों और अज्ञानता के विषय में इतनी हिम्मत से आवाज नहीं उठाई थी। विवेकानंद ने भारतीयों की सामाजिक कमजोरियों की चर्चा इसीलिये की कि वे भारतीयों की दीनहीन दशा से क्षुब्ध थे और जो कुछ उन्होंने देखा उसका मूक दर्शक रहने के वजाय उसे सँवारने और सुधारने के लिए वे सतत् प्रयत्न करते रहे। उनकी आलोचनाओं में से एक उदाहरण ही यहाँ दिया जा सकता है। उन्होंने कहा : "खतरा यह है कि हमारा धर्म रसोई घर तक पहुँच रहा है। हम न तो वेदांती हैं, न तो पौराणिक हैं और न तांत्रिक ही। हम केवल ना-छू-देनेवाले हैं। हमारा धर्म रसोई घर में है। हमारा ईश्वर खाना पकाने वाले बर्तन में है और हमारा धर्म है--हमें मत छुओ, हम पवित्र हैं। अगर यह एक शताब्दी तक चलता रहा हो हममें से प्रत्येक व्यक्ति पागलखाने में होगा।" इन शब्दों से अंदाज लगाया जा सकता है कि विवेकानंद ने कितने साफ-साफ शब्दों में धर्म के नाम पर प्रचलित कुरीतियों की आलोचना की। किसी भी संत की तरह पूरी निर्भीकता से उन्होंने धार्मिक-सामाजिक परिवर्तन की माँग की।

वे भली प्रकार समझते थे कि सामाजिक पुनर्निर्माण करके ही राष्ट्र का उत्थान किया जा सकता था। लेकिन विवेकानंद यथार्थवादी थे। वे इस तथ्य से परिचित थे कि हजारों सालों से प्रचलित सामाजिक समस्याओं को अचानक जड़-मूल से नष्ट करना भी संभव नहीं था। अतः उन्होंने स्वीकार किया कि केवल क्रमिक सुधारों द्वारा ही सामाजिक परिवर्तन हो सकते थे। किसी प्रकार की क्रांति की सलाह उन्होंने नहीं दी। जाति-व्यवस्था की समस्या उनके समय में भी एक

पेचीदा प्रश्न बनी हुई थी। विवेकानंद ने जाति-प्रथा का विरोध किया क्योंकि इससे समाज के प्रत्येक सदस्य को ऊँचा उठने के पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं थे। व्यक्ति एक प्रकार से कठोर कटघरे में बंद हो जाता है। उनका कहना था कि आध्यात्मिक जीवन में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं होना चाहिए। उनका विश्वास था कि मनुष्य किसी जाति में रह सकता था। लेकिन उसे दूसरी जाति के लोगों से घृणा करने का कोई अधिकार नहीं था। उन्होंने प्रेम और भाईचारे के संबंधों पर जोर दिया।

गरीब, अज्ञानी और अनाथ से प्रेम करना उनके विचारों का आधार था और उनका मत था कि गिरे हुए की सेवा करना ही सबसे बड़ा धर्म है। धर्म के सामाजिक स्वरूप पर बल देते हुए उन्होंने प्रत्येक मानव प्राणी की सेवा का महान् आदर्श सभी के सम्मुख रखा। बार-बार उन्होंने सभी की उन्नति का लक्ष्य प्रस्तुत किया। समाज के गरीब और कमजोर वर्गों की उपेक्षा करने के लिए उन्होंने उच्च वर्गों की आलोचना की। उनकी सामाजिक विचारधारा में अस्पृश्यता-निवारण को उच्च प्राथमिकता दी गयी।

विवेकानंद राजनीति से दूर रहे। राजनीति के विषय में उन्होंने शायद ही कोई चर्चा की। लेकिन फिर भी उनकी सबसे बड़ी देन थी राष्ट्रीयता के धार्मिक तथा आध्यात्मिक पक्ष का प्रतिपादन। उग्रवादी राजनीतिक विचारधारा के समर्थक उनके राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित हुए। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा: "भावी पच्चीस वर्षों तक हमारा मूल मंत्र होगा-- यही हमारी महान् भारत माता। उस समय तक हमारे मस्तिष्क से अन्य देवी देवताओं को हटा देना चाहिये। यह भारत माता ही एक ऐसा ईश्वर है जो जाग रहा है; उसके हाथ, पैर और कान चारों ओर फैले हुए हैं। उसमें सभी कुछ समाया हुआ है।" देशभक्ति का महान लक्ष्य उन्होंने भारतीयों के सम्मुख रखा और उन्हें प्रेरणा दी कि वे राष्ट्रोत्थान के महान कार्य में एकजुट हो जायें। उनके विचारों से हजारों लाखों लोग प्रभावित हुए।

ऐनी बेसेन्ट और थियोसाफिकल सोसायटी

थियोसाफिकल सोसायटी की स्थापना अमेरिका में हुई थी। एक अमेरिकी दार्शनिक कर्नल आल्काट और रूसी महिला पेट्रोवा ब्लात्सकी ने मिलकर इसकी स्थापना की । सन् १८७६ में दोनों संगठनकर्ता भारत आये और मद्रास के निकट अदयार में सोसायटी का मुख्य कार्यालय स्थापित किया गया। यहीं से भारत में इस सोसायटी का कार्य आरंभ हुआ। एनी बेसेंट एक ब्रिटिश महिला थीं जो १८९३ में सोसायटी की प्रमुख सदस्या के रूप में भारत आईं। संस्था के संस्थापक की मृत्यु के उपरांत १९१० से १९३३ तक वे इसकी अध्यक्षा बनी रहीं। भारत में थियासाफिक्ल सोसायटी को सक्रिय बनाने का श्रेय एनी बेसेंट को ही प्राप्त है।

थियासफी आंदोलन एक प्रकार से अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से आरंभ किया गया था। आध्यात्मिक शक्तियों और आत्माओं का प्रत्यक्ष ज्ञान करना इस संस्था का मुख्य कार्यक्रम था। किंतु भारत आने के पश्चात् इस संस्था का स्वरूप बदला। भारत के सांस्कृतिक नवोत्थान की प्रक्रिया में वह आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा

राजनीतिक आंदोलन का एक माध्यम बन गयी। थियोसफी आंदोलन भी उसी प्रकार भारतीयता का संरक्षक बन गया जिस प्रकार अन्य सामाजिक-धार्मिक आंदोलन थे।

यद्यपि थियासफी सभी धर्मों की समानता के भाव को लेकर आरंभ किया गया था फिर भी इसका झुकाव हिंदुत्व और बुद्ध धर्म की ओर बना रहा। इस संस्था ने किसी सम्प्रदाय-विशेष का रूप कभी नहीं लिया। इसका कारण यह सैद्धांतिक मान्यता थी कि सभी मनुष्यों में भाईचारे की भावना जगाने के लिए विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करना जरूरी था। इस संस्था के सदस्यों को यह आजादी दी गयी कि प्रत्येक सदस्य अपना धर्म मानकर भी संस्था के सिद्धांतों को अपना सकता था, इसका अपना कोई धर्मग्रंथ नहीं बना। सोसायटी की बैठकों में सभी धर्मों की प्रार्थनाएँ की जाने लगीं। एनी बेसेंट ने जहाँ भारतीयों में धर्मग्रंथों के प्रति गौरव की भावना जगायी वहीं तत्कालीन नवजागरण को भी उन्होंने प्रभावित किया।

धीरे-धीरे एनी बेसेंट हिंदू रीति-रिवाजों और संस्कारों से प्रभावित होती गयीं। वे जन्म से ब्रिटिश होते हुए भी स्वेच्छा से भारतीय हो गयीं। काशी में जाकर उन्होंने गीता का अनुवाद किया तथा रामायण और महाभारत पर भाष्य लिखे। सोसायटी के द्वारा उन्होंने भारतीय धर्मग्रंथों के आधारभूत तथ्यों का प्रचार अन्य देशों में भी किया।

एनी बेसेंट का कहना था कि आदिकाल से भारत में प्रचलित मूल्यों के आधार पर ही आधुनिक समाज को पुनर्संगठित किया जा सकता था। सामाजिक कुरीतियों का उन्मूलन करने के लिए उन्होंने पश्चिम की नकल करेने का विरोध किया। उनका मत था कि भारतीय समाज अपने प्राचीन स्वरूप को प्राप्त करके भली प्रकार से संगठित किया जा सकता था। स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए वे भारतीय परंपराओं से प्रेरणा ग्रहण करने की सलाह देती रहीं।

ऐनी बेसेंट एक आध्यात्मिक और धार्मिक महिला अवश्य थीं परंतु धीरे-धीरे वे सक्रिय राजनीति की ओर भी झुकीं। विशेष रूप से १९१० से १९२० तक वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रमुख नेता थीं। १९१७ में वे कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गयी। इसी समय होमरूल आंदोलन के दौरान उन्होंने स्वशासन की माँग के लिए तीव्र आंदोलन छेड़ दिया। १९२० में जब गांधीजी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ कर दिया तो एनी बेसेंट को उनकी नीति पसंद नहीं आयी। वे राजनीति से हटकर पुनः संस्था के कार्यों में जुट गयीं।

समाज सुधार आंदोलन

अब तक सामाजिक-धार्मिक संगठनों तथा उनके प्रणेताओं के योगदान की चर्चा की गयी है। इस अध्याय के प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि इस प्रकार के आंदोलनों के अलावा समाज-सुधार का एक दूसरा पहलू भी है। ईश्वरचंद्र विद्यासागर, रानडे, गोखले, तिलक तथा महात्मा गांधी उन सुधारकों में थे जिन्होंने मूलतः समाज-सुधार की दिशा में कार्य किया। इन सुधारकों को भी धर्म-सुधार की चर्चा करनी पड़ी क्योंकि भारत की सामाजिक व्यवस्था ही कुछ ऐसी थी कि धर्म को अलग करके सामाजिक सुधार का कार्य नहीं किया जा सकता था। हम इन विशेषताओं को पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। यहाँ समाज-सुधार आंदोलन के दूसरे स्वरूप की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की जा रही है।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन के प्रणेताओं ने समाज-सुधारकों के लिए आधार तैयार किया। सामाजिक सुधार की चर्चा करते समय राजा राममोहन राय से विवेकानन्द तक सभी सुधारकों ने इस बात पर जोर दिया कि समाज में प्रचलित कुरीतियों का धर्म से किसी प्रकार का संबंध नहीं था और इस कारण उनको समूल नष्ट करना ही उचित था। सामाजिक-धार्मिक सुधार करेनवालों ने समाज-सुधारकों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। समाज-सुधारकों के योगदान की चर्चा करते समय यह कहना आवश्यक है कि इन्होंने अलग-अलग संगठन तैयार नहीं किये। ये सुधारक भारत के सभी क्षेत्रों में एक नयी सामाजिक जागरूकता लाने का प्रयत्न करते रहे। इनके लिए इन्होंने राष्ट्रीय आधार पर सम्मेलन किये।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर (१८२०-१८९१)

ईश्वरचंद्र विद्यासागर बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। उन्होंने बंगला गद्य साहित्य को एक नया स्वरूप प्रदान किया। अपने युग के वे महान् विचारक थे। १८५१ में वे कलकत्ता संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल बने। राममोहन राय ने समाज-सुधार की दिशा में जो कार्य किया था उसे विद्यासागर ने अपने ढंग से, ब्रह्म समाज से अलग रहते हुए, आगे बढ़ाया। समाज-सुधारक को सबसे पहले नवचेतना का कार्य करना पड़ता है जो उन्होंने किया। लेकिन केवल पुस्तकें लिखने अथवा पत्रिकाओं में लेख लिखने से भी समाज को बदलना संभव नहीं था। सामाजिक परिवर्तन के लिए जिस प्रकार का सक्रिय कार्य करने की जरूरत थी उसे उन्होंने अपने हाथों में लिया। इस प्रकार सैद्धांतिक आधार तैयार करने के अलावा सक्रिय सामाजिक प्रगति की दिशा में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

स्त्रियों की दशा सुधारने की दिशा में ईश्वरचंद्र विद्यासागर विशेष रूप से सक्रिय रहे। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक एक प्रमुख समस्या यह थी कि ऊँची जातियों में विधवा होनेवाली स्त्रियों के लिये पुनर्विवाह करने की न तो परंपरा थी और न ही अधिकार ही था। ऐसी स्थिति में हजारों विधवाओं को तरह-तरह के कष्ट भोगने पड़ते थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवाओं का पुनर्विवाह कराने के लिए सभी कुछ किया। पहले उन्होंने यह सिद्ध किया कि शास्त्र भी विशेष परिस्थितियों में महिलाओं को फिर से विवाह करने का अधिकार देते हैं इन परिस्थितियों में मुख्य थी पति की मृत्यु। उन्होंने पाराशर संहिता की टीका के आधार पर पुस्तकें लिखकर अपना मत प्रकट किया तथा विरोधियों की आपत्तियों का उत्तर भी दिया। ईश्वरचंद्र के प्रयासों से उत्साहित होकर भारत सरकार ने १८५६ में एक अधिनियम पारित करके विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार प्रदान कर दिया। सरकार ने कानून बनाकर सामाजिक सुधार में सहायता तो प्रदान की लेकिन विद्यासागर भली प्रकार से जानते थे कि केवल इतनी सफलता काफी नहीं थी। अतः उन्होंने स्वयं कुछ विधवा स्त्रियों के पुनर्विवाह कराकर समाज के सम्मुख उदाहरण रखे।

बंगाल के कुलीन परिवारों में एक अन्य प्रथा के कारण भी स्त्रियों का जीवन कष्टकर बना हुआ था। इन परिवारों में बहुपत्नीत्व की प्रथा एक अच्छा खासा व्यवसाय बन गयी थी और ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं कि कुछ लोगों ने पचास विवाह तक कर लिये थे। प्रत्येक विवाह से दहेज प्राप्त करना ही कुलीनों का लक्ष्य था। बाद में वे उन विवाहित पत्नियों की याद भी

नहीं रखते थे और प्रायः कई महिलाओं को पति से अलग रहकर पूरा जीवन काटना पड़ता था। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने धन के ऐसे लोभी परिवारों के विरुद्ध आवाज उठायी। उन्होंने बहुपत्नीत्व प्रथा के विरोध में आंदोलन किया।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने शराबखोरी हटाने का कार्य भी किया। यह दिखाई दे रहा था कि दिनोंदिन शराब की खपत बढ़ती जा रही थी और शराब बेचने के लिए नयी दुकानें खुलती जा रही थीं। शराब की बिक्री से सरकार को जो आमदनी होती थी उसे बढ़ाने के यत्न में सरकारी अधिकारी इसके नैतिक पक्ष की उपेक्षा कर रहे थे। जनसाधारण के लिए शराब पीने की आधुनिक सुविधाएँ देना कभी उपयोगी नहीं हो सकता था। कई समाज-सुधारकों को संगठित करके विद्यासागर ने एक ऐसा संगठन तैयार किया जो शराबखोरी को रोकने के लिए सक्रिय हुआ तथा इसने सरकार से अपनी नीति पर पुनर्विचार करने का आग्रह किया।

महादेव गोविंद रानडे

महादेव गोविंद रानडे ने समाज-सुधार आंदोलन के लिए व्यापक आधार तैयार किया। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में समाज-सुधार आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ दिया गया। इस दिशा में रानडे का महत्त्वपूर्ण योगदान चिरस्मरणीय रहेगा। सामाजिक सुधार और राजनीतिक सुधार के लिए वे समान ढंग से कार्य करते रहे। बीसवीं सदी में सामाजिक नवजागृति की पृष्ठभूमि उन्होंने तैयार की।

रानडे का जन्म महाराष्ट्र के चितपावन ब्राह्मणों के एक मध्यवर्गीय परिवार में १८४२ में हुआ था। मराठा शासन के स्थान पर महाराष्ट्र में ब्रिटिश शासन-व्यवस्था स्थापित होने से इस क्षेत्र में नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। रानडे के परिवार ने ब्रिटिश शासन की वास्तविकता को समझा और स्वीकार कर लिया। इसी कारण परिवार में अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने पर जोर दिया गया। बंबई विश्वविद्यालय से बी०ए०, एम०ए० और एल-एल०बी० करने वाले वे पहले कुछ नवयुवकों में से थे। इतिहास और अर्थशास्त्र उनके प्रिय विषय थे। तीन साल तक एलफिंस्टन कालेज में प्राध्यापक पद पर कार्य करने के बाद रानडे को न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कर दिया गया। वे उत्तरोत्तर प्रगति करते गये और १८९३ में बंबई के उच्च न्यायालय के जज बने। न्यायाधीश के पद पर कार्य करने से जहाँ उनको समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई वहीं उनकी आर्थिक स्थिति भी सुधरी। वे एक सरकारी अधिकारी थे। इससे उनके सामाजिक और राष्ट्रीय विचारों पर प्रभाव पड़ा।

इस समय महाराष्ट्र में सामाजिक नवजागृति की लहर चल रही थी। रानडे इससे प्रभावित हुए। उन्नीस वर्ष की आयु में ही वे विधवा-विवाह संघ के सदस्य बन गये। इसी समय वे एक साप्ताहिक पत्र 'इन्दु प्रकाश' के संपादक बने। महाराष्ट्र में ब्रह्म समाज के सिद्धांतों और कार्यक्रमों के आधार पर 'प्रार्थना समाज' संगठित किया गया था। रानडे कई वर्षों तक इससे भी संबद्ध रहे। रानडे का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था १८८७ में 'राष्ट्रीय समाज-सुधार समिति' की स्थापना। इसका सम्मेलन प्रतिवर्ष देश के अलग-अलग क्षेत्रों में होता था। १८८७ से १८९५

तक राष्ट्रीय समाज-सुधार समिति का अधिवेशन कांग्रेस अधिवेशन के तुरंत बाद उसी पंडाल में होता था। पूना में कुछ विवाद खड़े हो जाने से इस समिति का अधिवेशन स्वतंत्र रूप से हुआ था। रानडे ने समाज-सुधार समिति को राष्ट्रीय आधार दिया। उन्हीं की प्रेरणा से प्रत्येक क्षेत्र के लोग समाज-सुधारों पर विचार करने लगे तथा सामाजिक नवजागृति लाने के प्रयत्नों में व्यस्त रहे। कई दशकों तक यह समिति राष्ट्रीय सामाजिक सुधार की योजनाओं पर विचार करती रही।

रानडे की प्रेरणा से जो समाज-सुधार आंदोलन विकसित हुआ उसका उद्देश्य था सामाजिक नवनिर्माण के द्वारा सामाजिक एकता लाना ताकि राजनैतिक एकता तथा राष्ट्रवादिता के लिए मार्ग प्रशस्त हो सके। उनकी मान्यता यह थी कि राजनीतिक प्रगति के लिए समाज-सुधार आवश्यक था। रानडे के राष्ट्रीय धारणा का आधार भावनात्मक था। वे राष्ट्रप्रेम से किस प्रकार ओतप्रोत थे यह उनके द्वारा कहे इन शब्दों से प्रकट हो जाता है। रानडे ने कहा: "मैं अपने दो सिद्धांतों पर पूरी आस्था रखता हूँ। हमारे इस देश का भविष्य उज्ज्वल है। हमारी जाति एक विशिष्ट जाति है। इस प्राचीन देश आर्यावर्त पर ईश्वर की विशेष कृपा है। इसके इतिहास का निर्माण ईश्वर के निर्णयों के अनुसार हुआ है।" स्पष्ट है कि राजनैतिक राष्ट्रवादिता तक ही उनका ध्यान सीमित नहीं रहा। वे भारत की सामाजिक तथा आध्यात्मिक प्रगति में शक्ति प्रदान करना चाहते थे। सर्वतोमुखी प्रगति के वे हामी थे। रानडे ने भारत की उभरती हुई राष्ट्रवादी चेतना को यथार्थवादी दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया।

महादेव गोविंद रानडे ने सामाजिक सुधार और दर्शन के क्षेत्र में जो विचार प्रस्तुत किये उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उनके दर्शन का आधार था विकासवादी सिद्धांत पर पूर्ण विश्वास। रानडे ने स्वीकार किया कि भारतीय सामाजिक संस्थाओं की विकास की गति पर ध्यान रखते हुए ही उनके भावी विकास का स्वरूप स्थिर किया जा सकता था। वे यह मानकर चले कि सामाजिक स्वरूप के सरंक्षण और विकास के द्वारा ही प्रगति की जा सकती थी। उन्होंने यह नहीं स्वीकार किया कि परंपरागत ढाँचे को नया स्वरूप देने के लिये किसी क्रान्तिकारी अंतराल की आवश्यकता थी। इसी कारण बाहरी प्रभावों को स्वीकार करने के बाद भी उनका विचार यही बना रहा कि भारतीय समाज केवल अपनी आंतरिक शक्ति के द्वारा ही विकसित हो सकता था। इन्हीं विचारों के द्वारा सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सामाजिक सुधारों में सामंजस्य बनाये रखना संभव हो सका। उनके सामाजिक सुधारों का अर्थ था अतीत का ऐसा नवीनीकरण जो राष्ट्रीयता तथा प्रजातंत्र के आदर्शों की प्राप्ति के लिये एक स्वस्थ और विकासशील समाज को जन्म दे सके।

समाज-सुधार के लिये परिस्थितियाँ उन्हें अनुकूल दिखायी दीं। रानडे ने अनुभव किया कि ब्रिटिश शासन की स्थापना से भारत में शांति और व्यवस्था का वातावरण था, विदेशों से सांस्कृतिक और आर्थिक संबंध स्थापित हुए थे, देश में एकता की भावना विकसित हुई थी, शासन और न्याय का तरीका बदला था तथा शिक्षा के द्वारा जागृति हुई थी। इस बदलती हुई स्थिति में समाज का स्वरूप बदलना भी आवश्यक था। रानडे ब्रिटिश शासन के महत्त्व को स्पष्टतः स्वीकार करते थे। पश्चिमी प्रभाव का उन्होंने स्वागत किया।

रानडे का संपूर्ण जीवन ही सामाजिक सुधार के लिये एक अथक अभियान था। उन्होंने भारतीयों को पिछड़ेपन और कुरीतियों से ऊपर उठने का संदेश दिया। उन्होंने कहा कि भारतीय समाज के पतन के मुख्य कारण थे-- पृथकता और संकीर्णता का भाव, अन्तरात्मा की आवाज को न पहचानना, जाति और परम्परा के आधार पर मनुष्यों में बनावटी भेद मानना, पाप और गलती पर निष्क्रिय भाव, लौकिक सुख-समृद्धि के विषय में उदासीन रहना और भाग्यवाद पर जमे रहना। उन्होंने उक्त प्रवृत्तियों का डटकर विरोध किया। उन्होंने नारी को उसकी करुणामय स्थिति से उबारने के लिये विशेष प्रयत्न किये। रानडे ने यह निश्चित मत प्रकट किया कि "नारी जाति पर किये गये जुल्मों से हमारा भारतीय समाज अपमानित हुआ है।" बाल-विवाह और विधवा-विवाह के कारण जो समस्याएँ जन्मी थीं उनका निराकरण करने के उन्होंने उपाय किये।

समाज-सुधार के लिए इस प्रकार की पद्धतियों को उनके समय तक अपनाया गया था--

१. प्रत्येक व्यक्ति की अंतरात्मा को जागृत करना और उसे इसके लिए उत्साहित करना कि वह व्यक्तिगत जीवन में कुरीतियों का विरोध करने का व्रत ले।
२. समाज-सुधार के हित में प्राचीन शास्त्रों का निरूपण करना।
३. प्रचार कार्य।
४. ऐसे जाति संगठनों को तैयार करना जो अपनी-अपनी जातियों में सुधार करने के लिये गुट तैयार करें।
५. सरकार द्वारा अधिनियम पारित कराके सामाजिक सुधार करना।
६. सामाजिक रीति-रिवाजों का सक्रिय विरोध करना।

रानडे ने ऊपर लिखे पहले चारों तरीकों को अपनाया। उन साधनों को उन्होंने स्वीकार किया। पाँचवे तरीके के केवल यदाकदा उपयोग को ही वे स्वीकार करते थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि रानडे का विचार यह था कि कभी-कभी सरकार भी नियम बनाकर सुधार कर सकती थी और भारतीयों के लिए इसका सैद्धान्तिक विरोध करना उचित नहीं था। छठे तरीके को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि ऐसे किसी भी विरोध के फलस्वरूप परंपरावादी लोग कट्टरपंथी बन सकते थे।

रानडे के समय तक समाज-सुधार की चार पद्धतियों पर विचार किया गया था-- (१) परंपरागत पद्धति, (२) अन्तःकरण की पद्धति, (३) विधायी पद्धति और (४) विद्रोह पद्धति। जहाँ तक रानडे का संबंध है, उन्होंने प्रथम तीन पद्धतियों को अपनाया परंतु अंतिम पद्धति उन्हें मान्य नहीं थी। इन पद्धतियों के विषय में उनके विचारों पर ध्यान देते समय यह दिखायी देता है कि आरंभ से ही रानडे ने सामाजिक परंपराओं को समझा। इन तरीकों को अपनाते समय शास्त्रों की नयी व्याख्या प्रस्तुत की गयी और सुधार-कार्य करते समय लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि कोई नये सुधार नहीं किये जा रहे थे। दूसरी पद्धति का भी रानडे ने अनुसरण किया और उन्होंने सुधार के लिये लोगों का अन्तःकरण जगाने का कार्य किया। विधायी पद्धति का वे सीमित उपयोग करने को तैयार थे।

रानडे ने सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता अनुभव की। वे ऐसी पद्धति अपनाने को

कह रहे थे जिसमें समाज का तत्कालीन स्वरूप सुरक्षित बना रहे लेकिन फिर भी समाज प्रगति की दिशा में अग्रसर हो। इस प्रकार अतीत को भविष्य के साथ इस प्रकार जोड़ा गया कि उसमें किसी प्रकार का क्रांतिकारी अंतराल न आये। रानडे भली प्रकार जानते थे कि भारतीय संस्कृति का प्रधान गुण था निरंतरता, सहनशीलता और आत्मसात् करने की क्षमता। उन्होंने इसी परंपरा के अनुसार सामाजिक परिवर्तन की व्यवस्था की। सभी क्षेत्रों में रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करके, समाज-सुधार के लिये राष्ट्रव्यापी संगठन का निर्माण करके और समाज-सुधार आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन से संबद्ध करके उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारत में बीसवीं सदी में जो सामाजिक नवचेतना आयी उसकी आधारशिला रखने का कार्य रानडे ने किया।

महात्मा गांधी

१९२० से १९४७ तक समाज-सुधार आंदोलन की बागडोर गांधीजी के हाथ में रही। १९२० के पहले सामाजिक सुधार आंदोलन को राजनीतिक आंदोलन से अलग रखा गया था। राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेता यह समझते थे कि सामाजिक प्रश्नों को राजनीतिक मंच तक नहीं लाना चाहिए। परिणामतः भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने सामाजिक-धार्मिक प्रश्नों पर विचार नहीं किया। जब १९२० में गांधीजी राजनीतिक रंगमंच पर उतरे तो उन्होंने कांग्रेस की इस नीति को बदलकर राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों को एक दूसरे से संबद्ध कर दिया। अब यह स्वीकार किया जाने लगा कि सामाजिक नवचेतना द्वारा राष्ट्रीय भावना प्रबल होगी। गांधीजी जहाँ एक ओर राष्ट्रीय आंदोलन के प्रमुख नेता थे, वहीं समाज-सुधार के क्षेत्र में भी वे लगातार सक्रिय बने रहे। जैसे-जैसे स्वतंत्रता-संग्राम तीव्र होता गया सामाजिक और राजनीतिक जीवन के बीच खाई कम होती गयी। राष्ट्रीय जीवन को सर्वतोमुखी बनाने का कार्य गांधीजी ने किया। उन्होंने इस उद्देश्य से कार्य किया कि सभी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक समस्याओं को एक साथ सुलझाने का यत्न करना आवश्यक था।

महात्मा गांधी आधुनिक भारत के उन महान् विचारकों में सबसे प्रमुख थे जिन्होंने भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक परंपराओं से प्रेरणा ग्रहण की और अपने विचारों को तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के अनुरूप ढाला। गांधीजी के सामाजिक और राजनीतिक विचारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है-- (१) आदर्श व्यवस्था, (२) व्यावहारिक व्यवस्था। गांधीजी ने इन दोनों स्थितियों पर अपने विचार समय-समय पर प्रस्तुत किये। आदर्श सामाजिक व्यवस्था का निरूपण करने के साथ-साथ वे व्यावहारिक सुधारों के प्रति भी जागरूक थे।

गांधीजी ने धर्म को जीवन और समाज का आधारभूत तत्व स्वीकार किया। उन्होंने धर्म के व्यापक दायरे में संसार के प्रत्येक कार्य, व्यक्ति के प्रत्येक पक्ष और समाज के प्रत्येक अंग को समेटा। गांधीजी धर्म को केन्द्रबिंदु मानकर ही सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर विचार करते थे। १९०९ में उन्होंने जो 'हिंद स्वराज' नामक धर्म-पुस्तक लिखी उसमें हिंदू धर्म के प्रति गहन आस्था व्यक्त की गयी है। लेकिन यह स्मरण रखना होगा कि गांधीजी ने धर्म की व्यापक परिभाषा की। वे धर्म के संकुचित स्वरूप पर विश्वास नहीं करते थे। उन्होंने ऐसे मानवतावादी धर्म का पोषण किया जिसका चरम लक्ष्य सेवा करना हो। सत्य, प्रेम और अहिंसा पर उनका

इसी कारण अटूट विश्वास था। उनका योगदान यही था कि धर्म के व्यावहारिक पक्ष पर उन्होंने जोर दिया। उनका कहना था धर्म के सिद्धांत केवल उपदेश देने के लिये नहीं थे, उनको जीवन में अपनाना जरूरी था।

वर्ण-व्यवस्था

गांधीजी ने सामाजिक वर्गीकरण के प्रश्न पर अपने विचार स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किये। उन्होंने जाति-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था के अंतर को स्पष्ट किया। वर्ण-व्यवस्था को वे सामाजिक वर्गीकरण के लिये आवश्यक मानते थे। इस संबंध में उन्होंने वर्ण-व्यवस्था के उस मूल स्वरूप को स्वीकार किया जिसका वर्णन शास्त्रों में किया गया है। जाति-प्रथा के विषय में उनका कहना था कि यह व्यवस्था वर्ण-प्रणाली का विकृत रूप थी। अतः जाति-प्रथा की बुराइयों को हटाकर वे वर्ण-प्रणाली को समाज में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वे जाति-प्रथा के विरोधी नहीं कहे जा सकते क्योंकि उनका कहना था कि इसके मूल स्वरूप को बनाये रखते हुए इसकी विकृतियों को दूर किया जा सकता था।

गांधीजी के अनुसार वर्ण-सिद्धांत एक वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में आनुवांशिकता, जन्म और कर्म पर आधारित है। उन्होंने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों के सिद्धांत को स्वीकार किया। उनका कहना था कि जिस प्रकार जन्म से ही मनुष्य को किसी न किसी प्रकार का रंग और रूप मिल जाता है उसी प्रकार उसे गुण भी जन्म से ही मिलते हैं। केवल आकार में ही नहीं, गुणों के आधार पर भी एक मनुष्य दूसरे से अलग होता है। इन्हीं विभिन्न गुणों के अनुसार वे स्वीकार करते हैं कि अलग-अलग परिवार में जन्म लेनेवाले लोगों को अपने-अपने वर्ण के व्यवसायों को करना चाहिए। गांधीजी जोर देकर यह कहते थे कि प्रत्येक वर्ण में जन्में लागों को अपने-अपने पेशों को करना चाहिए क्योंकि वे स्वभावतः उसके लिये अधिक दक्ष होंगे। उनका कहना था कि इससे समाज में संघर्ष की स्थिति समाप्त हो जायेगी। आर्थिक जीवन में प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत लाभ का भाव वे मिटाना चाहते थे। उनका कहना था कि वर्ण-व्यवस्था मानव स्वभाव में निहित है। इसी स्वाभाविक नियम को वैज्ञानिक स्वरूप देने की उन्होंने कोशिश की। गांधीजी ने अपनी बात पर बल देते हुए कहा कि जैसे गुरुत्वाकर्षण के नियम को न तो कोई बदल सकता है और न उसकी अवहेलना ही कर सकता है, वैसे ही वर्ण-व्यवस्था का नियम भी है।

लेकिन गांधीजी ने यह भी स्पष्ट किया कि किसी भी वर्ण के व्यक्ति को दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ नहीं मानना चाहिए। ऊँच और नीच की भावना का उन्मूलन करके वे जाति-व्यवस्था में निहित बुराई को दूर करना चाहते थे। गांधीजी प्रत्येक पेशे अथवा व्यवसाय को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हैं। महात्मा गांधी ब्राह्मण और भंगी के पेशे को समान मानते हैं क्योंकि दोनों का उद्‌देश्य पेशे को व्यवसाय बनाकर धनसंचय करना नहीं वरन् समाज की सेवा करना है। वे यह मानकर चलते हैं कि हर व्यक्ति अपने पेशे से उतना ही कमायेगा जितना कि जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। यदि बढ़ई चमार से अधिक कमाता है और डाक्टर या वकील इन दोनों से ज्यादा कमाते हैं तो निश्चय ही सभी वकील या डाक्टर बनने की कोशिश करेंगे। ऐसी प्रतियोगिता वर्ण-व्यवस्था के प्रतिकूल है।

गांधीजी के वर्ण-व्यवस्था के सिद्धांत पर गंभीर आपत्तियाँ की जाती हैं। ऐसा दिखाई देता है कि इन तर्कों को आधार बनाकर वे व्यावहारिक पक्ष की अनदेखी कर रहे थे। उनके ये विचार बहुत कुछ ऐसी आदर्श व्यवस्था का चित्रण करते हैं जो स्वाभाविक नहीं जान पड़ती।

अस्पृश्यता

गांधीजी का कहना था कि अस्पृश्यता और जाति-प्रथा किसी भी प्रकार से जुड़ी हुई नहीं थी। दूसरे शब्दों में, उनका विचार यह था कि अस्पृश्यता का उन्मूलन करने के लिए जाति-प्रथा को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। यह विवाद १९३३ में डा० बी० आर० अम्बेडकर के वक्तव्य के कारण उठ खड़ा हुआ। अम्बेडकर का यह कथन था कि "अछूत जाति-प्रथा की उपज हैं। जब तक जाति-प्रथा बनी रहेगी, अछूत रहेंगे। जाति-प्रथा की समाप्ति के बिना अछूतों को मुक्ति नहीं मिल सकती।" गांधीजी ने अम्बेडकर के इस मत को स्वीकार नहीं किया। गांधीजी ने विचार प्रकट किया कि अस्पृश्यता जाति-प्रथा की उपज न होकर इस प्रथा के उस विकृत रूप के कारण पनपी है जिसने हिंदू समाज में ऊँच-नीच की भावना को जन्म दिया। गांधीजी ने जोर देकर कहा कि जाति व्यवस्था की इस विकृति को मिटाना अनिवार्य है। यदि शरीर के किसी भाग में विकार उत्पन्न हो जाता है तो शरीर को नष्ट नहीं किया जाता। प्रयास यही किया जाता है कि विकार का उन्मूलन कर दिया जाये। इसी प्रकार जाति-व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना को दूर करके उसके शुद्ध वर्ण-स्वरूप के पक्ष में गांधीजी ने राय दी। ये अस्पृश्यता का उन्मूलन करके जाति के विशुद्ध स्वरूप को लाना चाहते थे। उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि इसके निवारण के लिये जाति-प्रथा को ही समाप्त कर दिया जाये। ऐसा भी दिखाई देता है कि वे किसी भी प्रकार के वर्ग अथवा जातिगत संघर्ष को भी रोकना चाहते थे।

अस्पृश्यता के विरुद्ध गांधीजी ने जितना संघर्ष किया उस प्रकार का कार्य उनके पूर्व किसी भी समाज सुधारक ने नहीं किया था। वे आजीवन अछूतोद्धार के लिए प्रयत्नशील रहे। इस संबंध में उनका विरोध सैद्धांतिक ही नहीं, व्यावहारिक भी था। गोलमेज सम्मेलनों के दौरान अस्पृश्यता की समस्या और भी पेचीदी हो गयी। अगस्त, १९३१ में ब्रिटिश प्रधान मंत्री रैमजे मैकडानल्ड ने जो घोषणा की उससे एक कठिन स्थिति उत्पन्न हो गयी। प्रधानमंत्री ने ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय की घोषणा की कि भावी अधिनियमों में अछूत कहे जाने वाले लोगों को पृथक् मत देने का अधिकार दिया जायेगा। यह अंग्रेजों की नयी चाल थी जिसके द्वारा उन्होंने हिंदू समाज में फूट डालने की कोशिश की। ब्रिटिश प्रधान मंत्री की घोषणा का अर्थ यह था कि भविष्य में अछूत कही जाने वाली जातियों के प्रतिनिधियों का चुनाव केवल उन्हीं जातियों के प्रतिनिधि ही कर सकते थे। जिस प्रकार मुसलमानों को पृथक मताधिकार का अधिकार दिया गया था उसी प्रकार का अधिकार अछूत कहे जानेवालों को देकर ब्रिटिश सरकार हिंदू समाज से इन वर्गों को अलग करने की नीति अपना रही थी। महात्मा गांधी ने इस घोषणा का विरोध किया और सितम्बर, १९३२ में उन्होंने इसके विरुद्ध आमरण अनशन शुरू कर दिया। अंततः ब्रिटिश प्रधान मंत्री की घोषणा को बदला गया और अछूत कहलाने वाली जातियों के नेताओं ने एक मध्य मार्ग स्वीकार कर लिया। इसके अनुसार पृथक् मताधिकार का सिद्धांत इन जातियों के लिए लागू

नहीं किया गया। भावी चुनावों में उनके लिए सुरक्षित सीटें बनाये रखने की व्यवस्था की गयी। इन सीटों के लिए केवल अछूत कहलाने वाली जातियों के प्रतिनिधि खड़े हो सकते थे लेकिन इनके चुनाव में भाग लेने का अधिकार सभी हिंदुओं को दिया गया। गांधीजी ने इस समस्या के राजनीतिक पक्ष को स्वीकार किया। लेकिन उनके सम्मुख मूल प्रश्न यह था कि हिंदू समाज का स्वरूप किस प्रकार का हो। वे कभी भी यह मानने को तैयार नहीं हो सके कि अछूत जातियों को हिंदू समाज से अलग अस्तित्व मिल जाये। इस समय गांधीजी ने निम्न विचार प्रस्तुत किये-- "मैं आजादी जीतने के लिये अछूत वर्गों के हितों की उपेक्षा नहीं कर सकता...। क्या अछूत हमेशा अछूत ही बने रहेंगे? मैं इसके लिये तैयार हो सकता हूँ कि हिन्दू धर्म समाप्त हो जाये लेकिन इसे बचाने के लिये मैं अस्पृश्यता को स्वीकार नहीं कर सकता।" १६३२-३३ में गांधीजी ने जिस दृढ़ता से अस्पृश्यता की समस्या का मुकाबला किया उससे यही दिखाई देता है कि आत्मबल और आत्मविश्वास के द्वारा वे किसी भी कठिनाई पर विजय पाने की क्षमता रखते थे।

गांधीजी ने कई बार यह कहा कि अस्पृश्यता-निवारण के बिना स्वराज्य संभव नहीं था। उन्होंने कहा कि इस समस्या पर विजय पाना स्वराज्य के लिए संघर्ष करने से भी अधिक महत्त्वपूर्ण था। अपने पत्र 'हरिजन' में उन्होंने इस प्रकार लिखा : "साधारणतया लोगों के दिलों में स्वराज्य के साथ-साथ देश की स्वतंत्रता की भावना मिली हुई है। वह अछूतोद्धार और छिन्न-भिन्न संप्रदायों में हार्दिक ऐक्य के बिना संभव नहीं है। स्वराज्य का अर्थ है निरंतर आंतरिक विकास और जब तक इस विकास के शुभ पौधे को पक्षपात, मनोविकार और अंधविश्वास की दीवारें घेरे हुए हैं, वह उग नहीं सकती।" इस प्रकार गांधीजी ने अस्पृश्यता के विरुद्ध प्रबल जनमत तैयार किया।

गांधीजी ने कहा कि अस्पृश्यता कृत्रिम है। इसका लोगों के बौद्धिक अथवा नैतिक विकास से कोई संबंध नहीं था। उनके अनुसार अस्पृश्यता का मौलिक उद्‌भव धर्म में नहीं था। उन्होंने कहा कि यह व्यवस्था दैवी नहीं, मानवकृत थी। यह न तो पूर्व जन्म का फल थी और न ईश्वर द्वारा बनायी गयी थी। गांधीजी कहते रहे कि जितनी जल्दी हिंदू समाज अछूत प्रथा के पाप से मुक्त हो जायेगा, उतनी ही शीघ्रता से वह तरक्की करेगा। इस कलंक को धोये बिना हिंदू समाज प्रगति नहीं कर सकता था।

गांधीजी ने अस्पृश्यता-निवारण के लिए सभी संभव उपाय किये। वे स्वयं हरिजनों की बस्तियों में रहे। उन्होंने उनके प्रति किये गये अत्याचारों का विरोध किया। उन्होंने अछूतों को 'हरिजन' कहा। उन्हें मन्दिरों में प्रवेश दिलाने के लिये गांधीजी लगातार प्रयत्न करते रहे। उनका विश्वास था कि अछूतों में आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न करने और स्वर्ण हिन्दुओं के दृष्टिकोण को बदलने का इससे अच्छा और कोई उपाय नहीं हो सकता था। उन्होंने यह सलाह भी दी कि अन्य जातियों के लोगों को हरिजन बालकों का अपने परिवार में पालन करना चाहिए। उन्होंने कहा कि अछूत और स्वर्ण दोनों को एक साथ शुद्ध होना था।

यह कहा जा सकता है कि गांधीजी अस्पृश्यता-निवारण के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान्

थे लेकिन सवर्ण जातियों ने उनके मत को पूरी आस्था से ग्रहण नहीं किया। इसी से उन्हें केवल आंशिक सफलता ही मिल सकी। फिर भी वे मार्ग दिखा गये हैं और धीरे-धीरे हिंदू समाज को इस समस्या का समाधान अवश्य तलाश करना होगा। हमारे समाज के सभी वर्गों में बराबरी लाये बिना प्रजातंत्र का लक्ष्य पूरा नहीं होगा। इसी उद्देश्य से संविधान द्वारा यह स्पष्ट घोषणा की गयी कि अस्पृश्यता एक अपराध है और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सभी सरकारें गांधीजी के स्वप्न को साकार करने का उद्यम कर रही हैं।

स्त्रियों की दशा में सुधार

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में एक प्रमुख समस्या यह रही है कि संयुक्त परिवार में स्त्रियों को निचले दर्जे का पद दिया गया है। परंपरा के अनुसार परिवार में जन्म लेनेवाली लड़की वास्तविक रूप में उस परिवार की सदस्या मानी ही नहीं जाती थी। शास्त्रों का कहना था कि परिवार में जन्म लेने वाली लड़की गिरवी रखे हुए उस गहने की तरह थी जिसे यथासम्भव उसके अधिकारी को सौंप देना चाहिये। इस स्थिति में लड़की को पिता के परिवार में न तो कोई अधिकार थे और न हो ही सकते थे। स्त्रियाँ पुरुषों के अधीन रहीं। कानून और धर्म ने एक लंबे समय तक स्त्रियों और पुरुषों की समानता को अथवा समान अधिकारों को स्वीकार नहीं किया। समाज ने जो अधिकार पुरुषों को दिये वे स्त्रियों को प्राप्त नहीं थे। दोनों के प्रति अलग-अलग मापदंड अपनाये गये। उन्नीसवीं सदी में इस स्थिति के विरुद्ध पहली बार आवाज उठायी गयी और प्रायः सभी समाज-सुधारकों ने एक स्वर से यह माँग की कि स्त्रियों की दशा का सुधार करके उन्हें समाज में उचित स्थान दिलाया जाये। गांधीजी पूरी तरह से इस माँग के पक्ष में थे और उन्होंने जो राजनीतिक आंदोलन चलाया उसका एक उद्देश्य यह भी था कि स्त्रियों में चेतना का संचार हो और वे स्वयं अपने अधिकारों की माँग करें।

धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में गांधीजी स्वतंत्रता और समता के प्रबल समर्थक थे। इस कारण कभी भी समाज में नारी और पुरुष के अलग-अलग अधिकारों का उन्होंने समर्थन नहीं किया। उन्होंने यह आग्रह किया कि दोनों को समान वैध स्तर मिलना चाहिए। किंतु गांधीजी ने यह प्रश्न भी उठाया कि केवल इसी से स्त्रियों की समस्याएँ समाप्त नहीं होंगी। यह तो उनकी दशा सुधारने की दिशा में पहला कदम होगा। वे स्त्रियों को पूरी स्वतंत्रता देने के पक्ष में थे। उनका कहना था कि स्त्री पुरुष की सहचरी है। उसकी मानसिक शक्ति किसी भी प्रकार से पुरुष से कम नहीं है। स्त्री-पुरुष का दर्जा उन्होंने बराबर माना। गांधीजी ने कहा कि दोनों की अनुपम जोड़ी है जिसमें वे एक दूसरे के पूरक हैं। स्पष्ट है कि उन्होंने चाहा कि स्त्री पुरुष के लिए शक्ति बने, उसकी उन्नति का साधन बने और आवश्यकता पड़ने पर उसके साथ कंधे से कंधा मिलाकर आगे बढ़ सके।

ऐसा तभी हो सकता था जब समाज स्त्रियों को आजादी दे, उन्हें मानसिक विकास का पर्याप्त अवसर प्रदान करे तथा उनके चारित्रिक गुणों के महत्त्व को समझे। गांधीजी का कहना था कि स्त्री को अबला कहना अपमानजनक था। गांधीजी ने इस संबंध में अपने विचार इस ढंग से स्पष्ट किये--''स्त्री को अबला कहना उसकी मानहानि करना है। यह पुरुष का स्त्री के

प्रति अन्याय है। यदि बल का अर्थ पशुबल है तो वेशक स्त्री पुरुष से निर्बल है क्योंकि उसमें पशुता कम है। किंतु अपार बल का अर्थ अगर नैतिक बल है तो स्त्री पुरुष से बेहद ऊँची है।" इन शब्दों से प्रकट होता है कि किस प्रकार वे स्त्रियों के गुणों को उजागर कर रहे थे। वे नारी को अहिंसा का साकार रूप मानते थे। उनका कहना था कि अहिंसा के नैतिक शस्त्र का प्रयोग वह पुरुष की अपेक्षा अधिक क्षमता से कर सकती है क्योंकि उसमें प्रेम और बलिदान करने की शक्ति अधिक है।

गांधीजी ने पर्दा प्रथा का विरोध किया। वे यह मानने को तैयार नहीं हुए कि इससे किसी प्रकार से चारित्रिक पवित्रता बढ़ती थी। इसके विपरीत स्त्रियों का व्यक्तित्व इससे विकसित नहीं हो पाता था। घर की चहारदीवारी में बंद महिला को जीवन के यथार्थ का कोई ज्ञान नहीं हो पाता था। गांधीजी ने कहा कि चरित्र की पवित्रता बंद करने की उपज नहीं है। यह ऊपर से नहीं लादी जा सकती। इसका विकास भीतर से ही होना चाहिये। स्वतंत्रता-संग्राम जैसे-जैसे व्यापक होता गया, इसमें महिलाओं ने भी भाग लेना आरंभ कर दिया और इस प्रकार गांधीजी के नेतृत्व में राजनीतिक आंदोलन और सामाजिक जागृति का कार्य साथ-साथ हुआ।

स्त्रियों की कुछ विशेष समस्याओं की ओर भी गांधीजी ने ध्यान दिया। इस संबंध में एक मुख्य समस्या बाल-विवाह की थी। १९३१ की जनगणना के आँकड़ों के अध्ययन से यह पता चला कि १५ वर्ष से कम आयु में ही चालीस प्रतिशत लड़कियों का विवाह कर दिया गया था। परंपरा के अनुसार प्रत्येक परिवार लड़कियों के विवाह के उत्तरदायित्व से यथाशीघ्र छुटकारा पा लेना चाहता था। इसके अलावा कुछ जातियों में बाल-विवाह आम बात थी। बाल-विवाह से स्त्रियों का स्वास्थ्य बिगड़ जाता था। वे कम उम्र में ही माताएँ बन जाती थीं जिससे कमजोर संतान उत्पन्न होती थी तथा नवजात शिशुओं की बड़ी संख्या में मृत्यु हो जाती थी। गांधीजी ने बार-बार लोगों को समझाया कि बाल-विवाह किसी भी प्रकार से उपयुक्त नहीं था। १९२९ में भारत सरकार ने वाल विवाह की कुप्रथा को रोकने के उद्देश्य से एक अधिनियम पारित किया जो शारदा अधिनियम कहलाया। इस अधिनियम के अनुसार चौदह वर्ष से कम आयु की लड़की का विवाह करना नियम-विरुद्ध घोषित कर दिया गया। गांधीजी ने पूरी तरह से इस प्रकार के नियम का समर्थन किया।

बाल-विधवाओं की समस्या की ओर भी उनका ध्यान गया। १९२६ में गांधीजी ने अपने पत्र "यंग इंडिया" में लिखा कि तीन लाख से भी अधिक ऐसी बाल-विधवाएँ थीं जिनकी आयु १५ वर्ष से कम थी। गांधीजी ने इस स्थिति के प्रति गंभीर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि हमारे समाज ने धर्म के नाम पर इन लाखों लड़कियों पर वैधव्य थोपा है। उन्होंने जोर देकर कहा कि उन्हें विधवा जीवन बिताने के लिए मजबूर करना एक "कठोर अपराध" था। गांधीजी ने विचार प्रकट किया कि इन बाल विधवाओं के विवाह को विवाह मानना भारी भूल होगी और उन्होंने नवयुवकों से कहा कि वे ऐसी महिलाओं के साथ विवाह करें। यह उनका विवाह होगा, "पुनर्विवाह" नहीं। गांधीजी के अनुसार बाल-विवाह की प्रथा नैतिक तथा शारीरिक अपराध थी। बाल-विधवा की स्थिति का निराकरण करने पर उन्होंने जोर दिया।

महात्मा गांधी विवाह की व्यवस्था की व्यावहारिक आवश्यकता को पूरी तरह से स्वीकार करते थे। उसे वे एक पवित्र संस्कार मानते थे। दहेज प्रथा का उन्होंने विरोध किया। उनका सुझाव था कि विवाह संस्कार को सरल बनाया जाये। वे चाहते थे कि एक विवाह पर दस रुपये से अधिक न खर्च किया जाये। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके कुछ सुझाव कितने अधिक व्यावहारिक और उपयोगी थे। उन्होंने अन्तर्जातीय और अंतर्सम्प्रदाय विवाहों का भी समर्थन किया।

गांधीजी के आगमन के एक शताब्दी पहले से ही भारत में सामाजिक सांस्कृतिक पुनरुन्नयन का प्रवाह चल चुका था। गांधीजी इसी की उत्पत्ति थे। उन्होंने सामाजिक शक्तियों को राष्ट्रवादिता की ओर मोड़ा। यह इस कारण आवश्यक हो गया था क्योंकि राष्ट्रीय आंदोलन समाज-सुधार आंदोलन से कहीं आगे निकल चुका था। गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रमों से राष्ट्रीयता को प्रोत्साहन मिला। उन्होंने विवेक, नैतिकता और देश-काल की कसौटी पर परंपराओं को कसकर उन्हें अपनाने की प्रेरणा दी जिससे भारत अपनी दिशा में अपने स्वभाव के अनुसार विकसित हुआ। उनके सुधार-आन्दोलन से वह मानसिक पृष्ठभूमि उत्पन्न हुई जिससे स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् समाज-सुधारों को प्रोत्साहित करनेवाले सामाजिक विधान को लाना संभव हो सका।

●●●

उन्नीसवाँ अध्याय

पड़ोसी देशों से भारत सरकार के सम्बन्ध (१८५८-१६१४)

(अफगानिस्तान, बर्मा और तिब्बत पर बढ़ता हुआ ब्रिटिश प्रभाव)

१८५८ से १६१४ के बीच भारत के पड़ोसी राज्यों पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाने के विशेष प्रयास किये गये। इस अवधि में भारत सरकार ने पड़ोसी देशों से सम्बन्ध स्थापित करने में ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के अनुसार कार्य किया। सभी गवर्नर जनरलों ने साम्राज्य की सुरक्षा की चिन्ता की, विस्तारवाद की नीति अपनायी और युद्धों तथा कूटनीति का सहारा लेकर अफगानिस्तान बर्मा और तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभाव स्थापित करने की कोशिशें जारी रखीं। ये गवर्नर जनरल किसी नीति को अपनाने में स्वतंत्र नहीं थे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के इशारों पर कार्य किया। अधिकतर पड़ोसी देशों से सम्बन्ध स्थापित करने की नीति का निर्धारण कलकत्ता से नहीं अपितु लंदन से होता था। इस स्थिति में भारत सरकार ने अनावश्यक रूप से अन्य यूरोपीय शक्तियों से टक्कर ली।

परम निष्क्रियता की नीति

१८६४ से १८७६ तक भारत सरकार ने अफगानिस्तान के प्रति जो नीति अपनायी उसे परम निष्क्रियता की नीति कहा जाता है। इस शब्दावली का प्रयोग सबसे पहले जे० डब्ल्यू० एस० विल्ले ने जान लारेंस की नीति पर प्रकाश डालते हुए उसके समय में ही किया था। इसके बाद यह शब्दावली प्रचलित हो गयी। लेकिन इसका प्रयोग दुर्भाग्यपूर्ण था क्योंकि इससे कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि इस नीति का अनुसरण करने वाले गवर्नर जनरल अफगानिस्तान के प्रति उदासीन नहीं थे। निष्क्रियता का अर्थ यहाँ पर है कि इस समय के गवर्नर जनरलों ने अफगानिस्तान के आंतरिक मामले के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अपनायी।

परम निष्क्रियता की नीति का आरंभ जान लारेंस ने किया। इसी गवर्नर जनरल ने इस नीति का आधार तैयार किया। आवश्यकतानुसार संशोधन करके उसके दो उत्तराधिकारी मेयो और नार्थब्रुक भी इसी नीति को अपनाते रहे। इस कारण लारेंस की नीति का विस्तृत विश्लेषण करने की आवश्यकता है। लारेंस की परम निष्क्रियता की नीति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करके उसकी नीति को समझा जा सकता है।

गृह सरकार का रुख

भारत सरकार अन्य देशों के प्रति नीति अपनाने में स्वतंत्र नहीं थी। गृह सरकार प्रत्येक गवर्नर जनरल की नीतियों को प्रभावित करती रही। इस स्थिति में यह जान लेना

जरूरी है कि लारेंस के कार्यकाल (१८६४-६६) में गृह सरकार का रवैया कैसा था। ब्रिटेन में इस बीच दोनों दलों की सरकारों ने कार्य किया। दोनों ही राजनीतिक दल अफगानिस्तान के मामलों में किसी प्रकार के हस्तक्षेप के विरोधी थे। उन्होंने चाहा कि भारत सरकार अफगानिस्तान के प्रति सुरक्षात्मक नीति अपनाये। इसी प्रकार गृह सरकार अफगानिस्तान के साथ के संबंधों से संतुष्ट थी। उसने लारेंस की नीति का अनुमोदन किया। जब तक गृह सरकार परम निष्क्रियता की नीति से संतुष्ट रही, भारतीय गवर्नर जनरल इसके अनुसार कार्य करते रहे। १८७६ में जब गृह सरकार की नीति बदल गयी तो तत्कालीन गवर्नर जनरल को इसे छोड़ना पड़ा।

परिस्थितियों का प्रभाव

जान लारेंस ने परम निष्क्रियता की जो नीति अपनाई उसका कारण यह भी था कि उसके समय में ब्रिटेन और भारत दोनों ही देशों में वाह्य प्रभाव बढ़ाने से अधिक इस नीति पर बल दिया जाता था कि आंतरिक समस्याओं को सुलझाया जाये। १८५७ के विद्रोह के बाद के कुछ गवर्नर जनरलों ने इसे आवश्यक समझा कि भारत सरकार पड़ोसी राज्यों के प्रश्नों में न उलझ कर आंतरिक प्रश्नों को सुलझाने की कोशिश करे। आर्थिक प्रश्नों को सुलझाना इसलिए भी जरूरी था क्योंकि बजट असंतुलित था। देश के कई भागों में अकाल पड़ा था। लारेंस यह अच्छी तरह जानता था कि अहस्तक्षेप की नीति के अलावा यदि वह अफगानिस्तान की ओर प्रभाव बढ़ाने की नीति अपनायेगा तो उसे अधिक खर्च करना होगा। वह खर्चीली वैदेशिक नीति का विरोधी था। अतः तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार ही उसने निष्क्रियता की नीति का अनुसरण करना ही उचित समझा।

रूस का भय

अफगानिस्तान के प्रति ब्रिटिश सरकार ने जो भी नीति अपनायी उसके मूल में यह प्रश्न पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में बना रहा कि मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव तथा अफगानिस्तान पर रूस के संभावित प्रभाव का मुकाबला किस प्रकार किया जाये। इसके साथ ही प्रत्येक गवर्नर जनरल के लिए यह भी एक महत्त्वपूर्ण सवाल बना रहता था कि रूस के आक्रमण की स्थिति में ब्रिटिश सरकार अपनी सुरक्षा किस प्रकार करेगी। भारतीय सीमा पर रूस के हमले से खतरा अभी भी बना हुआ था। अतः प्रत्येक गवर्नर जनरल के समय रूस की योजनाओं का प्रश्न उठाया जाता था। आज 'रूस का हौवा' केवल एक डरावना स्वप्न मात्र दिखता है। पर उस समय गवर्नर जनरलों को इस 'हौवे' के लिए कुछ-न-कुछ उत्तर देना ही पड़ता था।

अफगान नीति अपनाते समय लारेंस रूसी भय से आतंकित नहीं हुआ। मध्य एशिया में रूस के साम्राज्य के विकास को देखते हुए उसने अहस्तक्षेप की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की राय नहीं दी। गवर्नर जनरल का सुझाव यह था कि ब्रिटिश सरकार रूस के इरादों को समझने की कोशिश करे और दोनों यूरोपीय सरकारें एशिया के प्रति अपनाई

जानेवाली नीति के विषय में समझौता कर लें। उसने रूस और ब्रिटेन के बीच कूटनीतिक बातचीत की आवश्यकता पर पर्याप्त बल दिया।

जान लारेंस का अनुमान था कि रूस मध्य एशिया के उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों से कभी भी भारत पर आक्रमण करने का विचार नहीं करेगा। उसका कहना था कि अगर कभी रूस का भारत पर आक्रमण हुआ भी तो रूसी सेना हेरात के रास्ते से ही आगे बढ़ेगी। इस आधार पर उसने यह नीति अपनाई कि रूस को यारकंद और बुखारा की समस्याओं में उलझा रहने दिया जाये। लारेंस रूस के साम्राज्य-विस्तार से आतंकित नहीं हुआ। उसे विश्वास था कि इससे ब्रिटिश हितों को किसी प्रकार का धक्का नहीं लगेगा। गवर्नर जनरल का कहना था कि रूस जितना भारत की ओर बढ़ेगा उसकी कठिनाइयाँ बढ़ेंगी। इसी कारण उसने यह स्वीकार नहीं किया कि भारतीय सीमा से आगे बढ़कर रूस का विरोध करने की कोई योजना बनाई जाये। कम-से-कम अफगानिस्तान के क्षेत्र में वह किसी प्रकार की सुरक्षा की कार्यवाही का पक्षपाती नहीं था। पंजाब के मैदानी इलाके की सीमा पर ही वह रूस के विरुद्ध किसी सामरिक तैयारी के लिए तत्पर था। लारेंस इस नीति पर दृढ़ रहा और उसने अपने आलोचकों के तर्कों का उत्तर दिया। रूसी आक्रमण के भय के कारण उसने निष्क्रियता की नीति को छोड़ना उचित नहीं समझा। उसे आशंका थी कि किसी अन्य तरह की नीति के अपनाने पर अफगान लोग शंकित हो उठेंगे।

उत्तर-पश्चिमी सीमा-नीति

लारेंस की नीति का एक पक्ष था उत्तर-पश्चिमी सीमा का निर्धारण। अपनी नीति के अनुसार ही उसने सीमा के प्रश्न को तय किया। बल्कि यह कहना उचित होगा कि चूँकि वह हस्तक्षेप के सिद्धांत के विरुद्ध था इसी कारण उसने यह नीति अपनाई कि भारत सरकार सिंध नदी के समानांतर उस सीमा को स्वीकार करे जहाँ से पर्वतीय श्रृंखला आरंभ होती थी। सिंध नदी के निकट की इस पर्वतीय सीमा के क्षेत्र से आगे बढ़कर सुरक्षा की तैयारी करने को वह तैयार नहीं हुआ। अभी तक भारतीय सीमा और अफगानिस्तान की वास्तविक सीमा-रेखा के बीच एक लंबा पर्वतीय क्षेत्र था, जहाँ पर अलग-अलग पठान जातियाँ रहती थीं। इस स्थिति के कारण उसके शासन-काल से ही यह माँग की जाने लगी कि भारत सरकार सिख शासन के समय की सीमा से अफगानिस्तान की ओर आगे बढ़े और सीमा पर स्थित कबीलों पर प्रभुत्व स्थापित करे। यह माँग भी की गयी थी कि रेलवे लाइनों के जाल को भी इस ओर बढ़ाया जाये। पर लारेंस अग्रगामी नीति की माँग करने वालों से प्रभावित नहीं हुआ। रूस के आक्रमण के विरुद्ध तैयारी के लिए भी उसने सीमा से आगे बढ़ने की नीति को नहीं माना। इस सीमा-नीति को अपनाने का एक ध्येय यह भी था कि जब तक भारतीय सीमा अफगानिस्तान से दूर थी उस समय तक अफगान सरकार को अंग्रेजों के इरादों से डर नहीं हो सकता था। लारेंस की सीमा-नीति से अहस्तक्षेप के सिद्धांत को बढ़ावा मिला और अमीर भारत की सुरक्षा तैयारियों से परेशान नहीं हुआ।

अफगान गृह-युद्ध

१८६३ में दोस्त मोहम्मद की मृत्यु हो जाने से अफगानिस्तान में एक नयी स्थिति पैदा हो गयी जिसमें लारेंस की सरकार को अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ी। यही वह अवसर था जब लारेंस ने अफगानिस्तान के प्रति परम निष्क्रियता की नीति को अपनाकर भविष्य के लिए आधार तैयार किया।

दोस्त मोहम्मद की मृत्यु के पश्चात् अफगानिस्तान में जो गृह-युद्ध आरंभ हुआ वह छह वर्षों तक चलता रहा। इस प्रकार जितने समय लारेंस गवर्नर जनरल रहा उस अवधि में यह संघर्ष चला। दोस्त मोहम्मद के सोलह लड़कों में से कम-से-कम पाँच ने काबुल की गद्दी के लिए संघर्ष किया। उत्तराधिकार के किसी भी नियम का पालन अफगानिस्तान में नहीं होता था और शासक वही बनता था जो अन्य प्रतिद्वन्द्वियों से अधिक बलशाली साबित हो।

जान लारेंस ने गृह-युद्ध के दौरान जिस नीति का पालन किया उसकी चार स्थितियाँ थीं। पहली स्थिति के अनुसार उसने १८६४ में कार्य किया। काबुल की गद्दी पर दोस्त मोहम्मद के पुत्र शेर अली का अधिकार हो गया था। गवर्नर जनरल ने इस कारण शेर अली को दोस्त मोहम्मद का उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया। कुछ समय बाद शेर अली ने गवर्नर जनरल से माँग की कि एक नयी मित्रता संधि की जाये, उसे सैनिक सहायता के रूप में छह हजार बंदूकें दी जायें और उसके पुत्र को उत्तराधिकारी मानकर ब्रिटिश सरकार मान्यता दे। शेर अली ऐसी संधि करना चाहता था जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार उसे मदद देने का संकल्प करे। पर लारेंस ने पूर्णरूप से तटस्थता की नीति अपनायी। उसने उत्तर दिया कि किसी भी नयी संधि की आवश्यकता नहीं थी। गवर्नर जनरल इसके पूर्व की गयी १८५५ की संधि से संतुष्ट था। उसने शेर अली को किसी प्रकार की सैनिक सहायता भी नहीं दी। कई लेखकों ने गवर्नर जनरल के इस रवैये की आलोचना की है। उनका कहना है कि १८६४ में ही शेर अली को उचित सहायता दी जानी चाहिए थी। इससे उसका पक्ष प्रबल होता और अफगानिस्तान का गृह-युद्ध इतनी लंबी अवधि तक न चलता।

अब हम अफगान गृह-युद्ध की दूसरी स्थिति पर विचार करेंगे। शेर अली ने करीब तीन वर्षों तक काबुल पर अधिकार बनाए रखा। इस बीच भी उसकी स्थिति डाँवाडोल ही थी क्योंकि उसके दो भाई अफजल खाँ और अजीम खाँ उसका लगातार विरोध कर रहे थे। मई, १८६८ में शकाबाद के स्थान पर जो युद्ध हुआ उसमें शेर अली हार गया। उसे काबुल के बाहर खदेड़ दिया गया। अफजल खाँ अमीर बन गया। इस समय यह आवश्यक हो गया कि लारेंस अपनी नीति की स्पष्ट व्याख्या करे। उसने नये अमीर को बधाई दी लेकिन इसके साथ-साथ वह शेर अली के साथ मित्रता का संबंध तोड़ने को तैयार नहीं हुआ। गवर्नर जनरल ने साफ-साफ शब्दों में अफजल खाँ को लिख दिया कि 'इस सरकार के संबंध अफगानिस्तान के वास्तविक प्रशासक से हैं।' जहाँ एक ओर वह अफजल खाँ को काबुल का अमीर मानने को तैयार था वहीं दूसरी ओर वह शेर अली से भी संबंध तोड़ने को तैयार

नहीं हुआ। लारेंस ने शेर अली को अफगानिस्तान के उस भाग का अमीर मान लिया जिस पर उसका कब्जा था। इस प्रकार एक ही समय में ब्रिटिश सरकार दो अमीरों को मान्यता देती रही। तटस्थता की नीति के फलस्वरूप अफगानिस्तान के दो या तीन भागों में बँट जाने से भी उसे कोई चिंता नहीं थी।

अफगानिस्तान में हो रहे संघर्ष में गवर्नर जनरल ने अपनी नीति का स्पष्टीकरण देते हुए लिखा : "इस बीच हम एकदम तटस्थ रहना चाहते हैं-- अफगान स्वयं अपने शासकों का चुनाव करें। अंत में जो सरदार देश में अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल होगा, उसी को सद्भावना के साथ मान्यता देने को हम तैयार रहेंगे।" गवर्नर जनरल ने कुछ समय बाद अपनी नीति का निरूपण इन शब्दों में किया : "स्पष्ट रूप से यह प्रकट करना कि हम संघर्ष में हस्तक्षेप नहीं करेंगे, कि हम किसी भी पक्ष को सहायता नहीं देंगे, कि हम अफगानों को अपने झगड़ों का फैसला स्वयं करने देंगे।"

घटना-चक्र के हर मोड़ पर लारेंस अपनी नीति पर दृढ़ बना रहा। तीसरी स्थिति उस समय सामने आयी जब शेर अली का अधिकार कंदहार पर भी समाप्त हो गया। अब ब्रिटिश सरकार ने अफजल खाँ को काबुल और कंदहार का अमीर स्वीकार कर लिया। शेर अली के हाथ में अभी हेरात का क्षेत्र था। इसलिए उसे हेरात के अमीर के रूप में मान्यता प्राप्त रही।

चौथी स्थिति तक पहुँचने पर यह संघर्ष समाप्त हो गया। करीब अठारह महीनों तक काबुल पर शासन करने के बाद अफजल खाँ की मृत्यु हो गयी। उसका भाई आजिम नया शासक बना। गवर्नर जनरल ने उसे भी बधाई का संदेश भेजा। काबुल में हुए सत्ता के इस परिवर्तन से शेर अली को मौका मिल गया। सेना को संगठित करके शेर अली ने काबुल पर आक्रमण किया और अपने खोए हुए प्रदेशों को एक बार फिर प्राप्त कर लिया। जून, १८६९ तक उसने अपने सब विरोधियों पर काबू पा लिया था।

जान लारेंस ने शीघ्र ही शेर अली को अफगानिस्तान के अमीर के रूप में तो मान्यता प्रदान ही कर दी पर वह अब एक कदम और भी आगे बढ़ गया। वह अमीर को सैनिक और आर्थिक सहायता देने को तैयार हो गया। इतिहासकार एच०एच० डाडवेल कहते हैं कि इस प्रकार लारेंस ने "निष्क्रियता की नीति को शीघ्र ही समाप्त कर दिया।" यह कथन पूर्णतया भ्रामक है। डाडवेल लारेंस की नीति के आलोचक हैं और उन्हें यही एक मौका मिला जब वे उसकी नीति की कमजोरी सिद्ध कर सकते थे। यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि लारेंस ने कभी भी अपनी नीति नहीं छोड़ी और उसके जाने के बाद भी उसके उत्तराधिकारी उसकी नीति को अपनाते रहे। हाँ, यह कहा जा सकता है कि उसने अपनी नीति में थोड़ा परिवर्तन कर लिया। लेकिन हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि यह परिवर्तन उसने कब किया। गृहकलह के दौरान उसने अपनी नीति को यथावत् बनाये रखा। संघर्ष की समाप्ति के बाद उसने अनुभव किया कि शेर अली के हाथों को मजबूत करने की आवश्यकता थी। अफगानिस्तान में अस्थिरता को समाप्त करने के लिए वह अमीर को सहायता देने के लिए

राजी हो गया। समय और परिस्थिति के अनुसार किसी भी नीति में संशोधन करना पड़ता है। उसने भी ऐसा ही किया। पर उसने निष्क्रियता की नीति के मूल आधारों को बनाये रखा।

जान लारेंस की परम निष्क्रियता की नीति की समीक्षा

लारेंस की नीति को लेकर इतिहासकारों में मतभेद हैं। यहाँ हम नीति के पक्ष और विपक्ष में जो तर्क प्रस्तुत किये गये हैं उनका वर्णन कर रहे हैं। पहले हम निष्क्रियता की नीति के समर्थकों के विचार प्रस्तुत करेंगे।

१. लारेंस के समर्थकों को कहना है कि यदि गवर्नर जनरल गृह-युद्ध में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार हो जाता तो इसका अर्थ होता कोई दूसरा अफगान युद्ध, सैनिक खर्च और सेना का आवागमन। किसी एक प्रतिद्वंद्वी का पक्ष लेने से युद्ध में फँसना पड़ता। १८५७ के बाद एक दशक में ही ऐसा कुछ भी करना घातक नीति सिद्ध हो सकता था।

२. लारेंस को अफगानों के विषय में काफी जानकारी थी। उसकी दोस्त मोहम्मद से भी बातचीत हुई थी। इस अनुभव के आधार पर वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि अफगान लोग अपने देश के मामलों में किसी भी बाहरी ताकत का हस्तक्षेप स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। यह उचित ही था कि उन्हें अकेला छोड़ दिया जाता। यह तभी संभव हो सकता था जब कि ब्रिटिश सरकार तटस्थ रहे और केवल वक्तव्यों से ही नहीं अपितु वास्तविक रूप से इसी आधार पर कार्य करे।

३. एक बार यदि ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप करती तो इसका अर्थ होता बार-बार अफगानिस्तान के मामलों में फँसना। यह न तो आवश्यक था और न संभव ही।

४. भारत को अफगानिस्तान से तथा उसके गृह-युद्ध से किसी प्रकार का तात्कालिक खतरा नहीं था। अतः भारत सरकार को गृह-युद्ध की घटनाओं और उसके नतीजों के बारे में रुचि लेने की आवश्यकता नहीं थी। लारेंस को किसी खास प्रतिद्वंद्वी की सहायता करने से कोई भी लाभ नहीं मिलता।

५. जब रूस अफगान विवाद में दखल नहीं दे रहा था तो कोई कारण नहीं था कि भारत सरकार हस्तक्षेप करती। इससे रूस को भी हस्तक्षेप करने का बहाना मिल जाता। आशंका यह थी कि इससे अंतर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो जाता।

६. लारेंस की नीति का एक नैतिक पक्ष भी था। भारत को अफगानिस्तान की आंतरिक घटनाओं को प्रभावित करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं था। १८५५ की संधि के अनुसार भारत सरकार अलग रहने के लिए वचनबद्ध थी।

इन आधारों पर जान लारेंस की नीति को उचित ठहराया गया। पर उसके आलोचक इस नीति की भर्त्सना करते हैं। उन्होंने निष्क्रियता की नीति के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये हैं:-

१. पूरी तरह से तटस्थता का सिद्धांत न तो अपेक्षित था और न संभव ही। लारेंस स्वयं

आवश्यकता पड़ने पर हस्तक्षेप के लिए तैयार हो गया। वह शेर अली को सहायता देने के लिए तैयार हो गया।

२. यह नीति अवसरवादिता की नीति थी। इससे किसी भी अफगान शासक का दिल नहीं जीता जा सकता था। यदि ब्रिटिश सरकार उसे गद्दी हासिल करने में मदद नहीं करती तो फिर वह भी अमीर से मदद की आशा किस प्रकार से कर सकती थी।

३. राजनीति में नैतिक और कानूनी पक्षों का कोई भी अर्थ नहीं होता और किसी भी नीति को अपनाते समय इनकी दुहाई देने से कोई लाभ नहीं था।

४. आलोचकों का कहना है कि गवर्नर जनरल में दूरदर्शिता की कमी थी। वह यह निश्चय नहीं कर सका कि कौन सा राजकुमार योग्य था और सत्ता हथिया सकता था। अगर वह यह जान सकता तो उसने सहायता अवश्य दी होती।

५. यह कोई गारंटी नहीं थी कि ब्रिटिश सरकार के चुप रहने के परिणामस्वरूप रूस अफगानिस्तान पर प्रभाव जमाने का प्रयत्न नहीं करता।

६. आलोचकों का यह मत भी है कि वाइसराय की इस प्रकार की हिचकिचाहट के कारण अफगानिस्तान में समय-समय पर गृह-युद्धों की संभावना बनी रही। भारत के पड़ोसी देश में यह अस्थिरता किसी भी समय ब्रिटिश सरकार के लिए समस्याएँ पैदा कर सकती थी।

अंत में हम कह सकते हैं कि साम्राज्यवाद के समर्थक लारेंस की नीति की आलोचना करते रहे। लारेंस की नीति अनुभव पर आधारित थी। डा० धर्मपाल ने उसकी नीति की विवेचना करते हुए ठीक ही कहा है कि "लारेंस की परम निष्क्रियता की नीति समय की कसौटी पर खरी उतरी।" लेखक का मत है कि अफगानिस्तान और ब्रिटिश सरकार के संबंधों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि लारेंस की नीति न्यायसंगत थी। भविष्य की घटनाओं ने इस नीति के महत्त्व को कम नहीं किया।

जान लारेंस के बाद परम निष्क्रियता की नीति का अनुसरण

लारेंस के विदा होने के पश्चात् जो दो गवर्नर जनरल भारत आये उन्होंने भी निष्क्रियता की नीति का अनुसरण किया। मेयो (१८६९ से ७२) और नार्थब्रुक (१८७२ से १८७६) के कार्यकाल में, आवश्यक परिवर्तनों के साथ, अफगानिस्तान के प्रति इसी नीति को अपनाया गया।

भारत से जाने के पूर्व लारेंस शेर अली से भेंट करना चाहता था। अमीर भी भेंट करने को तैयार था। पर अमीर को भारत आने में कुछ विलंब हो गया। लारेंस के उत्तराधिकारी मेयो ने शेर अली से मुलाकात करने में तनिक भी विलंब नहीं किया। मार्च, १८६९ में वाइसराय और शेर अली के बीच अंबाला में भेंट हुई। शेर अली अपने स्वागत से बड़ा प्रसन्न हुआ। भारत आकर वह ब्रिटिश साम्राज्य की शक्ति से प्रभावित हुआ। शेर अली का भारत आने का प्रयोजन यह था कि दोनों राज्यों कि बीच पक्की मैत्री-संधि हो जाये

और ब्रिटिश सरकार आंतरिक विद्रोह और वाह्य आक्रमण के समय उसकी सुरक्षा का वचन दे। पर ये माँगें मेयो की सरकार की निष्क्रियता की नीति से मेल नहीं खाती थी। इस कारण गवर्नर जनरल ने न तो किसी प्रकार की सुरक्षा संधि की और न यह गारंटी ही दी कि भारत सरकार अमीर की अथवा उसके उत्तराधिकारियों की रक्षा करेगी। इन आश्वासनों का अर्थ होता अफगान मामलों में उलझना। केवल शेर अली को तात्कालिक आवश्यकता के अनुसार आर्थिक सहायता तथा बंदूकें देने को वह तैयार हो गयी। ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर सहायता देने का वचन दिया। पर इसके लिए कोई स्थायी समझौता नहीं किया गया। नार्थब्रुक ने भी इसी प्रकार की नीति का पालन किया। जब उसपर गृह सरकार ने अधिक दबाव डाला तो उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। लेकिन उसने चलते समय भी गृह सरकार से यही कहा कि तटस्थता की नीति भी बनाये रखना ब्रिटिश हित में होगा।

द्वितीय अफगान युद्ध

१८७६ में लिटन गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त होकर भारत आया और उसके आते ही ब्रिटिश सरकार ने सक्रिय होकर अफगानिस्तान पर राजनीतिक प्रभाव जमाने की नीति अपनाई। घटनाक्रम में लगातार तेजी आती गयी। पहले लिटन ने शेर अली के सम्मुख अपनी माँगें पेश कीं। जब अमीर इन माँगों को बातचीत के द्वारा मानने को तैयार नहीं हुआ तो वाइसराय ने तलवार की सहायता से अफगानिस्तान पर अपना फैसला लादने का निर्णय किया। हमें उन परिस्थितियों पर विचार करना है जिनके कारण लिटन ने इस प्रकार का निर्णय करके दूसरा अफगान युद्ध आरंभ किया।

ब्रिटिश अनुदार दल सरकार की नयी नीति

१८७४ में ब्रिटेन में जो आम चुनाव हुए उनमें एक लंबी अवधि के बाद अनुदार दल को पार्लियामेंट में बहुमत मिला। डिजरेली प्रधान मंत्री बना। ब्रिटेन में हुए इस राजनीतिक परिवर्तन ने भारतीय वैदेशिक नीति को बहुत अधिक प्रभावित किया। यह दल प्रभावशाली वैदेशिक नीति का पोषक था तथा ब्रिटिश साम्राज्य को अधिक सुदृढ़ करना इसका लक्ष्य था। डिजरेली और उसके सहयोगियों ने अफगानिस्तान के प्रति अब तक अपनायी गयी नीति को दोषपूर्ण बताया। ब्रिटिश सरकार ने इसे बदलकर नयी नीति अपनाने का निश्चय किया। इस प्रकार गृह सरकार के प्रभाव के कारण परम निष्क्रियता की नीति को समाप्त कर दिया गया। जिस नयी नीति को अपनाने की योजना बनाई गयी उसका आधारभूत सिद्धांत था अफगानिस्तान पर ब्रिटिश प्रभाव बढ़ाना। नार्थब्रुक से कहा गया कि वह अपने रवैये को बदले। लेकिन नार्थब्रुक इससे सहमत नहीं हुआ। गृह सरकार के बदले हुए रुख के कारण उसने इस्तीफा देना उचित समझा।

लिटन की नियुक्ति

अब ब्रिटिश सरकार को १८७६ में अवसर मिला कि वह गवर्नर जनरल के पद पर ऐसे व्यक्ति को भेजे जिसे अनुदार दल की नीतियों पर विश्वास हो और जो उसकी नीतियों

के अनुसार कार्य करने को तैयार हो। डिजरेली ने लिटन का चुनाव किया। नया गवर्नर जनरल अपने कार्यकाल के दौरान अफगान समस्या में ही फँसा रहा। नियुक्ति के समय लिटन को गोपनीय निर्देश दिये गये थे। यद्यपि यह स्पष्ट है कि गृह सरकार ने लिटन के समय भारतीय वैदेशिक नीति को प्रभावित किया तो भी यह जान लेना आवश्यक है उसने केवल नीति संबंधी कुछ निर्देश ही दिये थे तथा समय-समय पर आवश्यक सलाह दी। किंतु इस नीति पर किस ढंग से अमल किया जाये, यह गुरुतर दायित्व स्वयं लिटन को दिया गया था। वही घटनाओं को निकट से देख रहा था और उसी से युद्ध करने का निश्चय किया। इस कारण द्वितीय अफगान युद्ध के लिए हम परोक्ष रूप से ब्रिटेन की सरकार को तथा प्रत्यक्ष रूप से लिटन को उत्तरदायी मानते हैं।

लिटन की अफगान नीति की विशेषताएँ

लिटन ने जिस नयी अफगान नीति का अनुसरण किया उसकी विशेषताओं पर विचार कर लेना उपयोगी होगा।

लिटन ने अग्रगामी वैदेशिक नीति अपनायी। अग्रगामी नीति का अर्थ है पड़ोस के क्षेत्रों को अधिकाधिक ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्र में लाने तथा साम्राज्य-विस्तार करने की नीति। उसने निष्क्रियता की नीति को पलट दिया। जहाँ पहले अफगानिस्तान के मसलों से दूर रहा जाता था वहाँ अब ब्रिटिश सरकार इनमें दिलचस्पी लेने लगी। यह दिलचस्पी केवल दिखावटी नहीं थी। यह पूरी तरह से वास्तविक थी और अफगानिस्तान की घटनाओं की जानकारी प्राप्त करने का प्रयास किया जाने लगा।

पिछले कुछ वर्षों में रूस का प्रभाव मध्य एशिया क्षेत्र में बढ़ा था। रूस ने समरकंद पर अधिकार कर लिया था। बुखारा और रबीव राज्यों ने भी उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसके बाद रूस ने कोहकंद पर चढ़ाई की थी। धीरे-धीरे रूसी साम्राज्य अफगानिस्तान की उत्तर-पश्चिमी सीमा के निकट आता जा रहा था। मर्व और तुर्कमान प्रदेश के क्षेत्रों पर भी रूस अधिकार करने की कोशिश कर रहा था। इन प्रदेशों को अधिकार में कर लेने से रूस के लिए हेरात पर दबाव डालना आसान हो सकता था। मध्य एशिया में रूस की इन गतिविधियों के विरुद्ध कार्यवाही करने का निश्चय लिटन ने किया। यह भी कहा जा सकता है कि उसे रूसी साम्राज्य के विकास के कारण अग्रगामी नीति अपनाने का बहाना मिल गया। रूस का भय दिखाकर वाइसराय ने पड़ोस के क्षेत्रों पर प्रभाव जमाने की नीति अपनाई और इस ओर सक्रिय कदम उठाये। साम्राज्यवादी विस्तार का यह निराला तरीका था।

भारत आने के पहले ही लिटन ने यह धारणा बना ली थी कि ब्रिटेन की तुलना में रूस के हाथ में अमीर शेर अली को प्रभावित करने के अधिक साधन थे। भारत आने के बाद भी बार-बार वाइसराय इसी बात को दुहराता रहा कि अमीर और रूस के बीच गुप्त संपर्क बढ़ता जा रहा था। अपनी नीति को सही सिद्ध करने के लिए लिटन ने रूस और शेर अली के बीच साठ-गाँठ का भ्रम फैलाया। ऐसा करके ही वह अमीर शेर अली को

ब्रिटिश साम्राज्य का विरोधी बताकर उसकी निंदा कर सकता था। अगर लिटन इस मायाजाल को न फैलाता तो वह अफगानिस्तान के प्रति अपनी कार्यवाही को उचित नहीं ठहरा सकता था। बड़ी चतुराई से उसने गृह सरकार की निगाह में शेर अली की तस्वीर को काले रंग से रंगना शुरू कर दिया जिससे जब उसको दबोचने का षड्यंत्र रचा गया हो किसी ने भी वाइसराय को रोकने की कोशिश नहीं की। वाइसराय द्वारा लिखे हुए पत्र अमीर की निंदा से भरे पड़े हैं। उनमें से एक आध उदाहरण देना पर्याप्त होगा। अमीर का जिक्र करते हुए उसने लिखा--"मैं उसे कभी भी रूस के हाथों का खिलौना नहीं बनने दूँगा। मेरा यह कर्तव्य होगा कि मैं ऐसे खिलौने को तोड़ डालूँ जिसका उपयोग हमारे खिलाफ हो सकता था।" लिटन का सिद्धांत बिल्कुल स्पष्ट था। यदि अमीर ब्रिटिश सरकार द्वारा बढ़ाये गये दोस्ती के हाथ से हाथ मिलाने को तैयार नहीं था तो फिर वह वाइसराय की दृष्टि में दुश्मन था। उसने "या तो आप मित्र हैं अथवा शत्रु" की नीति अपनायी। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उसकी निगाह में मित्र वही था जो वाइसराय की मर्जी के मुताबिक आचरण करने को राजी हो।

लिटन स्वयं अपना शत्रु साबित हुआ। किसी भी नीति की सफलता अथवा असफलता इस तथ्य पर इतना निर्भर नहीं करती कि नीति कितना सोच-विचार कर बनायी गयी है बल्कि आधारभूत आवश्यकता यह होती है कि उक्त नीति का पालन किस प्रकार किया जाता है। लिटन की नीति तो दोषपूर्ण थी ही, पर उसने जिस मनमाने ढंग से अमीर को काबू में करना चाहा वह तरीका उचित नहीं था। लिटन की सबसे बड़ी कमजोरी थी उसका उतावलापन। उसने जिस जल्दबाजी में निर्णय किये उनकी चर्चा हम आगे चलकर करेंगे। उसने चाहा कि शेर अली विनम्र और अधीन बनकर उसके बताये रास्ते को अपनाये। अगर उसे यह मालूम पड़ा कि अमीर स्वतंत्र ढंग से कार्य कर रहा था तो उसने उसको गद्दी से हटाने की नीति अपनायी।

अमीर का विश्वास जीतने के बजाय उसे डराकर लिटन ने अफगानिस्तान पर ब्रिटिश प्रभाव जमाने की नीति का अनुसरण किया। परिणाम यह हुआ कि अमीर शेर अली उसकी ओर खिंचने के बजाय उससे और भी दूर होता गया। दोनों पक्षों के बीच आशंकाओं और अविश्वास की खाई बढ़ती गयी और इस बढ़ते हुए तनाव ने युद्ध को जन्म दिया। लिटन के व्यवहार के फलस्वरूप शांतिपूर्ण विचार-विनिमय असंभव हो गया। कोई आश्चर्य नहीं कि संकट समाप्त न होकर और अधिक गहरा होता गया। वाइसराय ने मध्य एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव की समस्या का समाधान करने के अपने अभीष्ट लक्ष्य की पूर्ति के लिए अमीर को शत्रु घोषित करके उससे युद्ध करने का बहाना खोज निकाला।

ब्रिटिश मिशन भेजने का निर्णय

लिटन ने भारत आने के तुरंत बाद ही अफगानिस्तान की ओर ध्यान दिया। उसने अमीर को सूचित किया कि एक ब्रिटिश मिशन काबुल भेजा जा रहा था। अमीर की सुविधा का कोई ध्यान नहीं रखा गया और न उसकी पूर्व अनुमति ही प्राप्त की गयी। केवल उसे

जानकारी दे दी गयी और उससे पूछा गया कि वह किस स्थान पर ब्रिटिश मिशन का स्वागत करेगा। इससे समझा जा सकता है कि वाइसराय ने किस ढंग से अपनी नीतियों पर अमल किया। मिशन का उद्देश्य यह बताया गया था कि ब्रिटिश प्रतिनिधि दोनों सरकारों के सामान्य हितों पर विचार-विनिमय करेगा।

अमीर इस ब्रिटिश मिशन का स्वागत करने को तैयार नहीं हुआ। अमीर यह नहीं चाहता था कि कोई भी अंग्रेज उसके देश में भ्रमण करे। अमीर ने प्रत्युत्तर में कहा कि वह नये वाइसराय की इच्छा जानने के लिये अपना प्रतिनिधि भेजेगा।

प्रस्तावित मिशन के अस्वीकार किये जाने के बाद लिटन चुप बैठने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने अमीर के दूत भेजने के सुझाव को नहीं माना। उसने एक बार फिर मिशन के प्रस्ताव को दुहराया। अमीर को संकेत दिया गया कि वह अस्वीकृति के परिणामों पर भी विचार कर ले। वाइसराय ने आशा की थी कि अफगान शासक चेत जायेगा। इस बार अमीर ने दूसरा ही तरीका अपनाया। उसने किसी प्रकार का उत्तर भेजने में काफी समय लगा दिया। पर हम उसकी आनाकानी के लिये उसे दोषी नहीं मान सकते क्योंकि अमीर अधिकारों की सीमा के भीतर था। डा० विशेश्वरप्रसाद लिखते हैं कि "ब्रिटिश सरकार ने तो अमीर को फँसाने के लिये जाल बिछा दिया था पर अमीर ने उससे बच निकलने की अपनी इच्छा तथा उत्साह दोनों का ही परिचय दिया।"

कुछ समय बाद दोनों पक्षों के बीच अप्रत्यक्ष तरीकों से संपर्क स्थापित किया गया। अमीर ने भारत सरकार द्वारा काबुल में नियुक्त प्रतिनिधि को अपनी नीति समझायी और इस प्रतिनिधि ने शिमला जाकर वाइसराय के सम्मुख अमीर का पक्ष प्रस्तुत किया।

जनवरी से मार्च, १८७७ के बीच पेशावर में अमीर के प्रतिनिधि और वाइसराय के प्रतिनिधि के बीच जो बातचीत हुई उसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। यह स्थिति दुर्भाग्यपूर्ण थी कि लिटन और शेर अली के बीच आरंभ से ही तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गयी और दोनों पक्ष एक दूसरे के दृष्टिकोणों को उचित ढंग से न तो प्रस्तुत कर सके और न समझ ही सके।

उत्तर-पश्चिमी सीमा पर गतिविधियाँ

इस समय तक उत्तर-पश्चिमी सीमा-क्षेत्र और अफगान सीमा के बीच एक विस्तृत पर्वतीय इलाका ऐसा था जिस पर दोनों सरकारों में से किसी का वास्तविक अधिकार नहीं था। जब वार्ताएँ असफल हो गयीं तो लिटन ने इस सीमावर्ती क्षेत्र पर गतिविधियाँ तेज कर दीं। कबीलों को अंग्रेजों के अधीन करने के प्रयत्न तेज कर दिये गये। नयी परिस्थितियों में उसकी नीति थी ब्रिटिश सीमा पर सैनिक कार्यवाही करके उपयुक्त अड्डे बनाना और अप्रत्यक्ष तरीकों से अमीर पर दबाव डालना। क्वेटा पर सैनिक कार्यवाहियाँ बढ़ा दी गयी। कुर्रम घाटी में रहने वाली अफगान जातियों से संपर्क करके उनसे यह माँग की गयी कि वे क्षेत्र में यातायात खोलने में ब्रिटिश सरकार की मदद करें। चितराल, दीर और स्वात पर भी ब्रिटिश प्रभाव बढ़ा।

अफगानिस्तान को विघटित करने की योजना

१८७७ के मध्य में एक अन्य योजना पर भी लिटन विचार करने लगा। यहाँ पर लिटन की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति खुले तौर पर प्रकट होती है। उसने गृह सरकार से यह माँग की कि रूसी शक्ति का विरोध करने के लिए उसे हेरात पर मजबूती से पैर जमाने की अनुमति दे दी जाये। यह वाइसराय की महत्त्वाकांक्षा प्रदर्शित करता है। वह कोशिश करने लगा कि किसी भी मौके पर पश्चिमी अफगानिस्तान को अमीर के नियंत्रण से हटाकर वह अपने प्रभाव में कर ले। इसका अर्थ यह भी हुआ कि वह इसके लिए भी तैयार था कि अफगानिस्तान के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायें। वह अफगानिस्तान को कमजोर और विघटित करने पर तुल गया क्योंकि उसका अनुमान था कि ऐसी स्थिति में इस प्रदेश पर ब्रिटिश प्रभाव सरलता से स्थापित किया जा सकेगा। उसने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छल-कपट का भी सहारा लिया पर यथार्थ में उसे हेरात पर अधिकार करने का अवसर तभी मिल सकता था जब युद्ध छिड़ जाये। अपना सारा बल और नीति-कौशल उसने इसी दिशा में लगा दिया।

यूरोपीय घटनाओं का प्रभाव

कई प्रमुख लेखकों का मत है कि १८७७-७८ में यूरोप के बल्कान क्षेत्र में होनेवाली घटनाओं ने भी द्वितीय अफगान युद्ध को निकट ला दिया। रूस और टर्की के बीच युद्ध शुरू हो जाने पर ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने धमकी दी कि वह भी रूस के खिलाफ सेनाएँ एकत्र करेगा। कुछ समय तक ऐसा लगा कि ब्रिटेन और रूस के बीच लड़ाई छिड़ने ही वाली थी। इन घटनाओं का प्रभाव अफगानिस्तान की सीमा पर पड़ा। ब्रिटेन पर दबाव डालने के उद्देश्य से रूस ने ओक्सस नदी तक अपनी सेनाएँ आगे बढ़ा दी। और यहाँ पर उनका जमाव बढ़ा। अफगान सीमा पर रूसी प्रभाव जब बढ़ता हुआ दिखाई देने लगा तो ब्रिटिश अधिकारी शंकित हो उठे। लिटन को दो ही विकल्प दिखाई दिये। या तो वह अमीर के साथ समझौता करके कोई व्यवस्था कर ले अथवा उस पर कोई व्यवस्था लादकर ब्रिटिश हितों को सुरक्षित करे। यदि यह संभव न हो सका तो वह अफगानिस्तान को विभाजित करके उस देश के उतने क्षेत्र पर ब्रिटिश अधिकार स्थापित करने को तैयार हो गया जो उसे उपयोगी दिखा।

रूसी मिशन का काबुल आगमन

बल्कान संघर्ष में ब्रिटेन के रुख के उत्तर में रूस ने एक कूटनीतिक कदम उठाया। उसने एक रूसी मिशन काबुल भेजा जिसका नेतृत्व जनरल स्तोलिएतोव कर रहा था। यह मिशन इस आशा से भेजा गया था कि इससे अमीर शेर अली का समर्थन और विश्वास प्राप्त हो सकेगा। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस मिशन के प्रति अमीर ने किस प्रकार की नीति अपनायी। यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि वह रूस के मिशन के आने से नाराज और भयभीत था। उसने उसे रोकना भी चाहा था पर वह मिशन को रोक नहीं सका।

जुलाई, १८७८ में रूसी मिशन कावुल आया और एक महीने के करीव रुककर अगस्त, १९७८ में वह कावुल से वापस चला गया। मिशन के चले जाने से ऐसा लगा कि ब्रिटेन और अफगानिस्तान के बीच विरोध की स्थिति समाप्त हो गयी थी और विपत्ति टल गयी थी। ऐसा नहीं लगता कि इस मिशन से रूस को अफगानिस्तान में कोई लाभ मिले। यह मिशन बर्लिन कांग्रेस के बाद आया था। दोनों देशों के बीच बल्कान क्षेत्र में समझौता हो चुका था। इस कारण लिटन को रूसी मिशन से भड़कने की कोई जरूरत नहीं थी।

अली मस्जिद की घटना

लिटन ने रूसी मिशन की घटना से तुरंत लाभ उठाने का निश्चय किया। २० सितंवर, १८७८ को एक ब्रिटिश मिशन कावुल की ओर भेज दिया गया। इस मिशन को भेजते समय यह कहा गया था कि अगर·अमीर ने रूस के मिशन को काबुल आने की अनुमति दी थी तो फिर उसे ब्रिटिश मिशन के लिए कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए। मिशन भेजकर ब्रिटिश सरकार संवंधित पक्षों को यह दिखा देना चाहती थी कि उसका अमीर पर नियंत्रण था। साथ ही इस समय रूसी प्रभाव के प्रतिरोध में भी कार्यवाही करना आवश्यक माना गया। मिशन के नेता से यही कहा गया था कि वह अफगानिस्तान में ब्रिटिश राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने के उद्देश्य से अमीर का सहयोग प्राप्त करे। निश्चित समझौते में सहयोग की शर्तें साफ-साफ लिखे जाने की योजना भी थी।

ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल भेजने में वाइसराय ने अनावश्यक जल्दवाजी की । पहले से अमीर की स्वीकृति प्राप्त नहीं की गयी। जव यह पूरी आशा थी कि अमीर ब्रिटिश अधिकारियों से मिलने में कोई आपत्ति नहीं करेगा तो उसके ऊपर इस मिशन को लादने की कोशिश क्यों की गयी, इसका उत्तर आसानी से देना कठिन है। इस समय अमीर अपने प्यारे बेटे अब्दुल्ला जान की मृत्यु से दुःखी था। वह यह जानकर क्षुब्ध भी था कि ब्रिटिश सरकार की ओर से सीधे उसके अधिकारियों को पत्र लिखे गये थे। यह भी कहा जा सकता है कि अमीर शेर अली ने भी सूझ-बूझ से काम नहीं लिया और मिशन को रोककर उसने अपने लिए विपत्ति मोल ले ली।

यह दिखाई पड़ रहा था कि शेर अली प्रसन्न नहीं था। उसकी अनुमति भी प्राप्त नहीं हुई थी। उसका उत्तर न मिलने पर भी ब्रिटिश प्रतिनिधिमंडल को भारतीय सीमा पार करके आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी गयी। अली मस्जिद की सीमा चौकी के अफगान अधिकारी ने भी कुछ कठोर रुख अपनाया। उसने इस मिशन को अली मस्जिद के निकट रोक दिया और अफगान राज्य के भीतर वढ़ने नहीं दिया। जैसे ही लिटन को इस घटना की खबर मिली, उसने अंग्रेज अधिकारियों को वापस बुला लिया।

युद्ध की घोषणा

अली मस्जिद की घटना के कारण लिटन को तलवार द्वारा फैसला करने का रास्ता खुल गया। ब्रिटिश मिशन भेजने के समय और उसके रोके जाने पर उसकी क्या चाल थी,

इस पर डा० विशेश्वरप्रसाद के विचार दिये जा सकते हैं। विद्वान् लेखक लिखता है--"अमीर ने मिशन भेजने के ढंग पर आपत्ति की और इसी से संकट पैदा हुआ था। इससे यह भी लगता है कि लिटन ने यह ढंग जानवूझकर चुना था जिससे अमीर को अपमानित किया जा सके और उसके इन्कार करने पर उसे शत्रु करार कर दिया जा सके-ऐसा शत्रु जिससे केवल तलवार की भाषा में ही वातचीत की जा सकती थी।"

लिटन ऐसे मौके की तलाश कर रहा था जब वह शेर अली को दबोच सके। काबुल पर चढ़ाई करने को वह तो तैयार ही बैठा था। उसे केवल एक ही कठिनाई दिखायी पड़ती थी। कठिनाई थी ब्रिटिश सरकार की अनुमति। प्रधान मंत्री और भारत मंत्री उसे सैनिक कार्यवाही की अनुमति तभी दे सकते थे जब वह इसकी अनिवार्यता प्रदर्शित कर दे। लिटन ने अली मस्जिद की घटना से यह दिखा दिया कि ऐसा समय आ गया था जब भारत सरकार हाथ पर हाथ धरे बैठ नहीं सकती थी। लिटन ने गृह सरकार को लिखा कि अमीर ने मिशन को बलपूर्वक खदेड़कर जिस धृष्टता का परिचय दिया था उसका दंड देना जरूरी था। गृह सरकार ने लिटन को युद्ध आरंभ करने की अनुमति दे दी और वाइसराय बड़े उत्साह से दूसरे अफगान युद्ध की तैयारी में व्यस्त हो गया।

अमीर को अंतिम चेतावनी देने की औपचारिकता निभाई गयी। २० नवंबर, १८७८ तक अमीर का उत्तर न मिलने पर युद्ध का विगुल बजा दिया गया। ब्रिटिश सेना पहले से ही तैयार खड़ी थी। यह एक कमजोर पड़ोसी राज्य को दवाने का साम्राज्यवादी तरीका था।

ब्रिटिश सेना का काबुल पर अधिकार

जिस दिन अल्टीमेटम की तिथि (२० नवंबर, १८७८) समाप्त हुई उसी दिन ब्रिटिश सेना की तीन टुकड़ियों ने तीन दिशाओं से अफगानिस्तान पर हमला कर दिया। सेना की एक टुकड़ी कंदहार की ओर बढ़ी और अन्य दो टुकड़ियाँ खैबर और कुर्रम के रास्तों से काबुल पर अधिकार करने के लिए बढ़ीं। अफगानिस्तान पर अधिकार करने में इस सेना को केवल छुटपुट विरोध का मुकाबला करना पड़ा। ब्रिटिश सेना का कंदहार पर बड़ी आसानी से कब्जा हो गया और खैबर से बढ़नेवाली सेना ने अली मस्जिद और जलालाबाद पर अधिकार कर लिया। युद्ध की घटनाओं से साफ जाहिर था कि अफगान सेनाओं ने युद्ध की तैयारी नहीं की थी। इससे वह ब्रिटिश सेना का सामना न कर सकी। शेर अली ने किसी भी युद्ध में इस सेना का स्वयं विरोध नहीं किया। वह अपनी कमजोरी को भली प्रकार जानता था। जीवन-रक्षा के लिए अमीर शेर अली रूसी सीमा की ओर भाग निकला। किंतु बीच रास्ते में ही उसकी मृत्यु हो गयी।

फरवरी, १८७६ में शेर अली की मृत्यु हो जाने से काबुल का सिंहासन खाली हो गया। ब्रिटिश सेनाओं का जिस समय अफगानिस्तान पर कब्जा था तब जो भी अमीर गद्दी पर बैठता उसे अंग्रेजों के इशारों पर नाचने को तैयार रहना पड़ता।

गंडमक की संधि

अमीर के पुत्र याकूब खाँ और भारत सरकार के बीच मई, १८७९ को गंडमक की संधि हो गयी। इस संधि के द्वारा अफगानिस्तान पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित करने का लिटन का स्वप्न साकार हो उठा। संधि के द्वारा याकूब खाँ को अफगानिस्तान का अमीर बनाया गया। उसने यह स्वीकार किया कि वह भविष्य में वैदेशिक संबंधों के विषय में भारत सरकार की मर्जी के अनुसार कार्य करेगा। अमीर ने कुर्रम, पिशिन और सिब्बी के तीन जिलों को ब्रिटिश अधिकार में सौंप दिया। एक महत्त्वपूर्ण निर्णय यह किया गया कि एक ब्रिटिश प्रतिनिधि भविष्य में काबुल में रहेगा। अमीर को प्रतिवर्ष छह लाख रुपये सहायता के रूप में देने को भारत सरकार राजी हो गयी। भारत सरकार ने यह आश्वासन भी दिया कि वैदेशिक हमले का विरोध करने के लिए वह हर प्रकार की सहायता अमीर को देगी।

गंडमक की संधि से लिटन संतुष्ट हुआ और ऐसा लगा कि उसकी योजना पूर्णरूप से सफल हुई थी। ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने खुश होकर वाइसराय को बधाई का संदेश भेजा।

केवग्नरी की हत्या

लेकिन लिटन की प्रसन्नता क्षणिक साबित हुई। पहले अफगान युद्ध की तरह एक बार फिर अफगानिस्तान में घटना-चक्र तेजी से बदला और लिटन द्वारा बनाया गया हवाई किला टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया। घटनाओं ने उसकी नीति की कमजोरियों को प्रकट कर दिया। नया अफगान शासक अंग्रेजों के विरुद्ध उठे विद्रोह को रोक न सका। गंडमक की संधि कोरे कागज पर लिखी रह गयी। उस पर अमल नहीं किया जा सका।

जिस एक निर्णय ने भावी घटनाओं को इतना प्रभावित किया वह था काबुल में ब्रिटिश रेजीडेंट की नियुक्ति। ल्यूस केवेग्नरी इस पद पर नियुक्त होकर काबुल गया। जुलाई, १८७९ से लेकर वह करीब दो महीने ही इस पद पर कार्य कर सका। अचानक ३ सितंबर को विद्रोही अफगानों ने ब्रिटिश रेजीडेंसी पर हमला बोल दिया। लिटन ने ब्रिटिश सेनाओं को भेजते समय कहा था कि केवल अमीर से उसकी लड़ाई थी लेकिन अफगान उसके मित्र थे। पर शीघ्र ही अफगान लोगों ने उसके इस वक्तव्य की असत्यता से पर्दा हटा दिया। केवेग्नरी और उसके साथियों की हत्या कर दी गयी और अफगानिस्तान में विद्रोह भड़क उठा। अमीर ब्रिटिश रेजीडेंट की रक्षा नहीं कर सका।

अफगानिस्तान पर दूसरी बार हमला

केवेग्नरी की हत्या के लिए अमीर जिम्मेदार नहीं था। लेकिन इस दुःखदायी घटना से गंडमक की संधि स्वतः समाप्त हो गयी। लंदन में और भारत में यह अनुभव किया गया कि इस हत्या से ब्रिटिश प्रतिष्ठा को जो ठेस लगी थी उसके प्रतिरोध में बदले की कार्यवाही करने की नितांत आवश्यकता थी। ब्रिटिश शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए सेनाएँ पुनः अफगानिस्तान भेजी गयीं। जनरल राबर्ट्स ने दुबारा काबुल पर अधिकार जमाया। ब्रिटिश सेनाओं ने अफगानिस्तान पर कब्जा कर लिया। प्रमुख अफगान सरदारों को बन्दी बना लिया गया।

अब्दुर्रहमान को नया अमीर बनाया जाना

याकूब खाँ को अमीर के पद से हटा दिया गया। एक बार फिर भारत सरकार को निश्चय करना था क़ि नया अमीर किसे बनाया जाये। अनिश्चित काल तक ब्रिटिश सेनाओं को रखना खतरनाक तथा खर्चीला था। अतः शीघ्र ही नये अमीर की तलाश जारी हुई। लिटन ने अब्दुर्रहमान के साथ संपर्क स्थापित किया। अब्दुर्रहमान शेर अली का भतीजा तथा दोस्त मोहम्मद का नाती था जो शेर अली के अमीर बनने के पश्चात् देश के बाहर रूसी प्रदेश समरकंद में रहने लगा था। द्वितीय अफगान युद्ध के समाप्त होते ही वह अपना भाग्य आजमाने के लिए स्वदेश आया। ब्रिटिश अधिकारियों ने उससे बातचीत करके यह अनुभव किया कि वह उस समय अमीर बनने योग्य था।

इसी बीच ब्रिटेन के आम चुनावों में डिजरेली की सरकार पराजित हो गयी। इस चुनाव अभियान में भारत सरकार की अफगान नीति की भी आलोचना की गयी थी। इससे लिटन को वाइसराय के पद से इस्तीफा देना पड़ा। जून, १८८० में नया वाइसराय रिपन भारत आया।

रिपन को उदारवादी सरकार ने चुना था। फिर भी उसने कुछ हद तक पूर्ववर्ती वाइसराय की नीति का अनुसरण किया और कहीं-कहीं उसकी नीति को बदला। रिपन ने अब्दुर्रहमान को नये अमीर के रूप में मान्यता दे दी। अब्दुर्रहमान ने शासक का पद सँभालते समय यह स्वीकार किया कि वह भारत सरकार की इच्छा के अनुसार ही वैदेशिक संबंध स्थापित करेगा। इसके अतिरिक्त उसने अन्य किसी शर्त को स्वीकार नहीं किया था। नये अमीर के साथ कोई निश्चित समझौता नहीं किया गया था। केवल कुछ शर्तें आपस में तय कर ली गयी थीं। अमीर ने नया पद सँभालते समय यह ध्यान रखा कि ऐसा न मालूम पड़े कि वह ब्रिटिश अधिकारियों की कृपा के कारण काबुल की गद्दी पर आसीन हुआ था।

द्वितीय अफगान युद्ध के परिणाम

द्वितीय अफगान युद्ध एक अनावश्यक युद्ध था। यह युद्ध पड़ोस के एक कमजोर राष्ट्र पर थोपा गया। युद्ध की घटनाओं से स्पष्ट है कि केवल ब्रिटिश सेना ही युद्ध के लिए तैयार थी। अफगान शासक अथवा अफगान सेना ने ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला नहीं किया। यह युद्ध अफगानिस्तान के शासक को डराने तथा धमकाने की दृष्टि से किया गया था। पर प्रथम अफगान युद्ध के समान इस युद्ध से भी यही जाहिर हुआ कि शक्ति के द्वारा अफगानिस्तान पर कोई नीति लादी नहीं जा सकती थी।

इस युद्ध के परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने अब्दुर्रहमान को नया अमीर स्वीकार किया। शेर अली तथा उसके पुत्र को काबुल की गद्दी से हाथ धोना पड़ा। लिटन जिस अमीर से अप्रसन्न हो गया उसे अपदस्थ करने की उसने योजना बना ली थी।

लिटन की नीति की असफलता इस युद्ध से प्रकट हो गयी। उसने अपने पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों की नीति को बदलकर नयी प्रकार की नीति का अनुसरण किया था। लिटन के पूर्व सभी गवर्नर जनरलों ने किसी भी बाहरी खतरे के बारे में अमीर का हौसला बढ़ाया

था। लार्ड मेयो ने अमीर शेर अली से कहा था कि उसे रूस से डरने की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने शेर अली तथा रूसी अधिकारियों के बीच पत्र-व्यवहार पर भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की थी। लेकिन लिटन ने हर समय शेर अली को रूस के भय से आगाह किया था तथा उसके और रूसी अधिकारियों के बीच संबंधों को शंका की नजर से देखा। इसके कारण उसने अंततः युद्ध का निर्णय कर लिया।

लिटन की नीति की एक और बड़ी कमजोरी के परिणाम भी दुर्भाग्यपूर्ण हुए। उसने अफगानिस्तान के शासक के साथ उचित व्यवहार नहीं किया। एक लेखक ने तो यहाँ तक कहा है कि लिटन ने अमीर के साथ गाड़ीवान का सा बर्ताव किया। उसके पूर्व प्रत्येक गवर्नर जनरल ने अफगान शासक को उचित सम्मान दिया था। उसे स्वतंत्र राजा के रूप में आदर दिया था। यदि लिटन इन औपचारिकताओं को निभाता रहता तो संभवतः उसे कठोर कार्यवाही करने की जरूरत नहीं पड़ती।

द्वितीय अफगान युद्ध के पश्चात अफगानिस्तान को विघटित करने की योजना पर अमल नहीं किया गया। युद्ध के समय पश्चिमी अफगानिस्तान के हेरात क्षेत्र पर ब्रिटिश अधिकार स्थापित करने का जो विचार किया गया था वह अव्यावहारिक था। अफगान लोग अपने देश के एक भाग को विदेशी सत्ता के प्रभाव में जाने का जो प्रबल विरोध करते उसकी कल्पना मात्र से ही लिटन के बाद किसी वाइसराय ने इस प्रकार का विचार नहीं किया।

युद्ध के परिणामस्वरूप दुबारा कभी यह कोशिश नहीं की गयी कि किसी भी ब्रिटिश राजदूत को काबुल अथवा किसी अन्य अफगान क्षेत्र में रखा जाये। यह स्वीकार कर लिया गया कि ब्रिटिश प्रतिनिधि को रखना खतरनाक था और इस कदम से किसी भी समय अफगान भड़क सकते थे।

जहाँ तक अग्रगामी नीति का सवाल है, उसे युद्ध के बाद भी नहीं छोड़ा गया। गंडमक की संधि द्वारा जिन तीन जिलों पर ब्रिटिश अधिकार किया गया था उनमें से पिशिन और सिब्बी क्षेत्र पर भारत सरकार ने अपना अधिकार बनाये रखा। इससे साफ जाहिर है कि सिंध नदी के पार के उत्तर-पश्चिम सीमा-क्षेत्र की जातियों पर प्रभाव जमाये रखने की नीति को बनाये रखा गया। लगभग एक दशक बाद भारत सरकार ने पुनः उत्तर-पश्चिमी सीमा पर प्रभाव जमाने की नीति अपनाकर अग्रगामी नीति का ही अनुसरण किया। इस प्रकार द्वितीय अफगान युद्ध के बाद भी "परम निष्क्रियता" की नीति पर दुबारा अमल नहीं किया गया और इस सीमा पर सक्रिय कार्यवाहियाँ अंग्रेजों ने जारी रखीं।

युद्ध ने पुनः यह दिखा दिया था कि अमीर के कूटनीतिक संबंधों का कितना महत्त्व था। अतः लिटन के बाद आने वाले गवर्नर जनरलों ने अब्दुर्रहमान के साथ संबंध सुधारने की नीति अपनायी। अमीर ने भी ब्रिटिश सहयोग के महत्त्व को समझा। अब्दुर्रहमान ने करीब बीस वर्षों तक शासन किया और भारत सरकार के साथ उसके संबंध संतोषजनक बने रहे।

लिटन ने द्वितीय अफगान युद्ध का निर्णय करते समय केवल साम्राज्यवादी हितों को

ध्यान में रखा। पर उसने भारत के हितों की उपेक्षा की। इस समय देश के कई भागों में अकाल की स्थिति थी और राहत कार्यों में धन लगाने की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में उसने लाखों रुपये इस युद्ध में अनावश्यक रूप से नष्ट कर दिये। इस कारण गवर्नर जनरल की वैदेशिक नीति की भारत में तीव्र आलोचना हुई। युद्ध के आर्थिक परिणाम निश्चित रूप से भारत के लिए अहितकर सावित हुए। लेकिन भविष्य में जो गवर्नर जनरल आये उन्होंने भी सुरक्षा के खर्चों को बढ़ाया। डफरिन, लैंसडाउन और एल्गिन के समय में भी भारत सरकार ने उत्तर-पश्चिमी सीमा को सुरक्षित करने के नाम पर सरकारी खर्च में किसी प्रकार का अंकुश नहीं लगाया।

तीसरे बर्मा युद्ध द्वारा बर्मा का ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जाना

डलहौजी ने दक्षिणी वर्मा के क्षेत्र पर अधिकार स्थापित करके इस राज्य के लभगग दो-तिहाई भाग पर अधिकार कर लिया था। शेष एक तिहाई भाग पर बर्मी शासक शासन करते रहे। यह राज्य द्वितीय बर्मा युद्ध के बाद उत्तरी बर्मा का राज्य कहलाया जिसकी राजधानी मांडले थी। बर्मा संकुचित तो हो ही गया था पर समुद्री तट से अलग हो जाने के कारण आर्थिक दृष्टि से भी पंगु बन गया। ब्रिटिश अधिकारियों की नजर उत्तरी वर्मा पर लगी रही और डफरिन ने सैनिक कार्यवाही करके इस राज्य को हड़प लिया। इस प्रकार तीसरे वर्मा युद्ध के फलस्वरूप समूचे बर्मा को भारत के ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया। हमें १८५२ से १८८५ के बीच की घटनाओं का अवलोकन करके उन परिस्थितियों पर दृष्टिपात करना है जिनके कारण यह युद्ध किया गया।

राजनीतिक मतभेद

बर्मी शासकों की राजनीतिक अदूरदर्शिता और प्रशासनिक कमजोरी तृतीय युद्ध का एक मुख्य कारण बनी। १८५३ से १८७८ तक मिंडन ने बर्मा पर शासन किया। मिंडन अन्य बर्मी शासकों की तुलना में योग्य शासक था। लेकिन वह भी औपचारिकताओं पर इतना अधिक विश्वास करता था कि उसके शासनकाल में भी भारत सरकार के साथ संबंधों में कुछ कठिनाइयाँ सामने आयीं। उदाहरण के लिए बर्मा में यह नियम था कि जब भी कोई व्यक्ति राजा से मिलने जाता था तो उसे जूते उतारकर जाना होता था। १८७६ में गवर्नर जनरल ने निश्चय किया कि बर्मा स्थित ब्रिटिश राजदूत न तो जूता उतारेगा और न अन्य औपचारिकताओं का पालन करेगा। जब बर्मा के शासक को इसकी सूचना दी गयी तो वह इसे मानने को राजी नहीं हुआ। दोनों ओर से कोई भी झुकने को तैयार नहीं हुआ और इसके कारण ब्रिटिश राजदूत को बर्मा के राजा से मिलने नहीं दिया गया। दूसरा सवाल यह उठा कि बर्मा का शासक सीधे ब्रिटेन की महारानी से सम्पर्क करना चाहता था। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया कि बर्मा के राजा को बराबरी का पद दिया जाये। उससे कहा गया कि वह वाइसराय के माध्यम से संपर्क रखे। बर्मी शासक के साथ बहुत कुछ उसी प्रकार का व्यवहार किया जा रहा था जैसा किसी देशी राज्य के नरेश के साथ

किया जाता था।

मिंडन के समय भारत सरकार तथा बर्मा के बीच सामान्य संबंध बने रहे। लेकिन १८७८ में उसकी मृत्यु हो जाने के बाद इस संबंध में तनाव आता गया। मिंडन का बीस वर्षीय पुत्र थीवा नया शासक बना। उसने फरवरी, १८७६ में शाही परिवार के करीब अस्सी लोगों को जो प्रायः सब उसके भाई, बहन अथवा अन्य निकट संबंधी थे, हाथियों के पैरों के नीचे कुचलवाकर मरवा दिया। मांडले स्थित ब्रिटिश रेजीडेंट ने इस दुःखद घटना का विस्तृत विवरण देकर वाइसराय को सूचित किया कि नये बर्मी शासक ने खून की जो होली खेली थी उसके कारण उसे चेतावनी दी जाये। एक पत्र लिखकर ब्रिटिश सरकार ने बर्मी राजा को सूचित किया कि उसका यह बर्बरतापूर्ण तरीका सर्वथा अनुचित था। अप्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार हस्तक्षेप करने की कोशिश कर रही थी। यह भी समाचार मिला था कि शाही परिवार के कुछ सदस्यों को ब्रिटिश रेजीडेंट ने शरण दी थी। इस समय लिटन भारत का गवर्नर जनरल था। उसने भारत सरकार की अप्रसन्नता प्रकट करने के लिए यह निश्चय किया कि ब्रिटिश रेजीडेंसी को मांडले से हटा लिया जाये। १८७६ के पश्चात् बर्मी राजधानी में कोई भी ब्रिटिश राजदूत नहीं रहा। बर्मा के भविष्य के लिए इसका प्रतिकूल असर पड़ा। दोनों सरकारों के बीच संबंधों की श्रृंखला ही टूट गयी जिसका उपयोग गतिरोध के समय किया जा सकता था। बर्मा के राजाओं ने इतिहास से कोई भी सबक नहीं सीखा था। उन्होंने न तो स्वयं कोई राजदूत कलकत्ता भेजा और न अपनी राजधानी में ब्रिटिश राजदूत को सुविधाएँ दीं। परिणाम यह हुआ कि मामूली विवाद के फलस्वरूप युद्ध आरंभ हो गया।

बर्मा में व्यापारिक एकाधिकार जमाने के अंग्रेजों के प्रयास

बर्मा में ब्रिटिश हस्तक्षेप की संभावना इस कारण और अधिक बढ़ी क्योंकि ब्रिटिश व्यापारी और उद्योगपति उत्तरी क्षेत्र में भी व्यापार बढ़ाने के लिए लगातार कोशिश करते रहे। जैसे ही रंगून के आसपास के समुद्र-तट के सारे क्षेत्र पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया तो उनका ध्यान इरावदी नदी के द्वारा चीन से व्यापार करने की ओर गया। इसके अतिरिक्त बर्मा की टीक लकड़ी का व्यापार भी अंग्रेज व्यापारियों के लिए लाभप्रद था।

उत्तरी बर्मा के राजा को व्यापारिक संधि करने के लिए १८६२ में तैयार होना पड़ा। इस संधि की दो मुख्य धाराएँ थीं। पहली शर्त के अनुसार ब्रिटिश व्यापारियों को यह अधिकार मिला कि वे उत्तरी बर्मा के किसी भी भाग में बस सकते थे। दूसरी शर्त द्वारा यह निश्चय किया गया कि ब्रिटिश व्यापारी स्टीमरों को इरावदी नदी पर चलाकर चीन की ओर जा सकते थे। लेकिन ब्रिटिश व्यापारी केवल इतने से ही संतुष्ट नहीं हो सकते थे। वे एक के बाद दूसरी व्यापारिक सुविधाओं की माँग करने लगे। १८६७ में एक और संधि की गयी जिसके अनुसार बर्मी राजा ने लकड़ी, मूल्यवान पत्थरों तथा कुछ अन्य वस्तुओं को छोड़कर शेष पर अपने एकाधिकार के दावे को छोड़ दिया। इसी समय बर्मी राजा ने सीमा-शुल्क भी न लगाने का वचन दिया। इन दोनों व्यापारिक संधियों से बर्मा के राजा को नुकसान सहना पड़ा। इससे उसकी आर्थिक स्थिति कमजोर हुई। इसके अलावा व्यापारियों की बढ़ती हुई

महत्त्वाकांक्षा से उसका राजनीतिक प्रभाव भी घटने लगा। इन्हीं व्यापारियों ने यह माँग भी की कि बर्मा के शेष भाग पर भी अधिकार कर लिया जाये जिससे उनको व्यापार करने में जो राजनीतिक परेशानियाँ हो रही थीं वे दूर हो जायें।

इन दोनों संधियों के वावजूद ब्रिटिश व्यापारी संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने चाहा कि वर्मी राजा के किसी प्रकार के भी व्यापारिक एकाधिकार न रहें। वर्मी राज़ा ने निराश होकर १८८२ में सभी तरह के व्यापारिक एकाधिकारों को समाप्त कर दिया। दर्मा का एक अधिकारी इसी वर्ष रिपन की सरकार से वार्ता करने भी गया। किंतु दोनों पक्षों के बीच व्यापारिक एकाधिकार के मामले में कोई समझौता नहीं हो सका। डफरिन के समय तक ये विवाद सुलझ नहीं सके थे।

फ्रांस का भय

जिस प्रकार उत्तर-पश्चिमी सीमा की ओर भारत सरकार ने रूस का भय दिखाकर अपने प्रभाव को बढ़ाया उसी प्रकार उत्तरी बर्मा पर कब्जा करने के लिए फ्रांस के भय का लाभ उठाया गया। फ्रांस और ब्रिटेन के बीच औपनिवेशिक मामलों में प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। फ्रांस में जब तीसरा गणतंत्र स्थापित हुआ तो उसने विश्व के विभिन्न भागों में फ्रांसीसी साम्राज्य स्थापित करने की नीति अपनायी। इंडोचीन क्षेत्र में फ्रांस की गतिविधियाँ बढ़ीं। १८८३ में मध्य वियतनाम के अन्नाम क्षेत्र पर अधिकार करके फ्रांस ने दक्षिणपूर्व एशिया में अपने अधिकार बढ़ाने शुरू कर दिये। कुछ ही वर्षों में फ्रांस का प्रभाव उत्तरी वियतनाम, थाइलैंड आदि क्षेत्रों में बढ़ने लगा। फ्रांस का जहाजी वेड़ा भी यूरोप का एक शक्तिशाली वेड़ा था।

धीरे-धीरे फ्रांसीसी सरकार ने वर्मा के राजा के साथ संवंध बढ़ाए। फ्रांस ने भी पहले व्यापारिक संवंध स्थापित किया। जनवरी, १८८५ में बर्मा और फ्रांस के बीच जव व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर हुए तो ब्रिटिश अधिकारी चौकन्ने हुए। फ्रांस ने एक प्रतिनिधि की भी नियुक्ति की जिसे बर्मा में रहने की अनुमति दी गयी। यह भी समाचार प्राप्त हुआ कि फ्रांस के वैदेशिक मंत्री ने बर्मा के राजा को पत्र भी लिखा था।

दक्षिण-पूर्व एशिया में फ्रांस की गतिविधियों से तथा बर्मी शासक को प्रभावित करने की उसकी नीति से ब्रिटिश सरकार तथा वाइसराय की चिंता बढ़ी और उन्होंने यह निश्चय किया कि इस विरोधी यूरोपीय राज्य द्वारा बर्मा में पैर जमाने के पहले ही प्रतिरोध की कार्यवाही की जाये। फ्रांस के भय के कारण गृह सरकार ने वाइसराय के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया कि बर्मा पर आक्रमण कर दिया जाये। स्पष्ट है कि फ्रांस के भय ने तृतीय बर्मा युद्ध को निकट ला दिया।

बर्मा पर अधिकार करने की माँग

भारत में आरंभ से ही ऐसे अधिकारी थे जो व्यापारिक हित-साधन के लिए बर्मा के शेष भाग को यथाशीघ्र ब्रिटिश राज्य में मिलाने की माँग कर रहे थे। मेयो को हस्तक्षेप करना

पड़ा था। उसने इन अधिकारियों से कहा था कि वे उत्तरी बर्मा के शासन में हस्तक्षेप न करें क्योंकि वाइसराय इस क्षेत्र पर अधिकार करने का इरादा नहीं कर रहा था। इससे ध्वनित होता है कि मेयो ने इस माँग को अस्वीकार कर दिया। नार्थब्रुक को भी महत्त्वाकांक्षी अधिकारियों को रोकना पड़ा था। वह जानता था कि ये लोग ललचाई नजरों से उत्तरी क्षेत्र की ओर देख रहे थे। ब्रिटिश सेना किसी भी समय इसे हथिया सकती थी। लिटन बर्मा पर अधिकार जमाने को तैयार था। लेकिन उसे अफगान समस्या से छुटकारा नहीं मिला। रिपन सिद्धांततः युद्ध करके व्यापार बढ़ाने की नीति का विरोधी था। उसके समय में एक बर्मी मिशन शिमला आया था। बातचीत अधिक सफल नहीं रही। इस प्रकार इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं कि मेयो के समय से लेकर रिपन के शासनकाल तक, करीब पंद्रह वर्षों में बार-बार बर्मा पर अधिकार जमाने का सवाल भारत सरकार के सामने आया था। यह दिखाई देने लगा था कि किसी भी वाइसराय द्वारा निर्णय करते ही एक स्वतंत्र राज्य के रूप में बर्मा का अस्तित्व समाप्त हो जायेगा।

डफरिन की नीति

अंततः डफरिन ऐसा ही गवर्नर जनरल आया। उसने बर्मा पर अधिकार करने की माँग पर ध्यान दिया। डफरिन मूलतः कूटनीतिज्ञ था और ब्रिटिश सरकार ने समय-समय पर उसे विभिन्न पदों पर नियुक्त किया था। जब वह भारत आया तो बर्मा का प्रश्न भी उसके सामने आया। वह अवसर भी उसे मिल गया जिसकी उसे प्रतीक्षा थी। इस अवसर के कारण भारत सरकार को हस्तक्षेप का बहाना मिल गया। डफरिन के समय फ्रांसीसियों की गतिविधियाँ भी बर्मा में बढ़ रही थीं। इन सब कारणों से वाइसराय ने युद्ध की तैयारी कर ली। बर्मा इतना कमजोर राज्य था कि वह ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सकता था। इससे डफरिन का हौसला बढ़ा और ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करनेवाले प्रशासकों की पंक्ति में डफरिन भी खड़ा हो सका। साम्राज्य की सुरक्षा के नाम पर साम्राज्य का विस्तार करने की परंपरागत नीति का उसने अनुसरण किया।

तात्कालिक कारण

अन्ततः व्यापारिक विवाद के प्रश्न पर डफरिन की नीति के कारण तीसरा बर्मा युद्ध आरंभ हुआ। यह विवाद एक ब्रिटिश कंपनी (बांबे-बर्मा ट्रेडिंग कंपनी) और बर्मा सरकार के बीच आरंभ हुआ। इस कंपनी ने बर्मा के एक जंगल से इमारती लकड़ी काटने का ठेका लिया और प्रत्येक लट्ठे पर उसे एक निश्चित धनराशि बर्मा सरकार को अदा करनी थी। बर्मा के राजा को यह सूचना मिली कि कंपनी ने हजारों लट्ठे जंगल में काट लिये थे पर उनके लिए जो धनराशि उसे देनी थी वह उसने अदा नहीं की थी। स्थानीय अधिकारियों से पूछताछ करके अगस्त, १८८५ में बर्मा के राजा ने यह आज्ञा दी कि कंपनी लगभग तेईस लाख रुपये का जुर्माना चार किश्तों में अदा करे।

यह एक दीवानी विवाद था जिसको लेकर राजनीतिक गतिविधियाँ आरंभ हो गयीं।

इससे यह जाहिर होता है कि ये व्यापारिक कंपनियाँ कितनी प्रभावशाली थीं और ब्रिटिश सरकार तथा भारत सरकार उन्हें किस सीमा तक संरक्षण देने को तैयार थीं। दक्षिण बर्मा के चीफ कमिश्नर ने इस कंपनी के प्रश्न में आवश्यकता से अधिक रुचि दिखायी। उसने बर्मा की सरकार से माँग की कि वह इस प्रश्न को वाइसराय द्वारा नियुक्त मध्यस्थ को सौंप दे। स्मरण रखना होगा कि बर्मा एक स्वतंत्र राज्य था और राज्य के शासक को कंपनी के ऊपर पूरे अधिकार थे। पर दक्षिण बर्मा का अंग्रेज अधिकारी अपनी माँग पर दृढ़ रहा। कुछ समय बाद उसने बर्मा की सरकार को जो पत्र लिखा उसमें चीफ कमिश्नर ने अपनी माँगों को दुहराया ही नहीं बल्कि कई अन्य माँगें कीं। बर्मा के राजा से यह कहा गया कि वह वाइसराय के प्रतिनिधि के आने के पूर्व कंपनी के खिलाफ कोई भी कदम न उठाए, बर्मी राजा विदेशी शक्तियों से संबंध करते समय वाइसरास की सलाह ले और चीन से व्यापार की पूरी सुविधाएँ दे। बर्मी शासक थीबा झुकने को तैयार नहीं था और भारतीय अधिकारी युद्ध आरंभ करने का कोई बहाना तलाश कर रहे थे। डफरिन ने बर्मा स्थित ब्रिटिश सेनाओं को उत्तरी बर्मा पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी।

युद्ध का आरम्भ

भारत सरकार ने पहले से ही युद्ध की सारी तैयारियाँ पूरी कर लीं थीं और दक्षिण बर्मी क्षेत्र से आगे बढ़ने को सेना तैयार खड़ी थी। बर्मी शासक के उत्तर को असंतोषजनक कहकर गवर्नर जनरल ने युद्ध की घोषणा कर दी। अन्त समय तक वह यही कहता रहा कि मजबूर होकर ही वह ऐसी कार्रवाई की आज्ञा दे रहा था।

थीबा ने देशवासियों से अपील की कि वे देश की रक्षा के लिए संघर्ष करें। पर वास्तविकता यही है कि किसी प्रकार का युद्ध नहीं हुआ। मांडले की ओर बढ़ती हुई ब्रिटिश सेना का मुकाबला करने की न तो बर्मी सेना में क्षमता थी और न शक्ति ही। बर्मी शासकों ने कभी भी राष्ट्र की रक्षा के लिए सेना के संगठन की ओर ध्यान नहीं दिया था और न ही ये शासक स्वयं युद्ध का संचालन कर सकते थे। दो सप्ताह में ही उत्तरी बर्मा पर ब्रिटिश सेना का अधिकार हो गया। २८ नवंबर, १८८५ को थीबा ने हथियार डाल दिये और उसे बंदी बना लिया गया।

उत्तरी बर्मा राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने का निर्णय

बर्मा युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् गवर्नर जनरल को यह निश्चय करना था कि वह बर्मा के विषय में किस प्रकार का निर्णय करे। भारत सरकार के लिए तीन विकल्प थे--

१. थीबा के स्थान पर किसी दूसरे शासक को बर्मा का राजा बनाना और उसके साथ निश्चित संधि करना।
२. बर्मा के साथ नये प्रकार के संबंध रखने का निश्चय करके उसे देशी राज्य का पद देना।
३. बर्मा को ब्रिटिश राज्य में मिला लेना।

डफरिन ने आरंभ से ही बर्मा पर अधिकार करने की इच्छा व्यक्त की थी। अतः सैनिक कार्यवाही के बाद उसे जो अवसर मिला था उसे वह अपने हाथ से जाने नहीं देना चाहता था। डफरिन ने तीसरे विकल्प को अपनाया और उसने अपने पक्ष में ये दलीलें पेश कीं--

१. डफरिन ने कहा कि थीबा ने राज-परिवार के सब राजकुमारों की हत्या कर दी थी। इससे कोई भी योग्य व्यक्ति बचा नहीं था जो राजा बनने के योग्य हो।
२. उसका दूसरा तर्क यह था कि बर्मा को अधीन राज्य बनाने का यदि निर्णय किया गया तो भविष्य में भी समय समय पर हस्तक्षेप करना होगा। यह स्थिति ठीक नहीं थी।
३. बर्मा एक सीमा पर स्थित राज्य था। यदि उसे देशी राज्य का पद दिया गया तो यह शक्तिशाली नहीं होगा। भारत सरकार सीमा पर कमजोर राज्य को रखने के पक्ष में नहीं थी।
४. डफरिन ने एक तर्क यह भी दिया कि ब्रिटेन के लोगों को थीबा की बर्बरता से धक्का लगा था और वे इस राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने की माँग कर रहे थे।

इन तर्कों से यह दिखाई देता है कि वाइसराय किसी भी ढंग से अपने पक्ष को मजबूत बनाने की कोशिश कर रहा था। सत्य तो यह है कि उसने पहले से ही उत्तरी बर्मा पर अधिकार करने का निर्णय कर लिया था। तभी तो युद्ध की समाप्ति के तीन दिन बाद ही बर्मा को ब्रिटिश राज्य में मिलाये जाने की घोषणा १ दिसम्बर, १८८५ को कर दी गयी, यहाँ तक कि गृह सरकार की अनुमति भी प्राप्त कर ली गयी थी।

साम्राज्यवादी भावना से प्रेरित होकर डफरिन ने उत्तरी बर्मा पर अधिकार किया। बर्मा एक बहुत कमजोर राज्य था जो कभी भी ब्रिटिश सेना का विरोध नहीं कर सकता था। इस स्थिति का डफरिन ने लाभ उठाया। डा० एस० गोपाल ने विचार व्यक्त किया है कि उसके निस्तेज शासनकाल में यह काली छाया थी। १८८५ से १९३५ तक बर्मा का शासन भारत से ही किया गया। समूचे बर्मा को भारत सरकार के अधीन एक प्रांत बना दिया गया। १९३५ से १९४८ तक इसका शासन अलग से किया गया। १९४८ में बर्मा स्वतंत्र हुआ।

तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभाव की स्थापना

भारत सरकार ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में तिब्बत की ओर ध्यान दिया। उत्तरी सीमा की सुरक्षा की दृष्टि से सिक्किम और भूटान पर अधिकार कर लिया गया था। नेपाल के साथ भारत सरकार के संबंध संतोषजनक थे। इन तीनों राज्यों की सीमाओं से लगा हुआ हिमालय पर्वत-श्रृंखला के उस पार स्थित तिब्बत राज्य भी सामरिक और भौगोलिक कारणों से भारत की सुरक्षा के लिये महत्त्वपूर्ण था। इस कारण तिब्बत पर प्रभाव जमाकर उसे भारतीय सीमा के लिये उपयोगी मध्यवर्ती राज्य बनाने की नीति अपनायी गयी। कर्जन के शासनकाल में इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सक्रिय कदम उठाये गये।

लंबे समय से ब्रिटिश अधिकारियों के लिये तिब्बत एक रहस्य बना हुआ था। इस देश

के बारे में किसी को भी ठीक जानकारी नहीं थी। तिब्वत सरकार ने यथासंभव किसी भी यूरोपीय को अपने देश में नहीं आने दिया तथा उसने भारत सरकार के साथ किसी प्रकार के संबंध न रखना ही उचित समझा। तिब्वत धर्मतांत्रिक राज्य था। यहाँ का शासक दलाई लामा कहलाता था जो राज्य का प्रशासक था ही पर इसके अतिरिक्त वह तिब्वत में प्रचलित बुद्ध धर्म का प्रमुख भी था। दलाई लामा तथा अन्य लामा मिलकर कुलीनतंत्रीय व्यवस्था का संचालन कर रहे थे। तिब्वत को सत्रहवीं शताब्दी में चीन का प्रभुत्व स्वीकार करना पड़ा था। पर उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों तक चीन का मंचू साम्राज्य कमजोर होता गया। इससे तिब्वत पर चीन का केवल नाममात्र का प्रभुत्व रह गया था। यदि चीन तिब्वत पर अपना प्रभाव बनाये रख सका तो उसका बुनियादी कारण यह था कि रूस का मुकाबला करते हुए ब्रिटेन तिब्बत पर चीनी प्रभाव को स्वीकार करता रहा।

भारत सरकार ने तिब्वत के मामले में अनावश्यक रूप से चीन पर निर्भरता दिखाई। उसका विश्वास यह था कि चीन के सहयोग से भारत और तिब्वत के बीच संबंध स्थापित करने की ओर कुछ प्रगति करना संभव हो सकेगा। १८८५ में भारत सरकार ने एक निश्चित योजना बनाई। एक उच्च ब्रिटिश अधिकारी कोलमन मेकाले को तिब्वत की राजधानी ल्हासा भेजने का निश्चय किया गया। चीन की सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली गयी। फिर भी तिब्वत की सरकार किसी ब्रिटिश अधिकारी के आगमन का प्रस्ताव मानने को राजी नहीं हुई। यह अधिकारी ल्हासा नहीं जा सका। एक वर्ष में ही दूसरी घटना हुई। १८८५ में तिब्बती सेना सिक्किम सीमा में घुस आयी और उसने लिंगटू नामक स्थान पर अधिकार कर लिया। भारत सरकार ने चीन से इस विषय में विरोध प्रकट किया। लेकिन चीन तिब्वत पर कोई प्रभाव नहीं डाल सका। ऐसी स्थिति में डफरिन ने तिब्बतियों को लिंगटू से खदेड़ देने के लिये सैनिक कार्यवाही की। १८६० में चीन और भारत के प्रतिनिधियों ने आपस में समझौता कर लिया। यह समझौता करते समय भी तिब्वत पर चीन के प्रभुत्व को भारत सरकार ने स्वीकार किया था। समझौते के द्वारा सिक्किम और तिब्वत के बीच की सीमा निश्चित की गयी और यह भी तय किया गया कि तिब्वत की सीमा पर एक व्यापारिक केंद्र की स्थापना होगी जहाँ से तिब्बत के साथ व्यापार किया जायेगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि तिब्बत की सरकार ने समझौतों पर विचार करते समय अपना प्रतिनिधि नहीं भेजा था। तिब्वत सरकार ने समझौते को स्वीकार भी नहीं किया। सीमा पर लगे खंभों को हटा दिया गया, व्यापारिक केन्द्र खुला ही नहीं और कुछ वर्षों वाद लिंगटू पर तिब्वतियों ने पुनः अधिकार कर लिया।

कर्जन की नीति

जनवरी १८६६ में जब कर्जन वाइसराय बनकर आया तो उसने तिब्वत पर ब्रिटिश प्रभाव जमाने की नीति अपनायी और आरंभ से ही उसने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयास किये। कर्जन ने एक पत्र में लिखा कि "यह सचमुच बहुत ही अनोखी और असमर्थनीय बात है कि हमारी सीमा से करीब दो सौ मील की दूरी पर स्थित यह शस्त्रहीन लामा समूह हमेशा

हमारा विरोध करता है और हमारे पास यह जानने का कोई साधन मौजूद नहीं है कि वहाँ क्या हो रहा है।" कर्जन स्पष्ट शब्दों में तिव्वत सरकार की उस नीति की आलोचना कर रहा था जिसके अनुसार उसने भारत से संपर्क न रखने की नीति अपना रखी थी। नया वाइसराय तिब्बत द्वारा बनाये गये इस घेरे को तोड़ने के लिये कमर कसे हुए था। ब्रिटिश प्रभाव जमाने के लिये यह आरंभिक आवश्यकता थी कि ब्रिटिश अधिकारियों का तिब्बत सरकार से संपर्क हो।

इस समय भी तिब्बत के प्रति परंपरागत ब्रिटिश नीति पर चलने का निश्चय किया गया था। तिब्बत के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित करने पर बल दिया गया। धीरे-धीरे व्यापारिक घुसपैठ से राजनीतिक प्रभाव का मार्ग प्रशस्त किया जाना था। स्पष्ट है कि अंग्रेजों ने राजनीतिक और व्यापारिक दोनों कारणों से तिब्बत पर प्रभाव जमाने की नीति अपनायी। तिब्बत का ऊन भारत के लिये उपयोगी हो सकता था तथा तिब्बत के खनिज भंडार पर भी अंग्रेज व्यापारियों की नजर थी। भारत से चाय तथा अन्य माल तिब्बत भेजा जा सकता था।

कर्जन के सामने एक समस्या यह थी कि गृह सरकार तिब्बत के विरुद्ध किसी भी कठोर कार्रवाई के लिये तैयार नहीं थी। इसके अलावा उसे यह भी सिद्ध करना था कि वह तिब्बत के मसले में इतनी रुचि क्यों ले रहा था। ऐसी स्थिति में उसने तिब्बत के मामले में रूसी सरकार के हस्तक्षेप की ओर बार-बार ध्यान दिलाया। कर्जन ने ब्रिटिश सरकार को यह लिखना शुरू कर दिया कि तिब्बत में रूस का हस्तक्षेप वढ़ रहा था। इसके बारे में जो भी अफवाहें उसे किसी भी स्थान से सुनने को मिलीं उसने उन्हें सही मानकर तिब्बत के विषय में अधिक सक्रिय नीति की माँग की। आज तक तिब्बत में रूसी हस्तक्षेप के कोई भी स्पष्ट प्रमाण नहीं मिल सके हैं। यह बहुत संभव है कि कर्जन केवल अपना पक्ष सिद्ध करने के लिये रूसी साम्राज्य के विस्तार की चर्चा कर रहा था। कर्जन ने यह दलील पेश की कि पामीर क्षेत्र से रूसी साम्राज्य के तिब्बत की ओर विस्तार के पूर्व ही भारत सरकार को आवश्यक कदम उठाना चाहिए। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वाइसराय ने यह तर्क दिया कि तिब्बत पर रूसी प्रभाव को रोकने के लिये पहले से ही भारत सरकार तिब्बत पर अपने पैर जमा ले। आगे चलकर हम देखेंगे कि धीरे-धीरे उसने गृह सरकार को राजी कर लिया।

कर्जन ने तिब्बत को ब्रिटिश प्रभाव में लाने का एक और कारण भी बताया। उसने मत प्रकट किया कि तिब्बत पर रूस का राजनीतिक प्रभुत्व बढ़ने का एक दुष्परिणाम यह भी होगा कि नेपाल, सिक्किम और भूटान राज्यों के लिये एक नयी चिंता और भय पैदा हो जायेगा। यह भारत के हितों के विरुद्ध होगा।

तिब्बत के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित करने के आरम्भिक प्रयास

कर्जन ने तिब्बत की राजनीतिक स्थिति की सत्यता को समझा। उसने देखा कि चीन के माध्यम से तिब्बत से संपर्क करने की जो नीति अपनायी गयी थी उससे भारत सरकार

को कोई भी लाभ नहीं हुआ था। उसका कहना था कि यह केवल एक 'तमाशा' था। अतः गवर्नर जनरल ने निश्चय किया कि तिब्बत से सीधा संपर्क स्थापित किया जाये। काफी लंबी अवधि के बाद तिब्बत में ऐसा दलाई लामा शासन कर रहा था जो वयस्क था। उससे आशा की जा सकती थी कि वह स्वयं अपने हितों को समझेगा।

१८६६ में कर्जन की सरकार ने दलाई लामा को एक पत्र भेजा। इस पत्र में भारत सरकार ने कहा कि राजनीतिक संबंधों पर विचार करने के लिये एक तिब्बती अधिकारी भेज दिया जाय। लेकिन इस पत्र को ल्हासा में खोला ही नहीं गया और इसे कलकत्ता वापस पहुँचा दिया गया। एक बार फिर कोशिश की गयी। जून, १६०१ में भारत सरकार ने दलाई लामा को दूसरा पत्र भेजा और इस पत्र के साथ-साथ लौटाये गये पत्र को भी प्रेषित किया गया। इस बार जो पत्र लिखा गया उसकी शब्दावली पहले से भी अधिक कठोर थी। इसमें यह धमकी दी गयी थी कि यदि तिब्बत सरकार समुचित ढंग से उत्तर नहीं देगी तो भारत सरकार को यह स्वतंत्रता होगी कि वह १८६० की संधि पर अमल करने के लिये कार्यवाही करे। इस पत्र से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कर्जन यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में नहीं था।

डोरजिफ की रूस के जार से भेंट

इसी समय तिब्बत की राजनीति में एक व्यक्ति सामने आया। इसका नाम डोरजिफ था जो मूलतः मंगोलिया का रहनेवाला था। डोरजिफ करीब बीस वर्षों से तिब्बत में रह रहा था। बौद्ध भिक्षु के रूप में उसका तिब्बत में सम्मान था। वही दलाई लामा का शिक्षक नियुक्त हुआ था। इस कारण जैसे-जैसे दलाई लामा वयस्क होता गया, डोरजिफ का उसपर प्रभाव बढ़ता गया।

मंगोलिया का निवासी होने के कारण डोरजिफ रूसी नागरिक था। उस समय रूस में रेसप्यूटिन का प्रभाव था। जिसकी मदद से डोरजिफ को रूस के जार तथा जारिना से भेंट करने की आज्ञा मिल गयी। डोरजिफ के नेतृत्व में एक तिब्बती मिशन सितंबर, १६०० में रूस गया और यह खबर समाचार-पत्रों में प्रकाशित भी हुई कि रूस के जार ने दलाई लामा के प्रतिनिधि से भेंट की थी।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि डोरजिफ व्यक्तिगत रूप से जार से अवश्य मिला पर इस तथ्य के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं कि उसके उद्देश्य राजनीतिक थे। कर्जन ने डोरजिफ की रूस यात्रा का पूरा लाभ उठाया। उसने ब्रिटिश सरकार को लिखा कि इससे यह प्रमाण मिलता है कि रूस तिब्बत के मामले में रुचि ले रहा था और यदि भारत सरकार को कुछ भी न करने दिया गया तो रूस के पैर तिब्बत में जम जायेंगे। कर्जन ने यह माँग की कि रूस का प्रभाव स्थापित होने के पूर्व ही भारत सरकार को सक्रिय कदम उठाने की अनुमति दी जाये।

इसी समय कर्जन ने कुछ दूसरी अफवाहों को भी एकत्र करना आरम्भ कर दिया और जिस क्षेत्र से कोई भी सूचना उसे मिली कि रूस तिब्बत की ओर ललचाई नजरों से देख

रहा था तो उसने उसे ब्रिटिश सरकार तक प्रमाण के रूप में पेश करना आरम्भ कर दिया। रूस का भय दिखाकर उसने तिब्बत में ब्रिटिश राजनीतिक प्रभाव स्थापित करने की नीति अपनायी।

यंगहसबैंड मिशन का तिब्बत की ओर प्रस्थान

कर्जन ने मई, १६०३ में एक सैनिक अधिकारी, यंगहसबैंड को यह आज्ञा दी कि वह तिब्बत की सीमा को पार करके तिब्बतियों को समझौता करने के लिए विवश करे। सेना की एक टुकड़ी लेकर यह ब्रिटिश मिशन तिब्बत की ओर रवाना हुआ।

कर्जन तथा यंगहसबैंड दोनों जानते थे कि तिब्बत की सरकार पर दबाव डालने का एक यही विकल्प था कि उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया जाय। तिब्बत के पास ब्रिटिश सेना से लड़ने की किसी प्रकार की शक्ति नहीं थी। तिब्बत की कमजोरी का लाभ उठाकर ही उस पर कोई समझौता लादा जा सकता था। किंतु वाइसराय और उसका प्रतिनिधि दोनों यह जानते थे कि उन्हें, कुछ समय तक, यह अभिनय करना आवश्यक था कि तिब्बत के साथ शांतिपूर्ण ढंग से संपर्क किया जा रहा था। ब्रिटिश सरकार तिब्बत के विरुद्ध बल-प्रयोग के पक्ष में नहीं थी। कर्जन ने यंगहसबैंड मिशन भेजने की अनुमति प्राप्त करके कुछ महीनों में किसी न किसी प्रकार तिब्बत के विरुद्ध शक्ति-प्रयोग का रास्ता ढूँढ निकाला।

तिब्बत के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही

तिब्बत की सीमा को पार करके ब्रिटिश मिशन खंभाझोंग पहुँचा। जुलाई से दिसंबर, १६०३ तक यंगहसबैंड यह उम्मीद करता रहा कि तिब्बत की ओर से बातचीत करने के लिए कोई अधिकारी भेजा जायेगा। परंतु दलाईलामा ने परंपरागत नीति के अनुसार समझौते के लिए किसी भी प्रकार की बातचीत के लिए दरवाजे बन्द रखे। अब कर्जन की सरकार मध्यस्थ के द्वारा संपर्क करने की नीति के पक्ष में नहीं थी। इस कारण यंगहसबैंड ने तिब्बत स्थित चीनी प्रतिनिधि से खंभाझोंग में विशेष बातचीत नहीं की। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने भारत सरकार को स्थिति की जानकारी दी।

यंगहसबैंड को आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी गयी। उसने बड़ी प्रसन्नता से यह संदेश प्राप्त किया। छम्ब घाटी पर अधिकार जमाने के उपरांत ब्रिटिश मिशन ग्यांतसी की ओर बढ़ा। ब्रिटिश मिशन की सहायता के लिए जो सेना भेजी गयी थी उसे सचेत कर दिया गया क्योंकि यंगहसबैंड यह भली-भाँति जानता था कि उसको तिब्बती क्षेत्र में कभी भी विरोध का सामना करना पड़ सकता था। पहली मुठभेड़ मार्च, १६०४ में गुरु नामक स्थान पर हुई। तिब्बतियों ने ब्रिटिश मिशन का रास्ता रोका जिससे सैनिक संघर्ष आरंभ हो गया। तिब्बतियों ने कभी भी आधुनिक ढंग से तैयार सेना का मुकाबला नहीं किया था। इससे वे जमकर युद्ध न कर सके। तिब्बती सेना करीब दो हजार थी जिसमें से इस मुठभेड़ में करीब ८४० तिब्बती सैनिक मार डाले गये। अब तक यह मिशन एक राजनीतिक प्रतिनिधि-मंडल न होकर सैनिक अभियान दल बन गया था। संभावित संघर्ष का सामना करने के लिए अन्य

सैनिक और अधिकारी यंगहसबैंड की सहायता के लिए भेज दिये गये थे।

तिब्बती सेना और ब्रिटिश मिशन के बीच दुवारा मुठभेड़ ग्यांतसी के किले पर अधिकार करने के लिए हुई। इस संघर्ष में भी तिब्बती सेना को भारी नुकसान उठाना पड़ा। अप्रैल, १६०४ में ग्यांतसी के किले पर अधिकार करने के पश्चात् ब्रिटिश मिशन ने तिब्बत की राजधानी ल्हासा की ओर बढ़ने की तैयारी की।

तिब्बती सेना ने आरंभिक मुकावलों से अंदाज लगा लिया था कि वह ब्रिटिश सेना का विरोध करने की स्थिति में नहीं थी। इसी कारण जव मिशन ल्हासा की तरफ बढ़ा तो उसका कोई भी प्रतिरोध नहीं किया गया। बिना किसी कठिनाई के अंग्रेजी सेना ने अगस्त, १६०४ में ल्हासा पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार कर्जन की योजना सफल हो गयी और अब वह तिब्बतियों को समझौता करने पर मजवूर कर सकता था।

यह ध्यान रखना होगा कि इस एक वर्ष के दौरान कभी भी रूस ने तिब्वत के विषय में कोई हस्तक्षेप नहीं किया और न यंगहसबैंड रूसी हस्तक्षेप का कोई प्रमाण ही प्रस्तुत कर सका।

ल्हासा समझौता

दलाई लामा न तो युद्ध के लिए तैयार था और न समझौते के लिये। युद्ध करने की उसमें क्षमता नहीं थी और तिब्बत में सैनिक तैयारी की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया गया था। जब दलाई लामा ब्रिटिश मिशन को ल्हासा तक बढ़ने से रोक न सका तो वह राजधानी से भाग गया। उसकी ओर से अन्य लामाओं ने यंगहसबैंड से समझौता वार्ता की।

यंगहसबैंड ने तिब्बत के साथ सितंबर, १६०४ में समझौते की शर्तें तय कीं। यह समझौता बहुत कठोर था। इससे दिखाई देता है कि किस प्रकार अंग्रेज अधिकारी अवसर का लाभ उठाकर तिब्बत को अपने चंगुल में फँसा रहा था। ग्यांतसी तक व्यापार का मार्ग खोलने का निश्चय इस समझौते द्वारा किया गया। तिब्बतियों ने यह स्वीकार किया कि वे भारत से आने और भारत की ओर जाने वाले माल पर शुल्क नहीं वसूल करेंगे। यह निश्चय किया गया कि युद्ध के हर्जाने के रूप में तिब्बत सरकार भारत सरकार को ७५ लाख रुपया अदा करेगी। धन की अदायगी के विषय में यह तय किया गया कि तिब्बत सरकार यह धन पचहत्तर किस्तों में देगी। इसी के साथ समझौते में यह भी कहा गया कि जव तक हर्जाने की रकम वसूल नहीं हो जाती, भारत सरकार छंव घाटी पर अधिकार रखेगी। किसी विदेशी शक्ति को तिब्बत में हस्तक्षेप करने अथवा अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार नहीं था।

जब ब्रिटिश सरकार को इस समझौते का समाचार मिला तो वह यंगहसबैंड से अप्रसन्न हुई। इस समय ब्रिटिश सरकार यूरोपीय स्थिति के कारण रूस से संबंध सुधारना चाहती थी। अतः उसकी इच्छा थी कि तिब्बत के प्रश्न को लेकर दोनों सरकारों के बीच मनमुटाव न पैदा हो। गृह सरकार ने तुरंत कर्जन को निर्देश देकर समझौते की दो प्रमुख

शर्तों को बदल दिया। अब तिब्बत को केवल पच्चीस लाख रुपये हर्जाना के रूप में देना था। यह भी निश्चय किया गया कि तीन वर्ष बाद छंब घाटी को ब्रिटिश सेनाएँ खाली कर देंगी। समझौते की कठोर शर्तों को नरम बनाने की दिशा में यह कार्य किया गया।

तिब्बत अभियान के परिणाम

तिब्बत अभियान से तिब्बत और भारत सरकार के बीच संबंधों का द्वार खुला। इसके पूर्व दोनों सरकारों के बीच किसी प्रकार के संबंध नहीं थे।

तिब्बत अभियान कर्जन की महत्त्वाकांक्षा का नतीजा था। उसने जो सैनिक कार्रवाई की उसके विषय में थामसन और गैरेट लिखते हैं:- इस प्रकार इंग्लैंड का वह 'छोटा युद्ध' समाप्त हो गया जिसके औचित्य को किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं किया जा सका और जो युद्ध पूर्णरूप से शांत और व्यावहारिक ढंग से शस्त्रविहीन जाति पर लादा गया था।" इस खर्चीले अभियान का कोई भी निश्चित परिणाम नहीं निकला।

यह एक अजीब मौका था कि तिब्बत अभियान से ब्रिटेन अथवा रूस को नहीं अपितु चीन को लाभ हुआ। ब्रिटिश सेना जब ल्हासा की ओर बढ़ी तो चीनी चुप रहे। लेकिन सेना के हटने के पश्चात् चीनियों ने तिब्बत पर पुनः अपना प्रभुत्व जमाना आरम्भ कर दिया। १६०७ में रूस और ब्रिटेन के बीच जो समझौता हुआ उसमें तय किया गया कि इन दोनों यूरोपीय शक्तियों में से कोई भी चीन की मर्जी के विरुद्ध न तो तिब्बत से कोई समझौता करेगा और न प्रतिनिधि भेजेगा। रूस और ब्रिटेन ने एक दूसरे को तिब्बत से दूर करके चीन को तिब्बत पर प्रभुत्व बढ़ाने का अवसर दिया।

●●●

बीसवाँ अध्याय

ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रशासन का स्वरूप

लिटन, रिपन और कर्जन का शासनकाल

१८५८ के उपरांत ब्रिटिश प्रशासकों के सम्मुख नयी चुनौतियाँ थीं, नयी समस्याएँ थीं और यह आशा थी कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश पार्लियामेंट भारत के प्रशासन को नयी दिशा दे सकेंगे। इस समय प्रत्येक गवर्नर जनरल शासन-तंत्र को सुदृढ़ करने में व्यस्त रहा। केन्द्रीय तथा प्रांतीय प्रशासन के ढाँचे को सुधारने और सँवारने के प्रयत्न किये गये, कानूनों को अपनाया गया, सांविधानिक परिवर्तनों पर विचार हुआ और प्रशासनिक सेवा को सशक्त बनाया गया। इस प्रश्न पर विचार करने के लिए कि इस युग में भारत स्थित ब्रिटिश सरकार के सम्मुख किस प्रकार के प्रश्न उपस्थित हुए और प्रशासकों ने इन प्रश्नों का समाधान करते समय किस प्रकार की नीतियाँ अपनाईं, हम तीन गवर्नर जनरल के शासन का विवरण दे रहे हैं। लिटन, रिपन और कर्जन के कार्यकाल में अपनायी गयी नीतियों से यह आभास मिलता है कि विद्रोह के वाद के पचास वर्षों तक ब्रिटिश प्रशासन का स्वरूप किस प्रकार का बना रहा।

१८५८ से १६०५ के बीच जो प्रशासकीय निर्णय किये गये और जिस प्रकार की नीतियाँ अपनाई गयीं उनके कारण भारत में ब्रिटिश सांम्राज्य के भावी स्वरूप पर असर पड़ा। मूल प्रश्न यह था कि क्या ब्रिटिश शासन अपने साम्राज्यवादी स्वरूप से ऊपर उठ सकेगा अथवा नहीं। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर ही अंग्रेजों ने भारत पर अधिकार जमाया था। उन्होंने अनुभव कर लिया था कि लंवे समय तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को बनाए रखने के लिए एक सुव्यवस्थित और सुसंगठित शासन की आवश्यकता थी। सभी ब्रिटिश प्रशासक इस उद्देश्य के प्रति जागरूक रहे। ये प्रशासक यही सोचते रहे कि कुशल शासन-तंत्र के सहारे भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को स्थायी बनाया जा सकता था। लेकिन ब्रिटिश प्रशासकों को ध्यान रखना चाहिए था कि केवल कुशल प्रशासन करना ही काफी नहीं था। केवल अच्छे शासन से ही साम्राज्यवादी हित पूरे करना काफी न था। आवश्यकता इस बात की थी कि प्रगतिशील नीतियाँ अपनाई जातीं और तत्कालीन भारत की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता। ब्रिटिश प्रभुत्व को वनाये रखते हुए यदि राजनीतिक सुविधाएँ और रियायतें देते रहने की नीति अपनायी जाती तो भारत में उभरता हुआ प्रवुद्ध, शिक्षित, मध्यवर्गीय जनसमुदाय संतुष्ट हो सकता था। दिनोंदिन प्रवुद्ध वर्ग की शक्ति बढ़ रही थी। उसकी संख्या भी विकसित हुई। रिपन की कोशिश थी कि इस सजग वर्ग का सहयोग प्राप्त करके प्रशासन को संचालित किया जाय। पर लिटन और कर्जन को ऐसी नीति पर विश्वास नहीं था। १६०५ तक तो प्रशासन देश में उभरती राजनीतिक चेतना की अनदेखी कर सका

पर उसके बाद नहीं। इसी कारण १६०५ के बाद के प्रशासकों को नये तरीकों से सोचना पड़ा। लेकिन उन्होंने केवल उसी समय इन प्रश्नों पर विचार किया जब वे मजबूर हो गये। १८५८ के बाद के दशकों में ब्रिटिश प्रशासक परिस्थितियों के अनुसार जनहित में कार्य नहीं कर सके। परिणाम यह हुआ कि शासक और शासित वर्ग के बीच खाई घटने के वजाय वढ़ती गयी।

साम्राज्यवाद का आधार शक्ति होता है। सैनिक ताकत के द्वारा साम्राज्यवाद को बनाए रखा जाता है। सेना के बलबूते पर जब साम्राज्यवाद को स्थायी बनाने का प्रयास होता है तो इसकी कीमत उन जातियों अथवा वर्गों को चुकानी पड़ती है जिनपर यह साम्राज्य लादा जाता है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रशासन के दौरान भी यही स्थिति दिखायी देती है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि १८५७ के विद्रोह के उपरांत भारत और ब्रिटेन के संबंधों में जो भय और आशंका का वातावरण उत्पन्न हो गया था वह कई दशकों तक भारत के प्रशासकों को प्रभावित करता रहा। लिटन, रिपन और कर्जन के कार्यकाल में हम देखेंगे कि भारतीयों के प्रति यह आशंका बराबर बनी हुई थी। इसी कारण ब्रिटिश प्रशासक निरंकुश व्यवस्था के हिमायती बने रहे। १८५८ से १६०५ के बीच प्रशासकों के सम्मुख जो प्रश्न आए और जिस प्रकार की नीतियाँ उन्होंने अपनायीं उनका विस्तृत विवेचन करने के लिए हम तीन प्रमुख गवर्नर जनरलों के प्रशासन का विवरण दे रहे हैं।,

लिटन का शासन (१८७६-१८८०)

अप्रैल, १८७६ में लिटन ने गवर्नर जनरल का पद सँभाला। इस समय ब्रिटेन में अनुदार दल का शासन था। ब्रिटिश प्रधान मंत्री डिजरेली ने ऐसे व्यक्ति को इस पद के लिए चुना जो मंत्रिमंडल की नीतियों के अनुसार कार्य करने को तैयार हो और जिसे अनुदार दल के कार्यक्रम को लागू करने में उत्साह हो। वैदेशिक मामलों में लिटन अपने पूर्ववर्ती गवर्नर जनरलों की तरह यथास्थिति को बनाए रखने पर विश्वास नहीं करता था। इसके विपरीत ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ बनाना और सम्पूर्ण मध्य एशिया में अंग्रेजों की धाक जमाना उसका मुख्य लक्ष्य था।

आरंभ में ही हमें पी०ई० रावर्ट्स की इस स्वीकारोक्ति पर ध्यान देना है कि किसी भी वाइसराय की इतनी 'तीव्र आलोचना' नहीं की गयी जितनी आलोचना लिटन की गयी। रावर्ट्स सामान्यतया प्रत्येक गवर्नर जनरल का गुणगान ही करते हैं। परंतु इस इतिहासकार को भी लिटन के प्रशासन के विषय में यह लिखना ही पड़ा। लिटन की नियुक्ति करते समय ही डिजरेली ने लिखा था – 'मध्य एशिया की नाजुक स्थिति को देखते हुए हमें एक राजनीतिज्ञ की आवश्यकता है।' लिटन को कूटनीति का अनुभव था। ब्रिटेन के वैदेशिक विभाग में उसने कई पदों पर कार्य किया था। अतः गवर्नर जनरल का पद सँभालते ही वह अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की समस्या में उलझ गया। पूरे चार वर्षों तक उसका सारा ध्यान वैदेशिक मामलों में लगा रहा। लिटन की अफगान नीति की चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। वाइसराय के रूप में लिटन की सफलता अथवा असफलता इसी तथ्य पर आधारित थी

कि वह अफगानं समस्या का समाधान किस ढंग से कर रहा था। उसकी अफगान नीति असफल रही और द्वितीय अफगान युद्ध के कारण डिजरेली के प्रशासन को गहरा धक्का लगा। इसी से एस० गोपाल ने लिखा है कि "वैदेशिक नीति में उसकी जोखिम ने उसके शासन को जलाकर राख कर दिया।" अफगान नीति की काली छाया से लिटन का कार्यकाल ग्रसित रहा।

देश की आंतरिक समस्याओं को सुलझाने में उसने जो रवैया अपनाया उससे भी सभी को घोर निराशा हुई। इस वाइसराय को प्रशासन का किसी प्रकार का अनुभव नहीं था। भारत की समस्याओं की ओर उसने कभी ध्यान नहीं दिया था। इससे भी उसकी कठिनाइयाँ बढ़ीं। लिटन की सबसे बड़ी कमजोरी यह साबित हुई कि उसका ध्यान हमेशा ब्रिटेन की ओर ही रहा। जिस देश में वह शासन का प्रमुख होकर आया था उसके हितों को उसने हमेशा गौण समझा। ब्रिटिश साम्राज्य को भारत में शक्तिशाली बनाने की धुन में उसने इसका कतई ध्यान नहीं रखा कि उसके निर्णयों का प्रभाव भारतीय जनता पर क्या पड़ेगा। एक के बाद दूसरे जो कदम उसने उठाए उनसे भारत का प्रबुद्ध वर्ग प्रशासन से छुब्ध होता गया। शासक और शासित, अंग्रेजों और भारतीयों, के बीच पहले से ही खाई बनी हुई थी। लिटन ने इस खाई को पाटने के बजाय उसे और अधिक चौड़ा कर दिया। हमें यह विचार करना है कि आंतरिक प्रशासन में उसने किस प्रकार की नीतियाँ अपनाईं जिससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी।

दक्षिण भारत में अकाल

अक्टूबर, १८७६ से ही भारत के दक्षिणी प्रदेशों में वर्षा न होने के कारण अकाल पड़ा। १८७६ से १८७८ तक मद्रास, बंबई, मैसूर और हैदराबाद क्षेत्र का बड़ा भाग अकाल से ग्रस्त रहा। जितने बड़े क्षेत्र में यह अकाल पड़ा उतने भाग में इसके पूर्व कभी भी अकाल नहीं पड़ा था। करीब ढाई हजार वर्ग मील क्षेत्र में रहने वाले पाँच करोड़ अस्सी लाख लोग इसकी चपेट में आ गये। उन्नीसवीं शताब्दी में इसके पूर्व इतनी भयंकर स्थिति कभी नहीं आयी थी।

भारत सरकार अथवा प्रांतीय सरकारों ने इस कठिन स्थिति का मुकाबला करने में हिचकिचाहट दिखाई। अधिकारियों को स्पष्ट निर्देश नहीं दिये गये थे कि लोगों को राहत पहुँचाने के लिए किस प्रकार के कदम उठाए जायें। उदाहरण के लिए यह मतभेद बना रहा कि राहत कार्यों के लिए छोटे पैमाने पर कार्यक्रम अपनाए जायें अथवा बड़े पैमाने पर। छोटे राहत कार्य, जैसे तालाब खोदना अथवा पुरानी सड़कों की मरम्मत करना, ऐसे कार्य थे जिनसे विशाल जनसमुदाय को राहत नहीं पहुँचाई जा सकती थी। लेकिन इसके विपरीत राहत के लिए बड़े कार्यक्रम केवल सार्वजनिक निर्माण विभाग की सहायता से ही चलाए जा सकते थे। इनके लिए पूर्व-योजना, कुशल निरीक्षण तथा उसी के अनुसार धनराशि की आवश्यकता थी। बंबई के गवर्नर ने दुर्भिक्ष की विभीषिका को समझकर राहत कार्यों को बड़े पैमाने पर चलाने की सिफारिश की। पर मद्रास का गवर्नर छोटे पैमाने के कार्यों के पक्ष में

था। लिटन ने दोनों गवर्नरों के विचारों को सुना। कुछ समय पश्चात् बड़े राहत कार्यों की योजना बनाई गयी।

हालाँकि अकाल का सामना करने के लिए करीब एक करोड़ रुपया खर्च किया गया लेकिन फिर भी केवल बंबई सूबे में अनुमानतः पचास लाख लोग भूख से मर गये। इसी से यह अंदाज लगाया जा सकता है कि अकाल कितना भयंकर था और राजकीय सहायता कितनी अपर्याप्त साबित हुई थी। जहाँ भी दक्षिण के अकाल का समाचार पहुँचा, लोगों ने लिटन की सरकार की आलोचना की। सरकार की नीति की असफलता इससे प्रकट हुई।

१८७८ में लिटन की सरकार ने यह स्वीकार किया कि अकाल का मुकाबला करने के लिए अधिक तैयारी की आवश्यकता थी। अकाल की स्थिति की जानकारी देने तथा अकाल की स्थिति में विभिन्न उपायों पर विचार के लिए एक कमीशन नियुक्त किया गया। दो वर्षों तक इस कमीशन ने अकाल के कारणों पर विचार किया तथा इसका मुकाबला करने के लिए विभिन्न उपायों के सुझाव दिये। क्या ही अच्छा होता यदि सरकार इसके लिए पहले से ही तैयार रहती, दुर्भिक्ष की चपेट में आये लोगों को बचा लिया जाता तथा उनके कष्टों को कम किया जाता।

कपड़ों से कर हटाना

ब्रिटेन में इस समय मुक्त व्यापार का सिद्धांत प्रतिपादित किया जा रहा था। ब्रिटेन के उद्योगों का जिस प्रकार से विकास हो चुका था उस स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि वहाँ के व्यापारी और प्रशासक ऐसी माँग करते। १८५८ के बाद के दशकों में भारत में मुक्त व्यापार-प्रणाली लागू करने की कोशिश नहीं की गयी थी। यह स्वीकार किया गया कि भारत की आर्थिक स्थिति इतनी संतोषजनक नहीं थी कि इस नीति को यहाँ अपनाया जाता। १८७५ तक भारत सरकार भारत पर आनेवाले माल पर कर लगाती थी। इस कर से सरकार को औसतन २.६० मिलियन पौंड की आमदनी होती थी। ब्रिटिश सरकार ने भारत की स्थिति को देखते हुए सीमा-शुल्क को बनाए रखना स्वीकार कर लिया था। सीमा-शुल्क को बनाए रखना भारत के हित में था क्योंकि इन करों को हटा देने पर राज्य को खर्च पूरा करने के लिए जनता पर किसी अन्य प्रकार के कर लगाना आवश्यक हो जाता।

भारत सरकार ने आयात पर जो कर लगाया था उसका उद्देश्य भारतीय उद्योग को सुरक्षा प्रदान करना नहीं था। इसका एकमात्र लक्ष्य था राज्य की आय को बढ़ाना। अभी भारत में कपड़ा उद्योग केवल आरंभ ही हुआ था और इन मिलों में कपड़ा भी निम्न कोटि का बनता था जो ब्रिटेन से आये हुए बढ़िया सूती कपड़े का मुकाबला नहीं कर सकता था। लेकिन फिर भी ब्रिटेन में लंकाशायर के व्यापारी भारत के कपड़े के उद्योग के प्रतिरोध के प्रति शंकित हो उठे। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से माँग की कि भारत में आयात होनेवाले कपड़े पर किसी प्रकार का कर न लगाया जाये। ब्रिटेन का अनुदार दल लंकाशायर के व्यापारियों को अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। अतः १८७५ में तत्कालीन गवर्नर जनरल को कपड़े पर से कर समाप्त कर देने की राय दी गयी। पर लिटन के पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल नार्थब्रुक ने

ब्रिटिश व्यापारियों की इस माँग को स्वीकार नहीं किया। उसका कहना था कि ऐसा करना भारत के हित में नहीं था। यह भी स्पष्ट किया गया की सीमा-शुल्क केवल पाँच प्रतिशत लिया जाता था। इस कर से भारत के कपड़ा उद्योग को संरक्षण नहीं मिल रहा था।

नार्थब्रुक के बाद जब लिटन गवर्नर जनरल होकर आया तो उसने ब्रिटिश सरकार की मर्जी के अनुसार कपड़े पर से शुल्क हटा दिया। १८७९ में भारत सरकार ने यह निर्णय किया कि आयात किये जाने वाले मोटे प्रकार के कपड़े पर किसी प्रकार का सीमा-शुल्क नहीं लगेगा। अच्छे प्रकार के कपड़े और अन्य प्रकार के कपड़े की परिभाषा इसी आदेश में की गयी। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के अधिकतर सदस्यों ने गवर्नर जनरल के इस निर्णय का विरोध किया। वाइसराय ने कार्यकारिणी परिषद् की इच्छा को ठुकराते हुए अपने विशेषाधिकार द्वारा यह निर्णय किया। स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार को प्रसन्न करने के लिए लिटन ने यह कदम उठाया। अकाल में सरकार का काफी खर्च हो गया था तथा द्वितीय अफगान युद्ध के कारण भी देश की आर्थिक दशा खराब थी। फिर भी वाइसराय ने मुक्त व्यापार की नीति को अपनाया। लिटन के इस कार्य की देश के प्रत्येक कोने में इस कारण आलोचना की गयी कि उसने ब्रिटिश हितों को संतुष्ट करते समय भारत के हितों की बलि चढ़ा दी थी।

आर्थिक सुधार

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् का वित्त सदस्य रिचर्ड स्ट्रेची एक सुयोग्य अधिकारी था जिसने आर्थिक सुधारों की ओर ध्यान दिया। कुछ वर्षों पूर्व वित्तीय विकेन्द्रीकरण की जिस नीति का आरंभ किया गया था उसे लिटन के कार्यकाल में आगे बढ़ाया गया। प्रांतीय सरकारों को सभी सामान्य प्रांतीय सेवाओं के खर्च पर अधिकार मिला। इस खर्च को पूरा करने के लिए प्रांतीय सरकारों को आय के कुछ विशेष साधनों पर अधिकार मिला। वित्त सदस्य ने आशा प्रकट की थी कि इस वर्ष प्रत्येक प्रांतीय सरकार अपनी-अपनी आमदनी के साधन जुटाने का प्रयत्न करेगी।

नमक कर के संबंध में भी परिवर्तन किये गये। देश के अलग-अलग भागों में नमक की दरों में भारी अंतर था। मद्रास और बंबई में एक मन नमक पर १ रुपया १३ पैसे कर देना पड़ता था जबकि बंगाल में तथा देश के उत्तरी प्रांतों में एक मन पर ३ रुपया कर देना होता था। देशी राज्यों में नमक काफी मात्रा में उपलब्ध था। इन क्षेत्रों में नमक पर किसी प्रकार का कर नहीं लगा हुआ था। इस परिस्थिति में लोग एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक चोरी-छिपे नमक ले जाते थे। इस अवैध व्यापार को रोकने के लिए सरकार को बड़ी संख्या में अधिकारियों की नियुक्ति करनी पड़ती थी। लिटन ने इस व्यवस्था को सुधारने के लिए दो तरीके अपनाए। पहला सुधार यह किया गया कि देश के प्रत्येक भाग में नमक पर एक सा कर लगा दिया गया। दूसरे, देशी रियासतों में नमक के उत्पादनं और वितरण पर ब्रिटिश सरकार की सलाह के अनुसार नियंत्रण लगाये गये।

भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों पर नियंत्रण

लिटन के समय तक भारत में समाचार पत्रों का पर्याप्त विकास हो चुका था। अंग्रेजी में तथा अन्य भारतीय भाषाओं में समाचार-पत्र देश के विभिन्न भागों से प्रकाशित होते थे। आरंभ से ही समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता को सरकार ने स्वीकार किया था। समाचार-पत्र बिना किसी रोकटोक के खबरें प्रकाशित करते तथा अपना-अपना मत प्रकट करते थे। लिटन ने १८७८ का अधिनियम पारित करके समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता के सर्वमान्य सिद्धांत को ठुकरा दिया।

पिछले कुछ वर्षों से उन समाचार-पत्रों का रुख बदल रहा था जिनका स्वामित्व भारतीयों के हाथ में था। ये पत्र केवल समाचारों को यथावत् प्रकाशित करने के साथ-साथ ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना भी करने लगे थे। प्रत्येक समाचार-पत्र अपना विस्तार करना चाहता था। इससे इन समाचार-पत्रों में इस बात की होड़ आरम्भ हो गयी कि कौन सरकार की अधिक आलोचना करता था। घटनाओं का वर्णन करके तथा अंग्रेज अधिकारियों और व्यापारियों के कार्यों का भंडाफोड़ करके प्रत्येक समाचार-पत्र अधिक से अधिक पाठकों तक पहुँचने की कोशिश में लगा था। विशेष रूप से बंगाल के समाचार-पत्र सरकार की नीतियों तथा कार्यों की आलोचना में लगे। कलकत्ता उस समय राजधानी थी। इस कारण ब्रिटिश सरकार का ध्यान भी बँगला भाषा में प्रकाशित अखबारों की ओर गया। लिटन के कार्यकाल में जब अकाल पड़ा और द्वितीय अफगान युद्ध आरम्भ हो गया तो इन अखबारों ने लिटन पर गहरा प्रहार किया। वाइसराय इससे तिलमिला गया और उसने भारतीय भाषाओं के अखबारों पर अंकुश लगाने का निश्चय किया।

लिटन ने समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता पर रोक लगाने के समय विचार प्रकट किया कि भारतीय भाषाओं के पत्र 'हर समय शरारती और विशेष रूप से खतरनाक' थे। लिटन ने आशंका प्रकट करते हुए कहा कि भारतीय भाषाओं में प्रकाशित अखबार जनता को विद्रोह के लिए भड़का रहे थे और इनका दमन करना आवश्यक था।

इस वाइसराय ने अधिनियम पारित करने में भी बहुत अधिक जल्दबाजी की। १३ मार्च, १८७८ को उसने ब्रिटिश सरकार से अनुमति प्राप्त करने के लिए तार भेजा। दूसरे दिन तार द्वारा जैसे ही अनुमति प्राप्त हुई वाइसराय ने तुरन्त बिल पेश किया और व्यवस्थापिका सभा की एक ही बैठक में १४ मार्च को यह अधिनियम पारित कर दिया गया। इस अधिनियम का वास्तविक नाम था 'प्राच्य भाषाओं के प्रकाशनों पर बेहतर नियंत्रण रखने के लिए अधिनियम'। इस अधिनियम को जिस तरीके से पारित किया गया उससे लोग शंकित हो उठे। साधारणतया बिल को पेश करने के बाद उसे कमेटी के विचारार्थ पेश किया जाता था। बिल को गजट में भी प्रकाशित किया जाता था जिससे जनमत की प्रतिक्रिया जानी जा सके। लेकिन इस अधिनियम को पारित करते समय ऐसा कुछ भी नहीं किया गया। भारत का शिक्षित वर्ग लिटन के इस ढंग से क्षुब्ध हुआ और शीघ्र ही देश में अधिनियम के विरुद्ध व्यापक विरोध हुए।

इस अधिनियम के द्वारा जिलाधीशों और पुलिस कमिश्नरों को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वे अपने क्षेत्रों से प्रकाशित समाचार-पत्रों के प्रकाशकों अथवा छापनेवालों से यह माँग कर सकते थे कि वे अनुबंधपत्र पर हस्ताक्षर करके यह गारंटी दें कि वे ऐसा समाचार प्रकाशित नहीं करेंगे जिससे सरकार के प्रति असंतोष की भावना जगे। अनुबंधपत्र के साथ-साथ ये अधिकारी प्रकाशकों या छापनेवालों से कुछ निश्चित धनराशि जमा करने की माँग भी कर सकते थे। सरकार को यह अधिकार मिल गया कि यदि अवांछित सामग्री किसी भी अखबार में प्रकाशित हुई तो अनुबंध की रकम को जब्त किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त समाचार-पत्रों के प्रकाशक अथवा छापनेवालों की सारी मशीनों अथवा अन्य वस्तुओं को भी जब्त किया जा सकता था। समाचार-पत्रों के अलावा किसी भी प्रकाशित पुस्तक अथवा अन्य प्रकार के प्रकाशनों पर भी यह अधिनियम लागू किया गया। प्रकाशकों से यह भी कहा गया कि वे किसी भी स्थिति में पहले से ही प्रकाशन सामग्री के बारे में अधिकारियों की अनुमति प्राप्त कर सकते थे। अधिनियम से संबंधित किसी भी कार्यवाही के विरुद्ध न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती थी।

लिटन की सरकार द्वारा पारित यह अधिनियम एक अधोगामी कदम था। देश के शिक्षित मध्यम वर्ग ने इसकी तीव्र निंदा की। सबसे प्रथम तो वाइसराय की नीति की आलोचना इस आधार पर की गयी कि उसने खुलेआम भेदभाव-पूर्ण रवैया अपनाया। जहाँ भारतीय भाषाओं में प्रकाशित पत्रों पर अंकुश लगाया गया वहीं अंग्रेजी में प्रकाशित पत्रों पर इस अधिनियम का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। सरकारी अधिनियम से बचने के लिए कुछ पत्र अंग्रेजी में निकलने लगे। इसी समय अमृतबाजार पत्रिका बँगला के बजाय अंग्रेजी में निकलने लगी। अंग्रेजी में प्रकाशित अखबारों के प्रति हमदर्दी का रुख और भारतीय भाषाओं में प्रकाशित अखबारों के कार्य में बाधा डालने का सरकार का तरीका सर्वथा अनुचित था। दूसरे, अधिनियम में समाचार-पत्रों के प्रकाशकों को न्यायालय में अपील करने का अधिकार न दिया जाना एक दमनकारी तरीका था। तीसरे, लिटन की सरकार ने प्रजातांत्रिक और संवैधानिक सिद्धांतों की अवहेलना की। उसके इस कदम से यह दिखाई दिया कि वाइसराय स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करना चाहता था। वह अखबारों की आलोचना को सहन नहीं कर सकता था।

प्रशासनिक सेवा के सम्बन्ध में नयी व्यवस्था

भारत में ऊँचे पदों पर केवल प्रशासनिक सेवा के अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। इस सेवा के लिए प्रतियोगिता केवल लंदन में ही होती थी। १८७० तक शासन के उच्च पदों पर केवल योरोपीय ही नियुक्त होते थे। भारतीयों को इन पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था। इस स्थिति को कुछ हद तक बदलने की दृष्टि से १८७० में ब्रिटिश पार्लामेंट ने एक अधिनियम पारित किया। इसके अंतर्गत भारत सरकार को अधिकार दिया गया था कि वह विशिष्ट प्रशासनिक सेवा के पदों पर कुछ भारतीयों को नियुक्त कर सकती थी। करीब नौ वर्षों तक इस अधिनियम के अनुसार कोई कार्यवाही नहीं की गयी। अन्ततः १८७९ में लिटन की सरकार ने प्रशासनिक सेवा के विषय में नये नियमों की घोषणा की।

लिटन को प्रशासनिक सेवा के बारे में निर्णय करते समय दो विरोधी स्थितियों में सामंजस्य बिठाना पड़ा। एक ओर वह प्रशासनिक सेवा के उच्च पदों पर अंग्रेजों को ही नियुक्त करना आवश्यक समझता था। उसका कहना था कि इन्हीं अंग्रेज अधिकारियों के बलबूते पर ही ब्रिटिश साम्राज्य का प्रभुत्व भारत मे बनाये रखना संभव हो सकता था। लेकिन फिर भी यह दिखावा करना जरूरी था कि भारतीयों को इस विशिष्ट प्रशासनिक सेवा से अलग नहीं रखा जा रहा था। इस स्थिति में लिटन ने निर्णय किया कि न्यायाधीशों के पदों पर तथा कुछ कम जिम्मेदारी के पदों पर भारतीयों को नियुक्त किया जाये। अब प्रश्न यह उठा कि इन सेवाओं के लिए नियुक्तियाँ किस प्रकार हों तथा उनके चुनाव के लिए किस प्रकार का तरीका अपनाया जाये। यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था।

लिटन ने १८७९ में जिस सेवा के लिए नियमों की घोषणा की उसे 'स्टेटयूटरी सिविल सर्विस' कहा गया। यह निश्चय गिया गया कि प्रतिवर्ष जितनी नियुक्तियाँ प्रशासनिक सेवा के लिए की जायें उस संख्या के एक छठे भाग के लिए नयी सेवा के सदस्य प्रांतीय सरकारों द्वारा नियुक्त किये जायें। भारत में यह माँग की जा रही थी कि किसी भी सेवा के लिए नियुक्तियाँ योग्यता के आधार पर हों और किसी भी ढंग की प्रतियोगिता कराई जाये। पर लिटन शिक्षित वर्ग पर विश्वास नहीं करता था उसने इस सेवा की नियुक्ति के बारे में यह निश्चय किया कि ऐसे लोगों को चुना जाये जो प्रभावशाली और सम्मानित परिवार में जन्में हों। इस प्रकार सामाजिक प्रभाव को महत्त्व दिया गया। सरकार ने प्रतियोगिता न करके इस वर्ग के नवयुवकों को मनोनीत करने का निर्णय किया। इस प्रकार सरकार को यह अधिकार मिल गया कि वह प्रभावशाली परिवारों के सदस्यों को ऊँचे पदों के लिए नियुक्त करे।

सरकार का यह निर्णय राजनीतिक कारणों से किया गया था। उद्देश्य यह था कि इस प्रकार प्रभावशाली परिवारों को ब्रिटिश सरकार के पक्ष में जीता जाये। लिटन ने भारत के सामंतशाही वर्ग को प्रभाव में लाने का यह नया ढंग निकाला। उसके इस निर्णय से जनसाधारण तथा शिक्षित समुंदाय को घोर निराशा हुई। वाइसराय का यह निर्णय किसी को भी संतुष्ट नहीं कर सका। यह व्यवस्था सफल नहीं हो सकी। करीब सात वर्षों के बाद इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। इस सेवा के लिए योग्य व्यक्तियों को नहीं चुना गया। इससे प्रशासनिक दृष्टि से भी यह प्रयोग असफल सिद्ध हुआ।

भारत में शाही दरबार

पहली जनवरी, १८७७ को लिटन ने दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन किया। कुछ समय पूर्व ब्रिटिश संसद ने 'कैसर-ए-हिंद' का नया पद महारानी विक्टोरिया को दिया था। इस दरबार में महारानी की इस नयी पदवी की घोषणा की गयी। शान शौकत के लिए लाखों रुपये व्यय किये गये। प्रायः प्रत्येक देशी रियासत के महाराजा तथा अन्य प्रभावशाली जमींदारों तथा गणमान्य व्यक्तियों को इस दरबार में बुलाया गया था। इस दरबार से यह स्पष्ट हो गया कि वाइसराय ब्रिटिश साम्राज्य के वैभव के प्रदर्शन के लिए सब कुछ करने को तत्पर था। भारत के समाचार-पत्रों में लिटन के इस कार्य की आलोचना की

गयी। इस समय देश के दक्षिणी क्षेत्रों में भयंकर अकाल पड़ रहा था। ऐसे समय में वाइसराय शान-शौकत के प्रदर्शन में धन व्यय कर रहा था।

अंत में यह कहा जा सकता है कि लिटन के प्रशासनिक कार्यों की भी देश में उसी प्रकार भर्त्सना की गयी जिस प्रकार उसकी अफगान नीति के दोषों को प्रकट किया गया था। लिटन ने हमेशा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से शासन किया। वह केवल ब्रिटिश अधिकारियों को प्रसन्न करने में ही लगा रहा। पर भारत के हितों की उसने परवाह नहीं की। कपड़े पर से उसने जिस प्रकार से कर हटाया उससे यह साफ जाहिर होता है। भारत में इस समय शिक्षित वर्ग जागृत हो रहा था। इस वर्ग के लोग शासन में भूमिका निभाना चाहते थे। लिटन ने इस वर्ग के हितों के विरुद्ध निर्णय किये। प्रशासनिक सेवा के लिए उसने जो नियम बनाये उनसे शिक्षित मध्यम वर्ग नाराज हो उठा। इसी से यह भी प्रकट हुआ कि वाइसराय देश के प्रतिक्रियावादी और सामंतवादी तत्वों को बढ़ावा दे रहा था। लिटन ने भारत में प्रजातांत्रिक सिद्धांतों की अवहेलना की। समाचार-पत्रों पर अंकुश लगाकर वह जनमत को भी प्रभावित करना चाहता था। उसके मुख्य कार्यों से यह स्पष्ट है कि वह ब्रिटेन में प्रचलित अनुदार दल की नीतियों को अपनाने में ही व्यस्त रहा। लेकिन वह न तो आंतरिक क्षेत्र में और न वाह्य नीति में ही सफलता प्राप्त कर सका।

रिपन का शासन (१८८०-१८८४)

ब्रिटेन में १८८० में जो आम चुनाव हुए उसमें अनुदार दल की हार हो गयी। एक वार फिर ग्लैडस्टन प्रधान मंत्री बना। उदारवादियों की इस सफलता का भारत में स्वागत किया गया। सभी को आशा बँधी कि यह एक अच्छे भविष्य की शुरुआत थी। ग्लैडस्टन का ध्यान तुरंत भारत की ओर गया। उसने लिटन को वापस बुला लिया और उसके स्थान पर एक ऐसे वाइसराय को भारत भेजा जो उदारवादी परंपरा के प्रति निष्ठावान था।

रिपन की नीति

लिटन और रिपन की नीतियों में बहुत अंतर दिखाई देता है। लिटन ने यथास्थिति को कायम रखना चाहा। वह इसी चिंता मे लगा रहा कि ब्रिटिश साम्राज्य को किस प्रकार सुदृढ़ किया जा सकता था। उसकी नीति का केन्द्रबिन्दु ब्रिटेन था, भारत नहीं। उसके कई कार्यों से भारतीयों को यह अनुभव हुआ कि ब्रिटेन के हितों के लिए भारत के हितों की उपेक्षा की जा रही थी। रिपन ने भारत में व्याप्त इस धारणा को बदलने की पूरी कोशिश की। नये वाइसराय ने अपने कार्यों से और सुधारों द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन का उद्देश्य भारतीयों को लाभ पहुँचाना था। यह दोनों वाइसरायों की नीति में महत्त्वपूर्ण अंतर था।

रिपन ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि पश्चिमी ढंग से शिक्षा पाये हुए शिक्षित वर्ग को संतुष्ट करने की नीति अपनाने की आवश्यकता थी। उसने भारत आकर देखा कि कालेजों और विश्वविद्यालयों में शिक्षा पूरी करके एक प्रभावशाली वर्ग अधिक से अधिक

संख्या में भारत में पनप रहा था। प्रतिवर्ष इनकी संख्या बढ़ रही थी। यही शिक्षित वर्ग अन्य भारतीयों का भी अगुवा बन रहा था। पढ़े लिखे लोग स्वाभाविक रूप से महत्त्वाकांक्षी थे और वे सरकार से सुविधाओं की माँग कर रहे थे। रिपन ने स्वीकार किया कि सरकार को इस मध्यम वर्ग की सहानुभूति प्राप्त करनी चाहिए और ऐसा वातावरण उत्पन्न करना चाहिए जिसमें वे भी भविष्य में शासन में कुछ भाग ले सकें। यह एक नयी नीति थी, एक नया दृष्टिकोण था जिसे अपनाने की जरूरत नये वाइसराय ने अनुभव की। उसने लिखा कि 'प्रति घंटे यह आवश्यकता बढ़ रही है कि शिक्षित भारतीयों को अपने शासन का शत्रु बनाने के बजाय मित्र बनाया जाये।' इसी से समझा जा सकता है कि रिपन ने पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल के समय अपनायी गयी नीतियों को बदलने की आवश्यकता पर बल दिया।

रिपन की प्रशंसा इस कारण विशेष रूप से की जाती है कि उसने ब्रिटिश शासन की आधारभूत समस्याओं के प्रति एक नया दृष्टिकोण अपनाया। उसका ध्यान भविष्य की ओर था। उसने उन प्रश्नों को उठाया जो भविष्य में बार-बार ब्रिटिश प्रशासकों के सामने आये। रिपन ने अपने एक पत्र में लिखा था कि भारत सरकार को दो नीतियों में से एक का चुनाव करना था। एक नीति उन प्रशासकों की थी जिन्होंने स्वतंत्र प्रेस की स्थापना की, शिक्षा को प्रोत्साहन दिया, भारतीयों को प्रशासनिक सेवा में अधिक से अधिक स्थान दिया और जो स्वशासन के सिद्धांत के हिमायती थे। दूसरी नीति उनकी थी जो प्रेस की स्वतंत्रता को घृणा की दृष्टि से देख रहे थे, शिक्षा के विकास से जिन्हें भय था और जो ऐसे किसी भी कदम से आशंकित और उत्तेजित हो उठते थे जिससे भारतीयों को आत्मनिर्णय करने के लिए कुछ प्रशासनिक अधिकार मिलें। रिपन ने जोर देकर कहा – 'इन दो नीतियों में से हमें चुनाव करना है। एक का अर्थ है प्रगति, दूसरी का अर्थ है दमन। लार्ड लिटन ने दूसरी नीति चुनी। मैंने पहली नीति को चुना है।'

इस प्रकार अगर रिपन ने उदारवादी परंपराओं को आगे बढ़ाया, प्रजातांत्रिक विचारों को प्रचलित किया और ब्रिटिश शासन की दूरगामी समस्याओं पर विचार किया तो इसका कारण यह था कि वह पूरी ईमानदारी से ब्रिटिश प्रशासन और भारत के लोगों के बीच की खाई को पाटना चाहता था। उसके इरादे नेक थे। परन्तु उसकी नीति का विरोध करने वाले भी हार मानने को तैयार नहीं थे। हमें उसके सुधारों पर विचार करते समय यह ध्यान रखना है कि वाइसराय ने किस प्रकार के प्रयास किये और किस प्रकार के विरोध का उसे सामना करना पड़ा।

अफगान युद्ध का अंत

रिपन ने जब वाइसराय का पद सँभाला तो उस समय सबसे पेंचीदा प्रश्न यही था कि अफगानिस्तान में किस प्रकार शांति की स्थापना की जाये। आरम्भ के छह महीनों में रिपन ने जो पत्र लिखे थे वे इस तथ्य को उजागर करते हैं।

लिटन ने दो बार सेना भेजकर सैनिक खर्च का बोझ बढ़ा दिया था। नये गवर्नर जनरल को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि वह खर्च में कमी करने के सभी उपाय करे।

लिटन की नीति के कारण अफगानिस्तान में अराजकता फैली हुई थी। इस स्थिति को समाप्त करना जरूरी था। लिटन यह भी चाहता था कि अफगान राज्य कई भागों में बाँट दिया जाये। रिपन ने अफगान नीति अपनाते समय इसका विरोध किया।

सबसे पहले भारत सरकार को यह निश्चय करना था कि अफगानिस्तान के अमीर के पद के लिए किसी उपयुक्त व्यक्ति को चुना जाये। रिपन ने अब्दुर्रहमान से बातचीत जारी रखी और उसे ही अमीर बना दिया। यह चुनाव सही साबित हुआ और बीस वर्षों के अब्दुर्रहमान के शासन में दोनों राज्यों के बीच संबंध संतोषजनक बने रहे। नये अमीर के साथ जो समझौता किया गया उसमें पिशिन और सिब्बी जिलों को अंग्रेजों के अधिकार में बनाए रखा गया। रिपन ने जल्द से जल्द ब्रिटिश सेना को अफगानिस्तान से वापस बुला लिया। जैसे ही नये अमीर ने काबुल में सत्ता सँभाल ली, यह कार्य पूरा करना आसान हो गया। इस प्रकार द्वितीय अफगान युद्ध द्वारा उत्पन्न कठिनाइयों पर विजय प्राप्त की गयी। रिपन की नीति थी सीमा पर शांति बनाये रखना ताकि वह पूरी तरह से आंतरिक सुधारों की ओर ध्यान दे सके। यदि उसके पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल की रुचि वैदेशिक नीति में थी तो रिपन का ध्यान मुख्य रूप से आंतरिक समस्याओं की ओर गया।

प्रथम फैक्टरी अधिनियम

पिछले एक दशक से भारत में यह विचार किया जा रहा था कि कारखानों में काम करने की दशा में सुधार के लिए कोई कदम उठाए जायें। १८८० तक देश में ऐसे अट्ठावन कारखाने स्थापित किये जा चुके थे जहाँ सूत का धागा या कपड़ा बनाया जाता था। इन कारखानों में काम करनेवालों को केवल मिल-मालिकों की स्वेच्छा पर नहीं छोड़ा जा सकता था। रिपन ने कारखानों की स्थिति को सुधारने के लिए अधिनियम की आवश्यकता का अनुभव किया। जो बिल उसने पेश किया उसकी व्यवस्थाएँ बहुत सामान्य थीं। फिर भी यह एक शुरुआत थी। रिपन को पूरा भरोसा था कि भविष्य में कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए अधिक व्यापक नियम बनाने होंगे और हुआ भी ऐसा ही।

१८८१ में जो प्रथम फैक्टरी अधिनियम पारित किया गया वह उन कारखानों के लिए लागू किया गया जहाँ कम से कम सौ व्यक्ति काम करते हों। इसमें मुख्य व्यवस्था यह की गयी कि सात वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों में नौकर न रखा जाये और सात वर्ष से ग्यारह वर्ष की आयु तक के बच्चों को नौ घण्टे से अधिक समय तक काम पर नहीं रखा जाये। यह भी व्यवस्था की गयी कि बारह वर्ष से कम आयु तक के बच्चों को खतरनाक मशीनों से दूर रखा जाय। प्रत्येक मजदूर को प्रतिमाह चार दिनों की छुट्टियाँ देने का नियम बनाया गया। प्रत्येक मजदूर को दिन में कम से कम एक-एक घंटे का अवकाश दिया गया। प्रांतीय सरकारों को यह अधिकार दिया गया कि कारखानों का निरीक्षण करने के लिए अधिकारियों की नियुक्ति करें।

रिपन ने जनहित का ध्यान रखते हुए यह अधिनियम पारित किया। उसने यह दृढ़

मत व्यक्त किया कि ऐसे अधिनियम किसी प्रांत तक ही सीमित न रखे जायें अपितु पूरे देश में लागू हों।

प्रेस अधिनियम को रद्द करना

उदारवादी विचारोंवाले इस वाइसराय को लिटन के समय पारित किया गया प्रेस अधिनियम बिल्कुल पसंद नहीं आया। सैद्धांतिक रूप से रिपन प्रेस की स्वतंत्रता का हिमायती था। उसने एक भाषण में कहा--'बुद्धिमानी से संचालित एक स्वतंत्र प्रेस हमेशा सरकार के लिए बड़ा सहायक सिद्ध हो सकता है और मेरे विचार से एक बंधनमुक्त प्रेस की आवश्यकता इस देश के लिए इस कारण और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि यहाँ प्रतिनिधि संस्थाएँ सीमित अंश तक ही कार्य कर रही हैं।'

जनवरी, १८८२ में प्रेस अधिनियम रद्द कर दिया गया। अल्पकाल में कभी भी भारत सरकार ने इस पर अमल नहीं किया था। लिटन द्वारा पारित अधिनियम के अनुसार किसी भी समाचार-पत्र का दमन नहीं किया गया था। यदि सरकार ने प्रेस के विरुद्ध कोई कदम नहीं उठाये तो इसका मुख्य कारण यही था कि समूचे देश में इसके विरुद्ध व्यापक प्रतिक्रिया हुई थी। इसे देखते हुए सरकार ने कोई कठोर कार्रवाई नहीं की थी।

रिपन के निर्णय का देश भर में स्वागत किया गया। अधिनियम को निरस्त करके सरकार ने भारतीय भाषाओं के समाचार-पत्रों को यह विश्वास दिलाया कि वह उनके प्रकाशनों को शंका की नजर से नहीं देख रही थी। इससे रिपन की लोकप्रियता बढ़ी।

शिक्षा-नीति

रिपन ने भारत आकर देखा कि जहाँ एक ओर सरकार ने उच्च शिक्षा के विकास के लिए कदम उठाये थे वहाँ दूसरी ओर प्राइमरी शिक्षा की उन्नति की ओर कम ध्यान दिया गया था। रिपन इस स्थिति से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने सभी क्षेत्रों में शिक्षा के विकास की ओर ध्यान दिया। १८५४ में चार्ल्स वुड ने जो शिक्षा-नीति निर्धारित की थी उसी के अनुसार भारतीय शिक्षा-प्रणाली चलती जा रही थी।

इस वाइसराय ने शिक्षा-नीति पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता अनुभव की ताकि शिक्षा के विकास का लेखा-जोखा लिया जा सके और भविष्य के लिए नीति तैयार की जाये। इस दृष्टि से एक कमीशन नियुक्त किया गया। एक ब्रिटिश अधिकारी डब्ल्यू० डब्ल्यू० हंटर को इस कमीशन का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। कई भारतीयों को भी कमीशन का सदस्य बनाया गया था। कमीशन को यह कार्य सौंपा गया कि वह प्राइमरी शिक्षा के स्तर और ढाँचे पर विचार करके भविष्य में इसके विकास के तरीकों के लिए सुझाव प्रस्तुत करे। कमीशन को यह भी निश्चित करना था कि सरकार का अनुदान किस प्रकार से विभिन्न स्तरों की शिक्षा-योजना में खर्च किया जाये।

फरवरी, १८८२ से मार्च, १८८३ तक हंटर कमीशन ने शिक्षा-नीति के विभिन्न पहलुओं पर गंभीरता से विचार करने के बाद अपनी रिपोर्ट भारत सरकार को दी। कमीशन

का पहला सुझाव यह था कि प्रांतीय राजस्व का एक भाग प्राइमरी शिक्षा के विकास के लिए सुरक्षित रख देना चाहिए। कमीशन का विचार था कि प्राइमरी शिक्षा के विकास का उत्तरदायित्व म्युनिसिपल और जिला बोर्डों को दे देना चाहिए। सरकार को कानून बनाकर यह कार्य पूरा करना चाहिए। कमीशन का दूसरा सुझाव यह था कि माध्यमिक शिक्षा के स्कूलों को धीरे-धीरे गैरसरकारी समितियों को सौंप देना चाहिए। यह आशा की गयी थी कि अलग-अलग क्षेत्रों में लोग सामने आकर इस शिक्षा के प्रसार में हाथ बटायेंगे। सरकार को इन विद्यालयों के लिए अनुदान देने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। उच्च शिक्षा के संबंध में कमीशन की सिफारिश यह थी कि कालेजों के संचालन का कार्यभार भी सरकार अपने हाथ में न रखे। जहाँ तक संभव हो, इसके लिए भी गैरसरकारी समितियाँ संगठित की जायें। इस प्रकार हंटर कमीशन ने प्रत्येक क्षेत्र में अनुदान-व्यवस्था को बढ़ाने की राय दी तथा इस बात पर बल दिया कि सरकारी प्रभाव के स्थान पर निजी अथवा व्यक्तिगत व्यवस्था में शिक्षण-संस्थाओं का विकास हो।

इस कमीशन ने शिक्षा-नीति से संबंधित अन्य प्रश्नों पर भी विचार किया। यह सुझाव पेश किया गया कि नैतिक शिक्षा देने के लिए भी प्रयास किये जायें। महिलाओं की शिक्षा के लिए आवश्यक कार्रवाई करने की सिफारिश की गयी। एक अन्य प्रश्न, जिस पर कमीशन ने विशेष रूप से ध्यान दिया, वह था शिक्षा में मुसलमानों का पिछड़ापन। कमीशन ने सरकार से कहा कि इस वर्ग में शिक्षा का प्रचार करने के लिए कुछ विशेष कदम उठाना जरूरी था।

अक्टूबर, १८८४ में भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित करके कमीशन के अधिकत सुझावों को स्वीकार कर लिया। केवल कमीशन की इस राय को स्वीकार नहीं किया गया स्कूलों में नैतिक शिक्षा की योजना तैयार की जाये। सरकार को डर था कि विभिन्न धार्मि संप्रदायों के लोगों के बीच इस प्रश्न पर मतभेद हो जायेंगे। शिक्षा सम्बन्धी प्रस्ताव पारि होने के तुरंत बाद ही रिपन भारत से चला गया। इस कारण उसे शिक्षा नीति पर अमल करने का मौका नहीं मिला।

वित्तीय विकेन्द्रीकरण की नीति

रिपन ने वित्तीय विकेन्द्रीकरण की नीति के अनुसार काय से ही भारत सरकार इस ओर प्रयत्न कर रही थी। गवर्नर जनरल बनाने में अपना योगदान किया।

भारत सरकार ने एक प्रस्ताव पारित करके राजस्व के स्रोत दिया। पहला स्रोत साम्राज्यिक कहलाया जो केन्द्रीय सरकार के अधीन से नमक-कर, सीमा-शुल्क, अफीम-कर आदि थे। दूसरे प्रकार के साधनों, जैसे सार्वजनिक निर्माण आदि को, प्रांतीय सरकारों को सौंप दिया गया। तीसरे प्रकार के आमदनी के साधनों को केन्द्रीय और प्रांतीय सरकारों के बीच बँटवारे के लिए रखा गया। धन और टिकटों से होने वाली आमदनी को इसी विभाग में रखा गया। भूमि-कर को भी तीसरे भाग में ही रखा गया और यह निर्णय किया गया कि इसका एक निश्चित अनुपात प्रांतों को इस उद्देश्य से

दिया जायेगा जिससे वे घाटे को पूरा कर लें। अभी तक प्रांतों को अनुदान देने का जो तरीका था उसे समाप्त कर दिया गया।

१८७० में जिस प्रणाली का आरंभ किया गया था उसमें एक और परिवर्तन भी रिपन के कार्यकाल में किया गया। अभी तक केन्द्रीय सरकार किसी प्रांत के अनुदान को अकाल की स्थिति में अथवा युद्ध की तैयारी के कारण बदल सकती थी। अब यह तय किया गया कि प्रांतीय सरकारों को विशेष अनुदान की आशा नहीं करनी चाहिए। केवल बहुत कठिन अकाल की स्थिति में केन्द्रीय सरकार सीमित सहायता कर सकती थी। इसी प्रकार केन्द्रीय सरकार ने भी यह वचन दिया कि वह भी, असाधारण स्थिति को छोड़कर, सामान्य स्थिति में प्रांतों से आर्थिक सहायता की माँग नहीं करेगी।

स्थानीय स्वशासन का विकास करने का निर्णय

एक उदारवादी वाइसराय होने के नाते रिपन आरम्भ से ही भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं के विकास में योगदान देना चाहता था। पहले उसने केन्द्रीय तथा प्रांतीय धारा सभाओं के विकास करने के प्रस्ताव गृह सरकार को पेश किये। लेकिन ब्रिटेन की नीति का निर्माण करनेवालों ने किसी प्रकार का उत्साह नहीं दिखाया। रिपन उच्च संस्थाओं के संगठन में प्रगतिशील कदम नहीं उठा सका। अब उसका ध्यान आधारभूत संस्थाओं की ओर गया जिनका सुधार करके उसने भारत में प्रतिनिधि प्रणाली का आरंभ किया। ये संस्थाएँ म्युनिसिपल और जिला बोर्ड थीं।

मेयो के कार्यकाल में जिस आर्थिक विकेंद्रीकरण और स्थानीय कर-प्रणाली की योजना का आरंभ १८७० में हुआ था उसी के साथ-साथ स्थानीय स्वशासन की दिशा में कुछ प्रगति हुई। १८७३ में एक कानून बनाया गया। इसके अनुसार यह तय किया गया कि बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के अतिरिक्त दूसरे शहरों में भी म्युनिसिपल संस्थाएँ संगठित की जायें। यह कानून अनुज्ञात्मक था और रिपन के समय तक इसके अनुसार कोई विशेष कारवाई नहीं की गयी थी। अभी तक यह माना जाता था कि म्युनिसिपल और जिला कमेटियाँ केवल प्रशासन की सहायता करने के लिए थीं।

रिपन ने शीघ्र ही कुछ सुधार करने का निश्चय किया। उसने स्थानीय स्वशासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसने यह देखा कि नगरपालिकाएँ अधिकारियों द्वारा ही संचालित की जा रही थीं। ये अधिकारी प्रशासन के किसी भी क्षेत्र में अपने प्रभाव को कम होता हुआ नहीं देख सकते थे। वे गैर सरकारी लोगों के किसी भी हस्तक्षेप को बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे। उनका तर्क था कि भारतीय न तो स्थानीय प्रशासन को चला सकते थे और न ही इसकी योग्यता ही रखते थे। रिपन ने अनुभव किया कि यदि भारत में स्थानीय स्वशासन का विकास भली प्रकार से नहीं हो सका था तो उसका मुख्य कारण यह था कि कभी भी इसकी स्थापना के प्रयास नहीं किये गये थे। यह प्रयोग तभी सफल हो सकता था जब केन्द्रीय सरकार तथा प्रांतीय सरकारें इसके लिए कोशिश करें। इसी कारण उसने ऊपर से निर्देश देने की व्यवस्था की।

रिपन ने स्थानीय स्वशासन-व्यवस्था को संगठित करते समय किसी निश्चित सिद्धांत के अनुसार कार्य नहीं किया। उसने यह कोशिश नहीं की कि ब्रिटिश प्रणाली को ही पूर्णरूप से भारत में अपनाया जाये। उसकी कोशिश यही रही कि भारत में जिस प्रकार की व्यवस्था सही ढंग से अपनायी जा सके उसे ही चलाया जाय। इस दृष्टि से वाइसराय ने १८८१ में एक पत्र लिखकर सबसे पहले प्रत्येक प्रांतीय सरकारों के विचार प्राप्त किये और यह जानकारी प्राप्त की कि देश के अलग-अलग भागों में स्थानीय स्वशासन-प्रणाली को किस ढंग से अपनाया गया था अथवा अपनाया जा सकता था। इसके बाद वह स्पष्ट निर्देश देने की स्थिति में हुआ।

१८ मई, १८८२ को रिपन एक विस्तृत प्रस्ताव पारित कराके स्थानीय स्वशासन के विकास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यह प्रस्ताव भारत में प्रतिनिधि व्यवस्था के इतिहास में हमेशा याद किया जायेगा। भारत सरकार ने अपने लक्ष्य को स्पष्ट करते हुए इस प्रस्ताव में इन शब्दों का प्रयोग किया--

'इस उपाय को मुख्य रूप से शासन में सुधार की दृष्टि से नहीं अपितु राजनीतिक और लोकप्रिय शिक्षा के माध्यम के विकास के लिए अपनाया जा रहा है।' भारत सरकार ने आशा प्रकट की थी कि लोग स्वशासन की उपेक्षा नहीं करेंगे। उसका विश्वास था कि सुयोग्य व्यक्ति अपनी सेवाएँ सरकार को अर्पित करेंगे और जब उनमें अपनी मदद अपने आप करने की क्षमता आ जायेगी तो सरकार का बोझ हल्का होगा।

स्थानीय स्वशासन को अपनाने के लिए जो व्यावहारिक योजना इस प्रस्ताव द्वारा प्रस्तुत की गयी उसके दो भाग थे। पहले भाग में यह बताया गया कि म्युनिसिपल अथवा जिला बोर्डों का गठन किस प्रकार किया जाये। इस संबंध में यह स्वीकार किया गया कि स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार देश के अलग-अलग भागों में इनका स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकता था। रिपन ने इस बात पर बल दिया कि स्थानीय संस्थाओं में गैर सरकारी सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक हो और किसी भी स्थिति में अधिकारियों की संख्या एक-तिहाई से ज्यादा न हो। रिपन ने यह भी चाहा कि अधिक-से-अधिक स्थानों में इन संस्थाओं के लिए चुनाव कराए जायें। प्रस्ताव में प्रत्येक प्रांतीय सरकार से कहा गया कि जहाँ भी संभव हो सके, म्युनिसिपल और स्थानींय बोर्ड स्थापित किये जायें। यह भी कहा गया कि प्रत्येक बोर्ड का अधिकार-क्षेत्र छोटा रखा जाये जिससे सदस्यों की रुचि स्थानीय मामलों में बनी रहे।

प्रस्ताव के दूसरे भाग में यह स्पष्ट किया गया कि सरकार किस सीमा तक इन स्थानीय संस्थाओं पर अपना नियंत्रण बनाये रखे तथा प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण का तरीका किस प्रकार का हो। इसके लिए सिद्धांत यह अपनाया गया कि प्रांतीय सरकार स्थानीय संस्थाओं के कार्यों की जाँच कर सकती थी, उनमें संशोधन कर सकती थी, परंतु वह निर्देश नहीं दे सकती थी। प्रस्ताव में मत प्रकट किया गया था कि स्थानीय संस्थाओं पर नियंत्रण बाहर से करना चाहिए, अंदर से नहीं।

म्युनिसिपल और जिला बोर्डों की कार्यप्रणाली के लिए जिलाधीश की भूमिका को स्पष्ट करना भी जरूरी था। इस सम्बन्ध में रिपन के विचार स्पष्ट थे। वह चाहता था कि जहाँ तक संभव हो, जिलाधीशों को कम-से-कम हस्तक्षेप करना चाहिए। वाइसराय ने लिखा--'अगर बोर्डों का उपयोग इस दृष्टि से करना है कि भारतीय अपने मामलों का इन्तजाम स्वयं करें तो उन्हें बड़े साहब की उपस्थिति से पड़नेवाले प्रभाव से मुक्त रखना चाहिए।'

वाइसराय भली-भाँति जानता था कि केवल प्रस्ताव पारित करने से ही देश में स्थानीय संस्थाओं का विकास होना संभव नहीं था। अतः उसने भरसक कोशिश की कि प्रांतीय सरकारें इन सिद्धांतों को अपनायें। शीघ्र ही प्रत्येक प्रांतीय सरकार ने अलग-अलग कानून बनाकर इस दिशा में आरंभिक कार्यवाही भी की। पर अधिकारियों को रिपन की नीति अरुचिकर लग रही थी। वे किसी भी प्रकार की चुनाव व्यवस्था नहीं चाहते थे तथा स्थानीय संस्थाओं के गैर सरकारी सदस्यों को वास्तविक सत्ता हस्तांतरित करने के विरोधी थे। रिपन न तो इन प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों पर जोर ही डाल सका और न उनके दिलों को ही जीत सका। जैसे ही वह इस देश से विदा हुआ, इस दिशा में किये गये उसके प्रयासों की गति धीमी पड़ गयी। इसलिए उसके नेक इरादों के बावजूद इस दिशा में अधिक प्रगति नहीं हुई। रिपन ने स्थानीय स्वशासन की नीति अपनाते समय आशा प्रकट की थी कि वह एक ऐसा पेड़ लगा रहा था जो भावी पीढ़ियों को फल तथा छाया प्रदान करता रहेगा। परंतु यह एक ऐसा पेड़ साबित हुआ जिसकी जड़ें भूमि में जम ही नहीं सकीं। भविष्य में कुछ भी हुआ हो, पर उसके प्रस्ताव का तात्कालिक प्रभाव यह पड़ा कि उसकी लोकप्रियता भारत में बहुत अधिक बढ़ गयी।

इलबर्ट विधेयक को प्रस्तावित करना

गवर्नर जनरल की कौंसिल के विधि सदस्य सी०पी० इलबर्ट ने वाइसराय की इच्छानुसार फरवरी, १८८३ में केन्द्रीय परिषद में एक साधारण बिल पेश किया था जिसके कारण शीघ्र ही एक बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ। हमें यह विचार करना है कि अचानक रिपन की सरकार इस प्रकार की कठिनाई में किस प्रकार फँस गयी तथा इसके कारण जो विवाद की आँधी आयी उसके सम्मुख वाइसराय पैर जमाकर क्यों नहीं खड़ा रह सका।

इस विधेयक की प्रस्तावना में यह कहा गया था कि इसके द्वारा 'ऐसी न्यायिक अयोग्यताओं को दूर कर दिया जायेगा जो केवल जातिगत भेदभावों पर आधारित होंगी।' सबसे पहले यह देखना होगा कि न्याय-व्यवस्था में रंगभेद अथवा जातिभेद का किस प्रकार का सवाल रिपन की सरकार के सामने आया। अभी तक एक प्रकार की दोहरी न्याय-व्यवस्था चल रही थी जिसके अनुसार ब्रिटिश नागरिकों को भारत में न्यायालय के सम्मुख कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे। यदि वे किसी प्रकार के अपराध के लिए दोषी पाये जाते थे तो उनके मुकदमों की सुनवाई का अधिकार केवल अंग्रेज अधिकारी अथवा अंग्रेज जज को ही था। जब भारतीय युवक प्रशासनिक सेवा की लंदन की परीक्षा में सफल होकर भारत आये तथा लिटन के कार्यकाल के नियमों के अनुसार भी उन्हें इन सेवाओं में नियुक्त किया गया तो

स्थिति बदलने लगी। धीरे-धीरे ये भारतीय अधिकारी इस योग्य हो चुके थे कि उन्हें जिलाधीश अथवा सेशन जज नियुक्त किया जा सकता था। पर वे अपने अन्य सहयोगियों की तरह ब्रिटिश नागरिकों के मुकदमें नहीं सुन सकते थे। इस असंगति को बहुत समय तक बनाये नहीं रखा जा सकता था।

१८८२ में एक भारतीय अधिकारी बिहारीलाल गुप्त ने यह माँग की कि कानून में संशोधन करके भारतीय मजिस्ट्रेटों और सेशन जजों को भी वही अधिकार प्रदान किये जायें जो उनके अंग्रेज सहयोगियों को प्राप्त थे। इस अधिकारी ने जिस ढंग से अपनी माँग पेश की उससे बंगाल सरकार भी प्रभावित हुई और उसने इस माँग को उचित ठहराते हुए गवर्नर जनरल को आवश्यक कार्रवाई के लिए लिखा। केवल रिपन ही नहीं अपितु केन्द्र के सभी अधिकारियों ने अनुभव किया कि इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक था। गृह सरकार की अनुमति भी प्राप्त कर ली गयी। कानून में आवश्यक परिवर्तन करने के उद्देश्य से इलबर्ट ने जिस समय केन्द्रीय परिषद में बिल पेश किया तो किसी ने भी कल्पना नहीं की थी कि शीघ्र ही इसके विरोध में कोई तूफान उठ खड़ा होगा।

जैसे ही इलबर्ट बिल पेश हुआ, भारत में रहनेवाले ब्रिटिश नागरिक आगबबूला हो उठे। विशेष रूप से कलकत्ता और उसके आस-पास के क्षेत्र में रहने वाले अंग्रेज व्यापारी तथा चाय बगान के मालिकों ने संगठित होकर बिल के विरोध में जोरदार आवाज बुलंद की। अंग्रेजों द्वारा नियंत्रित समाचार-पत्र भी रिपन के विरुद्ध आग उगलने लगे। वाइसराय के प्रति विरोध केवल भारत तक ही सीमित नहीं रहा। ब्रिटेन के समाचार-पत्रों में भी उसकी नीतियों की आलोचना होने लगी। विरोध केवल बिल तक ही सीमित न रहकर व्यापक होता गया। अंग्रेजों ने यह आशंका व्यक्त की कि वाइसराय धीरे-धीरे 'भारतीयों को गद्दी पर बिठाने की व्यवस्था करके यूरोपियों की कीमत पर उनका भला कर रहा था।'

वाइसराय अपने देशवासियों के रुख से चिंतित हो उठा। उसके सामने यह प्रश्न आया कि इस विरोध को देखते हुए वह क्या कर सकता था। बिल पहले ही पेश हो चुका था और उसको लौटा लेने का अर्थ यही लगाया जाता कि उसने घुटने टेक दिये थे। दूसरा विकल्प यह हो सकता था कि वह अपनी नीति पर डटा रहता। पर रिपन ने ऐसा भी नहीं किया। इस कठिन स्थिति में उसने विरोधियों को संतुष्ट करने के लिए बिल में इस प्रकार के संशोधन कर दिये कि उसका मूलरूप ही बदल गया। संशोधित बिल के द्वारा भारतीय अधिकारियों को दिये जानेवाले अधिकार यथावत् बने रहे। लेकिन इसी के साथ यह व्यवस्था भी कर दी गयी कि कोई भी यूरोपीय अथवा ब्रिटिश अभियुक्त जिलाधीश अथवा सेशन जज के सम्मुख यह माँग कर सकता था कि ऐसी ज्यूरी अदालत में उसके मुकदमें की सुनवाई हो जिसके कम-से-कम आधे सदस्य यूरोपीय हों। बिल में इस नयी धारा के जोड़ दिये जाने से यह सिद्ध हो गया कि रिपन का विरोध करने वाले ब्रिटिश नागरिकों की विजय हुई थी। यह मुख्य रूप से वाइसराय की पराजय थी। इससे रिपन की कमजोरी प्रकट हो गयी। यह दिखाई पड़ गया था कि वह दृढ़ता से विरोधियों का मुकाबला नहीं कर सका। एक वर्ष के

इस हंगामें के दौरान भारतीय केवल मूक-दर्शक बने रहे। उन्होंने किसी प्रकार का प्रदर्शन नहीं किया।

रिपन का मूल्याँकन करते हुए एस० गोपाल ने यह मत व्यक्त किया है--'उसकी तात्कालिक सफलताएँ मामूली थीं लेकिन भारतीयों के मन पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा।' रिपन ने ईमानदारी से भारत में प्रतिनिधि शासन की आधार-शिला तैयार करने की कोशिश की। भारत की बदलती राजनीति का अनुभव करके उसने यह मत व्यक्त किया कि शिक्षित मध्यम वर्ग को शासन में सहयोग करने का मौका देना चाहिए। शासक और शासित के वीच संवंधों को सुधारने की आवश्कता पर उसने वल दिया। खर्चीली वैदेशिक नीति की परंपरा का उसने पालन नहीं किया। लेकिन फिर भी यदि यह कहा गया कि वह अधिक सफल नहीं हो सका तो इसका कारण यह था कि वह विरोधियों का डटकर मुकाबला नहीं कर सका। वह सिद्धांतों पर डटा नहीं रह सका। इलबर्ट बिल के समय उसकी यह कमजोरी खास तौर से सामने आयी। इसी से यह कहा गया है कि उदारवाद की सफलता के लिए वह एक 'गलत चालक' था। शक्तिहीन वाइसराय अपनी नीतियों पर अमल नहीं कर सका।

वाइसराय की सफलता के लिए यह जरूरी था कि गृह सरकार उसका साथ देती। लेकिन रिपन का यह दुर्भाग्य था कि उदारवादी ब्रिटिश मंत्रिमंडल अन्य समस्याओं में फँसा रहा और वह भारत की ओर ध्यान न दे सका। प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने भारत की समस्याओं के वारे में उसके समय में कोई खास रुचि नहीं दिखायी। भारत मंत्री भी प्रायः उदासीन ही रहे। वे किसी बड़े परिवर्तन के लिए तैयार नहीं थे। भारत में भी अधिकारी वर्ग पर कावू पाना आसान नहीं था। रिपन की नीतियों के प्रति उन्होंने उत्साह नहीं दिखाया। उदाहरण के लिये स्थानीय स्वशासन की प्रणाली इसी कारण सफल नहीं हो सकी। ब्रिटिश नौकरशाही उसके ऐसे सभी कार्यों का विरोध करती रही जिनसे शासन में भारतीयों को अपनी बात कहने का अवसर दिया जाना था।

महामना मदनमोहन मालवीय के अनुसार 'भारत ने जिन वाइसरायों को जाना, रिपन उनमें सबसे महान् और सर्वप्रिय था।' उसने भारतीयों के दिलों को जीत लिया। भारत से विदा लेते समय रिपन ने कलकत्ता से बंबई तक जो यात्रा की उससे देश में और उत्साह की लहर दौड़ गयी थी। खास करके शिक्षित वर्ग उसकी शासन-नीति से प्रभावित हुआ और कुछ ही समय बाद देश में राजनीतिक चेतना को मूर्तरूप देने के लिए एक राष्ट्रीय संगठन बनाया गया।

कर्जन का शासन (१८९९-१९०५)

जनवरी, १८९९ के प्रथम सप्ताह में कर्जन ने गवर्नर जनरल का पद सँभाला। राजनीति में उसने आरम्भ से ही रुचि दिखायी थी। सत्ताइस वर्ष की आयु में वह ब्रिटेन की पार्लमेंट का जब सदस्य निर्वाचित हुआ तो उसने शीघ्र ही अपनी धाक जमा ली। कुछ समय बाद ही उसे सहायक भारत मंत्री वनाया गया और इसी समय से उसका भारत से जो संपर्क स्थापित हुआ वह वरावर बना रहा। कर्जन ने कई बार भारत की यात्रा की और वह एशिया

के अन्य देशों में भी गया। एशिया से संबंधित उसने तीन पुस्तकें वाइसराय बनने के पूर्व ही प्रकाशित की थीं जिनका प्रभाव यह पड़ा कि वह एशिया की समस्याओं का जानकार माना जाने लगा। भारत का गवर्नर जनरल बनना उसके जीवन का एक मुख्य लक्ष्य था और उन्तालीस वर्ष की आयु में ही जब उसे यह पद सौंप दिया गया तो सभी ने आशा की थी कि वह लगन और विश्वास के साथ शासन करेगा।

भारत में आये गवर्नर जनरलों में कर्जन योग्यतम व्यक्तियों में से एक था। उसकी प्रखर बुद्धि की छाप सभी पर पड़ी और आरंभ से ही यह स्वीकार किया गया कि शासन करने की उसमें अभूतपूर्व क्षमता थी। अभी वह जीवन की उच्च सफलता की ओर बढ़ रहा था। इससे उसमें पर्याप्त आत्मविश्वास था जो किसी भी प्रशासक के लिए एक आवश्यक गुण माना जाता है। जान लारेंस के अतिरिक्त किसी भी वाइसराय को भारत के प्रशासन की जानकारी पहले से नहीं थी। कर्जन को यह लाभ था कि भारत की समस्याओं के लिए वह अपरिचित नहीं था। इस कारण वाइसराय बनते ही वह प्रशासकीय सुधारों में व्यस्त हो गया। कर्जन ने अपने पूर्व अनुभव का पूरा फायदा उठाया। उसने जिस परिश्रम से कार्य किया उससे उसके सहयोगी चकित रह गये।

कर्जन के उद्देश्य और नीतियाँ

कर्जन का शासन जनप्रिय नहीं हो सका। भारत के प्रति उसका दृष्टिकोण एकपक्षीय था। उसने केवल साम्राज्यवादी दृष्टि से ही भारत की समस्याओं पर नजर डाली। कर्जन ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया कि भारत पर ब्रिटिश शासन 'अंग्रेजों का सबसे बड़ा कार्य था जो उन्होंने किया था अथवा कर रहे थे।' कर्जन इस शासन को 'राष्ट्रीय कर्तव्य की सबसे बड़ी कसौटी' मानता था। इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि भारत में अंग्रेजों के शासन को वह कितने गर्व और अभिमान से देख रहा था और उसका एकमात्र लक्ष्य था इस ब्रिटिश शासन की जड़ों को हर संभव तरीकों से मजबूत बनाना। अपने एक भाषण में उसने साम्राज्यवाद के सिद्धांत के पीछे दैविक शक्ति की बात भी कही। उसका कहना था कि ईश्वर की इच्छा ही ऐसी थी कि ब्रिटिश लोग भारत में शासन करते। किसी 'उच्चतर कानून' के प्रति उसने आस्था व्यक्त की। कर्जन के दिमाग में सबसे बड़ी चिन्ता यही थी कि क्या 'सौ वर्षों बाद तक भी हम भारत पर शासन करते रहेंगे।' स्वाभाविक है कि इस वाइसराय का सारा ध्यान इसी मुख्य प्रश्न पर केन्द्रित रहा।

भारत आने के बाद कर्जन इसी सवाल में उलझा रहा कि किस प्रकार ब्रिटिश शासन को शक्तिशाली बनाया जाये। इसके लिए उसने 'पैतृकवाद' के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत से उसका अभिप्राय यह था कि जिस प्रकार एक पिता अपनी संतान के हितों का ध्यान रखता है उसी प्रकार वाइसराय भी भारतीयों के हितों का ध्यान हर समय अपने सामने रख रहा था। वह यह विश्वास करने लगा कि वाइसराय का ही यह उत्तरदायित्व था कि वह भारत के निवासियों के भले और बुरे का निर्णय करे और उसी के अनुसार कदम उठाये। वाइसराय का यह दावा था कि केवल उसे ही भारतीयों के बारे में निर्णय करने का

अधिकार था। उसके इस दृष्टिकोण में उस जागृत और प्रबुद्ध मध्यम वर्ग का कहीं भी स्थान नहीं था जो वास्तव में भारतीय जनमानस का प्रतिनिधित्व कर रहा था। कर्जन ने शिक्षित मध्यम वर्ग के अस्तित्व को अस्वीकार किया। उसने कहा कि वाइसराय और अन्य अधिकारियों को इस वर्ग के सहयोग की आवश्यकता ही नहीं थी। जब भारत सरकार का यह दावा था कि वह भारतीयों का हित और अनहित भली-भाँति समझती थी तो उसने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अथवा उससे संवद्ध व्यक्तियों से यह जानकारी प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं समझी कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं। हमें आगे चलकर यह देखना होगा कि इससे वाइसराय की कठिनाइयाँ किस प्रकार बढ़ीं।

कर्जन एक प्रतिक्रियावादी गवर्नर जनरल था। उसने भारतीयों की प्रतिनिधि शासन की माँग को ठुकरा दिया। वह ऐसे किसी भी प्रयोग के विरुद्ध था जिससे ब्रिटिश सरकार भारत में स्वशासन अथवा उत्तरदायी शासन की दिशा की ओर बढ़ती। इस प्रकार की व्यवस्था की स्थापना के लिए जो भरोसा रिपन के समय में शिक्षित वर्ग को दिलाया गया उसे कर्जन के शासनकाल में अस्वीकृत कर दिया गया। अपने पक्ष को सिद्ध करने के लिए उसने यह तर्क दिया कि कुछ लोगों को कौंसिल में अधिक स्थान देने से जनसाधारण का कोई भी भला नहीं होगा। उसका कहना था कि ऐसे जनप्रतिनिधि उस कार्य में रोड़ा अटकाएँगे जो ब्रिटेन भारत में पूरा करने का इरादा कर रहा था।

राष्ट्रवादियों का विरोध करने के लिए और उनके प्रभाव को कम करने के लिए वाइसराय ने लगातार कोशिशें कीं। उसने उन उपायों पर विचार किया जिनके अनुसार भारत सरकार कुछ देशवासियों की सहानुभूति प्राप्त कर सकती थी। भारत में विदेशी सत्ता की कठिनाइयों के प्रति वह जागरूक था। कर्जन जानता था कि अल्पसंख्यक विदेशी लोग उसी समय तक सत्ता हथियाए रख सकते थे जब तक भारत के कुछ वर्ग उनके हिमायती हों। पर्याप्त शासन सुधार करके ही वह लोगों को सरकार के पक्ष में करना चाहता था। इसी दृष्टि से उसने शासन-सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया। इन सुधारों के द्वारा वह उस प्रशासनिक मशीन को सुधारने के प्रयत्न मे जुट गया जिसे लंबे समय तक कार्य करना था। ब्रिटिश शासन-प्रणाली का सुधार करके उसने भारत में इस साम्राज्यवादी प्रभुत्व को स्थायी बनाने की भरसक कोशिश की। इन सुधारों को किस प्रकार किया गया और इसके क्या प्रभाव पड़े, इसकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे।

सात वर्षों के कार्यकाल में कर्जन ने इस नीति के अनुसार शासन किया कि ब्रिटिश शासन के अतिरिक्त भारतवासियों के लिए कोई दूसरा विकल्प ही नहीं था। ब्रिटिश प्रभाव के औचित्य को सिद्ध करते हुए वाइसराय ने कहा कि न तो स्वयं भारतीयों को शासन चलाने की योग्यता थी और न कोई विदेशी सत्ता ही ऐसी कुशलता से शासनसूत्र का संचालन कर सकती थी जैसे अंग्रेज कर रहे थे। उसने ऐसी नीतियाँ अपनाने की आवश्यकता अनुभव की जिससे अंग्रेज प्रशासक भारतीयों का विश्वास जीत सकें। इन नीतियों को अपनाने में ही उसने सारा समय लगा दिया।

कर्जन की विदेश नीति

प्रत्येक वाइसराय विदेश-नीति और देश की सुरक्षा के लिए विशेष रूप से ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी होता था। उसका अधिकतर समय इन्हीं समस्याओं को सुलझाने में व्यतीत हो जाता था। यहाँ हम, बहुत ही संक्षेप में, कर्जन की विदेश-नीति का वर्णन करेंगे जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि इस दिशा में वह कहाँ तक सफल हुआ।

वाइसराय का पद सँभालने के समय तक कर्जन ने अधिकतर वैदेशिक मामलों में ही रुचि दिखाई थी। अतः जब वह भारत आया तो उसने इस प्रश्न पर विचार आरंभ कर दिया कि तत्कालीन परिस्थितियों में इस देश की वैदेशिक नीति का स्वरूप क्या हो। अभी तक भारत सरकार ने अन्य देशों से संबंध स्थापित करते समय कोई स्वतंत्र नीति नहीं अपनायी थी। उसकी नीति का निर्धारण ब्रिटेन में होता था। कर्जन ने इसे स्वीकार नहीं किया। उसके समय में पहली बार वाइसराय ने भारत के हितों का ध्यान रखते हुए स्वतंत्र होकर वैदेशिक नीति पर ध्यान दिया। इससे भारत सरकार की वैदेशिक नीति अलग से दिखाई दी। कर्जन चाहता था कि भारत सरकार को यह अवसर मिले कि वह उस क्षेत्र के छोटे और बड़े राज्यों से सीधे संबंध स्थापित करे, ब्रिटिश सरकार के माध्यम से नहीं। उसे इस प्रयास में आंशिक सफलता ही मिल सकती थी क्योंकि ब्रिटिश सरकार केवल ऐसी नीति के पक्ष में थी जिससे उसके साम्राज्यवादी हित सुरक्षित रह सकें।

कर्जन की वैदेशिक नीति के दो पहलू थे। भारत की सीमा के आस-पास के क्षेत्र में जो राज्य थे, कर्जन उनपर प्रभाव बनाये रखना जरूरी समझता था। पड़ोसी राज्यों के मामलों में किसी भी विरोधी शक्ति के अनधिकार हस्तक्षेप को रोकना और इनपर ब्रिटिश आधिपत्य बनाये रखना इसकी वैदेशिक नीति के दो पक्ष थे। वाइसराय भारत की सीमाओं को आगे बढ़ाने का इच्छुक नहीं था लेकिन वह चाहता था कि किसी अन्य शक्ति को भी ऐसा करने का अवसर न मिले। फारस की खाड़ी, परशिया, अफगानिस्तान और तिब्बत के मामलों में उसने जिस प्रकार यह नीति अपनायी, इसका वर्णन दिया जा रहा है।

परशिया

एक लंबे अरसे से भारत सरकार परशिया की गतिविधियों पर नजर रखे हुए थी। उसकी विशेष रुचि दक्षिण परशिया क्षेत्र में थी क्योंकि यहाँ परशिया की सीमा अफगानिस्तान से मिलती थी और कई बार यह आशंका व्यक्त की गयी थी कि कभी भी इसी देश में प्रभाव बढ़ाकर रूस भारत पर दबाव डाल सकता था। सियास्ताँ पर ही बलूचिस्तान और अफगानिस्तान की सीमाएँ भी मिलती थीं। भौगोलिक महत्त्व के कारण भारत सरकार ने इस क्षेत्र पर प्रभाव बनाये रखना आवश्यक समझा। इस क्षेत्र की वास्तविक सीमा के विषय में कई बार परशिया और अफगानिस्तान में विवाद उठ खड़ा हुआ था। १८७२ में एक ब्रिटिश अधिकारी ने दोनों पक्षों को संतुष्ट करने के उद्देश्य से यह निर्धारित किया था कि हैलमैंड नदी दोनों देशों की सीमा थी। कोहक बाँध के उत्तरी भाग पर अफगानिस्तान का अधिकार स्वीकार किया गया था। इस नदी के पानी पर दो राज्यों में से किसका अधिकार रहे, यह

विवाद कर्जन के कार्यकाल में फिर उठ खड़ा हुआ। अचानक नदी का मार्ग बदल गया। वह आठ मील पश्चिम की ओर मुड़ गयी। लेकिन फिर भी अफगानिस्तान ने नदी के दोनों किनारों पर अपना अधिकार बनाये रखा और सिंचाई के लिए वह सारे जल का उपयोग करता रहा। १६०० में यह विवाद अधिक पेचीदा बन गया। एक रूसी राजनीतिज्ञ सियारस्ताँ पहुँचा और परशिया की ओर से उसने हैलमैड नदी के जल का उपयोग करने के अधिकार की माँग की। ब्रिटिश सरकार ने तुरंत जाँच करने के लिए एक ब्रिटिश अधिकारी मैक्महान को विवादग्रस्त क्षेत्र तक भेजा। पहले रूस की ओर से माँग की गयी कि विवाद को तय करने में रूसी अधिकारी को भी शामिल किया जाये। जव इसे स्वीकार नहीं किया गया तो रूस ने परशिया को प्रभावित करके मैक्महान के कार्यों में अड़चने डालीं। किंतु ब्रिटिश अधिकारी भी हतोत्साहित नहीं हुआ। वह भी सीमा पर डटा रहा। उसको जाँच-पड़ताल में अनावश्यक विलंब हुआ पर अंततः मैक्महान ने जो निर्णय दिया वह दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। कर्जन ने हर प्रकार से मैक्महान का समर्थन किया। वाइसराय के प्रभाव के कारण ही नदी के उपयोग के संवंध में दोनों पक्षों में समझौता करा दिया गया और ब्रिटिश प्रभाव दोनों देशों पर बना रहा। दो विरोधी राष्ट्रों को संतुष्ट करने का कठिन कार्य उसने पूरा किया।

फारस की खाड़ी

करीव तीन सौ वर्षों से फारस की खाड़ी के छोटे राज्यों पर ब्रिटिश प्रभाव बना हुआ था। एशिया में प्रभुत्व जमाने के लिए ब्रिटेन ने इस क्षेत्र के महत्त्व को हमेशा स्वीकार किया था। फारस की खाड़ी को भारतीय सीमा की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक माना जाता था। स्वाभाविक ही था कि वाइसराय ने इस खाड़ी की सरुक्षा के महत्त्व को समझा। उसने गृह सरकार को सूचित करते हुए लिखा कि थल-मार्ग से रूस के आगे बढ़ने का खतरा भारत सरकार के लिए पहले से ही सिरदर्द बना हुआ था। फारस की खाड़ी पर रूस द्वारा कब्जा जमा लेने पर भारत की सुरक्षा के लिए जलमार्ग से भी खतरा उत्पन्न हो सकता था। इस वक्तव्य से साफ जाहिर है कि कर्जन को सबसे पहले रूस के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबला करना पड़ा। इसी समय फ्रांस तथा कुछ अन्य राज्य भी फारस की खाड़ी पर प्रभाव बढ़ाने की कोशिश में लगे हुए थे। कर्जन ने सतर्कता से सभी विदेशी शक्तियों को इस क्षेत्र से दूर कर दिया। उसने ब्रिटिश सरकार को बार-बार लिखा कि वह इस मामले में अपनी स्थिति यूरोपीय राज्यों को स्पष्ट कर दे। इसी उद्देश्य से मई, १६०३ में ब्रिटिश सरकार ने दूसरे देशों को चेतावनी देते हुए कहा कि वह किसी भी अन्य राष्ट्र के इस प्रयास को सहन नहीं करेगी कि वह फारस की खाड़ी में किसी प्रकार का किला बनाये अथवा अपना नौसैनिक अड्डा रखे। यह घोषणा कर दी गयी कि ऐसे किसी भी प्रयास को नाकाम करने के लिए ब्रिटिश सरकार हर संभव उपाय करेगी। यह कोरी धमकी नहीं थी। प्रथम महायुद्ध के पूर्व ब्रिटेन की सामुद्रिक शक्ति का विरोध करने की किसी योरोपीय राष्ट्र की हिम्मत नहीं थी। इस स्थिति का पूरा लाभ उठाकर कर्जन ने इस क्षेत्र से सभी योरोपीय राष्ट्रों को दूर रखा। दिसम्बर, १६०३ में वाइसराय ने स्वयं इस क्षेत्र की यात्रा की। किसी भी वाइसराय की यह

पहली भारत से बाहर की यात्रा थी। कर्जन ने मसकत बंदरगाह में एक दरबार आयोजित कराया जिसमें यहाँ के सुल्तान को ब्रिटिश सरकार की ओर से अलंकृत किया गया। कर्जन के साथ विशालकाय युद्धपोत भी आये थे जिससे इस क्षेत्र पर अंग्रेजों की शक्ति का प्रदर्शन हुआ।

अफगानिस्तान

अक्टूबर, १९०१ में अफगानिस्तान के शासक अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गयी। इसके तुरंत बाद इस देश के इतिहास में पहली बार बिना किसी खून खराबे के मृत अमीर का बड़ा लड़का हबीबुल्ला अमीर बन गया। कर्जन को इस नयी स्थिति में हबीबुल्ला के साथ संबंधों का आधार तैयार करना था। यह कार्य इतना आसान नहीं साबित हुआ जैसा कर्जन सोच रहा था। उसने अब्दुर्रहमान की मृत्यु के पश्चात् की परिस्थितियों से लाभ उठाना चाहा। वाइसराय ने एक नयी चाल चली। उसने कहा कि भारत सरकार के समझौते अब्दुर्रहमान के साथ व्यक्तिगत रूप से किये गये थे। १८८० और १८९३ के समझौतों के अनुसार ब्रिटिश सरकार अफगान अमीर को युद्ध की सामग्री का आयात करने की सुविधा देती थी और बारह लाख रुपया वार्षिक अनुदान देती थी। कर्जन ने हबीबुल्ला को सूचित किया कि नये अमीर के साथ भारत सरकार को एक नया समझौता करना होगा। उसने अफगान शासक से कहा कि वह शीघ्र ही पेशावर की यात्रा करे ताकि समझौते की शर्तों पर बातचीत की जा सके। हबीबुल्ला को कर्जन की यह नीति पसंद नहीं आयी। उनका कहना था कि इस प्रकार उसे मजबूर किया जा रहा था कि वह यात्रा की तैयारी करे। प्रायः अफगानिस्तान के अमीर भारत की यात्रा से प्रसन्न नहीं होते थे क्योंकि इसका प्रभाव अफगानिस्तान के लोगों पर यह पड़ता था कि उनका शासक विदेशी चंगुल में फँसकर राज्य कर रहा था, स्वतंत्र शासक बनकर नहीं। इसके अलावा हबीबुल्ला कर्जन के इस तर्क को भी मानने को तैयार नहीं था। कि नये शासक के आते ही नये समझौते की आवश्यकता थी। उसका कहना था कि किसी भी नये समझौते की आवश्यकता नहीं थी तथा इसके पूर्व उसके पिता के साथ जो समझौते किये गये थे उन्हीं के आधार पर दोनों देश भविष्य में भी कार्य करें। कुछ समय तक गवर्नर जनरल और अमीर के बीच रस्साकशी चलती रही और कोई भी पक्ष अपनी स्थिति से हटने को तैयार नहीं दिखाई दिया। इस बीच कर्जन को यह सूचना भी मिली कि हबीबुल्ला रूस से संबंध बढ़ा रहा था।

अंततः कर्जन की सरकार ने अमीर से बातचीत करने का दूसरा तरीका निकाला। दिसंबर, १९०४ में एक प्रतिनिधि-मंडल काबुल भेजा गया। इस मिशन के भेजे जाने से ही अमीर का पलड़ा भारी हो गया। वह अपने देशवासियों को दिखा सकता था कि वह किसी संधि के लिए इतना इच्छुक नहीं था जितनी भारत सरकार इच्छुक थी। मिशन को करीब चार महीने तक काबुल में टिकना पड़ा। अमीर अपनी बात पर डटा रहा। कर्जन की मजबूरी यह थी कि वह नहीं चाहता था कि मिशन खाली हाथ लौटे। मार्च, १९०५ में अमीर संधि के लिए तैयार हो गया। पर इस संधि का आधार यही रहा कि दोनों देशों के बीच वे समझौते

वने रहेंगे जो १८८० के बाद किये गये थे। संधि के बाद अफगानिस्तान के साथ भारत सरकार के संबंध सुधरते गये।

तिब्बत

कर्जन के समय तिब्वत पर जिस प्रकार ब्रिटिश प्रभाव जमाने की नीति अपनायी गयी उसकी चर्चा हम कर चुके हैं। यह मत व्यक्त किया गया है कि कर्जन की तिब्वत के प्रति नीति चमत्कारिक थी। इस नीति से कर्जन की नीति के सभी पहलुओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। तिब्वत के प्रति नीति कर्जन की निजी नीति थी और उसी के प्रभाव के कारण ब्रिटिश सरकार को कदम उठाने पर राजी होना पड़ा।

उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत

जब १८४६ में अंग्रेजों ने पंजाब पर अधिकार किया था तो उसके और कमजोर अफगानिस्तान राज्य के बीच वहुत-सा भाग ऐसा था जिसपर दो राज्यों में से किसी का अधिकार नहीं था। इस इलाके में अलग-अलग प्रकार के कबीलों के लोग रहते थे। पंजाव की सीमा का समूचा क्षेत्र दुर्गम पहाड़ियों से घिरा था और इन कवायलियों को कठोर जीवन विताना पड़ता था। जब ब्रिटिश सरकार का ध्यान अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया की सुरक्षा की ओर गया तो कबायली लोगों से संपर्क स्थापित करके आवागमन वनाये रखने की जिम्मेदारी पंजाब सरकार को दी गयी। द्वितीय अफगान युद्ध के समय से उत्तर-पश्चिम की सीमा का विस्तार किया गया और कबायलियों का प्रश्न क्षेत्रीय तो बना ही रहा परंतु यह एक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न भी बन गया। अतः केवल पंजाब सरकार इस सीमा की सुरक्षा से संबंधित कार्यों को पूरा नहीं कर सकती थी। केन्द्रीय सरकार ने इसलिये अनुभव किया कि सीमावर्ती क्षेत्र के जिलों को पंजाब राज्य से अलग करके सीमा के शासन का कार्यभार सीधे केन्द्रीय सरकार सँभाल ले। कर्जन के आगमन के पूर्व कबीली क्षेत्र में बड़े दंगे हुए और सेना को आगे बढ़कर शांति स्थापना का कार्य करना पड़ा था। इससे एक बार फिर उत्तर-पश्चिम सीमा की सुरक्षा का प्रश्न सामने आया। कर्जन ने गंभीरता से इस प्रश्न पर विचार करके एक नये प्रांत की स्थापना करने का निश्चय किया। पंजाब राज्य की सीमा पर स्थित जिलों को अलग करके जो प्रांत बनाया गया उसे उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत कहा गया। समूचे पठान क्षेत्र को तथा हजारा, पेशावर, कोहात, बन्नू और डेरा इसमाइल खाँ के पाँच जिलों को मिलाकर यह नया प्रांत बना। इसका शासन एक चीफ कमिश्नर को सौंप दिया गया जो सीधे वाइसराय के अधीन होकर कार्य करने लगा। पहली बार केन्द्रीय सरकार की देख-रेख में इस सीमावर्ती प्रांत का प्रशासन होने लगा।

कर्जन के सुधार

आरंभ में ही यह कहा जा चुका है कि कर्जन ने आंतरिक सुधार करने की भरसक कोशिश की। शासन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने सुधार-कार्यक्रम लागू किये। वाइसराय ने प्रत्येक विभाग से कहा कि वह अपने उद्देश्य की स्पष्ट विवेचना करे, भविष्य में विकास की विधि

पर विचार करे तथा यह निर्धारित करे कि कौन से साधनों को अपनाना श्रेयस्कर होगा। इस तरह से मूलभूत प्रश्नों पर विचार करके आगे बढ़ने की योजना बनायी गयी। रोनेल्डशे का कथन है कि "वाइसराय ने इस सतर्कता से सभी आवश्यक मसलों पर विचार किया कि उसके कार्यकाल के दौरान शायद ही कोई दिन व्यतीत होता था जब किसी कमीशन की बैठक न हो रही हो अथवा कोई विशेषज्ञ किसी प्रशासकीय या कानूनी कार्यवाही की तैयारी के लिए आवश्यक सामग्री एकत्र करने में न जुटा हो।" वाइसराय ने स्वयं प्रत्येक सुधार कार्यक्रम में व्यक्तिगत रूप से भाग लिया। उसने स्वयं अथक परिश्रम किया तथा अपने सहयोगियों तथा अधीनस्थ कर्मचारियों को भी ऐसा ही करने को कहा। अब हम उसके प्रमुख सुधारों पर विचार करेंगे।

१. प्रशासनिक व्यवस्था में परिवर्तन

कर्जन ने आरंभ से ही पक्का इरादा कर लिया था कि वह प्रशासनिक ढाँचे को अधिक कारगर ढंग से चलने के योग्य बनायेगा। इसके लिए यह जरूरी था कि केन्द्रीय सरकार के कार्यालयों के काम करने की प्रणाली पर पुनर्विचार हो। गवर्नर जनरल बनते ही उसने प्रत्येक विभाग की कार्यविधि की परख की। उसने देखा कि कार्यालयों के काम में बहुत अधिक विलंब होता था जिसे दूर करना जरूरी था। उदाहरण के लिए एक कर्नल को पदोन्नति करने के प्रश्न पर पन्द्रह महीने तक विचार होता रहा था और जब यह प्रश्न वाइसराय के विचार के लिए पहुँचा तो उनके पूर्व छपे हुए तिरपन पन्ने भरे जा चुके थे। कार्यालयों में होनेवाली देरी का एक कारण यह था कि यह नियम बना हुआ था कि प्रत्येक प्रमुख मसले पर नोट किस सिलसिले से पेश किये जायें। अच्छा अधिकारी वही माना जाता था जो इस नोट लिखने के कार्य में दक्षता दिखाये। परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक अधिकारी बड़े-बड़े नोट लिखने लगा जिससे कागजी कार्यवाही बढ़ती गयी थी। कर्जन ने इसे कम करने के निर्देश दिये जिसका प्रभाव यह पड़ा कि प्रतिवर्ष रिपोर्टों में जो औसतन अठारह हजार पन्ने लिखे जाते थे उन्हें घटाकर आठ हजार तक और आँकड़ों के पैंतीस हजार पन्नों को घटाकर बीस हजार पृष्ठ तक ले आया गया।

कर्जन ने देखा कि कार्यविधि संबंधी दूसरी कमजोरी यह थी कि प्रत्येक विभाग के बीच अनावश्यक ढंग का अलगाव था। एक विभाग से पत्र दूसरे विभाग और दूसरे विभाग से तीसरे विभाग तक जाते रहते थे और फाइलों के घूमने से देरी तो होती ही थी पर इसके साथ-साथ एक विभाग दूसरे की समस्याओं को समझने की कोशिश नहीं करता था। कर्जन ने निर्देश दिये कि जहाँ तक संभव हो सके, प्रत्येक विभाग के अधिकारी दूसरे विभाग से व्यक्तिगत संपर्क अथवा मीटिंग करके निर्णय कर लें। इस आदान-प्रदान से हर विभाग अन्य विभागों की कठिनाइयाँ भली-भाँति समझने लगा। वाइसराय ने कार्यालयों की कार्यप्रणाली में अनावश्यक औपचारिकता को दूर किया।

कर्जन के प्रशासन के विषय में यह भी कहा जाता है कि वह केन्द्रीयकरण के सिद्धांत का पक्षपाती था। लेकिन यदि हम उसके वक्तव्यों और कार्यों पर सूक्ष्म दृष्टि डालें तो यह

देखेंगे कि वाइसराय ने मद्रास और बंबई के गवर्नरों की विशेष स्थिति के खिलाफ आवाज उठायी। अन्य प्रांतों के लेफ्टिनेंट गवर्नरों की तुलना में इन दो प्रांतों के गवर्नरों की नियुक्ति दूसरे ढंग से होती थी तथा ये गवर्नर गृह सरकार से संपर्क भी कर सकते थे। इससे केन्द्रीय सरकार के लिए समस्याएँ उत्पन्न होती थीं। यदि कर्जन ने इन दो गवर्नरों की विशेष स्थिति को समाप्त करके उनके अधिकारी को अन्य प्रांत के गवर्नरों के समान करना चाहा तो इसके लिए उसकी आलोचना करना उचित नहीं होगा।

२. आर्थिक सुधार

कर्जन ने आर्थिक सुधारों की ओर पर्याप्त ध्यान दिया। उसके इन सुधारों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। पहले सुधार वे थे जिनके द्वारा अकाल की विभीषिका का मुकाबला करने की नीति पर पुनः विचार करके आवश्यक नीति अपनायी गयी। दूसरे प्रकार के सुधारों का उद्देश्य देश की कृषि में सुधार लाना था और तीसरे प्रकार के सुधार लगान-व्यवस्था से संबंधित थे। किसानों की दशा सुधारने के कुछ आवश्यक उपाय किये गये।

(क) अकाल का मुकाबला करने के उपाय

वाइसराय का पद ग्रहण करने के कुछ महीने बाद ही कर्जन को जिस अकाल से निपटना पड़ा उसके विषय में एक सरकारी अधिकारी ने कहा था कि वह 'पिछले दो सौ वर्षों में भारत में जो अकाल पड़े थे उनमें से सबसे अधिक तीव्र तथा सबसे अधिक व्यापक था।' इसी से साफ जाहिर होता है कि वाइसराय को १८९९ के भीषण अकाल से किस प्रकार की चुनौतियों का सामना करना पड़ा। देश की आर्थिक स्थिति इस कारण और भी बिगड़ गयी क्योंकि तीन वर्ष पूर्व भी कई प्रांत अकाल की चपेट में आ गये थे। अभी उसे एक अकाल की समस्याओं से छुटकारा मिल ही पाया था कि पुनः उससे भी भयंकर अकाल पड़ा। १८९९ और १९०० में जो अकाल पड़े उनका प्रभाव करीब दो लाख वर्गमील के क्षेत्र पर पड़ा। 'ब्रिटिश भारत' कहलाने वाले क्षेत्र के लगभग दो करोड़ अस्सी लाख लोगों पर इसका असर पड़ा। इसके अतिरिक्त राजस्थान, दक्षिण भारत तथा गुजरात क्षेत्र की देशी रियासतें भी इसकी चपेट में आ गयीं। सत्तर वर्षों के बाद गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा था। मध्यप्रदेश, बरार, बंबई, अजमेर, मारवाड़ भी अकाल की कठिनाइयों से त्रस्त थे। इसके अतिरिक्त पंजाब, बंगाल, मद्रास आदि क्षेत्रों में भी अनाज की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुईं। यह अनुमान लगाया गया था कि सत्तर करोड़ रुपये मूल्य की फसल नष्ट हो गयी थी।

अकाल पीड़ित क्षेत्र में राहत पहुँचाने के कार्य में प्रांतीय सरकारों ने आरंभ में कुछ ढिलायी दिखायी जिससे जनता की कठिनाइयाँ और अधिक बढ़ीं। इसके बाद विभिन्न राहत कार्य आरंभ करके प्रभावित क्षेत्र के निवासियों को आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से कई प्रकार के कार्यक्रम आरंभ किये गये। फिर भी इतने अधिक लोग भूख से मर गये कि सरकार को तीव्र आलोचना का सामना करना पड़ा। सरकार ने जो आँकड़े प्रस्तुत किये उनके

अनुसार लगभग बीस लाख लोग अकाल से मरे। लेकिन गैर सरकारी अनुमान यह था कि यह संख्या इससे कहीं अधिक थी। कर्जन के कार्यकाल में ही प्रकाशित एक प्रसिद्ध पुस्तक के लेखक, विलियम डिगवी ने अकाल से मरनेवाले लोगों की संख्या ३२ लाख से कुछ अधिक ही आँकी। साफ जाहिर है कि यह एक विकराल स्थिति थी और कोई भी ऐसी सरकार को क्षमा नहीं कर सकता था जिसके प्रशासन में यह दर्दनाक विभीषिका सामने आयी।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में विभिन्न राष्ट्रीय नेताओं ने ब्रिटिश आर्थिक और प्रशासकीय नीतियों की तीव्र आलोचना की। उन्होंने यह आरोप लगाया कि सरकार की नीतियाँ दोषपूर्ण थीं। इन्हीं के कारण ऐसे भयंकर अकाल पड़े थे। कर्जन की सरकार भी चुप नहीं बैठ सकती थी। उसने प्रतिवाद में बहुत कुछ कहा। पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि सरकार के रुख में एक बड़ा परिवर्तन आया। उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति तक प्रायः यह कहा जाता था कि अकाल की रोकथाम करने के उपाय करना सरकार का काम नहीं था क्योंकि भारतीय खेती मानसून की वर्षा पर आधारित थी और वर्षा न होने पर अकाल की स्थिति कभी भी उत्पन्न हो सकती थी। लेकिन अब सरकार ने अपना उत्तरदायित्व समझा और ऐसे उपायों पर विचार किया जिससे वर्षा न होने पर भी अकाल की स्थिति न आने पाये।

कर्जन के आगमन के पूर्व जो अकाल पड़ा था उसकी जाँच पड़ताल करने के उद्देश्य से एक कमीशन नियुक्त किया गया था। पर वाइसराय ने अनुभव किया कि यह जाँच पर्याप्त नहीं थी। एक नया कमीशन नियुक्त किया गया जिसे यह उत्तरदायित्व सौंपा गया कि विस्तृत जानकारी प्राप्त करके वह ऐसे सुझाव दे जिनसे अकाल को रोकने के उपाय किये जा सकें। एन्थोनी मैकडानल की अध्यक्षता में नियुक्त इस कमीशन ने १६०१ में अपनी रिपोर्ट पेश की। इसी के अनुसार सरकार ने अकाल नीति निर्धारित की। कमीशन का कहना था कि अकाल का मुकाबला करने के लिए सरकार ने पहले से कोई तैयारी नहीं की थी। उसने इस बात पर बल दिया कि सरकार को त्रिसूत्रीय कार्यक्रम तैयार कर लेना चाहिए। इस कार्यक्रम के सिद्धांत थे : १. जल्द से जल्द भूमि-कर की वसूली को प्रभावित क्षेत्रों में स्थगित करना; २. यथाशीघ्र राहत कार्यों को प्रारंभ करना; ३. सरकार को बिना किसी विलंब के किसानों की आर्थिक सहायता करनी चाहिए जिससे वे पशुओं को तथा और बीज खरीद सकें। इसके अलावा इस कमीशन ने कई अन्य सुझाव भी दिये। कमीशन ने राय दी कि सरकार को गैर सरकारी सहायता लेने की कोशिश करनी चाहिए। राहत कार्यों के लिए कमीशन का कहना था कि ये कार्य अधिकतर गाँवों के निकट ही आरंभ किये जायें। सरकार से यह भी कहा गया कि वह पशुओं के चारे की व्यवस्था भी करे। कर्जन ने इन सुझावों को स्वीकार करते हुए आवश्यक निर्देश दिये तथा कई अन्य योजनाओं पर अमल किया जिससे अकाल की संभावना घटी। १६०५ के पश्चात् देश में अकाल का प्रकोप घटा।

(ख) कृषि-सुधार

अभी तक भारत सरकार ने केवल लगान वसूल करने का ही ध्यान रखा था, लेकिन

कृषि की दशा सुधारने के लिए अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। पिछले कुछ दशकों में इस ओर प्रयास आरंभ हो गये थे और कर्जन ने पहली वार कृषि-सुधार के उपायों पर गंभीरता से विचार किया तथा उपयोगी कार्यक्रम लागू किये। उसने जो कृषि-नीति अपनायी उसके आधारभूत सिद्धांत थे प्रयोग, अनुसंधान और शिक्षा। १६०१ में कृषि का इंस्पेक्टर जनरल नियुक्त किया गया और सरकार ने अन्य कृषि विशेषज्ञों की नियुक्ति शुरू कर दी। कृषि-अनुसंधान को बढ़ावा देने के लिए पूना में एक इंस्टीट्यूट खोला गया जिसकी स्थापना करके वाइसराय ने भारतीय कृषि की समस्याओं का अध्ययन करने का वैज्ञानिक आधार तैयार किया। कृषि-शिक्षा के लिये कॉलेजों को प्रभावशाली बनाया गया।

अकाल ने यह चेतावनी दे दी थी कि केवल वर्षा पर आधारित खेती से किसान कभी भी दुबारा कठिनाई में फँस सकते थे। कर्जन ने सिंचाई के साधनों का विकास करने की नीति पर विचार करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया। सिंचाई के विभिन्न साधनों का विकास करने के लिये एक अधिकारी नियुक्त किया गया जिसकी देख-रेख मे नहरें बनवाने, कुएँ तथा तालाब खुदवाने अथवा सुधरवाने की योजना बनायी गयी।

(ग) भूमि-कर तथा उससे सम्बन्धित समस्याएँ

अकाल के कारणों पर जब विचार किया गया तो एक तथ्य सामने आया था कि इसका सबसे अधिक प्रभाव किसानों पर पड़ता था। उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होने पर यह देखा गया कि किसानों की आर्थिक दशा बड़ी ही शोचनीय थी। पैदावार जब अच्छी होती थी तो वह किसी प्रकार जीवन निर्वाह कर लेता था पर फिर भी उसके पास अन्न अथवा धन की बचत नहीं हो पाती थी। यह बचत इसलिए जरूरी थी कि उसका उपयोग वह तब कर सकता था जब सूखे अथवा अकाल की स्थिति हो। लेकिन भारतीय किसान इतना अधिक गरीब था तथा कर्ज से इस हद तक दबा रहता था कि पैदावार न होने पर उसके पास कुछ भी जमा नहीं होता था और फलतः अकाल का आरंभ होते ही उसे भुखमरी का सामना करना पड़ता था। राष्ट्रीय नेताओं ने जोरदार शब्दों में इस स्थिति का चित्रण किया और सरकार से माँग की कि वह लगान वसूल करने के नियमों पर पुनर्विचार करे तथा किसानों को राहत पहुँचाने के अन्य उपाय करे। कर्जन ने इस ओर सराहनीय कार्य किये।

मार्च, १६०५ में कर्जन ने नियम बनाये जिनके अनुसार लगान वसूल करने में लचीलेपन का सिद्धांत अपनाया गया। अब स्थानीय अधिकारी यह निश्चित कर सकता था कि किस समय वह लगान की वसूली स्थगित कर दे। १६०१ में कर्जन ने एक अधिनियम पारित करके यह व्यवस्था की कि सरकार की पूर्व-अनुमति के बिना कोई भी व्यक्ति किसी भी परिस्थिति में किसान की भूमि पर कब्जा नहीं कर सकता था। पंजाब में सबसे पहले इस नियम को लागू किया गया। अभी तक कर्ज से लदे किसानों की भूमि पर सूदखोर जब चाहे कब्जा कर लेते थे। इस प्रकार से किसानों के हाथ से निकलकर भूमि व्यापारियों के हाथ में जा रही थी। कर्जन ने पंजाब के किसानों की रक्षा की। बाद में यह नियम अन्य प्रांतों में भी लागू कर दिया गया।

सूदखोरों के विरुद्ध किसान की रक्षा करना एक आवश्यक कदम था। लेकिन इसके अलावा सरकार को एक यह व्यवस्था भी करनी पड़ी कि आसान शर्तों पर किसान को धन दिलाया जाय। वाइसराय ने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये सहकारी समितियों की स्थापना की जो किसानों को आसान शर्तों पर धन देने लगीं। पहली बार किसानों को यह अवसर मिला कि वे व्यापारियों के अतिरिक्त किसी अन्य तरीके से कर्ज ले सकते थे।

३. रेलवे के संगठन और व्यवस्था में सुधार

लोवेट फ्रेजर ने विचार प्रकट किया है कि भारत में रेल प्रशासन के आरंभ होने के समय से इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण सुधार करने का श्रेय कर्जन को देना चाहिए। रेलवे के विकास के करीब पचास वर्ष बीत चुके थे। इससे कई ऐसे सवाल विचाराधीन थे जिनके संबंध में किसी-न-किसी प्रकार का निर्णय करने की जरूरत थी। कर्जन ने इस उत्तरदायित्व को अपने कंधों पर लिया और रेलवे के विकास की नीति निर्धारित की। भारत में रेलवे का व्यापक महत्त्व रहा है। उस समय लंबी दूरी तक आने जाने का यही एकमात्र साधन था। देश के आर्थिक विकास में रेलवे निर्णायक भूमिका निभा सकती थी। अकाल की बहुत सी कठिनाइयाँ, यातायात के साधनों की कमी के कारण उत्पन्न होती थीं जिसके समाधान के लिए रेलवे का विकास करने की आवश्यकता थी। भारत ऐसे विशाल देश में संचार-साधनों का महत्त्व सुरक्षा की दृष्टि से भी था। सरकार ने इन कारणों से प्रभावित होकर रेलवे की समस्याओं की ओर ध्यान दिया।

जैसा कि कर्जन का तरीका था उसने सबसे पहले ब्रिटेन से एक विशेषज्ञ थामस राबर्टसन को भारत बुलाकर रेलवे से संबंधित सभी प्रश्नों पर अपनी राय देने को कहा। अठारह महीनों तक विचार करने के बाद १६०३ में राबर्टसन की रिपोर्ट कर्जन को प्राप्त हो गयी। इस रिपोर्ट में रेलवे के तत्कालीन ढाँचे और उसकी कार्य-प्रणाली की कटु भर्त्सना की गयी तथा इसकी व्यवस्था को आमूलचूल बदलने के सुझाव दिये गये। कर्जन को इससे किसी प्रकार का अचंभा नहीं हुआ क्योंकि उसका पहले से ही यह अनुमान था कि रेल प्रशासन त्रुटिपूर्ण था।

कर्जन ने रेलवे के ढाँचे मे पहला मुख्य परिवर्तन यह किया कि रेलवे को सार्वजनिक निर्माण विभाग के हाथ से हटाकर उसका नियंत्रण तीन सदस्यों के एक स्वतंत्र बोर्ड को सौंप दिया। इस नवगठित रेलवे बोर्ड को रेल प्रशासन की सारी जिम्मेदारियाँ सौंप दी गयीं। कर्जन ने उद्योग और व्यापार का एक नया विभाग बनाया जिसकी देखरेख में रेलवे बोर्ड काम करने लगा। अभी तक रेल निर्माण के कार्य के विषय में भी स्पष्ट नीति नहीं अपनायी गयी थी। कर्जन ने स्पष्ट निर्देश दिये कि भविष्य में रेलवे लाइनों के निर्माण में सरकार का पूरा नियंत्रण रहे और व्यापारिक कंपनियों को केवल लाइनें बिछा देने का कार्य सौंपा जाये। कर्जन के समय में जितनी अधिक रेलवे लाइनें बिछायी गयीं उतनी किसी अन्य वाइसरास के समय में नहीं बनीं। साठ करोड़ रुपये की लागत से उसने करीब छह हजार मील से कुछ अधिक लंबी लाइनें अपने समय में लगवायीं। कर्जन के समय से ही यह अनुभव भी किया जाने लगा था कि रेलवे सरकार की आमदनी को बढ़ाने का भी एक अच्छा साधन हो सकता था।

४. पुलिस

कर्जन ने कुशल पुलिस के महत्त्व को आरंभ से ही समझा था। उसने लिखा था कि पुलिस को सुधारना एक 'बड़ा प्रश्न' था जिस पर सारी प्रशासकीय व्यवस्था आधारित थी। १८९० से जो आँकड़े सरकार के सामने थे उनसे साफ जाहिर था कि अपराधों की संख्या बढ़ती जा रही थी। विभिन्न प्रकार की पुलिस में सहयोग की कमी थी। कर्जन ने इन सभी प्रश्नों और अन्य संबंधित प्रश्नों पर विचार करने के लिये एक कमीशन १९०२ में नियुक्त किया। इस कमीशन की अध्यक्षता एन्ड्रयू फ्रेजर ने की। लगभग आठ महीने के परिश्रम के बाद इसकी रिपोर्ट वाइसराय को पेश की गयी। इस रिपोर्ट में तत्कालीन पुलिस की कार्यप्रणाली की कटु आलोचना की गयी। एक स्थान में रिपोर्ट में कहा गया कि 'पुलिस में कुशलता का अभाव है, इसकी ट्रेनिंग और संगठन दोषपूर्ण है, इसका निरीक्षण सही ढंग से नहीं किया जाता। यह साधारणतया माना जाता है कि यह भ्रष्ट और अत्याचारी है और लोगों का विश्वास और सहयोग पाने में यह पूर्णतया असफल रही है।' स्पष्ट है कि कमीशन ने कठोर शब्दों में पुलिस संगठन की भर्त्सना की थी। रिपोर्ट को देखकर भारत मंत्री ने चाहा था कि इसे गुप्त ही रखा जाय। पर कर्जन ने उसकी सलाह को नहीं माना और उसने रिपोर्ट को प्रकाशित करके साहस का परिचय दिया।

कमीशन के सुझावों पर शीघ्र अमल करना आरंभ हो गया और यह प्रक्रिया कर्जन के शासन के समाप्त होने के बाद भी जारी रही। सबसे पहले प्रत्येक श्रेणी के अधिकारियों के वेतन में वृद्धि की गयी। इससे सरकार का पुलिस पर होने वाला खर्च बढ़ा। जब कर्जन आया था तो यह खर्च २१,१७,००० पौंड प्रतिवर्ष था और उसके जाने के समय तक यह खर्च बढ़कर ३२,१२,१८६ पौंड तक हो गया था। इससे जाहिर है कि वाइसराय ने पुलिस को अच्छा वेतन देने की कोशिश की। दूसरा सुधार यह किया गया कि पुलिस की संख्या बढ़ा दी गयी। पहले कुल मिलाकर १,४६,००० अधिकारी और पुलिस के जवान कार्य करते थे जिनकी संख्या बढ़ाकर १,७७,७५८ कर दी गयी। सशस्त्र पुलिस के संगठन को शक्तिशाली बनाया गया क्योंकि उस समय के सेनापति किचनर का विचार था कि किसी बाहरी आक्रमण अथवा युद्ध के समय इस पुलिस को आंतरिक सुरक्षा के लिये उपयोग में लाया जा सकता था। यह एक नयी नीति थी जिसके अनुसार पुलिस को अच्छी प्रकार की बंदूकों को इस्तेमाल करना सिखाया गया। कर्जन ने यह भी एक महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया कि अलग से खुफिया विभाग संगठित किया जाये। भविष्य में इस विभाग के द्वारा स्वतंत्रता सेनानियों की गतिविधियों पर नजर रखी जाने लगी।

५. प्राचीन स्मारकों की सुरक्षा

कर्जन पहला वाइसराय था जिसने भारत के ऐतिहासिक स्मारकों की सुरक्षा करने का निश्चय किया। अभी तक सरकार ने यह जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ली थी। उसकी उपेक्षा का प्रभाव यह पड़ा था कि इन भवनों की दशा खराब होती जा रही थी। वाइसराय को इससे अचंभा हुआ कि भारतीय न तो इन भवनों के विषय में कुछ जानते थे और न उनकी सुरक्षा की उन्हें किसी प्रकार की चिंता थी। जनता की अरुचि के कारण सरकार के लिए यह और भी जरूरी हो गया कि वह विभिन्न प्रकार की ऐतिहासिक इमारतों की सुरक्षा करती। कर्जन ने जब एक बार मद्रास की सरकार

को लिखा कि वह पुरातत्वविद् से इन भवनों और अवशेषों के विषय में सलाह ले तो वाइसराय को उत्तर मिला कि मद्रास सरकार ने कभी ऐसे किसी अधिकारी की नियुक्ति ही नहीं की थी। कर्जन ने इस स्थिति को सुधारा। विभिन्न प्रांतों में पुरातत्व विभाग बनाया गया और पुरातत्व विभाग के डायरेक्टर के पद पर प्रसिद्ध पुरातत्वविद् जान मार्शल को नियुक्त किया गया। १६०४ में भारत सरकार ने एक अधिनियम पारित करके किसी भी ऐतिहासिक भवन को 'सुरक्षित स्थान' घोषित करने का अधिकार प्राप्त किया। आगरा और अजंता के भवनों की सुरक्षा में कर्जन ने व्यक्तिगत रुचि दिखायी।

६. कलकत्ता कारपोरेशन अधिनियम

कर्जन के कार्यकाल के आरंभ में पारित अधिनियम का तीव्र विरोध किया गया। लखनऊ में हुए वार्षिक अधिवेशन में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इस अधिनियम का विरोध करते हुए एक प्रस्ताव पास किया जिसमें कर्जन की 'स्वायत्त स्वशासन को नष्ट करनेवाली प्रतिक्रियावादी नीति' की निंदा की गयी थी।

इस अधिनियम के अनुसार कलकत्ता कारपोरेशन के आकार को घटा दिया गया। अभी तक इस कारपोरेशन में दो-तिहाई ऐसे सदस्य थे जिन्हें नगर के करदाता चुनते थे। कर्जन के समय जो ऐक्ट पारित किया गया उसमें ऐसे चुने गये सदस्यों का अनुपात घटा दिया गया। अब केवल आधे सदस्य जनप्रतिनिधि हो सकते थे और शेष आधे सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार सरकार को दे दिया गया। इस व्यवस्था के द्वारा कलकत्ता कारपोरेशन में सरकार का प्रभाव बढ़ा। यह व्यवस्था भी की गयी कि कारपोरेशन के चेयरमैन की नियुक्ति सरकार करे और इस अधिकारी को हर प्रकार की स्थिति में कई विशेषाधिकर प्रदान किये गये। कारपोरेशन का केवल यह काम रह गया कि वह कर निर्धारित करे और नीति संबंधी सामान्य निर्णय करे। एक समिति का भी गठन किया गया जिसके बारह सदस्य थे। सरकार ने इस अधिनियम द्वारा जनप्रतिनिधियों के अधिकारों को घटाते समय यह तर्क दिया कि कारपोरेशन के सदस्य केवल बहस करते रहते थे लेकिन वे वास्तविक काम करने में रुचि नहीं लेते थे।

बंगाल में तथा देश के दूसरे भागों में सरकार की इस नीति का विरोध किया गया। बंगाल की धारा सभा में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने इस अधिनियम की भर्त्सना करते हुए कहा था कि जिस दिन यह अधिनियम पारित किया गया उसे 'बंगाल की भावी पीढ़ियाँ उस दिन के रूप में स्मरण रखेंगी जब कलकत्ता में स्थानीय स्वायत्त शासन का उन्मूलन कर दिया गया।' कारपोरेशन के अट्ठाईस भारतीय सदस्यों ने विरोध प्रकट करने के लिए अपनी सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। १६२३ में कर्जन के समय का अधिनियम संशोधित कर दिया गया और अस्सी प्रतिशत सदस्यों के चुने जाने की व्यवस्था की गयी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ही इस संशोधन को पेश किया था।

७. शिक्षा-नीति

कर्जन ने शिक्षा-नीति को प्रभावित करने की भरसक कोशिश की। भारत आकर उसने अनुभव किया था कि शिक्षा प्रणाली दोषपूर्ण थी। इसे सुधारने के लिए सरकार के हस्तक्षेप

करने की आवश्यकता उसने अनुभव की। मेकाले ने विश्वास प्रकट किया था कि कुछ पीढ़ियों के बाद रंग के भेद को छोड़कर भारतीयों और अंग्रेजों में किसी प्रकार का अंतर नहीं रह जायेगा। लेकिन सत्तर वर्षों के अनुभव से अंग्रेज प्रशासकों के विचार बदल रहे थे। कर्जन को मेकाले की नीति पर विश्वास नहीं था और उसका कहना था कि उन्नीसवीं शताब्दी की शिक्षा-प्रणाली में जो कमियाँ रह गयीं उसका कारण यह था कि 'ब्रिटिश नमूने की बहुत अधिक नकल करने' पर जोर दिया गया था। वाइसराय ने इस शिक्षा-प्रणाली की आलोचना करते हुए कहा कि साधारण जनता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा था। यह संतोषजनक स्थिति नहीं कही जा सकती थी जिसमें भारत के प्रत्येक चार गाँवों में से तीन में किसी ढंग का स्कूल नहीं था और हर पाँच बच्चों में से चार को प्राइमरी स्कूल की भी सुविधा उपलब्ध नहीं थी। ४० लड़कियों में से केवल एक कभी स्कूल जाती थी। प्राइमरी शिक्षा की इस उपेक्षा से उसे दुःख हुआ और उसने शिक्षा-नीति को निर्धारित करते समय जनशिक्षा के महत्त्व पर जोर दिया। स्कूल शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिए शिमला में शिक्षा अधिकारियों की एक सभा सितंबर, १९०१ में बुलायी गयी। इस सभा में शिक्षा-व्यवस्था के सभी पहलुओं पर विचार किया गया। कर्जन स्वयं इस सभा का अध्यक्ष था। इसमें करीब एक सौ पचास प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। प्रत्येक प्रस्ताव के मसौदे को कर्जन ने स्वयं तैयार किया था। इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि उसने शिक्षा-नीति पर विचार करने में कितना परिश्रम किया।

शिमला में हुई इस सभा में जो योजना स्वीकृत की गयी थी उसके अनुसार अमल करने से ही स्कूल शिक्षा में कुछ सुधार हो सकते थे। सभा की कुछ सिफारिशों पर तुरंत अमल किया गया और यह आशा की गयी कि प्रांतीय सरकारें भविष्य में इस कार्यक्रम के अनुसार कार्य करेंगी। केन्द्र सरकार ने डाइरेक्टर जनरल आफ एजूकेशन की नियुक्ति की। इस अधिकारी को विभिन्न प्रांतों की समस्याओं में सामंजस्य बिठाने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। केन्द्र सरकार ने प्रांतों का अनुदान बढ़ा दिया जिससे वे प्राइमरी और माध्यमिक शिक्षा पर खर्च वढ़ा सकें। अधिक स्कूल खोले गये और अधिक संख्या में अध्यापकों की नियुक्तियाँ की गयीं। शिमला सभा ने अध्यापकों के प्रशिक्षण पर भी जोर दिया था। इस ओर भी प्रयास किये गये। लेकिन इन प्रयत्नों के बावजूद साक्षरता में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हो सकी। १९२१ की जनगणना के अनुसार 'ब्रिटिश भारत' कहलाने वाले क्षेत्र में चौबीस करोड़ सत्तर लाख जनसंख्या में से तेईस करोड़ लोग लिखना अथवा पढ़ना नहीं जानते थे।

भारत के प्रबुद्ध वर्ग ने वाइसराय की उच्च शिक्षा के प्रति अपनायी गयी नीति पर ध्यान दिया और कर्जन को तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा। अतः यह समझना आवश्यक है कि वाइसराय की नीति का व्यापक विरोध क्यों किया गया। सबसे पहले यह देखना होगा कि उच्च शिक्षा-प्रणाली में उसे क्या दोष दिखे। उसकी पहली शिकायत यह थी कि विश्वविद्यालयों का स्वरूप ही विकृत था। विश्वविद्यालयों की केवल यह जिम्मेदारी थी कि वे पाठ्यक्रम निर्धारित कर दें और अपने अधीन दूर फैले हुए कालेजों के विद्यार्थियों की परीक्षा की व्यवस्था करें और उनके नतीजों की घोषणा कर दें। कर्जन को इस प्रकार के केवल

परीक्षा लेनेवाले विश्वविद्यालय कतई पसंद नहीं आये। उसने यह चाहा कि आवासीय कालेज और विश्वविद्यालय वनें तथा विभिन्न विश्वविद्यालय परीक्षा लेने के कार्य के अतिरिक्त स्वयं उच्च शिक्षा प्रदान करने के केन्द्र भी बने। एक पेचीदा सवाल यह था कि कालेजों और विश्वविद्यालयों का नियंत्रण कौन करे? कर्जन ने सरकार का नियंत्रण बढ़ाने की कोशिश की और मध्यम वर्ग के शिक्षित समुदाय ने उसके इस प्रयास का विरोध किया। इसी से उच्च शिक्षा के सुधार की नीति एक बड़े विवाद का प्रश्न बन गयी। अभी तक कालेजों और विश्वविद्यालयों पर उन क्षेत्रों के प्रभावशाली वर्गों का हाथ था। कर्जन ने उनके प्रभाव को घटाकर सरकारी अंकुश बढ़ाने की जो नीति अपनायी उसे तत्कालीन राजनीतिक स्थिति में भारत के लोग पसंद नहीं कर सकते थे।

उच्च शिक्षा-नीति पर पहले शिमला सम्मेलन में विचार किया गया। इस सम्मेलन ने उसकी इच्छा के अनुसार विश्वविद्यालयों की व्यवस्था में सुधार करने की सिफारिश की। इसके लिये एक नया अधिनियम पारित करने का निर्णय किया गया। लेकिन सरकार ने यह जरूरी समझा कि ऐसा अधिनियम पारित करने के पूर्व एक कमीशन की नियुक्ति की जाये। वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् के विधि सदस्य थामस रैले को विश्वविद्यालय कमीशन का अध्यक्ष वनाया गया। जून, १६०२ में कमीशन ने अपनी रिपोर्ट सरकार को पेश कर दी। इसकी सिफारिशें शिमला सम्मेलन के निर्णयों से भिन्न नहीं थीं। कमीशन ने प्रस्ताव किया कि जो कालेज सभी दृष्टि से ठीक कार्य न करते हों उन्हें समाप्त करने का आदेश दे दिया जाये। यह सिफारिश की गयी थी कि भविष्य में किसी कालेज को मान्यता तभी दी जाये जब वह सभी आवश्यक शर्तें पूरी करने की स्थिति में हो। उच्च शिक्षा के लिए कम-से-कम कितनी फीस लीं जाय, यह भी निश्चित करने की सिफारिश की गयी। सेनेट और सिंडिकेट को फिर से संगठित करने की राय दी गयी।

कमीशन की सभी सिफारिशें वाइसराय की इच्छा के अनुरूप थीं। नवंबर, १६०३ में एक विल केन्द्रीय धारा सभा में पेश किया गया जिसका उद्देश्य कमीशन की सिफारिशों को अपनाना था। इस समय भारतीय जनमत की भावनाओं को व्यक्त करते हुए गोपालकृष्ण गोखले ने इस बिल की आलोचना की। उन्होंने कहा कि सरकार ने केवल योरोपियों से सलाह ली थी तथा भारतीयों को उपेक्षित किया गया था। शिमला में हुए सम्मेलन में एक भी भारतीय उपस्थित नहीं था तथा कमीशन में भी शिक्षा-व्यवस्था से सीधे संबंध रखनेवाले किसी व्यक्ति को नहीं चुना गया था। गोखले ने इसपर रोष प्रकट किया कि इस बिल के द्वारा विश्वविद्यालयों को 'वास्तविक रूप से सरकार के विभाग' का स्वरूप दिया जा रहा था।

१६०४ में जो ऐक्ट पारित किया गया उससे विश्वविद्यालयों का इंतजाम करने में सरकार को व्यापक अधिकार प्राप्त हो गये, सेनेट और सिंडिकेट को नये ढंग से संगठित किया गया, विश्वविद्यालयों को संवद्ध कालेजों पर नियंत्रण करने के अधिक अधिकार दिये गये, नये कालेजों को मान्यता देने के नियम कठोर बना दिये गये तथा कालेजों और विश्वविद्यालयों में अध्यापकों की नियुक्तियों पर सरकार की स्वीकृति अनिवार्य कर दी गयी।

इस ऐक्ट का एक ही अर्थ था कि उच्च शिक्षा के विषय में सरकार की इच्छा के बिना कोई भी कदम नहीं उठाया जा सकता था। सरकारी नियंत्रण का विचार उस समय की परिस्थिति में किसी को पसंद नहीं आया। कर्जन को कटु आलोचना का शिकार होना पड़ा तथा इस अधिनियम के विरोध में जनसभाएँ की गयीं। पर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि कर्जन के समय से लेकर आज तक सरकार का अंकुश विश्वविद्यालयों पर बढ़ता ही जा रहा है। कर्जन के समय केवल इसकी शुरुआत की गयी थी। कर्जन की शिक्षा-नीति इस कारण असफल रही क्योंकि वह शिक्षा की व्यवस्था और प्रशासन के प्रश्नों में ही उलझा रहा और उसने शिक्षा के लक्ष्य तथा परिणामों पर अधिक ध्यान नहीं दिया। भारतीयों को दूर रखकर उसने शिक्षा के विषय में जो निर्णय लिये उसकी भी प्रतिक्रिया हुई।

८. बंगाल का विभाजन

कर्जन के भारत आने के पहले से बंगाल प्रांत के पुनर्गठन का प्रश्न भारत सरकार के सम्मुख विचाराधीन था। बंगाल प्रांत आकार और जनसंख्या में इतना अधिक ,वड़ा था कि किसी भी गवर्नर के लिए इसका शासन करना एक कठिन जिम्मेदारी थी। इस प्रांत का क्षेत्रफल १,९०,००० वर्गमील था और इसमें सात करोड़ अस्सी लाख लोग रहते थे। जब कर्जन ने देखा कि यह प्रांत 'अत्यधिक फूला हुआ' था और उसके पड़ोस का असम प्रांत वहुत अधिक छोटा था तो उसने बंगाल को विभाजित करके उसके कुछ जिलों को असम के साथ जोड़ देने का निश्चय किया। प्रशासकीय दृष्टि से बंगाल का विभाजन करना आवश्यक था। लेकिन इसका विभाजन इस ढंग से किया गया कि सरकार के निर्णय के विरुद्ध विश्वव्यापी आंदोलन छिड़ गया।

बंगाल का विभाजन करते समय कहा तो यही गया कि प्रांत के प्रशासन के लिए यह जरूरी था और यह तर्क बहुत हद तक सही भी था किंतु निर्णय करने के उद्देश्य राजनीतिक थे। इसी से बंगाल का विभाजन इतना विवादास्पद प्रश्न बन गया। ब्रिटिश प्रशासक राष्ट्रीय आंदोलन से भयभीत थे और उन्होंने राष्ट्रीय एकता पर कुठाराघात करने की यह चाल चली। उस समय भारत सरकार के गृह सचिव, हारबर्ट होप रिसले ने सरकार की योजना पर विचार करते हुए गुप्त दस्तावेज में लिखा था--'संयुक्त बंगाल एक शक्ति है। बंगाल का विभाजन हो जाने पर वह अलग-अलग रास्तों में बँट जायगा..... हमारा एक मुख्य उद्देश्य है हमारे विरोध में संगठित शक्ति को विभाजित करना और उसे कमजोर बनाना।' इस वक्तव्य से साफ जाहिर होता है कि बंगाल में कांग्रेस के आंदोलन को शक्तिहीन करने के इरादे से कर्जन ने विभाजन की योजना वनायी।

जुलाई, १९०५ में भारत सरकार ने बंगाल के विभाजन की घोषणा कर दी। बंगाल प्रांत के आकार को घटा दिया गया। अब यह प्रांत १,४१,५८० वर्गमील रह गया और इसकी जनसंख्या घटकर पाँच करोड़ चालीस लाख रह गयी। बंगाल का शेष भाग, जिसे अलग किया गया था, पूर्वी बंगाल कहलाया। पूर्वी बंगाल और असम को मिलाकर एक अलग प्रांत बना जिसका क्षेत्रफल १,०६,५४० वर्गमील था और जिसमें तीन करोड़ दस लाख लोग रहते

थे। कर्जन के इस निर्णय से भारत सरकार को दो लाभ दिखायी दिये। पहला यह कि नवगठित पूर्वी बंगाल और असम प्रांत की जनसंख्या में मुसलमानों का बहुमत था क्योंकि इस प्रांत में एक करोड़ अस्सी लाख मुसलमान और एक करोड़ बीस लाख हिन्दू थे। वाइसराय को यह आशा थी कि यह प्रांत एक विशेष ढंग का होगा जहाँ मुसलमानों का बहुमत होने से देश के दोनों प्रमुख संप्रदायों में मतभेद रहेंगे तथा राष्ट्रीय आंदोलन वहाँ पनप नहीं सकेगा। दूसरा लाभ उसे यह दिखाई पड़ा कि बचे हुए बंगाल प्रांत में एक करोड़ सत्तर लाख बंगला भाषाभाषी लोगों की तुलना में बिहारी तथा उड़िया भाषाओं को बोलने वालों की संख्या चार करोड़ दस लाख होगी। इस प्रकार बंगाली लोगों को विभाजित किया गया तथा नये बंगाल प्रांत में उन्हें अल्पसंख्यक बना दिया गया।

कर्जन के इस निर्णय की सभी संबद्ध पक्षों ने आलोचना की। ब्रिटेन के प्रभावशाली समाचार-पत्रों ने कर्जन के विरुद्ध मत प्रकट किया। 'लंदन टाइम्स' ने बंगाली नेताओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की और 'मैनचेस्टर गारडियन' ने इस प्रकार लिखा--'बंगाल को दो टुकड़ों में बाँट देने की कर्जन की योजना को समझना कठिन है और उसे क्षमा कर देना और भी कठिन है।' 'द स्टैंडर्ड' का मत था कि 'वास्तविक विरोध को प्रकट करने के लिये यह सही मामला है।' भारतीय समाचार-पत्रों ने और अधिक कटु शब्दों में इस निर्णय की भर्त्सना की। 'स्टेट्समैन' ने सरकार को दोषी ठहराते हुए यह पूछा कि उसने इतने वर्षों तक इस प्रश्न पर विचार तो किया पर इसे अनावश्यक रूप से गुप्त क्यों रखा गया? सरकार ने जिस प्रकार बंगाल के जनमत की उपेक्षा की थी उससे देश में क्षोभ की लहर दौड़ गयी। बंगाल विभाजन से राष्ट्रीय आंदोलन में अचानक तेजी आ गयी और भारतवासियों ने इस जोश से इसका विरोध किया कि जिस निर्णय को कर्जन ने 'दृढ़ सत्य' कहा था उसे छह वर्ष बाद ही बदल दिया गया। कर्जन के जाने के बाद नये भारत मंत्री को ब्रिटेन की पार्लमेंट में स्वीकार करना पड़ा था--'अब तक इससे खराब कोई कार्य नहीं किया गया था जितना संबंधित पक्षों की भावनाओं और विचारों की उपेक्षा करके उस समय किया गया।' वाइसराय की कार्यकारिणी परिषद् के एक सदस्य के अनुसार बंगाल का विभाजन 'अनिष्टकर कृत्य' था।

६. सैनिक सुधार और कर्जन-किचनर विवाद

प्रशासकीय सुधारों के साथ-साथ कर्जन ने सैनिक सुधार की ओर भी ध्यान दिया। सेना में भर्ती के लिये मोपला, गोरखा और पंजाब के निवासियों को अधिक संख्या में चुना जाने लगा। पैदल सेना को पुनः संगठित किया गया और उनकी कुशलता बढ़ाने के लिये उन्हें सुधरी किस्म की बंदूकें दी गयीं। प्रत्येक कंपनी एक भारतीय सैनिक अधिकारी के निरीक्षण में रखी गयी लेकिन परेड करते समय अथवा युद्ध के समय केवल ब्रिटिश अधिकारी ही प्रत्येक सैनिक टुकड़ी का नेतृत्व कर सकते थे। परिवहन सेवा की पद्धति में कई परिवर्तन किये गये। राजघरानों के परिवार के लोगों तथा अन्य सामन्तों के परिवारवालों को मिलाकर १६०१ में एक नये प्रकार का सैनिक दल संगठित किया गया। सामुद्रिक सुरक्षा का उत्तरदायित्व ब्रिटिश जहाजी बेड़ों को सौंप दिया गया।

सैनिक सुधार की दृष्टि से ही कर्जन ने १६०० में सेनापति की नियुक्ति के लिये ऐसे योग्यतम व्यक्ति की नियुक्ति का परामर्श गृह सरकार को दिया जो सैन्य-संगठन को नयी दिशा दे सके। १६०२ में इसी उद्‌देश्य से किचनर को सेनापति के पद पर नियुक्त किया गया। किचनर दक्षिण अफ्रीका के युद्धों में प्रसिद्धि पा चुका था और इससे ब्रिटेन के गिने चुने सैनिक अधिकारियों में उसका नाम था। किचनर की नियुक्ति की घोषणा होने के पूर्व गृह सरकार ने गवर्नर जनरल की राय जान ली थी। कर्जन के शुभचिंतकों ने पहले से ही उसे चेतावनी दी थी कि किचनर बड़े स्वतंत्र विचारों का व्यक्ति था तथा उसने कई बार अपने साथियों और अधिकारियों के लिये कठिनाइयाँ पैदा कर दी थीं। अगर कर्जन चाहता तो वह किचनर की इस पद पर नियुक्ति न होने देता। लेकिन उसे अपने ऊपर इतना अधिक विश्वास था कि वह किसी भी प्रभावशाली व्यक्ति से आशंकित नहीं हो सकता था। किचनर को समझने में कर्जन ने आरंभ से ही भूल की।

१६०४ में कर्जन के सम्मुख सेना के संचालन से संबंधित एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ। अभी तक संवैधानिक स्थिति यह थी कि सेनापति को वाइसराय की कार्यकारिणी समिति के विशेष सदस्य के रूप में नियुक्त किया जा सकता था। लेकिन सेना संबंधी विषयों के लिये सेनापति के अतिरिक्त एक और सदस्य वाइसराय की कार्यकारिणी समिति में था जिसे सैनिक सदस्य का पद मिला हुआ था। यह एक प्रकार की दोहरी व्यवस्था थी जिसके अनुसार सेना से संबंधित मामलों पर अंतिम निर्णय के लिये सेनापति के अतिरिक्त सैनिक सदस्य भी उत्तरदायी था। यह व्यवस्था इस कारण की गयी थी क्योंकि सेनापति अधिकतर कार्यवश दौरे पर ही रहता था और हर समय कलकत्ता अथवा शिमला में उपस्थित नहीं रहता था। परंतु इसके अलावा इस व्यवस्था का एक उद्‌देश्य यह भी था कि वाइसराय सेना संबंधी विषयों में सेनापति के अलावा कार्यकारिणी के इस सदस्य की राय भी ले सकता था। किचनर जब भारत आया तो उसे यह पद्धति कतई पसंद नहीं आयी कि उससे कम योग्यता तथा अनुभव रखने वाला कार्यकारिणी का सैनिक मामलों का सदस्य उसके कार्यों और नीतियों की आलोचना करे। अतः उसने लिखित प्रस्ताव पेश किया कि दोहरी व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाये और सेनापति के अतिरिक्त अलग से एक सदस्य की नियुक्ति न की जाय। कर्जन ने किचनर के प्रस्ताव का विरोध किया। उसका कहना था कि अब तक जो व्यवस्था चलती आ रही थी वही उपयुक्त थी। दोनों अपनी-अपनी बात पर डटे रहे और उनके पत्रों पर गृह सरकार को निर्णय लेना पड़ा। कर्जन को भरोसा था कि गृह सरकार उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई निर्णय नहीं करेगी। पर ब्रिटिश मंत्रिमंडल के कुछ सदस्य यह भी नहीं चाहते थे कि हर स्थिति में वे कर्जन के मत को स्वीकार करते जायँ। अतः दोनों पक्षों के बीच का रास्ता निकाला गया और भारत मंत्री ने चाहा कि वाइसराय और सेनापति दोनों इसे स्वीकार कर लें। सैनिक सदस्य का पद तो बनाये रखा गया पर उसके अधिकारों की व्याख्या पुनः की गयी। उसे सैनिक आपूर्ति सदस्य बना दिया गया। पर संकट अभी भी टला नहीं था क्योंकि शीघ्र ही यह प्रश्न सामने आया कि किस व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त किया जाय। कर्जन ने एडमंड बरो के नाम को प्रस्तावित

किया। लेकिन सेनापति किचनर ने इसका विरोध किया। गृह सरकार कर्जन के रुख से संतुष्ट नहीं थी और उसे यह दिखायी देने लगा था कि कर्जन अथवा किचनर में से एक व्यक्ति ही भारत में रह सकता था। गृह सरकार ने किचनर के पक्ष में निर्णय किया। बरो की नियुक्ति के प्रश्न पर उसने कर्जन से कहा कि वह किसी अन्य व्यक्ति का नाम प्रस्तावित करे। कर्जन के प्रस्ताव को गृह सरकार ने जब रद्द कर दिया तो उसने इसे अपना अपमान समझा। १६०५ में उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया। इस प्रकार कर्जन किसी सिद्धांत के प्रश्न को लेकर नहीं अपितु व्यक्तिगत संघर्ष में पराजित हुआ।

मूल्याँकन

जिन परिस्थितियों में कर्जन को पदत्याग करना पड़ा उससे उसकी प्रतिष्ठा को इतना गहरा धक्का लगा कि वह कभी भी उसे भुला नहीं सका। डॉ० एस० गोपाल का कथन है कि 'ब्रिटिश भारत के इतिहास में असफलता और महत्ता से गिरने के संयोजन का और कोई इतना आश्चर्यजनक उदाहरण नहीं है।' जीवन के अंतिम समय तक कर्जन को इस पराजय का दुःख बना रहा और भारत से लौटने के बाद वह बहुत कुछ बदला हुआ सा था। भारत आने का उसका उद्देश्य था संपूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य में अपनी प्रतिष्ठा और योग्यता की ध ाक जमाना। इस सफलता के भरोसे ब्रिटेन की राजनीति में वह ऐसा चमक सकता था कि वह उच्चतम पदों पर सुशोभित हो जाता। पर भारत के अनुभव से उसका व्यक्तित्व कमजोर हो गया और उसकी आशाओं पर पानी फिर गया।

लेकिन वाइसराय की असफलता का कारण केवल एक आकस्मिक घटना नहीं थी। वास्तविकता यह है कि कर्जन आरंभ से ही ऐसे उद्देश्यों को लेकर चला था कि उसके कार्यकाल की समाप्ति अगर ऐसी दुःखद घटना से हुई तो किसी को अचंभा नहीं हुआ। कर्जन कभी भी युग की माँग को समझ नहीं सका। वह यह भुला देना चाहता था कि उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हो चुकी थी और उसके समय में भारत का शासन उसी प्रकार से नहीं चलाया जा सकता था जैसा पच्चीस अथवा पचास वर्षों पूर्व संभव था। कर्जन ने हमेशा यही ध्यान रखा कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य किस प्रकार से स्थायी बनाया जा सकता था। जब उसने प्रशासनिक सुधारों का बीड़ा उठाया तब भी उसका एकमात्र लक्ष्य यही था कि ब्रिटिश प्रशासनिक तंत्र को इतना मजबूत बना दिया जाये कि वह किसी भी स्थिति में टिका रहे। वाइसराय के पद को कर्जन ने एक निरंकुश सम्राट् के पद के समान समझा। वाइसराय के रूप में वह केवल निरीक्षण करने के अधिकार से ही संतुष्ट नहीं था। उसने लगातार यह कोशिश की कि वह प्रशासन की प्रत्येक गतिविधि को नियंत्रित करे। उदाहरण के लिए यह मामला भी वाइसराय के निर्णय के लिए ही भेजा गया कि चिड़ियाघर जाते समय लोग कैमरा साथ ले जा सकते थे अथवा नहीं। स्वयं कर्जन ने स्वीकार किया कि एक गौरैया के पूँछ हिलाने के कार्य के विषय में भी यही कहा जाता था कि ऐसा तत्कालीन वाइसराय की आज्ञा से किया जा रहा था। असीमित और व्यक्तिगत केन्द्रीयकरण इस सीमा तक पहुँच

गया था कि लोग कर्जन के शासन से ऊबने लगे थे और जब वह विदा हुआ तो उन्होंने चैन की साँस ली।

कर्जन की सरकार राजनीतिक उद्देश्यों से शून्य थी। इस समय तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की शक्ति वहुत कुछ बढ़ चुकी थी तथा देश में राजनीतिक चेतना का विकास हो चुका था। शिक्षित मध्यम वर्ग पहले से अधिक प्रभावशाली और संगठित था। लेकिन वाइसराय ने भारत में हुए इन प्रमुख राजनीतिक परिवर्तनों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। भारतीय जनमत की वह लगातार उपेक्षा करता रहा और यथासंभव उसे दबाने के प्रयत्नों में भी व्यस्त रहा। परिणाम यह हुआ कि कुछ वर्षों के बाद भारतीयों का दृष्टिकोण वाइसराय के प्रति बदलने लगा। इसी समय उसने कुछ ऐसे सुधार भी किये जो भारतीय जनता को पसंद नहीं आ सकते थे। कलकत्ता कारपोरेशन अधिनियम तथा विश्वविद्यालय अधिनियम से उसके प्रति जो विरोध बढ़ा वह बंगाल के विभाजन के समय फूट पड़ा।

यह प्रायः स्वीकार किया गया है कि कर्जन केवल उन्हीं सुधारों को करने में सफल रहा जो प्रशासनिक पद्धति से संबंधित थे पर उसके ऐसे सुधार सफल नहीं हो सके जिनके लिये जन-सहयोग अपेक्षित था। शिक्षा-सुधार और बंगाल विभाजन में उसकी असफलता का यही मुख्य कारण है। कर्जन की जीवनी पर अभी कुछ वर्षों पूर्व डेविड डिलक्स ने जो दो पुस्तकें प्रकाशित की हैं उनमें से दूसरी पुस्तक का उपशीर्षक उसने रखा है 'नैराश्य'। लेखक का मत है कि १९०३ से १९०५ के बीच कर्जन का कार्यकाल व्यक्तिगत जीवन में दुःख और सार्वजनिक जीवन में विफलीकरण का काल था। १८५७ के वाद जो वाइसराय भारत आये थे उनमें से कर्जन ही ऐसा वाइसराय था जिसे दुबारा गवर्नर जनरल के पद पर कार्य करने का अवसर १९०४ में दिया गया था। लेकिन जैसा कि कई बार देखा गया है, उसका दूसरा कार्यकाल निराशाजनक रहा और वह उसे पूरा भी न कर सका।

●●●

इक्कीसवाँ अध्याय

भारतीय राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति

१६४७ तक भारत भौगोलिक दृष्टि से एक होते हुए भी राजनीतिक कारणों से दो भागों में बँटा हुआ था। यह विभाजन सुनियोजित नहीं था, बल्कि ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप अव्यवस्थित था। एक भाग को 'ब्रिटिश भारत' कहा जाता था और दूसरे को, कोई सही नाम न होने की स्थिति में, 'भारतीय भारत' कहा गया था। 'ब्रिटिश भारत' पर अंग्रेजों का शासन था और पहले ईस्ट इंडिया कंपनी की ओर से तथा १८५७ के बाद ब्रिटिश 'क्राउन' की ओर से इसका प्रशासन किया जाता था। दूसरा भाग भारतीय नरेशों के अधीन था। ये नरेश स्वेच्छाचारी शासकों की तरह अपने-अपने राज्यों पर शासन करते रहे। अतः इन दोनों भागों में राजनीतिक संगठन की भिन्नता बनी रही। रघुवीर सिंह ने कहा है कि 'वस्तुतः ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत दो अलग-अलग दुनियाँ थीं।' ब्रिटिश भारत एक राजनीतिक इकाई था। उसमें एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार शासन-सूत्र सँभाले हुए थी। पर भारतीय रियासतें एक राजनीतिक इकाई नहीं थीं। वे भिन्न-भिन्न राजनीतिक सत्ताएँ थीं जिनका प्रशासन एक दूसरे से भिन्न था। ये देशीं रियासतें एक समान नहीं थीं और किसी एक क्षेत्र में न होकर देश के विभिन्न भागों में बिखरी हुई थीं। इनके आस-पास अथवा बीच में सामान्यतया ब्रिटिश सरकार के अधीन भूभाग था। कुछ देशी रियासतें काफी बड़ी थीं लेकिन अधिकतर बहुत छोटी थीं। उदाहरण के लिये जम्मू-कश्मीर और हैदराबाद ऐसी रियासतें थीं जो हजारों वर्ग मील के भूभाग में फैली हुई थीं। लेकिन ऐसी देशी रियासतें भी थीं जिनमें करीब सौ लोग रहते थे। क्षेत्रीय असमानता के कारण उनकी आर्थिक स्थिति में भी असमानताएँ थीं। हमें विचार करना होगा कि किस प्रकार ऐसी स्थिति सामने आयी तथा इन देशी रियासतों के साथ ब्रिटिश सरकार के संबंध किस प्रकार के रहे।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय अथवा देशी राज्यों के प्रति जो नीति अपनायी उसे दो भागों में बाँटा गया है – (१) १७५७ से १८१३ तक और (२) १८१३ से १८५७ तक। पहली कालावधि में कंपनी ने हस्तक्षेप न करने और कम से कम जिम्मेदारी निभाने की नीति का अनुसरण किया और दूसरी अवधि में कंपनी ने 'अधीनस्थ अलगाव' की नीति अपनायी। इन दोनों अवधियों में भी कभी-कभी ऐसे गवर्नर जनरल आये जिन्होंने निर्धारित रास्ते से अलग हटकर स्वतंत्र नीति अपनायी। पहली अवधि में वेलेल्जली और दूसरी अवधि में डलहौजी ऐसे ही गवर्नर जनरल थे।

प्रसिद्ध इतिहासकार ली वारनर ने हर अवधि में अपनायी गयी नीति को जो शीर्षक दिये, सामान्यतया उन्हें ही अपना लिया गया है। यह लेखक कहता है कि कंपनी ने पहली अवधि में 'घेरा डालने की नीति' को अपनाया। आरंभ से यह ध्यान रखना होगा कि देशी राज्यों के प्रति

कंपनी का रुख इस तथ्य पर निर्भर करता था कि देश में कंपनी की शक्ति किस प्रकार की थी। प्रारंभ में कंपनी अन्य प्रमुख भारतीय शक्तियों की बराबरी करने के लिये संघर्ष कर रही थी और उसे अपने अधीनस्थ प्रदेशों की सुरक्षा की चिंता थी। स्वाभाविक था कि उस समय कंपनी ने अन्य राज्यों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपनायी। घेरा डालने की नीति का सबसे अच्छा उदाहरण अवध के साथ अंग्रेजों के संबंध से दिया जा सकता है। बंगाल सूबे को मरहठों के हमलों से बचाने के लिये कंपनी ने अवध का उपयोग घेरे के रूप में किया। कंपनी ने आरंभिक चालीस वर्षों में जो संधियाँ कीं वे राजनीतिक संतुलन बनाये रखने के लिये सुरक्षात्मक तथा आक्रामक संधियाँ थीं। ये संधियाँ 'बराबर' और 'स्वतंत्र' राज्यों के साथ की गयी थीं जिनमें बातचीत का स्वरूप और शर्तें हर पक्ष पर समान ढंग से लागू होती थीं। एक संधि का उदाहरण देना पर्याप्त होगा। अंग्रेजों ने टीपू के विरुद्ध पेशवा और निजाम के साथ जून, १७९० में जो संधि की थी उसमें यह निश्चय किया गया था कि प्रत्येक राजनीतिक शक्ति का एक प्रतिनिधि दूसरे पक्ष की सेना के साथ रहेगा। यह निश्चय किया गया था कि 'आपसी सहमति' से ही युद्ध समाप्त करने का निर्णय किया जायेगा और ऐसा निश्चय करते समय 'प्रत्येक पक्ष के विचारों और सुविधाओं' का ध्यान रखा जायेगा। इस संधि की शर्तों से स्पष्ट है कि तीनों शक्तियों के साथ समानता के आधार पर संबंध स्थापित किये गये थे और दोनों भारतीय राज्यों में से किसी ने भी अंग्रेजों की श्रेष्ठता को उस समय स्वीकार नहीं किया था। ऐसा कोई प्रश्न उस समय उठाया ही नहीं गया था।

लेकिन कुछ ही समय पश्चात् जब हवा का रुख ब्रिटिश सरकार के लिए अनुकूल दिखा तो वेलेल्जली ने अंग्रेजों की श्रेष्ठता का सिक्का जमाने के उद्देश्य से अवध, हैदराबाद, पूना, बड़ौदा आदि देशी राज्यों को सहायक संधि-व्यवस्था के दायरे में लाने के उपाये किये। पर वेलेल्जली के लौटते ही अंग्रेजों ने पुनः हस्तक्षेप न करने की नीति अपनाना शुरू कर दिया।

दूसरी अवधि का आरंभ १८१३ से माना जाता है। इस समय तक देश के शक्ति संतुलन में बहुत बड़ा अंतर आ गया था। अंग्रेजों की शक्ति अब तक बहुत बढ़ गयी थी। उन्होंने अन्य यूरोपीय शक्तियों पर विजय पा ली थी और कंपनी की सेना किसी भी भारतीय शक्ति को दबाने के लिए तैयार खड़ी थी। इस अवधि में कपंनी को किसी भारतीय राज्य से सहायता लेने की जरूरत नहीं थी। लार्ड हेस्टिंग्स ने भारत आते ही इस स्थिति का पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। उसने देशी राज्यों को मजबूर किया कि वे ब्रिटिश सरकार की अधीनता स्वीकार करें। इस गवर्नर जनरल की नीति का दूसरा आधार था प्रत्येक देशी राज्य को एक दूसरे से अलग करना जिससे किसी भी समय ये राज्य अंग्रेजों के विरुद्ध संगठित न हो सकें। ली वारनर ने इस अवधि में अपनायी गयी नीति को 'अधीनस्थ अलगाव' की नीति इसी आधार पर कहा है। हम इसकी नीति की विवेचना पहले ही कर चुके हैं। लार्ड हेस्टिंग्स ने जो संधियाँ कीं उनका उद्देश्य कंपनी की सुरक्षा करना न होकर ब्रिटिश श्रेष्ठता की धाक जमाना था।

उस समय कंपनी ने इस आधार पर कार्य किया कि प्रत्येक देशी नरेश अपने राज्य का प्रशासन स्वतंत्र रूप से चला सकता था। ब्रिटिश सरकार ने किसी राज्य के विषय में तभी रुचि

दिखायी जब उसका निजी स्वार्थ था। ब्रिटिश नीति अस्पष्ट और परस्पर विरोधी थी। कभी कंपनी किसी देशी राज्य के प्रशासन की छोटी से छोटी बात में रुचि लेने लगती थी और कभी राज्यों को प्रशासन चलाने की पूरी छूट दे दी जाती थी। लार्ड हेस्टिंग्स देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के पक्ष में नहीं था। लेकिन विलियम बेंटिक के समय से इन राज्यों को मिला लेने का जो सिलसिला आरंभ हुआ, डलहौजी के समय तक उस प्रणाली के बदले हुए स्वरूप से ऐसा मालूम पड़ने लगा कि छोटे अथवा बड़े सभी राज्यों का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। देशी नरेश आशंकित और आतंकित हो उठे। जनमानस पर भी इसका प्रभाव पड़ा और देशी राज्यों के प्रति नीति १८५७ के विद्रोह का एक मुख्य कारण बनी।

अधीनस्थ सहयोग की नीति (१८५८-१९४७)

ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन को १८५८ में समाप्त कर दिया गया और ब्रिटिश क्राउन ने भारत का शासन करने का उत्तरदायित्व स्वयं सँभाल लिया। इस बड़े संवैधानिक परिवर्तन के कारण, और १८५७ के विद्रोह की समाप्ति के बाद, अंग्रेजों ने देशी रियासतों के प्रति अपनायी गयी नीति पर नये सिरे से विचार किया। शीघ्र ही दिखाई पड़ा कि देशी राज्यों के प्रति नया दृष्टिकोण अपनाया जा रहा था। उस समय जिस नीति का विद्रोह के तुरन्त बाद सूत्रपात किया गया उस नीति को ब्रिटिश सरकार १९४७ तक अपनाये रही। इस नीति को अधीनस्थ एकता अथवा अधीनस्थ सहयोग की नीति कहा गया है जिसके दो रूप दिखायी देते हैं। १८५८ से १९०६ तक ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों को शंका की दृष्टि से देखती थी। इन राज्यों के नरेशों को एक दूसरे से अलग रखा गया। ब्रिटिश सरकार ने इन नरेशों पर नियंत्रण बनाये रखना आवश्यक समझा। पर १९०६ से मिंटो ने देशी नरेशों से संपर्क बढ़ाना शुरू कर दिया तथा राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध करने के लिये इन नरेशों से मिलकर कार्य करने की नीति अपनायी गयी। जब संवैधानिक परिवर्तनों का प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया तो देशी राज्यों के भविष्य का प्रश्न सभी पक्षों के लिए चिंता का विषय बन गया। 'ब्रिटिश भारत' और देशी राजाओं के अधीनस्थ प्रदेशों को मिलाकर देश की एकता की पुनर्स्थापना करने का प्रश्न देश के आजाद होने के समय एक पेचीदा प्रश्न बन गया। अब हम इस नीति की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत कर रहे हैं।

१८५७ के विद्रोह का प्रभाव

नयी परिस्थितियों के फलस्वरूप अधीनस्थ एकता की नयी नीति का सूत्रपात हुआ। सबसे पहले हमें यह विचार करना है कि विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को किस प्रकार प्रभावित किया। विद्रोह के दो प्रभाव स्पष्ट दिखाई दिये। पहला असर यह पड़ा ब्रिटिश सरकार को समझ में आ गया कि देशी राजाओं की भावनाओं की परवाह न करने से देश में कभी भी उसके विरुद्ध विस्फोट फिर हो सकता था। ब्रिटिश सरकार ने अनुभव कर लिया था कि देशी राज्यों की घृणा भी खतरनाक हो सकती थी। दूसरा प्रभाव यह पड़ा कि विद्रोह के दौरान ब्रिटिश सरकार ने देखा कि देशी राजाओं का सहयोग भी विदेशी साम्राज्य को बनाये रखने में कितना मूल्यवान हो सकता था। विद्रोह की अग्नि जब प्रज्ज्वलित हो उठी तो उस कठिन समय में अधिकतर देशी राजाओं ने ब्रिटिश सरकार का साथ दिया था। अंग्रेजों के समान बहुत से नरेश भी विद्रोह के

भड़कने से अचंभित हुए थे और उन्हें शीघ्र ही तय करना था कि वे इस संघर्ष में किस प्रकार की भूमिका निभायें। ब्रिटिश जुए को उतार फेकने का उनके लिए यह एक सुनहरा अवसर था और यदि अधिकांश नरेश अंग्रेजों का विरोध करने का निश्चय कर लेते तो ब्रिटिश सरकार को विद्रोह का मुकाबला करना कठिन हो जाता। पर इन नरेशों ने आरंभ से ही ब्रिटिश सरकार की शक्ति को समझा और सिंधिया, होल्कर, भोपाल के नवाब तथा निजाम आदि नरेशों ने अंग्रेजों का साथ दिया। विद्रोह करने वालों के विरोध में ब्रिटिश सेना के साथ उन्होंने कंधे से कंधा मिलाकर कार्य किया। पंजाव की देशी रियासतों के रुख से अंग्रेजों को बहुत सहायता मिली। अधिकतर यूरोपीय सेना वहीं पर थी और यदि पंजाव की रियासतें विद्रोह का झंडा ऊँचा कर देतीं तो इन सेनाओं को इस विद्रोह को दबाने की कठिन समस्या सामने आ जाती। ब्रिटिश सेना ऐसी स्थिति में दिल्ली की ओर नहीं बढ़ सकती थी। पर पंजाब की सभी प्रमुख देशी रियासतों ने विद्रोह में रुचि नहीं दिखायी और अंग्रेजों का सहयोग देने में वे सबसे आगे बढ़ीं। इससे अंग्रेजों को संकट का सामना करना आसान हो गया और वे दिल्ली पर अधिकार करने में जब सफल हो गये तो १८५७ के विद्रोह में भाग लेने वालों का उत्साह घट गया। इस प्रकार स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के सहयोग के महत्त्व को समझ लिया था। महान संकट की घड़ी में जब एक बार देशी राज्य ब्रिटिश साम्राज्य को बनाये रखने में मदद कर सके तो भविष्य में उनसे और भी अधिक सहायता की आशा ब्रिटिश सरकार ने की। ब्रिटिश साम्राज्य को सुदृढ़ बनाने के लिए देशी राज्यों का सहयोग पाने का निश्चय किया गया। इस कारण अब तक की नीति को बदलना जरूरी हो गया।

डलहौजी की नीति को उलट देने का निश्चय

१८५७ के विद्रोह के समाप्त होते ही डलहौजी की नीति को उलट देने का निश्चय किया गया। यह अनुभव किया गया था कि देशी राज्यों का सहयोग प्राप्त करने के पूर्व उनकी मुख्य शिकायतों को दूर करना आवश्यक था। डलहौजी ने जिस प्रकार की नीति का अनुसरण किया था उससे सभी देशी रियासतों का भविष्य खतरे में पड़ गया था। ये नरेश ऐसा सोचने लगे थे कि जिस प्रकार कुछ प्रमुख राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया गया था उसी रास्ते पर डलहौजी के उत्तराधिकारियों के चलते रहने पर कुछ दशकों में बचे हुए देशी राज्यों का भी सफाया हो सकता था। अतः सबसे पहली आवश्यकता थी इन नरेशों को आश्वस्त करना तथा उनके भय को दूर करना। इसके लिए आश्वासन तो उपयोगी हुए ही पर भविष्य में प्रत्येक गवर्नर जनरल जिस प्रकार निर्धारित मार्ग पर चला उससे भी देशी राज्यों के नरेशों का ब्रिटिश सरकार पर विश्वास बढ़ता गया। उन्हें यह दिखायी दिया कि डलहौजी के समय का खतरा टल गया था। डलहौजी ने खुलेआम प्रत्येक देशी राज्य को हर संभव तरीके से हड़पने की नीति अपनायी थी। परन्तु १८५८ के बाद इस नीति को दृढ़ता से अपनाया गया कि भविष्य में किसी भी देशी राज्य को किसी भी कारण से ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया नहीं जायेगा। इसका देशी राज्यों पर बहुत अच्छा असर पड़ा और वे बड़े उत्साह से ब्रिटिश सरकार की हर आज्ञा मानने को तैयार हो गये।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा

महारानी विक्टोरिया ने एक घोषणा नवम्बर, १८५८ में जारी की। इस घोषणा के द्वारा नरेशों को संतुष्ट करने का भी प्रयास किया गया। साफ-साफ शब्दों में इस घोषणा में कहा गया कि 'हम अपने अधीन वर्तमान सीमाओं का विस्तार करने का कोई इरादा नहीं रखते और हम देशी नरेशों के अधिकारों, प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा का उसी प्रकार सम्मान करेंगे जिस प्रकार हम अपने लिए इन अधिकारों को सम्मान देते हैं।' देशी नरेशों ने इस घोषणा का विशेष रूप से इसलिए स्वागत किया क्योंकि यह नीति गृह सरकार की उस नीति से सर्वथा भिन्न थी जिसको अपनाते समय कुछ दशकों पूर्व कहा गया था कि राज्य-विस्तार करने के प्रत्येक अवसर को छोड़ा नहीं जायेगा और जिसकी दुहाई देकर ही डलहौजी ने राज्य-विस्तार का बीड़ा उठाया था।

कैनिंग द्वारा अधीनस्थ एकता की नीति का सूत्रपात

कैनिंग के समय ही विद्रोह आरंभ हुआ था और इसकी समाप्ति के बाद १८६२ तक वह गवर्नर जनरल पद पर कार्य करता रहा। यह स्वाभाविक ही था कि उसने देशी राज्यों के महत्त्व को समझा। उसका कहना था कि देशी राज्यों के नरेशों को संतुष्ट करके उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य का आधार-स्तम्भ बनाया जाय। गृह सरकार ने भी नयी स्थिति को समझा और गवर्नर जनरल को लिखे गये एक पत्र में भारत मंत्री ने स्वीकार किया कि 'देशी नरेशों को सुरक्षा प्रदान करके ही हम भारत में अपना स्थायी प्रभाव स्थापित कर सकते हैं।' कैनिंग ने देशी नरेशों के सहयोग से ब्रिटिश प्रशासन को चलाने की नीति का आरंभ किया।

कैनिंग के शासनकाल में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठाया गया। गवर्नर जनरल ने यह अनुभव किया था कि देशी राज्यों में उत्तराधिकार के विषय में गहरी चिंता थी और इसी प्रश्न को लेकर बहुत से राज्यों का 'लोप' हो गया था। उसने गोद लेने की प्रथा को स्पष्ट रूप से स्वीकार करके देशी राज्यों के नरेशों को आश्वस्त किया। ब्रिटिश सरकार केवल मौखिक आश्वासन से ही चुप नहीं हुई। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण हिन्दू देशी रियासत के नरेश को लिखित प्रपत्र गवर्नर जनरल की ओर से दिया गया। इनको 'सनद' कहा गया। इन सनदों के द्वारा देशी नरेशों का गोद लेने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया। सनदों के अनुसार भारत में प्रचलित उत्तराधिकार के नियमों और रीति-रिवाजों को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार किया। कैनिंग ने देशी राज्यों के नरेशों को संतुष्ट करने के लिए यह आवश्ययक समझा कि उन्हें उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार दिया जाय और उन्हें विश्वास दिलाया जाय कि भविष्य में इन राज्यों के अस्तित्व को किसी प्रकार का खतरा नहीं था। भारत में उसके इस निर्णय का सभी पक्षों ने स्वागत किया। देशी नरेश अब आश्वस्त हो गये कि उनके देशी राज्य का अस्तित्व बना रहेगा।

सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत का प्रतिपादन

१८५८ से स्पष्ट रूप से ब्रिटिश प्रशासकों ने सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। स्पष्ट शब्दों में यह कहा गया कि समूचे भारत में ब्रिटिश सत्ता ही सर्वोपरि सत्ता थी तथा प्रत्येक देशी राज्य इसके अधीन रहकर ही कार्य कर सकता था। ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के

बीच वास्तविक संबंधों का आधार यही सर्वोपरि सत्ता का सिद्धांत था। १९४७ तक भारत सरकार ने जिस प्रकार के भी संबंध देशी राज्यों के साथ बनाये रखे उसका अध्ययन इसी सिद्धांत के द्वारा किया जा सकता है जिसमें ब्रिटिश सरकार सर्वशक्तिशाली थी और देशी राज्यों को उसके अधीन रहकर ही कार्य करना था। क्योंकि यह एक आधारभूत निर्णय था, इस कारण कोई भी गवर्नर जनरल इस स्थिति को तनिक भी बदलने को तैयार नहीं हुआ। १८५८ के पूर्व तक यह दिखावा बना रहा था कि देशी राज्यों और कंपनी के बीच समानता थी। बहुत से देशी राज्य बराबरी का दावा करते थे तथा अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाये रखने का भी स्वप्न देख रहे थे। विद्रोह के उपरान्त यह बनावटी स्थिति समाप्त कर दी गयी और कैनिंग तथा उसके उत्तराधिकारी गवर्नर जनरलों ने खुले तौर पर ब्रिटिश सत्ता की सर्वोच्चता तथा देशी राज्यों की अधीनता की घोषणा की। देशी राज्यों की स्थिति को इसलिए स्पष्ट कर दिया गया था जिसमें वे किसी भुलावे में न रहें और बदलती हुई स्थिति को अच्छी तरह समझ लें।

सर्वोच्चता के सिद्धांत की कभी भी स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी। १९२९ में बटलर कमेटी की रिपोर्ट में भी केवल यही कहा गया कि 'सर्वोच्च सत्ता को सर्वोपरि बनाये रखना चाहिए।' यह अस्पष्टता ब्रिटिश सरकार के लिए उपयोगी थी क्योंकि वह आवश्यकतानुसार किसी भी कदम को उठाकर यह दावा कर सकती थी कि इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता के उत्तरदायित्व को निभाया जा रहा था। वास्तविकता यह है कि सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत किसी निश्चित मत पर आधारित नहीं था। यह एक व्यावहारिक सिद्धांत था जिसके अनुसार १८५८ से १९४७ तक ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों पर अपना अधिकार और प्रभाव बनाये रखा। १८७७ में जो घोषणा भारत सरकार ने की थी उससे स्थिति कुछ स्पष्ट होती है। इसमें इस प्रकार कहा गया– 'सर्वोच्च सत्ता धीरे-धीरे विकसित हुई तथा यह आंशिक रूप से विजयों पर, आंशिक रूप से संधियों पर और आंशिक रूप से प्रयोगों पर आधारित थी।' दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों पर जो प्रभाव बनाये रखा वह अंग्रेजों की सैनिक शक्ति, संधियों और व्यवहार पर निर्भर करता था।

कैनिंग ने पहली बार ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। उसने १८६२ में इस प्रकार घोषणा की – 'ब्रिटेन का क्राउन समूचे भारत में सर्वोच्च सत्ता है। यह निर्विरोध शासक के रूप में हमारे सामने है और पहली बार अपने सामंतों के सामने है।' इस महत्त्वपूर्ण घोषणा की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध लेखक के.एम. पनिक्कर कहते हैं कि 'सर्वोच्च सत्ता' और 'सामंतों' का प्रयोग करके एक नयी विचारधारा तथा एक नयी योजना का सूत्रपात किया गया। इसी से यह अंदाज लग जाता है कि कंपनी के हाथ से ज़ब 'क्राउन' ने भारत का शासन सँभाल लिया तो देशी राज्यों और ब्रिटिश सरकार के बीच के संबंधों को किस प्रकार बदलने की योजना भी बना ली गयी थी। के.एम. पनिक्कर का कथन है कि 'शांतिपूर्ण ढंग से एक संवैधानिक क्रांति हुई जिससे ब्रिटिश सत्ता भारत में सार्वभौम बन गयी।' इसके लिए कानूनी आधार उस समय तैयार किया गया जब देशी राज्यों को 'सनदें' दी गयीं। इन सनदों को देशी नरेशों को प्रदान करते हुए उनको गोद लेने का अधिकार इस शर्त पर दिया गया कि वे ब्रिटिश 'क्राउन' के प्रति निष्ठावान् रहेंगे। देशी राज्यवंशों को इस आधार पर बनाये रखने का आश्वासन दिया गया था

कि वे ब्रिटिश सर्वोपरि सत्ता को हमेशा स्वीकार करते रहें और उसके अधीन रहकर ही कार्य करें।

ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता का सिद्धांत प्रतिपादित करते समय यह भी कहा गया कि ब्रिटिश 'क्राउन' मुगल सम्राट का उत्तराधिकारी था और उसे वे सब अधिकार संवैधानिक रूप से पूरे भारत में प्राप्त थे जिनका हक मुगल सम्राट को था। १८५८ के पश्चात् मुगल सत्ता को समाप्त करके जब भारत का प्रशासन सीधे ब्रिटेन की महारानी के हाथ में आ गया तो बदलती हुई स्थिति का अंग्रेजों ने लाभ उठाया। गवर्नर जनरलों ने कहा कि कंपनी तो एक संस्था थी जिसके प्रति देशी नरेश पूरी निष्ठा नहीं दिखा सकते थे। पर ब्रिटेन की महारानी एक विशाल साम्राज्य की सर्वेसर्वा थीं और देशी नरेशों की निष्ठा उनके प्रति दस गुना बढ़ गयी थी। बाद में महारानी विक्टोरिया को 'भारत की महारानी' घोषित किया गया और लिटन, कर्जन तथा हार्डिंज के समय में दरबार आयोजित करके देशी नरेशों को व्यक्तिगत ढंग से अपनी वफादारी प्रकट करने के लिये बुलाया गया। देशी नरेशों का संबंध सीधे ब्रिटिश क्राउन के साथ स्थापित हुआ और देशी नरेशों की व्यक्तिगत जिम्मेदारी सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत का आधार बना।

भारतीय राज्यों के प्रति ब्रिटिश नीति (१८५६-१६०६)

एच.एच. डाडवल का कहना है कि 'विद्रोह के बाद के पचास वर्षों पर दृष्टि डालने पर यह साफ जाहिर है कि इस अवधि में देशी राज्यों पर ब्रिटिश सरकार का अंकुश बढ़ता गया।' विद्वान लेखक स्वीकार करता है कि देशी राज्यों के मामलों में ब्रिटिश प्रशासन का 'बढ़ती हुई मात्रा में हस्तक्षेप' इस समय की विशेषता है। १८५८ के बाद देशी राज्यों के प्रति जो नया रुख अपनाया गया तथा सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत पर जिस प्रकार बल दिया गया उसकी चर्चा हम कर चुके हैं। अब हम देशी राज्यों के प्रति ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गयी नीति के विभिन्न पहलुओं पर विचार करेंगे।

१. संधियों की रचनात्मक व्याख्या

१८५७ के विद्रोह के पूर्व समय-समय पर कंपनी ने विभिन्न देशी राज्यों से संधियाँ की थीं। ये संधियाँ एक दूसरे से भिन्न थीं। विभिन्न संधियों में देशी राज्य और ब्रिटिश सरकार के अधिकारों एवं कर्तव्यों की व्याख्या अलग-अलग ढंग से की गयी थी। परिणाम यह हुआ था कि एक पेचीदी स्थिति पैदा हो गयी थी। १८५८ के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने संधियों की न तो कोई नयी व्याख्या दी और न यह समय इन राज्यों के साथ विस्तृत संधियों के लिये उपयुक्त ही था। अतः ब्रिटिश सरकार ने प्रत्येक संधि को स्वीकार कर लिया। यह केवल एक संवैधानिक स्थिति थी जिससे प्रत्येक देशी राज्य आश्वस्त हो गया कि वर्षों पूर्व की गयी संधियाँ यथावत बनी हुई थीं। लेकिन तुरंत ही संधियों की 'रचनात्मक व्याख्या' करने की नीति का अनुसरण करना आरंभ कर दिया गया। इसका अर्थ यह हुआ कि सर्वशक्तिमान् सत्ता होने के नाते ब्रिटिश सरकार ने मनमाने ढंग से संधि की व्याख्या करना आरंभ कर दिया और यदि किसी देशी राज्य के नरेश ने पहले की संधि की याद भी दिलायी तो उसके विरोध को उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया। भारत सरकार की नीति थी सब संधियों को एक साथ मिलाकर पढ़ना। यदि किसी भी

राज्य के साथ की गयी संधि से भारत सरकार को किसी प्रकार का अधिकार मिला था तब उसने उस संधि का अन्य राज्यों के विषय में भी उपयोग किया। इस समय ब्रिटिश सरकार के अधिकारियों ने इस बात की कतई चिंता नहीं की कि संबंधित राज्य के साथ की गयी संधि द्वारा उन्हें यह अधिकार मिला भी था अथवा नहीं। कहने का अर्थ यह है कि भारत सरकार ने देशी राज्यों पर अंकुश लगाते समय संधि की व्यवस्थाओं की जैसी चाही व्याख्या की और देशी नरेश उसके कार्यों के विरुद्ध कोई भी आवाज नहीं उठा सकते थे।

२. 'एक निगरानी' का सिद्धांत

इस अवधि में भारत सरकार ने 'एक निगरानी' के सिद्धांत के अनुसार कार्य किया। इसी कारण ब्रिटिश नीति को अधीनस्थ एकता की नीति कहा गया। कहने को तो भारत दो भागों में विभाजित था जिसमें एक भाग पर सीधे भारत-स्थित ब्रिटिश सरकार शासन करती थी और दूसरा भाग देशी नरेशों के अधीन था। पर यह केवल संवैधानिक स्थिति थी। १८५८ के पश्चात् समूचे भारत को एक करने के लिए भरपूर कोशिश की गयी और इसी से प्रत्येक गवर्नर जनरल ने 'एक निगरानी' के सिद्धांत का अनुसरण किया। प्रशासनिक दृष्टि से तथा आर्थिक प्रगति का निर्णय करते समय भारत सरकार ने पूरे भारत को एक ही माना। रेलवे लाइनों का निर्माण करते समय किसी देशी रियासत को बाधा उपस्थित करने का अधिकार नहीं दिया गया। इसी प्रकार से अन्य संचार-साधनों की व्यवस्था करते समय भी पूरे भारत को एक इकाई भी माना गया। अंग्रेजों द्वारा चलाया गया सिक्का पूरे भारत में व्यापार का आधार बना। कर संबंधी व्यवस्था करते समय भी देशी राज्यों को सहयोग करने को कहा गया। इस प्रकार आर्थिक ढंग से देश एक होता गया। इसी तरह से बौद्धिक ढंग से भी एकता बढ़ाने की कोशिश की गयी। जो विश्वविद्यालय भारत में स्थापित किये गये वे देशी राज्यों के कालेजों को भी उसी प्रकार की सुविधाएँ देने लगे जैसी वे विभिन्न प्रांतों को देते थे। देशी राज्यों ने भी उसी प्रकार की न्याय-व्यवस्था का इंतजाम किया जिस प्रकार की न्याय-व्यवस्था ब्रिटिश-अधीन भारत में की जाती थी। ये कुछ उदाहरण हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि एकता की शक्तियों को बढ़ावा मिला।

३. सीमावर्ती देशी राज्यों के प्रति नीति

सीमावर्ती राज्यों के अतिरिक्त देशी राज्यों की भौगोलिक स्थिति में किसी प्रकार का भी परिवर्तन इस अवधि में नहीं हुआ। सीमावर्ती राज्यों की स्थिति में धीरे-धीरे परिवर्तन आये और भारत सरकार ने सीमाओं पर स्थित राज्यों पर अधिक नियंत्रण लगाये। सबसे प्रमुख उदाहरण कश्मीर का दिया जा सकता है। १८६० में कश्मीर एक स्वतंत्र राज्य था। १८४८ से १८६० तक कश्मीर के महाराजा गुलाब सिंह को ब्रिटिश अधिकारियों ने सीमावर्ती क्षेत्रों पर अधिकार करने के लिये उत्साहित किया था। चितराल, चिलास, हुन्जा और नागर आदि छोटे-छोटे राज्यों पर कश्मीर राज्य ने अधिकार बढ़ाया। लेकिन १८८६ से कश्मीर राज्य पर भारत सरकार ने नियंत्रण बढ़ाना शुरू कर दिया। सबसे पहला कदम यह उठाया गया कि कश्मीर में एक ब्रिटिश रेजीडेंट रखा गया। इसके तीन वर्ष बाद ही १८८९ में कश्मीर के महाराजा प्रतापसिंह को अपदस्थ करके कश्मीर के प्रशासन पर ब्रिटिश प्रभाव को बढ़ाया गया। कश्मीर की सीमा से

लेकर पामीर तक के क्षेत्र पर अंग्रेजों की सैनिक कार्यवाहियाँ बढ़ीं और गिलगिट क्षेत्र में ब्रिटिश अधिकारी सीधे हस्तक्षेप करने लगे। सिक्किम और भूटान पर भी इसी प्रकार नियंत्रण बढ़ाया गया। सिक्किम के क्षेत्र में १८८८ से १८९३ तक गवर्नर जनरल लैंसडाउन के समय में लगातार प्रभाव बढ़ाने के लिये कदम उठाये गये। बलूचिस्तान की सीमा पर स्थित कलात राज्य भी ब्रिटिश हस्तक्षेप का शिकार हुआ। १८९३ में कलात के शासक खुदादाद खाँ को अपदस्थ कर दिया गया और कलात पर प्रभाव जमाने के लिए क्वेटा से सेना भेजी गयी।

४. रेजीडेंटों का बढ़ता हुआ प्रभाव

भारत सरकार देशी राज्यों पर निगरानी रखने के लिए प्रत्येक देशी राज्य में अपना एक प्रतिनिधि ब्रिटिश अधिकारी नियुक्त करती थी जो रेजीडेंट कहलाता था। यह ब्रिटिश अधिकारी राज्य की राजधानी में रहकर उस राज्य में होने वाली प्रत्येक गतिविधि पर नजर रखता था। यही अधिकारी किसी भी देशी राज्य तथा भारत सरकार के बीच की कड़ी था। रेजीडेंटों के द्वारा ही गवर्नर जनरल प्रत्येक देशी राज्य के विषय में जानकारी प्राप्त करता था और इसी की रिपोर्ट के अनुसार किसी प्रकार की कार्यवाही की जाती थी। जैसे-जैसे गवर्नर जनरलों का देशी राज्यों के प्रशासन में हस्तक्षेप बढ़ता गया वैसे-वैसे रेजीडेंट भी शक्तिशाली होते गये। ये रेजीडेंट ही देशी नरेशों के भाग्य का फैसला करते थे। इस कारण कोई भी नरेश इनको अप्रसन्न रखकर सुखी नहीं रह सकता था। के.एम. पनिक्कर ने निजी अनुभव के आधार पर लिखा है कि देशी नरेश रेजीडेंट की 'सलाह' को आज्ञा के रूप में स्वीकार करते थे। यही लेखक आगे लिखता है कि 'रेजीडेंसी में होने वाली फुसफुसाहट राज्य के लिये गरज हो जाती थी।' इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रिटिश रेजीडेंट का प्रभाव देशी राज्य में किस हद तक बढ़ गया था।

५. देशी राज्यों में मंत्रियों की नियुक्ति और उनके हटाये जाने में बढ़ता हुआ ब्रिटिश हस्तक्षेप

यद्यपि केन्द्रीय सरकार की नीति यही थी कि प्रत्येक देशी नरेश को प्रशासन चलाने के लिये मंत्रियों की नियुक्ति करने की पूरी आजादी दी जाय फिर भी इस अवधि में ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता ने कई बार हस्तक्षेप किया। यदि किसी प्रभावशाली मंत्री के संबंध रेजीडेंट अथवा गवर्नर जनरल से अच्छे थे तो उसे देशी नरेश आसानी से नहीं हटा सकता था। एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। जान लारेंस जब गवर्नर जनरल के पद पर कार्य कर रहा था तो हैदराबाद के निजाम और उसके मुख्य मंत्री सालारजंग के बीच मतभेद हो गये। सालारजंग ने त्यागपत्र दे दिया। लेकिन भारत सरकार इस स्थिति में चुपचाप बैठ नहीं सकी। सालारजंग ने १८५७ के विद्रोह के समय जिस प्रकार अंग्रेजों की मदद की थी उससे वे प्रसन्न थे। गवर्नर जनरल ने निजाम को मजबूर किया कि वह इस मंत्री को पदमुक्त न करें। इसी प्रकार अन्य राज्यों में भी ब्रिटिश सरकार ने प्रभावशाली मंत्रियों के साथ संपर्क बनाये रखा। कई बार भारत सरकार ने अपने अधिकारियों को प्रशासन की व्यवस्था करने के लिए इन राज्यों में भेजा। आर.सी. दत्त, अकबर

हैदरी तथा मिर्जा इसमाइल कुछ ऐसे अधिकारी थे जो देशी रियासतों का प्रशासन चलाने के लिए भेजे गये थे और जिन्होंने बड़ी कुशलता से देशी राज्यों का प्रशासन चलाया।

६. दरबारों का आयोजन

लिटन ने दरबार बुलाने की नयी परंपरा आरम्भ की। १८७७ में दिल्ली में एक विशाल दरबार आयोजित किया गया। इस दरबार में यह घोषणा की गयी कि महारानी ने कैसर-ए-हिंद का खिताब ग्रहण किया है। प्रत्येक देशी नरेश को इस दरबार में आकर वाइसराय के सामने सिर झुकाना पड़ा। इसके पश्चात् १९०३ में दूसरा दरबार दिल्ली में बुलाया गया। १९११ में हार्डिंज के समय पुनः एक दरबार बुलाया गया। इन दरबारों में लाखों रुपये खर्च किये जाते थे। इन दरबारों का मुख्य लक्ष्य था ब्रिटिश साम्राज्य के वैभव से देशी नरेशों को प्रभावित करना। यह कहा जाता था कि भारत में इस प्रकार के शान-शौकत के प्रदर्शन का अच्छा प्रभाव पड़ा था। के.एम. पनिक्कर ने यह मत प्रकट किया है कि दरबारों को आयोजित करने का उद्देश्य था 'देशी राज्यों को पूरी तरह से अधीन करना और उन्हें राज्यभक्ति के लिए प्रेरित करना।'

ये दरबार देशी नरेशों पर प्रभाव बढ़ाने के उद्देश्य से बुलाये गये थे। जब १८८४ में डफरिन वाइसराय बना तो उसने इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये एक नयी परंपरा आरम्भ की। वाइसराय स्वयं देशी राज्यों में जाने लगा। इससे इन नरेशों तथा मंत्रियों पर वाइसराय का प्रभाव और अधिक बढ़ा।

७. अल्पवयस्क नरेशों का चयन

ब्रिटिश हस्तक्षेप का सबसे अच्छा मौका उस समय मिलता था जब देशी राज्य का नरेश अल्पवयस्क हो। जब भी भारत सरकार को कभी देशी राज्य के लिये किसी नरेश का चुनाव करना आवश्यक हो जाता था तो उस समय भी राजवंश के ऐसे व्यक्ति का चुनाव किया जाता था जिसकी आयु बहुत कम हो। उदाहरण के लिए मणीपुर राज्य के १८९१ के विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश सरकार ने उत्तराधिकारी के रूप में ऐसे राजकुमार को चुना जिसकी आयु केवल पाँच वर्ष थी और उस राजकुमार को नहीं चुना जो करीब पंद्रह वर्ष का था। कम आयु के शासक के संरक्षण का उत्तरदायित्व ब्रिटिश सरकार स्वयं सँभालती थी और इस अवधि में प्रायः संपूर्ण शासन-व्यवस्था ब्रिटिश अधिकार में रहती थी। कई अन्य ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं जब अल्पवयस्क शासक की ओर से भारत सरकार ने देशी राज्य के प्रशासन पर हावी होने का यत्न किया।

८. देशी राज्यों के आंतरिक प्रशासन में ब्रिटिश हस्तक्षेप

१८५८ के पश्चात् देशी राज्यों का भविष्य सुरक्षित हो गया और उन्हें विलीन होने का खतरा नहीं रहा। लेकिन इस सुरक्षा के साथ-साथ उनकी शक्तियाँ पहले से कहीं अधिक घट गयीं। उन्हें अधिक सिर नीचा करके ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप को सहन करना पड़ा। १८५८ के पूर्व भारत सरकार तटस्थ रहती थी और प्रशासन बिगड़ने की दशा में उस देशी राज्य पर कब्जा कर लेती थी। अब इस नीति को बदला गया। जब देशी राज्यों को बनाये रखने की नीति

का अनुसरण करने का निश्चय किया गया तो उसी समय यह भी तय कर लिया गया था कि देशी राज्यों के आंतरिक प्रशासन में अधिकाधिक हस्तक्षेप किया जाय। आरम्भ से ही देशी नरेशों को बता दिया गया था कि ब्रिटिश सत्ता उनसे अच्छे शासन की आशा करती थी। किसी भी राज्य में स्थिति बिगड़ने के समय ब्रिटिश सत्ता ने खुलेआम हस्तक्षेप करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। कैनिंग ने देशी नरेशों को आगाह करते हुए १८६० में ही कहा था कि भारत सरकार उनसे सुव्यवस्थित शासन की अपेक्षा करती थी। दूसरे वाइसराय लार्ड मेयो ने जोर देकर देशी नरेशों से कहा – 'यदि हम तुम्हारी शक्ति बनाये रखने में तुम्हें मदद करते हैं तो हम इसके बदले में अच्छे प्रशासन की तुमसे आशा भी करते हैं।'

विद्रोह के उपरांत भारत सरकार ने खुलेआम देशी राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप के सिद्धांत पर जोर दिया तथा केन्द्रीय सरकार यह निर्धारित करने के लिये स्वतंत्र थी कि यह हस्तक्षेप किस प्रकार का हो, किस समय इसका निर्णय लिया जाय और इसका वास्तविक स्वरूप क्या हो। सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत का सहज परिणाम यह निकला कि ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगी।

भारत सरकार ने हस्तक्षेप करने के कई माध्यम अपनाये। इनमें से कुछ पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं; जैसे देशी राज्यों में रेजीडेंटों की नियुक्तियाँ और उनको अधिकार देना, दीवानों के चुनाव में आज्ञा जारी करना तथा अल्पवयस्क शासक होने पर राज्य के प्रशासन को चलाने की जिम्मेदारी लेना। इसके अलावा भारत सरकार ने कुछ अन्य तरीकों से भी देशी राज्यों पर अपनी पकड़ को मजबूत किया। यह निश्चय किया गया कि किसी भी देशी राज्य में जब महत्त्वपूर्ण कानून बनाये जायें तो भारत सरकार की पूर्व-अनुमति प्राप्त कर ली जाय। इसी प्रकार न्याय-व्यवस्था को प्रभावित किया गया। हस्तक्षेप करने का एक और तरीका यह था कि सर्वोच्च सत्ता देशी राज्य के प्रशासन के खिलाफ राज्यों की जनता की अपील सुनती थी और प्रार्थनापत्रों पर विचार करती थी।

अब हम आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप की कुछ घटनाओं पर विचार करेंगे। जिस समय मेयो वाइसराय के पद पर आसीन था, अलवर राज्य में भारत सरकार ने हस्तक्षेप किया। १८०३ में अलवर के साथ कंपनी की सरकार ने संधि करके इस राजपूत नरेश को आश्वासन दिया था कि उसके राज्य के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जायेगा। लेकिन १८५८ के बाद संधि की व्यवस्था की जिस प्रकार उपेक्षा की गयी, अलवर उसका एक अच्छा उदाहरण है। अलवर के राजा को १८७० में गवर्नर जनरल ने अपदस्थ कर दिया और राज्य का प्रशासन चलाने के लिये ब्रिटिश सत्ता ने सामंतों की एक समिति का गठन किया। १८६५ में मध्य भारत के राज्य झाबवा के नरेश पर भारत सरकार ने दस हजार रुपये का जुर्माना किया। इस जुर्माने का कारण यह था कि परंपरा के अनुसार यहाँ के नरेश ने एक चोर का अंग-भंग करने की आज्ञा सुना दी थी। १८६७ में टोंक के नवाब को गद्दी से हटा दिया गया और भारत सरकार ने उसके पुत्र को नवाब बनाया। १८६२ में कलात के खान को भी इसी प्रकार गद्दी से हटाया गया था। उसके विरुद्ध यह शिकायत थी कि उसने अपने मंत्री की हत्या करा दी थी। ब्रिटिश

सेनाएँ कलात की राजधानी क्वेटा पहुँचीं और शक्ति के सहारे खान को अपदस्थ करके उसके स्थान पर उसके पुत्र को नवाब बनाया गया।

भारत सरकार ने देशी राज्यों के प्रति जो नीति अपनायी उसको समझने के लिये बड़ौदा राज्य की घटनाओं पर अधिक विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है। बड़ौदा मराठा राज्यों में दूसरा बड़ा राज्य था। इसका क्षेत्रफल सात हजार वर्गमील था और इस राज्य की जनसंख्या लगभग बीस लाख थी। ब्रिटिश सरकार से इस राज्य की संधि १८०२ में हो गयी थी। १८७० में मल्हार राव गायकवाड़ के शासक बनने के दो वर्ष बाद ही उसके संबंध ब्रिटिश रेजीडेंट से बिगड़ने लगे। रावर्ट फेयरे ने महाराज के विरुद्ध कई बार सरकार को लिखा। उसके व्यवहार से मल्हार राव और भी क्षुब्ध हो गया और दोनों के बीच मनमुटाव बढ़ता गया। इस स्थिति को सुधारने के लिये रेजीडेंट को बदल देने का निश्चय ब्रिटिश सरकार ने किया। पर बड़ौदा से जाने के पूर्व फेयरे ने मल्हार राव के पतन के बीज बो दिये और इस प्रकार उस ब्रिटिश अधिकारी ने बड़ौदा के नरेश के लिये कठिनाई पैदा कर दी। रेजीडेंट ने मल्हार राव के विरुद्ध यह शिकायत की कि महाराजा ने उसे जहर देकर मार डालने का षड्यंत्र रचा था। गवर्नर जनरल नार्थब्रुक ने इस शिकायत पर एक असाधारण निर्णय लिया। ब्रिटिश सेना की सहायता से, केवल इस शिकायत के आधार पर, बड़ौदा के नरेश को ही बंदी बना लिया गया। इस तथ्य से ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्रिटिश सरकार देशी नरेशों के साथ किस प्रकार का व्यवहार कर रही थी। पूरे देश में गवर्नर जनरल के इस कार्य की निंदा की गयी। गायकवाड़ को बंदी बनाने का यही अर्थ लगाया गया कि गवर्नर जनरल ने रेजीडेंट की शिकायत पर ही उसके प्रति ऐसी कठोर नीति अपनायी थी। बाद में नार्थब्रुक ने एक अन्य असाधारण कदम उठाया। उसने मल्हार राव के विरुद्ध की गयी शिकायत की जाँच करने के लिये एक कमीशन नियुक्त किया। इस जाँच कमीशन की रिपोर्ट से भी समस्या सुलझी नहीं क्योंकि इसके तीन योरोपीय सदस्यों ने जहाँ एक ओर बड़ौदा के महाराजा को दोषी करार दिया वहाँ दूसरी ओर कमीशन के अन्य तीन भारतीय सदस्यों का मत था कि वह दोषी नहीं था। जाँच कमीशन की रिपोर्ट से गायकवाड़ का अपराध सिद्ध नहीं हुआ था। गवर्नर जनरल ने फिर भी बड़ौदा के नरेश को गद्दी से हटा दिया। उसे अपदस्थ करते समय रेजीडेंट को विष देने की कोशिश की बात नहीं की गयी। भारत सरकार ने कहा कि मल्हार राव को 'उसके कुख्यात आचरण, उसके घोर कुशासन और आवश्यक सुधार करने में उसकी स्पष्ट अयोग्यता' के कारण अपदस्थ किया जा रहा था। मल्हार राव के पूर्ववर्ती नरेश के परिवार के एक बच्चे को बड़ौदा का नया शासक बनाया गया।

भारत सरकार के इस निर्णय की सूचना से देशी नरेश बहुत निराश हुए। केवल रेजीडेंट की शिकायत पर ही बड़ौदा के शासक को बंदी बनाना, जाँच कमीशन बिठाना और अंत में उसे गद्दी से हटाने का निर्णय दुर्भाग्यपूर्ण था। पनिक्कर का कथन है कि गवर्नर जनरल ने 'मनमाने' तरीके से काम किया।

९. देशी राज्यों के उत्तराधिकार के समय ब्रिटिश हस्तक्षेप

ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता ने इस सिद्धांत के अनुसार कार्य किया कि किसी भी राज्य के नरेश

के स्थान पर उसके उत्तराधिकारी का चुनाव करने के उसे हर प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। जब तक भारत सरकार स्वीकार न कर ले, किसी भी राज्य के उत्तराधिकारी की सत्ता वैध नहीं मानी जाती थी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि भारत सरकार की इच्छा के खिलाफ कोई भी उत्तराधिकारी देशी राज्य का शासक नहीं बन सकता था। कई ऐसे भी अवसर आये जब भारत सरकार ने उस राजकुमार को उत्तराधिकारी नहीं माना जिसे गद्दी पर बैठने का सबसे अधिक हक था और उसके स्थान पर किसी दूसरे व्यक्ति को चुना गया।

उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार करते समय हम मणीपुर की १८९०-९१ की घटनाओं की विवेचना करेंगे। ली वारनर ने ब्रिटिश सत्ता और देशी राज्यों के बीच के संबंधों में मणीपुर को एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना है।

१८८६ में सूर्यचंद्र मणीपुर का महाराजा बना। वह एक कमजोर शासक था। उसने अपने आठ छोटे भाइयों को प्रशासन के विभिन्न कार्य सौंप दिये थे। इससे स्थिति और भी पेचीदी हो गयी और महाराजा के कुछ छोटे भाइयों ने उसके विरुद्ध षड्यंत्र की योजना बना ली। सितंबर, १८९० में अचानक एक रात को महाराजा के महल के निकट जैसे ही कुछ गोलियों के चलने की आवाज हुई तो महाराजा तुरंत ही महल से भाग निकला और उसने कुछ दूरी पर स्थित रेजीडेंसी में जाकर शरण ली। महाराजा की इस कायरता से उसके भाग्य का फैसला हो गया। ब्रिटिश रेजीडेंट ने भी उसकी किसी प्रकार की मदद नहीं की। मणीपुर से जब महाराजा सूर्यचंद्र कलकत्ता पहुँचा तो उसने गवर्नर जनरल से अपील की और माँग की कि उसे एक बार फिर मणीपुर का शासक बनाया जाय। गवर्नर जनरल ने जब स्थानीय अधिकारियों से पूछताछ की तो उसे पता चला कि मणीपुर से चलने के पूर्व सूर्यचंद्र सिंह अपने पद को छोड़कर आया था। उसके जाने के बाद उसका छोटा भाई गद्दी पर बैठ गया था। स्थानीय अधिकारी चाहते थे कि भारत सरकार सूर्यचंद्र सिंह के छोटे भाई को मणीपुर का नया शासक स्वीकार कर ले। इस बीच छह महीने बीत चुके थे। मणीपुर में शांति थी। अतः स्थानीय अधिकारी यथास्थिति को स्वीकार करने के पक्ष में थे। लेकिन गवर्नर जनरल लैंसडाउन को यह राय पसंद नहीं आयी क्योंकि वह ऐसी किसी व्यवस्था को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं था जिसमें भारत सरकार का प्रभाव घटता हुआ दिखायी दे। मणीपुर पूर्वीय सीमा पर स्थित एक महत्त्वपूर्ण राज्य था। तीसरे बर्मा युद्ध के बाद इसका महत्त्व और भी बढ़ गया था।

इस परिस्थिति में मणीपुर पर ब्रिटिश प्रभाव की पुनर्स्थापना की दृष्टि से गवर्नर जनरल ने उत्तराधिकार के प्रश्न पर कुछ अजीब सा निर्णय लिया। उसने देख लिया था कि सूर्यचंद्र सिंह को पुनः गद्दी पर बिठाना कठिन था। अतः उसे मदद न करने का निश्चय किया गया। भारत सरकार ने सूर्यचंद्र सिंह के छोटे भाई को मणीपुर के महाराजा का पद देना भी स्वीकार कर लिया। वह पहले से ही गद्दी पर आसीन था और ब्रिटिश सत्ता ने उसके अधिकार को स्वीकार कर लिया। लेकिन इस स्वीकृति के साथ-साथ भारत सरकार ने जो शर्त लगायी उससे उत्तराधिकार का प्रश्न बहुत पेचीदा हो गया। गवर्नर जनरल को सूचना मिली थी कि मणीपुर के तत्कालीन शासक कुलचंद्र सिंह के छोटे भाई टीकेंद्रजीत सिंह ने मणीपुर में हुई क्रांति में प्रमुख भूमिका अदा की थी। अतः यह तय किया गया कि जब कुलचंद्र सिंह को महाराजा के पद के

लिए स्वीकृति प्रदान की जाय तो टीकेंद्रजीत सिंह को वंदी वनाकर मणीपुर से लाकर ब्रिटिश क्षेत्र में रखा जाय। मणीपुर का चीफ कमिश्नर ब्रिटिश सेना के साथ मार्च, १८९१ में मणीपुर पहुँचा। यह एक असाधारण घटना थी क्योंकि भारत सरकार के इस उच्च अधिकारी के आगमन से सभी लोगों को आशंका हुई। तरह-तरह की खबरें फैलने लगीं और महाराजा तथा उसके भाई भी चौकन्ने हो गये। टीकेंद्रजीत सिंह को अंग्रेजों के इरादे अच्छे नहीं जान पड़े। वह हर प्रकार से सचेत था। जब ब्रिटिश सैनिकों ने उसे बंदी बनाने के लिए उसके महल पर आक्रमण किया तो टीकेंद्रजीत सिंह के सैनिकों ने डटकर मुकावला किया। ब्रिटिश सेना के पैर उखड़ने लगे और उन्होंने पीछे हटकर रेजीडेंसी में मोर्चा सँभाला। यहाँ पर भी मुठभेड़ चलती रही। जव ब्रिटिश अधिकारियों ने देखा कि वे मणीपुरी सेना का मुकाबला नहीं कर सकेंगे तो उन्होंने संधि करने का प्रस्ताव किया। चीफ कमिश्नर, ब्रिटिश रेजीडेंट तथा कुछ अन्य अधिकारी दूसरे दिन मणीपुर किले में बातचीत करने को आये। यहीं पर एक दुःखद घटना घटी। मणीपुर में एकत्रित भीड़ ने अचानक अंग्रेज अधिकारियों पर हमला कर दिया और वे सब अधिकारी मार डाले गये।

जब गवर्नर जनरल को मणीपुर की घटनाओं का समाचार मिला तो वह भौचक्का रह गया। एक बार फिर ब्रिटिश सेना मणीपुर भेजी गयी। इस सेना ने मणीपुर के निवासियों पर तरह-तरह के अत्याचार किये। टीकेंद्रजीत सिंह और मणीपुर के शासक कुलचंद्र सिंह तथा अधिकारियों को वंदी वनाया गया। कुछ समय बाद उन पर अंग्रेज अधिकारियों की हत्या करने का अभियोग लगाया गया। टीकेंद्रजीत सिंह को तथा उसके कुछ साथियों को मणीपुर में फाँसी दे दी गयी। मणीपुर के शासक कुलचंद्र सिंह तथा उसके कुछ छोटे भाईयों को आजन्म कारावास का दंड सुनाया गया।

ब्रिटिश सत्ता ने जिस प्रकार मणीपुर के उत्तराधिकार के प्रश्न को इतना पेचीदा बना दिया उसी का यह नतीजा हुआ कि मणीपुर के शासक और उसके भाइयों को हथियार उठाने पड़े थे। १८५८ के पश्चात् किसी भी देशी राज्य ने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध इस प्रकार का संगठित विरोध नहीं किया था जैसा मणीपुर में हुआ। भारत के स्वतंत्र होने के बाद संसद भवन में वीर टीकेंद्रजीत सिंह का चित्र लगाया गया है। मणीपुर के निवासी आज भी उस संघर्ष के दिन को आजादी के संघर्ष की वर्षगाँठ के रूप में याद करते हैं।

अधीनस्थ सहयोग की नीति (१९०६-१९४७)

कर्जन के कार्यकाल की समाप्ति के पश्चात् देशी राज्यों के प्रति भारत सरकार की नीति वदली। इसका मुख्य कारण यह था कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ रहा था। भारतवासी ब्रिटिश सत्ता को चुनौती दे रहे थे। यह सवाल पूछा जाने लगा था कि अंग्रेजों को भारत पर शासन करने का क्या अधिकार है। जब अंग्रेजों का सिंहासन हिलने लगा तो उन्हें एक बार फिर देशी नरेशों की याद आयी। अपनी सत्ता को सँभालने के लिए ब्रिटिश सत्ता को सहयोगियों की और मदद देने वालों की जरूरत पड़ी। अतः १९०६ के बाद देशी नरेशों के प्रति 'अधीनस्थ सहयोग' की नीति अपनायी गयी। अब जबरदस्ती करने से काम नहीं चल सकता था। अतः मित्रता और सहयोग प्राप्त करने की नीति अपनायी गयी। हमें यह देखना होगा कि इस ओर किस प्रकार के प्रयास किये गये।

यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि देशी नरेशों का रुख भी बदल रहा था। उन्होंने देख लिया था कि भारत सरकार ने देशी राज्यों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की नीति छोड़ दी थी। पर इसके साथ-साथ सर्वोच्च सत्ता की शक्ति जिस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ी थी। उससे देशी नरेशों को चिंता हो रही थी और उन्होंने सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत का विरोध करने का विचार किया। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशक में देशी राज्यों और भारत सरकार के बीच सम्बन्धों में परिवर्तन होना आवश्यक हो गया।

मिंटो और हार्डिंज द्वारा ब्रिटिश नीति में संशोधन करना

कर्जन के शासनकाल की 'तूफानी उत्तेजना' के बाद जब लार्ड मिंटो ने वाइसराय के पद पर १९०५ से १९११ तक कार्य किया तो देशी राज्यों पर 'दवाव कम करने की नीति' अपनायी गयी। मिंटो ने इस आधार पर कार्य किया कि देशी राज्यों के प्रति किसी नीति को अपनाने के पहले देशी नरेशों से संपर्क करना आवश्यक था। अभी भी देशी राज्यों के साथ संपर्क करने का अर्थ था देशी नरेशों से संबंध स्थापित करना। वह विभिन्न देशी राज्यों में गया और उसने नरेश से साफ-साफ बातचीत की, उनके विचारों को उसने ध्यान से सुना और उनके पक्ष को समझने की उसने कोशिश की। कर्जन और उसके समय के अधिकारियों ने केवल अपने पक्ष की ही चिंता की थी। उसके समय में देशी नरेशों को आदेश दिये जाते थे और उनसे कहा जाता था कि वे पूर्ण निष्ठा से इनका पालन करें। मिंटो ने आज्ञा जारी करने के बजाय देशी नरेशों के सहयोग से कार्य करने का निश्चय किया। मित्रतापूर्ण संबंधों की ओर कोशिश की गयी।

मिंटो ने १९०९ में उदयपुर में जो भाषण दिया उसमें उसने अपनी नीति को स्पष्ट किया। इस भाषण में गवर्नर जनरल ने ब्रिटिश नीति के दो पक्षों की ओर विशेष ध्यान दिलाया। उसने कहा कि, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, साधारणतया ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के विषय में अहस्तक्षेप की नीति अपनायेगी। दूसरे, उसने याद दिलाया कि ब्रिटिश सरकार और देशी राज्यों के हित समान हैं। एक बार फिर देशी राज्यों का सहयोग प्राप्त करने के लिये समान हितों की बात कहकर ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों को अपनी ओर खींचने का निश्चय दुहराया। मिंटो की नीति देशी नरेशों पर विश्वास करने की नीति थी। कर्जन के उत्तराधिकारी ने जिस ढंग से देशी नरेशों से बातचीत की उसका अच्छा असर पड़ा।

मिंटो के उत्तराधिकारी लार्ड हार्डिंज ने उसकी नीति को और आगे बढ़ाया। हार्डिंज ने समान प्रश्नों पर विचार करने के लिये देशी नरेशों की सभा बुलायी। गवर्नर जनरल ने देशी नरेशों को आपस में मिलने की सलाह दी जिससे वे देशी राज्यों की समस्याओं पर तथा देश के सम्मुख समस्याओं पर मत व्यक्त कर सके। वह किसी भी देशी नरेश से अथवा कई नरेशों से मिलने को हमेशा तैयार रहता था। इसके फलस्वरूप देशी राज्यों के बीच संबंध बढ़े। देशी नरेश केवल अपने राज्य के बारे में ही नहीं अपितु समूचे देश के हित में सोच-विचार करने लगे। आगे चलकर यह तरीका और भी लोकप्रिय हुआ।

जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया तो देशी राज्यों ने तन, मन और धन से ब्रिटिश सरकार की मदद की और एक बार फिर यह दिखाया कि वे ब्रिटिश साम्राज्य के प्रबल हिमायती थे।

किस हद तक देशी नरेशों का प्रभाव बढ़ा था, यह इसी तथ्य से दिखायी दिया कि ब्रिटिश सैन्य मंत्रिमंडल और सभा में पहले बीकानेर के महाराजा गंगा सिंह को और बाद में पटियाला के महाराजा को शामिल किया गया। जिस प्रकार युद्ध के समय और अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में इन नरेशो को शामिल किया गया उससे यह जाहिर होने लगा कि भारत की समस्याओं पर वे भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते थे।

मौंटफोर्ड रिपोर्ट के प्रस्ताव

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद जब संवैधानिक प्रश्नों पर विचार किया गया तो स्वाभाविक ही था कि देशी राज्यों के प्रति नये सिरे से विचार हो। मिंटो के समय से ब्रिटिश सरकार देशी राज्यों के प्रति नया रुख अपना रही थी। अब देशी नरेशों का विश्वास जीतने के अन्य तरीकों पर भी विचार किया गया। फलतः मौंटफोर्ड रिपोर्ट द्वारा कुछ नयी नीतियों का प्रस्ताव किया गया। इस रिपोर्ट के द्वारा यह कोशिश की गयी कि देशी नरेशों की कठिनाइयों को दूर किया जाय और उन्हें देश के राजनीतिक और आर्थिक मामलों में अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने का अवसर प्रदान किया जाय। इस रिपोर्ट में स्वीकार किया गया कि जिस प्रकार की नीति पिछले कुछ दशकों में भारत सरकार ने अपनायी थी उस पर पुनर्विचार करना चाहिए। रिपोर्ट में स्वीकार किया गया कि जिस तरह से भारत सरकार के राजनीतिक विभाग ने सभी राज्यों के प्रति एक प्रकार की नीति अपनायी थी वह न्यायसंगत नहीं थी। रिपोर्ट में कहा गया कि छोटे देशी राज्यों के प्रति जो रुख उचित हो सकता था वही रुख बड़े राज्यों के प्रति अपनाने का तरीका सही नहीं था। इसमें सिफारिश की गयी कि भारत सरकार अपनी उस नीति को बदले जिसमें वह देशी राज्यों पर दोष भी लगाती थी और खुद उन्हीं पर न्याय करने का एकाधिकार भी ग्रहण कर लेती थी।

देशी नरेशों के मंडल की स्थापना

एक लंबे अर्से से भारत सरकार की यह आधारभूत नीति थी कि देशी नरेशों को एक दूसरे से अलग रखा जाय। इन देशी नरेशों को आपस में मिलने नहीं दिया जाता था। यदि विवाह के अवसर पर भी एक देशी नरेश दूसरे से मिलना चाहता था तो उसे भारत सरकार से अनुमति लेनी पड़ती थी। मौंटफोर्ड रिपोर्ट के बाद इस नीति को छोड़ दिया गया। अब पहली बार यह स्वीकार किया गया कि देशी नरेशों के आपसी संबंधों से किसी प्रकार का खतरा नहीं था। केवल इतना ही नहीं, इस ओर अन्य बड़ा कदम भी उठाया गया। भारत सरकार ने देशी नरेशों के एक मंडल की स्थापना करने का निश्चय किया। इसे 'चेंबर ऑव् प्रिंसेज' कहा गया। इसका उद्घाटन १९२१ में किया गया।

देशी नरेशों के इस मंडल की स्थापना से भारत सरकार और देशी राज्यों के बीच एक नया अध्याय शुरू हुआ। यह मंडल एक ऐसा संगठन था जो समान विषयों पर विचार करता था तथा समय-समय पर भारत सरकार को सलाह देता था। इसकी स्थापना से दो उल्लेखनीय सिद्धांत स्वीकार कर लिये गये – १. देशी नरेश मिलकर उन सभी प्रश्नों पर विचार कर सकते

थे जिनका प्रभाव उनके राज्यों पर पड़ता था और २. देशी नरेशों को यह अधिकार मिल गया कि वे ऐसे सभी विषयों पर मत दे सकते थे जिनका असर सारे देश पर पड़ता हो। इस मंडल की स्थापना से देशी नरेश संगठित होने लगे और देश की राजनीतिक तथा आर्थिक समस्याओं को प्रभावित करने लगे। इस मंडल का सम्मेलन साधारणतया वर्ष में एक बार होता था। वाइसराय या तो स्वयं इसकी अध्यक्षता करता था अथवा ऐसा कोई नरेश अध्यक्ष बनता था जिसे देशी नरेश चुनते थे। देशी नरेशों के इस मंडल में १२० सदस्य थे और इसकी कार्य-विधि पहले से ही निर्धारित कर दी गयी थी।

बटलर कमेटी की रिपोर्ट

देशी नरेशों के मन में भारत सरकार की हस्तक्षेप की नीति के प्रति असंतोष था। उनका दावा यह था कि वे स्वतंत्र थे और उन्होंने केवल वैदेशिक मामलों में तथा कुछ विशेष स्थितियों में भारत सरकार के प्रभाव को स्वीकार किया था। जब वे संगठित हुए तो एक बार फिर उन्होंने देशी राज्यों की स्वतंत्रता की आवाज बुलंद की। देशी नरेशों को सर्वोच्च सत्ता का ब्रिटिश सिद्धांत कतई पसंद नहीं था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद उन्होंने पुनः स्वतंत्रता की माँग दुहरायी। भारत सरकार ने देशी नरेशों की इस माँग को स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया। गवर्नर जनरल रीडिंग ने मार्च, १९२६ में हैदराबाद के निजाम को लिखे पत्र में साफ-साफ कह दिया कि भारत में ब्रिटिश सत्ता सर्वोच्च थी और किसी भी देशी नरेश को बराबरी का दावा नहीं करना चाहिए।

निजाम को लिखे गये इस पत्र से पुनः यह प्रश्न देशी नरेशों के सामने आया कि भारत सरकार से उनके राजनीतिक संबंध किस प्रकार के थे। उन्होंने यह माँग की कि स्थिति को स्पष्ट किया जाय। अंततः भारत सरकार ने बटलर कमेटी की नियुक्ति १९२७ में की। इस कमेटी का मुख्य कार्य था देशी राज्यों के साथ भारत सरकार के संबंधों पर विचार करना। देशी नरेशों ने प्रसिद्ध वकीलों को ब्रिटेन से बुलाकर कमेटी के सम्मुख अपने पक्ष को प्रस्तुत किया। उनका मुख्य तर्क यही था कि सर्वोच्च सत्ताधारी शक्ति के अधिकार सीमित थे। यह कहा गया कि भारत सरकार को देशी राज्यों के आंतरिक मामलों में हर प्रकार से हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। लेकिन इस लंबी दलील से देशी नरेशों को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। बटलर कमेटी ने सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत की फिर से व्याख्या करते हुए भारत सरकार को देशी राज्यों के प्रति हर प्रकार के अधिकार स्वीकार किये। बटलर कमेटी ने कहा कि सर्वोच्च सत्ता के सिद्धांत को अपने ढंग से स्पष्ट करने का भारत सरकार को पूरा अधिकार था। इस कानूनी बहस से देशी नरेशों को एक ही लाभ पहुँचा। उनका यह तर्क कमेटी ने स्वीकार कर लिया कि देशी नरेश ब्रिटिश क्राउन के प्रति उत्तरदायी थे और वे इसके अलावा किसी अन्य के प्रति वफादार नहीं हो सकते थे। ब्रिटिश क्राउन और देशी नरेशों के बीच सीधे संबंध स्वीकार किये गये।

भारत में संघीय व्यवस्था १९३० में लंदन में हुए गोलमेज सम्मेलन में देशी नरेशों के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन में विशेष रूप से देश की भावी संवैधानिक व्यवस्था के विषय में विचार हुआ। जब यह प्रस्ताव किया गया कि भारत में संघीय प्रशासन लागू किया जाय तो सभी पक्षों की ओर से इसका स्वागत किया गया। देशी नरेशों को इस सम्मेलन में अपना

रवैया स्पष्ट करने को कहा गया। उन्होंने भी भारतीय संघ में शामिल होने की इच्छा व्यक्त की। पर आरंभ से ही देशी नरेश अपने-अपने राज्यों के अस्तित्व को बनाये रखना चाहते थे। बीकानेर के महाराजा ने स्वीकार किया कि संघ की स्थापना के पक्ष में प्रायः सभी भारतवासी थे। इसी प्रकार भोपाल के नवाब ने भी कहा कि देशी नरेश संघ में शामिल होने को तैयार थे।

१९३५ के ऐक्ट में पहली बार हमारे देश में संघ को स्थापित करने की व्यवस्था की गयी। केन्द्र के दोनों सदनों में ब्रिटिश-अधीन भारत के प्रतिनिधियों के अलावा देशी राज्यों के प्रतिनिधियों की सीटें निर्धारित कर दी गयीं। यह भी तय किया गया कि देशी राज्यों के प्रतिनिधि नरेशों द्वारा मनोनीत किये जायेंगे। सभी प्रांतों को संघ में शामिल होना जरूरी था। लेकिन देशी राज्यों को यह अधिकार दिया कि वे अपनी इच्छा के अनुसार प्रस्तावित संघ में शामिल होने का निर्णय कर सकते थे। उन्हें शामिल होने अथवा न होने की छूट दे दी गयी। स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार देशी नरेशों को संतुष्ट करना चाहती थी। इसी कारण उसने इन नरेशों को इस प्रकार का अधिकार दिया। १९३५ की संघीय व्यवस्था केवल कागज में ही बनी रही। इस व्यवस्था को लागू नहीं किया गया। इससे संघीय व्यवस्था की स्थापना की ओर अधिक प्रगति नहीं हुई। जब द्वितीय विश्वयुद्ध १९३९ में आरंभ हो गया तो ऐसी स्थिति में ब्रिटिश सरकार में संघीय सरकार की योजना को स्थगित कर दिया।

भारतीय राज्यों का विलय

द्वितीय महायुद्ध के दौरान भारत के भावी संविधान के बारे में विचार का क्रम चलता रहा। जब १९४२ में क्रिप्स मिशन भारत आया तो उसने देशी राज्यों के भविष्य पर भी प्रस्ताव पेश किये। अंग्रेजों ने इस समय से नयी चाल चलना शुरू कर दिया। उनका कहना था कि वे किसी भी देशी राज्य को भारतीय संघ में शामिल होने के लिये मजबूर नहीं करेंगे। देशी नरेशों का भी रवैया बदलने लगा और कई नरेशों ने क्रिप्स मिशन से माँग की कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें किसी भी संघीय सरकार से अलग रहने का अधिकार दिया जाय। इसी समय से देशी नरेश अपने भविष्य के बारे में चिंतित हो उठे। उनके सामने मुख्य प्रश्न यही था किसी भी तरह की नयी संवैधानिक योजना में उनकी स्थिति किस प्रकार की होगी।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् १९४६ में कैबिनेट मिशन भारत आया। इस मिशन ने देश के भावी संविधान के विषय में सभी पक्षों से बातचीत की। एक बार फिर भोपाल के नवाब ने अधिक से अधिक प्रभुसत्तात्मक अधिकारों की माँग की। लेकिन अभी भी अनिश्चित स्थिति बनी रही।

१९४७ में जब देश आजाद हुआ तो देशी राज्यों का प्रश्न एक बहुत ही पेचीदा प्रश्न बनकर केन्द्र सरकार के सम्मुख आया। इसका कारण यह था कि ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम पारित करके देशी राज्यों पर ब्रिटिश 'क्राउन' की सर्वोच्च सत्ता को समाप्त कर दिया। देशी राज्यों और ब्रिटिश 'क्राउन' के बीच की सभी संधियों को भी समाप्त कर दिया गया। इस अधिनियम का अर्थ यह हुआ कि अचानक १९४७ में सभी देशी राज्य स्वतंत्र हो गये। नवगठित कांग्रेस सरकार को देशी राज्यों के संबंध में भारत में ब्रिटिश सरकार का

उत्तराधिकारी नहीं माना गया। अतः कांग्रेस सरकार को तुरंत देशी राज्यों के भविष्य के बारे में कोई निश्चित नीति अपनाना परम आवश्यक हो गया। संवैधानिक स्थिति से कुछ देशी राज्यों के हौसले बढ़े और ट्रावनकोर, कोचीन, भोपाल, जूनागढ़ आदि कुछ राज्यों ने अपनी स्वतंत्र सत्ता की घोषणा भी कर दी। लेकिन जवाहरलाल नेहरू और वल्लभभाई पटेल ने दृढ़ता से इस स्थिति का सामना किया। नेहरू ने साफ शब्दों में कहा कि वे किसी भी देशी राज्य की स्वतंत्रता स्वीकार नहीं करेंगे। पटेल तथा उनके प्रतिनिधि विभिन्न देशी राज्यों में गये और देशी नरेशों को यह समझाया गया कि भारत में विलय होना उनके तथा उन राज्यों की जनता के हित में था। धीरे-धीरे एक के बाद दूसरे देशी नरेशों ने भारत संघ में विलय होना स्वीकार कर लिया। कुछ वर्षों के अथक परिश्रम के बाद भारतीय सीमा की सभी देशी रियासतें भारतीय संघ में शामिल हो गयीं और उन्होंने अनुभव कर लिया कि उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं रह सकती थी। देश की एकता की स्थापना के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण कार्य था जिसमें सभी पक्षों ने सहयोग दिया।

●●●

बाइसवाँ अध्याय

प्रशासनिक परिवर्तन और संवैधानिक विकास (१८५८-१९४७)

१८५७ के विद्रोह के उपरांत प्रशासनिक परिवर्तनों का एक लम्बा दौर चला। अनेक स्तरों पर प्रशासनिक स्वरूप में फेरबदल किया गया। इसके साथ-साथ सवैधानिक परिवर्तनों पर भी ध्यान दिया गया। इस दिशा में अनेक अधिनियम ब्रिटिश संसद द्वारा पास किये गये। इनका विस्तृत वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। इनके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जायगा कि इन उपायों से भारतीयों को संतुष्ट नहीं किया जा सका। ये अपर्याप्त साबित हुए।

१८५७ की घटनाओं से ब्रिटेन में सभी पक्षों ने कंपनी का शासन समाप्त करने के लिए कमर कस ली। भारत में हुए विद्रोह के उपरांत संवैधानिक परिवर्तन की माँग को टाला नहीं जा सका। ब्रिटेन के प्रधान मंत्री ने १२ फरवरी, १८५८ को ब्रिटिश संसद में एक विधेयक पेश करके कंपनी के शासन का अंत करने का प्रस्ताव रखा। पामर्स्टन ने इस अवसर पर कहा कि कंपनी के शासन में कुछ ऐसे दोष थे जिनको अधिक समय तक सहन नहीं किया जा सकता था। उसने मत-व्यक्त किया कि कंपनी के शासन का एक प्रमुख दोष यह था कि वह किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। यह तरीका ब्रिटिश संवैधानिक व्यवस्था के अनुकूल नहीं था। १८५८ में पारित अधिनियम के द्वारा भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर सीधे ब्रिटिश सरकार द्वारा नियंत्रण किया जाने लगा।

इस प्रकार भारत के संवैधानिक इतिहास में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ। एक युग समाप्त हो गया और दूसरे युग का सूत्रपात हुआ। भारतीय प्रशासन सीधे ब्रिटिश क्राउन के हाथों में सौंप दिया गया जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने संचालन का उत्तरदायित्व सँभाला। लेकिन यहाँ यह कहना भी आवश्यक है कि भारत में अंग्रेजी राज्य की व्यवस्था में अचानक किसी प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुए। लगभग सब कुछ पहले की तरह चलता रहा। प्रमुख परिवर्तन ब्रिटेन में हुए जिसका विवरण दिया जा रहा है। जब ब्रिटेन में सत्ताधारी बदले तो उन्होंने भारत के प्रशासन को भी प्रभावित करना शुरू कर दिया। किंतु यह सब धीरे-धीरे हुआ।

१८५८ का अधिनियम

ब्रिटिश संसद ने अगस्त, १८५८ में एक अधिनियम पारित किया। यद्यपि इसका शीर्षक था 'भारत में अच्छी सरकार के लिए एक अधिनियम' तो भी इस अधिनियम द्वारा जो परिवर्तन हुए उनका संबंध ब्रिटेन-स्थित उस व्यवस्था से था जो भारत सरकार का नियंत्रण करती थी। चूँकि अंग्रेज हमेशा ब्रिटेन को ही अपना घर मानते रहे इस कारण वे ब्रिटेन स्थित नियंत्रण

करनेवाली सरकार को गृह सरकार कहकर पुकारते थे। धीरे-धीरे यही शब्द प्रचलित हो गया और ब्रिटेन से भारत पर नियंत्रण करने वाले सभी अधिकारियों और संस्थाओं को गृह सरकार कहा जाने लगा। १६४७ तक गृह सरकार शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में प्रचलित रहा।

अब हम उन प्रमुख परिवर्तनों पर विचार करेंगे जो इस अधिनियम के द्वारा गृह सरकार के संगठन में किये गये। पहले परिवर्तन की चर्चा की जा चुकी है। भारत पर शासन करनेवाली ईस्ट इंडिया कंपनी को समाप्त कर दिया गया और उसके स्थान पर सीधे ब्रिटिश सरकार ने भारत के प्रशासन की देखरेख करने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया। दूसरा परिवर्तन यह हुआ कि कंपनी के संचालक-मंडल (बोर्ड आफ डायरेक्टर्स) तथा नियंत्रण-मंडल (बोर्ड आफ कंट्रोल) का अंत हो गया। इस प्रकार उस 'दोहरी सरकार' की प्रणाली का अंत कर दिया गया जिसे पिट के इंडिया ऐक्ट द्वारा आरंभ किया गया था। इस द्वैध व्यवस्था से किसी को भी संतोष नहीं था और पिछले कुछ दशकों से इसे समाप्त करने की जो माँग की जा रही थी उसे अब स्वीकार किया गया। तीसरा परिवर्तन यह हुआ कि भारत सरकार पर नियंत्रण बनाये रखने के लिए तथा संचालक-मंडल और नियंत्रण-मंडल के समस्त अधिकारों का प्रयोग करने के उद्देश्य से भारत सचिव के नये पद का आरंभ किया गया। भारत सचिव का पद गृह सरकार की ओर से सबसे महत्त्वपूर्ण पद था जो १६४७ तक बनाये रखा गया। भारत सचिव ब्रिटिश मंत्रिमंडल का एक सदस्य होता था और इस प्रकार ब्रिटेन का मंत्रिमंडल भारत सरकार के सभी कार्यों का निरीक्षण करने लगा। भारतीय मामलों के लिये गृह सचिव उसी प्रकार से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था जैसे ब्रिटिश मंत्रिमंडल के अन्य सदस्य। इस तरह ब्रिटिश संसद के सदस्य किसी भी समय भारत सरकार के कार्यों के संबंध में पूछताछ कर सकते थे। अधिनियम की चौथी व्यवस्था के अनुसार भारत सचिव की सहायता के लिये एक पंद्रह सदस्यीय परिषद् (कौंसिल आफ इंडिया) को स्थापित किया गया। इस परिषद् का निर्माण इस उद्देश्य से किया गया था कि भारत सचिव को ऐसे विशेषज्ञों से सलाह मिलती रहे जो भारत की समस्याओं के जानकार हों। ब्रिटिश मंत्रिमंडल में हेरफेर के परिणामस्वरूप भारत सचिव के पद पर कार्य करने वाला व्यक्ति, कम या अधिक समय तक, राजनीतिक परिस्थिति के अनुसार कार्य कर सकता था। यह भी जरूरी नहीं था कि भारत मंत्री भारतीय मामलों का अच्छा जानकार हो। इस कारण उसकी सहायता के लिए भारतीय मामलों के विशेषज्ञों को इस कौंसिल में नियुक्त किया जाने लगा। इस परिषद् मे कम से कम नौ ऐसे सदस्यों की नियुक्ति करने की व्यवस्था की गयी जिन्होंने दस वर्षों तक भारत में नौकरी की हो। भारत सचिव को यह अधिकार दिया गया था कि वह जिस मामले को चाहे परिषद् के सामने रखे और जिसे चाहे रोक रखे। इसके अलावा विशेष परिस्थितियों में वह इंडिया कौंसिल के बहुमत की अवहेलना भी कर सकता था। कौंसिल एक महत्त्वपूर्ण संस्था साबित हुई और इसके सदस्यों ने भारत सरकार के प्रत्येक निर्णय पर नजर रखी। भारत सचिव इंडिया कौंसिल की बैठक में अध्यक्षता करता था। इस अधिनियम की पाँचवीं व्यवस्था के अनुसार भारत सचिव को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया था कि वह प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद् के सम्मुख भारत सरकार की आमदनी और खर्च का लेखा-जोखा पेश करे। भारत सचिव भारत की आर्थिक स्थिति में हुई तरक्की की लिखित सूचना भी प्रतिवर्ष ब्रिटिश संसद में पेश करता था। इस प्रावधान के द्वारा ब्रिटिश संसद् को भारत सरकार के कार्यों पर विचार

करने का अवसर दिया गया। छठी व्यवस्था गृह सरकार के खर्च के बारे में थी और इस संबंध में जो निर्णय लिया गया वह भारतीयों को अखरता रहा। प्रायः गृह सरकार के संचालन में जो भी खर्च होता था उसे भारत सरकार से वसूल करने का निश्चय किया गया।

१८५८ के अधिनियम में कुछ ऐसी व्यवस्थाएँ भी थीं जिन्होंने भारतीय प्रशासनिक प्रणाली को प्रभावित किया। एक मुख्य निर्णय नियुक्तियों के संबंध में लिया गया। यह निश्चय किया गया कि गवर्नर जनरल और तीन प्रमुख प्रांतों के गवर्नरों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट् की ओर से की जायगी। गवर्नरों की कौंसिलों के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार भारत सचिव को दिया गया। इसके अलावा अन्य सभी नियुक्तियों के विषय में यह सिद्धांत स्वीकार किया गया कि पहले की तरह मनोनयन के तरीके को न अपनाकर योग्यता के आधार पर अधिकारियों का चयन किया जाय। कंपनी का सैनिक विभाग तथा उसका प्रबंध भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और १८५८ के पूर्व की नियुक्तियों की शर्तों को जारी रखने का निर्णय किया गया। इसी प्रकार भारत सरकार ने कंपनी द्वारा की गयी संधियों को पूरा करने तथा ऋणों का भुगतान करने की भी जिम्मेदारी ली।

इस अधिनियम को देखकर यह आशा बंधी थी कि ब्रिटिश संसद भारतीय प्रशासन में अधिक रुचि लेगी। अगर यह प्रतिनिधि संस्था भारत सरकार के निर्णयों पर अंकुश लगाने का यत्न करती तो भारत में इसका स्वागत किया जाता। भारत में जो उच्च अधिकारी प्रशासन का संचालन करते थे वे निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी थे। यदि समय-समय पर उनके कार्यों पर टीका-टिप्पणी ब्रिटिश संसद में होती रहती तो ये अधिकारी सचेत रहते। लेकिन १८५८ के बाद के इतिहास से साफ जाहिर है कि ब्रिटिश संसद ने भारतीय समस्याओं में अधिक रुचि नहीं ली। ब्रिटिश राजनीति के एक प्रमुख जानकार रैम्जे मैक्डोनल्ड ने विचार प्रकट किया है कि "ब्रिटिश संसद भारतीय प्रशासन के प्रति जागरूक नहीं रही। यह भारतीय मामलों पर कोई भी महत्त्वपूर्ण वाद-विवाद नहीं करती। भारतीय बजट पर जब विचार किया जाता है तो ब्रिटिश संसद की अधिकतर सीटें खाली रहती हैं।" ब्रिटिश सरकार के हाथ में भारतीय प्रशासन की सत्ता सौंप देने के बाद ब्रिटिश संसद उदासीन हो गयी।

१८६१ का भारत परिषद् अधिनियम

१८५८ के अधिनियम को पारित करने के तीन वर्ष बाद ही ब्रिटिश संसद को भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था के विषय में यदि पुनः एक अधिनियम पारित करने की आवश्यकता पड़ी तो इसका मुख्य कारण यही था कि वह अधिनियम अधूरा था। गृह सरकार का पुनर्गठन तो कर दिया गया था लेकिन इससे भी आवश्यक कार्य था भारतीय प्रशासनिक ढाँचे में आवश्यक परिवर्तन करना। १८६१ के अधिनियम द्वारा इस ओर से जो प्रयास किये गये उसके दूरगामी परिणाम हुए। प्रोफेसर गुरमुखनिहाल सिंह ने इसी कारण कहा है-- '१८६१ के अधिनियम का आधारभूत महत्त्व था। इसके द्वारा भारतीय प्रशासन का ऐसा ढाँचा तैयार हो गया जो भारत में ब्रिटिश शासन की समाप्ति तक चलता रहा, हालाँकि बाद के पारित अधिनियमों द्वारा राजशासन पद्धति के बारे में कई सैद्धांतिक और संगठनात्मक परिवर्तन किये गये।' इससे समझा जा सकता है कि १८६१ का अधिनियम कितना महत्त्वपूर्ण था।

पृष्ठभूमि

आरम्भ में यह विचार कर लेना है कि यह अधिनियम किन परिस्थितियों में पारित किया गया। तत्कालीन पृष्ठभूमि ने इसकी धाराओं को प्रभावित किया। इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है--

१. १८५८ के अधिनियम की कमी को दूर करना

यह अनुभव किया जाने लगा था कि १८५८ के अधिनियम से भारतीय शासन-प्रणाली को प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता था। १८५७ के विद्रोह के बाद ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक बनाये रखना उचित नहीं था क्योंकि इस घटना से यह प्रकट हो गया था कि भारत सरकार के संगठन में सुधार करना जरूरी था।

२. १८५७ के विद्रोह का प्रभाव

१८५७ के विद्रोह ने ब्रिटिश प्रशासकों को यह विचार करने के लिए मजबूर कर दिया कि राजव्यवस्था में किस प्रकार के परिवर्तन हों जिनसे भारत सरकार अधिक सक्रिय हो और भविष्य में वह ऐसी चुनौतियों से बच सके। एक विदेशी साम्राज्यवादी सत्ता की सबसे बड़ी चिंता यह थी कि उसका अधिकार संपूर्ण भारत में बना रहे। १८५७ के विद्रोह से अंग्रेजों को गहरा धक्का लगा था और इसकी समाप्ति के बाद वे ऐसे सभी कदम उठाने को तैयार थे जिनसे उनका शासन मजबूत हो। यह स्वीकार किया जाने लगा था कि शासकों और शासितों के बीच संपर्क का नितांत अभाव था। ऐसी व्यवस्था की जरूरत थी जिसके अनुसार शासननीति और विधियों के प्रति भारतीय जनता की प्रतिक्रिया का ज्ञान अंग्रेज अधिकारियों को हो सके।

३. भारतीय विधान परिषद् के प्रति असंतोष

१८५३ में स्थापित भारतीय विधान परिषद् जिस ढंग से कार्य कर रही थी उससे न तो भारत सचिव संतुष्ट था और न ही गवर्नर जनरल। भारत सचिव ने इसकी कार्य-प्रणाली की आलोचना करते हुए शिकायत की कि इस सभा ने मूल उद्देश्य का ध्यान नहीं रखा था। इसे अच्छे कानूनों पर विचार करने के लिए बनाया गया था। लेकिन वह वाद-विवाद की झंझटों के फँस गयी थी। उसके सदस्य ब्रिटिश संसद की कार्यविधि अपनाने की कोशिश करते थे। भारत सचिव और भारत के गवर्नर जनरल ने इस कारण यह अनुभव किया कि एक नया अधिनियम पारित करके विधान परिषद् के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या की जाय।

४. प्रांतीय सरकारों द्वारा विधि-निर्माण के अधिकार की माँग करना

१८३३ में यह व्यवस्था अपनायी गयी थी कि समूचे देश के लिए विधि निर्माण का कार्य सपरिषद् गवर्नर जनरल करे। १८५३ के अधिनियम द्वारा कुछ अन्य प्रतिनिधि भी शामिल किये गये। परंतु यह तरीका अधिक सफल नहीं हुआ था। भारत ऐसे विशाल देश में, जहाँ यातायात के साधनों के कारण बाधाएँ थीं, प्रत्येक प्रांत की आवश्यकता के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा कानून बनाने से दूरस्थ प्रांतों की सरकारें संतुष्ट नहीं थीं। उन्होंने माँग की. कि उन्हें अपने-अपने प्रांतों की आवश्यकता के अनुसार कानून-निर्माण करने के अधिकार दिये जायें।

५. भारतीयों के सहयोग की आवश्यकता

१८६१ के अधिनियम की आवश्यकता इस कारण भी थी कि अब/यह अनुभव किया जा रहा था कि सरकारी कामकाज में भारतीयों का सहयोग लेने की जरूरत थी। जब सिद्धांत रूप में यह स्वीकार कर लिया गया तो फिर यह साफ जाहिर था कि किसी नये अधिनियम द्वारा ही इस ओर प्रयास किये जा सकते थे।

अधिनियम की मुख्य धाराएँ

१८६१ के अधिनियम की मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं--

१. केन्द्रीय कार्यकारिणी कौंसिल में सुधार

इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल की कार्यकारी कौंसिल के सदस्यों की संख्या चार से बढ़ाकर पाँच कर दी गयी। भारत सचिव को इनकी नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया। इन पाँच सदस्यों में से तीन ऐसे सदस्य नियुक्त किये जाने लगे जो नियुक्ति के समय तक भारत सरकार की सेवा में कम-से-कम दस वर्ष तक कार्य कर चुके हों। अन्य दो सदस्यों में से एक प्रसिद्ध विधि-शास्त्री और दूसरा वित्त-विशेषज्ञ नियुक्ति किया जाने लगा। यह व्यवस्था भी की गयी कि प्रधान सेनापति को भी विशेष सदस्य बनाकर कौंसिल का सदस्य नियुक्त किया जा सकता था। गवर्नर जनरल की सहायता के लिए कुशल अधिकारियों तथा विशेषज्ञों को कार्यकारी कौंसिल में शामिल करने का निर्णय किया गया।

केन्द्रीय कार्यकारी कौंसिल की कार्यप्रणाली में भी सुधार किये गये। अधिनियम ने गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया कि वह समय-समय पर कौंसिल के लिये नियम बना सकता था। इसी धारा का प्रयोग करके गवर्नर जनरल ने विभागीय पद्धति को अपनाया। अधिनियम के पारित होने के पूर्व प्रत्येक सदस्य सभी मामलों पर अपनी सम्मति देते थे। इससे बहुत विलंब होता था तथा कोई भी सदस्य किसी विशेष मामले में अपना उत्तरदायित्व भी अनुभव नहीं करता था। १८६१ के अधिनियम के बाद जो नियम बनाये गये उनके द्वारा प्रत्येक सदस्य को सुरक्षा, वित्त, विधि, गृह आदि विभागों की जिम्मेदारी सौंप दी गयी और उन विभागों के कार्यों की देख-रेख करना आसान हो गया। प्रत्येक सदस्य को कुछ विभागों का उत्तरदयित्व सँभालने को कहा गया।

केन्द्रीय परिषद्

विधि निर्माण के कार्य को पूरा करने के लिए कार्यकारी कौंसिल तथा 'अतिरिक्त सदस्यों' की अलग बैठकें होने लगीं। इस प्रकार विधान सभाओं का आरंभ करते हुए भी अधिनियम द्वारा इसे स्वीकार नहीं किया गया था। परिषद की न्यूनतम संख्या ६ तथा अधिकतम १२ निर्धारित कर दी गयी। इस व्यवस्था के अनुसार परिषद् की बैठकों में गवर्नर जनरल, उसकी कौंसिल के सदस्य तथा 'अतिरिक्त सदस्य' मिलकर भाग लेते थे। इन सदस्यों को 'अतिरिक्त सदस्य' इसलिये कहा जाता था कि केन्द्रीय कार्यकारिणी जब कानून बनाने के लिए बैठक करती थी तो ये सदस्य उसके साथ मिलकर कार्य करते थे।

अतिरिक्त सदस्यों को मनोनीति किया जाता था। गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों को दो वर्ष के लिए मनोनीत करे।

१८६१ के अधिनियम द्वारा यह एक नया सिद्धांत अपनाया गया कि पहली बार भारतीयों को केन्द्रीय परिषद् का सदस्य बनाने की व्यवस्था की गयी। अधिनियम के अनुसार अतिरिक्त सदस्य दो प्रकार के हो सकते थे-- (१) सरकारी और (२) गैर-सरकारी। सरकारी सदस्य का अर्थ यह था कि उच्च अधिकारियों को सदस्य के रूप में मनोनीत किया जाता था। दूसरे प्रकार के ऐसे सदस्य, जो अधिकारी नहीं थे, 'गैर सरकारी सदस्य' कहलाते थे। ये अधिकतर भारतीय ही होते थे। व्यवस्था यह की गयी थी कि गवर्नर जनरल कम से कम आधे गैर-सरकारी सदस्यों को केन्द्रीय परिषद् के लिए मनोनीत करेगा। १८६१ के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल ने राजे-महाराजों, देशी राज्यों के दीवानों तथा बड़े जमींदारों को ही सदस्य बनाया।

परिषद के कार्यक्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया गया। यह स्पष्ट कर दिया गया कि विधि-निर्माण के अतिरिक्त उसे और किसी प्रकार के अधिकार नहीं थे। परिषद् के सदस्य न तो कार्यकारिणी के कार्यों की छानबीन कर सकते थे और न बजट पर बहस करने का उन्हें अधिकार ही था। कानून बनाने के संबंध में भी उन्हें पूरी छूट नहीं थी। कुछ विशेष विषयों से संबंधित विधेयक तभी प्रस्तुत किया जा सकता था जब गवर्नर जनरल की पूर्व-सम्मति मिल गयी हो।

केन्द्रीय परिषद् द्वारा पारित किसी विधेयक के बारे में गवर्नर जनरल को 'वीटो' का अधिकार दिया गया। इस धारा के अनुसार विधेयक को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने का उसे पूरा अधिकार था।

संकटकालीन परिस्थितियों में तथा ऐसे समय में जब गवर्नर जनरल आवश्यक समझे उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया। पहली बार गवर्नर जनरल को यह असाधारण शक्ति प्रदान की गयी थी। इस शक्ति का उपयोग वह निजी विवेक से कर सकता था।

प्रांतीय परिषदों को पुनः स्थापित करना

इस अधिनियम के पारित होने के पूर्व भारत में कानून और नियम बनाने की शक्ति केवल केन्द्रीय परिषद् को ही दी गयी थी। पिछ्ले कुछ दशकों से विधि-निर्माण की शक्ति केन्द्रीय सरकार के हाथ में ही थी और प्रांतीय सरकारें अलग से किसी प्रकार के कानून नहीं बना सकती थीं। लेकिन अब इस केन्द्रीयकरण के सिद्धांत को छोड़ दिया गया। १८६१ के अधिनियम के द्वारा बंबई और मद्रास प्रांतों में प्रांतीय परिषदें संगठित की गयीं। साथ ही गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह अन्य प्रांतों में भी इसी प्रकार की परिषदों का गठन करने की आज्ञा दे सकता था। इसी धारा के अनुसार १८६२ में बंगाल में, १८८६ में वर्तमान उत्तर प्रदेश में और १८९७ में बर्मा तथा पंजाब प्रांतों में स्थानीय परिषदें गठित की गयीं।

प्रांतीय परिषदों का गठन केन्द्रीय परिषदों के अनुसार किया गया। प्रांतीय परिषद् में गवर्नर, उसकी कार्यकारिणी के सदस्य और अतिरिक्त सदस्य सम्मिलित होते थे। ये अतिरिक्त

सदस्य कम से कम चार और अधिक से अधिक आठ हो सकते थे, जिनमें से आधे गैर-सरकारी होते थे। ये सदस्य गवर्नर द्वारा मनोनीत किये जाते थे। कानून बनाने के उनके अधिकारों में उसी प्रकार से प्रतिबंध लगे थे जैसे केन्द्रीय विधान परिषद् के लिए थे।

१८६१ के अधिनियम का महत्त्व

यह एक महत्त्वपूर्ण अधिनियम था। इसके अनुसार पहली बार भारतीयों को विधि-निर्माण के कार्य में भाग लेने का अधिकार मिला। लेकिन इसका महत्त्व केवल सैद्धांतिक ही था क्योंकि इस विशाल देश के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को मनोनीत करने से जनता पर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। ये 'अतिरिक्त सदस्य' किसी भी तरह से जन प्रतिनिधि नहीं थे। इस कारण उनके सुझावों से सरकार अधिक लाभान्वित नहीं हो सकती थी।

अधिनियम में जिस विकेन्द्रीयकरण का सिद्धांत स्वीकार किया गया उससे प्रांतों को धीरे-धीरे अधिकार मिलने का क्रम शुरू हो गया। आगे चलकर प्रांतों में संवैधानिक प्रयोग करने की प्रवृत्ति वढ़ी।

केन्द्रीय कार्यकारी कौंसिल में जिस विभागीय पद्धति का सूत्रपात किया गया वह एक आवश्यक कदम था। इससे सरकारी कामकाज में तेजी आ गयी और केन्द्र के अलग-अलग विभागों का गठन करना आसान हो गया।

१८६१ के अधिनियम की धाराओं को पढ़कर यह साफ जाहिर हो जाता है कि संवैधानिक विकास की ओर वढ़ते हुए ब्रिटिश अधिकारी फूँक-फूँककर कदम रख रहे थे। वे आवश्यकता से अधिक सचेत थे और इस समय केवल दिखावे के लिये ही कुछ सुधार करना चाहते थे। इसी कारण मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में यह स्वीकार किया गया कि १८६१ के अंतर्गत जो परिषदें बनीं वे वस्तुतः सरकार की विधायी समितियों से अधिक कुछ नहीं थीं। परिषदों के सदस्य कोई प्रभावकारी भूमिका नहीं निभा सके। श्री के०वी० पुनय्या का कथन है कि 'जिन लोगों को सदस्य नियुक्त किया जाता था वे इनकी बैठकों में जाने को उत्सुक नहीं रहते थे और वहाँ जाकर भी उन्हें लौटने की जल्दी बनी रहती थी।'

१८९२ का भारत परिषद अधिनियम

१८६१ के अधिनियम के पारित होने के समय यह आशा की गयी थी कि संवैधानिक सुधारों का क्रम जारी रहेगा और ब्रिटिश सरकार समय-समय पर ऐसे प्रस्ताव पेश करेगी जिनके द्वारा भारतीयों को शासन-व्यवस्था में योगदान देने का अवसर प्राप्त होगा। १८९२ का अधिनियम इसी दिशा में एक प्रयास था।

पृष्ठभूमि

अधिनियम की पृष्ठभूमि पर विचार कर लेने के बाद ही इसकी धाराओं पर प्रकाश डालना उचित होगा।

१. १८६१ के अधिनियम के पारित होने के तीस वर्ष हो जाने पर भी किसी दूसरे अधिनियम

का न पारित किया जाना एक असाधारण घटना थी। १८५८ के पूर्व भी ब्रिटिश संसद बीस वर्षों बाद किसी-न-किसी प्रकार का अधिनियम पारित करती थी। इस कारण यह स्वाभाविक ही था कि भारत में किसी नये अधिनियम की माँग की जाने लगी।

२. १८६१ के अधिनियम के अनुसार जिस प्रकार केन्द्रीय तथा प्रांतीय परिषदों को संगठित किया गया और इन परिषदों ने जिस ढंग से कार्य किया वह किसी को भी प्रभावित नहीं कर सका। केवल उच्च वर्ग के थोड़े से सदस्य इन परिषदों की कार्यवाही में भाग लेते थे और वे भी परिषदों में किसी प्रकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं निभा सके। इस कारण यह माँग की जाने लगी कि इन परिषदों का विस्तार किया जाय। दूसरी माँग यह थी कि प्रतिनिधित्व प्रणाली का आरंभ किया जाय।

३. पिछले कुछ दशकों में भारत में उच्च शिक्षा का विकास हुआ था। भारतीय विश्वविद्यालयों और कालेजों में पश्चिमी ढंग की शिक्षा का प्रसार हो जाने से एक ऐसा वर्ग तैयार हो गया जिसने भारत में प्रतिनिधि संस्थाओं की माँग की। यह विश्वास पनपता गया कि ब्रिटिश संसद् के अनुरूप किसी प्रतिनिधि संस्था के संगठित हो जाने पर भारतवासी प्रभावकारी ढंग से राजसत्ताधारियों को प्रभावित कर सकेंगे। यह समय राजनीतिक जागृति का आरंभिक काल था और सभी पक्ष विदेशी शासन के सहयोग से प्रशासनिक व्यवस्था के सुधारने की बात कर रहे थे। वे ऐसे अधिनियम की माँग करने लगे जिसके अनुसार भारत में प्रतिनिधि प्रणाली विकसित हो।

४. १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो जाने से किसी अधिनियम का पारित किया जाना और भी आवश्यक हो गया। कांग्रेस के सम्मेलन प्रतिवर्ष होते थे जिनमें जोरदार शब्दों में यह माँग की गयी कि देश में प्रतिनिधि शासन-प्रणाली की स्थापना की जाय। परिषदों के स्वरूप को बदलने की माँग जब जोर पकड़ती गयी तो ब्रिटिश सरकार को अगला कदम उठाना पड़ा।

५. तत्कालीन गवर्नर जनरल, डफरिन, भी परिषदों की सदस्य-संख्या बढ़ाने के पक्ष में था। उसने ब्रिटिश सरकार को अपने सुझाव प्रस्तुत करते हुए लिखा कि प्रांतीय परिषदों के सदस्यों के लिये निर्वाचन की व्यवस्था की जाय तथा उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया जाये। इस गवर्नर जनरल के उत्तराधिकारी ने भी उसके प्रस्तावों का अनुमोदन किया।

१८९२ के अधिनियम की मुख्य धाराएँ

इस अधिनियम की धाराओं के द्वारा तीन प्रकार के परिवर्तन किये गये। इनका विवरण प्रस्तुत है।

१. परिषदों का विस्तार

केन्द्रीय तथा प्रांतीय परिषदों की सदस्य-संख्या में सीमित विस्तार किया गया। केन्द्रीय परिषदों में न्यूनतम दस और अधिकतम सोलह अतिरिक्त सदस्यों को सम्मिलित करने की व्यवस्था की गयी। केन्द्रीय परिषद् की तुलना में प्रांतीय परिषदों की सदस्य-संख्या कुछ अधिक

बढ़ायी गयी। बंबई और मद्रास की परिषदों में अब कम से कम आठ और अधिक से अधिक बीस अतिरिक्त सदस्य मनोनीत किये जा सकते थे। बंगाल के लिए भी अधिकतम संख्या इतनी ही थी। वर्तमान उत्तर प्रदेश के लिये अधिकतम संख्या पंद्रह निश्चित की गयी।

२. अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली का स्वीकार किया जाना

इस अधिनियम को पारित करते समय सबसे अधिक बहस ब्रिटिश संसद में इस प्रश्न को लेकर हुई थी कि परिषदों के सदस्यों की नियुक्ति का क्या ढंग हो। भारत में सभी पक्ष यही माँग कर रहे थे कि इन सदस्यों को निर्वाचित किया जाय। पर ब्रिटिश संसद के सदस्य 'चुनाव' शब्द से भड़कते थे। उनका कहना था कि किसी भी प्रतिनिधि प्रणाली को स्वीकार करने से भारी कठिनाइयाँ सामने आयेंगी। लेकिन दूसरा विचारणीय प्रश्न ब्रिटिश संसद के सामने यह आया कि क्या केवल मनोनयन की पद्धति भारतीयों को संतुष्ट कर सकती थी। अन्ततः एक प्रकार की अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति अपनाने का अधिकार इस अधिनियम के द्वारा गवर्नर जनरल को दिया गया। इस प्रकार अधिनियम की इस धारा के अनुसार जो नियम बनाये गये उनके अनुसार परोक्ष निर्वाचन की प्रणाली अपनायी गयी। तरीका यह अपनाया गया कि गैर सरकारी सदस्यों की नियुक्ति उन व्यक्तियों में से की जाने लगी जिनके नामों की सिफारिश नगरपालिकाएँ, जिला परिषदें, विश्वविद्यालय की परिषदें तथा व्यापारिक-मंडलों ने की हो। बंबई की परिषद् के संगठन का उदाहरण दिया जा सकता है। इसमें अधिकतम संख्या २० थी। यह निश्चय किया गया कि इनमें से ८ अतिरिक्त सदस्यों को किसी न किसी प्रकार के प्रतिनिधि संगठनों द्वारा चुने जाने पर गवर्नर नियुक्त करे। इस संबंध में यह नियम बनाया गया कि बंबई की कारपोरेशन १ सदस्य की, नगरपालिकाएँ २ सदस्यों की, जिला परिषदें २ सदस्यों की, बड़े जमींदारों का संगठन १ सदस्य का, बंबई का व्यापार मंडल १ सदस्य का और बंबई विश्वविद्यालय भी १ सदस्य की सिफारिश गवर्नर को करे। साधारणतया गवर्नर इन सिफारिशों को मान लेता था।

१८६१ के अधिनियम ने परिषदों के अधिकारों को पूरी तरह से संकुचित कर दिया था। अब इस अधिनियम ने परिषदों के सदस्यों को विधि-निर्माण के अलावा भी कुछ अधिकार प्रदान किये। ये अधिकार दो प्रकार के थे। पहले हम उन अधिकारों की चर्चा करेंगे जो बजट से संबंधित थे। १८९२ के अधिनियम की व्यवस्था के द्वारा केन्द्र तथा प्रांतों की विधान परिषदों के सदस्यों को बजट पर बहस करने का अधिकार दिया गया। लेकिन वाद-विवाद के साथ-साथ इन सदस्यों को और किसी प्रकार के अधिकार नहीं थे। दूसरा अधिकार प्रश्न पूछने से संबंधित था। सदस्यों को यह अधिकार दिया गया कि वे जनहित के मामलों के प्रश्न पूछ सकते थे। लेकिन पूरक प्रश्न पूछने के अधिकार नहीं दिये गये। गवर्नर जनरल तथा गवर्नर परिषद् के अध्यक्ष होने के नाते किसी भी प्रश्न को अस्वीकार कर सकते थे।

१८९२ के अधिनियम का मूल्याँकन

यह अधिनियम सवैधानिक सुधारों की दिशा में एक कदम अवश्य था पर इसकी व्यवस्थाएँ

इतनी सीमित थीं कि कोई भी पक्ष इनसे संतुष्ट नहीं हो सकता था। संवैधानिक सुधार की माँग यथावत् बनी रही। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अधिनियम की धाराओं के विषय में अपनी निराशा व्यक्त करते हुए वार्षिक अधिवेशन में प्रस्ताव पारित किया। इसके अलावा अन्य लोगों ने भी इस अधिनियम के विषय में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। सभी ने अपर्याप्त सुधारों के प्रति निराशा व्यक्त की। सच तो यह है कि ब्रिटिश सरकार अभी भी भारतीय शासन-व्यवस्था के निरंकुश स्वरूप में ढील देने को तैयार नहीं थी। इस कारण उसने जो अधिनियम पारित किया वह प्रभावशाली हो ही नहीं सकता था।

गैर-सरकारी सदस्यों की संख्या का विस्तार इतना मामूली था कि सभी वर्गों को इससे निराशा हुई। इसी प्रकार सदस्यों के निर्वाचन के विषय में जो नियम बनाये गये वे बड़े पेंचीदे थे। निर्वाचन की पद्धति को अस्वीकार करके १८९२ के अधिनियम ने जागृत मध्यम वर्ग की आशाओं पर पानी फेर दिया। गैर-सरकारी सदस्यों को जो अधिकार दिये गये थे वे व्यवहारतः दिखावटी थे और परिषदों की कार्यवाही कमजोर बनी रही।

१९०९ का भारत परिषद-अधिनियम मोर्ले-मिंटो अधिनियम

१९०९ के अधिनियम के पारित होने के समय तत्कालीन भारत सचिव मोर्ले ने तथा गवर्नर जनरल मिंटो ने इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी कि इस अधिनियम को मोर्ले-मिंटो सुधार योजना भी कहा जाता है। वास्तविकता यही है कि इन दोनों राजनीतिज्ञों ने मिलकर जिस सुधार-योजना को तैयार किया उसे ही ब्रिटिश संसद मे स्वीकार कर लिया गया। भारत सचिव ने ब्रिटिश संसद के उच्च सदन में स्वीकार किया था कि यह सुधार-योजना उन्हीं सिद्धांतों पर आधारित थी जिनको १८६१ और १८९२ के अधिनियमों को पारित करते समय अपनाया गया था। मिंटो अभी भी 'संवैधानिक निरंकुशता' को भारत में बनाये रखना आवश्यक मानता था। वह ऐसी किसी भी संवैधानिक योजना को स्वीकार करने को तैयार नहीं था जिससे ब्रिटिश शासन का निरंकुश स्वरूप ढीला पड़े। उसका कहना था कि भारत ऐसा देश पश्चिमी ढंग की प्रतिनिधि प्रणाली के लिए उपयुक्त नहीं था।

१९०९ तक भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस यह आशा लगाये थी कि ब्रिटिश सरकार भारत में किसी-न-किसी प्रकार की संसदात्मक व्यवस्था लागू करेगी। पर इस अधिनियम ने उसकी आशाओं पर पानी फेर दिया। अधिनियम पर जब ब्रिटिश संसद में विचार हो रहा था तभी भारत सचिव ने स्पष्ट शब्दों में सरकार की स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा--'भारत में संसदात्मक व्यवस्था के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये मैं एक क्षण के लिये भी प्रयास करने को तैयार नहीं हूँ।' यह वक्तव्य देकर भारत सचिव ब्रिटेन के उन अनुदारवादियों को आश्वस्त कर रहा था जो भारत की प्रशासनिक व्यवस्था को जैसा-का-तैसा बनाये रखना चाहते थे।

पृष्ठभूमि

यह विचार करना आवश्यक है कि किन कारणों से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने इस अधिनियम को प्रस्तावित करने का निर्णय किया।

१. १८९२ के अधिनियम से निराशा

१८९२ के अधिनियम के आधार पर जिस ढंग की विधान परिषदें संगठित की गयी थीं वे प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकीं। भारतीय सदस्यों की स्थिति बड़ी कमजोर थी। इस परिस्थिति में भारतीय कांग्रेस ने संवैधानिक सुधार करने की माँग को दुहराया।

२. १८९२ से १९०९ के बीच प्रशासनिक निर्णयों के प्रति असंतोष

इन वर्षों में ब्रिटिश सरकार के कार्यों की अधिकाधिक आलोचना की जाने लगी। ब्रिटिश सरकार का संचालन करनेवालों को भारतीयों की योग्यता और ईमानदारी पर भरोसा नहीं था। दूसरी ओर राष्ट्रीय आंदोलन के नेता खुले शब्दों में सरकार की नीतियों की भर्त्सना करने लगे। कर्जन के शासन में शासक और शासित के बीच खाई बढ़ती गयी और अंततः बंगाल के विभाजन से जो जनआक्रोश एक बार भड़का वह शांत नहीं हुआ। सरकार की आर्थिक नीतियों पर पैनी दृष्टि डालते हुए जो विचार प्रस्तुत किये गये उनसे भी यही दिखायी दिया कि राजनेताओं की मनोभावना अब बदल रही थी। लेकिन प्रशासक बदलते हुए माहौल के अनुसार अपनी नीतियों को बदलने को तैयार नहीं थे। कर्जन के प्रशासन से यह स्पष्ट हो गया था। प्रशासकों का रवैया और भी कठोर होता गया और उन्होंने नारा बुलंद किया कि राष्ट्रीय आंदोलन के नेताओं की माँगों को स्वीकार करना भारत में ब्रिटिश प्रभाव के लिए घातक होगा। भारत से जाने के बाद भी कर्जन ने ब्रिटिश हाउस आव् लार्ड्स में यह दलील पेश की कि आंदोलन के सम्मुख घुटने टेकने से भारत में किसी सरकार को चलाना असंभव हो जायेगा।

३. राजनीतिक जागृति

बीसवीं सदी के आरम्भिक दशक में भारतीय राजनीति में मोड़ आया। राष्ट्रीय आंदोलन तेजी पकड़ रहा था। उग्रवादी नेता लगातार ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना करने की नीति का विरोध कर रहे थे। वे दिखावे के सुधारों से संतुष्ट नहीं हो सकते थे। अतः यह एक ऐसा समय था जब ब्रिटिश सरकार बदलती हुई राजनीतिक स्थिति की अनदेखी नहीं कर सकती थी। उसे परिस्थिति के अनुसार नीति पर विचार करना पड़ा।

४. मुस्लिम लीग की स्थापना और उसका प्रभाव

मिंटो के भारत आने के कुछ महीने बाद ही १९०६ में भारत में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई। जिन परिस्थितियों में इसका जन्म हुआ उनसे यह जाहिर है कि ब्रिटिश प्रशासकों की सहानुभूति इस संगठन के प्रति आरंभ से ही थी। मिंटो के वक्तव्यों और निर्णयों से यह दिखायी देता है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोध में पनपने वाले किसी भी राजनीतिक दल का वह स्वागत करने को तैयार था। मिंटो कांग्रेस के मुकाबले में किसी भी संगठन को समर्थन देने के लिये पूरी तरह से तैयार था। १९०९ के सुधार अधिनियम का एक उद्देश्य था मुसलमानों को सरकार के पक्ष में करना। यहीं से सांप्रदायिकता की राजनीति पनपी।

५. ब्रिटिश सरकार की 'सुधार और दमन' की नीति

१९०७ में जब सूरत का विभाजन हो जाने से, थोड़े समय के लिये, कांग्रेस आंदोलन

में दरार पड़ गयी तो ब्रिटिश सरकार ने इस स्थिति से फायदा उठाने का तुरंत निर्णय किया। इस समय सरकार की नीति थी 'सुधार और दमन' की नीति। कांग्रेस के दो वर्गों के प्रति अलग-अलग नीति अपनायी गयी। उग्रवादी आंदोलन को कुचलने के लिये सरकार ने उनके प्रति दमन की नीति अपनायी और नरम दल वालों का हौसला बढ़ाने के लिये उनके प्रमुख नेता गोखले को लंदन बुलाया गया और भावी सुधार योजना पर बातचीत शुरू की गयी। १९०९ का अधिनियम नरम दल को प्रभावित करने के उद्देश्य से पारित किया गया था। सरकार चाहती थी कि कांग्रेस के इस वर्ग की साख बढ़े और उसके नेता जनता को अपनी उपलब्धि के विषय में स्पष्ट प्रमाण दे सकें।

१९०९ के अधिनियम की धाराएँ

१९०९ के अधिनियम की धाराओं के अनुसार तथा उन धाराओं के आधार पर बनाये गये नियमों के आधार पर जो सुधार किये गये उनकी व्याख्या इस प्रकार है--

१. विधान परिषदों की सदस्य-संख्या में वृद्धि

इस अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय तथा प्रांतीय परिषदों की संख्या पहले दो अधिनियमों की तुलना में पर्याप्त बढ़ायी गयी। केन्द्रीय विधान परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या १६ से बढ़ाकर ६० कर दी गयी। ९ पदेन सदस्यों को मिलाकर अब केन्द्रीय परिषद् के सदस्यों की कुल संख्या ६९ हो गयी। इसी प्रकार प्रांतीय परिषदों की सदस्य-संख्या बढ़ायी गयी। बम्बई, मद्रास, बंगाल, वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार तथा उड़ीसा की परिषदों की सदस्य संख्या २० या १५ से बढ़ाकर ५० कर दी गयी। पंजाब, बर्मा और आसाम की परिषदों की सदस्य-संख्या ३० निश्चित की गयी।

२. केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत

केन्द्रीय विधान परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाये रखा गया। इससे केन्द्रीय सरकार के कामकाज में विधान परिषद् किसी प्रकार की बाधा न उत्पन्न कर सकी। इस निर्णय के अनुसार ही विभिन्न प्रकार के सदस्यों की संख्या निर्धारित का गयी। इस परिषद् में चार प्रकार के सदस्य थे। गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य अपने पदों के कारण केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्य थे। पदेन सदस्यों की संख्या ९ थी। इनके अलावा जिन अधिकारियों को भारत सरकार केन्द्रीय विधान परिषद् के लिये मनोनीत करती थी वे मनोनीति सदस्य कहलाते थे। इनकी संख्या २८ थी। इसके अलावा तीसरे प्रकार के सदस्य थे जो सरकारी अधिकारी नहीं होते थे परंतु जिन्हें प्रभावशाली व्यक्ति होने के कारण भारत सरकार मनोनीत करती थी। मनोनीत गैर सरकारी सदस्यों की संख्या ५ थी। चौथी श्रेणी में २७ निर्वाचित गैर-सरकारी सदस्य थे। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ६९ सदस्यों में ३७ सरकारी सदस्यों को केन्द्रीय विधान परिषद् में स्थान दिया गया तथा यह आशा भी थी कि मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य भी सरकार के पक्ष में ही रहेंगे।

३. प्रांतीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी बहुमत

पिछले कुछ दशकों से देश के प्रशासक यह विचार कर रहे थे कि किसी भी नयी संवैधानिक व्यवस्था के लिए प्रयोग करते समय प्रांतों को चुना जाये। इस अधिनियम में भी इसी विचार को अपनाते हुए यह तय किया गया कि प्रांतीय विधान परिषदों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत रखा जाये। यह एक महत्त्वपूर्ण कदम था। प्रांतीय विधान परिषदों के सदस्य भी उसी प्रकार चार श्रेणी में बँटे हुए थे जिस प्रकार केन्द्रीय विधान परिष्द् के सदस्यों का विभाजन किया गया था। अन्तर केवल यही था कि विभिन्न प्रकार के सदस्यों की संख्या निश्चित करते समय गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाये रखा गया। उदाहरण के लिए मद्रास विधान परिषद् के सदस्यों में २६ गैर-सरकारी और २१ अधिकारी थे। लेकिन यहाँ भी सरकार ने अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए सभी गैर-सरकारी सदस्यों को निर्वाचन पद्धति से न चुनकर ५ गैर-सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने का तरीका अपनाया।

४. सीमित तथा भेदभावपूर्ण मताधिकार

१८९२ के अधिनियम के अंतर्गत कुछ गैर-सरकारी सदस्यों को परोक्ष रूप से निर्वाचित करने का निर्णय लिया गया था। १९०९ के अधिनियम के अंतर्गत बनाये गये नियमों के द्वारा प्रतिनिधि के निर्वाचन के सिद्धांत को स्पष्ट रूप से मान्यता दे दी गयी। इस चुनाव के तरीके की विशेषता यह थी कि किसी निर्वाचन-क्षेत्र में चुनाव न कराकर विशेष वर्गों, हितों और संप्रदायों को अपने-अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। केन्द्रीय विधान परिषद् की २७ सीटों के लिये यह निश्चित किया गया कि ६ सीटों के लिये बड़े जमींदार चुनाव करें, ५ सीटें गैर-मुसलमान लोगों को, १ सीट मुसलमान जमींदार को और २ सीटें बंबई तथा बंगाल के व्यापार-मंडल को दी जायें। शेष १३ सीटों के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव ९ प्रांतीय विधान परिषदों के गैर-सरकारी सदस्य करने लगे। मतदान में भाग लेने का अधिकार मुट्ठी भर लोगों को ही दिया गया। मतदाताओं की योग्यता उनकी संपत्ति, करों तथा उपाधियों के आधार पर की गयी।

५. मुसलमानों को खास रियायतें देने का निश्चय

भारत सरकार ने प्रतिनिधित्व के लिये जो नियम बनाये उनमें मुसलमानों को उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक सदस्य भेजने का अधिकार दिया गया था। उदाहरण के लिये वर्तमान उत्तर प्रदेश में मुसलमानों की जनसंख्या करीब १५ प्रतिशत होते हुए भी उन्हें इस प्रांत में २६ सीटों में से ८ सीटों में प्रतिनिधि भेजने की विशेष सुविधा प्रदान की गयी।

६. सांप्रदायिक चुनाव प्रणाली

मार्ले-मिंटो सुधार-योजना का सबसे आपत्तिजनक निर्णय था पृथक् अथवा सांप्रदायिक चुनाव पद्धति का आरम्भ करना। इस पद्धति के द्वारा केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडल के लिये जो सीटें मुसलमानों के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित कर दी गयी थीं उनके चुनाव के लिये केवल इसी सम्प्रदाय के लोग भाग ले सकते थे। इस निराली पद्धति के अनुसार एक विशेष संप्रदाय

के लोगों को ही यह अधिकार था कि वे अपने बीच के किसी प्रतिनिधि का चुनाव करें। इसी कारण इसे पृथक निर्वाचन प्रणाली कहते हैं।

७. विधान परिषदों के अधिकारों में वृद्धि

१८९२ के अधिनियमों द्वारा विधान परिषद् के सदस्यों को विधि निर्माण के अतिरिक्त जो अधिकार दिये गये थे वे अत्यंत सीमित थे। इस अधिनियम ने परिषदों के अधिकारों को पहले की तुलना में बढ़ाया। अभी तक सदस्यों को केवल प्रश्न पूछने का अधिकार था। लेकिन १९०९ के अधिनियम के द्वारा सदस्यों को पूरक प्रश्न पूछने का भी अधिकार दिया गया। लेकिन पूरक प्रश्न वही सदस्य पूछ सकता था जिसने मूल प्रश्न किया हो। दूसरे प्रकार के अधिकार बजट से संबंधित थे। अब विधान परिषदें तीन चरणों में बजट का परीक्षण करने लगीं। पहले चरण में बजट के ऐसे प्रस्तावों पर विचार होता था जहाँ कर-व्यवस्था को बदलने का कोई प्रस्ताव हो, नया कर्ज माँगा जा रहा हो अथवा किसी प्रांतीय सरकार को अनुदान दिया जा रहा हो। दूसरे चरण में, कार्यकारिणी का वित्तीय सदस्य परिषद् के सदस्यों को आमदनी अथवा व्यय के उन प्रस्तावों का ब्यौरा देता था जिनपर विधान परिषद् के सदस्यों को बहस करने का अधिकार था। तीसरे और अंतिम चरण के समय वित्त सदस्य पूरे-बजट के प्रस्तावों को प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट करता था कि विधान परिषद के सदस्यों द्वारा प्रस्तावित किसी विशेष प्रस्ताव को वह स्वीकार कर रहा था अथवा नहीं। इसके बाद बजट पर आम बहस होती थी किंतु इस समय कोई प्रस्ताव पेश नहीं किया जा सकता था।

१९०९ के अधिनियम का मूल्याँकन

१८६१ के अधिनियम के पारित होने के करीब पचास वर्षों बाद भी ब्रिटिश सरकार उसी संवैधानिक व्यवस्था को बनाये रखने की जो नीति अपना रही थी वह देश के किसी भी राजनीतिक पक्ष को संतुष्ट नहीं कर सकी। इससे यह दिखायी दिया कि भारत में ब्रिटिश सरकार के संचालक पुराने ढोल को पीटने के अलावा और कुछ भी करने को तैयार नहीं थे। मोर्ले तथा मिंटो इस विचार में एकमत थे कि पश्चिम की प्रजातांत्रिक व्यवस्था तथा प्रतिनिधित्व प्रणाली के लिये भारतीय सक्षम नहीं थे। उन्होंने बार-बार जोर देकर यह कहा कि भारत के निवासी तरह-तरह के संप्रदायों, वर्गों तथा जातियों में बँटे हुए थे। सरकार की ओर से यह दलील दी गयी कि इन गहरे मतभेदों के कारण भारत में प्रतिनिधि पद्धति को अपनाना व्यावहारिक नहीं था। इससे सभी भारतीयों को निराशा हुई।

१९०९ का अधिनियम पारित होने के पूर्व नरम दल के नेताओं को गृह सरकार के रुख से बड़ी आशा बँधी थी। दिसंबर, १९०८ में कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में इस संगठन के अध्यक्ष रासबिहारी घोष ने आशा प्रकट की थी कि बादल छँट रहे थे और ब्रिटिश राजनीतिज्ञ तुरन्त कदम उठायेंगे। उन्होंने जिस 'सुनहरे क्षण' की आशा बँधाई थी वह इस अधिनियम से नहीं आ सका। कांग्रेस का उत्साह शीघ्र ही ठंडा पड़ने लगा। इस अधिनियम के पारित होने के बाद १९०९ में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष पंडित मदनमोहन मालवीय ने

ब्रिटिश सरकार को चेतावनी देते हुए कहा कि अधिनियम के आधार पर बनाये गये नियमों के द्वारा भारत में पहली बार धर्म को प्रतिनिधित्व का जो आधार बनाया गया था उससे मुसलमानों और गैर मुसलमानों के बीच मतभेद की दीवार खड़ी हो जायगी। कांग्रेस ने सरकार के उन निर्णयों के प्रति विरोध प्रकट किया जिनके अनुसार बहुसंख्यक वर्ग के हितों की उपेक्षा की गयी थी। करीब दस वर्ष बाद जब मोंटफोर्ड रिपोर्ट प्रस्तुत की गयी तो उसमें १९०९ के अधिनियम की योजना की असफलता को स्वीकार किया गया। रिपोर्ट में कहा गया कि '१९०९ की सुधार योजना भारतीय राजनीतिक समस्याओं का न तो कोई उत्तर दे सकी और न कोई उत्तर दे सकती थी।' सरकारी पक्ष की इस स्वीकारोक्ति में यह समझा जा सकता है कि मोर्ले और मिंटो ने मिलकर जो योजना प्रस्तुत की वह परिस्थितियों की दृष्टि से बिल्कुल अपर्याप्त थी।

१९०९ की सुधार-योजना का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसके अनुसार सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के विषैले सिद्धांत का सूत्रपात किया गया जिसके कारण देश के दो प्रमुख संप्रदायों के बीच एकता की भावना घटती गयी। तत्कालीन ब्रिटिश अधिकारी भारतीयों की राष्ट्रीय भावना की लगातार अनदेखी करते रहे।

१९१९ का अधिनियम

१९१९ के अधिनियम ने भारत के संवैधानिक विकास को एक नया मोड़ दिया क्योंकि इसके प्रस्तावित किये जाने के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की थी कि धीरे-धीरे उत्तरदायी सरकार की स्थापना भारत में की जायेगी। लेकिन शीघ्र ही दिखायी देने लगा कि संवैधानिक व्यवस्था के स्वरूप को यथावत् बनाये रखते हुए इसमें कुछ ऐसी व्यवस्थाओं का समावेश किया जा रहा था जिनसे भारतीयों का विधान परिषदों में प्रभाव बढ़े। उत्तरदायी सरकार का लक्ष्य एक सुखद कल्पना बनकर रह गया और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो कदम उठाये गये वे भारतीयों की आशा के अनुरूप नहीं थे।

परिस्थितियाँ

प्रथम विश्वयुद्ध से भारतीय राजनीति में अचानक तेजी आ गयी। १९१६ में इसके लक्षण साफ दिखाई देने लगे थे। ब्रिटिश सरकार की 'सुधार और दमन' की नीति की निरर्थकता इस समय तक सिद्ध हो चुकी थी। एक ओर सरकार की सुधार नीति से नरम दल की शक्ति न बढ़ सकी और दूसरी ओर यह भी दिखाई देने लगा था कि उग्रवादी आंदोलन करने वाले भी घुटने टेकने को तैयार नहीं थे। गोखले, दादाभाई नौरोजी और फिरोजशाह मेहता की मृत्यु हो जाने से नरम दल का प्रभाव और भी घटता गया। १९१६ में लखनऊ में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में नरम और उग्रवादी दोनों दलों ने भाग लिया। इस प्रकार १९०७ से कांग्रेस आंदोलन में जो दरार पड़ गयी थी वह पूरी तरह से पाट दी गयी। लेकिन इसी सम्मेलन से यह प्रकट हो गया था कि कांग्रेस पर अब उग्रवादियों का कब्जा हो चुका था। इस परिस्थिति में ब्रिटिश सरकार कांग्रेस के विभाजन से कोई लाभ नहीं उठा सकती थी।

इसी समय भारत में होमरूल आंदोलन भी सक्रिय हुआ। लोकमान्य तिलक और ऐनी बेसेंट ने स्वशासन की माँग का नारा बुलंद किया। देश के प्रत्येक भाग में होमरूल संगठन तैयार

किये गये। इस आंदोलन ने भारत की सवैधानिक समस्या के जिस मूल प्रश्न को उठाया उसे अस्वीकार करना किसी के वश की बात नहीं थी।

इसी समय एक और घटना घटी और वह थी मुस्लिम लीग का कांग्रेस से समझौता। १६१६ में जो 'लखनऊ समझौता' हुआ उसमें दोनों राजनीतिक दलों ने देश की भावी सवैधानिक योजना तैयार कर ली। इसी समझौते में पहली बार कांग्रेस ने सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जो बाद में एक बड़ी भूल सिद्ध हुई।

मांटेग्यू घोषणा

२० अगस्त १६१७ को भारत सचिव एडविन मांटेग्यू ने ब्रिटिश संसद् में भारत की भावी सवैधानिक योजना का लक्ष्य निर्धारित करते हुए एक महत्त्वपूर्ण घोषणा की। इसमें यह कहा गया कि भारत में 'धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन की स्थापना के उद्‌देश्य से स्वशासन संस्थाओं का क्रमिक विकास किया जायेगा।' भारतीयों को आश्वस्त करने के लिए इस घोषणा में चार प्रमुख सिद्धांत दिये गये थे जो इस प्रकार हैं--

१. भारतीयों को शनैः शनैः प्रशासन के प्रत्येक विभाग में अधिक-से-अधिक संख्या में शामिल किया जायगा।
२. भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना धीरे-धीरे की जायेगी। इस उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिये स्वशासन के अवसर प्रदान किये जायेंगे।
३. इस दिशा में प्रगति क्रमिक विकास द्वारा की जायेगी।
४. ब्रिटिश सरकार स्वयं ही इस नीति के संबंध में आवश्यकतानुसार निर्णय लेगी।

मोंटफोर्ड रिपोर्ट

इस घोषणा के बाद भारत सचिव भारत आये। उन्होंने तथा तत्कालीन वाइसराय चेम्सफोर्ड ने मिलकर सवैधानिक स्थिति पर एक लंबी-चौड़ी रिपोर्ट पेश की जो उन दोनों के नाम से मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड अथवा मोंटफोर्ड रिपोर्ट कहलाती है। जुलाई, १६१८ में यह रिपोर्ट प्रकाशित की गयी। इस रिपोर्ट से सभी को यह आभास मिल गया कि आगामी अधिनियम का स्वरूप क्या होगा। इसी रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटिश संसद में मई, १६१६ में एक विधेयक पेश किया गया जो कुछ महीनों बाद खारिज कर दिया गया।

१६१६ के अधिनियम की मुख्य व्यवस्थाएँ

१६१६ के भारतीय शासन अधिनियम ने देश की सवैधानिक और प्रशासनिक व्यवस्था में निम्नांकित परिवर्तन किये--

१. गृह सरकार

१८५८ के अधिनियम के अनुसार भारत सचिव को भारतीय प्रशासन पर नियंत्रण बनाये रखने के जो अधिकार दिये गये थे उन्हें १६१६ के अधिनियम ने यथावत् बनाये रखा। इस प्रकार भारत सचिव के अधिकारों में कोई कमी नहीं की गयी। किंतु फिर भी अधिनियम से ब्रिटिश

संसद का प्रभाव उसके ऊपर बढ़ गया। यह इस कारण संभव हो सका क्योंकि अव भारत सचिव और उसके विभाग पर होनेवाले खर्च की स्वीकृति ब्रिटिश संसद देने लगी। इसका प्रभाव यह पड़ा कि ब्रिटिश संसद के सदस्य उसके तथा उसके विभाग का वेतन स्वीकार करते समय भारत सचिव के कार्यों की आलोचना भी कर सकते थे। भारत सचिव की कौंसिल के संगठन के विषय में भी परिवर्तन किये गये। इसके सदस्यों की अधिकतम संख्या १४ से घटाकर १२ कर दी गयी और इनका कार्यकाल ७ वर्ष से घटाकर ५ वर्ष कर दिया गया।

१९१९ के अधिनियम के अनुसार ब्रिटेन में भारत की ओर से एक अन्य अधिकारी नियुक्त किया जाने लगा जो हाई कमिश्नर कहलाया। भारत सचिव की सलाह से वाइसराय इस पद पर किसी व्यक्ति को चुन सकता था। भारतीय व्यापार की ब्रिटेन में देखभाल करना, ब्रिटेन में शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों के हितों का ध्यान रखना और भारतीय शासन के लिए आवश्यक सामग्री खरीदना इसके मुख्य कार्य थे।

२. गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् का स्वरूप

केन्द्रीय कार्यकारिणी के स्वरूप में कोई भी आधारभूत परिवर्तन नहीं किया गया। इससे यह साफ जाहिर है कि केन्द्रीय प्रशासन में उत्तरदायी सरकार की स्थापना का कोई भी इरादा अधिनियम का निर्माण करने वालों का नहीं था।

केन्द्रीय प्रशासन का आधारस्तंभ गवर्नर जनरल था। उसे कार्यकारी, प्रशासनिक, विधि-निर्माण तथा वित्त संवंधी विस्तृत अधिकार प्रदान किये गये थे जिससे कि वह किसी भी स्थिति में एक स्वेच्छाचारी प्रशासक की तरह अपने अधिकारों का प्रयोग कर सके। वह केवल गृह सरकार के प्रति उत्तरदायी था। केन्द्रीय विधान परिषद् का उसपर किसी प्रकार का अधिकार नहीं था। १८५८ से भारत में जिस प्रकार की प्रशासनिक निरंकुशता आरंभ की गयी उसे १९१९ के अधिनियम में भी उसी प्रकार बनाये रखा गया।

केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद् के संगठन में कुछ परिवर्तन किये गये। अभी तक इस परिषद् की संख्या ६ निर्धारित की गयी थी। इस अधिनियम के द्वारा अधिकतम सीमा का बंधन हटा दिया गया। आवश्यकता के अनुसार कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या बढ़ायी जा सकती थी। इस व्यवस्था के अनुसार केन्द्रीय कार्यकारिणी में भारतीयों की संख्या १ से बढ़ाकर ३ कर दी गयी। प्रशासन में भारतीयों का सहयोग प्राप्त करने की दिशा में यह परिवर्तन किया गया था।

३. केन्द्रीय तथा प्रांतीय विषयों का विभाजन

१९१९ के अधिनियम की सवसे प्रमुख विशेषता थी प्रांतीय और केन्द्रीय सरकारों के अधिकार क्षेत्रों को निश्चित करना। इस प्रकार भारत में संघात्मक व्यवस्था के आरंभ की ओर पहला महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया।

केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के बीच पहली बार प्रशासन के समस्त विषयों को 'केन्द्रीय' और 'प्रांतीय' दो वर्गों में बाँटा गया। विषयों के विभाजन का आधार यह था कि जो विषय समूचे देश के लिये महत्त्व के थे और जिनकी व्यवस्था की आवश्यकता सभी प्रांतों को समान रूप

से थी उन्हें केन्द्रीय विषय माना गया। रेलवे, डाक-तार, यातायात, सुरक्षा, वैदेशिक नीति आदि विषय केन्द्रीय थे। प्रांतीय सूची में स्थानीय महत्त्व के विषय रखे गये जैसे शिक्षा, स्वशासन, स्वास्थ्य, कृषि, सिंचाई आदि। विषयों के विभाजन के अतिरिक्त शेष विषयों को केन्द्र के अधिकार में सौंप दिया गया। प्रांतीय सरकारों को स्वायत्तता देने के लिए उनके आय के साधनों को भी स्पष्ट कर दिया गया ताकि ये सरकारें विभिन्न विभागों के विकास के लिए हमेशा सरकार का ही मुँह न ताकती रहें।

४. केन्द्रीय विधान मंडल-- संगठन और अधिकार

इस अधिनियम ने केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान मंडलों में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। पहली बार केन्द्र में द्विसदनात्मक विधान मंडल की स्थापना की गयी। ये दो सदन राज्य परिषद् और विधान सभा कहलाये।

१९१९ के अधिनियम ने केन्द्रीय विधान मंडल में गैर-सरकारी निर्वाचित सदस्यों का बहुमत कर दिया और सदस्यों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि भी कर दी। १९०९ के अधिनियम में कुल सदस्य ६० थे जब कि १९१९ के अधिनियम में यह संख्या केन्द्र के दोनों सदनों को मिलाकर इसकी तीन गुनी कर दी गयी। केन्द्र के उच्च सदन-- राज्य परिषद् -- में अधिक से अधिक ६० सदस्य हो सकते थे। इनमें से २७ सदस्य मनोनीत और ३३ निर्वाचित किये जाने लगे। केन्द्रीय विधान सभा के सदस्यों की कुल संख्या १४० निर्धारित कर दी गयी। इस सभा के १०४ सदस्य निर्वाचित किये जाते थे और ४१ सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे। इस सदन के संगठन से यह अनुमान लगाया जा सकेगा कि किस प्रकार की निर्वाचन पद्धति अपनायी गयी थी। १९०९ के अधिनियम की तरह इस अधिनियम में भी सीटें विभिन्न संप्रदायों, वर्गों और हितों में बाँटी गयीं। इनमें से ५२ सीटें सामान्य रखी गयीं। ३० सीटें मुसलमानों के लिए, २ सिखों के लिए, ९ यूरोपियनों के लिए, ७ जमींदारों के लिए और ४ सीटों के लिए भारतीय वाणिज्य के प्रतिनिधियों के चुनाव की व्यवस्था की गयी। जो सदस्य नामजद किये जाते थे उनमें से २६ राजकीय अधिकारी और १५ गैर-सरकारी अधिकारी थे।

अभी तक केन्द्रीय विधान परिषद् के लिए प्रत्यक्ष चुनाव होता था। इसके स्थान पर १९१९ के अधिनियम ने प्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की। चुनाव के लिए साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और कुछ हितों के लिए विशेष प्रतिनिधित्व का सिद्धांत अपनाया गया। संपत्ति के आधार पर ही चुनाव में भाग लेने अथवा सदस्य बनाने का अधिकार दिया गया। कितने कम लोग चुनाव में भाग ले सकते थे यह इसी से जाहिर होता है कि १९२० में केन्द्रीय विधान सभा के लिए वोट देने का अधिकार करीब ९ लाख व्यक्तियों को दिया गया था।

इस अधिनियम ने केन्द्रीय विधान मंडल के अधिकारों को भी बढ़ाया। पहला अधिकार था प्रश्न पूछना, जिसका समुचित प्रयोग करके सदस्य सरकार की नीतियों की आलोचना कर सकते थे। विधान मंडल के सदस्यों को कानून बनाने के विस्तृत अधिकार दिये गये। वह केन्द्रीय सूची में दिये गये सभी विषयों पर कानून बना सकती थी। इसे वित्तीय शक्तियाँ भी दी गयी थीं। जब हम केन्द्रीय विधान मंडल की शक्तियों पर विचार कर रहे हैं तब यह भी कहना जरूरी

है कि व्यावहारिक रूप में विधान मंडल के सदस्यों के अधिकारों पर आवश्यकता से अधिक प्रतिबंध लगे हुए थे। सरकार को जनता के प्रतिनिधियों पर भरोसा नहीं था। वह ऐसी किसी भी स्थिति के लिये तैयार रहना चाहती थी जब प्रतिनिधि-संस्था के रोड़ा अटकाने पर भी राजकीय कार्यवाही को चलाना संभव हो सके। उदाहरण के लिए केन्द्रीय विधान मंडल के वित्तीय अधिकारों की चर्चा करना उपयुक्त होगा। केन्द्रीय बजट को दो भागों में बाँटा जाता था। इसमें से एक भाग ऐसा था जिसपर सरकार को विधान मंडल के मत की आवश्यकता नहीं रहती थी। दूसरा भाग वह था जिसपर विधान मंडल के सदस्य अपना मत प्रकट करते थे। लगभग ८५ प्रतिशत बजट का भाग ऐसा था जिसपर केन्द्रीय विधान मंडल का नियंत्रण नहीं था। इसी से जाना जा सकता है कि कानून निर्माण करनेवाली यह केन्द्रीय संस्था किस हद तक कमजोर थी।

५. प्रांतीय विधान परिषद्

प्रांतों में कानून बनाने के लिए केवल एक सदन रखा गया। केन्द्र के समान प्रांतों के लिए दो सदनों की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। इन परिषदों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गयी। प्रत्येक प्रांतों के सदस्यों की संख्या उसके आकार के अनुसार एक दूसरे से भिन्न थी। सबसे छोटी परिषद् असम प्रांत की थी जिसमें ५३ सदस्य थे जबकि बंगाल की परिषद् में १४० सदस्य थे। निर्वाचित सदस्यों का बहुमत सभी परिषदों में रखा गया। वर्तमान उत्तर प्रदेश की परिषद् से उस समय की परिषद् के वास्तविक स्वरूप का अंदाज लगाया जा सकता है। इस परिषद् के कुल १२५ सदस्य अलग-अलग श्रेणियों में इस प्रकार विभाजित थे : कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य तथा मनोनीत अधिकारी - १७, मनोनीत गैर-सरकारी सदस्य - ६; चुने गये गैर-मुसलमान सदस्य - ६०; चुने गये मुसलमान सदस्य - २९; चुने गये यूरोपीय सदस्य - १; चुने गये जमींदार - ६; विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि - १; व्यापार और उद्योग - ३; मतदान का अधिकार कुछ ही लोगों को मिला हुआ था। लगभग २.५ प्रतिशत लोग ही चुनावों में भाग ले सकते थे। मतदाता वही हो सकता था जो संपत्ति का स्वामी हो अथवा सरकार द्वारा निर्धारित कर देता हो। इन्हीं लोगों के प्रतिनिधि सदस्य बन सकते थे।

प्रांतीय विधान परिषद् के सदस्यों के अधिकार बढ़े। कानून बनाने की प्रक्रिया में ये सदस्य सक्रिय भाग ले सकते थे। प्रांतीय विषय अब स्पष्ट निर्धारित कर दिये गये थे जिनसे संबंधित कानून बनाने का अधिकार प्रांतीय परिषदों को दिया गया। पहली बार इन परिषदों को अपना सभापति चुनने का अधिकार दिया गया। गवर्नर इन सदनों का अध्यक्ष नहीं रहा। इससे इन सदनों पर सरकार का प्रभाव घटा। द्वैध शासन-व्यवस्था आरंभ होने के कारण विधान परिषद् के सदस्यों को प्रांतीय शासन पर निगरानी रखने का मौका मिला। जो विषय हस्तांतरित विषय कहलाये उनके संबंध में प्रांतीय परिषद् प्रभावशाली थी।

६. प्रांतों में द्वैध शासन

१९१९ के अधिनियम का सबसे मुख्य निर्णय था प्रांतों में द्वैध शासन की स्थापना। इसका महत्त्व इस कारण है क्योंकि उत्तरदायी शासन की स्थापना का आरंभिक प्रयोग इसी द्वैध

शासन-प्रणाली के अनुसार किया गया। १९१७ की घोषणा के समय से ब्रिटिश सरकार ने वचन दिया था कि भारत में क्रमशः उत्तरदायी शासन की स्थापना की जायगी। यह स्वाभाविक ही था कि अधिनियम में इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक व्यवस्थाएँ की जातीं। इस विषय में यह निश्चय किया गया कि केन्द्रीय शासन को यथावत् बनाये रखा जाये। केन्द्र की बजाय प्रांतों में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था करने का सैद्धांतिक निर्णय किया गया। लेकिन अधिनियम का निर्माण करनेवाले प्रांतों में भी पूरी तरह से उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए तैयार नहीं हुए। उनका कहना था कि इस नये संवैधानिक प्रयोग का पर्याप्त अनुभव भारतीयों को नहीं था और प्रशासन में कठिनाइयाँ आ सकती थीं। यह तर्क देते हुए प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का निर्णय किया गया। साफ जाहिर है कि ब्रिटिश सरकार प्रांतीय शासन के एक भाग पर नौकरशाही का अधिकार बनाये रखना चाहती थी और दूसरे भाग को वह जनता के प्रतिनिधियों को सौंपने को तैयार हुई। ऐसी स्थिति में दो अलग-अलग उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए एक निराला प्रयोग किया गया जो द्वैध शासन अथवा दोहरा शासन कहलाता है।

अब हमें यह देखना है कि प्रांतों में द्वैध शासन की प्रक्रिया किस प्रकार की गयी थी। इस संबंध में प्रांतीय विषयों को दो भागों में बाँट दिया गया। ये दो भाग आरक्षित विषय तथा हस्तांतरित विषय कहलाये। आरक्षित विषय ऐसे थे जो प्रांतीय प्रशासन के लिए महत्त्वपूर्ण थे, जैसे पुलिस, जेल, न्याय, वित्त और राजस्व आदि। हस्तांतरित विषय इतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे। शिक्षा, स्वास्थ्य, स्थानीय स्वशासन, कृषि आदि विषयों को हस्तांतरित कहा गया था।

प्रांतीय कार्यकारिणी को दो भागों में विभक्त कर दिया गया। एक भाग में थे गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्य और दूसरे भाग में थे गवर्नर और विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्री। गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों के हाथों में आरक्षित विषय रहे तथा हस्तांतरित विषय मंत्रियों के हाथों में सौंप दिये गये। नौकरशाही ने आरक्षित विषयों पर अपना अधिकार बनाये रखा तथा बचे हुए हस्तांतरित विषयों को मंत्रियों के अधिकार में कर दिया गया। पहले भाग का प्रशासन करने वाले गवर्नर जनरल अथवा भारत सचिव के प्रति उत्तरदायी थे। केवल दूसरे भाग के मंत्री प्रांतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्रांतीय प्रशासन के एक भाग की देखरेख करनेवाले मंत्री हस्तांतरित विषय की व्यवस्था का संचालन करने के लिए जनता के प्रतिनिधियों के प्रति जिम्मेदार थे।

१९१९ के अधिनियम की नवीनता इसी में थी कि जिन नौ प्रांतों में इसे लागू किया गया उनमें मंत्रियों को नियुक्त किया गया। गवर्नर को यह जिम्मेदारी दी गयी कि वह प्रांतीय विधान सभा के सदस्यों में से ही इन मंत्रियों को चुने। ये मंत्री अपने विभागों के कार्यों के लिए प्रांतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे और इस सभा का विश्वास न रहने पर उन्हें अपने पद से हटना पड़ता था। इस प्रकार मंत्रियों की नियुक्ति करके तथा हस्तांतरित विषय उन्हें सौंपकर प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी शासन का सूत्रपात किया गया था।

हालाँकि नियमतः प्रांतीय सरकार के दोनों भाग एक दूसरे से अलग थे और अपने-अपने

दायरे में काम करते थे, पर किसी भी प्रशासन का संचालन ऐसी बनावटी विभाजित रेखा को खींचकर नहीं चलाया जा सकता था। १६१६ का अधिनियम बनाते समय भी इस कठिनाई का अंदाज लगा लिया गया था। इसी से अधिनियम में कई ऐसी धाराएँ रखी गयी थीं जिनके अनुसार दोनों भागों के बीच पर्याप्त संपर्क बना रहे। यह इसलिए भी जरूरी था कि विषयों का विभाजन ऐसा नहीं हो सकता था कि एक विषय के लिए जिम्मेदार पक्ष को दूसरे की सहायता की जरूरत ही न पड़े। उदाहरण के लिए कृषि से संबंधित विषयों का संबंध प्रशासन के दोनों भागों से था और इनके निकट संपर्क से ही कृषि क्षेत्र में विकास हो सकता था। इस प्रकार के सहयोग के लिए गवर्नर को मुख्य भूमिका अदा करनी थी क्योंकि वह दोनों भागों पर समान ढंग से निगरानी करता था। केन्द्र में जिस प्रकार गवर्नर जनरल को तरह-तरह के अधिकार तथा विशेषाधिकार देकर उसे स्वेच्छाचारी ढंग से कार्य करने की स्वतंत्रता दी गयी थी उसी प्रकार प्रांतीय शासन पर गवर्नर का पूरा नियंत्रण बना रहा। वह द्वैध शासन का आरंभ होने के बाद भी निरंकुश बना रहा। विधान सभा उसपर नियंत्रण नहीं कर सकती थी।

द्वैध शासन प्रणाली की असफलता

यहीं पर यह स्पष्ट कर देना भी जरूरी है कि द्वैध शासन पद्धति असफल सिद्ध हुई। इसके कई कारण दिये जा सकते हैं।

पहला कारण यह था कि द्वैध शासन का सिद्धांत ही दोषपूर्ण था। माना हुआ सिद्धांत है कि कोई प्रशासन एक इकाई की तरह काम करता है और इसमें किसी भी प्रकार का बँटवारा करने से ऐसी अड़चनें आ जाती हैं कि समूची व्यवस्था का संचालन कठिन हो जाता है। द्वैध शासन का सिद्धांत ही ऐसा था कि इसके अनुसार प्रांतीय शासन को चलाना कठिन हो गया। यह बड़ी ही पेचीदी व्यवस्था थी जो पंद्रह वर्ष से अधिक नहीं चल सकी।

इस व्यवस्था की दूसरी कमजोरी यह थी कि गवर्नर के हाथों में असीमित अधिकार दे दिये गये थे। कोई उत्तरदायी व्यवस्था तभी सफल हो सकती थी जब कि शासन का अध्यक्ष संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करे और वास्तविक सत्ता जनप्रतिनिधित्व करने वाली संस्था को सौंपी जाये। १६१६ के अधिनियम में स्वेच्छाचारी और निरंकुश ढंग से कार्य करनेवाले गवर्नर को यह जिम्मेदारी दी गयी कि वह शासन के एक भाग में उत्तरदायी पद्धति को पनपने दे। इस प्रयोग की सफलता में गवर्नर को कोई भी रुचि नहीं थी।

तीसरे, विभागों का वर्गीकरण अप्राकृतिक और असंगत था। उदाहरण के लिए कृषि विभाग को तो हस्तांतरित विषय घोषित कर दिया गया लेकिन सिंचाई, राजस्व और बिजली आदि विषयों को आरक्षित विषयों की श्रेणी में रखकर दूसरे भाग के हाथों में दे दिया गया। ऐसी स्थिति में कृषि कार्य का संचालन करने में नित्य ही कठिनाइयाँ आने लगीं। इसी प्रकार से वित्त विभाग आरक्षित विषय था। लेकिन वित्त विभाग पर ही सभी हस्तांतरित विभाग आधारित थे। दोनों भागों के बीच जैसा संपर्क अनिवार्य था वह नहीं हो सका। इससे द्वैध शासन प्रणाली ठीक प्रकार से न चल सकी।

द्वैध शासन पद्धति की असफलता का चौथा कारण यह था कि प्रशासन के उच्च

अधिकारियों पर मंत्रियों का नियंत्रण नहीं था। इंडियन सिविल सर्विस के सदस्यों की नियुक्ति, वेतन तथा कार्यकाल पर मंत्रियों का प्रभाव नहीं था। ये अधिकारी सीधे गवर्नर के अधिकार में थे। उन्होंने मंत्रियों के साथ सहयोग नहीं किया।

अंतिम कारण यह था कि मंत्रियों में भी संयुक्त उत्तरदायित्व की व्यवस्था नहीं की गयी। प्रांतीय गवर्नर प्रत्येक वर्ग तथा हितों के प्रतिनिधि को मंत्री बनाता था जिसके कारण ये मंत्री अलग-अलग राजनीतिक विचारों के होते थे। वे एक होकर न तो कार्य करना चाहते थे और न सामूहिक उत्तरदायित्व की व्यवस्था को बढ़ावा ही दिया गया।

१६१६ के अधिनियम का महत्त्व

१६१६ का अधिनियम भारत के संवैधानिक इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसके द्वारा पहली बार देश में उत्तरदायी सरकार को स्थापित करने की पद्धति प्रांतों में अपनायी गयी। यदि वह व्यवस्था अधिक सफल नहीं हो सकी तो इसका कारण यही था कि इसे आंशिक रूप में अपनाने की कोशिश की गयी थी। परिणाम कुछ भी रहे हों, यह कम महत्त्व की बात नहीं थी कि प्रांतीय स्तर पर संसदीय शासन-व्यवस्था के तत्त्वों की झलक दिखायी दी।

दूसरे, यह भी एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत स्वीकार किया गया कि भारतीयों को प्रशासन में भाग लेने के अधिक अवसर दिये जायें। केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद में अब एक भारतीय सदस्य के स्थान पर तीन भारतीय सदस्य नियुक्त किये गये तथा भविष्य में इनकी संख्या कितनी भी बढ़ायी जा सकती थी। प्रांतों में भारतीयों को मंत्री के पद पर नियुक्त किया जाने लगा। इसी प्रकार प्रशासनिक सेवा में भी भारतीयों को अधिक स्थान मिलने लगे।

तीसरे, केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान सभाएँ इस अधिनियम के अनुसार अधिक कारगर ढंग से काम कर सकती थीं। उनकी संख्या में पर्याप्त वृद्धि की गयी। उन्हें अपना अध्यक्ष निर्वाचित करने का अधिकार मिला। उनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो गया। केन्द्र में पहली बार दो सदनों की स्थापना की गयी। कार्यकारिणी को प्रभावित करने के अवसर इन विधान सभाओं को मिले।

चौथे, चुनाव प्रक्रिया का विस्तार करके भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था को सक्रिय किया गया। अब विधान मंडलों के चुनावों में अधिक लोग भाग लेने लगे। अभी भी चुनावों का ढंग कई प्रकार से पेचीदा था। जब तक संपत्ति को आधार मानकर मताधिकार दिया जाता था उस समय तक यह व्यवस्था किसी को भी संतुष्ट नहीं कर सकती थी। फिर भी पहले की तुलना में एक चरण आगे की ओर बढ़ाया गया।

पाँचवें, यह भी स्वीकार किया जाता है कि इस अधिनियम ने भारतीयों को प्रतिनिधि व्यवस्था के लिए तैयार किया। विधान सभाओं में भाग लेकर देश की न्याय व्यवस्था और आर्थिक व्यवस्था को प्रभावित करने के उद्देश्य से कई कानून पारित किये गये। इस प्रकार इस अधिनियम ने देश की आर्थिक प्रगति की समस्याओं की ओर सभी का ध्यान खींचा।

लेकिन इतना सब होते हुए भी देश के प्रमुख राजनीतिक दलों तथा नेताओं ने अधिनियम

के प्रति अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की क्योंकि वे सरकार की हिचकिचाहट से ऊवने लगे थे। ब्रिटिश सरकार प्रत्येक निर्णय करते समय आवश्यकता से अधिक सतर्कता दिखाती थी। उसे भारतीयों पर भरोसा नहीं था। इससे उत्तरदायी सरकार की स्थापना के घोषित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए जिस द्वैध शासन का प्रावधान किया गया वह निराशाजनक साबित हुआ। भारत के नेता सरकार के प्रलोभनों में अब अधिक फँसने को तैयार नहीं थे। यह भी दिखायी देता है कि प्रथम महायुद्ध के उपरांत की राजनीतिक सरगर्मी के समय १९१९ के अधूरे प्रयोगों का स्वागत नहीं किया जा सकता था। यही अधिनियम यदि १९१४ के पूर्व पारित होता तो सभी लोग ब्रिटिश सरकार की वाह-वाह करते। पर १९१९ का वातावरण बदला हुआ था। इस समय अधूरे कार्य तथा अधूरे वायदों से देश की राजनीतिक स्थिति को ब्रिटिश सरकार प्रभावित नहीं कर सकती थी।

१९३५ का अधिनियम

१९१९ का अधिनियम पारित हुए अभी दस वर्ष भी नहीं बीते थे कि एक बार फिर भारत में संवैधानिक परिवर्तन का प्रश्न गरम हो उठा। जैसे ही ब्रिटिश सरकार ने १९२७ में साइमन कमीशन की नियुक्ति की घोषणा की सभी का ध्यान देश के भावी संविधान के स्वरूप की ओर अनायास खिंच गया और कई वर्षों तक बहस जारी रही। लंबी चर्चा के बाद ब्रिटिश संसद ने पुनः १९३५ का अधिनियम पारित किया।

पृष्ठभूमि

१९२७ में ब्रिटिश सरकार ने सात सदस्यों के एक आयोग की स्थापना की जिसके अध्यक्ष जान साइमन थे। अध्यक्ष के नाम से ही यह आयोग साइमन कमीशन कहलाया। आयोग को यह जाँच करना था कि १९१९ के अधिनियम का परिपालन किस प्रकार हुआ था और उसे यह प्रतिवेदन करने को कहा गया था कि भारत में उत्तरदायी शासन किस सीमा तक स्थापित किया जाये।

आयोग की रिपोर्ट तीन वर्ष बाद प्रकाशित हुई। लेकिन उसके पहले ही इसके संगठन को लेकर भारत में जो प्रतिक्रिया प्रकट की गयी थी उससे जाहिर हो गया था कि किसी को भी आयोग पर विश्वास नहीं था। भारतीय यह देखकर उफन पड़े कि आयोग के सभी सदस्य अंग्रेज थे। वे अब ऐसी स्थिति बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे कि गंभीर समस्याओं पर निर्णय करते समय सरकार भारतीयों की उपेक्षा करे। आयोग के संगठन को देखकर उन्हें यही लगा कि जान-बूझकर ब्रिटिश सरकार ने यह कदम उठाया था। साइमन कमीशन जब भारत आया तो काले झंडों से उसका स्वागत किया गया।

इस कमीशन की रिपोर्ट बहुत ही निराशाजनक थी। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि इसमें राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उपेक्षा की गयी थी। इसमें जातिगत और सांप्रदायिक मतभेदों को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया था।

जहाँ एक ओर साइमन कमीशन ने ब्रिटिश दृष्टिकोण से संवैधानिक सुधारों का सुझाव

दिया वहाँ दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रवादी पक्ष को नेहरू समिति ने एक विस्तृत अध्ययन के फलस्वरूप १९२८ में प्रस्तुत किया। मोतीलाल नेहरू ने जो प्रतिवेदन पेश किया था उसमें देश के भावी संवैधानिक स्वरूप पर भली – प्रकार विचार किया गया था। नेहरू रिपोर्ट में पहली बार यह प्रस्ताव किया गया कि भारत में संघीय सरकार स्थापित करना जरूरी था। इस रिपोर्ट में यह माँग भी की गयी कि यथाशीघ्र भारतीयों को राजनीतिक शक्ति हस्तांतरित कर दी जाय। नेहरू रिपोर्ट में समूचे देश को एक इकाई माना गया था और इस प्रकार यह रास्ता सुझाया गया कि भावी संवैधानिक योजना में देशी राज्यों को अलग न रखा जाये। नेहरू रिपोर्ट में भारत को ब्रिटिश साम्राज्य में वही पद दिये जाने की माँग की गयी जो आस्ट्रेलिया अथवा कनाडा को मिला हुआ था। परंतु शीघ्र ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने १९२९ में 'पूर्ण स्वराज्य' अथवा आजादी प्राप्त करने का व्रत लिया।

१९३०-३२ में लंदन में तीन गोलमेज सम्मेलन हुए जिनमें भारत के भावी संविधान पर विचार किया गया। इनमें ब्रिटेन के तीनों राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों, देशी राज्यों के प्रतिनिधियों तथा भारत के राजनीतिक दलों और अन्य वर्गों को आमंत्रित किया गया। प्रथम और तृतीय गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस ने भाग नहीं लिया। इससे सम्मेलन की कार्यवाही को धक्का लगा। परंतु फिर भी ब्रिटिश सरकार यह सिद्ध करने पर दृढ़ रही कि उसने सभी संबंधित पक्षों से परामर्श किर लिया था।

गोलमेज सम्मेलन के परिणामों पर चर्चा करते समय सबसे पहले यह ध्यान देना चाहिये कि इसमें मूल प्रश्न की अनदेखी कर दी गयी थी। उस समय भारतीयों की मुख्य माँग थी आजादी। लेकिन सम्मेलन इसके विषय में कुछ भी निर्णय नहीं कर सका। इसने भावी संवैधानिक सुधार के तीन सिद्धांत तय किये-- १. संघ, २. प्रांतीय स्वायत्तता और ३. कार्यकारिणी को केन्द्र तथा प्रांत दोनों में विशेष उत्तरदायित्व। दो वर्षों तक इसके प्रस्तावों पर विचार होता रहा। १९३५ में ब्रिटिश संसद ने अधिनियम को स्वीकार कर लिया।

१९३५ के संविधान की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करने के बाद हम इसके द्वारा स्थापित संघ की तथा प्रांतों की स्वायत्त शासन-व्यवस्था पर विचार करेंगे।

१९३५ के अधिनियम की मुख्य विशेषताएँ

१९३५ का अधिनियम एक वहुत लंबा-चौड़ा प्रलेख था। ब्रिटिश संसद ने इसके पूर्व कभी भी इतना विशाल और जटिल अधिनियम पारित नहीं किया था। इसमे ४५१ धाराएँ और १५ अनुसूचियाँ थीं। इनमें कई विलक्षणताएँ थीं जिनके कारण यह अधिनियम और भी जटिल हो गया। यहाँ हम इसकी मुख्य विशेषताओं पर विचार करेंगे।

१. प्रांतीय स्वायत्त-शासन

इस अधिनियम ने दोहरी शासन प्रणाली को हटाकर उसके स्थान पर प्रांतों में स्वायत्त शासन स्थापित किया। यह १९३५ के अधिनियम का महत्त्वपूर्ण निर्णय था जिसकी विशद व्याख्या हम आगे चलकर कर रहे हैं।

२. संघात्मक प्रणाली

यह भी हमारे देश के इतिहास में एक उल्लेखनीय व्यवस्था थी जिसको पहली बार किसी अधिनियम के अंतर्गत स्वीकार किया गया था। भारत ऐसे विशाल देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए यह प्रणाली स्वीकार की गयी थी। भारतीय संघ के स्वरूप की चर्चा अलग से की जा रही है।

३. केन्द्र में द्वैध शासन

अधिनियम की विलक्षणताओं में से एक यह थी कि यद्यपि १९१९ में आरभ की गयी द्वैध शासन-पद्धति प्रांतों में समाप्त कर दी गयी पर केन्द्र में उसे लागू करने की व्यवस्था कर दी गयी। यह नहीं सोचा गया कि जो पद्धति प्रांतों में नहीं चल सकी वह केन्द्र में किस प्रकार चल सकेगी। अधिनियम के निर्माताओं को क्रियान्वयन की चिंता नहीं थी। वे तो केवल इसी समस्या में उलझे रहे कि किस प्रकार केन्द्र में उत्तरदायी शासन का दिखावा करके अधिक-से-अधिक समय तक निरंकुश और अनुत्तरदायी कार्यकारिणी को बनाये रखा जा सकता था। १९३५ में केन्द्र में केन्द्रीय प्रशासनिक क्षेत्र को आरक्षित और हस्तांतरित दो भागों में बाँटकर वाइसराय को दोनों भागों को संचालित करने का उत्तरदायित्व दिया गया था। यह स्मरण रखना होगा कि १९३५ की केन्द्रीय अथवा संघीय व्यवस्था वास्तव में कभी लागू ही नहीं की गयी। यदि ऐसा हुआ होता तो इस नये प्रयोग की कमजोरियाँ उजागर होतीं।

४. ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता

भारतीय प्रशासन के विषय में अभी भी अंतिम निर्णय करने का उत्तरदायित्व ब्रिटिश संसद को ही था। यही सर्वोच्च संस्था थी जिसके प्रति भारत का गवर्नर जनरल जिम्मेदार था। १९३५ के अधिनियम को परिवर्तित अथवा संशोधित करने का अधिकार उसी को था। राजसत्ता ब्रिटिश संसद के हाथ में ही रही। उसे भारतीयों के हाथों में नहीं सौंपा गया।

५. संघीय न्यायालय

१९३५ के अधिनियम ने संघ की राजधानी दिल्ली में एक संघीय न्यायालय की स्थापना का उपबंध किया था। किसी भी संघ में ऐसे न्यायालय की आवश्यकता होती है जो प्रांतीय सरकारों के बीच अथवा केन्द्र तथा प्रांत या प्रांतों के बीच उठे संवैधानिक प्रश्नों पर निर्णय दे सके। इस संघीय न्यायालय को इसी उद्देश्य से स्थापित करने का निश्चय किया गया था। इसके अलावा यह उच्च न्यायालय की अपीलें भी सुनता था। इस न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त तीन अन्य न्यायाधीशों के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गयी थी। १९३७ में संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी।

६. सांप्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार

मोंटफोर्ड रिपोर्ट में यह स्वीकार किया था कि सांप्रदायिक चुनाव पद्धति उत्तरदायी शासन के विकास में एक बड़ी बाधा थी। लेकिन ब्रिटिश प्रभाव को स्थायी बनाने की चिंता में इस रिपोर्ट

ने इसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और भारतीयों में फूट को उकसाने की भरसक कोशिश की गयी। इसी दृष्टि से १९३५ के अधिनियम ने मुसलमानों, सिखों, ईसाइयों, जमींदारों, पूँजीपतियों आदि सभी के लिये पृथक् चुनाव के तरीके को मान्यता दी। अधिनियम पारित होने के पूर्व हरिजन कहे जानेवाले वर्ग को भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार देने का प्रस्ताव किया गया था। यदि गांधीजी इसके विरुद्ध आमरण अनशन न शुरू करते तो हिंदू समाज भी विभाजित हो सकता था। इस चुनाव के तरीके से विभिन्न संप्रदायों के बीच सद्भाव नहीं पनप सकता था।

७. इंडिया कौंसिल की समाप्ति

इस अधिनियम के द्वारा भारत सचिव को सलाह देनेवाली उस परिषद् का अंत कर दिया गया जो इंडिया कौंसिल कहलाती थी। इसके स्थान पर तीन से लेकर छह परामर्शदाताओं तक को नियुक्त करने की व्यवस्था की गयी। यह परिषद् एक प्रतिक्रियावादी संस्था थी जो भारत सरकार के हर प्रस्ताव पर अड़चने लगाती थी। अतः इसका अंत करके एक अच्छा निर्णय किया गया।

८. विधान मंडलों का विस्तार

इस अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय और प्रांतीय विधान मंडलों का विस्तार किया गया। केन्द्र में राज्य सभा की संख्या बढ़ाकर २६० कर दी गयी और विधान सभा की संख्या बढ़ाकर ३७५ कर दी गयी थी। एक अन्य विशेष निर्णय यह किया गया था कि छह बड़े प्रांतों में दो सदनों वाले विधान मंडलों की स्थापना की गयी। सभी प्रांतीय विधान सभाओं की संख्या बढ़ायी गयी थी। मतदाताओं की संख्या का भी विस्तार किया गया था। अधिनियम ने स्त्रियों को भी मतदान का अधिकार दिया। अब संपत्ति के अतिरिक्त शिक्षा को भी मतदाता की योग्यता का आधार मान लिया गया था।

संघीय व्यवस्था का प्रस्ताव और उसका स्वरूप

१९३५ के अधिनियम ने भारत में पहली बार एकात्मक शासन-व्यवस्था के स्थान पर संघीय व्यवस्था स्थापित करने का सुझाव दिया। भारत की पेचीदी संवैधानिक समस्याओं का यही एकमात्र उत्तर था। संघ को बनाकर ही बीसवीं शताब्दी की आवश्यकताओं के अनुसार शासन-प्रणाली का स्वरूप तैयार हो सकता था। इसी व्यवस्था में सभी देशी रियासतों को भी एक सूत्र में बाँधा जा सकता था। सभी पक्ष यह मानते थे कि संघ शासन से ही देश का हित था, पर संघ के निर्माण की योजना उपयुक्त नहीं थी। इसमें जानबूझकर कुछ ऐसे अजीब प्रस्ताव किये गये कि यदि संघ वास्तव में स्थापित हो भी जाता तो वह उचित तरीके से चलाया नहीं जा सकता था। यह निराले ढंग का ही संघ होता। संघ के स्वरूप की चर्चा करते समय अधिनियम के विलक्षण प्रस्तावों पर भी विचार करना आवश्यक है।

१. संघ की इकाइयाँ

अधिनियम ने जिस प्रकार का संघ स्थापित करना चाहा था उसमें तीन प्रकार की इकाइयों

को सम्मिलित करने का प्रस्ताव था। अखिल भारतीय संघ में ११ ऐसे बड़े प्रांतों को शामिल होना था जिनमें गवर्नरों का शासन था, ६ छोटे प्रांतों को शामिल होना था जिनमें चीफ कमिश्नरों का शासन या तथा सभी देशी रियासतों को स्थान देने की व्यवस्था थी। ये तीनों इकाइयाँ जनसंख्या, क्षेत्रफल और प्रशासकीय व्यवस्था की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न थीं। इनको एक संघ में मिलाना एक तो वैसे ही कठिन था पर अधिनियम के प्रस्तावों ने इसे विचित्र बना दिया। भारत में उस समय तक दो प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था चल रही थी। ब्रिटिश भारत जहाँ लोकतंत्र की स्थापना के प्रयत्न में लगा हुआ था वहाँ दूसरी ओर देशी रियासतों में स्वेच्छाचारी शासन का बोलबाला था। इन दोनों प्रकार की इकाइयों को उसी प्रकार से बनाए रखने का प्रस्ताव किया गया था जिसके मिश्रण से संघ के संचालन में कठिनाइयाँ उभरतीं।

अधिनियम के अनुसार इकाइयों को संघ में शामिल करने के उद्देश्य से दोहरी कार्यवाही की जानी थी। पहले तो ब्रिटिश भारत में प्रचलित शासन की इकाई को तोड़कर स्वायत्तता-प्राप्त प्रांतों में विभाजित करना था और फिर उन्हें संघीय आधार पर जोड़कर एक ऐसी पद्धति अपनानी थी जिसमें इन प्रांतों के अलावा देशी राज्य भी इकाई के रूप में संघ में शामिल हो जाते।

२. देशी रियासतों की संघ में विशेष स्थिति

ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों को हर प्रकार से संतुष्ट करके उन्हें संघ में शामिल होने को कहा। इससे संघ में देशी रियासतों को कई विशेष अधिकार दिये गये। ब्रिटिश प्रांतों के लिए संघ में सम्मिलित होना अनिवार्य था जबकि देशी रियासतों के लिए संघ में सम्मिलित होना एच्छिक था। प्रत्येक देशी रियासत के नरेश को यह अधिकार दिया गया कि वे चाहें तो संघ में भाग लें और चाहें तो उससे अलग रहें। इतना ही नहीं, अधिनियम की एक धारा के अनुसार संघ की स्थापना का भार भी इन्हीं नरेशों के कंधों पर था। यह कहा गया था कि संघ व्यवस्था तभी आरंभ की जायगी जब उतनी रियासतें संघ में शामिल हो जायेंगी जिनकी जनसंख्या ब्रिटिश भारत की जनसंख्या की आधी से कम न होगी। अगर भारत में १९३५ के अधिनियम के अनुसार संघ स्थापित नहीं हुआ तो इसका एक कारण यह था कि यह शर्त पूरी नहीं हुई।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि संघ में शामिल होनेवाली इकाइयों की संख्या ३०० से भी अधिक हो सकती थी और अगर ऐसा हो जाता तो एक निराले ढंग के संघ का प्रयोग भारत में होता। ब्रिटिश प्रांतों के अतिरिक्त ६०० देशी राज्य भारत में थे जिनमें से करीब आधे बड़े तथा मध्यम कोटि के राज्यों के मिल जाने से संघ का स्वरूप कुछ विचित्र सा हो जाता। दुनिया के अन्य संघों की इकाइयों की संख्या ५० के आसपास की रही है जो आकार और जनसंख्या में करीब-करीब एक दूसरे की तरह ही रहते हैं। पर १९३५ के प्रस्ताव इस परम्परा से भिन्न थे।

३. शक्तियों का विभाजन

१९३५ के अधिनियम के अंतर्गत किसी भी संघ में पहली बार विधायी शक्तियों की तीन

सूचियाँ बनायी गयी थीं। ये थीं केन्द्रीय, प्रांतीय और समवर्ती सूचियाँ। विश्व के अन्य किसी संविधान में शक्तियों का इस प्रकार का विभाजन नहीं किया गया था। शेष शक्तियों का प्रश्न भी विचारणीय था। इस विषय में या तो यह निर्णय किया जाता है कि ये शक्तियाँ केन्द्र को दे दी जायें अथवा इकाइयों को इन्हें दे दिया जाता है। लेकिन इस अधिनियम में कुछ विचित्र निश्चय किया गया। इसने गवर्नर जनरल के हाथों में बची हुई शक्तियाँ सौंप दीं और यह उसकी जिम्मेदारी हो गयी कि वह केन्द्र अथवा इकाइयों में से जिसे चाहे कोई भी बची हुई शक्ति प्रदान कर सकता था।

४. केन्द्र में पूर्ण उत्तरदायी सरकार को न स्थापित करना

यह निर्णय भी संघीय परम्परा के अनुकूल नहीं था कि इकाइयों में तो उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो लेकिन केन्द्र का शासन आंशिक रूप से ही उत्तरदायी हो। केन्द्र में दोहरे शासन की स्थापना करना संघीय भावना के लिए उचित नहीं था। इसके अनुसार गवर्नर जनरल भविष्य में भी गृह सरकार के प्रति उत्तरदायी बना रहा।

५. केन्द्र को हस्तक्षेप करने का अधिकार

संघीय व्यवस्था की यह मान्यता है कि इकाइयों को अपना शासन चलाने में अधिक-से-अधिक छूट दी जाती है। पर १९३५ में अधिनियम ने संघीय व्यवस्था की स्थापना करते हुए भी पहले की एकात्मक व्यवस्था के मूल स्वरूप को बनाये रखना चाहा। केन्द्रीय सरकार को इकाइयों के प्रशासन को प्रभावित करने के अवसर दिये गये। गवर्नर जनरल प्रांतीय सरकारों के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकता था। यह भी एक विचित्रता थी कि केन्द्र को केवल प्रांतों के मामलों में हस्तक्षेप करने के अधिकार थे परंतु देशी राज्यों के संबंध में उसे ये अधिकार कम थे। एक और बात यह थी कि संघ में शामिल होते समय जिस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने को देशी राज्यों से कहा गया था वह भी सभी के लिए एक समान नहीं था। इस प्रकार जहाँ किसी एक देशी राज्य के विषय में केन्द्र को कोई प्रशासकीय अथवा विधायी अधिकार प्राप्त हो सकता था वहाँ दूसरे राज्य के बारे में स्थिति बदल सकती थी। स्वाभाविक है कि संघ सरकार और इकाइयों के बीच संबंधों में इससे जटिलताएँ उत्पन्न हो सकती थीं।

६. विधान मंडल

संघ के विधान मंडलों का स्वरूप भी निराला होता क्योंकि इनमें प्रजातांत्रिक और स्वेच्छाचारी व्यवस्थाओं का मिश्रण करने की कोशिश की गयी थी। जब कि प्रांतों के चुने हुए प्रतिनिधि केन्द्रीय विधान मंडल में जाते, वहीं देशी नरेशों को यह अधिकार दिया गया था कि वे किसी को भी मनोनीत करके केन्द्रीय विधान मंडल के सदस्य के रूप में भेज सकते थे। देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को मनोनीत करने की व्यवस्था एक प्रतिक्रियावादी निर्णय था।

प्रांतीय स्वायत्तता

इस अधिनियम की सभी व्यवस्थाओं में से भारतीयों के हितों की दृष्टि से प्रांतों में

प्रशासनिक परिवर्तन करने का निर्णय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। प्रांतों में स्थापित नयी व्यवस्था को 'प्रांतीय स्वायत्तता' कहा गया। लेकिन इस प्रकार की व्यवस्था के लिए 'स्वायत्तता' शब्द के अर्थों को अस्पष्ट ही बनाये रखा गया। फिर भी हमें यह तो समझना होगा कि वास्तव में इस नयी शब्दावली का प्रयोग किन अर्थों में किया गया था। वास्तव में प्रांतीय स्वायत्तता से दो अर्थ लिये जा सकते हैं। पहले तो इसका उद्देश्य प्रांतों में एक ऐसा शासन स्थापित करना था जिस पर जनता द्वारा चुने हुए मंत्रियों का नियंत्रण हो। प्रांतीय सरकारों को प्रांत के भीतर एक सुनिर्दिष्ट क्षेत्र में अधिकार प्राप्त हो गये लेकिन प्रांतों में उत्तरदायी सरकार तभी स्थापित हो सकती थी जब केन्द्रीय दबाव से मुक्त हो जाती। इसीलिए स्वायत्तता का दूसरा अर्थ यह लगाया गया कि प्रांत पर केन्द्रीय नियंत्रण समाप्त किया जाये। १९३५ का अधिनियम तैयार करने के लिए जो संयुक्त प्रवर समिति नियुक्त की गयी थी उसने भी प्रांतीय स्वायत्तता की इन्हीं दो विशेषताओं को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि 'यह एक ऐसी योजना है जिसमें गवर्नर के अधीन प्रांतों में एक ऐसी कार्यकारिणी और विधान मंडल होंगे जो अपने परिभाषित क्षेत्रों में काम करेंगे और वे केन्द्रीय सरकार और केन्द्रीय विधान मंडल के प्रभाव से मुक्त होंगे।'

प्रांतीय स्वायत्त शासन की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं--

१. प्रांतों की नयी स्थिति

प्रांतीय स्वायत्तता के द्वारा प्रांतों की स्थिति सुधरी। अभी तक प्रांत एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की प्रशासकीय इकाई थे। १९३५ के अधिनियम ने उन्हें एक नया संवैधानिक स्थान दिलाया। अब प्रांतीय सरकारों को प्रशासकीय अधिकार केन्द्र की कृपा से नहीं अपितु संविधान से प्राप्त हुए। प्रांतों को करीब-करीब वही संवैधानिक पद प्राप्त हो गया जो केन्द्र को प्राप्त था और वे केन्द्रीय सरकार से समानता के आधार पर संपर्क करते थे। प्रांतों की स्वतंत्र सत्ता को अधिनियम ने स्वीकार किया था।

२. प्रांतों का पुनर्सीमांकन

अधिनियम ने प्रांतीय सीमाओं में फेरबदल की जिसके परिणामस्वरूप प्रांतों का आधुनिक स्वरूप निखरने लगा। बंबई के सिंधी प्रदेश को अलग करके सिंध प्रांत बना दिया गया। इसी प्रकार मद्रास प्रांत की सीमाओं को बदलकर उड़ीसा का नया प्रांत भी बनाया गया। बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। इस ढंग से अब ग्यारह प्रांत बन गये।

३. शक्ति विभाजन

केन्द्र और प्रांत के बीच शक्ति का विभाजन करके ही प्रांतीय शासन को स्वायत्तता दी जा सकती थी। अधिनियम ने तीन सूचियाँ तैयार करके केन्द्र और प्रांतों की शासन संबंधी कानूनी और वित्तीय शक्तियों का विभाजन कर दिया। संघ सूची में ५९ विषय रखे गये, प्रांतीय में ४५ और समवर्ती सूची में ३६ विषय रखे गये। समवर्ती सूची में केन्द्रीय और प्रांतीय दोनों ही सरकारें कानून बना सकती थीं परंतु शर्त यह रखी गयी कि केन्द्रीय कानून और प्रांतीय कानून दोनों जब बने होंगे तो केन्द्र द्वारा बनाये गये कानून को प्राथमिकता दी जायगी।

४. उत्तरदायी मंत्रिमंडल

१९१९ के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन को समाप्त करके पूर्ण उत्तरदायी मंत्रिमंडल गठित करने का प्रावधान किया गया। इस निश्चय के कारण प्रांतीय क्षेत्र में आरक्षित और हस्तांतरित विषयों का विभाजन समाप्त कर दिया गया। सभी विषयों के प्रशासन के लिए मंत्रिमंडल उत्तरदायी बना दिया गया और यह मंत्रिमंडल विधान मंडल के प्रति उत्तरदायी था। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि प्रांतीय मंत्रिमंडल तभी तक कार्य कर सकता था जब तक उसे विधान मंडल का विश्वास प्राप्त हो। पहली बार प्रांतीय स्तर पर उत्तरदायी शासन की स्थापना करने का निश्चय किया गया।

५. गवर्नर की शक्तियाँ सीमित करना

१९१९ के अधिनियम की तुलना में अब गवर्नरों की शक्तियाँ घटा दी गयीं। उस समय आरक्षित विषय बहुत कुछ गवर्नर के ही अधिकार में थे। परंतु अब किसी भी प्रांतीय विषय की जिम्मेदारी उसको नहीं दी गयी थी। सामान्य परिस्थितियों में गवर्नर मंत्रियों के विभागों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता था। पर यहाँ यह कहना भी आवश्यक जान पड़ता है कि गवर्नर केवल नाममात्र का अधिकारी भी नहीं था। उसे पर्याप्त विशेषाधिकार दे दिये गये थे जिनके कारण भारतीयों ने अधिनियम की आलोचना की।

६. गृह सरकार के हस्तक्षेप का अंत

१९३५ के अधिनियम में प्रांतीय सरकार के किसी भी विषय में गृह सरकार का हस्तक्षेप समाप्त कर दिया गया। पहले कई विधेयक गृह सरकार की अनुमति के लिए रोके जा सकते थे या आरक्षित विषयों के संबंध में गृह सरकार हस्तक्षेप कर सकती थी। परन्तु अब इस प्रकार के हस्तक्षेप को समाप्त कर दिया गया।

प्रांतीय स्वायत्तता का कार्यरूप

१९३५ के अधिनियम के मुख्य रूप से दो भाग थे। इनमें से एक था संघीय भाग और दूसरा था प्रांतीय। पहला भाग तो केवल कागज पर ही बना रहा पर दूसरे भाग को कार्यरूप में परिणत किया गया।

अधिनियम के अधीन, फरवरी, १९३७ में निर्वाचन हुए। पहली बार देश के कई राजनीतिक दलों में प्रांतीय स्तर पर डटकर मुकाबले हुए। चुनावों के परिणामों पर एक नजर डालना होगा। कांग्रेस ने ११६१ सीटें लड़ीं। इनमें से यह दल ७११ सीटों पर विजयी रही। ग्यारह प्रांतों में से ५ में कांग्रेस को पूर्ण बहुमत मिला। ये प्रांत थे मद्रास, बंबई, मध्यप्रदेश, बिहार और वर्तमान उत्तर प्रदेश। इसके अलावा तीन अन्य प्रांतों में यह दूसरे राजनीतिक दलों की तुलना में सबसे बड़ा राजनीतिक दल था। कांग्रेस की इस सफलता से उसकी प्रतिष्ठा बढ़ी। पर मुस्लिम लीग इन चुनावों में अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सकी। भारत में मुसलमानों के लिए ४८२ सीटें निर्धारित की गयी थीं। मुस्लिम लीग इनमें से केवल ५१ सीटें ही प्राप्त कर सकी। उदारवादी तथा जस्टिस दल इस चुनाव में प्रभाव नहीं दिखा सके।

करीब दो वर्ष, १९३७ से १९३९ तक, कांग्रेस के मंत्रिमंडल आठ प्रांतों में बने रहे। ये प्रांत थे, बंबई, मद्रास, बिहार, वर्तमान उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, असम और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत। शेष तीन प्रांतों – बंगाल, पंजाब और सिंध – में मिले-जुले मंत्रिमंडल बने। जब १९३९ में ब्रिटिश सरकार ने भारत को भी द्वितीय युद्ध में शामिल करने की घोषणा की तो कांग्रेस दल ने आपत्ति की। उसका कहना था कि जनता के प्रतिनिधियों की इच्छा जानने के बाद ही सरकार को घोषणा करने का हक था। ब्रिटिश निर्णय के विरोध में कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया। इसी से इन आठ प्रांतों में स्वायत्त शासन व्यवस्था केवल दो वर्ष तक ही चल सकी। बाद में गवर्नरों ने प्रांतीय शासन अपने हाथ में ले लिया। यह स्थिति १९४६ तक चलती रही। इस वर्ष चुनाव हुए इसके फलस्वरूप दुबारा उत्तरदायी शासन इन प्रांतों में स्थापित हुआ।

पहली बार कांग्रेस ने इस व्यवस्था के अधीन प्रशासनिक उत्तरदायित्व सँभाला था। उसने यह प्रकट कर दिया कि यह दल केवल आंदोलन में ही सक्रिय नहीं था बल्कि आवश्यकता पड़ने पर रचनात्मक कार्यवाही भी दक्षतापूर्वक पूरी कर सकता था। कांग्रेस के मंत्रियों ने कुशलता से प्रशासन का संचालन किया। कांग्रेस दल ने जिन प्रांतों में शासन किया वहाँ स्वायत्तता का प्रयोग सफल रहा और जो अनुभव मंत्रियों को प्राप्त हुआ वह उनके लिए भी उपयोगी सिद्ध हुआ। गवर्नरों ने भी परिस्थिति के अनुसार अपनी विशेष शक्ति का अधिक उपयोग नहीं किया। इससे उत्तरदायी शासन बिना किसी बाधा के चलता रहा।

क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव

द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ होने के समय से ही भारतीय राजनीति में गतिरोध बना हुआ था। देश की मुख्य राजनीतिक संस्था ब्रिटिश सरकार से टक्कर ले रही थी। १९४० से चर्चिल ब्रिटेन का प्रधानमंत्री था। चर्चिल प्रमुख साम्राज्यवादी राजनीतिज्ञ था जो किसी भी कीमत पर भारत पर ब्रिटिश अधिकार को कम करने या छोड़ने को तैयार नहीं था। अतः उसने युद्ध के दौरान यह रुख अपनाया कि जब ब्रिटिश सरकार सुरक्षा की विकट समस्या में जूझ रही हो उस समय वह कांग्रेस अथवा किसी अन्य राजनीतिक दल को संवैधानिक परिवर्तन के मसले पर कोई आश्वासन देने की स्थिति में नहीं था। ब्रिटिश प्रधानमंत्री के रुख के कारण ही भारत में राजनीतिक गतिरोध बना रहा।

चर्चिल को भी मार्च, १९४२ में अपनी नीति में परिवर्तन करना पड़ा। बड़े नाटकीय ढंग से उसने ब्रिटिश संसद में घोषणा की कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल के एक सदस्य स्टैफर्ड क्रिप्स को भारतीय नेताओं से वातचीत करने के लिए भेजा जा रहा था। क्रिप्स एक कुशल राजनीतिक थे। उन्होंने कुछ समय पूर्व रूस के साथ सफल वार्ताएँ की थीं। ये इसके पूर्व दो बार भारत आ चुके थे और उन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों में उनकी गिनती की जाती थी जो भारत के हितैषी थे। ऐसे व्यक्ति का भारत आना एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। हमें पहले यह विचार करना होगा कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री ने अचानक ऐसा निर्णय क्यों किया।

क्रिप्स के भारत भेजे जाने का सबसे मुख्य कारण यह था कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान

ऐसी स्थिति आ पहुँची थी जब ब्रिटेन की हालत डावाँडोल हो गयी थी और उसके सामने विपत्तियों के बादल मँडरा रहे थे। ७ दिसम्बर, १९४१ को जापान अचानक युद्ध में कूद पड़ा और उसने तेजी से एक के बाद दूसरे पूर्वीय एशिया तथा दक्षिण-पूर्व-एशिया के राज्यों पर अधिकार करना शुरू कर दिया। जापानी सेनाओं ने जब बर्मा पर भी अधिकार कर लिया तो ब्रिटेन को भारत की सुरक्षा की गहरी चिन्ता हुई। फरवरी, १९४२ तक जापानी नौ-सेना हिन्द महासागर और बंगाल की खाड़ी तक पहुँच चुकी थी। अन्य क्षेत्रों से भी युद्ध के जो समाचार आ रहे थे उनसे भी चर्चिल के हाथ-पैर फूलने लगे थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय नेताओं का सहयोग नितांत आवश्यक था। एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण ने भी चर्चिल को प्रभावित किया। ब्रिटेन के सहयोगी राष्ट्रों ने भी उस पर जोर डाला कि वह भारतीय जनता के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे। अमेरिकी राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने भारतीयों के स्वशासन की माँग को स्वीकार करने के पक्ष में राय दी। चीन के प्रधानमंत्री च्यांग काई शेक ने खुलेआम भारतीयों को राजनीतिक अधिकार दिये जाने के लिए आवाज उठायी। आस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये। जाहिर है कि चर्चिल ऐसे कठिन समय में चुपचाप बैठा नहीं रह सकता था। उसने विवश होकर क्रिप्स को भारत भेजा। पर अभी भी वह भारतीयों को कोई बड़ी रियायत देने के लिए तैयार था, यह मानना कठिन है। सत्यता तो यही जान पडत्रती है कि परिस्थितिवश उसे कुछ न कुछ करना पड़ा।

क्रिप्स के सुझाव

स्टैफर्ड क्रिप्स ने २३ मार्च, १९४२ को भारत आकर करीब तीन सप्ताह तक देश के सभी प्रमुख राजनीतिक वर्गों के नेताओं से बातचीत की। क्रिप्स अपने साथ विस्तृत योजना लाये थे जिसे ब्रिटेन के मंत्रिमंडल ने तैयार किया था। क्रिप्स को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया था कि वह इस योजना को सभी नेताओं के सामने रखें और इसके विषय में उनकी जानकारी प्राप्त करें। ब्रिटिश मंत्रिमंडल ने यह आशा की थी कि क्रिप्स भारत जाकर भारतीय नेताओं को इसे स्वीकार करने के लिए राजी कर लेगा। क्रिप्स ने इस योजना के आधार पर ही सभी पक्षों से विचार-विमर्श किया। पहले यह देखना होगा कि क्रिप्स किस प्रकार के सुझाव साथ लाये थे।

क्रिप्स के सुझाव दो प्रकार के थे। पहले प्रकार के सुझाव वे थे जिनका संबंध युद्ध के बाद की जाने वाली व्यवस्था से था और दूसरी तरह के सुझावों को तत्काल लागू किया जा सकता था।

भविष्य की व्यवस्था

१. क्रिप्स योजना के आरंभ में ही यह कहा गया था कि युद्ध के उपरांत एक नये भारतीय संघ की स्थापना की जायेगी जिसमें ब्रिटिश सरकार के अधीन प्रांत और देशी राज्य शामिल किये जायेंगे।
२. यह भारतीय संघ एक स्वशासित उपनिवेश होगा और ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन उसे वही दर्जा दिया जायेगा जो दूसरे उपनिवेशों को मिला हुआ था। भारतीय संघ को आंतरिक तथा विदेशी नीति में स्वतंत्रता होगी।

३. युद्ध समाप्त होते ही एक संवैधानिक सभा बुलाये जाने का प्रस्ताव किया गया। इसमें ब्रिटिश अधीन प्रांतों और देशी राज्यों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित किये जाने की व्यवस्था थी। यही सभा देश के लिए संविधान तैयार करेगी।
४. ऐसे प्रांत या प्रांतों को भारतीय संघ से अलग रहने का अधिकार होगा जो संविधान सभा द्वारा बनाये गये संविधान को मानने के लिए तैयार न हों। ऐसे अलग रहने वाले प्रांतों को अलग संविधान बनाने का अधिकार होगा और ब्रिटिश सरकार के इन प्रांतों से वही संबंध होंगे जो भारतीय संघ से होंगे।
५. कुछ शर्तों के पूरा होने पर ही ब्रिटिश सरकार संविधान सभा द्वारा बनाये गये संविधान को स्वीकार कर सकती थी।

तात्कालिक प्रस्ताव

इन प्रस्तावों में इस तथ्य पर बल दिया गया कि युद्ध के दौरान प्रतिरक्षा विभाग पूर्णरूप से ब्रिटिश सरकार के नियंत्रण में रहेगा। इसके साथ-साथ क्रिप्स की योजना में यह कहा गया था कि भारतीय दलों के नेताओं को अन्य आवश्यक बैठकों में बुलाया जायेगा और उनसे परामर्श लेकर युद्ध संबंधी निर्णय किये जायेंगे। विशेष रूप से यह प्रस्ताव किया गया कि वाइसराय की कार्यकारी परिषद् का पुनर्गठन करके भारतीयों को अधिक संख्या में लिया जायेगा।

क्रिप्स योजना की विफलता

क्रिप्स योजना अपर्याप्त थी। इसे बनाते समय केवल यही ध्यान रखा गया था कि देश के सभी प्रमुख राजनीतिक दल संतुष्ट हो जायें। योजना में सभी वर्गों की कुछ माँगों को स्वीकार कर लिया गया था। काग्रेस की दो प्रमुख माँगें थीं – भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा और भारतीयों को विधान निर्माण का अधिकार देना। इन दोनों माँगों को आंशिक रूप में स्वीकार किया गया था। लेकिन इसके साथ ही मुस्लिम लीग को प्रसन्न करने के लिये यह व्यवस्था कर दी गयी थी कि प्रांत प्रस्तावित भारतीय संघ से अलग रह सकते थे। परोक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग को स्वीकार किया गया। इसी प्रकार से देशी रियासतों से राजाओं को भी अलग रहने का अधिकार दिया गया था और सभी प्रकार से उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया गया था। सभी वर्गों के लिए रुचिकर बनायी जाने वाली योजना किसी को भी पूरी तरह से पसंद नहीं आयी और भी राजनीतिक दल आंशिक रूप से माँगों को स्वीकार किये जाने से संतुष्ट नहीं हो सकता था। इसी कारण कांग्रेस ने क्रिप्स योजना को अस्वीकार कर दिया।

क्रिप्स योजना की असफलता का एक मुख्य कारण यह था कि क्रिप्स इस योजना का संतोषजनक स्पष्टीकरण भारतीय नेताओं को नहीं दे सके। वे ऐसा कोई भी आश्वासन देने को तैयार नहीं थे कि वे उस योजना में सुधार करेंगे जिसे वे अपने साथ लाये थे। वे उस योजना से ही बँधे रहे और तरह-तरह की आशंकाओं का उचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर सके। इससे कांग्रेस के नेता और भी अधिक निराश हुए। योजना की सफलता के लिए यह जरूरी था कि भारतीय नेताओं की प्रतिक्रिया जानकर उन्हें संतुष्ट करने के लिए इसमें आवश्यक फेरबदल

किया जाता और उन व्यवस्थाओं को अधिक स्पष्ट किया जाता जिनके संबंध में सभी लोग माँग कर रहे थे।

क्रिप्स योजना के समय अंग्रेज प्रशासकों का ध्यान युद्ध की बिगड़ती हुई स्थिति पर केन्द्रित था। वे न तो भारतीय राजनीतिक को भली प्रकार से समझ सके और न उन्होंने इसकी कोशिश ही की। उनका तो केवल इतना ही प्रयास था कि वे भारत के नेताओं को दिखा सकें कि ब्रिटिश सरकार उनकी माँगों पर विचार करने की तैयारी कर रही थी। अन्य विदेशी राष्ट्र-नेताओं से ब्रिटिश प्रधानमंत्री कह सकता था कि उसने भारतीयों से सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की थी।

क्रिप्स योजना इस कारण कारगर साबित नहीं हुई क्योंकि इसमें भविष्य की सुधार-योजना पर बल दिया गया था। यह भविष्य भी प्रायः अनिश्चित था। यह काल-सीमा निर्धारित नहीं की गयी थी कि भारत को नया संवैधानिक दर्जा कब मिल जायेगा। कांग्रेस के नेता तुरंत केन्द्रीय शासन में प्रभावकारी भूमिका अदा करने का अधिकार माँग रहे थे। जब क्रिप्स तत्काल कोई प्रशासनिक सुधार नहीं करा सका तो उसकी योजना किसी को पसंद नहीं आयी। गांधीजी ने क्रिप्स के प्रस्तावों पर यह प्रतिक्रिया व्यक्त की थी कि यह 'बैंक का भविष्य की तिथि का चेक था।' ऐसे धनादेश से कोई संतुष्ट नहीं हो सकता जिससे यह पता न लगता हो कि धन का भुगतान कब होगा।

राजाजी फार्मूला (जुलाई, १९४४)

१९४२ से १९४५ तक कांग्रेस के सभी प्रधान नेताओं को जेलों में बंदी बनाये रखा गया। केवल चक्रवर्ती राजगोपालाचारी बाहर रहे थे। राजाजी ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच समझौता कराने की कोशिश की और इसी उद्देश्य से उन्होंने एक फार्मूला प्रकाशित किया। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित थीं –

१. मुस्लिम लीग द्वारा भारतीय स्वाधीनता की माँग का समर्थन तथा अंतरिम सरकार में सहयोग का आश्वासन।
२. महायुद्ध का अंत होने पर एक ऐसे आयोग का गठन किया जाय जो यह निर्णय करे कि देश के किन क्षेत्रों में मुसलमानों का पूर्ण बहुमत था।
३. मुस्लिम बहुमत वाले क्षेत्रों के निवासियों को यह अधिकार कि वे जनमत को प्रकट करके यह निश्चय करें कि वे भारत से अलग रहना चाहते हैं अथवा नहीं।
४. कुछ क्षेत्रों के अलग रहने की इच्छा व्यक्त होने की स्थिति में सुरक्षा, यातायात, वाणिज्य तथा अन्य आवश्यक मामलों के बारे में समझौता।
५. भारत के पूर्ण स्वतंत्र होने की अवस्था में ही इन शर्तों को लागू किया जायेगा।

मई, १९४४ में गांधी जी जेल से छोड़ दिये गये थे। उनसे परामर्श लेकर ही राजा जी ने फार्मूला प्रकाशित किया था। इसी फार्मूले को लेकर गांधीजी और मुस्लिम लीग के नेता जिन्ना के बीच बम्बई में १८ दिनों तक लंबी बातचीत हुई। पत्र-व्यवहार भी चला। लेकिन अंतत जिन्ना ने इस योजना को स्वीकार नहीं किया। वे बिना जनमत संग्रह के पंजाब, सिंध, बलूचिस्तान,

उत्तर-पश्चिम सीमा प्रांत, बंगाल और असम के पूरे छह प्रांतों को प्रस्तावित पाकिस्तान में शामिल कराना चाहते थे। इसके अलावा फार्मूले के विषय में उनकी अन्य आपत्तियाँ भी थीं। इस वार्ता से जिन्ना और मुस्लिम लीग के हौसले बढ़े और यह स्पष्ट हो गया कि वे आपस में बातचीत करके समझौता नहीं कर सकेंगे।

वेवेल योजना और शिमला सम्मेलन

मई, १९४५ में जर्मनी के हथियार डाल देने से यूरोप में द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया। लेकिन जापान ने अभी तक हार नहीं मानी थी। पूर्वी और दक्षिण-पूर्व एशिया में युद्ध चल रहा था। ऐसी स्थिति में मित्र राष्ट्रों ने एक बार फिर ब्रिटिश सरकार से संवैधानिक समस्या का समाधान करने का आग्रह किया। इसके अलावा ब्रिटेन में भी राजनीतिक वातावरण बदल रहा था। ब्रिटेन में आम चुनाव होने वाले थे। चर्चिल के अनुदार दल को यह सिद्ध करना था कि वह भारत की समस्या का हल तलाश करने में समर्थ था। अतः तत्कालीन वाइसराय को लंदन बुलाया गया और भावी योजना पर बातचीत हुई। उसी के फलस्वरूप जून, १९४५ में वेवेल ने अपने सुझाव पेश किये जो वेवेल योजना के नाम से जाने गये। योजना का उद्देश्य एक अंतरिम व्यवस्था करना था। इसमें विशेष रूप से वाइसराय की कार्यकारिणी के पुनर्गठन की बात कही गयी। योजना में यह प्रस्ताव किया गया था कि प्रधान सेनापति को छोड़कर नयी परिषद् के सभी सदस्य भारतीय राजनीतिक दलों तथा वर्गों के प्रतिनिधि होंगे।

उचित वातावरण उत्पन्न करने के लिए कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को कारावास से मुक्त कर दिया गया। इसके बाद २५ जून को शिमला सम्मेलन बुलाया गया। इसमें देश के इक्कीस प्रमुख नेताओं ने भाग लिया तथा वेवेल योजना पर अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। गांधी जी ने भी सम्मेलन में भाग लिया था। लेकिन जिन्ना के कठोर रवैये के कारण यह वार्ता सफल नहीं हुई। उनका यह दावा था कि केवल मुस्लिम लीग ही भारत में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कर सकती थी और वे कांग्रेस को यह अधिकार देने को तैयार नहीं थे कि वह भी किसी मुसलमान को कार्यकारिणी परिषद् में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजे। मौलाना आजाद लिखते हैं कि यह पहला अवसर था जब समझौता वार्ता भारत तथा ब्रिटेन के मतभेद के कारण नहीं अपितु भारतीय संप्रदायों के आपसी मतभेद के कारण असफल हुई थी।

केबिनट मिशन योजना

मार्च, १९४६ में ब्रिटिश मंत्रिमंडल की ओर से एक प्रतिनिधि-मंडल ने भारत का दौरा किया और भारतीय नेताओं से इस विषय पर महत्त्वपूर्ण वार्ताएँ कीं कि भविष्य में देश की प्रशासनिक व्यवस्था का क्या स्वरूप हो। पहले यह विचार करना है कि मिशन किन परिस्थितियों में भारत आया था।

पृष्ठभूमि

१. ब्रिटेन में श्रमिक सरकार

यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होते ही जुलाई, १९४५ में ब्रिटेन में आम चुनाव

हुए। इसमें चर्चिल का अनुदार दल पराजित हुआ और ब्रिटेन के इतिहास में पहली बार श्रमिक दल को ब्रिटिश संसद में पूर्ण बहुमत मिला। चर्चिल के स्थान पर क्लीमेंट एटली ब्रिटेन के प्रधानमंत्री बने। ब्रिटेन में इस राजनीतिक परिवर्तन से कांग्रेस में आशा की लहर दौड़ गयी। यह आशा बँधी कि श्रमिक सरकार भारत को स्वतंत्रता दिलाने में अधिक विलंब नहीं करेगी।

२. द्वितीय विश्वयुद्ध का अंत

यूरोप में महायुद्ध समाप्त हो गया था और यह विश्वास किया जा रहा था कि जापान भी शीघ्र ही हथियार डाल देगा। अगस्त, १९४५ में जापान पर भी विजय प्राप्त कर ली गयी और सभी क्षेत्रों में महायुद्ध का अंत हो गया। युद्ध के दिनों में ब्रिटिश सरकार कहा करती थी कि युद्ध के उपरांत भारत की स्वाधीनता के प्रश्न पर विचार किया जायेगा। अब इस प्रश्न को अधिक समय तक टाला नहीं जा सकता था। भारत में केबिनेट मिशन के आगमन के समय अंतरिम शासन का प्रश्न इतना महत्त्वपूर्ण नहीं रह गया था। इसके स्थान पर दीर्घकालीन योजनाओं पर तुरंत निर्णय देना आवश्यक हो गया था।

३. भारत में चुनाव

१९४६ के आरंभ में केन्द्रीय विधान सभा तथा प्रांतीय विधान मंडलों के लिए चुनाव पूरे हुए। इन चुनावों की मुख्य विशेषता यह उभरकर आयी कि कांग्रेस के साथ-साथ मुस्लिम लीग भी एक शक्तिशाली राजनीतिक संस्था थी। कांग्रेस को साधारण निर्वाचन-क्षेत्रों में भारी सफलता मिली और प्रांतों में उसका पूर्ण बहुमत था। लेकिन मुसलमानों के लिए आरक्षित स्थानों पर उसे घोर निराशा हुई। कुल ४९२ मुस्लिम सीटों में से ४२८ स्थान मुस्लिम लीग ने जीते। १९३७ के चुनाव की तुलना में यह एक बड़ा अंतर था। अब मुस्लिम लीग यह दावा कर सकती थी कि वही मुसलमानों का प्रतिनिधित्व कर सकती थी। उसने पाकिस्तान का जो नारा दिया था उसका प्रभाव मुस्लिम जनता पर पड़ा था और चुनावों के कारण जिन्ना साहब के हाथ भी मजबूत हुए। इस चुनाव ने केबिनेट मिशन के समय तथा उसके बाद की घटनाओं को प्रभावित किया।

४. आजाद हिन्द फौज के नेताओं पर मुकदमा

युद्ध की समाप्ति पर आजाद हिन्द फौज के अधिकारियों को बंदी बनाकर भारत लाया गया और ब्रिटिश सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने के आरोप में उन पर मुकदमा चलाया गया। सबसे पहले शाहनवाज, ढिल्लन और सहगल पर लाल किले में मुकदमा चलाया गया। नवंबर में आरंभ हुए इस मुकदमे से जनभावना आंदोलित हुई। कांग्रेस के मूर्धन्य नेताओं ने तथा अन्य चोटी के वकीलों ने पैरवी का बीड़ा उठाया। आजाद हिन्द के नेताओं को रिहा कर दिया गया। देश में इस समय अपार उत्साह की जो भावना दिखाई दी उससे राष्ट्रीय भावना प्रबल हुई।

केबिनेट मिशन के प्रस्ताव

ब्रिटिश मंत्रिमंडल के तीन सदस्य मार्च, १९४६ में भारत पहुँचे। भारत सचिव पेथिक लारेंस के अलावा दो अन्य ब्रिटिश मंत्री थे स्टैफर्ड क्रिप्स तथा ए.वी. एलक्जैंडर। इस मिशन

ने प्रांतों के गवर्नर, देशी नरेश, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेता तथा सभी वर्गों के प्रतिनिधियों से विस्तृत बातचीत की। अंततः मई, १६४६ में केबिनेट मिशन ने निजी प्रस्तावों की घोषणा की। ये प्रस्ताव मुख्यतः तीन प्रकार के थे। १. भारत के भावी संविधान से संबंधित व्यवस्थाएँ, २. संविधान निर्माण करने वाली सभा की रचना, ३. अंतरिम सरकार का गठन। इन तीन प्रमुख विषयों की अलग-अलग व्याख्या इस प्रकार है –

१. भावी संविधान सम्बन्धी सुझाव

(क) **संघीय व्यवस्था :** भारत में संघीय सरकार की स्थापना होगी। विदेशी मामले, प्रतिरक्षा तथा संचार-साधन इस संघीय सरकार के नियंत्रण में रहेंगे। शेष सभी विषय प्रांतों के अधीन होंगे।

(ख) **देशी राज्य :** संघीय सरकार में देशी राज्यों को शामिल करने की व्यवस्था थी। इन राज्यों को यह निर्णय करना था कि कौन से विषय वे संघ को सौंपने को तैयार थे। वे सभी विषयों पर अधिकार बनाये रख सकते थे अथवा संघ को हस्तांतरित कर सकते थे।

(ग) **प्रांतीय समूह :** ब्रिटिश अधीन भारत को तीन समूहों में बाँटने को प्रस्ताव किया गया। प्रथम भाग में मद्रास, बम्बई, वर्तमान उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार और उड़ीसा को रखा गया। दूसरे समूह में पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, सिंध और पंजाब तथा तीसरे समूह में असम और बंगाल रखे गये। यह कहा गया कि प्रांतीय कार्यपालिका तथा विधान मंडल के अतिरिक्त प्रत्येक समूह के प्रांत सामूहिक कार्यपालिका तथा विधान सभाओं की रचना कर सकते थे। पहले समूह में वे प्रांत थे जहाँ हिन्दुओं का बहुमत था और दूसरे तथा तीसरे समूहों में अधिकांश जनता मुस्लिम थी।

(घ) **साम्प्रदायिक निर्णय :** सांप्रदायिक समस्याओं के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था की गयी। यह प्रस्ताव किया गया कि सांप्रदायिक मामलों पर निर्णय संघीय व्यवस्थापिका द्वारा बहुमत के आधार पर नहीं अपितु उस संप्रदाय के सदस्यों के बहुमत द्वारा किये जायें।

२. प्रस्तावित संविधान सभा की रचना

केबिनेट मिशन ने सुझाव दिया था कि एक संविधान सभा गठित हो जिसे संविधान का निर्माण करने का कार्य सौंपा जाय। व्यावहारिक उपाय यही सोचा गया कि हाल में निर्वाचित प्रांतीय सभाओं को निर्वाचक निकायों के रूप में प्रयुक्त किया जाय। इस संवंध में विस्तृत सुझाव पेश किये गये कि सभा में कितने सदस्य होंगे और उनका निर्वाचन किस प्रकार हो।

३. अंतरिम सरकार का निर्माण

केबिनेट मिशन ने सुझाव दिया कि नया संविधान बनने के समय तक यह आवश्यक था कि एक अंतरिम सरकार संगठित कर दी जाय। केन्द्र सरकार के समस्त विभाग इसे सौंप देने का निर्णय किया गया। प्रमुख राजनीतिक दलों और वर्गों के प्रतिनिधियों को इसमें शामिल करने के उद्देश्य से कांग्रेस के ६ सदस्य, मुस्लिम लीग के ५, ईसाइयों का १, पारसियों का १ तथा सिखों का १ सदस्य सम्मिलित करने का प्रस्ताव किया गया।

केबिनेट मिशन योजना का मूल्याँकन

तत्कालीन परिस्थितियों को देखते हुए ही केबिनेट मिशन ने ऐसे सुझाव दिये जिनको सभी संबंधित पक्ष स्वीकार कर सकते थे। भारत में आकर जिस प्रकार की राजनीतिक स्थिति इस मिशन को दिखायी दी उसी के अनुसार उसने प्रस्ताव पेश किये। स्वयं गांधीजी ने स्वीकार किया था कि ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत यह सर्वोत्तम लेख था।

केबिनेट योजना की मुख्य विशेषता यह थी कि इसमें भारत की अखंडता को बनाये रखने की कोशिश की गयी थी। मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार तो कर दिया गया पर उसे भी संतुष्ट करने की दृष्टि से प्रांतों के समूहों का निर्माण करने का प्रस्ताव किया गया। मिशन योजना ने भारतीय नेताओं की इस माँग को स्वीकार कर लिया कि एक संविधान सभा गठित की जाय और उसी की राय के अनुसार संविधान का वास्तविक स्वरूप निर्धारित हो। भारतीयों को अपना संविधान बनाने का अवसर दिया गया। लेकिन इस संविधान सभा के अधिकार सीमित थे। वह योजना द्वारा प्रस्तावित रूपरेखा से बँधी थी। इस बार मिशन के सदस्य अपने साथ कोई प्रस्ताव पहले से नहीं लाये थे और उन्होंने अपने सुझावों को भारतीयों पर लादने की कोशिश नहीं की। इसके विपरीत उन्होंने लगातार यही प्रयास किया कि सभी पक्षों के मतों के अनुसार वे योजना प्रस्तुत करें। प्रस्तावित संविधान सभा में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व को बहुत सीमित किया गया। यह एक बड़ी उपलब्धि थी। देशी राज्यों की जनता को पहली बार मान्यता मिली और इन राज्यों के प्रतिनिधियों के निर्वाचन में जनता को राय प्रकट करने का अवसर दिया गया। पूरी तरह से शक्तिशाली अंतरिम सरकार का गठन करने का प्रस्ताव किया गया था। इसमें सभी वर्ग के भारतीयों को स्थान दिया गया था।

आरंभ में तो कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया। लेकिन कुछ समय के पश्चात् संविधान सभा के चुनावों के परिणाम जब सामने आये तो जिन्ना साहब को यह अनुमान हुआ कि २१२ कांग्रेस सदस्यों के मुकाबले में ७३ लीगी सदस्य अधिक प्रभाव नहीं दिखा सकेंगे। जिन्ना साहब इससे निराश हुए और लीगी सदस्यों ने संविधान सभा की कार्यवाही में भाग लेने के बजाय 'सीधी कार्रवाई' से पाकिस्तान का लक्ष्य प्राप्त करने का निश्चय किया। अंतरिम सरकार के गठन के प्रश्न को लेकर भी मुस्लिम लीग अप्रसन्न हुई और उसने मिशन के प्रस्तावों की अपनी स्वीकृति को वापस ले लिया। मिशन की कुछ व्यवस्थाओं के अनुसार फिर भी प्रगति हुई। संविधान सभा का निर्माण हुआ और अंतरिम सरकार ने कार्य करना जारी रखा। पर मिशन के अन्य सुझाव कागज पर ही बने रहे। शीघ्र ही घटनाक्रम तेजी से बदला और ब्रिटिश सरकार को मिशन के सुझावों पर पुनर्विचार करना पड़ा।

भारत में प्रशासनिक सेवा का विकास

यह स्वीकार किया गया है कि भारत में ब्रिटिश प्रभुत्व को बनाये रखने में प्रशासनिक सेवा का वही स्थान था जो किसी विशालकाय भवन के लिए लोहे के ढाँचे का होता है। जैसे भवन की मजबूती इस लोहे के ढाँचे पर निर्भर करती है, ठीक उसी तरह ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत की प्रशासनिक प्रणाली को संचालित करने में मुख्य भूमिका प्रशासनिक सेवा के

अधिकारियों ने अदा की। हमें इसके विकास का अध्ययन करते समय यह ध्यान देना होगा कि जहाँ तक संभव हो सका, भारतीयों को इस सेवा से दूर रखा गया और जब भारतीयों के लिए दरवाजा बंद नहीं रखा जा सका तो दिखावे के लिए उनमें से कुछ को इस उच्चतम सेवा में स्थान दिया गया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक यही स्थिति बनी रही।

प्लासी के युद्ध के बाद जब कंपनी की राजनीतिक शक्ति बढ़ी तो इसके अधिकारी निजी व्यापार करते रहे, नजराने की रकम वसूलते रहे तथा घूस लेने में नहीं हिचके। यथाशीघ्र रुपया बटोरना उनका उद्देश्य था जिससे बंगाल में द्वैध शासन के समय भ्रष्टाचार बढ़ा। क्लाइव ने स्थिति को सुधारने को दृष्टि से अधिकारियों पर अंकुश लगाया और उनको एक प्रतिज्ञापत्र भरने को कहा। इस प्रतिज्ञापत्र में अधिकारियों ने वचन दिया कि वे भविष्य में सभी प्रकार के भ्रष्टाचार का विरोध करेंगे। इसी समय से कंपनी की सेवा को प्रतिज्ञापत्र प्रशासनिक सेवा कहा जाने लगा और कंपनी के उच्च अधिकारी १८९२ तक इसी नाम से जाने जाते थे। कार्नवालिस ने इस सेवा के लिए केवल अंग्रेजों को नियुक्त करने का निश्चय किया। भारतीयों को कंपनी की ऊँची नौकरियों से अलग रखा गया। १७९३ के अधिनियम ने कार्नवालिस के निर्णय पर मुहर लगा दी।

कंपनी के शासनकाल के दौरान उच्च सेवाओं में नियुक्ति का उत्तरदायित्व गृह सरकार के सदस्य वहन करते थे। संचालक-मंडल और नियंत्रण-मंडल के सदस्य प्रायः अपने परिवार के नवयुवकों को प्रतिज्ञाबद्ध प्रशासनिक सेवा के लिए नियुक्त करते थे। संरक्षण के तरीके से ही नियुक्तियाँ की जाती थीं।

१८५३ के अधिनियम से इस सेवा की नियुक्ति का तरीका बदला। यह निर्णय किया गया कि संरक्षण के स्थान पर भविष्य में खुली परीक्षा द्वारा ही नियुक्तियाँ की जायें। ब्रिटेन में प्रतिवर्ष एक लिखित प्रतियोगिता करने का निश्चय किया गया। समय-समय पर इससे संबंधित नियम बने। इस निर्णय से योग्य नवयुवकों को प्रशासनिक सेवा में भर्ती करने का क्रम आरंभ किया गया। इनके प्रशिक्षण पर भी ध्यान दिया गया। परिणाम यह हुआ कि प्रतिज्ञाबद्ध प्रशासनिक सेवा में योग्य अधिकारियों की संख्या बढ़ी।

इस सेवा से संबंधित एक प्रश्न भारतीयों के लिए बड़े ही महत्त्व का था। प्रश्न था भारतीयों की इस सेवा में नियुक्ति। १८३३ के अधिनियम तथा महारानी विक्टोरिया की घोषणा में भारतीयों को विश्वास दिलाया गया था कि नौकरियों में सभी को समान अवसर दिया जायेगा। लेकिन अधिनियम की इस धारा और घोषणा के बावजूद स्थिति में कोई भी अंतर नहीं आया। प्रशासनिक सेवा की प्रतियोगिता अंग्रेजी में होती थी और भारतीय नवयुवकों को इसमें भाग लेने के लिए ब्रिटेन की यात्रा करनी पड़ती थी जो खर्चीली होने के साथ-साथ कष्टकर भी थी। इसी कारण १८७० तक केवल एक भारतीय (सत्येंद्रनाथ ठाकुर) इस परीक्षा में सफल हो सका था। इसके बाद भी स्थिति बहुत कुछ ऐसी ही बनी रही। कुछ गिने-चुने भाग्यशाली ही इस लंदन प्रतियोगिता में जाकर सफल हो पाते थे।

१८५७ के बाद जैसे-जैसे भारत में उच्च शिक्षा का विस्तार हुआ तो पढ़े-लिखे वर्गों ने

जोर देकर यह माँग की कि प्रशासनिक सेवा में भारतीयों को अधिक अवसर दिये जाएँ। सरकार प्रशासनिक सेवा के 'भारतीयकरण' की माँग की अनदेखी नहीं कर सकती थीं। १८७० में ब्रिटिश संसद ने एक अधिनियम पारित करके भारत सरकार को अधिकार दिया कि वह प्रतिज्ञाबद्ध प्रशासनिक सेवा के लिए ऐसे भारतीयों की नियुक्ति कर सकती थी जिन्होंने लंदन परीक्षा में भाग न लिया हो। १८७९ में लिटन की सरकार ने इस अधिनियम के आधार पर नियम बनाये और एक 'विधिनिर्दिष्ट सेवा' का आरंभ किया गया। इससे भारतीय संतुष्ट नहीं हुए क्योंकि इस सेवा में केवल प्रभावशाली परिवार के नवयुवकों को नियुक्त करने का निश्चय किया गया था। सेवा में नियुक्ति का आधार योग्यता नहीं अपितु किसी परिवार में ज़न्म लेना था।

१८८६ में डफरिन की सरकार ने प्रशासनिक सेवा के सभी प्रश्नों पर विचार करने के लिए कमीशन नियुक्त किया। यह एचीसन कमीशन कहलाया। इसकी रिपोर्ट १८८८ में पेश की गयी। पर इस कमीशन से भारतीयों को अधिक लाभ नहीं मिला क्योंकि इसने भारतीयों की इस माँग को ठुकरा दिया कि प्रतियोगिता की परीक्षा लंदन के अलावा भारत में भी हो। कमीशन की यह मान्यता थी कि प्रशासनिक सेवा का स्वरूप यूरोपीय ही रहे। इसके एक निर्णय के अनुसार अब इस सेवा को इंडियन सिविल सर्विस (आई.सी.एस.) कहा जाने लगा।

१९१३ तक उच्च सेवाओं में भारतीयों की स्थिति नहीं सुधरी। १९१२ में नियुक्ति इसलिंगटन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में स्वीकार किया कि भारत में २,५०१ ऐसे पद थे जिनके लिए वेतन आठ सौ रुपये से अधिक था। इनमें से ९० प्रतिशत पदों पर अंग्रेज अधिकारी काम करते थे और भारतीयों को केवल दस प्रतिशत ही ऐसी नौकरियाँ उपलब्ध थीं। इंडियन सिविल सर्विस की सेवा में १८८६ में १२ भारतीय अधिकारी थे। १९१३ में केवल ६३ भारतीय अधिकारी इस उच्चतम प्रशासनिक सेवा के पदों पर कार्य कर रहे थे। इस प्रकार इस सेवा में भारतीयों की संख्या पाँच प्रतिशत से अधिक नहीं थी। साफ जाहिर है कि इस समय तक भी ऊँची नौकरियों से किसी न किसी बहाने उन्हें दूर रखा गया। ब्रिटिश अधिकारियों को केवल अंग्रेज अधिकारियों पर ही भरोसा था। वे नौकरशाही पर ब्रिटिश प्रभाव को घटाने के लिए तैयार नहीं थे।

१९१९ के अधिनियम में यह स्वीकार कर लिया गया कि भारतीयों को प्रशासन में सहयोग करने का अवसर दिया जायेगा। इस निर्णय के बाद उच्च प्रशासनिक सेवा में भारतीयों को अधिक अवसर मिलने लगे।

भारत में स्थानीय स्वशासन का विकास

आधुनिक राज्यों में प्रशासन, विधि-निर्माण तथा न्याय की संस्थाओं के अतिरिक्त ऐसी संस्थाएँ भी विकसित हुई हैं जो शहरी अथवा ग्रामीण छोटे क्षेत्रों में निवास करने वाले लोगों की स्वास्थ्य, सफाई, जल-साधन, रोशनी, सड़कें तथा मेले आदि स्थानीय समस्याओं की व्यवस्था कर सकें। भारत में इसी उद्देश्य से म्युनिसिपल बोर्ड या कारपोरेशन, जिला बोर्ड, जिला परिषद् आदि संस्थाओं को संगठित करने का प्रयास किया गया। जैसे-जैसे भारत में ब्रिटिश

साम्राज्य का प्रभाव बढ़ता गया वैसे ही वैसे यूरोप में विकसित इन संस्थाओं को भारत में स्थापित करने की कोशिश की गयी।

स्थानीय संस्थाओं के विकास में चार अवस्थाओं का वर्णन किया जा सकता है –

१. **१८५० तक विकास** – इस समय म्युनिसिपल संस्थाएँ बहुत कुछ ऐच्छिक थीं और कुछ बड़े शहरों में ही इन्हें स्थापित किया जा सका था।

२. **१८५१ से १८८१ तक** – म्युनिसिपल संस्थाएँ अनिवार्य कर दी गयीं और प्रशासनिक कार्य-कुशलता पर जोर दिया गया।

३. **१८८१ से १९१९ तक** – रिपन की नीति के प्रभाव का समय।

४. **१९१९ से १९४७ तक** – विकेन्द्रीकरण का युग।

आरंभ में पहली अवस्था का अवलोकन करते समय यह दिखायी देता है कि केवल बंबई, कलकत्ता और मद्रास में ही म्युनिसिपल संस्थाएँ संगठित की गयीं। अन्य शहरों में १८४२ तक नगरपालिकाएँ संगठित नहीं की गयी थीं। इसी वर्ष जो नया कानून पारित किया गया उसे बंगाल सूबे में ही लागू किया गया। इस कानून में यह कहा गया कि किसी भी शहर के निवासी अपने क्षेत्र में उपलब्ध सुविधाओं को सुधारने के लिए म्युनिसिपल संस्था स्थापित कर सकते थे। यह केवल ऐच्छिक निर्णय हो सकता था। जब किसी शहर के निवासियों में से दो-तिहाई इसके लिए तैयार होते तभी कोई म्युनिसिपलिटी स्थापित हो सकती थी। यह कानून बहुत सफल नहीं हो सका। किसी भी शहर के निवासियों में इतनी उत्सुकता नहीं थी कि वे कर देकर इस संस्था को स्थापित करने में योगदान देते।

डलहौजी के शासनकाल के दौरान और १८५८ के पश्चात् नयी परिस्थितियाँ सामने आयीं। यातायात तथा दूरसंचार के साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए और उद्योगों में भी नयी मशीनों के प्रयोग से उत्पादन के साधन विकसित हुए। स्वाभाविक था कि पुराने शहरों की जनसंख्या बढ़ी तथा नये-नये शहर बने। इन शहरों की कई ऐसी समस्याएँ थीं जिनकी स्थानीय देखभाल के लिए स्थानीय स्वशासन की संस्थाओं की आवश्यकता अनुभव की गयी। १८५८ के बाद के दशकों में भारत सरकार के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। उस समय यह समझा गया कि स्थानीय संस्थाएँ विकसित करके सरकार का खर्च कम किया जा सकता था। वित्त सदस्य ने भारत सरकार की नीति को स्पष्ट करते हुए कहा कि यह आवश्यक था कि 'हर बात के लिए कलकत्ता पर निर्भर करने की आदत को रोका जाये और जनता को यह शिक्षा दी जाये कि वे उन कार्यों के लिए सरकार का मुँह न ताकें जिन्हें वे खुद कर सकते हैं।' सरकार का इरादा था कि स्थानीय संस्थाएँ अपने-अपने क्षेत्रों में कर वसूल करें तथा क्षेत्र की सुख-सुविधाएँ जुटाने में सरकार का हाथ बटायें। इस स्थिति में जो संस्थाएँ विकसित हुई उनकी तीन विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान जाता है। पहले, स्थानीय संस्थाओं से यह आशा की गयी थी कि वे प्रशासकीय तथा वित्तीय व्यवस्था करके सरकार के काम को हल्का करें। दूसरे, स्थानीय क्षेत्र में कर लेने का कार्य अब ऐच्छिक न होकर अनिवार्य बना दिया गया जिससे

स्थानीय स्वशासन करने वाली संस्थाओं पर सरकारी प्रभाव बढ़ा। तीसरे, इस काल में कार्यकुशलता पर जोर दिया गया।

तीसरे चरण का आरंभ रिपन की स्थानीय स्वशासन के प्रति स्पष्ट नीति से हुआ। इसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं। रिपन ने मई, १८८२ में जो प्रस्ताव पारित किया वह स्थानीय स्वशासन के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस गवर्नर जनरल ने यह एक नयी नीति निर्धारित की कि स्थानीय स्वशासन की इकाइयों के विकास का लक्ष्य मुख्य रूप से राजनीतिक शिक्षा देना था। उसने प्रशासनिक दक्षता के स्थान पर प्रतिनिधि व्यवस्था के विकास पर ध्यान दिया। प्रश्न यह उठता है कि रिपन ने स्थानीय स्वशासन के राजनीतिक महत्त्व पर क्यों जोर दिया। इसका उत्तर रिपन ने स्वयं दिया था। वाइसराय ने भारत आकर देखा कि शिक्षित मध्य वर्ग और नौकरशाही दो विरोधी दिशाओं की ओर बढ़ रहे थे जिससे कभी भी खतरनाक स्थिति आ सकती थी। दोनों के टकराव से बचने का उपाय करने की उसने कोशिश की। रिपन जानता था कि सरकारी अधिकारी अपने प्रभाव को बनाये रखने में इतने सचेत थे कि वे कभी भी स्थानीय संस्थाओं को सही ढंग से काम करने का अवसर नहीं देंगे। इसी से उसने 'बड़े साहब' के प्रभाव को घटाने की बात कहीं और इसके साथ-साथ प्रत्येक स्थानीय संस्था में चुने गये प्रतिनिधियों को प्रभावकारी भूमिका दिलाने की कोशिश की। नौकरशाही के प्रभाव को घटाने का सबसे उपयुक्त स्थान यही स्थानीय संस्थाएँ थीं। उसने यह भी चाहा कि इन संस्थाओं में कार्य करके जनता के प्रतिनिधियों को ऐसा प्रशिक्षण मिलेगा कि वे अधिक जिम्मेदारी के कार्य को भी सँभाल सकेंगे। रिपन ने चुनाव की प्रक्रिया को भी सबसे नीचे से आरंभ करने की कोशिश की जिससे भारतीय जनता जनप्रतिनिधित्व प्रणाली में रुचि लेने लगे।

रिपन की नीति का प्रभाव यह पड़ा कि स्थानीय संस्थाओं में चुनाव की प्रक्रिया तेज हुई। यह इसी से प्रकट हो जाता है कि १८८१ में ७१२ नगरपालिकाओं में से केवल १६६ में पूरी तरह से अथवा आंशिक रूप से चुनाव की प्रथा अपनायी गयी थी। १८८५ में ७२७ में से ४७२ नगरपालिकाएँ पूरी तरह से अथवा आंशिक रूप से चुनाव की प्रक्रिया अपना चुकी थीं।

१९०७-०९ में विकेन्द्रीकरण कमीशन ने भारत में स्थानीय संस्थाओं की प्रगति पर अपनी रिपोर्ट पेश की। इसके प्रस्तावों में यह कहा गया कि स्थानीय क्षेत्रों के लिए ग्राम पंचायतें स्थापित की जायें। इसी प्रकार से ग्रामीण क्षेत्रों में क्षेत्रीय विकास के लिए जिला बोर्ड स्थापित करने अथवा उन्हें अधिक संगठित करने के प्रस्ताव किये गये। जिला बोर्ड इस प्रकार कारगर ढंग से काम करने लगे और उनमें भी चुनाव की प्रक्रिया को तेज करने के उपाय किये गये।

चौथे चरण में स्थानीय स्वशासन के विकास में तेजी आयी, जब ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि भारत में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की ओर प्रयास किये जायेंगे। १९१९ के प्रांतीय शासन में इसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिये जब द्वैध शासन पद्धति अपनायी गयी तब स्थानीय क्षेत्र में भी प्रतिनिधि प्रणाली विकसित की जाने लगी। मुख्य प्रगति यह हुई कि नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों के चुनाव में पहले से अधिक लोगों को मतदान

का अधिकार मिला। जब द्वैध शासन के अनुसार भारतीय पहली बार मंत्री बने तो स्थानीय स्वशासन विभाग उनके अधिकार में सौंपा गया। स्वाभाविक रूप से उन्होंने बड़े उत्साह से स्थानीय संस्थाओं में जनता के प्रतिनिधियों को अधिकार दिये। अधिक चुने हुए सदस्य इन संस्थाओं में आने लगे तथा वे निर्णयों को प्रभावित भी करने लगे। मनोनीत करने का सिद्धांत केवल उसी स्थिति में अपनाया गया जब अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि को नियुक्त करना होता था अथवा किसी कुशल अधिकारी को नियुक्त करने की आवश्यकता होती थी। सभी नगरपालिकाओं और जिला बोर्डों में गैर-सरकारी अध्यक्ष चुना जाने लगा। इस प्रकार इन सभाओं में सरकारी प्रभाव पूरी तरह से समाप्त किया गया। कहा जा सकता है कि स्थानीय संस्थाओं को सही दिशा में मोड़ने के उचित कदम उठाये गये। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि १९४७ तक इन संस्थाओं पर सरकार का नियंत्रण बना रहा और पश्चिम के देशों की तरह स्थानीय संस्थाएँ प्रशासन की आधारशिला नहीं बन सकीं।

●●●

तेइसवाँ अध्याय

राष्ट्रवाद का उदय और कांग्रेस का प्रारम्भिक स्वरूप

१८५७ के विद्रोह के द्वारा भारतीयों ने ब्रिटिश सत्ता को खुली चुनौती दी थी। देशव्यापी संघर्ष करके विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया गया। संगठन की कमी के कारण चाहे यह प्रयास उस समय सफल न हुआ हो फिर भी छटपटाहट बनी रही, असन्तोष की आग धीरे-धीरे सुलगती रही और राष्ट्रीय स्तर पर एकजुट होने का सपना भारतवासी सँजोये रहे। इस समय के अनुभव के आधार पर उनकी एकता के प्रकट होने का स्वरूप आगामी पच्चीस वर्षों में बदला। सशस्त्र विरोध करने के वजाय भारतीयों ने संगठन का सहारा लिया।

१८५८ से १८८५ के बीच भारत में व्यापक बदलाव आया। अनेक प्रशासकीय, राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन हुए। इनसे राजनीतिक जागरण की पृष्ठभूमि तैयार हुई। यह जागरण दो तरह से दिखायी दिया। एक तो यह भाव भारतीयों के दिलों में घर बनाता गया कि ब्रिटिश हित और भारतीयों के हित एक दूसरे से भिन्न थे, अलग थे और एक दूसरे के विपरीत थे। उनकी यह धारणा बनती गयी कि उनके हितों की बलि चढ़ाकर ब्रिटिश सत्ता केवल अपने और अपने देशवासियों के हितों की ओर ध्यान दे रही थी। इसी के साथ-साथ भारतीयों में यह भावना भी जगी कि संकुचित क्षेत्रीय और प्रान्तीय नजरिये से सोचने-विचारने के बजाय राष्ट्रीय पैमाने पर कार्य करने की आवश्यकता थी। इन विचारों से भारतीय राष्ट्रवाद पनपा।

राष्ट्रीयता का विकास

राष्ट्रीयता का विकास तभी संभव हो सका जब इसके लिए सहायक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। भारत में ऐसी अनुकूल परिस्थितियाँ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में उपजीं। इस दौरान ऐसे कारक प्रकाश में आये जिन्होंने राष्ट्रीय जागरण को सजग और सशक्त बनाया। इन कारकों का विवेचन यहाँ दिया जा रहा है।

देशव्यापी ब्रिटिश सत्ता की स्थापना

भारत में ब्रिटिश सत्ता के स्थापित होने से राष्ट्रीयता का भाव प्रबल हुआ। देश के सभी इलाकों पर एक साथ ब्रिटिश अधिकार स्थापित होने से राजनीतिक एकीकरण हुआ। समूचे देश में एक प्रकार का प्रशासनतंत्र स्थापित हुआ, समान नियम और कानून लागू हुए तथा एक तरह की संस्थाएँ स्थापित की गयीं। यातायात के साधनों के विकास से प्रशासनिक एकता और भी मजबूत हुई। रेलवे, तार तथा डाक व्यवस्था के लागू हो जाने से एक प्रान्त के लोगों को दूसरे प्रान्त के निवासियों से सम्पर्क करना आसान हो गया, यात्राओं का दौर शुरू हुआ और समान विषयों पर विचार करने का आधार तैयार हुआ। एक ओर प्रशासनिक तंत्र के द्वारा राष्ट्रीय एकता को पनपने का अवसर मिला तो दूसरी ओर विदेशी जुए को उतार फेंकने की इच्छा समय

के साथ बढ़ती गयी। विदेशी शासन कभी भी भारत में लोकप्रिय न हो सका। यहाँ के निवासियों में विदेशी शासन के प्रति सदैव ही घृणा की भावना थी। चाहे वे इसे प्रकट कर सके अथवा नहीं लेकिन विदेशी शासन के प्रति उनका द्वेष कभी कम नहीं हुआ। विदेशियों के प्रति यह विरोध देश के सभी क्षेत्रों में समान रूप से था और समान रूप से उनमें विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकने की इच्छा थी। विदेशी शासन के प्रति उपजी इस घृणा से भारतीयों में समान विचार पनपे। पराधीनता तथा दासता के भाव ने भारतीयों को एक दूसरे से जोड़ा। समान अनुभव और समान इच्छा से वे एक दूसरे के निकट आते गये।

गोरे प्रशासकों के व्यवहार से, उनके रहन-सहन से और श्रेष्ठता प्रदर्शित करने की उनकी कोशिशों के कारण अंग्रेजों और भारतीयों के बीच की खाई और भी बढ़ती गयी। अंग्रेजों ने जब भारतीयों को हेय दृष्टि से देखा, उनकी सभ्यता और संस्कृति की निन्दा करना जारी रखा तो यह स्वाभाविक ही था कि उनके प्रति पहले से व्याप्त घृणा का भाव समय के साथ-साथ वढ़ा।

औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था

ब्रिटिश राज्य द्वारा अपनायी गयी नीतियों के फलस्वरूप भारतीय अर्थव्यवस्था का स्वरूप तेजी से बदला। ग्रामीण क्षेत्रों और भूमि प्रणाली के बारे में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। भूमि को निजी सम्पत्ति माना गया। देश के इतिहास में पहली बार भूमि को खरीदने, बेचने अथवा रेहन रखने के अधिकार मिल जाने से कृषि योग्य भूमि पर अन्य सामाजिक वर्गों का नियंत्रण स्थापित होना शुरू हो गया। यहाँ स्थायी भूमि व्यवस्था के बंगाल सूबे में लागू किये जाने के परिणामों की चर्चा करना पर्याप्त होगा। इस व्यवस्था के अधीन ग्रामीण अंचलों में एक शक्तिशाली और धनीमानी जमींदार वर्ग का प्रभुत्व स्थापित हुआ। ब्रिटिश शासकों ने जिस प्रभावी वर्ग की जड़ें मजबूत करने की प्रणाली अपनायी वह वास्तव में एक पराश्रयी वर्ग साबित हुआ। इसने किसानों के श्रम से लाभ उठाने के अलावा और कुछ नहीं किया। उन्नीसवीं सदी के मध्य से जमींदार वर्ग के लाभ घटने लगे क्योंकि खेती से आमदनी कम होने लगी थी। ऐसी स्थिति में जमींदार वर्ग के वंशज और कृष्क एक साथ निराश हुए। इस समय बंगाल में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न होने का एक बड़ा कारण था परंपरागत प्रभावी वर्ग का असंतोष। बम्बई, मद्रास तथा कुछ अन्य प्रान्तों में रैय्यतवाड़ी भूमि-व्यवस्था के अधीन थोड़े से धनी किसान और भी सम्पन्न हुए लेकिन वहुसंख्यक गरीब किसानों की दशा में कोई सुधार नहीं हो सका। लगातार बिगड़ती हुई दशा के कारण सरकार की नीतियों पर से उनका विश्वास उठने लगा।

भूमि-व्यवस्था के अलावा व्यापारिक खेती से भी ग्रामीण ढाँचा बदला। भारतीय कृषि मूलतः आत्मनिर्भरता के सिद्धान्त पर आधारित थी। यह सीमित क्षेत्रों की जरूरतों को पूरा करती थी। लेकिन ब्रिटिश शासकों ने कपास, जूट, तम्बाकू, गन्ना, चाय और कॉफी के उत्पादन को बढ़ावा देकर आत्मनिर्भर गाँवों को राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से जोड़ दिया। परिणामस्वरूप धनी व्यापारियों ने निकट के इलाके के किसानों को कर्ज देना तथा समूचे उत्पादन को खरीदने का तरीका शुरू कर दिया। कृषि उत्पादनों की बिक्री से व्यापारिक वर्ग को नये अवसर मिले,

वैंकों का कार्य क्षेत्र बढ़ा तथा आयात-निर्यात करने वाले वर्गों की संख्या बढ़ी। आर्थिक दायरे के बढ़ने से ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में सम्पर्क बढ़े। इससे राजनीतिक परिवर्तन का आधार तैयार हुआ।

आर्थिक परिवर्तनों के कारण भारत के अनेक नगरों में एक नया व्यापारी मध्यम वर्ग उभरा जो सम्पन्न था, जिसके आय के अपने अलग साधन थे और जिसका सम्पर्क सभी क्षेत्रों से था। यह वर्ग गतिशील और सक्रिय था। इसके अपने अलग हित थे। इसकी अलग पहचान थी। इन्हीं के द्वारा भारत में राजनीतिक सक्रियता का दौर आरम्भ हुआ।

जैसी औपनिवेशिक व्यापार प्रणाली भारत में लागू की गयी थी उसका एकमात्र लक्ष्य था ब्रिटिश हितों का ध्यान रखना। इस नीति को अपनाते हुए भारत का शासन संचालित करने वाले अंग्रेज प्रशासकों ने लगातार या तो भारतीय हितों की वलि चढ़ायी अथवा इनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। ब्रिटिश सूती कपड़ा उद्योग को विकसित करने की दृष्टि से आयात और निर्यात के ऐसे नियम बनाये गये जिनसे ब्रिटिश माल को आसान शर्तों में भारत के बन्दरगाहों में लाया जाने लगा। मशीनों से बने इन आयातित कपड़ों के मुकावले में भारतीय कुटीर वस्त्र उद्योग टहर नहीं सका। कर प्रणाली तथा आर्थिक नीति की आलोचना करते हुए दादा भाई नौरोजी ने आर्थिक निकासी के योजनाबद्ध तरीकों के आँकड़े पेश करते हुए कहा कि लगातार भारतीय पूँजी और धन को भारत से निकाल कर ब्रिटेन में जमा किया जा रहा था। इससे आर्थिक रूप से भारत की जड़ें कमजोर होती रहीं। यहीं से इस देश में आर्थिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ और शासकों की नीतियों के प्रति नाराजगी बढ़ी। आर्थिक राष्ट्रवाद से राजनीतिक जागृति आयी।

शिक्षित मध्यवर्ग का उदय

पश्चिमी ढंग की शिक्षा व्यवस्था लागू होने के साथ-साथ भारत में एक नये शिक्षित मध्य वर्ग का उदय हुआ। अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाये जाने से एक नयी तरह का पढ़ा-लिखा समुदाय विकसित हुआ। उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही ऐसे भारतीयों की संख्या बढ़ने लगी जो योरोपीय इतिहास, पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा और साहित्य से परिचित थे। इस शिक्षा व्यवस्था की विशेषता यह भी थी कि समूचे भारत में इसका स्वरूप एक समान थां। इन शिक्षित मध्यवर्गीय लोगों के सोचने और समझने का तरीका भी एक समान था। इससे एक प्रान्त के निवासी को दूसरे प्रान्त के निवासी से समान धरातल पर सम्पर्क करना आसान हो गया।

हालाँकि मध्य वर्ग की संख्या अधिक नहीं थी फिर भी सामाजिक और राजनीतिक चेतना जगाने में इसने उल्लेखनीय भूमिका निभायी। यह इस कारण संभव हो सका क्योंकि देश में यही एकमात्र ऐसा संगठित वर्ग था जो राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने के काबिल था। शिक्षित वर्ग के लोग अधिकतर शहरों में रहते थे। शहर ऐसे चुम्बक साबित हुए जहाँ तरह-तरह के लोग नौकरी, पेशों और व्यापार की तलाश में आकर वसने लगे। वकील, पत्रकार, डॉक्टर, अध्यापक आदि पेशों में लगे इन व्यक्तियों के अपने निजी व्यवसाय थे। ये लोग आर्थिक रूप से भी पर्याप्त सम्पन्न थे। अपनी योग्यता के बलबूते पर इन्होंने शहरी इलाकों में प्रभाव बना लिया था। लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह तथ्य है कि इन पेशेवर बुद्धिजीवियों की सभी क्षेत्रों में अपनी एक अलग

पहचान थी। दूसरे सामाजिक वर्गों के साथ इनके नजदीकी सम्बन्ध थे। शहरी जीवन में नयी तरह के सामाजिक सम्पर्क उभरे और इन पढ़े-लिखे व्यक्तियों ने अन्य वर्गों की ओर से बोलना शुरू कर दिया। यह ध्यान देने योग्य है कि जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी के बाद के दशकों में इन पेशेवर बुद्धिजीवियों का प्रभाव बढ़ा, उन्होंने अन्य सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करना शुरू कर दिया। इन महत्त्वाकांक्षी बुद्धिजीवियों ने स्थानीय संस्थाओं में, शिक्षण संस्थाओं में, सांस्कृतिक और साहित्यिक संस्थाओं के द्वारा चेतना जगाने का कार्य आरम्भ किया। इसके साथ-साथ इस वर्ग ने राष्ट्रीय जनमत को संगठित करने में प्रमुख भूमिका निभायी। ये राष्ट्रीयता के प्रेरणा स्रोत बने और इसी वर्ग ने कांग्रेस की स्थापना का आधार तैयार किया।

१८७० के बाद के वर्षों में व्यापारी और धनी-मानी उच्च वर्गों के बजाय मध्यवर्गीय पेशेवर लोगों का असर बढ़ने का क्रम आरम्भ हुआ। इन दोनों सामाजिक वर्गों के हितों में टकराहट होने के कारण इनमें स्पर्धा बढ़ी। उच्च वर्गों की स्थिति पहले से सुरक्षित थी। लेकिन मध्य वर्ग का समाज और राजनीति में तब तक स्थान बनाना था। ऐसी स्थिति में मध्य वर्ग के व्यक्तियों को अपना प्रभाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से संघर्ष करना पड़ा। वे यह भी चाहते थे कि उन्हें सभी लोगों का वास्तविक प्रतिनिधि माना जाये।

समाचार-पत्रों में जागृति

शिक्षित मध्य वर्ग ने अपनी शक्ति को, अपने विचारों और भावनाओं को प्रकट करने के लिए समाचार-पत्रों का सहारा लिया। समाचार-पत्रों से इन्हें वाणी मिली। बुद्धिजीवियों ने प्रेस के माध्यम से देश में जागृति लाने का कार्य किया। इससे सर्वभारतीय दृष्टिकोण पनपा। समाचार-पत्रों के द्वारा एक क्षेत्र के निवासियों को देश के दूसरे क्षेत्र में होने वाली घटनाओं की जानकारी मिली। प्रेस के कारण ही महाराष्ट्र के निवासियों को विधवा विवाह के पक्ष में उठायी गयी ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की आवाज सुनायी दी। प्रेस का लाभ यह हुआ कि किसी भी प्रश्न पर एक प्रान्त के निवासियों की प्रतिक्रिया से दूसरे प्रान्त के लोग परिचित हुए। विशेष करके सरकार से प्रशासनिक सुधारों की माँग के बारे में प्रेस के द्वारा ही समान नीति पर चर्चा की जा सकी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जनमानस की भावनाओं को स्वरूप प्रदान करने में प्रेस का कार्य महत्त्वपूर्ण था।

प्रेस के महत्त्व को स्वीकार करते हुए सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य करने वालों ने किसी-न-किसी समाचार-पत्र के द्वारा आवाज उठायी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'बंगाली' के द्वारा समूचे देश में चेतना जगायी। इसी प्रकार से 'इण्डियन मिरर', 'हिन्दू पेट्रियाट' तथा 'अमृत बाजार पत्रिका' के नाम कलकत्ता के समाचार-पत्रों में गिनाये जा सकते हैं। बम्बई से 'इन्दु प्रकाश' के प्रकाशन से यहाँ राजनीतिक चेतना का सूत्रपात हुआ और पूना सार्वजनिक सभा ने अपनी एक पत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया। मद्रास में १८७८ से 'हिन्दू' के प्रकाशन से बढ़ती हुई राजनीतिक सक्रियता का उदाहरण मिला। मद्रास विश्वविद्यालय से डिग्री हासिल करने वाले छह युवाओं के प्रयासों से यह सम्भव हो सका। इनमें से जी० सुब्रमन्य अय्यर और वी० राघवचारी ने इस समाचार-पत्र को सफल बनाने में अथक परिश्रम किया। समय के साथ-साथ

अन्य छोटे-बड़े नगरों में अखबार प्रकाशित किये जाने लगे। इस प्रकार जनमत को संगठित करने में प्रेस सक्रिय होता गया। प्रेस के द्वारा शिक्षित मध्य वर्ग को राष्ट्रीय कार्य करना आसान हो गया।

राजनीतिक संघों की भूमिका

राजनीतिक संघों की स्थापना से राष्ट्रीय विचारधारा के विकसित होने का आधार तैयार हुआ। देश के अलग-अलग क्षेत्रों में राजनीतिक संगठन स्थापित करके मध्य वर्गीय व्यक्तियों ने एकजुट होने का उचित रास्ता निकाला। इन्होंने क्षेत्रीय स्तर पर कार्य करने के अलावा सर्वभारतीय विषयों पर सम्पर्क स्थापित किया। इसी सम्पर्क से राष्ट्रीय आधार पर कार्य करने की इच्छा बलवती हुई।

सर्वभारतीय स्तर पर सबसे पहले सामाजिक-धार्मिक संगठनों ने कार्य किया। ब्रह्म समाज ने व्यापक आधार पर कार्य करने का जो उदाहरण रखा उसे बाद में आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थियासोफिकल सोसायटी आदि ने अपनाया। यह एक अलग दायरा था जिससे राजनीतिक तरीके से कार्य करने की पृष्ठभूमि तैयार हुई। फिर भी वास्तविक कार्य करने के लिए अलग संगठनों की जरूरत दिखायी दी।

राष्ट्रीय जागरण को दिशा देने की दृष्टि से १८७० के बाद से राजनीतिक संघों की स्थापना के प्रयास किये गये। बंगाल, मद्रास और बम्बई प्रान्तों में ये संघ बनाये गये। इससे यह दिखायी दिया कि इन तीन समुद्रतटीय प्रान्तों में राजनीतिक चेतना का उपयुक्त वातावरण था। पश्चिमी शिक्षा का प्रसार सबसे पहले इन्हीं प्रान्तों में हुआ था। शुरू में तीन विश्वविद्यालय भी यहीं बनाये गये थे। इससे यहाँ अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्तियों को संगठित करना आसान हुआ। उन्होंने राजनीतिक कार्य के प्रति सबसे पहले रुचि दिखायी। इस समय की सबसे प्रमुख संस्था की स्थापना कलकत्ता में १८७६ में हुई। इसे इण्डियन एसोसिएशन का नाम दिया गया। आनन्द मोहन बोस और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में इसने लगातार सक्रिय ढंग से कार्य किया। संस्था की स्थापना के समय इसके उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया था कि 'यह जनता का प्रतिनिधित्व करेगी और उसके राजनीतिक, बौद्धिक और राष्ट्रीय विकास हेतु सभी उचित मार्ग अपनायेगी।' इस संस्था का विस्तार होता गया। इसकी शाखाएँ बंगाल के प्रमुख नगरों के अलावा निकटवर्ती प्रान्तों में भी खुलीं। आगे चलकर हम इसके कार्यों का और अधिक ब्योरा दे रहे हैं।

वैसे तो बम्बई प्रान्त में अनेक संघों को संगठित करने के प्रयास किये गये लेकिन इनकी कोई उल्लेखनीय भूमिका नहीं रही। बम्बई नगर में व्यापारिक और धनीमानी लोगों का बोलबाला था। यहाँ बौद्धिक वर्गों को प्रभाव स्थापित करने में समय लगा। उस प्रान्त में पूना नगर की प्रमुखता दिखायी दी। यहीं १८७० में पूना सार्वजनिक सभा की स्थापना हुई। यह संस्था दिनों-दिन तरक्की करती गयी। इसके द्वारा जनचेतना को संगठित करने के प्रयास सफल हुए। गणेश वासुदेव जोशी और महादेव गोविन्द रानाडे ने सभा में प्राण फूँके। सभा के उद्देश्यों को इन शब्दों में परिभाषित किया गया : 'यह सरकार और जनता के बीच मध्यस्थ होगी और सरकार के

इरादों की जानकारी लोगों तक पहुँचायेगी और जनता को उनके अधिकारों से परिचित करायेगी।' कुछ वर्षों बाद इस सभा ने अपनी त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित करते हुए महत्त्वपूर्ण विषयों पर समान विचारधारा का स्वरूप निर्धारित करने का कार्य भी किया। जनवरी १८८५ में बम्बई प्रेसीडेंसी ऐशोसिएशन को शुरू करने में नगर के तीन उदीयमान वकीलों ने कार्य किया। ये थे फिरोजशाह मेहता, के.टी. तैलंग और बदरुद्दीन तैय्यबजी। इनका प्रभाव आगामी वर्षों में बढ़ा।

मई १८८४ में मद्रास महाजन सभा के गठित होने से यहाँ राजनीतिक कार्य करने वालों को एक मंच मिला। जी. सुब्रमन्य अय्यर, आनन्द चार्लू और वी. राघवचारी ने इसे गति प्रदान करने में प्रमुख भूमिका निभायी। इस सभा की स्थापना के बारे में कहा गया कि 'सार्वजनिक कार्यों को दिशा प्रदान करना और इन्हें बढ़ावा देने हेतु समय-समय पर कदम उठाना इस सभा का प्रमुख लक्ष्य होगा।' इस संस्था ने समय-समय पर सार्वजनिक बैठकें आयोजित कराने, भाषण आयोजित कराने और प्रान्तीय भाषा में जनहित के विषयों पर पर्चे प्रकाशित कराने का निश्चय किया। इसके उद्देश्यों से यह साफ दिखाई दिया कि आधुनिक तरीके से राजनीतिक कार्य करने के सभी उपायों पर सोचा जाने लगा था।

इन राजनीतिक संघों से जुड़े व्यक्तियों की कुछ विशेषताओं पर ध्यान दिया जा सकता है। प्रायः ये सभी युवा थे और उच्च्य शिक्षा-प्राप्त थे। इनमें से कई ब्रिटेन से शिक्षा पाकर लौटे थे। ये स्वतंत्र पेशे कर रहे थे जैसे वकालत, डाक्टरी या पत्रकारिता। इन्होंने एक ओर धनीमानी वर्गों का सहयोग प्राप्त करना चाहा तो दूसरी ओर मजदूर और किसानों से भी निकट का सम्पर्क रखा। मध्यवर्गीय व्यक्ति केवल अपने स्वार्थों के लिए ही नहीं अपितु सभी की इच्छाओं के अनुरूप कार्य करने पर विश्वास करते थे। इनमें से अनेक कार्यकर्ता शहरी थे। अलग-अलग इलाकों से आकर ये बड़े नगरों में बस गये थे। बहुत से ऐसे थे जो विभिन्न सार्वजनिक, जनकल्याणकारी, साहित्यिक अथवा सामाजिक संगठनों से जुड़े थे। व्यापक गतिविधियों में कार्य करना इनका तरीका था। सरकार के निर्णयों और इसकी नीतियों पर इनकी पैनी नजर थी।

प्रशासकीय नीतियों के विरुद्ध बढ़ता हुआ असन्तोष

इन राजनीतिक संघों को संगठित करके बौद्धिक वर्ग ने एक ओर सरकार से बेहतर सम्पर्क स्थापित करने की कोशिश की तथा दूसरी ओर अखिल भारतीय एकता के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहा। लेकिन सरकार ने उनकी आशाा के अनुसार कार्य नहीं किया। उसने कुछ ऐसे निर्णय लिये जिनसे बौद्धिक वर्ग को ठेस लगी। सरकार के निर्णयों के विरुद्ध अलग-अलग प्रान्तों में एक ही तरह की भावनाएँ उभरीं। इससे यह समझने में किसी को देर नहीं लगी कि सभी क्षेत्रों के निवासियों की आकांक्षाएँ एक सी थीं, इरादे एक प्रकार के थे और वे आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने को तैयार थे। सरकार की नीतियों के खिलाफ उपजे असन्तोष ने राष्ट्रीय भावना को और भी प्रबल बनाया।

उभरते हुए शिक्षित भारतीयों के इरादों की सरकार ने लगातार उपेक्षा की। उनकी महत्त्वाकांक्षाओं और सरकार की नीतियों में मूलभूत अन्तर दिखायी दिये। इसके तीन उदाहरण

देना काफी होगा। पहला नीति सम्बन्धी सवाल भारतीय प्रशासनिक सेवा में भारतीयों के पर्याप्त स्थान पाने का था। जिस समय युवा शिक्षित भारतीय समुदाय उच्च सेवाओं में अधिकाधिक स्थान पाने के सपने देख रहा था। तभी उसकी आशाओं पर पानी फेरते हुए लिटन की सरकार ने १८७६ में एक नया आदेश जारी किया। इसके अनुसार भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा में भाग लेने की अधिकतम आयु को २१ वर्ष से घटाकर १६ वर्ष कर दिया गया। इससे इस उच्चतम सेवा में भारतीय नवयुवकों के प्रवेश में एक और अवरोध खड़ा हो गया। इतनी कम आयु में लंदन जाकर इस प्रशासनिक सेवा की परीक्षा में सफल होना भारतीय नवयुवकों के लिए पहले से भी अधिक कठिन बना दिया गया। यह पहला अवसर था जब सरकार की इस घोषणा के खिलाफ अखिल भारतीय स्तर पर विरोध किया गया। इण्डियन एसोसिएशन के नेताओं ने इसे एक 'वास्तविक राष्ट्रीय प्रश्न' बताया। कलकत्ता के नेताओं ने अन्य क्षेत्र के नेताओं से सम्पर्क किया और उनसे आवाज उठाने को कहा। इस समय से भारतीय राजनीति का स्वरूप बदलता हुआ दिखायी दिया। क्षेत्रीय राजनेता राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने के लिए आगे बढ़े। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने देश के अनेक प्रान्तों का दौरा किया, सरकार के निर्णय की आलोचना करते हुए सभाएँ कीं, भाषण दिये और सभी क्षेत्रों के निवासियों का ध्यान इसकी ओर दिलाया। समकालीन समाचार-पत्रों ने भी एक स्वर से राष्ट्रीय स्तर से टिप्पणियाँ कीं। समाचार-पत्रों ने भी यही स्वीकारा कि सरकार की नीति के खिलाफ समूचे देश में एक-सी विचारधारा उभर रही थी। उन्होंने जनमत को संगठित करने के उद्देश्य से लेख लिखे। इनसे शिक्षित समाज का उत्साह बढ़ा। प्रशासनिक सेवा के नियमों में परिवर्तन के विरोध से यह प्रकट हुआ कि भारत में राजनीतिक जागरूकता का नया दौर शुरू हो गया था।

कुछ समय बाद ही लिटन की सरकार ने प्रेस पर अंकुश लगाने का अधिनियम बनाकर शिक्षित मध्यवर्ग की भावनाओं को पुनः ठेस पहुँचायी। जो प्रेस अधिनियम १८७८ में बनाया गया उसका सबसे निन्दनीय पहलू यह था कि केवल भारतीय भाषाई समाचार-पत्रों की सामग्री के छापे पर अंकुश लगाने की घोषणा की गयी थी। इससे सरकार का यह मत प्रकट हुआ कि वह भाषाई समाचार-पत्रों को तो खतरनाक मानती थी लेकिन अंग्रेजी के अखबारों को अधिनियम के दायरे में लाने की जरूरत नहीं समझती थी। भाषा के आधार पर नीति बनाने के कारण और प्रेस को दबाने के सरकार के इरादे के खिलाफ सभी प्रान्तों में ब्रिटिश विरोधी भावनाएँ भड़की। विभिन्न संगठनों ने जनसभाएँ करके, अखबारों के माध्यम से बयान छपाकर और प्रस्ताव पास करके अपने विरोध को साफ-साफ शब्दों में प्रकट किया। अलग-अलग प्रान्तों के बीच सम्पर्क को भी मजबूत करने का इससे अवसर मिला।

१८८३ के इलबर्ट विधेयक से ब्रिटिश अधिकारियों के घोषित सिद्धान्तों और उनके कार्यों के बीच का अन्तर साफ तौर से दिखायी दिया। बड़े नेक इरादों से पेश किया गया यह विधेयक शीघ्र ही आलोचना के तूफान में ऐसा फँसा कि सरकार ने कदम पीछे कर लिये। विधेयक को पेश करते समय सरकार का इरादा था कि गोरे अधिकारियों और भारतीय अधिकारियों को बराबरी के अधिकार देना। उस समय तक जो प्रणाली चलती आ रही थी उसके अनुसार गोरे अभियुक्तों के मुकदमों की सुनवाई केवल गोरे अधिकारी ही कर सकते थे। वरिष्ठ पदों पर पहुँच

जाने पर भी भारतीय अधिकारियों को ऐसे मुकदमें करने का अधिकार नहीं था। उदारवादी भावनाओं के प्रभाव में आकर रिपन ने जातिगत आधार पर चलते आ रहे भेदभाव को समाप्त करके भारतीय अधिकारियों को वही अधिकार प्रदान करना चाहा जो उन्हीं के समान गोरे अधिकारियों को मिले हुए थे।

सरकार द्वारा इस विधेयक का प्रस्ताव करते ही कलकत्ता और इसके आस-पास गैर-सरकारी योरोपीय लोगों ने संगठित होकर इलबर्ट विधेयक का सक्रिय विरोध आरम्भ कर दिया। शासक वर्ग और गोरी जाति के होने का उनका अभियान खुले तौर पर दिखायी दिया। वे पहले की न्याय प्रणाली में किसी प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में नहीं थे। कोई भी योरोपीय यह मानने को तैयार नहीं था कि भारतीय अधिकारी उनके मुकदमों को सुनें। इन विचारों को प्रकट करते हुए योरोपीयों ने विधेयक के विरुद्ध इतना तेज अभियान छेड़ दिया कि सरकार ने कदम पीछे कर लेना ही उचित समझा। इन परिस्थितियों में विधेयक का मूल स्वरूप बदल दिया गया और एक संशोधन करके योरोपीय निवासियों की मुख्य माँग को अप्रत्यक्ष तरीके से मान लिया गया।

इलबर्ट विधेयक को लेकर उठे विवाद से भारतीयों की आँखें खुल गयीं। उन्होंने देखा कि संगठित विरोध करके सरकार को झुकाया जा सकता था। जिस प्रकार से सरकार को अपनी घोषित नीतियों को बदलना पड़ा था उससे भारतीयों ने सबक सीखा। उन्होंने एकजुट होने की जरूरत अनुभव की। इलबर्ट विवाद से उपजे विरोध से भारतीयों को फिर यह दिखाई दिया कि उनके और गोरी जाति के हित अलग-अलग थे। अंग्रेज और भारतीयों के बीच के अन्तर इस विवाद से और भी बढ़े।

१८५८ से १८८५ के बीच के वर्षों में जो परिवर्तन हुए, जैसा बदलाव आया और जैसी जागृति की लहर देश में उभरी उससे राष्ट्रवादी विचारधारा प्रवल होती हुई दिखाई दी। मध्यवर्गीय व्यक्तियों में असन्तोष बढ़ रहा था। उनकी निराशा बढ़ रही थी। उन्होंने देशव्यापी स्तर पर एकजुट होने की आवश्यकता समझ ली थी। इन वर्षों में अनेक प्रान्तों के जागरूक व्यक्तियों ने समय-समय पर एक समान प्रतिक्रिया व्यक्त की, एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों की यात्राएँ कीं, सम्पर्क स्थापित किये और एक साथ कार्य करने की इच्छाशक्ति विकसित की। अनेक वर्षों के राजनीतिक अनुभवों के आधार पर चेतनशील बौद्धिक वर्ग ने और व्यापक पैमाने पर एकजुट होने का निर्णय लिया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना

देशव्यापी राष्ट्रीय चेतना के उदय होने से एक राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की आशाएँ जगीं। अलग-अलग प्रान्तों के बुद्धिजीवियों को यह सहज विश्वास हो गया कि ऐसे कदम उठाने की जरूरत थी और यह प्रयास सफल हो सकता था। जब चारों ओर यह भाव जगा कि राष्ट्रीय भावना को संस्थागत आधार प्रदान करने का समय आ गया था तो फिर ऐसे संगठन को मूर्तरूप देने में देर नहीं लगी। समाचार-पत्रों, सभाओं और सम्मेलनों में एक स्वर से यह मत व्यक्त किया जाने लगा कि प्रांतीय राजनीतिक-संगठनों के अलावा एक राष्ट्रीय संगठन बनाया जाये।

भारतीयों में सहयोग की भावना के प्रबल होने से १८८५ में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई।

कांग्रेस का जन्म अचानक नहीं हुआ। यह कोई आकस्मिक घटना न होकर उस राजनीतिक प्रक्रिया की सफलता थी जो पहले से चलती आ रही थी। यह राजनीतिक प्रगति १८८० के दशक में और भी सक्रिय हो गयी। कांग्रेस के जन्म को समझने के लिये इस ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है। देशव्यापी राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के अनेक प्रयास किये गये। इनमें से एक प्रयास जब सफल हो गया, तो सभी पक्षों ने इनमें शामिल हो जाना उचित समझा। इस प्रकार अलग-अलग ढंग से राष्ट्रीय संगठन की दिशा में काम करने वाले शीघ्र ही एक ही मंच पर मिल गये और काम करने लगे।

१८८५ के आरंभ से ही राजनीतिक गतिविधियाँ तेज हुई। देश में एक राजनीतिक संगठन की स्थापना की चर्चा की जाने लगी। अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने या तो एक राष्ट्रीय संगठन के प्रारूप पर विचार किया अथवा राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करने की नीति अपनायी। इस वर्ष के शुरू में कलकत्ता के प्रसिद्ध पत्र 'इंडियन मिरर' के संपादक नरेन्द्रनाथ सेन ने एक राष्ट्रीय संगठन के बारे में लेख प्रकाशित किये। उन्होंने 'नवीन भारत' के उदय होने की बात कही। उनका मत था कि देश में उत्साह को जगाने के वास्ते एक प्रतिनिधि संस्था की आवश्यकता थी। उन्होंने भारतीयों में एकता जगाने के महत्त्व पर प्रकाश डाला। उनका सुझाव था कि विभिन्न प्रान्तीय और क्षेत्रीय संघों के वार्षिक सम्मेलन एक साथ और एक ही स्थान पर किये जायें। वे एक संघीय संगठन के पक्ष में थे। उनकी योजना के अलावा कलकत्ता की इंडियन एसोसिएशन भी इस ओर सक्रिय हुई। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने १८८३ में एक राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया। दिसम्बर, १८८५ के अंतिम सप्ताह में इसी तरह का एक और सम्मेलन उन्हीं के प्रयासों से कलकत्ता में फिर से बुलाया गया। ये दोनों सम्मेलन देशव्यापी स्तर पर कार्य करने की इच्छा के द्योतक थे। सुदूर दक्षिण में भी ऐसी ही कोशिशें जारी थीं। मद्रास महाजन सभा ने दिसम्बर १८८४ में एक वार्षिक सम्मेलन करके राष्ट्रीयता की ज्योति को जलाया। मद्रास में एक और सम्मेलन लगभग उसी समय दिसम्बर, १८८५ में हुआ, जब कलकत्ता में इसी ढंग का आयोजन हो रहा था और कांग्रेस का पहला अधिवेशन कुछ दिनों बाद होने की घोषणा की जा चुकी थी।

बदलती हुई राजनीतिक परिस्थिति में राष्ट्रीय संगठन की स्थापना का एक प्रयास अवकाश प्राप्त उच्च अधिकारी एलेन ओक्टेवियन ह्यूम ने किया। यह मात्र संयोग ही था कि सफलता उन्हीं को मिली। पिछले कुछ वर्षों से वे नवजागरित शिक्षित मध्यवर्ग के प्रवक्ता के रूप में उभर रहे थे। अनेक प्रभावशाली भारतीयों से उनके निकट के सम्बन्ध थे। सम्पर्क सूत्रों को और अधिक बढ़ाते हुए ह्यूम ने इस वर्ष के दौरान लगातार कार्य किया। विभिन्न क्षेत्रों का दौरा करके उन्होंने अलग-अलग प्रान्तों के प्रमुख नेताओं के विचार को जाना। बंबई, मद्रास, कलकत्ता के लम्बे प्रवास के अलावा वे यू.पी. और पंजाब के नगरों में भी गये। इस वर्ष के मध्य तक उन्हें आशाजनक संकेत मिलने लगे थे। इनसे उत्साहित होकर उन्होंने कुछ प्रमुख व्यक्तियों को पत्र लिखकर उनका सहयोग माँगा। दिसम्बर के अंतिम सप्ताह में पूना में सम्मेलन आयोजित करने

की सूचना भी आरंभ में गोपनीय तरीके से कुछ थोड़े से लोगों को दी गयी। सम्मेलन की तैयारी के बारे में जिस तरीके से फूँक-फूँक कर कदम रखा गया उससे यही संकेत मिलता है कि ह्यूम ने पूरी सावधानी से कार्य किया। इस समय 'एक तरह की भारतीय संसद' के बीजारोपण का इरादा उन्होंने व्यक्त किया।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाइसराय से ह्यूम के निकटतम सम्बन्धों के कारण ही उन्हें आगे रखा गया। उदीयमान भारतीय राजनीतिज्ञ सरकार के विरुद्ध नहीं बल्कि सरकार के सहयोग से संगठित होना चाहते थे। उन्हें सरकार से बहुत-सी उम्मीदें थीं। उनका समूचा राजनीतिक क्रिया-कलाप और उनके इरादों की सफलता सरकार की प्रतिक्रिया पर निर्भर थी। ऐसी स्थिति में उन्हें यह उचित ही दिखाई दिया कि ह्यूम को कांग्रेस की स्थापना में प्रमुखता मिले। ह्यूम ने भारतीयों की इच्छाओं और आशंकाओं को रिपन तक पहुँचाने का जैसा कार्य किया था उससे भारतीयों की आशाएँ जगी थीं। उन्होंने स्वाभाविक रूप से सोचा कि नये वाइसराय, डफरिन से सम्पर्क स्थापित करके वह नवगठित राष्ट्रीय संगठन को सफल और सशक्त बनाने में सहायक होगा। ह्यूम ने इस विचारधारा को पनपने दिया। मई में दो बार वाइसराय से भेंट करके उसने भारतीय नेताओं को यह विश्वास दिला दिया कि वाइसराय से अनुकूल उत्तर मिल गया था। लम्बे समय तक यह कहा गया कि कांग्रेस की स्थापना वाइसराय और ह्यूम के प्रयासों से की गयी। लेकिन अव यह साफ तौर पर प्रमाणित हो चुका है कि यह 'मिथ्या धारणा' थी। सत्य तो यह है कि वाइसराय आरम्भ से सतर्क था। उसने ह्यूम से बातचीत करने पर न तो अपनी ओर से कुछ कहा और न उसके प्रस्ताव का समर्थन ही किया। इसके विपरीत उसने बम्वई के गवर्नर को इस सम्मेलन से दूर रहने का परामर्श दिया। ये तथ्य अभी प्रकाश में आये हैं। कांग्रेस की स्थापना के समय तो ह्यूम का दबदवा बना रहा और अनेक प्रमुख भारतीय उसके सम्पर्क से प्रभावित रहे।

प्रस्तावित सम्मेलन बुलाये जाने के कुछ दिनों पहले इसे 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' कहने का निर्णय लिया गया। सभा के स्थान को अंतिम समय में बदलना पड़ा क्योंकि अचानक पूना में कालरा फैल गया था। आयोजकों ने शीघ्र निर्णय करके बम्बई में २८ दिसम्बर से पहला अधिवेशन करने की तैयारी पूरी की। यह स्मरण रखना होगा कि पहले अधिवेशन को सीमित पैमाने पर बुलाया गया था। यह तथ्य इसी से जाना जा सकता है कि दिसम्बर के आरम्भ तक देश के समाचार-पत्रों में प्रस्तावित सम्मेलन के बारे में न तो कोई आधिकारिक सूचना प्रकाशित हुई और न इसके विषय में किसी प्रकार का प्रचार ही किया गया। केवल कुछ समाचार-पत्रों ने साधारण सूचना के रूप में सम्मेलन के न होने की खबर दी थी। लेकिन इनमें कोई विस्तृत सूचनाएँ प्रकाशित नहीं हुई। आयोजकों ने सम्मेलन को निजी तौर पर बुलाया और केवल प्रमुख भारतीयों को निमंत्रित किया गया था। पहले अधिवेशन को सफल बनाने की दृष्टि से यह सावधानी अपनायी गयी थी। एक बार जब राष्ट्रीय संगठन को सभी क्षेत्रों में और सभी प्रकार के व्यक्तियों का समर्थन मिल गया तो फिर इसके दायरे को बढ़ाने के उपाय किये गये।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का पहला अधिवेशन बम्बई में २८ दिसम्बर को आरम्भ हुआ।

इसमें ७२ प्रतिनिधियों और कुछ पर्यवेक्षकों ने भाग लिया। भारत के विभिन्न प्रान्तों और नगरों के उत्साही व्यक्तियों ने अधिवेशन में आकर इसकी राष्ट्रीय छवि को निखारा। इसमें ३८ प्रतिनिधि बम्बई प्रान्त से, २१ मद्रास से, ३ बंगाल से, ७ यू.पी. से और ३ पंजाब से आये। इनमें से कम से कम अस्सी प्रतिशत अंग्रेजी जानते थे, ४५ कालेज शिक्षा ग्रहण कर चुके थे और २५ स्नातक थे।

पहले अधिवेशन के समय से अध्यक्ष पद के बारे में यह स्वस्थ परम्परा शुरू की गयी कि ऐसे व्यक्ति को यह पदभार सौंपा जाये जो उस प्रान्त के बाहर का हो, जहाँ सम्मेलन हो रहा हो। इसके अनुसार उमेशचन्द्र बनर्जी को अध्यक्ष की हैसियत से कार्य करने को कहा गया। अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा कि कांग्रेस में आये हुए लोग वास्तविक रूप में देशवासियों की भावनाओं, विचारों और इच्छाओं का प्रतिनिधित्व करते थे। जनप्रतिनिधि प्रणाली के अनुसार कांग्रेस के कार्य करने के इरादों पर उन्होंने जोर दिया। उनके भाषण की दूसरी मुख्य बात थी सरकार से सुधारों का आग्रह करना। उन्होंने विशेष रूप से प्रशासन से भारतीयों की भागीदारी की माँग की।

राष्ट्रीय एकता की प्रवल इच्छा कांग्रेस के पहले अधिवेशन में छायी रही। सभी ने एक स्वर से राष्ट्रीयता के सूत्र को मजबूत करने की बात की। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा सकते हैं। सुब्रमन्य ऐय्यर ने कहा कि 'अब हम पहले से कहीं अधिक अधिकार से एक भारतीय राष्ट्र, राष्ट्रीय विचारधारा और राष्ट्रीय अभिलाषा की चर्चा कर सकते हैं।' उनके स्वर में स्वर मिलाते हुए वी. राघवचारी ने विश्वास प्रकट किया कि भाषा सामाजिक रीति-रिवाज और परंपराओं के मतभेद होते हुए भी राष्ट्रीयता की भावना को शक्तिशाली बनाया जा सकता था। डेविड वाइट ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये। राष्ट्रीय एकता के इन स्वरों में तब तक ब्रिटिश विरोधी भाव नहीं आया था।

नरमपन्थी राजनीति

कांग्रेस की स्थापना के बाद के बीस वर्षों तक इसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया। इस कारण १८८५ से १९०५ के बीच के इसके कार्यों का विवेचन एक साथ किया जा सकता है। इस अवधि की राजनीति को नरमपंथी इसलिए कहा जाता है क्योंकि आरम्भिक पीढ़ी के कांग्रेसजनों का लक्ष्य सरकार से टकराव करने के बजाय इससे सहयोग करना था। उन्होंने इस राष्ट्रीय संगठन के द्वारा केवल ऐसी माँगें की जिन्हें पूरा किया जा सकता था। सावधानी और सतर्कता को ध्यान में रखकर कांग्रेस के आयोजकों ने फूँक-फूँक कर कदम रखा, लगातार धीरज से बातें कीं और तत्कालीन ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा व्यक्त करने में कोई भी संकोच नहीं किया। नरमपंथी राजनीति को स्वाभाविक रूप से अपनाया गया। इस समय वही नीति उचित जान पड़ी। कांग्रेस कार्य के रुचि लेने वाले अधिकतर नेता पश्चिमी राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित थे। उन्होंने ब्रिटिश संसदीय प्रणाली से प्रेरणा ग्रहण करते हुए लगभग उसी तरह से अधिवेशनों की कार्यवाही चलानी चाही जिस तरह से ब्रिटेन की यह ऐतिहासिक संस्था अपने निर्णय करती थी। कांग्रेस को भरसक उसी के पदचिह्नों पर चलाया गया।

इस आरम्भिक काल में राजनीति के प्रति भारतीयों का लगाव कमजोर था। भारतीयों में राजनीति के प्रति अनुराग की परिधि सीमित थी। अतः कांग्रेस की राजनीतिक सक्रियता भी अल्पकालिक होती थी। वार्षिक अधिवेशनों के दिनों की राजनीतिक कार्यवाही केवल कुछ समय तक चलती थी। अधिवेशनों के अलावा वर्ष भर न तो किसी प्रकार के कार्यक्रम चलाये जाते थे और न सभाएँ ही आयोजित की जाती थीं। ऐसी स्थिति में केवल कांग्रेस को बनाये रखने की ओर ध्यान दिया गया। धीरे-धीरे कदमों से ही सही, कांग्रेस की पहली पीढ़ी के नेताओं ने इसकी नींव को मजबूती से रखा। एक बार जब इस राष्ट्रीय संस्था का विचार सभी की समझ में आ गया तो फिर इसे नयी दिशा की ओर मोड़ा जा सका।

आरम्भिक कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा व्यक्त करने को सर्वाधिक महत्त्व दिया। कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने अधिवेशनों के दौरान बार-बार अपनी वफादारी पर जोर दिया। यह प्रमाणित करने की भरसक कोशिश की गयी कि इससे जुड़े हुए सभी लोग ब्रिटिश साम्राज्य के हिमायती थे। उन्होंने ब्रिटिश प्रभुत्व को 'ईश्वरी विधान' मानकार इसका स्वागत किया। ऐसी नीति जान-बूझकर इसलिए अपनायी गयी थी जिससे कि ब्रिटेन में कांग्रेस की छवि निखरे। विचार यह था कि भारतीय प्रशासनिक ढाँचे को तभी बदला जा सकता था जब ब्रिटेन की जनता और ब्रिटिश संसद भारत सरकार पर दबाव डालने पर तैयार हो। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि भारत में सुधार की गति को तेज करने के लिए कांग्रेस ने ब्रिटिश जनमत और वहाँ की संसद से अपील करने का निश्चय किया। धारणा यह थी कि ब्रिटेन की सहानुभूति प्राप्त करके भारत में उसी प्रकार की प्रजातांत्रिक व्यवस्था का धीरे-धीरे विकास किया जा सकता था जैसी आदर्श प्रणाली उस देश में लम्बे अरसे से चल रही थी। आवश्यक केवल यह माना गया कि ब्रिटेन में भारत के प्रति ऐसी सहानुभूति उपजे। इसी ओर प्रयास करने में कांग्रेस ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी। कांग्रेस के नेताओं ने ए.ओ. ह्यूम के हाथ में इस संस्था की बागडोर इसी आशा से सौंपी थी कि वह इस दृष्टि से विशेष रूप से सहायक होगा। इसके अलावा आरम्भिक दस वर्षों में तीन और अंग्रेजों को कांग्रेस का सभापति बनाया गया। चौथी कांग्रेस की अध्यक्षता कलकत्ता व्यापार मण्डल के प्रमुख जार्ज यूल ने की, पाँचवी कांग्रेस के अध्यक्ष अवकाश प्राप्त आई.सी.एस. अधिकारी विलियम वैडरबर्न को बनाया गया और दसवीं कांग्रेस के अध्यक्ष थे ब्रिटिश संसद सदस्य एलफर्ड वेब। पाँचवीं कांग्रेस में ब्रिटिश संसद सदस्य चार्ल्स ब्रेडलाफ की उपस्थिति से इसके नेताओं का हौसला बढ़ा था। इसी के साथ-साथ कांग्रेस ने ब्रिटेन में प्रचार करने के उपाय भी किये। १८८९ में लंदन में कांग्रेस की ओर से एक ब्रिटिश समिति ने कार्य करना शुरू किया। इस समिति ने एक पत्रिका, 'इण्डिया' का प्रकाशन करके कांग्रेस की नीतियों को विधिवत् प्रस्तुत किया। १८९० में चार प्रमुख कांग्रेस-नेताओं के एक शिष्टमण्डल को लंदन भेजा गया। फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मनमोहन घोष और उमेशचन्द्र बनर्जी ने वहाँ जाकर कांग्रेस की नीतियों के विषय में अनेक भाषण दिये तथा ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से सम्पर्क स्थापित किये। इसी नीति का अनुसरण करते हुए १८९२ के कांग्रेस अधिवेशन को लंदन में आयोजित करने की घोषणा की गयी। हालाँकि यह सम्मेलन किया नहीं जा सका फिर भी इससे यह दिखाई दिया कि ब्रिटेन में कार्य करने को कांग्रेस ने कितना महत्त्व दिया।

जिस समय कांग्रेस ब्रिटेन से सहानुभूति और सहयोग की आशा लगाये हुए थी तब उसने अपने मुख्य उद्देश्य को भी उसी के अनुसार परिभाषित किया। कांग्रेस ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि उसका लक्ष्य था प्रशासन में भारतीयों की अधिकाधिक भागीदारी की माँग करना। उसने चाहा कि देश के प्रशासन में भारतीयों को अधिक जिम्मेदारी निभाने के अवसर मिलें। इस अवधि में कांग्रेस ने स्वशासन की माँग नहीं की। स्वराज्य या स्वाधीनता की भी कोई चर्चा नहीं की गयी। ब्रिटेन में प्रचलित प्रतिनिधि शासन प्रणाली को क्रमिक ढंग से भारत में लागू कराने की इच्छा कांग्रेस के मंचों से बार-बार व्यक्त की गयी।

कार्यक्रम निर्धारित करते समय केवल उन्हीं विषयों पर जोर दिया गया जिनके बारे में सभी की समान राय हो और जिनके सम्बन्ध में किसी को आपत्ति न हो। दूसरे शब्दों में एकता को ध्यान में रखते हुए ऐसे विषयों को कांग्रेस अधिवेशनों में नहीं उठाया गया जिनके बारे में किसी वर्ग अथवा सम्प्रदाय के विचार दूसरों से अलग थे। इसी कारण कांग्रेस ने अनेक सामाजिक-धार्मिक विषयों पर न तो बहस की और न किसी सदस्य को ऐसे प्रश्नों को उठाने का अवसर ही दिया। निजी पारिवारिक, जातिगत, क्षेत्रीय या सम्प्रदाय की संकुचित भावनाओं से ऊपर उठकर राष्ट्रीय आधार पर सोचने, विचारने और कार्य करने के विचार को कांग्रेस ने सर्वोपरि स्थान दिया।

आरम्भिक कांग्रेस की नीतियाँ और कार्यक्रम १८८५-१६०५

इन बीस वर्षों में कांग्रेस ने जो प्रस्ताव स्वीकार किये, जिस तरह की माँगें पेश कीं और इस राष्ट्रीय संगठन को जिस रास्ते पर आगे बढ़ाया उनके वर्गीकृत विवेचन से इसके वास्तविक स्वरूप को समझा जा सकता है। जिन प्रमुख विषयों में इसने विशेष रुचि ली उनकी चर्चा बार-बार वार्षिक सम्मेलनों में की गयी। यहाँ इनकी समीक्षा प्रस्तुत है।

भारत में प्रतिनिधि प्रणाली को लागू कराने में कांग्रेस ने सबसे अधिक रुचि ली। आरम्भिक अधिवेशन से ही विधान सभाओं के संगठन और इनके अधिकारों के बढ़ाने पर ध्यान दिया गया। कांग्रेस ने माँग की कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं की सदस्य संख्या में पर्याप्त वृद्धि की जाये तथा इनके कम से कम आधे सदस्य चुने जायें। स्मरण रखना होगा कि उस समय तक सभी विधान सभायी सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते थे। यह प्रणाली कांग्रेस को कतई पसन्द नहीं थी। उसने यह चाहा कि चुनाव प्रक्रिया शुरू की जाये। इस सुधार के पक्ष में लगातार आवाज उठाने के अलावा कांग्रेस ने विधान सभाओं को विधि निर्माण के क्षेत्र में, बजट प्रस्तावों के बारे में और सरकार से सवाल पूछने के अधिकारों के दिये जाने को आवश्यक बताया। कहा जा सकता है कि कांग्रेस इन विधान सभाओं को कारगर ढंग से चलाने का आग्रह करती रही। सरकार ने मामूली फेरबदल करते हुए १८६२ का अधिनियम पास तो किया लेकिन यह कांग्रेस के नेताओं को संतुष्ट न कर सका।

उच्चतम प्रशासनिक सेवा के भारतीयकरण की माँग को कांग्रेस ने प्रभावकारी ढंग से उठाया। तब आई.सी.एस. की परीक्षा केवल लंदन में होती थी। परीक्षा में शामिल होने के लिए भारतीय नवयुवकों को वहाँ तक जाना पड़ता था। परिणामतः बहुत थोड़े से भारतीय ही परीक्षा

देने जाते थे। इस प्रशासनिक सेवा में भारतीयों के प्रवेश रोकने के इस अप्रत्यक्ष तरीके से भारत में व्यापक असंतोष था। अतः कांग्रेस ने लंदन और भारत में एक साथ परीक्षा कराने के प्रस्ताव किये। इस सुधार के पक्ष में कांग्रेस के मंच से चाहे जितने तर्क दिये गये सरकार ने इनकी ओर ध्यान नहीं दिया और लंदन परीक्षा पूर्ववत् चलती रही। अन्य स्तर के पदों के विषय में कांग्रेस का आग्रह था कि इनके चयन के समय भी लिखित प्रतियोगिताएँ की जायें। योग्यता के आधार पर नियुक्तियों पर कांग्रेस ने जोर दिया। प्रायः प्रत्येक पद के लिए लिखित प्रतियोगिता के आधार पर चयन का सिद्धान्त सबसे उत्तम माना गया।

कांग्रेस ने प्रशासनिक सुधारों के सम्बन्ध में भी अनेक प्रस्ताव पेश किये। न्यायिक सुधारों की माँग करते हुए स्वतंत्र न्यायपालिका के विचार का समर्थन इस कारण किया गया क्योंकि ऐसी न्याय प्रणाली के अधीन ही नौकरशाही पर अंकुश लगाया जा सकता था। इसके अलावा न्यायपालिका और कार्यकारिणी को एक दूसरे से अलग कर देने का सुझाव भी दिया गया। यह आग्रह किया गया कि अस्त्र-शस्त्रों के रखने के बारे में लगे प्रतिबन्ध हटा लिये जायें। इस विषय पर बने कानून को निरस्त करने की माँग की गयी। समय-समय पर भारत की प्रशासनिक व्यवस्था की उच्चस्तरीय जाँच कराने की अपील भी की गयी।

जिस ढंग से औपनिवेशिक सत्ता अपने साम्राज्यवादी हितों के लिए भारतीय साधनों का उपयोग कर रही थी, उसके खिलाफ कांग्रेस ने आवाज उठायी। कुछ वर्षों पहले भारतीय सेना को उत्तर बर्मा में भेजकर इसे ब्रिटिश अधिकार में मिलाया गया था और अफगानिस्तान की सीमा की ओर भी सैनिक कार्यवाही बढ़ायी जा रही थी। कांग्रेस का कहना था कि साम्राज्यवादी विस्तार की नीति के कारण सेना पर खर्च बढ़ रहा था। उन्होंने बढ़ते सैनिक खर्च को इस कारण अनुचित बताया क्योंकि भारतीय करदाताओं को इस बोझ को उठाना पड़ रहा था। अनेक वार्षिक अधिवेशनों में प्रस्ताव पास करके सरकार से सैनिक खर्च को घटाने का आग्रह किया गया।

गंभीर समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करके और ब्रिटिश सरकार की नीतियों की आलोचना करके आरम्भिक कांग्रेस के नेताओं ने 'आर्थिक राष्ट्रवाद' का आधार तैयार किया। प्रसिद्ध राष्ट्रनेता दादा भाई नौरोजी ने आँकड़े देकर सम्पत्ति की निकासी का जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया उसे अनेक कांग्रेस-नेता बाद में दोहराते रहे। इस निकासी के सिद्धान्त में यह तर्क दिया गया था कि भारत का धन लगातार ब्रिटेन ले जाया जा रहा था जिसके कारण भारतीय अर्थव्यवस्था जर्जर होती जा रही थी। महादेव गोविन्द रानाडे, गोखले, रमेशचन्द्र दत्त आदि अन्य नेताओं ने भारत की आर्थिक कठिनाइयों को कांग्रेस अधिवेशनों में जोरदार ढंग से उठाया।

कांग्रेस ने ध्यान दिलाया कि देश में गरीबी बढ़ती जा रही थी। उसके द्वारा शुरू की गयी बहस का यह केन्द्र विन्दु था। इस तथ्य पर जोर देते हुए देश में बार-बार पड़ने वाले अकालों पर विशेष ध्यान दिया गया। जैसे अकाल उन्नीसवीं सदी के अंतिम कुछ दशकों में पड़े थे और जिस व्यापक पैमाने पर इनका असर हुआ था वैसी स्थिति पहले कभी भी नहीं देखी गयी थी। कांग्रेस-अधिवेशनों में अनेक बार अकाल की विभीषिका पर विचार किया गया। समय-समय

पर हुए अकाल से लाखों लोगों की मृत्यु और बड़ी संख्या में दूसरों के कष्टों पर चिन्ता व्यक्त की गयी। अन्न के अभाव में भूख से तड़प-तड़प कर जहाँ भारी संख्या में लोग देश के विभिन्न भागों में मर रहे थे वहीं अपनी जिम्मेदारी से बच निकलने का बहाना बनाते हुए सरकार ने कहा कि उचित मात्रा में वर्षा न होने से ऐसी दुःखद स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। कांग्रेस ने इसे अस्वीकार करते हुए दोषपूर्ण भूमि-व्यवस्था और कृषकों की दयनीय आर्थिक स्थिति को अकाल का प्रमुख कारण वताया। राष्ट्रवादियों का कहना था कि हमेशा ही भारत में वर्षा कभी कम और कभी अधिक होती थी जिसका असर अन्न के उत्पादन पर पड़ता था। लेकिन वहस का आधार यह नहीं था। वहस इस विषय पर की गयी कि किसान पर लगान का इतना अधिक वोझ था और यह लगान उससे इतनी कठोरता से वसूल किया जाता था कि ऐसे कठिन वर्ष के लिए उसके पास कुछ वच नहीं पाता था जब वर्षा कम हो अथवा न हो। इसके अतिरिक्त अन्न के वितरण के उपाय न होने, मुनाफाखोरों पर नियंत्रण न होने तथा प्रशासन की उपेक्षा से स्थिति और भी खराव हो जाती थी। कांग्रेस की आलोचना से प्रभावित होकर जब १६०५ से सरकार ने अपनी जिम्मेदारी समझी तो अकाल पर पर्याप्त कावू पा लिया गया। किसानों को राहत पहुँचाने के उद्देश्य से कांग्रेस ने भूमि प्रणाली में सुधार करने के सुझाव दिये। वार-वार लगान वढ़ा दिये जाने से जो वोझ किसानों के ऊपर पड़ रहा था उसके निदान के रूप में स्थायी भूमि-व्यवस्था को अन्य प्रान्तों में लागू किये जाने का प्रस्ताव किया गया। इसके साथ ही लगान की वसूली में लचीलापन अपनाने, कर्ज के बोझ से किसानों को राहत दिलाने के उपाय करने तथा कृषि सुधारों की ओर ध्यान देने की माँग की गयी। जंगल कानूनों की निन्दा करते हुए भी अनेक बार कांग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकार किये।

कांग्रेस ने औपनिवेशिक शासन की आयात और निर्यात नीति पर कठोर प्रहार किये। उसका तर्क यह था कि स्वतंत्र व्यापार की नीति को लागू करके ब्रिटिश सरकार भारत के हितों की बलि चढ़ा रही थी क्योंकि इससे केवल ब्रिटेन के उद्योगपतियों को लाभ पहुँचता था। इसके स्थान पर संरक्षण की नीति भारतीय उद्योगों के हितों में थी। उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशकों में जब भारतीय उद्योग पनप रहे थे उस समय इनकी रक्षा के लिए आयात नीति को बदलने का आग्रह कांग्रेस ने किया। लेकिन सरकार ने उसके सुझावों की अनसुनी करते हुए १८६४ में जिस प्रकार का निर्णय घोषित किया उसका भारत में तीव्र प्रतिरोध हुआ। सरकार ने सभी आयातित वस्तुओं पर पाँच प्रतिशत सीमा शुल्क लगाया। लेकिन सूती वस्त्रों और धागों पर यह सीमा शुल्क नहीं लगाया गया। यह इस तथ्य का स्पष्ट संकेत था कि सरकार ब्रिटेन से आयात किये जाने वाले सूती वस्त्रों के आयात को विशेष सुविधा दे रही थी। कांग्रेस ने इसका विरोध करते हुए सरकार से आग्रह किया कि वह सभी वस्तुओं पर समान रूप से सीमा शुल्क लगाये। देश के आर्थिक विकास की दृष्टि से भारत के औद्योगिक विकास पर राष्ट्रवादियों ने सबसे अधिक ध्यान दिया। उन्होंने समझ लिया था कि भारत का औद्योगीकरण इसकी सम्पन्नता की वास्तविक कुंजी था।

इस पीढ़ी के राष्ट्रवादियों ने यह प्रमाणित करने में सफलता पायी कि ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियाँ दोषपूर्ण थीं। वह केवल ब्रिटेन को आर्थिक लाभ पहुँचाने की कोशिश में

लगी रही थी। इन राष्ट्रवादियों ने मूलभूत आर्थिक सुधारों की माँग की, औद्योगिक विकास की सुविधाओं को आवश्यक बताया और किसानों को राहत दिये जाने पर जोर दिया। आर्थिक राष्ट्रवाद के इनके विचारों का असर प्रभावी ढंग से दिखायी दिया।

आरम्भिक कांग्रेस के राष्ट्रनेता भारतीय राजनीतिक जागरण के अग्रदूत थे। उन्होंने भारतीय जनता में राजनीति के प्रति रुचि जगाई, संगठित ढंग से कार्य करने का उदाहरण पेश किया और राष्ट्रीय शक्तियों को एकजुट करने में समूची शक्ति लगा दी। उनके कार्यों से भारतीयों में एकता के वंधन मजवूत होने का सिलसिला शुरू हुआ। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि कांग्रेस द्वारा अपनायी गयी नीतियों में कुछ कमजोरियाँ थीं। ब्रिटिश सरकार से सुधारों की उसने आवश्यकता से अधिक आशाएँ लगा लीं। बार-बार स्वीकार किये गये उसके प्रस्तावों का और तरह-तरह की प्रार्थनाओं का ब्रिटिश सरकार पर कत्तई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने इसे कांग्रेस की कमज़ोरी मानते हुए उसके सुझावों से मुँहमोड़ लिया। परिणाम यह हुआ कि बीस वर्ष हो जाने पर भी कांग्रेस कोई विशेष सफलता हासिल नहीं कर सकी। तथ्य यह है कि उसने सरकार से सहयोग करने का जो हाथ बढ़ाया उसकी सरकार ने जान-बूझकर उपेक्षा की। साम्राज्यवादी शासकों के वास्तविक इरादों को समझने के वजाय यदि कांग्रेस केवल अनुकूल उत्तर की प्रतीक्षा करती रही तो इससे उसे न तो कोई लाभ मिला और न इसकी शक्ति बढ़ी।

आरम्भिक कांग्रेस का नेतृत्व

१८८५ से १६०५ तक की अवधि में कांग्रेस की नरमपंथी राज़नीति को दिशा देने में अनेक राष्ट्रनेताओं ने भूमिका निभायी। इनमें से कुछ प्रमुख नेताओं की भूमिका और इनके विचारों का विशेष अध्ययन करके इस युग की राजनीति का विवेचन किया जा सकता है। यहाँ सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और गोपालकृष्ण गोखले के नेतृत्व की विशेष चर्चा प्रस्तुत है।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी

भारत में राजनीतिक जागृति की भावना जगाने में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी। कांग्रेस की स्थापना के लगभग दस वर्ष पहले से वे राजनीतिक कार्यों में सक्रिय थे। इस प्रकार पहली बार देश में राष्ट्रीय भावना को बलवती करने का श्रेय उन्हीं को है। अपने लम्बे राजनीतिक जीवन में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे। लेकिन नरमपंथी उदारवादी विचारों को उन्होंने कभी नहीं छोड़ा। यही कारण है कि प्रथम महायुद्ध के बाद भी जब उन्होंने उदारवादी राजनीति की बात कही तो वे कांग्रेस की मुख्य धारा से अलग दिखायी दिये। इस प्रसिद्ध राष्ट्र नेता ने अपने विचारों और कार्यों से राष्ट्र संघर्ष को किस प्रकार गति प्रदान की इसका विवेचन करने की आवश्यकता है।

सुरेन्द्रनाथ के आरंभिक जीवन से यह सहज आभास हो जाता है कि किस सामाजिक पृष्ठभूमि के युवकों ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में राष्ट्रीय जन-जागरण का नेतृत्व किया। १८४८ में सुरेन्द्रनाथ का जन्म एक संपन्न उच्च मध्यवर्गीय परिवार में कलकत्ता में हुआ था। उनके पिता ने डाक्टर का व्यवसाय करते हुए धन और यश कमाया था। इसी नगर में सुरेन्द्रनाथ

ने शिक्षा पायी, अंग्रेजी भाषा और साहित्य का अध्ययन किया तथा पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित हुए बीस वर्ष की आयु में उन्होंने ब्रिटेन की यात्रा इस इरादे से की कि वे लंदन में होने वाली इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षा में भाग ले सकें। भारत की इस उच्चतम सेवा परीक्षा में सफल होकर १८७१ में वे स्वदेश लौटे। लेकिन आई०सी०एस० अधिकारी के रूप में वे अधिक समय तक कार्य नहीं कर सके। दो वर्ष बाद ही एक तकनीकी गलती के अपराध में उन्हें इस नौकरी से सेवामुक्त कर दिया गया। सरकारी सेवा से निकाले जाने के साथ-साथ उन्हें वकालत करने की आज्ञा भी नहीं दी गयी। यहीं से युवा सुरेन्द्रनाथ के जीवन में मोड़ आया और वे राष्ट्र-सेवा में लग गये। निजी जीवन की इस घटना से उनकी समूची जीवन धारा ही बदल गयी।

युवा सुरेन्द्रनाथ ने शिक्षा और पत्रकारिता का क्षेत्र चुना। कलकत्ता के एक कालेज में उन्होंने शिक्षक का कार्य किया। शीघ्र ही वे 'बंगाली' साप्ताहिक पत्र के संपादक बने। इस समाचार पत्र को उन्होंने राष्ट्रीय जन-जागरण का प्रमुख साधन बनाया और इस पत्र के माध्यम से उन्होंने जनमत को शिक्षित एवं संगठित किया।

इंडियन एशोसिएशन के मार्गदर्शक

जुलाई १८७६ में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और उनके सहयोगियों ने कलकत्ता में एक राजनीतिक संगठन की स्थापना की। इसे इंडियन एशोसिएशन नाम दिया गया। यह उन उदीयमान शिक्षित मध्यवर्गीय युवकों की संस्था थी जो राष्ट्रीय जन-जागरण करने के इरादे से आगे बढ़े थे। 'ए नेशन इन मेकिंग' नामक अपने आत्मचरित में सुरेन्द्रनाथ ने स्वयं इस संगठन के उद्देश्यों के विषय में लिखा है। उनका कथन है कि इस राजनीतिक संघ का आधार था भारत की एकता को मजबूत करना, जन-जागृति तीव्र करना और समान हितों के आधार पर अलग-अलग समुदायों को एक सूत्र में बाँधना। १८७६ से १८८० तक लार्ड लिटन के कार्यकाल में ऐसे अनेक जन-विरोधी और प्रतिक्रियावादी शासकीय निर्णय लिये गये जिनका विरोध इस संघ ने किया। इस संघ के मार्गदर्शक और प्रतिष्ठित नेता के रूप में सुरेन्द्रनाथ ने जनमत को संगठित करने का कार्य किया। कांग्रेस की स्थापना के पूर्व राजनीतिक सक्रियता लाने में उन्होंने साहस से कार्य किया। लिटन ने आई०सी०एस० परीक्षा में भाग लेने की अधिकतम आयु को इक्कीस वर्ष से घटाकर उन्नीस वर्ष करने की घोषणा की। ऐसे निर्णय के द्वारा भारतीयों को इस परीक्षा में शामिल होने के मार्ग में एक और बाधा खड़ी की गयी क्योंकि इतनी कम आयु में लंदन में जाकर परीक्षा देना भारतीय नवयुवकों के लिये और भी कठिन हो गया। अतः इंडियन एशोसिएशन ने सरकार के इस निर्णय का विरोध करते हुए कलकत्ता तथा भारत के अन्य नगरों में जनसभाएँ आयोजित कीं। जनमत को संगठित करने के उद्देश्य से सुरेन्द्रनाथ ने अनेक नगरों का दौरा किया, जन-सभाओं को संबोधित किया और अनेक प्रान्तों के नेताओं को समान दृष्टिकोण अपनाने को राजी किया। इसके अलावा अन्य अवसरों पर भी सुरेन्द्रनाथ ने सरकार के निर्णयों की आलोचना की।

राष्ट्रीय सभाओं का आयोजन

दिसम्बर, १८८३ में सुरेन्द्रनाथ ने राष्ट्रीय एकता को सशक्त करने की दृष्टि से कलकत्ता में एक सम्मेलन आयोजित किया। बंगाल तथा निकटवर्ती प्रान्तों के लगभग सौ प्रतिनिधि सम्मेलन में भाग लेने के लिए कलकत्ता आये। अलग-अलग प्रांतों में राजनीतिक कार्य करने वाले नेताओं को एक स्थान पर एकत्रित करके सुरेन्द्रनाथ ने एक राष्ट्रीय मंच तैयार करने का आधार तैयार किया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ-साथ दिसम्बर १८८५ में सुरेन्द्रनाथ ने कलकत्ता में दूसरी राष्ट्रीय सभा आयोजित की। इसका अधिवेशन लगभग उन्हीं दिनों हुआ जब वम्बई में पहला कांग्रेस अधिवेशन हुआ। इसी से इतिहासकारों ने यह मत व्यक्त किया है कि यदि कांग्रेस की स्थापना के अलग से प्रयास न किये गये होते तो इंडियन एशोसिएशन के नेतृत्व में हुए अधिवेशनों से भारत में राष्ट्रीय संगठन स्थापित हो जाता। सुरेन्द्रनाथ ने योजना बनाकर एक राष्ट्रीय संगठन स्थापित करने के प्रयास किये थे। यह अलग बात है कि कांग्रेस के संस्थापकों के प्रयास सफल हो गये। लेकिन इससे सुरेन्द्रनाथ के प्रयासों का महत्त्व कम नहीं हो जाता।

कांग्रेस में शामिल होने का निर्णय

उपलब्ध प्रमाणों से यही साबित होता है कि ए०ओ० ह्यूम ने आरम्भिक कांग्रेस अधिवेशन से सुरेन्द्रनाथ को दूर रखा। उन्हें पहले कांग्रेस अधिवेशन की कोई सूचना नहीं दी गयी और न उनसे सम्पर्क ही किया गया। इसका संभावित कारण यह जान पड़ता है कि सुरेन्द्रनाथ की राजनीतिक गतिविधियों से तत्कालीन सरकार अप्रसन्न थी और ए०ओ० ह्यूम को यह डर था कि सुरेन्द्रनाथ के शामिल होने से समस्या उठ सकती थी। इसके अलावा सुरेन्द्रनाथ द्वारा आयोजित राष्ट्रीय सम्मेलन और कांग्रेस का पहला अधिवेशन लगभग साथ-साथ हुआ। इससे भी सुरेन्द्रनाथ पहले कांग्रेस अधिवेशन में शामिल नहीं हुए।

जब कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में आयोजित करने का निर्णय लिया गया तो सुरेन्द्रनाथ का कांग्रेस में शामिल होना और भी महत्त्वपूर्ण हो गया। सुरेन्द्रनाथ ने निर्णय करने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया। उन्होंने पहले अधिवेशन के बारे में भी कोई टिप्पणी नहीं की। सुरेन्द्रनाथ और इंडियन एशोसिएशन के उनके सहयोगी विना किसी हिचक के कांग्रेस में शामिल हो गये। इससे राष्ट्रीय संघर्ष सशक्त हुआ।

दूसरे कांग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के बाद सुरेन्द्रनाथ ने लगातार आगामी तीस वर्षों से भी अधिक समय तक कांग्रेस को सशक्त और प्रभावी बनाने का कार्य किया। वे कांग्रेस के स्तम्भ साबित हुए।

कांग्रेस की अध्यक्षता

सुरेन्द्रनाथ दो बार कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। पहले १८९५ में और फिर १९०२ में। कांग्रेस के ग्यारहवें अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए सुरेन्द्रनाथ ने कांग्रेस के उदारवादी स्वरूप

की व्याख्या की। उनके भाषण का एक अंश इस प्रकार था --

'हम सुधार के पक्ष में हैं क्रान्ति के नहीं और सुधार के इसलिए क्योंकि इससे क्रान्ति को रोका जा सकता है। सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि हमें ब्रिटेन के लोगों और ब्रिटिश संसद में इनके प्रतिनिधियों की न्यायप्रियता और सहानुभूति पर असीमित विश्वास है।'

सुरेन्द्रनाथ ने अपने अध्यक्षीय भाषण में देशवासियों को ब्रिटेन पर भरोसा रखने की सलाह दी। उन्होंने अपने भाषण में इस विचार को इन शब्दों में कहा--

'इंग्लैण्ड से हमें प्रेरणा और मार्गदर्शन प्राप्त होता है। अपने संघर्ष में हमें इंग्लैण्ड से सहानुभूति मिलने की आशा है। इंग्लैण्ड हमारा राजनीतिक पथ प्रदर्शक और नैतिक गुरु है। ब्रिटिश इतिहास से हमें स्वतंत्रता के ऐसे सिद्धांतों का ज्ञान हुआ है जो हमें जीवित रहने की प्रेरणा देते हैं।'

जाहिर है कि सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने ब्रिटेन के प्रति पूरी आस्था और अनुराग प्रदर्शित किया। जिन परिस्थितियों में उन्हें सेवामुक्त कर दिया गया था उसे वे भुला चुके थे। अन्य उदारवादी राष्ट्रनेताओं के समान उनका विचार भी यही था कि भारतवासियों को ब्रिटेन पर श्रद्धा और विश्वास बनाए रखने की आवश्यकता है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के समान सुरेन्द्रनाथ के भी यही विचार थे।

बंगाल विभाजन के उपरांत की राजनीति

१९०५ में बंगाल विभाजन की घोषणा हो जाने से सुरेन्द्रनाथ को नये सिरे से विचार करना पड़ा। उन्होंने बंगाल विभाजन का डटकर विरोध किया और ब्रिटिश विरोधी जनभावना का साथ दिया। इससे यह प्रकट होता है कि बंगाल विभाजन का विरोध करने में वे किसी से पीछे नहीं रहे।

उदारवादियों और उग्रवादियों के बीच उभरते हुए मतभेद सूरत कांग्रेस अधिवेशन में सामने आये। १९०७ के इस अधिवेशन में सुरेन्द्रनाथ ने उदारवादी नेतृत्व का साथ दिया। सूरत कांग्रेस में कांग्रेस अध्यक्ष के चुनाव का समर्थन करने वालों में वे सर्वप्रथम थे।

१९१३ से १९१६ तक सुरेन्द्रनाथ केन्द्रीय विधानसभा के सदस्य रहे। उदारवादियों ने विधान सभाओं में जाकर सरकार को प्रभावित करने का जो रास्ता अपनाया था उसी का अनुसरण उन्होंने भी किया।

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते-होते उदारवादियों का प्रभाव घटता जा रहा था। १९१८ में स्थिति बिल्कुल ही बदल गयी। १९०७ में उग्रवादियों को कांग्रेस से अलग होना पड़ा था। १९१८ में उदारवादियों ने कांग्रेस से अलग होकर अपना एक अलग संगठन बना लिया। नवम्बर १९१८ में आयोजित अखिल भारतीय उदारवादी सम्मेलन की अध्यक्षता सुरेन्द्रनाथ ने की। उन्होंने भारत सरकार के १९१९ के अधिनियम की सराहना की। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उन्होंने बदलती हुई राजनीति के स्वर को नहीं पहचाना। १९१८ में भी उनके विचार प्रायः उसी प्रकार के थे जैसे कि उन्होंने १८९५ में व्यक्त किये थे। परिणामतः वे राजनीति में पिछड़ते

गये और केवल सरकार परस्त राजनेता के रूप में दिखायी दिये। १९२१ में जब प्रमुख राष्ट्रनेता ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त अलंकरणों का परित्याग कर रहे थे उसी वर्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी को 'सर' की उपाधि दी गयी और उन्होंने इसे सहर्ष स्वीकारा। इसी वर्ष वे बंगाल सरकार में मंत्री बनाये गये। सरकार के प्रति उनकी इस निष्ठा के कारण उनका प्रभाव घटता गया। १९२५ में उनका देहावसान हो गया।

राजनीतिक विचारधारा

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के राजनीतिक विचारों का यथास्थान संकेत किया जा चुका है। यहाँ हम इसकी ब्यौरेवार चर्चा कर सकते हैं।

सुरेन्द्रनाथ के राजनीति विचारों पर युगीन चिंतन की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। उन्नीसवीं सदी के सभी राष्ट्रनेताओं ने ब्रिटिश सरकार पर विश्वास किया और आशा की कि वह भारतीयों की उचित माँगों पर ध्यान देगी। आरम्भिक बीस वर्षों तक कांग्रेस का यह विश्वास अडिग रहा। इसके बाद शंकाएँ उठाई जाने लगीं। सुरेन्द्रनाथ ने अंग्रेजों की न्यायप्रियता, ईमानदारी और सच्चाई पर विश्वास प्रकट किया। यह विश्वास उनके निजी कटु अनुभवों के कारण भी नहीं डिगा।

उन्होंने हर समय संवैधानिक मार्ग का अनुसरण करने का परामर्श दिया। उनका विश्वास था कि भारत और ब्रिटेन के हित एक समान हैं, एक दूसरे के विरोधी नहीं। उनका कहना था कि किसी माँग की पूर्ति के लिए कानून का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। वे ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते थे जिससे अंग्रेजों की सहानुभूति खो जाने का भय हो। १९०२ में अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने कहा था-- 'जिस वैध आन्दोलन में हम लोग लगे हैं उसमें हमें अंग्रेजों के साथ सहयोग और सारे सभ्य संसार की सहानुभूति की आवश्यकता है।' सुरेन्द्रनाथ का मत था कि प्रार्थना तथा प्रतिवेदन से सब कुछ पाया जा सकता है, ब्रिटिश सरकार की सहानुभूति से देश का कल्याण किया जा सकता है और प्रशासनिक परिवर्तन करके प्रशासन को उपयोगी बनाया जा सकता है।

सुरेन्द्रनाथ ने ब्रिटिश शासन का स्वागत किया। उन्होंने ब्रिटिश शासन को भारत के लिए आवश्यक और उपयोगी बताया। अतः उन्होंने कभी भी भारत में ब्रिटिश आधिपत्य के समाप्त होने की बात नहीं सोची। ऐसी स्थिति में सरकार के साथ उनके टकराव की नौबत नहीं आयी।

गोपालकृष्ण गोखले

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उदारवादी और नरमपंथी स्वरूप को प्रभावी बनाए रखने में गोपालकृष्ण गोखले ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी। उन्होंने कांग्रेस के संस्थापकों की नीतियों को आगे बढ़ाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। कांग्रेस की स्थापना के बीस वर्षों बाद भी उनका यही प्रयास रहा कि यह राष्ट्रीय संगठन उसी मार्ग पर आगे बढ़े जो आरम्भ में निर्धारित किया गया था। स्वाभाविक रूप से उन्हें चुनौतियों का सामना करना पड़ा क्योंकि बीसवीं सदी के पहले दशक में कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों को बदलने की माँग की गयी। १९०५ के बंगाल

विभाजन के उपरांत भी कांगेस के उदारवादी स्वरूप को यथावत बनाए रखने का कार्य गोखले ने किया।

इस समर्पित राष्ट्र नेता का आविर्भाव महाराष्ट्र में हुआ। महाराष्ट्र की राजनीति में अग्रणी भूमिका निभाने के पश्चात् गोखले ने राष्ट्रीय स्तर पर नेतृत्व किया। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की प्रबलता सबसे पहले महाराष्ट्र, बंगाल और मद्रास में ही दिखायी दी थी। इन समुद्रतटीय क्षेत्रों से विकसित होती हुई राष्ट्रीय भावना देश के अन्य भागों में फैल गयी।

बम्वई प्रान्त के रत्नागिरि जिले के एक छोटे से गाँव, गोत्लुक में गोपालकृष्ण का जन्म ६ मई १८६६ को हुआ था। एक साधारण मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे इस बालक के पिता की अचानक मृत्यु हो जाने से समूचे परिवार के ऊपर कठिनाइयों के बादल छा गये। तब गोपाल की आयु १२ वर्ष की थी। लेकिन उनके बड़े भाई और परिवार ने साहस से काम लिया। इसी से गोपाल की शिक्षा में कोई बाधा नहीं पड़ी उन्होंने कोल्हापुर में शिक्षा जारी रखी। पूना और बम्बई में उन्होंने डिग्री स्तर की शिक्षा १८८४ में पूरी की। बम्वई के एलफिस्टन कालेज से जब उन्होंने परीक्षा दी तो उस समय प्रतिष्ठित कालेज की इस कक्षा में कुल छह विद्यार्थी थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी उस समय काफी कम संख्या में थे।

इन वर्षों में पूना और बम्वई नगर में जो नयी राजनीतिक लहर उठ रही थी उससे युवा गोपाल भी प्रभावित हुए और उन्होंने भी महाराष्ट्र के सार्वजनिक जीवन में भाग लेना शुरू कर दिया। एक शिक्षक के रूप में उन्होंने जीवन शुरू किया। १८८५ में डेकन एजूकेशन सोसाइटी नामक प्रसिद्ध संगठन का गठन हुआ था। गोखले इसके आजीवन सदस्य बने। यहीं से वे महाराष्ट्र के प्रसिद्ध राष्ट्र सेवक रानाडे के सम्पर्क में आवे। इन्हीं की कृपा से गोखले सोसाइटी के सचिव बना दिये गये। इस सोसाइटी ने पूना में फरगूसन कालेज की स्थापना की। अतः गोखले भी इसी कालेज में अध्यापन करने लगे। इस सोसाइटी ने शिक्षा के अलावा सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भी गहरी रुचि दिखायी। शिक्षा के अलावा पत्रकारिता के क्षेत्र में भी गोखले को अपनी क्षमता दिखाने का अवसर मिला। पूना की प्रसिद्ध राजनीतिक संस्था थी पूना सार्वजनिक सभा। गोखले को इस सभा के पत्र का संपादक वना दिया गया। इस प्रकार शिक्षा और पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य करते हुए गोखले का सार्वजनिक और राजनीतिक जीवन तेईस वर्ष की आयु में आरंभ हो गया।

गोखले ने १८८९ में कांग्रेस की सदस्यता ग्रहण की। उन्होंने इस वर्ष के कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार बंबई में भाग लिया। राष्ट्रीय संगठन के कार्यकलाप में उनकी रुचि लगातार बनी रही। उन्होंने विभिन्न कांग्रेस अधिवेशनों में होने वाली बहसों में भाग लिया, कांग्रेस के प्रस्तावों पर विचार प्रस्तुत किये और राष्ट्रीय संगठन को सशक्त बनाने में योगदान दिया। जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन १८९५ में पूना में हुआ तो गोखले भी इसके स्वागत सचिवों में से एक थे।

गोखले ने भारत की अर्थव्यवस्था में गहरी रुचि ली। प्रवुद्ध शिक्षित मध्यवर्ग का ध्यान ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों की ओर विशेष रूप से गया था। गोखले ने ब्रिटिश

साम्राज्यवादी शासन की स्वार्थपरक नीतियों की आलोचना की और कहा कि प्रशासकों का ध्यान केवल ब्रिटेन को लाभ दिलाने की ओर है। उनका विचार था कि भारत के हितों की उपेक्षा जानबूझ कर की जा रही है। पहली लंदन यात्रा में गोखले ने १८९७ में वेल्बी आयोग के सम्मुख अपने तर्क रखे।

१९०० में गोखले बम्बई की विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। एक वर्ष बाद वे केन्द्रीय विधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए। पहले प्रान्तीय स्तर पर और इसके उपरान्त राष्ट्रीय स्तर पर अपनी प्रतिभा के अनुसार कार्य करने का उन्हें यह सुअवसर मिला। गोखले ने केन्द्रीय विधान सभा के मंच से भारत सरकार के कार्यों पर टिप्पणी की, सुझाव प्रस्तुत किये तथा कांग्रेस के पक्ष को प्रस्तुत किया। गोखले की योग्यता से प्रभावित होकर तत्कालीन वाइसराय, कर्जन ने भी स्वीकारा कि इस सदन के गोखले सबसे प्रतिभाशाली सदस्य हैं। जाहिर है कि गोखले के विचारों में परिपक्वता आ चुकी थी। वरिष्ठ कांग्रेसी सहयोगियों के साथ-साथ ब्रिटिश अधिकारियों ने भी उनकी योग्यता का लोहा माना।

कांग्रेस अध्यक्ष का पदभार ग्रहण करना

१९०५ में गोखले को कांग्रेस का अध्यक्ष बनाया गया। उन्तालीस वर्षीय गोखले को यह सर्वोच्च सम्मान पर्याप्त कम आयु में मिला था। इससे यह प्रकट हो गया कि राष्ट्रीय राजनीति में गोखले को प्रमुख स्थान मिल चुका था।

गोखले को कांग्रेस की अध्यक्षता करने का अवसर ऐसे समय मिला था जब बंगाल विभाजन के परिणामस्वरूप कांग्रेस के सम्मुख गंभीर चुनौतियाँ उपस्थित हुई। १९०५ से देश में नयी राजनीतिक लहर आयी थी। ऐसे समय उन्होंने कांग्रेस का मार्गदर्शन किया। बदली हुई परिस्थितियों में भी गोखले ने कांग्रेस की परंपरागत नीतियों का अनुसरण करने की सलाह दी। उन्होंने कांग्रेस के संस्थापकों द्वारा बताए गये मार्ग पर ही आगे बढ़ने का परामर्श दिया। उन्होंने उदारवादी विचारधारा के प्रति विश्वास प्रकट किया और आशा प्रकट की कि संवैधानिक मार्ग पर चलकर भारत को स्वशासन का अधिकार मिलेगा। कांग्रेस के लक्ष्य को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा--

'भारत का शासन भारतीयों के हितों के अनुसार होना चाहिए और ऐसे प्रयास किये जायें कि इस देश में भी उसी प्रकार की सरकार स्थापित हो जैसी कि ब्रिटिश साम्राज्य के स्वशासित उपनिवेशों में है।'

गोखले ने स्वीकारा था कि यह लक्ष्य तुरन्त नहीं प्राप्त हो सकता। उन्होंने कहा कि यह लक्ष्य क्रमशः ही प्राप्त हो सकता है। गोखले का विचार था कि पश्चिम की प्रतिनिधि शासन व्यवस्था को भारत में तभी लागू किया जा सकता है तब भारतीय इसके योग्य हो जायें और उन्हें इसकी शिक्षा मिले। जाहिर है कि वे ब्रिटिश प्रशासकों की इस दलील को मान रहे थे कि भारत में प्रतिनिधि शासन प्रणाली को लागू करने की परिस्थितियाँ धीरे-धीरे ही विकसित हो सकती हैं।

इस सैद्धान्तिक तर्क को स्वीकार करते हुए उन्होंने ब्रिटिश सरकार से अविलंब प्रशासकीय और संवैधानिक सुधार करने का आग्रह किया। अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने ऐसे अनेक संभावित सुधारों का ब्यौरा दिया। गोखले ने ध्यान दिलाया कि कांग्रेस की स्थापना के बाद पहली बार १६०५ में ब्रिटेन में उदारवादी दल की सरकार बनी थी। ऐसी सरकार द्वारा भारत में उचित संवैधानिक परिवर्तन किये जाने की उन्होंने माँग की। गोखले ने ब्रिटेन में हुए इस राजनीतिक परिवर्तन से आवश्यकता से अधिक ही आशाएँ लगा लीं।

जहाँ एक ओर गोखले ने ब्रिटेन की सरकार का मुँह ताका वहीं उन्होंने भारत की नौकरशाही की आलोचना की और भारत की दुर्दशा का सारा दोष इसी पर लगाया। निराशा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि नौकरशाही प्रबुद्ध भारतीय जनमत की जान-बूझकर उपेक्षा कर रही है। परिणामतः शासन और जनमानस के बीच अंतर बढ़ता जा रहा है। भारतीय जनता की निर्धनता के लिये भी उन्होंने नौकरशाही को जिम्मेदार बताया। उन्होंने विचार व्यक्त किया कि शासन के समस्त अधिकारों पर एकाधिकार जमाए रखने के बजाय नौकरशाही को शिक्षित मध्यम वर्ग के हाथ बटाने को तैयार होना चाहिए। नौकरशाही और जनप्रतिनिधियों के बीच सहयोग की आवश्यकता पर उन्होंने बल दिया।

उग्रवादियों से मुकाबला

१६०५ से १६१५ तक के जीवन के अंतिम दस वर्षों में गोखले का समूचा ध्यान उग्रवादियों से मुकाबला करने में गया। बनारस अधिवेशन में पहली बार उग्रवादी उभरकर सामने आये थे। १६०६ में कलकत्ता कांग्रेस में कांग्रेस के इन दोनों राजनीतिक वर्गों के बीच तनातनी बनी रही। लेकिन १६०७ का सूरत कांग्रेस अधिवेशन नयी समस्याएँ लेकर आया। गोखले ने अंतिम समय में अधिवेशन के स्थान को नागपुर से सूरत बदलने के विचार का समर्थन किया। उनके निजी पत्रों से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि उन्हें उग्रवादी नेताओं के इरादों पर सन्देह था।

१६०७ के सूरत अधिवेशन में जो अशोभनीय दृश्य दिखायी दिये उसके लिये किसी एक पक्ष को सही तथा दूसरे को गलत मान लेना उचित नहीं होगा। फिर भी उपलब्ध प्रमाणों से यही जान पड़ता है कि उदारवादियों ने बहुमत के बलबूते पर उग्रवादियों की उपेक्षा करने और उन्हें नीचा दिखाने की नीति अपनायी। महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या पिछले दो दिनों की घटनाओं के उपरांत दोनों पक्षों के मतभेद समाप्त नहीं किये जा सकते थे। कम-से-कम गोखले ने उदारवादियों और उग्रवादियों के बीच सूरत में समझौता कराने के कोई उपाय नहीं किये। उन्होंने यही उचित समझा कि उग्रवादी कांग्रेस की मूलधारा से अलग हट जाएँ। गोखले ने आशा की थी कि सरकार से हाथ मिलाकर वे संवैधानिक परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर देंगे और अपने विरोधियों का मुँह बन्द कर देंगे। आने वाले वर्षों में यह सिद्ध हुआ कि सरकार से आशा करने की उनकी नीति कारगर सिद्ध नहीं हुई।

संवैधानिक राजनीति

गोखले ने अनेक वर्षों तक संवैधानिक सुधार के पक्ष में कार्य किया। १६०६ से यह दिखायी देने लगा था कि उदारवादी ब्रिटिश सरकार एक और संवैधानिक अधिनियम स्वीकार

करने जा रही थी। अतः गोखले ने लगातार यह प्रयास किया कि यह संवैधानिक योजना कारगर हो, उपयोगी हो और उदारवादियों की इच्छा के अनुकूल हो। वे यह प्रमाणित करना चाहते थे कि ब्रिटिश सरकार से सहयोग करके शासन में भागेदारी प्राप्त की जा सकती है और प्रतिनिधि शासन को वास्तविक रूप में स्थापित करने की ओर निश्चित कदम उठाये जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने आगामी संवैधानिक अधिनियम से बहुत अधिक आशा लगा रखी थी। उदारवादी नेता के नाते उन्होंने ब्रिटिश सरकार के नेक इरादों पर जरूरत से ज्यादा ही भरोसा कर लिया। १६०६ से १६०६ तक के बीच वे अनेक बार ब्रिटेन गये और उन्होंने भारत सचिव से वार्ता की। उनका आग्रह था कि ब्रिटिश सरकार संवैधानिक अधिनियम के द्वारा भारत के प्रशासन तंत्र को नया रूप प्रदान करे।

गोखले के प्रयासों से १६०६ का संवैधानिक अधिनियम स्वीकृत किया गया। यह अधिनियम तत्कालीन वाइसराय और भारत सचिव के नाम से मार्लो-मिन्टो अधिनियम कहलाया। यह स्मरणीय है कि गोखले के गंभीर प्रयासों के वावजूद यह सुधार अधिनियम न तो बहुत प्रभावकारी बनाया गया और न इससे भारतीयों को किसी भी प्रकार का संतोष मिला। वास्तविकता यही है कि अन्य संवैधानिक सुधारों के समान इसमें भी विधान सभाओं में भारतीयों की संख्या को केवल सीमित रूप से बढ़ाया गया तथा केन्द्रीय और प्रांतीय विधान सभाओं के अधिकारों को भी नहीं बढ़ाया गया। १८५८ के बाद के पचास वर्षों में यह तीसरा संवैधानिक अधिनियम था। इसे किसी भी प्रकार से गोखले की सफलता नहीं माना जा सका। इसके पास होने से उदारवादी नेता सिर ऊँचा करके चलने की स्थिति में नहीं हुए। जाहिर है कि गोखले की स्थिति इससे मजबूत नहीं हुई।

१६०६ के संवैधानिक अधिनियम का एक प्रावधान अत्यन्त विवादास्पद साबित हुआ। यह था मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व का अधिकार प्रदान करना। विधान सभाओं के चुनावों के समय कुछ क्षेत्रों को मुस्लिम प्रतिनिधि के लिये सुरक्षित कर दिया गया। निर्धारित क्षेत्र से केवल मुस्लिम प्रतिनिधि ही चुना जा सकता था। केवल इतना ही नही अपितु यह भी निर्धारित किया गया कि ऐसे सुरक्षित मुस्लिम क्षेत्र से यह प्रतिनिधि केवल मुस्लिम मतदाताओं द्वारा केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान सभा के लिये चुना जायेगा। मुस्लिम प्रतिनिधि का केवल मुस्लिम मतदाताओं द्वारा चुनाव किये जाने के इस सिद्धांत के अपनाए जाने से भारतीय राजनीति में एक विषैला बीज बो दिया गया। यह आरोप लगाया गया है कि गोखले ने इस प्रतिनिधि प्रणाली को स्वीकार किया था। यह कहना तथ्यों से परे है। वास्तविकता यही है कि भारत सचिव ने मुसलमानों का पक्ष जीतने के उद्देश्य से ऐसी प्रतिनिधि प्रणाली को प्रस्तावित किया। अधिनियम की इस व्यवस्था से राष्ट्रवादी शक्तियों को धक्का लगा।

अंतिम दौर की राजनीति

१६०६ से १६१५ तक गोखले ने कांग्रेस में प्राण फूँकने के प्रयास किये। लेकिन सूरत अधिवेशन में प्राप्त सफलता के बावजूद उदारवादी राजनीतिज्ञ कांग्रेस को प्रभावी नहीं बना सके। उग्रवादियों के कांग्रेस से हट जाने से यह राष्ट्रीय संगठन निस्तेज हो गया। गोखले के प्रयास

करने पर भी इस अवधि में यदि कांग्रेस को लोकप्रिय नहीं बनाया जा सका तो इसके अनेक कारण थे। पहला कारण यह था कि १६०६ का संवैधानिक अधिनियम कांग्रेस जनों के लिये निराशाजनक था। इतनी प्रतीक्षा के पश्चात् भी सरकार ने जो परिवर्तन किये थे उनसे भी उत्साह नहीं बढ़ा। इसे न तो उदारवादियों की और न ही गोखले की सफलता माना जा सकता था। दूसरा कारण यह था कि ब्रिटिश सरकार के इरादों पर संदेह बढ़ने लगा। गोखले ने सदैव ही सरकार की सद्‌भावना की प्रशंसा की थी। लेकिन १६०६ के सवैधानिक सुधार से उनकी स्थिति कमजोर हुई। तीसरा कारण यह था कि जितना अधिक उग्रवादियों का दमन किया गया उतना ही उनका सम्मान बढ़ा।

१६०६ से १६१५ के बीच के कांग्रेस अधिवेशन लगातार फीके रहे। गोखले के प्रयास करने पर भी न तो अधिक संख्या में कांग्रेस जनों ने इन अधिवेशनों में भाग लिया और न इनकी कार्यवाहियों के प्रति कोई उत्साह देखा गया। स्वयं गोखले को दिखायी देने लगा था कि उदारवादियों को वैसी सफलता नहीं मिल रही है जिस प्रकार की आशा उन्होंने की थी। इसी बीच १६१५ में अचानक गोखले का देहावसान हो गया।

गोखले ने अपनी योग्यता और क्षमता के बलबूते पर कांग्रेस में प्रमुख स्थान प्राप्त किया। विशेषतः १६०५ से १६१५ तक वे नरमपंथी और उदारवादी राजनीति के शीर्षस्थ नेता रहे। उन्होंने राजनीति का आरंभिक पाठ रानाडे से सीखा था और इसके बाद फीरोजशाह मेहता ने उनको आगे बढ़ने में मदद की।

राजनीतिक विचारधारा

गोखले की राजनीतिक विचारधारा में कांग्रेस के संस्थापकों के आदर्शों की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। गोखले ने अपने पूर्ववर्ती नरमपंथी राजनेताओं के विचारों को स्पष्ट रूप से समझने और ग्रहण करने के साथ-साथ उन्हें और भी साफ तौर से परिभाषित किया। उनका प्रमुख योगदान था उदारवादी राजनीति को सुस्पष्ट तरीके से बाद की पीढ़ी के सम्मुख रखना, इसके महत्त्व पर प्रकाश डालना और बीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों में भी कांग्रेस के इसी पारंपरिक स्वरूप को बनाये रखने पर जोर डालना। लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं कि वे यथास्थिति के समर्थक थे। उन्होंने परिवर्तन के महत्त्व को स्वीकारा। यह परिवर्तन क्रमिक हो तथा देश के लिये हितकर हो, यही वे चाहते रहे।

गोखले ने राष्ट्रीय एकता के महत्त्व पर सबसे अधिक जोर दिया। आरम्भिक युग में कांग्रेस के नेताओं ने राष्ट्रीय एकीकरण को जो प्रधानता दी थी उसी पर जोर देते हुए गोखले ने देशवासियों से आग्रह किया कि वे निजी मतभेदों को भुलाकर एकता की भावना को मजबूत करें।

गोखले की राजनीतिक विचारधारा का आधार था ब्रिटेन पर, ब्रिटिश जनता और ब्रिटिश संसद पर विश्वास। इसी विश्वास के बलबूते पर वे उदारवादी राजनीति को संचालित करते रहे। उन्हें भरोसा था कि भारतीयों की आशाओं का ब्रिटेन आदर करेगा और समय रहते हुए भारत

में प्रतिनिधि शासन प्रणाली की स्थापना करने में मदद देगा। १६०६ में ब्रिटेन में उदारवादी दल ने जब लम्बे अंतराल के पश्चात् सत्ता सँभाली तो गोखले को इस शुभ संकेत से अच्छे परिणाम निकलते हुए दिखायी दिये। १६०६ से १६०६ के बीच के तीन वर्ष गोखले की राजनीति की सफलता में निर्णायक साबित हुए। उन्होंने नरम तरीके से, मीठे शब्दों का उपयोग करते हुए और तर्क प्रस्तुत करते हुए अनेक बार ब्रिटेन की यात्रा की। उन्होंने विभिन्न वार्ताओं में भारत सचिव के सम्मुख संवैधानिक सुधार की माँग पेश की। उनका विश्वास था कि संवैधानिक अधिनियम के पारित होते ही कांग्रेस की लोकप्रियता आसमान छूने लगेगी। परन्तु जब १६०६ का सुधार अधिनियम पारित हुआ तो गोखले तथा नरमपंथी नेताओं की आशाओं पर तुषारपात हो गया। इस अधिनियम की व्यवस्थाओं से यह प्रकट हो गया कि तमाम आश्वासनों के बाद ब्रिटिश सरकार ने केवल साम्राज्यवादी हितों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न गुटों और समुदायों को प्रसन्न करने की नीति अपनायी थी। १६०६ के अधिनियम से यह साबित हो गया कि भारतीय राजनीतिज्ञों और ब्रिटेन के राजनीतिज्ञों के बीच मूलभूत मतभेद थे। गोखले इनके बीच किसी सेतु का निर्माण नहीं कर सके। गोखले को वह उदारवादी स्वप्न पूरा नहीं हो सका जिसमें उन्होंने भारत और ब्रिटेन के बीच एक विश्वास की डोर बनाने की कोशिश की थी। यह भी सम्भव है कि उनका यह स्वप्न केवल कल्पना की उड़ान ही था।

उदारवादी राजनीति का पौधा अधिक समय तक हरा-भरा रह सकने की स्थिति में था भी अथवा नहीं। इसका उत्तर यही है कि गोखले की असफलता कांग्रेस की उदारवादी राजनीति की असफलता थी और उनके तथा मेहता के देहावसान के पश्चात् उदारवादियों के पाँव उखड़ने लगे। १६१६ में उग्रवादियों के कांग्रेस में प्रवेश होते ही वे इस राष्ट्रीय संगठन में छा गये।

●●●

चौबीसवाँ अध्याय

उग्रवादी राष्ट्रवाद और राजनीतिक परिवर्तनों का दौर

बीस साल तक कांग्रेस उसी रास्ते पर चलती रही जो रास्ता इसके संस्थापकों ने निर्धारित किया था। इन बीस वर्षों में इसने शासन व्यवस्था में सुधारों की माँग की और समय-समय पर अनेक सुझाव रखे। लेकिन इसने और कोई बुनियादी सवाल नहीं उठाये। १६०५ के बंगाल विभाजन से सब कुछ बदलने लगा। उग्रवादी और स्वदेशी विचारधारा इसी समय से प्रभावशाली हुई। उग्रवाद के उदय की परिस्थितियाँ और इसकी प्रगति से राजनीतिक परिवर्तन की दिशा का संकेत मिला।

जिन राष्ट्रवादियों को उग्रवादी कहा गया उन्हें यह नाम पसन्द नहीं था। कांग्रेस के भीतर उभरा यह वर्ग 'नया दल' अथवा 'राष्ट्रवादी' कहलाना पसन्द करता था। इसके प्रमुख राष्ट्रनेताओं ने अपने वक्तव्यों और भाषणों में अपने दल के लिए इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया था। लेकिन फिर भी उनको 'गरम दल' या 'उग्रवादी' नाम से ही पुकारा गया।

नरमपंथी राजनीति के विकल्प के रूप में उग्रवाद का उदय हुआ। उन्नीसवीं सदी के समाप्त होते-होते कांग्रेस के दृष्टिकोण के प्रति असन्तोष का भाव अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने व्यक्त किया। सबसे पहले अरविन्द घोष ने कुछ लेखों को प्रकाशित कराके कांग्रेस की नीतियों पर खुला प्रहार किया। बंगाल के नेता अश्वनी कुमार दत्त ने केवल अधिवेशनों के कार्य तक कांग्रेस को सीमित रखने की नीति को अपर्याप्त बताया। प्रसिद्ध कवि और साहित्यकार रवीन्द्रनाथ टैगोर ने इसी समय 'आत्मशक्ति' के सिद्धान्त पर जोर दिया। पंजाब में लाजपतराय ने भी कुछ ऐसे ही विचार प्रकट करते हुए कांग्रेस की नीतियों को बदलने का सुझाव दिया। उग्रवादी चेतना को प्रभावी बनाने में बाल गंगाधर तिलक की भूमिका सबसे अधिक उल्लेखनीय रही। उन्होंने राजनीति के दायरे को बढ़ाने पर जोर दिया। केवल शिक्षित मध्यवर्ग के बलबूते पर कार्य करने के बजाय उन्होंने राष्ट्रीय विकास के लिए अन्य सामाजिक वर्गों को तैयार किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने महाराष्ट्र मे गणपति और शिवाजी उत्सवों में अधिक-से-अधिक लोगों को भाग लेने को प्रेरित किया। इन सामाजिक-सांस्कृतिक पर्वों में एकत्रित होने से संगठन का भाव जगा और समय आने पर सभी को राजनीतिक संघर्ष में भी एकजुट किया जा सका। १८६४ से १८६६ के बीच इन उत्सवों का क्रम शुरू हुआ। इसके कुछ समय बाद महाराष्ट्र भी वैसे ही भीषण अकाल की चपेट में आया जैसा संकट देश के अनेक क्षेत्रों में दिखाई दिया था। इस समय तिलक ने सरकार की अकाल नीति के विरोध में किसानों को संगठित किया। उन्होंने लगान बन्दी आन्दोलन चलाकर ग्रामीण अंचलों में जागरण का पाठ पढ़ाया। राष्ट्रीय आंदोलन की परिधि में अनेक सामाजिक वर्गों को शामिल करने की कोशिश में उन्होंने बम्बई के श्रमिक वर्ग को सफलतापूर्वक संगठित किया।

उग्रवाद का उदय

बीसवीं शताब्दी भारत में उग्रवाद की गर्म हवाएँ लेकर आयी। कांग्रेस आंदोलन के कारण भारत में राजनीतिक चेतना विकसित हुई थी। उग्रवाद अनिवार्य रूप से परिस्थितियों की उपज था। जब ब्रिटिश सरकार कांग्रेस की लगातार उपेक्षा करती गयी तो कुछ राजनीतिज्ञों ने नये सिरे से राजनीतिक आदर्शों और उद्देश्यों पर विचार किया। उग्रवाद के उदय के निम्नलिखित कारण थे-

वैकल्पिक मार्ग की तलाश

आरम्भिक दो दशकों में कांग्रेस लगातार विभिन्न प्रस्ताव पारित करके सरकार का मुँह ताकती रही। इस युग के नेताओं को निराशा ही हाथ लगी। उनकी सभी माँगों को ठुकरा दिया गया। भारत सरकार की इस उपेक्षा के विरुद्ध राष्ट्रवादियों में जो प्रतिक्रिया हुई उसी के फलस्वरूप उग्रवाद का जन्म हुआ। उग्रवादी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के रुख को व्यावहारिक ढंग से समझा। उन्होंने देखा कि ब्रिटेन के नागरिकों तथा ब्रिटिश संसद को भारत की समस्याओं को समझने की फुर्सत ही नहीं थी। प्रसिद्ध उग्रवादी नेता लाला लाजपत राय १६०५ में जब ब्रिटेन से लौटे तो उन्होंने खुले शब्दों में इस तथ्य को स्वीकार किया। इसी प्रकार यह भी भली-प्रकार से समझा जाने लगा कि भारत सरकार स्वेच्छाचारी ढंग से ही शासन का संचालन करना चाहती थी। इस अनुभव के कारण कांग्रेस का एक वर्ग यह अनुभव करने लगा कि ब्रिटिश सरकार से अनुनय-विनय करके कुछ राजनीतिक प्रगति नहीं हो सकती।

राजनीतिक निराशा

बीस वर्षों तक के राजनीतिक आंदोलन से निराशा ही बढ़ती जा रही थी। जिस आशा और विश्वास से कांग्रेस की स्थापना हुई थी वह सफलीभूत होती नहीं दिखाई दे रही थी। उदारवादियों का जोश ठंडा होता जा रहा था। 'यंग इण्डिया' नामक पुस्तक में लाला लाजपत राय ने परिस्थिति का मूल्याँकन करते हुए लिखा--'बीस वर्षों तक राजनीतिक आंदोलन करते समय हमने सरकार से सुविधाएँ माँगी और अपनी कठिनाइयाँ उसके सामने रखीं लेकिन हमें रोटी के बदले में पत्थर ही मिले।' इन शब्दों से उस समय का नैराश्य दिखाई देता है। उग्रवादी नेताओं ने इस निराशा को दूर करने का मार्ग ढूँढा और भविष्य के प्रति सबका विश्वास जगाया।

आर्थिक असन्तोष

१८६८ से लेकर करीब दो वर्षों तक जिस प्रकार भारत के विशाल क्षेत्र में अकाल पड़ा उससे यह और भी अधिक स्पष्ट हो गया कि देश की गरीबी और भुखमरी घटने के बजाय बढ़ रही थी। देश के नेताओं ने ब्रिटिश आर्थिक नीतियों को इसके लिए दोषी ठहराया। उन्होंने गहराई से आर्थिक समस्याओं पर विचार करके देखा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के जाल में जब तक देश फँसा रहेगा तब तक उसको आर्थिक कठिनाइयों से

छुटकारा मिलना संभव नहीं था। राजनीतिक जागृति के साथ-साथ अंग्रेजों की शोषण करने की नीति भी स्पष्ट होती गयी। इस स्थिति का निदान कैसे हो, इस प्रश्न पर उग्रवादियों ने नये ढंग से सोचा।

राष्ट्रवादियों में आत्मविश्वास की भावना

उग्रवादी राष्ट्रवाद भारत में जागरूकता का प्रतीक था। पिछले दो दशकों की चेतना के कारण भारतीय नेताओं का आत्मविश्वास बढ़ा था। उन्हें राजनीतिक संगठन के संचालन का पर्याप्त अनुभव हो चुका था। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्टवादी अब अपने पैरों पर स्वयं खड़े होना चाहते थे। राष्ट्रीय आंदोलन की गति को बढ़ाने की भावना उन्हें उद्वेलित कर रही थी।

कर्जन के शासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया

कर्जन के शासन की पहले ही चर्चा की जा चुकी है। उसने कांग्रेस आंदोलन का विरोध किया। उसकी शासन-नीति प्रतिक्रियावादी थी। हर समय उसने प्रशासनिक कुशलता का ही ध्यान रखा। लेकिन समय की पुकार की उपेक्षा करके जब शिक्षा और स्थानीय स्वशासन के क्षेत्रों से भी भारतीयों के प्रभाव का उसने अंत करना चाहा तो राष्ट्रीय नेताओं ने उसका विरोध किया। उग्रवाद के उदय का एक मुख्य कारण था कर्जन के शासन से निराशा।

अभी तक भारतीयों के मन में यह धारणा बनी हुई थी कि पश्चिमी राष्ट्र अपराजेय हैं। किन्तु कुछ घटनाओं से इनके मन का यह भ्रम दूर हो गया। १८६४ में अबीसीनिया की अफ्रीकी सेनाओं ने इटली को पराजित किया। १६०५ में जापान ने रूस ऐसे विशाल देश पर विजय प्राप्त की। इससे समूचे एशिया के राष्ट्रवादी आंदोलन को बल मिला।

बंगाल विभाजन

बंगाल-विभाजन के सरकार के निर्णय से उग्रवादी आंदोलन में अचानक तेजी आई। कर्जन ने जैसा शासन चलाया और जिस प्रकार के प्रशासकीय निर्णय किये उनसे राष्ट्रवादियों को गहरा आघात लगा। १८६६ से १६०५ के बीच के उसके शासन के दौरान सरकार और भारतीयों के बीच तनाव बढ़ा। इस कटुता और सन्देह के वातावरण में जब वाइसराय द्वारा बंगाल के विभाजन की योजना का समाचार आया तो इसने व्यापक असन्तोष को जन्म दिया। चाहे यह बार-बार कहा गया कि इस बड़े प्रान्त को प्रशासकीय कारणों से विभाजित किया जा रहा था लेकिन फिर भी भाषा के आधार पर ऐसा निर्णय न करने से सरकार के इरादों पर प्रश्नचिन्ह लगाया गया। विरोध इसलिए भी था क्योंकि नवगठित पूर्वीय बंगाल प्रान्त में मुसलमानों को बहुमत दिलाने को कर्जन ने उचित बताया था। अब जो तथ्य प्रकाश में आये हैं उनसे प्रमाणिक जानकारी मिली है कि बंगाल में राष्ट्रवादियों के प्रभाव को घटाने की इच्छा से यह बँटवारा करने का निश्चय किया गया था।

बंगाल-विभाजन की दो अलग-अलग स्थितियों पर विचार करना होगा। दिसम्बर

१९०३ से जुलाई १९०५ के वीच सरकार द्वारा इस मसले पर विचार किया जा रहा था। पर्याप्त प्रमाण मिल रहे थे कि वह शीघ्र ही निर्णय की घोषणा करने जा रही थी। नरमपंथी राष्ट्रवादियों ने इस दौरान अनेक उपाय करके अपनी आपत्तियाँ प्रकट करने हुए सरकार को प्रभावित करने की कोशिशें कीं। सभाएँ और सम्मेलन आयोजित किये गये। समाचार-पत्रों ने एक स्वंर से विभाजन के स्वरूप को अनुचित बताया तथा प्रस्तावों और प्रार्थना-पत्रों ने एक स्वंर से विभाजन के स्वरूप को अनुचित बताया तथा प्रस्तावों और प्रार्थना-पत्रों को सरकार तक पहुँचा कर यह सुझाव दिया गया कि या तो प्रांत का बँटवारा न किया जाये अथवा इसे भाषाई आधार पर बाँटा जाये। लेकिन सरकार ने राष्ट्रवादियों की आलोचना को अस्वीकार कर दिया। अक्टूबर में बंगाल प्रान्त को औपचारिक रूप से बाँटकर पूर्वीय बंगाल और असम प्रान्त की रचना कर दी गयी। बंगाल-विभाजन से नरमपंथी राजनीति को धक्का लगा। सावैधानिक राजनीति के प्रति विश्वास डिगने लगा। यह भी कहा गया कि यह नीति निरर्थक थी। विपिनचन्द्र पाल की टिप्पणी इस प्रकार थी : 'यदि तथाकथित सावैधानिक संघर्ष बिल्कुल वेकार सावित हुआ है तो ऐसा बंगाल-विभाजन के प्रस्ताव के खिलाफ चलाये गये संघर्ष के इतिहास से देखा जा सकता है।' वैकल्पिक मार्ग के लिए बंगाल में और देश के दूसरे क्षेत्रों में वातावरण बनने लगा। इसी बदली हुई परिस्थिति और उत्तेजना के वातावरण में पहले बंगाल में उग्रवाद प्रबल हुआ और फिर देश के अन्य क्षेत्रों में इसका प्रभाव बढ़ता हुआ दिखायी दिया। १९०५ से १९०८ तक बंगाल विभाजन का सक्रिय विरोध हुआ। इससे उग्रवादी आंदोलन का वास्तविक स्वरूप प्रकट हुआ।

उग्रवादियों की नीतियाँ और कार्यक्रम

इस बदलते हुए राजनीतिक वातावरण में उग्रवाद की नीतियों और कार्यक्रमों को स्पष्ट किया गया। लोकमान्य तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल और अरविन्द घोष ने अनेक वक्तव्यों, भाषणों और लेखों में उग्रवाद के स्वरूप को परिभाषित किया। इन्हीं के आधार पर उग्रवाद की समीक्षा की जा सकती है।

उग्रवादियों ने नरमपंथी राजनीति पर चोट की। उन्होंने इसकी कमजोरियों पर ध्यान देते हुए नयी राह की तलाश को आवश्यक बताया। यदि बीस वर्षों तक कार्य करने पर भी नरमपंथी राजनीतिज्ञों को कुछ हासिल नहीं हो सका तो इसके लिए उग्रवादियों ने इनकी खबर ली। इस तरह से उग्रवादियों ने दो काम एक साथ किये। उन्होंने एक ओर आरम्भिक कांग्रेस के नेताओं की 'राजनीतिक साधुवाद' की नीति की आलोचना की और दूसरी ओर कांग्रेस को नयी दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश की। आरम्भिक बीस वर्षों की रणनीति को दोषपूर्ण बताते हुए उग्रवादियों ने 'भिक्षा माँगने', प्रार्थना करने और लगातार प्रस्ताव पास करते रहने की १९०५ तक की कांग्रेस की नीति को त्यागने का सुझाव दिया। उग्रवादियों और नरमपंथियों में मूलभूत अन्तर यही था कि नये दल ने अपने बलबूते पर, अपनी शक्ति अर्जित करके राजनीतिक कार्यवाही करने पर जोर दिया और ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने की तैयारी की सलाह दी। तिलक ने कहा कि 'अपने राजनीतिक अधिकारों के लिये तो हमें

संघर्ष करना ही होगा..... ये अधिकार हमें जोरदार दवाव डालने से ही मिल सकते हैं। क्या कांग्रेस जोरदार दवाव डालने को तैयार है। यही प्रश्न मुख्य है। और यदि सरकार पर ऐसा दवाव डालना है तो कांग्रेस नेताओं को अपनी संस्था का रूप बदलना होगा और इसे एक ऐसा संगठन वनाना होगा जो सक्रिय रूप से वरावर कार्य करता रहे।' ये शब्द भावी राजनीति की दिशा की ओर संकेत कर रहे थे। इनमें आत्मविश्वास की झलक थी। इस प्रकार के शब्दों से उग्रवादियों ने भारतीयों को उनकी ताकत का एहसास कराया। वे जानते थे कि जनता को अपनी शक्ति का पता हो जाने पर कांग्रेस एक शक्तिशाली संस्था के रूप में उभर सकती थी। इसी कारण उग्रवादियों ने जहाँ एक ओर संघर्ष की राह बतायी वहीं भावी संघर्ष में सभी वर्गों को शामिल भी करना चाहा। उग्रवादियों ने आंदोलन में अनेक वर्गों और समुदायों को शामिल होने का आह्वान किया। उन्होंने जनजागरण के आधार को व्यापक वनाने की ओर ध्यान दिया।

उग्रवादियों ने राजनीति को नया स्वरूप दिया। उन्होंने राजनीति भावनात्मक आधार प्रदान किया, उनकी चुनौती केवल राजनीतिक नहीं थी। यह सांस्कृतिक और आध्यात्मिक चुनौती भी थी। उग्रवादियों ने पश्चिम के प्रभाव को समाप्त करके साम्राज्यवाद से लोहा लेने की बात कही। उन्होंने पश्चिम का मुँह ताकने के बजाय भारतीय इतिहास और संस्कृति से प्रेरणा लेने को कहा। उग्रवादियों ने भारतीयों में अपने देश और इसकी परंपराओं के प्रति गौरव बढ़ाया। वे जानते थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन को गतिशील बनाने के लिए इसे भारतीयता से जोड़ने की आवश्यकता थी। इसी से उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति तथा देश की गौरवमय परंपराओं का स्मरण दिलाते हुए देशवासियों को राष्ट्रसेवा के लिए आगे आने का आह्वान किया। उनकी राजनीति का एक पक्ष और भी था। उन्होंने राष्ट्र के लिए सब कुछ बलिदान करने, सर्वस्व न्योछावर करने और कष्ट सहने के उदाहरण पेश किये। तिलक पहले प्रमुख राष्ट्रनेता थे जो तीन बार जेल गये। पंजाब के उग्रवादी नेताओं, लाला लाजपतराय और अजीत सिंह को १६०७ में देश से निर्वासित कर दिया गया था। कष्ट सहन की यह शुरुआत थी और यहीं से भारतीय राजनीति का रुख बदलने लगा। ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने का सिलसिला आरम्भ करने का श्रेय उग्रवादियों को है।

उग्रवादियों के उद्देश्य और कार्यक्रम के चार स्तम्भ थे। स्वराज उनका मूलमंत्र था। तिलक का यह नारा समूचे देश में गूँजा कि 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।' इस शब्दावली से उग्रवादियों का विश्वास झलक रहा था। उन्होंने 'स्वतंत्रता' या 'आजादी' की चर्चा तो नहीं की लेकिन उनके लक्ष्य में यह विचार निहित अवश्य था। उग्रवादियों ने इस महत्त्वाकांक्षी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा के कार्यक्रम अपनाये। यदि उग्रवादियों और नरमपंथियों में मतभेद दिखाई दिये तो इसका मुख्य कारण संघर्ष के मार्ग पर उग्रवादियों का विश्वास। पहले से जो कार्य-पद्धति अपनायी जा रही थी उसे बदलने पर उग्रवादियों ने जोर दिया। इसी से कांग्रेस की भावी दिशा को लेकर मतभेद उभरे। उग्रवादी कार्यक्रम के वास्तविक स्वरूप और उग्रवादी आंदोलन

के प्रति व्यापक जन-समर्थन की समीक्षा करने के बाद कांग्रेस के सैद्धान्तिक विवाद की चर्चा की जा रही है।

उग्रवाद की प्रगति और सूरत विभाजन

ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का विरोध और इसके खिलाफ संघर्ष करने की भावना से प्रेरित होकर उग्रवादी आगे बढ़े। ये केवल कार्यक्रम घोषित करके संतुष्ट नहीं हो गये। इन्होंने ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध आंदोलन चलाया। सैद्धान्तिक विरोध के साथ-साथ सक्रिय कार्य करके उग्रवादियों ने भारतीय राजनीति को वास्तविकता के धरातल पर लाने की कोशिश की। वैसे तो १९०५ से १९०८ तक के बीच उग्रवादी आंदोलन अनेक क्षेत्रों में सक्रिय हुआ लेकिन कुछ प्रान्तों में यह अधिक कारगर साबित हुआ। यहाँ कुछ प्रान्तों में उग्रवादी आन्दोलन की प्रगति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

बंगाल में स्वदेशी और बहिष्कार को सबसे पहले अपनाया गया। स्वेदशी का विचार मूलतः आर्थिक था। कई दशकों से अनेक राष्ट्रवादियों ने स्वदेशी योजना के पक्ष में जो आवाज उठाई थी उसी को उग्रवादियों ने अपनाया। उन्होंने देश में बनी वस्तुओं के उपयोग पर जोर देते हुए कहा कि हर कीमत पर और हर प्रकार की असुविधा को सहते हुए विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाये। मूल विचार था साम्राज्यवादी शासन की जड़ों पर कुठाराघात करना। स्वदेशी के समर्थकों ने अपने भाषणों में यह भी बताया कि भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया की कौन-सी दिशा हो। अरविन्द घोष और विपिनचन्द्र पाल ने स्वदेशी कार्यक्रम को बंगाल में लोकप्रिय बनाने के लिए अनेक भाषण दिये और सभाएँ कीं। स्वदेशी भावना से प्रेरित होकर सूती और सिल्क वस्त्रों तथा इसी तरह के औद्योगिक केन्द्रों को खोला गया। अगस्त १९०६ में बंग लक्ष्मी काटन मिल और कलकत्ता पोटरी वर्क्स में उत्पादन शुरू हुआ। स्वदेशी भावना को प्रचारित करने के लिए बंगाल में बड़ी संख्या में संघों, समितियों और स्वेच्छिक संगठनों को बनाया गया। इनकी शाखाएँ अनेक शहरों और जिलों तक फैली। जनजागरण के इन उपायों से राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रभावी बनाने के नये रास्ते मिले। इस प्रान्त में बहिष्कार पर भी लगातार जोर दिया गया। सभी आयातित विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार संभव नहीं था। अतः ब्रिटेन से आ रहे माल की खरीद को धीरे-धीरे कम करने की अपील की गयी। सरकार के आँकड़ों से यह प्रमाणित होता है कि कई वर्षों तक आयात घटा। कलकत्ता बन्दरगाह से प्राप्त १९०६ के आँकड़ों के अनुसार कपड़ों के आयात में बाईस प्रतिशत, धागों में चौवालीस प्रतिशत, सिगरेटों में पचपन प्रतिशत और जूतों में अड़सठ प्रतिशत की गिरावट आयी। चाहे यह गिरावट कुछ वर्षों तक ही रही फिर भी इससे बहिष्कार के प्रभाव का अनुमान हो जाता है। विद्यार्थियों और शिक्षित वर्गों ने उग्रवादी आंदोलन को बंगाल में गतिशील बनाया। इसी अवधि में सरकार के प्रभाव से मुक्त होकर बड़ी संख्या में राष्ट्रीय विद्यालय और सरकार द्वारा स्वीकृत विद्यालयों के समानान्तर विद्यालय खोले गये। अनेक उद्योगों में हड़तालें आयोजित करके उग्रवादी संघर्ष के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गयी।

उग्रवादी आंदोलन की तेजी अन्य प्रान्तों में भी दिखायी दी। पंजाब के चेनाब क्षेत्र में पनपे असंतोष के समय उग्रवादी नेताओं ने किसानों को संगठित करने के प्रयास किये। १६०६ में सरकार ने यहाँ की नहर से पानी लेने के कर की दर को पचीस प्रतिशत अथवा इससे अधिक बढ़ा दिया। चेनाब इलाके के प्रभावशाली किसानों ने सरकार के इस निर्णय को अनुचित मानकर पानी की दर के बढ़ाये जाने का विरोध किया। इस स्थिति में प्रमुख उग्रवादियों ने किसानों का हौसला बढ़ाते हुए उन्हें बढ़े हुए कर की अदायगी रोकने की सलाह दी। लाजपतराय और अजीत सिंह ने इस इलाके में जाकर किसानों की सभाओं में भाषण दिये। स्थिति को बिगड़ते हुए देखकर सरकार ने लाजपतराय को बन्दी बनाकर देश से बाहर कर दिया। सरकार के दमन के सामने किसानों का संघर्ष तो दबा दिया गया लेकिन पंजाब के इन नेताओं का प्रभाव बना रहा।

महाराष्ट्र में उग्रवादियों को व्यापक सफलता मिली। उग्रवादियों ने सक्रिय ढंग से कार्य करके संघर्ष को प्रेरित किया। तिलक, जी.एस. खापर्डे और बी.एस. मुन्जे ने पूना के अलावा बम्बई को भी आन्दोलन की कार्यवाही का केन्द्र बनाया। बम्बई में स्वदेशी वस्त्र प्रचारिणी सभा का गठन किया गया। इसी प्रकार के संगठनों को अन्य शहरों में स्थापित करके स्वदेशी का प्रचार किया गया। अक्टूबर १६०५ में पूना में विदेशी वस्तुओं की होली जलाकर बहिष्कार के पक्ष में वातावरण तैयार किया गया। विदेशी वस्तुओं की खरीद रोकने का जनता से आग्रह किया गया। मद्यनिषेध कार्यक्रम को उग्रवादियों ने अपने कार्यक्रम का अंग बनाया।

महाराष्ट्र में उग्रवादियों ने जन-आंदोलन को जिस पैमाने पर प्रेरित किया और विभिन्न सामाजिक वर्गों को जिस तरीके से इसमें शामिल किया उसके विवरण से इनकी सफलता का आभास हो जाता है। इस समय तक श्रमिकों को राष्ट्रीय संघर्ष से अलग ही रखा गया था। तिलक ने इस लकीर से हटकर बम्बई के श्रमिकों को संगठित करने का सराहनीय कार्य किया। उन्होंने श्रमिकों के बीच जाकर भाषण दिये, उनकी समस्याओं को समझा और उन्हें संगठित किया। इसी के फलस्वरूप बम्बई के श्रमिक संघर्ष में पहली बार छह दिनों की ऐतिहासिक हड़ताल जुलाई १६०८ में हुई। बम्बई उच्च न्यायालय ने जब तिलक को छह वर्षों का कारावास का दण्ड सुनाया तो इसके विरोध में बम्बई की ८५ मिलों में से ७६ मिलों में काम-काज ठप्प रहा। इस महानगर की सड़कें वीरान पड़ी रहीं और प्रमुख बाजार बन्द रहे। तिलक की लोकप्रियता को देखकर सरकार भी चकित रह गयी।

इन तीन प्रान्तों में उग्रवादी आंदोलन अधिक प्रभावकारी रहा। फिर भी इसका यह अर्थ कदापि नहीं लगाया जा सकता कि आंदोलन इन्हीं प्रान्तों तक सीमित रहा। वास्तविकता यही है कि मद्रास के अनेक इलाकों, यू.पी. के नगरों, मध्य प्रान्त और गुजरात में उग्रवादी कार्यक्रमों को निष्ठा के साथ अपनाया गया।

१६०५ के बनारस के इक्कीसवें कांग्रेस अधिवेशन में पहली बार उग्रवादियों का प्रभाव दिखाई दिया। जब विषय समिति ने ब्रिटिश राजकुमार के भारत आगमन के स्वागत का

प्रस्ताव पास करना चाहा तो लाजपतराय ने इसका विरोध किया। इसके बावजूद समिति में तो यह प्रस्ताव स्वीकृत हो गया लेकिन उग्रवादी नेतओं ने खुले अधिवेशन में इस प्रस्ताव का विरोध करने का इरादा व्यक्त किया। कांग्रेस अधिवेशनों में ज्यादातर निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते थे। इसके कारण और ब्रिटिश राजकुमार की प्रतिष्ठा को देखते हुए किसी भी विवाद से कठिन स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। अतः कांग्रेस अध्यक्ष ने निजी तौर से उग्रवादियों से व्यक्तिगत अपील की। लाजपतराय और तिलक से एक तरह का समझौता किया गया जिसके अुनसार वे उस समय अधिवेशन में गैरहाजिर रहें जब खुले अधिवेशन में इस पर चर्चा हुई। लाजपतराय ने अपनी जीवनी में लिखा है कि लम्बी वार्ताओं के वाद ही उग्रवादी राजी हुए। उनकी यह शर्त मान ली गयी कि अधिवेशन की रिपोर्ट में यह नहीं लिखा जायेगा कि यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया।

आगामी कांग्रेस अधिवेशन १६०६ में कलकत्ता में आयोजित होने से उग्रवादियों को कांग्रेस में प्रभाव बढ़ाने का मौका मिला। बंगाल में उग्रवाद के प्रति व्यापक जन-समर्थन था। इस सहयोग के वलबूते पर उग्रवादी नेताओं ने कांग्रेस पर अपनी पकड़ और भी मजबूत करने का निश्चय किया। नरमपंथी नेताओं के पक्ष के कमजोर होने का भी उग्रवादियों ने लाभ उठाया। भारत सचिव मार्ले ने यह घोषणा करके नरमपंथियों की आशाओं पर पानी फेर दिया था कि बंगाल का विभाजन 'हमेशा के लिए एक सच्चाई' था और इसे वनाये रखा जायेगा। इससे नरमपंथी राजनीतिज्ञों की शक्ति घटी। इस स्थिति का लाभ उठाकर उग्रवादी नेताओं ने निजी यात्राएँ करके आगामी अधिवेशन के दौरान अपनायी जाने वाली नीति पर काफी सोच विचार किया। जोर आजमाने का पहला दौर अध्यक्षता करने के सवाल को लेकर उठा। उग्रवादियों की ओर से लाला लाजपतराय को अध्यक्ष बनाने की कोशिशें की जाने लगीं। ऐसा न होने देने के लिये नरमपंथियों ने नयी चाल चली। उन्होंने दादाभाई नौरोजी का नाम प्रस्तावित कर दिया। आयु और प्रतिष्ठा में इतने वरिष्ठ व्यक्ति को कांग्रेस में इतना अधिक सम्मान मिला हुआ था कि उनके नाम के आगे फिर किसी दूसरे व्यक्ति की चर्चा नहीं हुई। यहाँ यह उल्लेख कर देना जरूरी है कि उग्रवादी अपने प्रभाव की सीमाओं को जानते थे। उनकी नीति हमेशा यही रही कि जहाँ तक हो संगठन के वरिष्ठ नेताओं को चुनौती न दी जाये। कलकत्ता अधिवेशन के पहले दादाभाई को पत्र लिखकर तिलक ने सफाई पेश करते हुए जो पत्र लिखा था उससे उनकी इसी नीति का अनुमान होता है।

कलकत्ता अधिनेशन में हवा का रुख उग्रवादियों के पक्ष में था। उन्हें इससे प्रसन्नता हुई कि कांग्रेस के इतिहास में पहली बार अध्यक्षीय भाषण देते हुए दादाभाई नौरोजी ने स्वराज की प्राप्ति को इसे राष्ट्रीय संगठन का लक्ष्य बताया। यह उग्रवादियों की पहली जीत थी। कांग्रेस अधिवेशन ने उनके लक्ष्य को अपनाकर उग्रवादियों की प्रमुख माँग को स्वीकारा। इसी अधिवेशन में स्वदेशी, नीति सम्बन्धी प्रस्ताव के द्वारा भारतीय उद्योगों को सफल बनाने और स्वदेशी उत्पादनों की खरीदारी करने की सलाह देशवासियों को दी गयी। वहिष्कार कार्यक्रम को लेकर अधिवेशन में मतभेद थे। नरमपंथियों को यह नीति कभी भी पसन्द नहीं आयी। उन्हें डर था कि इससे सरकार से टक्कर हो सकती थी। उनके प्रभाव के कारण

बहिष्कार के प्रस्ताव में केवल यह कहा गया कि विभाजन के विरोध में बंगाल में चलाया गया यह आंदोलन तर्कसंगत था। देश के अन्य प्रांतों में बहिष्कार कार्यक्रम के विस्तार पर यह प्रस्ताव मौन था। राष्ट्रीय शिक्षा के बारे में स्वीकृत प्रस्ताव में इस ओर प्रयास करने का आग्रह किया गया।

१६०७ का वर्ष निर्णायक सावित हुआ। उग्रवादियों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए यह मालूम था कि वे आगामी अधिवेशन में कांग्रेस पर अपनी पकड़ मजबूत करने की कोशिश करेंगे। इससे मतभेद की स्थिति उत्पन्न होने की आशंका थी। लेकिन विचारणीय विषय यह है कि अधिवेशन में हो सकने वाली रस्साकशी को रोकने के प्रयास क्यों नहीं किये गये? इसमें दोनों पक्षों के नेताओं की जिम्मेदारी थी। १६०७ के सूरत अधिवेशन के पहले उन्होंने मतभेद मिटाने के उद्‌देश्य से कोई वैठक नहीं की। उग्रवादियों और नरमपंथियों के बीच की दरार को पाटने के कोई उपाय नहीं किये गये। १६०७ के सूरत अधिवेशन का समय ज्यों-ज्यों नजदीक आता गया सन्देह के वादल घिरते गये। इसके दो उदाहरण दिये जा सकते हैं। पहला यह कि १६०७ के अधिवेशन के स्थान को नागपुर से वदलकर सूरत कर दिया गया। इसका अर्थ उग्रवादियों ने यह लगाया कि एक ऐसे स्थान को अधिवेशन के लिए चुना गया था जहाँ नरमपंथी नेताओं का प्रभाव था। मध्यप्रान्त के बजाय वम्वई प्रान्त में अधिवेशन का निर्णय करके तिलक को अध्यक्ष की दौड़ से वाहर कर दिया गया। कांग्रेस की परंपरा थी कि जिस प्रान्त में अधिवेशन होता था उस प्रान्त का व्यक्ति अध्यक्ष नहीं वनाया जाता था। सन्देह का वातावरण वनने का दूसरा कारण यह था कि कलकत्ता कांग्रेस में स्वीकार किये गये चार प्रस्तावों को प्रभावहीन वनाने की नरमपंथियों की इच्छा का समाचार सूरत अधिवेशन होने के कुछ दिनों पहले तेजी से फैला। इससे उग्रवादी नेता और उनके समर्थक तिलमिला गये क्योंकि पहले के स्वीकृत चार प्रस्तावों से कांग्रेस के पीछे हटने को वे सहन करने को तैयार नहीं थे। सूरत में पहुँचकर उग्रवादी नेताओं ने अपने वक्तव्यों में ऐसे किसी भी प्रयास की निन्दा की। कांग्रेस के प्रभावशाली नेताओं ने मतभेद घटाकर बीच का रास्ता नहीं निकाला। केवल उग्रवादियों की चुनौती का मुकावला करने पर सूरत अधिवेशन में जोर दिया गया।

२६ दिसम्वर १६०७ को कांग्रेस अधिवेशन की शुरुआत उत्तेजना के माहौल में हुई। रास बिहारी घोष का नाम अध्यक्षता के लिए प्रस्तावित होते ही समूचे पण्डाल में जोरदार विरोध की आवाजें आने लगीं। इसी बीच सुरेन्द्रनाथ वनर्जी प्रस्ताव का अनुमोदन करने को उठे। लेकिन शोर इतना अधिक होने लगा और अव्यवस्था इतनी अधिक वढ़ गयी कि अध्यक्ष के चुनाव की औपचारिकता पूरी किये बिना ही पहले दिन के अधिवेशन की कार्यवाही को वहीं रोक दिया गया। अधिवेशन के दूसरे दिन केवल सुरेन्द्रनाथ वनर्जी को अनुमोदन के दो शब्द कहने का अवसर मिला। इसके बाद रास बिहारी घोष ने अध्यक्ष की कुर्सी सँभाली। वे अपना अध्यक्षीय भाषण शुरू न कर सके क्योंकि इसी बीच तिलक मंच पर पहुँच गये। उन्होंने अध्यक्ष के चुनाव के तरीके के बारे में अपने विचार प्रकट करने की लिखित अनुमति पहले से माँगी थी। जब उनका नाम पुकारा नहीं गया तो वे खुद ही मंच पर पहुँच

गये। यह एक नाजुक मौका था और तिलक को बोलने का अवसर दिया जा सकता था। लेकिन अध्यक्ष महोदय ने उन्हें कोई भी प्रस्ताव पेश करने की अनुमति नहीं दी। तिलक भी सभा मंच पर खड़े रहे और वापस लौटने को राजी नहीं हुए। इसी स्थिति में अचानक ही किसी ने एक जूता सभामंच की ओर फेंका जो मंच पर बैठे हुए नेताओं को छूता हुआ निकल गया। इस अशोभनीय घटना के होते ही समूचे पण्डाल में रोष फैल गया, लाठियाँ चलने लगीं, मारपीट होने लगी और पुलिस के हस्तक्षेप से शान्ति स्थापित की जा सकी। कांग्रेस के इतिहास में यह सबसे दुःखद घटना थी। अव्यवस्था के फैलते ही अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। यहीं अधिवेशन की कार्यवाही समाप्त हो गयी।

सूरत अधिवेशन के दूसरे दिन की इस घटना का लाभ उठाकर नरमपंथियों ने उग्रवादियों के लिए कांग्रेस के द्वार बन्द कर देने के कदम उठाये। अधिवेशन में दो तिहाई बहुमत होने से नरमपंथियों की स्थिति मजबूत थी। उन्होंने अधिवेशन में आये अपने समर्थकों की अलग बैठक बुलाकर एक विशेष समिति गठित की। बाद में हुई इसकी बैठक में कांग्रेस का एक संविधान बनाया गया। इसके द्वारा सांवैधानिक उपायों से स्वशासन का अधिकार प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। प्रत्येक सदस्य को इसे लिखित रूप से स्वीकारना अनिवार्य बना दिया गया। सदस्यता के नियमों को घोषित करते हुए अलग से नियम बनाये गये। इस समूची कार्यवाही का एकमात्र उद्‌देश्य था उग्रवादियों को कांग्रेस से बाहर करना। कांग्रेस में उनके बने रहने की ऐसी शर्तें रखी गयी थीं जिन्हें स्वीकार करने को न तो वे तैयार हुए और न वे तैयार हो ही सकते थे। परिणाम यह हुआ कि उग्रवादी आगामी नौ वर्षों तक कांग्रेस से अलग रहे।

इस विवरण से यही नतीजा निकलता है कि सूरत विभाजन एक खास तरह का विभाजन था। बहुमत के बलबूते पर नरमपंथियों ने कांग्रेस के दरवाजे उग्रवादियों के लिए बन्द करके उन्हें बाहर कर दिया। सूरत अधिवेशन के समय से उग्रवादियों ने कई बार समझौते का हाथ बढ़ाया। लेकिन इसे उनकी कमजोरी माना गया। इसे विभाजन कहने में संकोच होता है क्योंकि आगामी वर्षों में कभी भी उग्रवादियों ने अपना अलग दल संगठित नहीं किया। अनेक कष्टों को सहते हुए वे कांग्रेस में सम्मानपूर्वक वापसी की प्रतीक्षा १९१६ तक करते रहे।

उग्रवादियों का नेतृत्व

आरम्भिक कांग्रेस की नरमपंथी राजनीति के विकल्प के रूप में उभरी उग्रवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाले दो प्रमुख राष्ट्रवादी नेताओं के योगदान की चर्चा प्रस्तुत है। तिलक और लाजपतराय ने उग्रवादी राजनीति को परिभाषित किया। उन्होंने बदलती हुई राजनीति को नये तेवर दिये ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चुनौती दी और अनेक नये सामाजिक वर्गों को उत्साहित किया।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

बालगंगाधर तिलक ने राष्ट्रीय संघर्ष को नयी दिशा प्रदान की। उनके विचारों और

कार्यों से तथा लक्ष्य निर्धारित करने के उनके साहसपूर्ण नेतृत्व से भारतीय राष्ट्रीय संघर्ष उग्र से उग्रतर हुआ। हालाँकि उन्होंने इस शब्दावली को न तो कभी स्वीकारा और न पसन्द किया फिर भी उन्हें 'उग्रवादी' नेता माना जाता है और इसी उग्रवादी विचारधारा के प्रवर्तक के रूप में वे जाने जाते हैं। तिलक के सोचने और विचारने का तरीका उनकी भाषा और कार्यशैली निराली थी, समकालीन नेताओं से भिन्न थी। शायद इसी कारण उन्हें उग्रवादी कह दिया गया और एक बार जो यह विशेषण प्रचलित हो गया तो फिर उसे कभी भी बदला नहीं जा सका। बेहतर यह होगा कि यह स्मरण रखा जाये कि इस राष्ट्रसेवी ने निडर होकर ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता को खुली चुनौती दी। उनकी लोकप्रियता का यही प्रमुख कारण था।

महाराष्ट्र के रत्नागिरि स्थान में २३ जुलाई १८५६ को तिलक का जन्म एक परंपरागत मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा पूना में पूरी हुई। महाराष्ट्र का यह अत्यन्त प्रसिद्ध नगर शिक्षा और संस्कृति के अलावा राजनीतिक जागृति का केन्द्र था। ऐसी स्थिति में युवा होते ही तिलक के विचार समकालीन वातावरण से प्रभावित होने लगे। उन्होंने डेकेन कालेज पूना से १८७७ में बी.ए. पास किया और इसके बाद दो वर्षों तक कानून की स्नातक डिग्री प्राप्त की।

तिलक के सार्वजनिक जीवन का मूल्याँकन करते समय यह उचित ही होगा कि उनके कार्यकाल को तीन वर्गों में बाँटा जाये। उनके जीवन के आरंभिक काल को १८५६ से १८८१ तक माना जा सकता है। उनके जीवनकाल का दूसरा पक्ष १८८१ से १६१४ तक था। यह उनके राजनीतिक जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल था जब वे उग्रवादी नेता के रूप में चमके और जाने गये। उनके जीवन का तीसरा पक्ष १६१४ से १६२० तक का था। इस अवधि में वे होमरूल नेता के रूप में जाने गये, कांग्रेस में उनका पुनः प्रवेश हुआ और उन्होंने बदलती हुई राजनीति को प्रभावित किया।

तिलक के जीवन का पहला दौर शिक्षा और पत्रकारिता के क्षेत्र में सफलता से आरम्भ हुआ। इससे उनका उत्साह बढ़ा और राजनीति में आगे बढ़ने का आधार मजबूत हुआ।

तिलक और इनके सहपाठियों ने मिलकर १८८० में पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की। इस विद्यालय में नये तरीकों से शिक्षा देने की कोशिश की गयी और सरकार के हस्तक्षेप से मुक्त रहने के उद्देश्य से इसके संचालन में सरकार से मदद नहीं ली गयी। कुछ वर्षों में ही यह विद्यालय लोकप्रिय हो गया और इसमें शिक्षा पाने वालों की संख्या भी बहुत अधिक बढ़ गयी। एक वर्ष बाद १८८१ में युवा तिलक ने पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया। अंग्रेजी में 'मराठा' और मराठी भाषा में 'केसरी' नामक दो पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ किया गया। इन पत्रिकाओं को आश्चर्यजनक सफलता मिली और लम्बे समय तक इनका प्रकाशन जारी रहा। इन्हीं पत्रिकाओं के माध्यम से तिलक ने अपनी ओजस्वी और प्रखर लेखनी से राजनीतिक जागृति की दीपशिखा जलाई और जन-जन के हृदयों को आलोकित किया।

१८८६ में तिलक ने कांग्रेस में प्रवेश किया। इससे यह प्रकट होता है कि शिक्षा और पत्रकारिता के क्षेत्र में यश कमाने के बाद वे इस राष्ट्रीय संस्था में शामिल हुए। उन्होंने पहले नगरीय और प्रान्तीय राजनीति में पैर जमाए और इसके पश्चात् क्रमिक गति से राष्ट्रीय मंच की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने क्षेत्रीय राजनीति में आरंभिक वर्षों में अधिक रुचि ली। उनका यह दृष्टिकोण स्वाभाविक ही था क्योंकि पूना और महाराष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में स्थान बना लेने पर ही राष्ट्रीय स्तर पर नेतृत्व करना उचित था।

महाराष्ट्र की राजनीति में बढ़ता हुआ प्रभाव

१८६१ से १६१४ के बीच की अवधि के तिलक के राजनीतिक जीवन की ओर इतिहासकारों का ध्यान विशेष रूप से गया है। इस अवधि में उन्होंने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विषयों को एक दूसरे से जोड़ा। यह राजनीतिक कार्यकलाप का नया नजरिया था और इसी से उनकी उग्रवादी राजनीति को भावनात्मक आधार मिला।

कांग्रेस की स्थापना के समय से ही यह विवाद चल रहा था कि सामाजिक सुधार और राजनीतिक जागृति के बीच समन्वय किस तरह स्थापित हो। यह भी चर्चा हो रही थी कि क्या राजनीति के साथ-साथ सामाजिक विषयों को महत्त्व देना उचित होगा?

१८६१ में केन्द्रीय सरकार द्वारा एक सामाजिक सुधार अधिनियम के स्वीकृत किये जाने से सामाजिक विषयों के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण विवाद का विषय बन गया। सरकार ने इस विधान के द्वारा प्रत्यक्ष तरीके से लड़कियों के विवाह की आयु को कम-से-कम दस से बारह वर्ष करने का प्रावधान किया था। रानाडे और गोखले सहित अनेक उदारवादी नेताओं ने सरकार द्वारा उठाये गये कदम का स्वागत किया। लेकिन तिलक ने इस सामाजिक विधान का विरोध किया। उनका मुख्य तर्क यह था कि हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में सरकार को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। उन्होंने विदेशी सरकार द्वारा ऐसे किसी भी उपाय को हिन्दुओं के रीति रिवाजों में हस्तक्षेप कहा। इस प्रकार १८६१ के इस सामाजिक विधान को लेकर महाराष्ट्र में दो वर्गों का उदय हुआ। यहीं से तिलक ने उदारवादियों की नीतियों से अलग विचारधारा प्रस्तुत की। सरकार के प्रभाव से वे भारतीय समाज को मुक्त कराने की बात कह रहे थे। इसी के साथ उन्होंने परम्परागत समाज को यथावत बनाए रखने के पक्ष में तर्क दिये। जब १८६५ में कांग्रेस अधिवेशन पूना में हुआ तो तिलक ने एक बार फिर उदारवादियों का विरोध करते हुए यह माँग की कि कांग्रेस अधिवेशन के साथ-साथ सम्मेलन न हो। यह सामाजिक सम्मेलन इस बार पूना में नहीं कराया जा सका। तिलक और उदारवादियों के बीच मतभेदों का क्रम यहीं से शुरू हुआ।

१८६३ और १८६५ में तिलक ने महाराष्ट्र में गणेश उत्सव और शिवाजी उत्सव प्रतिवर्ष व्यापक पैमाने पर मनाने का सिलसिला आरम्भ किया। कुछ वर्षों में ही ये उत्सव अत्यन्त लोकप्रिय हो गये। इन उत्सवों के द्वारा तिलक ने दो उद्देश्यों की पूर्ति की। पहला कार्य उन्होंने यह किया कि धार्मिक और राष्ट्रीय उत्सवों के समय के भाषणों द्वारा भारतीय संस्कृति और परंपरा के प्रति उत्साह जगाया। पश्चिमी सभ्यता के प्रति बढ़ते हुए अनुराग

के स्थान पर भारतीय परंपरा के प्रति स्नेह उत्पन्न करके उन्होंने राष्ट्रीय विचारधारा को एक नया स्वरूप प्रदान किया। दूसरा उद्देश्य उनका यह पूरा हुआ कि इससे जनजागरण हुआ। तिलक का प्रभाव जनता पर वढ़ता गया। वड़ी चतुराई से तिलक ने जनसंपर्क वढ़ाने का कार्य इन उत्सवों के द्वारा पूरा किया।

१८६७ में तिलक पुनः चर्चा के केन्द्र वने। इस वर्ष अकाल और प्लेग से लाखों लोगों की मृत्यु हुई थी। अचानक जून १८६७ में पूना में प्लेग कमिश्नर रैन्ड और उसके सहयोगी अधिकारी की हत्या कर दी गयी। इस हत्या के अपराध में चापेकर वन्धुओं को वन्दी वना लिया गया और वाद में उन्हें फाँसी दे दी गयी। 'केसरी' समाचार पत्र में तिलक ने रेन्ड की हत्या पर टिप्पणी की। उन्होंने हत्या करने की नीति की भर्त्सना की। लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने ब्रिटिश नौकरशाही की नीतियों की आलोचना करते हुए कहा कि इसकी गलत नीतियों के फलस्वरूप ही ऐसी घटना हुई। उनका इरादा इस हत्या के कारणों पर प्रकाश डालने का था। लेकिन सरकार को तिलक के विचारों पर आपत्ति हुई और समाचार पत्रिका में उनके लेख के कारण उन्हें वन्दी वना लिया गया और डेढ़ साल के कारावास की सजा दी गयी। समाचार पत्र का तथा तिलक का मुँह वन्द करने के इरादे से उन्हें यह यातना दी गयी थी। सजा पाते ही तिलक अचानक राष्ट्र नेता बन गये, उनके प्रति सम्पूर्ण देश में सहानुभूति उमड़ पड़ी और सभी प्रकार के विचार रखने वालों ने एक स्वर से सरकार की कार्यवाही की निन्दा की।

उग्रवादी राजनीति में भूमिका

१६०५ से १६०७ के वीच के वर्ष तिलक के राजनीतिक जीवन के निर्णायक वर्ष सावित हुए। वंगाल विभाजन से सूरत की फूट तक की अवधि में उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन्हीं वर्षों में उनका कार्य करने का क्षेत्र महाराष्ट्र के साथ-साथ सम्पूर्ण देश बन गया। १६०५ से वे राष्ट्रीय स्तर पर सक्रिय हुए।

१६०५ में बंगाल विभाजन से समूचे देश में राजनीतिक उत्तेजना फैली। तिलक ने ब्रिटिश प्रशासकों के इस गलत निर्णय से उपजी प्रतिक्रिया से लाभ उठाने का निश्चय किया। बंगाल विभाजन से उन्हें वह अवसर मिल गया जिसका वे इन्तजार कर रहे थे। कर्जन द्वारा किये गये इस निर्णय के विरोध में समूचे वंगाल में रोष फैला, ब्रिटिश विरोधी भावना तीव्र हुई और नयी नीतियों के पक्ष में वातावरण वना। ऐसी स्थिति में तिलक ने बंगाल के उदीयमान नेताओं से सम्पर्क करके उन्हें विरोध का वातावरण बनाये रखने को उत्साहित किया। बंगाल में नयी राजनीतिक हवा चलने लगी और इसी कारण स्वदेशी और वहिष्कार के कार्यक्रमों द्वारा ब्रिटिश प्रशासकों पर दवाव डालने की नीति अरविन्द घोष और विपिनचन्द्र पाल ने अपनायी। तिलक ने वंगाल विभाजन का सक्रिय विरोध करने वाले नवोदित युवा नेताओं से मिलकर यह चाहा कि वदले हुए राजनीतिक वातावरण में कांग्रेस भी नये रास्ते पर चले। इस प्रकार महाराष्ट्र, वंगाल और पंजाब के ऐसे नेताओं में सम्पर्क हुआ जो कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों में परिवर्तन लाना चाहते थे। इन नेताओं को

उग्रवादी कहा जाने लगा और बीस वर्षों के बाद कांग्रेस को नयी दिशा की ओर मोड़ने के विचार को उग्रवादी राजनीति कहा गया। तिलक ने १६०५ से उग्रवादी विचारधारा को आगे बढ़ाने का कार्य किया।

एक ओर तिलक १६०५ में बंगाल विभाजन से उत्पन्न राजनीतिक वातावरण के अनुसार कार्य कर रहे थे तो दूसरी ओर उन्होंने कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेताओं को चुनौती दी। इसी वर्ष बनारस अधिवेशन में उग्रवाद पनपता हुआ दिखायी दिया। ब्रिटेन के राजकुमार के भारत आगमन के स्वागत के प्रस्ताव का तिलक और लाजपत राय ने विरोध किया। कांग्रेस अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकृत तभी हो सका जब कांग्रेस अध्यक्ष की इच्छा का आदर करते हुए ये दोनों नेता सभास्थल से अलग रहे। विरोध प्रकट कर देने के उपरांत तिलक ने मतभेद को बहुत आगे नहीं बढ़ाया था। फिर भी कांग्रेस में उभरता हुआ मतभेद सामने अवश्य आ गया था। इसी अधिवेशन में बहिष्कार की नीति के बारे में भी बनारस अधिवेशन में मतभेद दिखायी दिये।

१६०६ में कांग्रेस का अधिवेशन कलकत्ता में होना था। इससे उग्रवादियों को अच्छा अवसर मिला क्योंकि बंगाल में इनका पर्याप्त जोर था। तिलक को कांग्रेस की अध्यक्षता करने का मौका दिया जा सकता था। इससे उदारवादियों को भय हुआ। वे तिलक को अध्यक्ष बनाने के विरोधी थे। अतः उन्होंने एक राजनीतिक चाल चली। तिलक को अवसर न देने के उद्देश्य से उन्होंने अत्यन्त वरिष्ठ नेता दादा भाई नौरोजी का नाम अध्यक्षता हेतु प्रस्तावित किया। नौरोजी के आगे किसी दूसरे का नाम नहीं रखा जा सका। भले तिलक को अध्यक्ष बनने से रोक दिया गया फिर भी इस कांग्रेस अधिवेशन में उनका व्यापक प्रभाव दिखायी दिया। तिलक और इनके सहयोगियों ने मिलकर चार प्रस्ताव इस अधिवेशन में स्वीकृत कराये। स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का अनुमोदन यहाँ किया गया। इन प्रस्तावों का स्वीकृत होना तिलक और उनके सहयोगियों की एक बड़ी सफलता थी।

जनवरी १६०७ में तिलक ने कलकत्ता में एक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक भाषण देकर उग्रवादी विचारधारा को परिभाषित किया। स्मरणीय है कि तिलक ने 'नये दल' के सिद्धान्तों की चर्चा की। इसी से जाहिर है कि वे कांग्रेस के भीतर उभरते हुए गुट को 'नया दल' कहना चाहते थे लेकिन उनके विरोधियों द्वारा दिया गया नाम अधिक प्रचलित हो गया और वे तथा उनके सहयोगी उग्रवादी कहलाये। उनके भाषण का एक अंश इस प्रकार था :

'यदि आपके पास सक्रिय विरोध करने की शक्ति नहीं है तो क्या आप उस विदेशी सरकार की सहायता करने से इंकार भी नहीं कर सकते जो आपके ऊपर शासन कर रही है। यही बहिष्कार है और जब हम कहते हैं कि यह एक राजनीतिक अस्त्र है तो इसका यही अर्थ है।'

तिलक की वाणी में विरोध का स्वर था, प्रतिरोध का स्वर था और वे ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता का विरोध करने के लिये जन जागरण कर रहे थे। तिलक के उग्रवाद के

मूल में यह भाव था कि ब्रिटिश शासन भारतीयों के हित में नहीं था। उग्रवाद का आधार था अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अविश्वास। तिलक ने यही भाव जगाया कि ब्रिटिश शासन से सहयोग करने के बजाय उसका विरोध करने की जरूरत थी।

उदारवादियों और उग्रवादियों के बीच बढ़ते हुए मतभेद १९०७ के सूरत कांग्रेस अधिवेशन में खुलकर सामने आ गये। उग्रवादियों के प्रभाव को घटाने की दृष्टि से अधिवेशन के स्थान को नवम्बर के प्रथम सप्ताह के बाद नागपुर से बदलकर सूरत कर दिया गया। इससे उग्रवादियों की शंकाएँ बढ़ीं। ये शंकाएँ तब और बढ़ी जब सूरत अधिवेशन के कुछ समय पहले प्रचारित प्रस्तावों से यह जानकारी मिली कि कलकत्ता अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्तावों को बदला जा रहा है। उग्रवादी इस बदलाव से उत्तेजित हुए।

सूरत कांग्रेस अधिवेशन के समय तक कांग्रेस ने पूरी तरह से लिखित संविधान स्वीकृत नहीं किया था। ऐसी स्थिति में कांग्रेस अध्यक्ष का चुनाव परम्पराओं पर आधारित था। इसी कारण अधिवेशन के अध्यक्ष की नियुक्ति की प्रक्रिया को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया। आशंकाओं के वातावरण में यह तकनीकी प्रश्न अचानक महत्त्वपूर्ण बन गया। सूरत कांग्रेस का आरम्भ ही अव्यवस्था से हुआ और पहले दिन का अधिवेशन स्थगित कर दिया गया। दूसरे दिन के अधिवेशन के समय तिलक ने कांग्रेस अध्यक्ष की नियुक्ति के बारे में एक संशोधन पेश करने की लिखित अनुमति माँगी थी। लेकिन जब उन्हें यह प्रस्ताव पेश करने का अवसर नहीं दिया गया तो वे स्वयं मंच पर आ गये और उन्होंने अपने प्रस्ताव को पेश करने की कोशिश की। इसी समय सभास्थल में हंगामा हो गया और अधिवेशन को स्थगित करना पड़ा।

उपलब्ध तथ्यों से यह प्रमाणित है कि तिलक ने हंगामा करने में कोई भूमिका अदा नहीं की और उन्होंने कभी भी अपने अनुयायियों को उकसाया भी नहीं। उन्हें कोई अनुमान नहीं था कि अधिवेशन में उपस्थित कुछ लोग अव्यवस्था फैलाने पर तुले थे। अतः तिलक को सूरत की फूट के लिए दोषी नहीं माना जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि तिलक ने सूरत अधिवेशन के दूसरे दिन की घटनाओं के बाद भी कांग्रेस में एकता कायम करने की भरसक कोशिश की। यह भी कहा जा सकता है कि यदि अधिवेशन के आयोजक सूझबूझ से काम करते तो सूरत अधिवेशन की अशोभनीय घटनाओं और इसके उपरान्त के मतभेद रोके जा सकते थे। तिलक को यदि बोलने का अवसर दे दिया जाता तो कुछ भी असंगत नहीं होता। उदारवादी बहुमत में थे। ऐसी स्थिति में यदि वे उग्रवादियों के प्रति उदारता का भाव प्रदर्शित करते तो सूरत की फूट रोकी जा सकती थी। इसके अलावा बहुमत के आवेश में उन्होंने अधिवेशन के समय दोनों दलों के बीच समझौता कराने के तिलक के प्रस्ताव को भी ठुकरा दिया। तिलक ने दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने की कोशिश करके जिस उदारता का परिचय दिया था उसे उनकी कमजोरी माना गया।

यह भी स्मरणीय है कि सूरत की फूट को तिलक ने बढ़ने नहीं दिया। उग्रवादियों के लिए कांग्रेस के दरवाजे बन्द अवश्य कर दिये गये थे पर तिलक ने प्रतीक्षा करना बेहतर समझा। उन्होंने उग्रवादियों को अलग दल बनाकर संगठित होने का कभी भी परामर्श नहीं दिया।

छह वर्षों का कारावास

तिलक पहले प्रमुख राष्ट्रवादी थे जिन्हें राजनीतिक विचारों के कारण लम्बी जेल यात्रा करनी पड़ी। वे तीन बार जेल गये। पहली बार १८८२ में चार महीने के लिये, दूसरी बार १८९७-९८ में एक वर्ष तक और तीसरी बार १९०८ से १९१४ तक। तिलक ने राष्ट्रसेवा के लिये कष्ट सहने की राजनीति का आरम्भ किया।

सूरत की फूट के उपरान्त सरकार उग्रवादियों का दमन करने पर तुली हुई थी। इसी नीति का अनुसरण करते हुए उसने तिलक के खिलाफ आवश्यकता से अधिक कठोर नीति अपनायी।

१९०८ में मुजफ्फरनगर बम कांड में दो महिलाओं की मृत्यु हो गयी। शीघ्र ही खुदीराम बोस और उसके सहयोगी को पकड़ लिया गया। भारत में उभरते आतंकवाद की यह पहली बड़ी घटना थी जिस पर तिलक ने 'केसरी' समाचार पत्र में दो टिप्पणियाँ लिखीं। तिलक ने आतंकवादी तरीकों की भर्त्सना की। लेकिन इसके साथ-साथ उन्होंने सरकार को सावधान भी किया कि यदि भारतीयों की निराशा को दूर नहीं किया गया और उन्हें स्वराज का अधिकार नहीं दिया गया तो भविष्य में ऐसी घटनाएँ फिर हो सकती हैं। उन्होंने 'निरंकुश और शक्तिशाली गोरी नौकरशाही द्वारा सत्ता के मनमाने ढंग से उपयोग से उत्पन्न निराशा' को आतंकवाद का मूल कारण बताया। भारत सरकार तो ऐसे अवसर की तलाश में ही थी। उसने केसरी में प्रकाशित लेखों को 'भड़काने वाले' लेख कहकर तिलक को बन्दी बना लिया। उन पर मुकदमा चलाया गया। मुकदमा पूना के बजाय बम्बई में चलाया गया। एक प्रकार से न्याय का ढोंग करके तिलक को कठोर से कठोर सजा देकर उनका मुँह बन्द करने का निर्णय पहले ही कर लिया गया था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन ज्यूरियों ने तिलक को दोषी करार दिया था उनमें से सात यूरोपीय थे और दो पारसी थे। इनमें से एक भी ज्यूरी हिन्दू नहीं था। अतः यह आशंका चारों ओर प्रकट की गयी कि सरकार ने जानबूझ कर ऐसे लोगों को ज्यूरी नियुक्त किया है जो तिलक के प्रति पूर्वाग्रह की भावना से ग्रसित हों। बम्बई की उच्च न्यायालय में तिलक ने अपने मुकदमें की पैरवी स्वयं की थी। अदालत के सम्मुख उनके अंतिम शब्द ये थे :

'मुझे केवल यह कहना है कि जूरी के इस निर्णय के बावजूद मैं यही समझता हूँ कि मै निरपराध हूँ। मनुष्य के ऊपर भी एक शक्ति है जिसके इशारे पर यह संसार चलता है। लगता है, विधाता की यही इच्छा है कि जिस कार्य को मैं पूरा करना चाहता हूँ वह मेरे स्वतंत्र रहने की अपेक्षा मेरी पीड़ा से ही पूर्ण हो।'

इन शब्दों में स्वराज संघर्ष के लिये सर्वस्व बलिदान कर देने की उनकी इच्छा और ब्रिटिश राज के प्रति उनकी ललकार स्पष्ट रूप से दिखी। १९०८ से १९१४ तक उन्हें बर्मा की माण्डले जेल में अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में रखा गया। यहीं उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'गीता रहस्य' लिखी।

१६१४ के उपरान्त की राजनीति में भूमिका

१६१४ में कारावास से मुक्त होने पर तिलक ने अनुभव किया कि देश का राजनीतिक वातावरण बदल गया है। इस वातावरण में उन्होंने भी अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लिया।

इस समय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सवाल था उग्रवादियों का कांग्रेस में फिर से शामिल होना। १६१६ के लखनऊ कांग्रेस में यह निर्णय किया गया। इस अधिवेशन में उग्रवादियों पर लगी प्रवेश की पाबन्दी उठा ली गयी। फलतः तिलक ने लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया।

शीघ्र ही यह जाहिर हो गया कि भविष्य उग्रवादियों के पक्ष में था और जैसे ही उन्होंने कांग्रेस में प्रवेश किया वे कांग्रेस में छा गये। दो वर्ष बाद उदारवादी कांग्रेस से अलग हो गये। उन्होंने अलग राजनीतिक संगठन भी बनाया। इस तरह से कालचक्र पूरी तरह से घूम गया।

१६१६ से भारत में होमरूल आंदोलन को शुरू करने और इसे सफल बनाने में तिलक और एनी बेसेन्ट ने मिलकर कार्य किया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य था स्वशासन की माँग करना। चूँकि अंग्रेज शासक 'होमरूल' शब्दावली से परिचित थे इसी कारण भारतीयों की स्वशासन की माँग को 'होमरूल' कहकर पुकारा गया। कांग्रेस से स्वतंत्र होकर यह ऐसा संगठन बनाया गया जिसकी शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में खोली गयीं। इन स्वतंत्र संगठनों के माध्यम से जनजागरण किया गया, सभाएँ आयोजित की गयीं, प्रकाशन किये गये और सभी उपलब्ध तरीकों से अपनी आवाज बुलन्द करके होमरूल के समर्थकों ने सरकार से संवैधानिक ढाँचे में फेरबदल करने का आग्रह किया। प्रथम महायुद्ध के दौरान राजनीति की गति पर्याप्त मन्द पड़ गयी थी। तिलक ने होमरूल आंदोलन के द्वारा राजनीतिक गतिशीलता को आगे बढ़ाया।

कुछ इतिहासकारों का कथन है कि अंतिम दौर में तिलक मध्यमार्गी नीति के पक्षधर हो गये। उनका कहना है कि सरकार के प्रति तिलक का दृष्टिकोण पहले की अपेक्षा कुछ नरम पड़ गया है।

१६१६ के संवैधानिक अधिनियम के स्वीकृत होने के समय के तिलक के विचारों को ध्यान में रखकर ही यह मत व्यक्त किया गया है। उन्होंने कांग्रेस से आग्रह किया कि वह संवैधानिक अधिनियम का विरोध न करे। उन्होंने अधिनियम के प्रति 'उत्तरदायी सहयोग' की नीति अपनाने की बात १६१६ के कांग्रेस अधिवेशन में कही। यह उनके बदले हुए दृष्टिकोण का द्योतक था।

३१ जुलाई १६२० की रात्रि को इस महान राष्ट्रसेवी का देहावसान हो गया। उन्होंने जीवन की अंतिम सांस तक देश की सेवा की।

राजनीतिक विचारधारा

तिलक ने भारतीयों में आत्मगौरव की भावना जगाने की कोशिश की। उन्हें भारतीय

सभ्यता की श्रेष्ठता पर गर्व था। उन्होंने इसी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के आधार पर भारतीयों को अपने देश और समाज का आदर करने को कहा। उनका कहना था कि राजनीति का आधार भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप होना आवश्यक है। इसी के साथ-साथ उन्होंने ऐसी राजनीतिक विचारधारा का विरोध किया जो पश्चिमी सभ्यता की श्रेष्ठता को शुरू से मानकर चलती हो। उन्होंने पश्चिम का मुँह ताकने के बजाय भारतीय इतिहास और परम्परा पर आधारित राजनीति के महत्त्व पर जोर दिया।

कांग्रेस की स्थापना के समय से ही उदारवादी राजनीतिज्ञ ब्रिटेन की ओर मुँह ताक रहे थे। तिलक ने इस विचार का विरोध किया। तिलक को न तो ब्रिटिश सरकार से कोई आशा थी और न ही उन्हें यह भरोसा था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी शक्ति के समर्थक अपने आप ही भारतीयों को राजनीतिक अधिकार सौंप देंगे। उन्होंने अनेक बार गोरी नौकरशाही की खुली आलोचना की। कहा जा सकता है कि उन्होंने भारतीयों को वास्तविकता से परिचित कराया।

तिलक की राजनीति का आधार था भारतीयों में अपने बलबूते पर अधिकार प्राप्त करने का भाव जगाना। उनका प्रसिद्ध वाक्य था : 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम इसे लेकर रहेंगे।' यह नये ढंग की शब्दावली थी जिसमें यह विचार साफ-साफ झलक रहा था कि भारतवासियों को स्वयं संघर्ष करके स्वराज प्राप्त करना होगा। इसी से उन्होंने जनशक्ति को जगाया और केवल सरकार की ओर हाथ पसारने के उस समय तक के भाव को नकार दिया।

तिलक ने बड़े साहस से स्वराज के लक्ष्य को भारतीयों के सम्मुख रखा और इस महान लक्ष्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दी। जिस युग में उन्होंने यह कार्य किया उसके लिये यह एक ऐसा लक्ष्य था जिसे सहजता से प्राप्त करना कठिन था। फिर भी उन्होंने इस लोकप्रिय विचार को जन-जन तक पहुँचाने में अथक परिश्रम किया।

तिलक को उग्रवादी विचारधारा का जनक कहा जाता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तिलक को यह विशेषण कभी भी पसन्द नहीं आया। सत्य तो यही है कि आरम्भ से ही उनका स्वर विरोध का स्वर था, प्रतिरोधी का स्वर था। उन्होंने आरम्भिक बीस वर्षों से चलती आ रही कांग्रेस की नीतियों को बदलने की माँग की। इसी से तिलक को 'गरम' और उदारवादियों को 'नरम' कहा जाने लगा। तिलक ने स्वयं कहा है कि 'उग्रवादी' और 'उदारवादी' विचारधारा समय के अनुसार, परिस्थितियों या युग की माँग के अनुरूप थीं। उनके शब्द इस प्रकार थे:

'इन शब्दों का समय से विशेष रिश्ता है और समय के साथ इनका अर्थ बदल जायेगा। आज के उग्रवादी कल नरमपंथी हो जाएँगे जैसा कि आज के उदारवादी कल उग्रवादी थे।'

तिलक के शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि वे इस तथ्य से भली-भाँति परिचित थे कि नये विचारों, कार्यक्रमों और लक्ष्यों के कारण जिन्हें उग्रवादी कहा जा रहा है। उनके विचार भी समय बीतने पर नरम दिखायी पड़ सकते थे।

तिलक ने जनसंघर्ष के नये रास्ते अपनाये। विशेष रूप से उन्होंने साम्राज्यवाद के आर्थिक आधार को समझ लिया था। तिलक जानते थे कि आर्थिक लाभ की दृष्टि से ही भारत में विदेशी सत्ता स्थापित की थी। उन्होंने इस पर चोट करने की दृष्टि से स्वदेशी और वहिष्कार पर जोर दिया। विदेशी माल के प्रयोग का सक्रिय विरोध करके वे अंग्रेजों पर जोर डालना चाहते थे।

लाला लाजपतराय

लाला लाजपतराय उग्रवादी राजनीति के दूसरे स्तंभ थे। उन्होंने पंजाब में राष्ट्रीय जनजागरण करके ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती दी। उन्होंने यूरोपीय देशों के अलावा अमेरिका में भी भारतीय राष्ट्रवाद को प्रसारित किया। अन्य उग्रवादी नेताओं के समान उन्हें भी शुरू से ही यह ज्ञान हो गया था कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अपनी शक्ति बढ़ाना जरूरी है और ब्रिटेन पर निर्भरता से कोई लाभ नहीं होने वाला है।

पंजाब के लुधियाना जिले के जगरांव जिले में २८ जनवरी १८६५ में एक मध्यवर्गीय परिवार में जन्मे इस राष्ट्रवादी ने १८८० में हाईस्कूल परीक्षा पास की। दो वर्ष बाद कानून की परीक्षा पास करके वकील बने। उन्होंने स्वतंत्र व्यवसाय चुना और कुछ वर्षों में ही वकील की हैसियत से धन और यश कमाया। शुरू में वे हिसार में रहे बाद में वे लाहौर पहुँचे और इसी नगर को अपनी वकालत, पत्रकारिता और राजनीति का क्षेत्र बनाया।

पंजाब के सांस्कृतिक और धार्मिक वातावरण से लाजपतराय प्रभावित हुए। युवक के रूप में ही वे आर्य समाज के सदस्य बन गये। आर्य समाज की नीतियों और इसकी विचारधारा से वे प्रभावित हुए। विशेष करके भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति उन्होंने आदर करना सीखा और भारतीय भाषाओं को आगे बढ़ाने का वे प्रयत्न करते रहे।

१८८७ में लाजपतराय कांग्रेस से सम्बद्ध हुए। उन्होंने इसके उपरान्त के कुछ कांग्रेस अधिवेशनों में भाग भी लिया। लेकिन इस समय के कांग्रेस का स्वरूप उन्हें पसन्द नहीं आया। यही कारण है कि कुछ वर्षों के बाद उन्होंने इन अधिवेशनों में भाग लेना बन्द कर दिया। कांग्रेस से उनकी यह दूरी अनेक वर्षों तक चलती रही। वे कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों में परिवर्तन की प्रतीक्षा करते रहे।

१६०५ में कांग्रेस का एक प्रतिनिधि मंडल ब्रिटेन गया। लाजपतराय इसके सदस्य थे। उन्होंने ब्रिटिश राजनीति का निकट से अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रिटेन के निवासी और वहाँ के अखबार वहीं की समस्याओं में लगे हैं। उनको न तो भारत की चिन्ता थी और न वे भारतीयों की समस्याएँ समझने को तैयार थे। लाजपतराय ने यह भी समझा कि ऐसी स्थिति में किसी भी एक राजनीतिक दल की ब्रिटेन में विजय अथवा पराजय से भारत के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला। उन्होंने परामर्श दिया कि भारतीयों को स्वयं अपने बलबूते पर राष्ट्रीय संघर्ष करना चाहिए और ब्रिटेन से किसी प्रकार की आशा न रखना चाहिए। उनका यह मूल्याँकन समय की कसौटी पर खरा उतरा।

उग्रवादी राजनीति में भूमिका

ब्रिटेन से वापस आने पर लाला लाजपतराय को ब्रिटिश साम्राज्यवादी इरादों की पहचान हो चुकी थी। जैसे ही वे स्वदेश लौटे बंगाल विभाजन के विरोध में देश के अनेक क्षेत्रों में तीव्र विरोध व्याप्त था। अतः उन्होंने उग्रवादी नीतियों का समर्थन किया। उन्होंने प्रायः वही विचार रखे जो अन्य उग्रवादी रख रहे थे।

१६०५ के बनारस के कांग्रेस अधिवेशन में ब्रिटेन के राजकुमार के भारतीय दौरे के स्वागत करने का प्रस्ताव औपचारिक रूप से पेश किया गया था। समय-समय पर ब्रिटेन के शाही परिवार के प्रति कांग्रेस आदर व्यक्त करती रही थी। इसी क्रम में यह प्रस्ताव भी पेश किया गया था। लाजपतराय ने विषय समिति में इसका विरोध करके और तिलक ने लाजपतराय का समर्थन करके सनसनी फैला दी। कांग्रेस के इतिहास में पहली बार ब्रिटेन के शाही परिवार के प्रति आदर भाव व्यक्त करने का सवाल विवाद का प्रश्न बनता हुआ दिखायी दिया। विषय समिति में तो यह स्वीकृत हो गया था लेकिन लाजपतराय और तिलक ने चेतावनी दी थी कि वे खुले अधिवेशन में इसका विरोध करेंगे। अन्त में उन्हें समझा-बुझा कर शांत कर दिया गया। फिर भी लाजपतराय ने सबको कांग्रेस की नीतियों पर सोचने विचारने पर मजबूर किया।

इसी अधिवेशन में लाजपतराय ने स्वदेशी और बहिष्कार की नीतियों का समर्थन किया। हालांकि इस समय कोई प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ फिर भी यह तो प्रकट हो गया कि लाजपतराय की इच्छा यही थी कि बहिष्कार को व्यापक पैमाने पर अपनाया जाए। १६०६ में कलकत्ता में कांग्रेस ने उग्रवादी विचारधारा का आदर करते हुए स्वदेशी और बहिष्कार की नीति को माना।

१६०७ में लाजपतराय ने उग्रवादी नीतियों को लोकप्रिय बनाने में प्रभावी भूमिका निभायी। ब्रिटिश सरकार पर अधिकाधिक दबाव डालने की दृष्टि से उन्होंने बहिष्कार को व्यापक बनाने के विचार को प्रोत्साहन दिया।

सूरत कांग्रेस अधिवेशन में लाजपतराय ने कोई बहुत सक्रिय भूमिका नहीं निभायी। अध्यक्ष पद के लिये जब उनका नाम प्रस्तावित होने को था तो उन्होंने इस विवाद से अलग रहना ही उचित समझा। पहले और दूसरे दिन के अधिवेशन की घटनाओं के समय अथवा इसके पश्चात् भी लाजपतराय अधिक सक्रिय नहीं दिखे। यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने उदारवादियों को समझौतापूर्ण रवैया अपनाने की सलाह दी थी।

सूरत विभाजन के उपरान्त का निर्वासित जीवन

१६०७ के आरम्भिक महीनों में पंजाब में ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे लाजपतराय के नेतृत्व का आभास हो जाता है। पंजाब में रावलपिंडी के पास चेनाब नदी के निकट बड़ी संख्या में काश्तकारों को बसाया गया था और उन्हें खेती करने का प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से विशेष रियायतें दी गयी थीं। स्थानीय अधिकारियों ने इस समय इन अधिकारों में बदलाव

करने का प्रस्ताव किया और इस उद्देश्य से एक विधान प्रान्तीय धारा सभा में पेश किया। इससे यहाँ के किसानों में रोष फैला। यह रोष दो कारणों से बढ़ता गया। उनकी उत्तेजना का पहला कारण यह था कि नहर के पानी के कर की दरें सरकार द्वारा बढ़ायी जा रही थीं। किसानों की नाराजगी का दूसरा कारण यह था कि इस क्षेत्र में प्लेग फैला हुआ था। किसानों ने प्लेग के लिये सरकार को उत्तरदायी ठहराया। किसानों और सरकारी अधिकारियों के बीच धीरे-धीरे टकराव बढ़ने लगा। पंजाब के राष्ट्रवादी नेताओं ने किसानों का पक्ष लिया और चेनाब क्षेत्र के किसानों के पहले के अधिकारों को यथावत बनाये रखने की माँग की। लाजपतराय ने किसानों को संगठित किया, जनसभाएँ कीं और उन्हें एकजुट रहने का परामर्श दिया। अजीत सिंह भी उनके साथ थे। कांग्रेस के इन नेताओं के भाषणों से स्थानीय अधिकारियों में भय फैल गया और प्रान्तीय गवर्नर ने शीघ्र ही केन्द्र सरकार से आग्रह किया कि लाजपतराय और उनके सहयोगियों के खिलाफ कठोर कदम उठाया जाये।

केन्द्र सरकार ने शीघ्र ही आदेश जारी करके लाजपतराय और अजीत सिंह को बिना मुकदमा चलाए देश से बाहर भेजने का निर्णय किया। मई १९०७ को लाजपतराय को निर्वासित करके बर्मा भेज दिया गया। लाजपतराय को दी गयी इस सजा को सभी समाचार पत्रों और राष्ट्रनेताओं ने अनुचित बताया। समूचे देश में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। कुछ समय में ही वाइसराय को अपने गलत निर्णय का आभास हो गया। उसे समझ में आ गया कि घबड़ाकर स्थानीय गवर्नर ने किसानों के विरोध तथा लाजपतराय की भूमिका का उचित मूल्याँकन नहीं किया था। परिणामतः नवम्बर १९०७ को लाजपतराय को मुक्त कर दिया गया। इस दौरान उन्होंने यह दिखा दिया था कि वे किसानों में लोकप्रिय थे और उनकी रक्षा करने के लिये सरकार से संघर्ष करने पर तत्पर थे। बर्मा निर्वासन से उनकी प्रतिष्ठा बढ़ी।

१९०७ में निर्वासन और सूरत की फूट के पश्चात् की राजनीतिक स्थिति को देखते हुए लाजपतराय ने कार्य किया। सरकार की दमनकारी नीति के फलस्वरूप उन्होंने अधिक राजनीतिक सक्रियता से कार्य करने के बजाय अन्य क्षेत्रों में कार्य करने का विचार किया। उग्रवादियों में आये हुए बिखराव को देखते हुए उन्होंने सरकार से टक्कर न लेना उचित समझा।

१९०८ से १९१४ तक लाजपतराय सक्रिय राजनीतिक कार्यकलाप से दूर रहकर अकाल पीड़ितों की सहायता करने, अस्पृश्यता निवारण और हिन्दू-मुसलमानों में सद्भाव स्थापित करने में व्यस्त रहे। सामाजिक प्रगति और आर्थिक विकास की समस्याओं की ओर उन्होंने विशेष रूप से ध्यान दिया।

१९१४ से १९२० तक लाजपतराय भारत से बाहर रहे। यह उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार नहीं, अपितु सरकार की आज्ञा के कारण किया। हुआ यह कि १९१४ में वे कांग्रेस के एक प्रतिनिधिमंडल के साथ ब्रिटेन गये। तुरन्त ही प्रथम महायुद्ध शुरू हो गया। इससे भारत सरकार ने लाजपतराय को स्वदेश आने की आज्ञा नहीं दी। उसे यह आशंका थी कि यदि वे भारत लौटते हैं तो उनके भाषणों और लेखों के कारण देश में युद्ध के प्रति विरोध

उत्पन्न हो सकता है। लाजपतराय प्रथम महायुद्ध में भारत के शामिल होने के पक्ष में नहीं थे। इसी से सरकार ने इन्हें भारत से बाहर रहने पर मजबूर किया। १९२० में लाजपतराय पर लगी पाबन्दी हटा दी गयी। उसी समय लगभग छह वर्ष पश्चात् वे भारत वापस आये।

लम्बे विदेश प्रवास के दौरान लाजपतराय ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के कार्यक्रमों और आदर्शों का प्रचार किया और इन देशों में रहने वाले भारतीयों को संगठित किया। इस अवधि में उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखकर भारतीयों के दुख-दर्द को सबके सम्मुख रखा। अमेरिका में उन्होंने 'यंग इण्डिया' और 'इंग्लैंड्स डेट टु इण्डिया' नामक पुस्तकें प्रकाशित कीं। इन पुस्तकों के अलावा उन्होंने भारत की स्थिति के बारे में अनेक लेख भी प्रकाशित किये। इस प्रकार प्रचार अभियान के द्वारा उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष को शक्तिशाली बनाया। लाजपतराय ने विशेष रूप से होमरूल आंदोलन का प्रचार किया और स्वशासन प्राप्त करने की भारतीयों की अभिलाषा जाहिर की।

विशेष कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता

सितम्बर, १९२० में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। कांग्रेस के इतिहास में यह महत्त्वपूर्ण अवसर था क्योंकि इस दौरान असहयोग आंदोलन को शुरू करने के बारे में निर्णय करना था। लाजपतराय को इस अधिवेशन की अध्यक्षता करने का कार्यभार सौंपा गया।

लाजपतराय ने अधिवेशन में अध्यक्षीय भाषण देते हुए असहयोग कार्यक्रम के समर्थन में कुछ भी नहीं कहा। इससे जाहिर है कि उन्हें गांधी जी द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम स्वीकार नहीं था। लाजपतराय को असहयोग के अनेक कार्यक्रमों पर सन्देह था। इसी कारण अधिवेशन द्वारा अनुमोदित कर दिये जाने पर भी लाजपतराय ने इन कार्यक्रमों के प्रति अपना विरोध जारी रखा। विशेष करके विद्यार्थियों को सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल और कालेजों से हट जाने की सलाह देने का कार्यक्रम उन्हें पसन्द नहीं था।

तीन महीने बाद जब वार्षिक अधिवेशन १९२० के समाप्त होते-होते आयोजित हुआ तो लाजपतराय ने असहयोग आंदोलन का विरोध करने की नीति छोड़ दी। कांग्रेस द्वारा स्वराज की नीति अपनाने का उन्होंने स्वागत किया। इस समय के उनके भाषण से स्पष्ट है कि वे ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासन से पूरी तरह निराश हो चुके थे और हर कीमत पर संघर्ष करने को तैयार थे।

असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण लाजपतराय को १९२१ से १९२३ तक प्रायः दो वर्षों तक कारावास का दंड भुगतना पड़ा। असहयोग आंदोलन के स्थगित हो जाने के उपरांत भी सरकार ने उन्हें जेल में ही रखा। उन्होंने जेल में रहकर भारत के इतिहास और अशोक पर पुस्तकें लिखीं। इससे इतिहास के प्रति उनका अनुराग प्रकट होता है।

साइमन कमीशन के खिलाफ संघर्ष

३० अक्टूबर १९२८ को साइमन कमीशन के सदस्य जब लाहौर पहुँचे तो उनके

विरुद्ध व्यापक जन प्रदर्शन करने का निर्णय लिया गया। यह आयोग जहाँ-जहाँ गया था उसके विरुद्ध प्रदर्शन करके भारतीयों ने अपना विरोध प्रकट किया था। इसी क्रम में लाहौर में भी जुलूस निकालने, प्रदर्शन करने और सभाएँ आयोजित करने का निश्चय किया गया। लाजपतराय ने इस विरोध प्रदर्शन का नेतृत्व किया। स्थानीय प्रशासन ने किसी भी प्रदर्शन को गैर-कानूनी घोषित कर दिया था। इसके बावजूद जब जुलूस निकाला गया तो पुलिस ने लाठियों से प्रहार करके शक्ति के बलबूते पर इसे रोकने की कोशिश की। जान-बूझकर पुलिस ने इस वयोवृद्ध राष्ट्रनेता के ऊपर भी लाठियों से प्रहार किये। लाजपतराय आहत हो गये। पुलिस की लाठियों से लगी चोट से ही कुछ समय पश्चात् उनकी मृत्यु हो गयी। एक सक्रिय राष्ट्रनेता ने इस प्रकार अपने जीवन की अंतिम साँस तक संघर्ष किया।

राजनीतिक विचारधारा

उग्रवादी राजनेता के रूप में लाजपतराय ने राष्ट्रीयता के विकास, स्वशासन के अधिकार और आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को भारतीयों के सम्मुख रखा। उन्होंने देशवासियों को प्रेरणा दी कि वे राष्ट्रप्रेम को सर्वोपरि समझें और राजनीतिक जागृति के महत्त्व को समझें। उनके राजनीतिक विचारों का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है:

लाजपतराय ने राष्ट्रीय भावना के विकास में समूचा जीवन लगा दिया। उनकी राजनीति का यही सर्वोपरि लक्ष्य था। इसके दो पक्ष थे। पहला था राष्ट्रीय एकता का भाव। जिन अलग-अलग सम्प्रदायों, वर्गों और गुटों में भारतीय विभाजित थे, उन पर काबू पाकर राष्ट्र के प्रति समर्पण का भाव जगाना उन्होंने आवश्यक माना। दूसरी विचारधारा थी, राष्ट्र के प्रति असीमित श्रद्धा बढ़ाना। देश प्रेम को सबसे उच्चतम भावना मानकर ही उन्होंने देशवासियों में यह प्रबल विचारधारा संचारित करने का यत्न किया।

लाजपतराय ने स्वराज्य और स्वतंत्रता को भारत के लिये परम आवश्यक माना। लेकिन समकालीन स्थिति की समीक्षा करते हुए उन्होंने व्यावहारिक नीति अपनायी। वे देश को स्वतंत्र अवश्य देखना चाहते थे। पर उन्हें यह लक्ष्य उस समय प्राप्त होता नहीं दिखायी दिया। अतः उन्होंने स्वराज अथवा होमरूल के लक्ष्य पर जोर देते हुए भारतीयों के लिए पूर्ण स्वशासन की माँग की।

उदारवादी और उग्रवादी राष्ट्रवादियों में मुख्य अंतर यह था कि उदारवादियों ने जहाँ लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ब्रिटिश सरकार से प्रार्थना करना और प्रस्ताव पास करना पर्याप्त माना वहीं उग्रवादियों ने भारतीयों से कहा कि केवल उनके प्रयासों से ही राजनीतिक लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। इसी भावना से लाजपतराय ने आत्मनिर्भरता का पाठ अपने देशवासियों को पढ़ाया। उनका कहना था कि केवल भारतीयों के प्रयास से, उनकी एकता और शक्ति से राष्ट्रीय लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इसी से उन्होंने उदारवादियों की भिक्षावृत्ति के विचार का विरोध किया। उन्होंने देशवासियों में पुरुषार्थ और मनोबल का भाव जगाया। इसी जन-जागरण और जनशक्ति के द्वारा लाजपतराय ने स्वराज प्राप्त करना चाहा।

जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्यवाद भारत में जड़ जमाये हुए था और ब्रिटिश नौकरशाही

विदेशी सत्ता को कायम रखने में जुटी हुई थी उन प्रयासों का लाजपतराय ने पर्दाफाश किया। अनेक बार उन्होंने कहा कि ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन अच्छा शासन भी नरक समान है। उन्होंने भारत की दुर्दशा और दरिद्रता के लिये ब्रिटिश सरकार को उत्तरदायी बताया। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा कि देश की उन्नति का मार्ग तभी खुलेगा जव ब्रिटिश सत्ता और प्रभुत्व समाप्त हो।

उन्होंने स्वदेशी की हिमायत की। देश की गरीबी और पिछड़ेपन को दूर करने के लिये उन्होंने स्वदेशी को आवश्यक वताया। उन्होंने कहा : 'मैं इसे अपने देश के लिये उद्धार समझता हूँ। स्वदेशी आंदोलन हमें आत्माभिमानी, आत्मविश्वासी, स्वावलम्बी और त्यागी वनाता है।' जाहिर है कि उन्होंने राष्ट्रीय विकास और उन्नति के लिये भारतीयों को परामर्श दिया कि वे हर क्षेत्र में अपने प्रयास करें, विकास का रास्ता स्वयं तलाश करें और केवल अपने देश में निर्मित वस्तुओं का उपयोग करें।

क्रान्तिकारी आंदोलन

ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध भारतीयों ने संघर्ष करने के अनेक तरीके अपनाये। इनमें से एक तरीका क्रान्तिकारी आंदोलन कहलाया जिसकी उत्पत्ति इस विचारधारा से हुई कि विदेशी शासन को संवैधानिक मार्ग के जरिये उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं था। अतः कुछ नवयुवकों में यह भावना पनपी कि इस शासन को हिंसा के द्वारा ही हटाया जा सकता था। उन्होंने व्यक्तिगत हिंसा को महिमा प्रदान की और विद्यार्थियों तथा नौजवानों को शस्त्र चलाने, बारूद आदि बनाने की शिक्षा देने और उन्हें गोपनीय ढंग से प्रशिक्षित करने हेतु संगठन बनाये। ये क्रान्तिकारी हिंसात्मक कार्यक्रमों की योजना बनांने में जुट गये।

आरम्भ में ही यह स्पष्ट करने की आवश्यकता है कि इन क्रान्तिकारियों द्वारा अपनाये गये आतंकवादी उपायों को बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध छेड़े गये व्यापक संदर्भ की पृष्ठभूमि में देखना होगा। देशभक्ति से प्रेरित और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये की गयी यह प्रक्रिया थी। इसे वर्तमान काल में व्याप्त आतंकवादी घटनाओं से किसी भी प्रकार से न तो जोड़ा जा सकता है और न इसकी तुलना आज के आतंकवादी तरीकों से की जा सकती है।

कर्जन के वाइसराय काल के अनेक अविवेकपूर्ण कार्यों से क्रान्तिकारी आंदोलन पनपा। १९०५ का बंगाल का विभाजन राजनीतिक रूप से जागरूक जनता का अपमान था जिससे जनाक्रोश तीव्र हुआ। इसी बीच अकाल और प्लेग की महामारी का सारा दोष भी लोगों ने विदेशी सरकार पर लगाया। नरमपंथी राजनीति के प्रति नवयुवकों की आस्था पहले ही समाप्त होने लगी थी। १९०५ से १९०७ के वर्षों में उग्रवादी नेतृत्व भी जनाकांक्षाओं को संगठित करके कोई सक्रिय आंदोलन संचालित न कर सका। ऐसी स्थिति में जुझारू और उत्साही नवयुवकों ने किसी अन्य विकल्प पर ध्यान देना शुरू कर दिया। इसी से कुछ युवा क्रान्तिकारी धारा की ओर मुड़े और इन्होंने अपने बलबूते पर विदेशी शासन से लोहा लेने का निश्चय किया।

इस क्रान्तिकारी आंदोलन का अध्ययन दो चरणों में किया जा सकता है। इसका पहला चरण १६०७ से १६१७ तक की अवधि का था और इसका दूसरा चरण १६२४ से १६३४ तक का था। इस अध्याय में पहले चरण का विवरण दिया जा रहा है। इसके बाद के अध्याय में क्रान्तिकारी आंदोलन के दूसरे चरण का विवरण उपलब्ध कराया जा रहा है।

पहले चरण के क्रान्तिकारी आंदोलन की कुछ विशेपताएँ थीं। इस चरण के क्रान्तिकारी रहस्यवादी और हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति निष्ठावान थे। इन्होंने जो संगठन बनाए वे भी धर्म से ओतप्रोत थे। देश के लिये सर्वस्व बलिदान कर देने की भावना उन्हें धार्मिक विचार से मिली। दूसरी विशेषता यह थी कि इस समय के क्रान्तिकारी नेताओं की आतंकवादी युद्धनीति और चाल अधिकतर बदनाम, विदेशी अधिकारियों की हत्या करने और व्यक्तियों को लूटकर आतंकवादी कार्यों हेतु धन एकत्र करने की थी। इसका एक उद्देश्य विदेशी शासन करने वालों में भय फैलाना भी था। तीसरी विशेषता यह दिखाई दी कि इन्होंने गुप्त संगठन स्थापित करके गोपनीय तरीकों से कार्य किया। इस कारण न तो इन्हें प्रत्यक्ष जनसमर्थन मिला और न इस समर्थन को प्राप्त करने की उन्होंने कोई कोशिश ही की। चौथी विशेषता यह थी कि इस समय के क्रान्तिकारी व्यक्तिगत बलिदान और देश के लिये सब कुछ न्यौछावर करने के विचार से ओतप्रोत थे। देश की स्वतंत्रता और उसके बाद के समाज की संरचना पर ध्यान देने का समय उन्हें नहीं मिला। यह भी कहा गया है कि ये क्रान्तिकारी समाज के उच्च वर्गों से आये और इस कारण सामान्य जनता से घुलमिल न सके।

वंगाल में आतंकवादी गुप्त संगठनों की स्थापना प्रान्त के विभाजन और इसके विरुद्ध आंदोलन के साथ शुरू हुई। इनमें से सबसे प्रभावकारी संस्था अनुशीलन समिति थी। जिसके केन्द्र कलकत्ता और ढाका थे। अन्य प्रान्तों में इसकी शाखाएँ सक्रिय रहीं। वीरेन्द्र कुमार घोष और भूपेन्द्र कुमार दत्त ने अनुशीलन समिति की स्थापना में मुख्य भूमिका निभायी। अप्रत्यक्ष रूप से अरविन्द घोष भी इससे जुड़े रहे। कलकत्ता अनुशीलन समिति ने 'युगान्तर' साप्ताहिक भी प्रकाशित किया उनको 'आतंकवादी' कहने का क्रम अंग्रेज अधिकारियों ने शुरू किया था। 'भवानी मन्दिर' का प्रकाशन भी क्रान्तिकारियों की ओर से किया गया। इस प्रकार पुस्तकों और पत्रिकाओं के माध्यम से क्रान्तिकारियों ने युवकों से सैनिक शिक्षा लेने की अपील की, सशस्त्र विद्रोह को आवश्यक बताया और क्रान्तिकारी संस्थाओं को स्थापित करने की योजना का वर्णन किया। रूस और इटली में चल रही गुप्त संस्थाओं से प्रेरित होकर इन गुप्त संगठनों को स्थापित किया गया था।

वंगाल और महाराष्ट्र में क्रान्तिकारी आतंकवाद के लक्षण सबसे पहले दिखाई दिये। वंगाल-विभाजन से उपजे व्यापक विरोध से क्रान्तिकारी समितियों को सक्रिय होने का अवसर मिला। इनमें से अनुशीलन समिति का सबसे अधिक असर दिखाई दिया। इसकी शाखाएँ अनेक स्थानों में स्थापित की गयीं। वीरेन्द्र कुमार घोष, भूपेन्द्रनाथ दत्त और हेमचन्द्र कानूनगो के नेतृत्व में क्रान्तिकारी संगठित हुए। दिसम्बर १६०७ में इन्होंने पहली चोट की।

बंगाल के गवर्नर की रेलगाड़ी को नारायणगढ़ में उड़ा देने की असफल कोशिश की गयी। धन प्राप्त करने के उपाय के रूप में कुछ डकैतियाँ डाली गयीं। चन्द्रनगर के मेयर पर बम फेंका गया। इन छुटपुट घटनाओं के बाद ३० अप्रैल १६०८ को मुजफ्फरपुर के जिला जज किंग्सफोर्ड पर बम फेंका गया। इसने कलकत्ता में कार्य करते हुए अनेक क्रान्तिकारियों को कठोर सजाएँ दी थीं। अतः इसे सबक सिखाने की दृष्टि से बम प्रहार की योजना बनाई गयी थी। बम के हमले से यह न्यायाधीश तो बच गया लेकिन दो महिलाएँ मारी गयीं। दो दिन के भीतर ही खुदीराम बोस और प्रफुल्ल चाकी को इन हत्याओं के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया गया। इसी समय पुलिस ने छापा मारकर उन स्थानों का पता लगा लिया जहाँ बम रखे थे और जो क्रान्तिकारियों के अड्डे थे। खुदीराम को फाँसी की सजा दे दी गयी और अनेक क्रान्तिकारियों को तो आजीवन कारावास का दण्ड भुगतना पड़ा अथवा लम्बी सजाएँ भोगनी पड़ीं। मुजफ्फरपुर बम काण्ड के सिलसिले में पुलिस को जिस आसानी से क्रान्तिकारियों का सुराग मिल गया उससे साबित हो गया कि न तो वे भली प्रकार से अपनी गतिविधियाँ गुप्त रख सके और न उन्होंने सावधानी से काम लिया। इससे क्रान्तिकारी संघर्ष को धक्का लगा।

महाराष्ट्र में आतंकवादी संघर्ष की परम्परा पहले से मौजूद थी। जून १८६७ में पूना के प्लेग कमिश्नर की गोली मारकर हत्या कर दी गयी थी। दामोदर चापेकर को इसी अपराध में फाँसी की सजा दी गयी थी। बाद में उसके दोनों छोटे भाइयों को भी मृत्युदंड सुनाया गया। इन सजाओं के बावजूद गुप्त संस्थाएँ बनायी गयीं। मित्र मेला नामक संगठन कार्य करता रहा। १६०६ में क्रान्तिकारियों का एक प्रमुख संगठन 'अभिनव भारत' गठित किया गया, १६०६ में इसकी स्थापना प्रसिद्ध क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर और उनके भाई गणेश सावरकर ने की, विदेश में गठित क्रान्तिकारी समितियों ने इसे अस्त्र-शस्त्र पहुँचाये। १६०८ में तिलक की गिरफ्तारी से महाराष्ट्र में व्याप्त रोष के वातावरण में क्रान्तिकारियों को आगे आने का अवसर मिला।

दिसम्बर १६०६ में नासिक के जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की हत्या गोली मारकर कर दी गयी। क्रान्तिकारी अपना कार्य तो पूरा कर सके लेकिन वे अपनी रक्षा इस बार भी नहीं कर सके। लक्ष्मण कान्हरे को हत्या के अपराध में फाँसी दे दी गयी। इसके अलावा पुलिस ने अन्य प्रमुख नेताओं को भी खोज निकाला। नासिक षडयंत्र के नाम से चले मुकदमें में ३७ व्यक्तियों को कम या अधिक सजाएँ सुनाई गयीं। क्रान्तिकारियों द्वारा उठाये गये पहले कदम से महाराष्ट्र के क्रान्तिकारियों को भी बंगाल के क्रान्तिकारियों के समान ही आघात लगा।

बंगाल के क्रान्तिकारियों ने संघर्ष का क्रम जारी रखा। रासबिहारी बोस और शचीन्द्रनाथ सान्याल ने उत्तर भारत में गुप्त क्रान्तिकारी केन्द्र स्थापित करके स्थानीय नवयुवकों को इनमें शामिल किया। यू.पी., पंजाब और दिल्ली में इन्होंने अपनी गतिविधियाँ बढ़ायीं। दिसम्बर १६१२ को वाइसराय लार्ड हार्डिंग्ज पर बम फेंका गया। इस समय वाइसराय नयी राजधानी में प्रवेश कर रहा था। वाइसराय तो बच गया लेकिन इससे बढ़ती हुई आतंकवादी घटनाओं का आभास ब्रिटिश सरकार को हो गया।

इस अवधि में विदेशों में भी क्रान्तिकारियों ने अपने केन्द्र स्थापित किये। श्यामजी कृष्ण वर्मा के नेतृत्व में लंदन में क्रान्तिकारियों को एकत्रित किया गया। अनेक युवाओं को लंदन तथा यूरोप के अन्य नगरों में भेजा गया। १६०६ में मदनलाल ढींगरा ने कर्जन वायली को गोली से उड़ा दिया। इससे लंदन में क्रान्तिकारियों की सक्रियता दिखायी दी। ढींगरा ने देश के खातिर आत्मबलिदान किया और हँसते-हँसते फाँसी के तख्ते पर चढ़ गया। १६१३ में अमेरिका के सेनफ्रांसिस्को नगर में गदर आंदोलन का आरम्भ हुआ। विदेश में आयोजित यह एक सशक्त आंदोलन था।

मुस्लिम लीग की स्थापना और इसके कार्य

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की सफलता की आवश्यक शर्त थी राजनीतिक लक्ष्य के प्रति सभी धार्मिक सम्प्रदायों और वर्गों की समान निष्ठा। कांग्रेस की स्थापना के समय से यह ध्यान रखा गया था कि धार्मिक मतभेदों से ऊपर उठकर कार्य किया जाये। विशेष रूप से प्रमुख अल्पसंख्यक वर्ग होने के नाते मुसलमानों को प्रभावी ढंग से इसमें शामिल करने की कोशिशें की गयी थीं। लेकिन आरम्भिक बीस वर्षों तक कम संख्या में ही मुसलमानों ने कांग्रेस अधिवेशनों और इसकी गतिविधियों में भाग लिया। फिर भी कांग्रेस नेता हताश नहीं हुए। उनको आशा थी शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ मुसलमान और अधिक संख्या में कांग्रेस में भाग लेंगे। इसी बीच १६०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना से भारतीय राजनीति में बदलाव आया।

मुस्लिम लीग की स्थापना के दो आधारभूत कारण थे। मुसलमानों में पनपती हुई अलगाववाद की भावना पहला कारण सावित हुआ। दूसरा था ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों में फूट डालने की नीति। यह सही है कि अलगाव के विचार के बिना मुसलमानों को निजी राजनीतिक संगठन बनाने को प्रेरित नहीं किया जा सकता था। लेकिन यह भी सही है ब्रिटिश प्रशासकों ने आग में घी डालने का काम किया। उन्होंने मुसलमानों की आशंकाओं को उकसाया और राष्ट्रवादी शक्तियों को अलग-अलग खेमों में बाँट देने में कोई कसर नहीं रखी। आशंकाओं के बादल कांग्रेस की स्थापना के समय से ही घिर रहे थे। सर सैय्यद अहमद खाँ ने मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखने की जी-तोड़ कोशिश की थी। उनका कहना था कि सांवैधानिक सुधारों से अल्पसंख्यक मुसलमानों को कोई लाभ नहीं हो सकता था क्योंकि किसी प्रकार के चुनावों से बहुसंख्यक हिन्दुओं का ही प्रभाव बढ़ेगा। उनकी सलाह यह भी थी कि ब्रिटिश सरकार मुसलमानों के हितों की सबसे अच्छी संरक्षक थी। इसी से उन्होंने मुसलमानों को सरकार से भले सम्बन्ध बनाये रखने की सलाह दी थी।

बीसवीं सदी के शुरू के वर्षों में मुसलमानों में असुरक्षा का भाव बढ़ा। यू.पी. में उर्दू और हिन्दी भाषाओं के प्रयोग के विवाद में यहाँ के गवर्नर के निर्णय से मुसलमानों को ठेस लगी। उनको लगा कि उर्दू भाषा के महत्त्व को घटाने की साजिश की जा रही थी। उग्रवादी विचारधारा में धर्म का जिस तरह से सहारा लिया गया था उससे भी मुसलमानों की शंकाएँ

बढ़ीं। बंगाल-विभाजन ने साम्प्रदायिक मतभेदों को और भी बढ़ा दिया क्योंकि पूर्वीय बंगाल के नये प्रान्त के बन जाने से दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के बीच आशंकाओं की खाई चौड़ी होती दिखायी दी। खास करके पूर्वीय बंगाल के मुसलमानों में यह भाव जगा कि बंगाल विभाजन का विरोध उनको नुकसान पहुँचाने के लिये किया जा रहा था।

बंगाल विभाजन से उपजे इस असुरक्षा और सन्देह के वातावरण का उपयोग साम्राज्यवाद के पिट्ठुओं ने विष फैलाने में किया। ब्रिटिश अधिकारियों और वाइसराय ने मिलकर मुसलमानों के बीच पनपते अलगाववाद को बढ़ावा दिया, उन्हें अलग से संगठित होने की प्रेरणा दी और उनकी माँगों को पूरा करने का भरोसा दिलाया। तत्कालीन वाइसराय लार्ड मिंटो के गोपनीय पत्रों से यह जानकारी मिलती है कि उसने कांग्रेस का प्रभाव कम करने और राष्ट्रवादियों की एकता को तोड़ने के विचार से मुस्लिम लीग की स्थापना में अप्रत्यक्ष तरीके से मदद की।

अक्टूबर १६०६ में आगा खाँ के नेतृत्व में पैंतीस सदस्यीय मुस्लिम प्रतिनिधि मण्डल ने शिमला में वाइसराय से भेंट की। इसकी माँग यह थी कि किसी भी आगामी सांवैधानिक योजना को तैयार करते समय ऐसी प्रतिनिधि प्रणाली अपनायी जाये जिसमें मुसलमानों के लिए विशेष व्यवस्था हो। केवल जनसंख्या के अनुपात से ही नहीं अपितु राजनीतिक महत्त्व के कारण मुसलमानों के प्रतिनिधित्व का दावा पेश किया गया। सभी प्रमाण कहते हैं कि प्रतिनिधि मण्डल की माँगों को तैयार कराने में ब्रिटिश अधिकारियों की साँठ-गाँठ थी और उन्होंने वाइसराय और मुस्लिम नेताओं के बीच सम्बन्ध-सूत्र की भूमिका निभायी। वाइसराय पहले से जानता था कि उसके सम्मुख किस प्रकार का आवेदन पेश होना था। इस प्रतिनिधि मण्डल की वाइसराय से भेंट अफसरशाही की चाल का एक भाग थी। इस स्थिति में वाइसराय ने मुस्लिम नेताओं के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए यह माना कि उनके राजनीतिक महत्त्व को देखते हुए निर्णय करना उचित होगा।

वाइसराय द्वारा व्यक्त की गयी सहानुभूति से मुस्लिम नेताओं का हौसला बढ़ा। जिन नेताओं ने शिमला में वाइसराय से भेंट की थी उन्होंने मुस्लिम हितों की रक्षा की दृष्टि से अपना एक अलग राजनीतिक संगठन बनाने में कोई देर नहीं की। ढाका के नवाब सलीमुल्ला और अलीगढ़ के प्रभावशाली नेता मोहसिन उन मुल्क ने ढाका में दिसम्बर १६०६ में एक सम्मेलन बुलाया। इसमें सर्वभारतीय मुस्लिम लीग को गठित करने का निर्णय लिया गया। मुस्लिम लीग के तीन लक्ष्य निर्धारित किये गये। ये थे मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा की भावना बढ़ाना, मुसलमानों के अधिकारों और हितों की रक्षा करना और दूसरे सम्प्रदायों के प्रति मुसलमानों के विरोध को रोकना।

मुस्लिम लीग ने धीरे-धीरे अपनी स्थिति मजबूत करने के प्रयास किये। इसके वार्षिक अधिवेशन अलग-अलग नगरों में किये गये। यहाँ भाषण देकर और प्रस्ताव पास करके लीग ने अपनी माँगों पर जोर डाला। इसकी प्रमुख माँग को मानने में सरकार ने तनिक भी देर नहीं की। १६०६ के सांवैधानिक अधिनियम के अनुसार मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व

का अधिकार मिला। इसके अनुसार केवल विधान सभाओं में इनकी सीटें सुरक्षित कर दी गयीं परन्तु मुस्लिम प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार भी इसी सम्प्रदाय के लोगों का था। यह एक विषैला सिद्धान्त सावित हुआ। मुस्लिम लीग को यह सुविधा देकर सरकार ने हिन्दुओं और मुसलमानों के वीच सन्देह और आशंका की दीवार खड़ी कर दी। इससे सरकार का प्रभाव मुस्लिम लीग पर वढ़ा। योरोपीय घटनाओं की छाया से स्थिति वदली। टर्की के सुल्तान के खिलाफ जैसे ही १६१२ में वलकान युद्ध शुरू हुआ भारत में आक्रोश की लहर दौड़ गयी। भारतीय मुसलमान ब्रिटिश सरकार के खिलाफ हो गये। जव मुस्लिम लीग ब्रिटिश सरकार से निराश हुई तो फिर कांग्रेस के साथ समझौता करने में उसे कोई हिचक नहीं हुई।

लखनऊ समझौता

प्रथम महायुद्ध के दौरान मुस्लिम लीग और कांग्रेस एक-दूसरे के निकट आते गये। मुस्लिम लीग में नये नेतृत्व के उभरने से निकटता का वातावरण वना। आगा खाँ और ढाका के नवाव के मुस्लिम लीग से हट जाने के साथ-साथ दूसरे सामंतवादी नेताओं का प्रभाव इस संगठन में घटा। इसी समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे तथा पश्चिम के विचारों से प्रभावित नेताओं का प्रभुत्व लीग में वढ़ा। मोहम्मद अली जिन्ना और मोहम्मद अली ने जव इसकी वागडोर सँभाली तो फिर उनके और कांग्रेस के नेताओं के बीच समझौते के द्वार खुले। दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों को मेल-मिलाप की जरूरत इसीलिए भी पड़ी क्योंकि ऐसे संकेत मिलने लगे थे कि सरकार द्वारा एक और सावैधानिक सुधार योजना वनाई जा सकती थी। सरकार के प्रस्तावों के पहले ही भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों के बीच एकता से उनकी स्थिति मजबूत हो सकती थी।

इस स्थिति में बम्बई में १६१५ का कांग्रेस अधिवेशन और मुस्लिम लीग अधिवेशन प्रायः एक साथ आयोजित किये गये। इससे लीग और कांग्रेस के प्रमुख नेताओं को एक-दूसरे के नजरिये को समझना आसान हो गया। मुस्लिम लीग ने एक समिति वनाकर इस समझौते का आधार तैयार करने का कार्य सौंपा। इस समिति और कांग्रेस के प्रमुख नेताओं के बीच वार्ताओं का दौर चलता रहा। अन्त में एक योजना तैयार की गयी जिसे लखनऊ में स्वीकार कर लिया गया।

१६१६ में भी लखनऊ में कांग्रेस और मुस्लिम लीग के वार्षिक अधिवेशन साथ-साथ हुए और इनके बीच हुआ समझौता यहीं स्वीकृत हुआ। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने आपस में समझौता करके एक योजना स्वीकार की जिससे इनके बीच अच्छे सम्वन्धों की नींव पड़ी। इस समझौते के दो भाग थे। एक में मुसलमानों के अधिकार वताये गये। दूसरे भाग में प्रशासनिक सुधारों के बारे में सहमति हुई। पहले भाग को लेकर जो सिद्धान्त तय हुए उनके दूरगामी परिणाम हुए। कांग्रेस ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को इसी समय स्वीकार किया। इसके अलावा कांग्रेस ने यह भी माना कि मुसलमानों को प्रतिनिधित्व उनकी जनसंख्या के अनुपात से अधिक दिया जाये। अलग-अलग प्रान्तों की विधानसभाओं में

मुस्लिम प्रतिनिधियों का अनुपात तय कर दिया गया। उदाहरण के रूप में यू.पी. में मुसलमानों की जनसंख्या चौदह प्रतिशत होते हुए भी उन्हें यहाँ तीस प्रतिशत प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया। इसी प्रकार से अन्य प्रान्तों में, जहाँ मुसलमान कम संख्या में थे, उन्हें अतिरिक्त अनुपात में प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। भावी सांवैधानिक सुधारों पर भी सहमति हो गयी। इनके अनुसार यह सुझाव दिया गया कि भारत सचिव की इण्डिया कौंसिल को समाप्त कर दिया जाये, गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी के आधे सदस्य केन्द्रीय विधान सभा के निर्वाचित सदस्यों द्वारा चुने जायें और केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान सभाओं के अस्सी प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हों। यह भी सुझाव दिया गया कि सैनिक और विदेश विभाग को छोड़कर और सभी विषयों पर केन्द्रीय विधान सभा का नियंत्रण हो। इस समझौते के द्वारा दोनों दलों ने मिलकर यह माँग की कि ब्रिटिश सरकार शीघ्र ही भारतीयों को स्वशासन का अधिकार प्रदान करे।

लखनऊ समझौते से कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच सहयोग का दौर आरम्भ हुआ। इसने यह सावित कर दिया कि आपसी बातचीत करके मतभेदों को कम किया जा सकता था। एक बार सहयोग का रास्ता चुन लिये जाने पर भविष्य में भी ये दोनों प्रमुख दल एक साथ मिलकर काम कर सकते थे। यह भी ध्यान देने योग्य है कि मुसलमानों को जो अधिकार दे दिये गये थे और उनके बारे में भविष्य में वे फेरबदल को तैयार नहीं हुए। विशेष करके साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को स्वीकार कर लेने के बाद जब बारह वर्ष बीत जाने पर कांग्रेस ने इस प्रणाली को बदलना चाहा तो मुस्लिम लीग ने इसे नहीं माना।

लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन का एक और उल्लेखनीय पक्ष था उग्रवादियों की कांग्रेस में वापसी। लम्बी प्रतीक्षा के बाद उग्रवादियों को बिना शर्त कांग्रेस में शामिल कर लिया गया। लोकमान्य तिलक और उनके सहयोगियों ने सूरत विभाजन के उपरान्त पहली बार इस अधिवेशन में भाग लिया। बीती बातों को भुला देने की भावना सभी के दिल में थी। लखनऊ कांग्रेस से एकता का भाव पुष्ट हुआ।

होमरूल आन्दोलन

१६१६ में लोकमान्य तिलक और ऐनी बेसेन्ट ने होमरूल आंदोलन आरम्भ करके राष्ट्रीय संघर्ष को नयी दिशा प्रदान की। इस आंदोलन के परिणामस्वरूप भारतीयों ने ब्रिटिश शासकों की नीतियों की तीखी आलोचना करने का साहस जुटाया, जोरदार शब्दों में स्वशासन प्राप्त करने की मांग की, नये-नये क्षेत्रों में राष्ट्रीय जागरूकता का सन्देश पहुँचाया और देशव्यापी संघर्ष का मार्ग अपनाया। इससे राष्ट्रीय आंदोलन शक्तिशाली हुआ।

होमरूल आंदोलन बदलती हुई राजनीतिक आकांक्षाओं की उपज था। १६१४ तक यह जाहिर हो चुका था कि नरमपंथियों की नीतियों के प्रति जनसमर्थन घटता जा रहा था। उनकी नीतियों और उद्देश्यों से कुछ भी हासिल नहीं हुआ था। ऐसी निराशाजनक स्थिति में अधिकतर युवा लोग किसी वैकल्पिक मार्ग की तलाश में थे। भारत वापस लौटने पर जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में इस स्थिति का विवरण देते हुए लिखाः 'इंग्लैण्ड

से १६१२ में वापस आने पर यह विचार मुझे उद्वेलित करने लगा कि हमें तत्कालीन स्थिति को चुपचाप सहन करने के बजाय कुछ न कुछ करना चाहिये .... मेरा विचार हुआ कि व्यक्तिगत और राष्ट्रीय प्रतिष्ठा दोनों के कारण विदेशी शासन के प्रति एक अधिक कारगर और संघर्षपूर्ण नीति अपनाने की आवश्यकता थी।' यह प्रतिक्रिया केवल जवाहरलाल नेहरू की ही नहीं थी। प्रायः ऐसे ही विचार उन सभी जागरूक युवाओं के थे जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ अधिक सक्रिय राजनीति अपनाने के पक्ष में थे। होमरूल आंदोलन द्वारा उन्हें संघर्ष हेतु आगे बढ़ने का ऐसा ही मार्ग मिला।

लम्बे समय से वंगाल, महाराष्ट्र और पंजाब राष्ट्रीय जागरण में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। इन प्रान्तों की तुलना में अन्य प्रान्तों में राष्ट्रीय आंदोलन के प्रति उत्साह कम ही था। होमरूल आंदोलन से यह स्थिति वदलने लगी। इस आंदोलन के कारण हिन्दी भाषी क्षेत्रों में राजनीतिक जागरूकता का संचार हुआ। इसके साथ ही साथ समूचे देश में आंदोलन करने की प्रक्रिया आरम्भ हुई। इस स्थिति का विवरण देते हुए एक प्रमुख इतिहासकार ने कहा है कि होमरूल आंदोलन के फलस्वरूप कांग्रेस का स्वरूप बदला। वार्तालाप करने वाली संस्था के बजाय यह एक संघर्ष करने वाली संस्था के रूप में उभरी। इससे कांग्रेस की शक्ति बढ़ी।

१६१४ से राष्ट्रीय जागरण को नयी दिशा देने में बाल गंगाधर तिलक और ऐनी वेसेन्ट ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। अतः इन दोनों राष्ट्रनेताओं के दृष्टिकोण पर ध्यान रखते हुए यह विवेचन करना होगा कि उन्होंने होमरूल आंदोलन को प्रभावी बनाने में कभी साथ-साथ रहकर और प्रायः अलग-अलग स्तरों पर किस प्रकार का नेतृत्व किया।

छह वर्षों तक कारावास में रहने के बाद १६१४ में स्वदेश लौटे तिलक ने सावधानीपूर्वक अपने कदम बढ़ाये। उन्होंने देखा कि १६०७ में सूरत अधिवेशन के समय से १६१४ की राजनीतिक स्थिति में काफी बदलाव आ चुका था। लाला लाजपत राय विदेश में थे और अरविन्द घोष सन्यास ले चुके थे। अन्य उग्रवादी नेताओं और कार्यकर्ताओं में भी पहले की तरह जोश नहीं रह गया था। अतः तिलक ने उग्रवादी आंदोलन को पुनर्जीवित करने के बजाय सभी प्रकार के नेताओं को साथ लेकर कांग्रेस में शामिल होने का विचार किया।

१६१४ से ही तिलक ने कांग्रेस में प्रवेश प्राप्त करने का प्रयास करना शुरू कर दिया। उन्होंने समझ लिया था कि कांग्रेस के माध्यम से ही उन्हें देशव्यापी राष्ट्रीय आंदोलन को प्रभावित करने का अवसर मिल सकता था। इस कारण वे १६१४ से ही अपने विचारों में नरमी के संकेत देने लगे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि वे किसी भी प्रकार से अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष करने की नीति को अनावश्यक समझते थे। उन्होंने यह भी भरोसा दिलाया कि उनके और नरमपंथियों की नीतियों और विचारों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह गया था। तिलक को कांग्रेस में प्रवेश दिलाने में ऐनी बेसेन्ट ने भी पूरी सहायता की। लेकिन १६१४ और १६१५ में इन दोनों राष्ट्रनेताओं के प्रयास सफल नहीं हुए। इस समय नरमपंथी

नेताओं की कांग्रेस पर पकड़ बनी हुई थी। गोखले और फीरोजशाह मेहता ने तिलक को कांग्रेस में शामिल न होने दिया। उन्हें भय था कि एक बार कांग्रेस में शामिल हो जाने पर तिलक अपनी पहले की नीतियों पर फिर जोर देने लगेंगे और वे और उनके समर्थक कांग्रेस पर हावी हो जायेंगे। १९१४ से १९१६ तक की इस दुविधापूर्ण स्थिति में तिलक को अपना पक्ष मजबूत करने और राजनीति में स्थान पाने हेतु कुछ उपाय तो करना ही थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने स्वतंत्र रूप से कांग्रेस से अलग रहकर होमरूल आंदोलन चलाने का निर्णय लिया। इन दो वर्षों में उनकी लोकप्रियता बढ़ी और १९१६ में कांग्रेस में उनके प्रवेश के द्वार खुले।

१९१४ से १९१७ तक भारतीय राजनीति को दिशा देने में ऐनी वेसेन्ट ने प्रभावी भूमिका निभायी। होमरूल आंदोलन का नेतृत्व करके उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को सक्रियता प्रदान करते हुए भारतीयों को ब्रिटिश सरकार से मुकाबला करने का एक नया रास्ता दिखाया।

१९१४ में भारतीय राजनीति में एनी वेसेन्ट ने प्रवेश किया। वे उस समय ६६ वर्ष की थीं। ऐनी बेसेन्ट युवा काल में ब्रिटेन में रहीं। उन्होंने १८४७ से १८९३ तक वहाँ शिक्षा प्राप्त की। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटेन में प्रचलित राजनीतिक विचारों से वे प्रभावित हुईं। लोकतांत्रिक विचारधारा, नवचेतना और स्वतंत्र अभिव्यक्ति के इस युग के ब्रिटेन की अमिट छाप ऐनी बेसेन्ट को सदैव प्रेरित करती रही। लेकिन वे शीघ्र ही राजनीति से अधिक आध्यात्म की ओर मुड़ गयीं। वे थियासोफिकल आंदोलन नामक सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन की सक्रिय नेता के रूप में १८९३ में भारत आयीं। इस देश को उन्होंने अपना कर्मक्षेत्र बनाया और १९३३ तक जीवन की अंतिम सांस तक वे भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना को गतिशील बनाने के अलावा भारतीय राजनीति में भूमिका निभाती रहीं। १८९३ से १९०७ तक वे बनारस में सक्रिय रहीं। उन्होंने यहाँ सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की और थियासोफिकल आंदोलन के माध्यम से सामाजिक चेतना विकसित करने में व्यस्त रहीं। १९०७ के पश्चात् वे थियासाफीकल सोसायटी की विश्वव्यापी संस्था की अध्यक्ष बन गयीं। उन्होंने मद्रास के निकट अडयार को थियासाफीकल सोसाइटी का मुख्यालय बनाया। यहीं से वे अपने सार्वजनिक कार्यों को संचालित करती रहीं। आगे चलकर अडयार का यही मुख्यालय होमरूल आंदोलन का केन्द्र भी बना।

भारतीय राजनीति में ऐनी वेसेण्ट थोड़े समय तक ही प्रभावी भूमिका निभा सकीं। इस स्थिति की समीक्षा करते समय आरम्भ से ही यह स्मरण रखना होगा कि भारतीय राजनीति में प्रवेश करते समय से ही उनका प्रमुख उद्देश्य भारत और ब्रिटेन के बीच मित्रता स्थापित करना था। वे भारत और ब्रिटेन के बीच किसी भी तरह की टकराहट को स्वीकार करने को तैयार नहीं थीं। मित्रता बनाये रखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन के लक्ष्य पूरे नहीं हो सकते थे क्योंकि ब्रिटिश सरकार कुछ सतही रियायतों से अधिक राष्ट्रवादियों की आकांक्षाओं को पूरा करने हेतु कुछ भी करने को तैयार नहीं थी। ऐनी बेसेण्ट ने एक सीमित दायरे के अन्दर रहकर राजनीतिक संघर्ष में भाग लिया। इस कारण जब १९१८ के पश्चात् राष्ट्रीय संघर्ष सक्रिय होने लगा तो वे इससे तालमेल न बिठा सकी। इसी संदर्भ में होमरूल आंदोलन में

उनके नेतृत्व का मूल्याँकन करना उचित होगा।

ऐनी वेसेण्ट ने मुख्यतः शिक्षित युवावर्ग का विश्वास जीतने के प्रयास किये। इन्हीं के समर्थन से वे राजनीतिक नेतृत्व करना चाहती थी। उनका प्रमुख लक्ष्य था भारत में स्वशासन व्यवस्था की माँग। उन्हें आशा थी कि भारतीयों को स्वशासन के अवसर देकर भारत और ब्रिटेन को एक दूसरे के निकट लाया जा सकता था। इसी उपाय से वे भारतीय युवावर्ग को हिंसा के मार्ग से विमुख करना चाहती थीं।

१६१४ और १६१५ में ऐनी वेसेण्ट ने कांग्रेस के कार्यों में गहरी रुचि ली और नरमपंथियों और उग्रवादियों को निकट लाने के प्रयास किये। वे सभी राष्ट्रवादियों में एकता लाना चाहती थी। उन्होंने तिलक को कांग्रेस में शामिल करने के लगातार प्रयास किये।

तिलक और एनी वेसेण्ट कांग्रेस की सहमति और समर्थन से होमरूल आंदोलन संचालित करना चाहते थे। लेकिन १६१५ के वार्षिक सम्मेलन में उन्हें ऐसी अनुमति नहीं मिली। परिणामतः दोनों राष्ट्रनेताओं ने कांग्रेस से स्वतंत्र होकर होमरूल आंदोलन आरम्भ किया।

इन दोनों राष्ट्रनेताओं ने प्रायः अलग-अलग क्षेत्रों में होमरूल आंदोलन चलाया और इसे गति प्रदान की। तिलक ने अप्रैल १६१६ को तत्कालीन बम्बई प्रान्त के वेलगांव शहर में होमरूल आंदोलन की शुरुआत की। इस आंदोलन का एकमात्र लक्ष्य था होमरूल अर्थात् स्वशासन। ब्रिटेन के विरुद्ध आयरलैण्ड में होमरूल आंदोलन उस समय चल रहा था। आयरलैण्ड के निवासी स्वशासन की माँग कर रहे थे। इसी को आधार बनाकर प्रायः उसी प्रकार का आंदोलन भारत में चलाकर स्वशासन की माँग ब्रिटिश सरकार से की गयी। चूँकि होमरूल की शब्दावली से ब्रिटिश सरकार परिचित थी इसी से यह आशा की गयी कि भारत में उठायी गयी इस माँग को ब्रिटिश सरकार आसानी से समझेगी और भारतीयों को स्वशासन का अधिकार देने को राजी हो जायेगी।

तिलक द्वारा संचालित होमरूल आंदोलन महाराष्ट्र और कर्नाटक तक सीमित रहा। शेष भारत के अनेक प्रान्तों में होमरूल को संचालित करने का कार्य ऐनी वेसेण्ट ने किया। इस प्रकार होमरूल आंदोलन को इन दोनों नेताओं ने इन निर्धारित क्षेत्रों में चलाया। जाहिर है कि इस बारे में उनमें सहमति थी। प्रश्न यह भी उठता है कि तिलक और एनी वेसेन्ट ने एक साथ मिलकर होमरूल आंदोलन क्यों नहीं चलाया। इसका उत्तर देते हुए ऐनी वेसेन्ट ने स्पष्ट किया था कि शीर्षस्थ नेताओं में सहमति के बावजूद तिलक और एनी वेसेन्ट के समर्थकों में एक दूसरे पर पूरा विश्वास नहीं था। कुछ तिलक समर्थक ऐनी वेसेन्ट से दूर रहना चाहते थे तो कुछ ऐनी वेसेण्ट के समर्थक तिलक से दूरी रखना चाहते थे। प्रमुख नेताओं में समान विचार होते हुए और आंदोलन के उद्देश्य एक समान होते हुए भी एक प्रकार से होमरूल आंदोलन आरम्भ से ही दो खेमों में बँटा रहा।

ऐनी वेसेन्ट ने सितम्बर १६१६ को होमरूल आंदोलन की औपचारिक शुरुआत की। उन्होंने इसी समय होमरूल लीग नामक संगठन भी बनाया। इस होमरूल लीग की शाखाएँ

सभी प्रान्तों के नगरों में खोलने का अभियान छेड़ा गया। इन्हीं होमरूल लीग की शाखाओं के माध्यम से इस आंदोलन का संदेश जन-जन तक पहुँचाया गया। ऐनी बेसेण्ट के नेतृत्व में चलने वाली होमरूल लीग का मुख्यालय मद्रास में था। उन्होंने होमरूल को सफल बनाने में थियासोफीकल सोसाइटी, इसकी शाखाओं और सम्पूर्ण देश में फैले इसके कार्यकर्ताओं की पूरी मदद ली। उनके होमरूल आंदोलन को सफल बनाने में थियोसोफीकल सोसाइटी का पर्याप्त योगदान था। ऐनी बेसेन्ट ने अपने संगठन को लचीला रखा और सभीं शाखाओं की स्थापना में स्थानीय लोगों को पूरी छूट दी गयी। केवल केन्द्रीय संस्था से स्वीकृति की शर्त थी। इसके बाद होमरूल शाखाएँ अपने-अपने स्तरों पर होमरूल के व्यापक प्रचार को स्वतंत्र थी। थियासोफीकल संगठन का सहयोग प्राप्त करके ऐनी बेसेन्ट ने अपने संगठन को प्रभावी और लोकप्रिय बनाया। सितम्बर १६१७ तक सम्पूर्ण देश में १६६ होमरूल लीग संस्थाएँ कार्यरत थीं। इनमें से सबसे अधिक ६३ होमरूल की शाखाएँ मद्रास में स्थापित की गयीं। ४८ तेलगू क्षेत्र में, १२ कर्नाटक क्षेत्र में, २५ गुजरात में, मध्य प्रान्त में १२, यू.पी. में ८, विहार में ८ और बंगाल में १ शाखा संगठित थी। इस प्रकार प्रायः सभी प्रान्तों में होमरूल शाखाएँ स्थापित की गयीं। बंगाल में मात्र एक संस्था होने से यह प्रमाणित होता है कि इस प्रान्त में होमरूल संगठन कमजोर था।

देश में होमरूल की शाखाओं को स्थापित करके होमरूल अथवा स्वशासन स्थापिंत करने के मुख्य लक्ष्य की आवश्यकता हेतु जनजागरण किया गया। सभी प्रकार के लोगों तक इस संदेश को पहुँचाने और उनका सहयोग प्राप्त करने के सभी उपलब्ध साधन अपनाये गये। जन-जन तक होमरूल आंदोलन को पहुँचाने के उद्देश्य से ऐनी बेसेण्ट ने समाचार पत्रों का सहारा लिया। उन्होंने 'न्यू इण्डिया' नामक समाचार पत्र अंग्रेजी में निकाला। इसके अलावा अन्य सभी समाचार पत्रों के माध्यम से भी उनका संदेश भारतवासियों तक पहुँचाया गया। स्थान-स्थान पर जनसभाएँ आयोजित की गयीं, भाषण दिये गये और बैठकें आयोजित करके जनसमर्थन प्राप्त किया गया। होमरूल के संदेश को हर माध्यम से प्रचारित किया गया। इसके साथ-साथ विशेष पत्रिकाएँ प्रकाशित की गयीं, इश्तहार निकाले गये, गोष्ठियाँ की गयीं और आधारभूत संवैधानिक परिवर्तन हेतु सरकार से आग्रह किया गया।

ऐनी बेसेण्ट ने दो कार्य एक साथ किये। उनका पहला कार्य था भारतीय युवाओं को उनके अतीत के गौरव का पाठ पढ़ाना। उन्होंने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की श्रेष्ठता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकारा। उनका दूसरा कार्य था सरकार की आर्थिक नीतियों और राजनीतिक अदूरदर्शिता की खुली आलोचना। धीरे-धीरे उनके भाषण और वक्तव्य और भी कटु होते गये। उन्होंने खुलेआम आयरलैंडवासियों के होमरूल संघर्ष के प्रति समर्थन व्यक्त किया। इससे अनेक प्रान्तीय सरकारें सजग हो उठीं। उन्होंने तिलक और एनी बेसेन्ट के खिलाफ दमनात्मक कार्यवाहियाँ कीं। लेकिन न्यायालयों के हस्तक्षेप के कारण इन दोनों नेताओं पर वे अधिक प्रतिबन्ध न लगा सके। १६१६ के कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन से होमरूल आंदोलन और भी सशक्त हुआ। इस अधिवेशन में तिलक और उनके सहयोगियों के लिये कांग्रेस के दरवाजे फिर से खोल दिये गये, उग्रवादियों और नरमपंथियों में एकता

स्थापित हो गयी और बड़ी संख्या में होमरूल आंदोलन के समर्थकों ने अधिवेशन में भाग लिया। होमरूल आंदोलन को कांग्रेस ने स्वीकार कर लिया। ऐनी बेसेण्ट और तिलक लखनऊ अधिवेशन में छाये रहे। इस कांग्रेस अधिवेशन के बाद उसी पंडाल में तिलक और ऐनी बेसेन्ट की होमरूल लीगों का संयुक्त सम्मेलन हुआ। तिलक की ओर सबकी निगाहें लगी हुई थीं। वे अत्यन्त लोकप्रिय नेता के रूप में उभरे।

लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन के बाद होमरूल आंदोलन का प्रचार ऐनी बेसेण्ट और तिलक ने और भी अधिक उत्साह से किया। कांग्रेस का समर्थन मिल जाने से ये दोनों नेता और अधिक जोश से देश के अलग-अलग क्षेत्रों में जनसम्पर्क हेतु निकल पड़े। इस स्थिति में होमरूल आंदोलन गतिशील हुआ। विशेष रूप से शिक्षित युवा वर्ग इसमें शामिल होता गया। इस स्थिति से प्रान्तीय सरकारें बेचैन होने लगीं। उन्होंने होमरूल आंदोलन पर अंकुश लगाने पर विचार करना शुरू कर दिया। पंजाब और बम्बई की सरकारों ने होमरूल के प्रमुख नेताओं के प्रान्तों पर आने पर रोक लगा दी। लेकिन मद्रास सरकार ने सभी सीमाओं को लाँघते हुए जून १९१७ में ऐनी बेसेण्ट और उनके साथियों को बन्दी बना लिया। प्रान्तीय सरकार ने इनके विरुद्ध यह अभियोग लगाया कि ये नेता अपने भाषणों और वक्तव्यों के द्वारा सरकार के खिलाफ असन्तोष फैला रहे थे।

ऐनी बेसेन्ट और उनके साथियों की गिरफ्तारी से समूचे देश में उनके प्रति सहानुभूति की लहर उपजी। मद्रास सरकार की दमनात्मक कार्यवाही के विरोध में नरमपंथी, उग्रवादी और सभी अन्य राजनीतिक विचाराधारा के लोगों में एकजुटता आयी। उन्होंने संगठित होकर देशव्यापी स्तर पर सभाएँ और सम्मेलन आयोजित करके ऐनी बेसेण्ट के प्रति खुला समर्थन व्यक्त किया। कुछ महीनों में ही होमरूल के सदस्यों की सदस्यता दुगुनी हो गयी। ऐसे अनेक प्रमुख राजनीतिज्ञ इसमें शामिल हो गये जो इसके पहले इससे अलग रहे थे। सभी पक्ष सरकार का सक्रिय प्रतिरोध करने को तैयार हो गये।

इसी बीच अगस्त १९१७ में गृह सरकार की ओर से मोन्टेग्यू घोषणा से यह संघर्ष टल गया। मोन्टेग्यू घोषणा में नीति सम्बन्धी वक्तव्य देते हुए यह आश्वासन दिया गया कि क्रमिक रूप से उत्तरदायी सरकार की स्थापना हेतु यथाशीघ्र संवैधानिक उपाय किये जायेंगे और इस उद्देश्य से भारत सचिव इस देश का दौरा करके सभी भारतीय नेताओं से परामर्श करेंगे। भारत में व्याप्त असंतोष को शान्त करते हुए जहाँ इस नीतिगत फैसले का ऐलान किया गया वहीं सितम्बर १९१७ को ऐनी बेसेन्ट को मुक्त कर दिया गया।

ऐनी बेसेण्ट की रिहाई राष्ट्रवादी शक्तियों की बड़ी विजय थी। वे लोकप्रियता की सीढ़ी पर चढ़ती गयीं और १९१७ के अधिवेशन का अध्यक्ष बनाकर कांग्रेस ने उनके प्रति सम्मान व्यक्त किया। १९१७ की समाप्ति तक होमरूल आंदोलन और ऐनी बेसेण्ट सफलता के चरम उत्कर्ष तक पहुँच गयीं।

जितनी तेजी से ऐनी बेसेन्ट भारत के राजनीतिक क्षितिज पर उभरीं उतनी ही तेजी से उनका पतन हो गया। १९१८ के समाप्त होते-होते भारतीयों ने उनके नेतृत्व को नकार

दिया और तुरंत ही होमरूल आंदोलन बिखर गया। तिलक भी इसी समय अनेक महीनों के लिये लंदन चले गये। वे भी होमरूल आंदोलन को प्रभावी न रख सके।

ऐनी बेसेण्ट और उनके आंदोलन के कमजोर पड़ जाने का मुख्य कारण यही था कि वे ब्रिटिश सरकार के प्रति बढ़ते हुए असंतोष और उसका प्रतिरोध करने के पक्ष में नहीं थीं। प्रथम महायुद्ध समाप्त होते-होते भारतीय जनता और प्रभावी रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता से संघर्ष करना चाहती थी। लेकिन १६१८ से ही ऐनी बेसेन्ट ने अपनी नीति बदल ली। वे नरमपंथियों के स्वर में बोलने लगीं और मोन्टेग्यू घोषणा का स्वागत करते हुए संवैधानिक़ परिवर्तनों हेतु ब्रिटिश सरकार के समर्थन की वकालत करती दिखायी दीं। जब ऐनी बेसेन्ट प्रतिरोध के स्थान पर ब्रिटिश सरकार से सहयोग करने की बात करने लगीं तो उनके प्रति जनसमर्थन तेजी से घटा। यों तो वे १६३३ तक राजनीति में सक्रिय रहीं लेकिन भारतीय राजनीति की मुख्य धारा से अलग ही रहीं।

होमरूल आंदोलन के प्रभाव के विषय में यह कहा जा सकता है कि एक देशव्यापी संघर्ष आयोजित करके इसने ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता को चुनौती दी। इसकी अन्य उपलब्धि थीं उन क्षेत्रों में राजनीतिक जागरण का संचार करना जो उस समय तक कम सक्रिय थे। गुजरात, सिन्ध, यू.पी. और बिहार में होमरूल आंदोलन के माध्यम से राजनीतिक जागरूकता का संचार हुआ। इस आंदोलन ने संगठन का महत्त्व सिद्ध किया। देश के कोने-कोने में होमरूल संगठन स्थापित करके ज़िस प्रकार जन जागरण किया गया वैसा कार्य इसके पहले कभी नहीं किया गया था। इसने संगठन की शक्ति प्रदर्शित की। स्वशासन की माँग उठाकर और प्रशासनिक व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन की माँग करके इस आंदोलन ने ब्रिटिश सरकार को इस ओर कदम बढ़ाने पर विवश किया।

●●●

पच्चीसवाँ अध्याय

असहयोग आन्दोलन से सविनय अवज्ञा आन्दोलन तक राष्ट्रीय चेतना का दौर

पहले महायुद्ध के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन ने एक नये युग में प्रवेश किया। अभी तक एक सीमित दायरे में रहकर ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चुनौती दी गयी थी। राष्ट्रीय संघर्ष में केवल उच्च और मध्यम वर्ग के लोग ही शामिल हुए थे। ब्रिटिश सरकार के प्रति आशा भरी दृष्टि से देखने का दौर चलता रहा था। १९२० से राष्ट्रीय संघर्ष का स्वरूप बदला, जन आंदोलन करने की प्रबल भावना जागी और गांधी जी के नेतृत्व में पहले असहयोग आंदोलन और फिर सविनय अवज्ञा आंदोलन का अभियान चला। ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता से मोहभंग हो जाने से देशव्यापी स्तर पर आंदोलनात्मक संघर्ष करने का मार्ग प्रशस्त हुआ।

१९१४ से लेकर १९१८ तक के चार वर्षों तक पहला महायुद्ध चलता रहा। इस दौरान भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों में विरोधाभास साफतौर से दिखायी दिया। एक साम्राज्यवादी ताकत के रूप में यह महायुद्ध ब्रिटेन के लिए महत्त्वपूर्ण था। परन्तु भारत इससे सीधे जुड़ा हुआ नहीं था। यह युद्ध भारतीय सीमाओं से बहुत दूर लड़ा गया। इस कारण महायुद्ध से भारत अलग रह सकता था। यदि ऐसा नहीं हुआ तो इसका कारण यह था कि जब ब्रिटेन महायुद्ध में शामिल हुआ तो उसने अपने अधीन उपनिवेश के रूप में भारत को भी इसमें शामिल करा दिया। भारत में इसका कतई विरोध नहीं किया गया। प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्रनेताओं ने उत्साह से महायुद्ध के प्रयासों का समर्थन किया। चार वर्षों तक विशाल जन और धन को न्योछावर करके भारत ने ब्रिटेन का साथ दिया। यह कहना भी सही होगा कि उसे साथ देना ही पड़ा। युद्ध के प्रयासों के प्रति उत्साह और समर्थन व्यक्त करने के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रनेता युद्ध की समाप्ति पर बड़े राजनीतिक सुधार की उम्मीद करते रहे। उन्होंने यह आशा की थी कि उनके सुझावों को ध्यान में रखकर प्रशासन को नया रूप दिया जायेगा। ऐसी स्थिति में महायुद्ध के बाद का समय सरकार के इरादों की परीक्षा का समय था। यदि सरकार ने महायुद्ध के दौरान उपजी आशावादिता के अनुसार कार्य नहीं किया तो फिर भारत में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई। इसका उल्लेख यथास्थान किया जा रहा है।

ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता ने भारतीय धन और साधनों को युद्ध प्रयासों में झोंक दिया। यह इसी से प्रकट हो जाता है कि हर वर्ष भारत में १५ हजार सैनिक भर्ती करने के बजाय महायुद्ध के वर्षों में यह भर्ती बीस गुना बढ़ा दी गयी। युद्ध के अंतिम वर्ष में तीन लाख सैनिक भर्ती किये गये। इतनी बड़ी संख्या में भर्ती किये गये सैनिकों का खर्च भारतीय खजाने से किया गया। इतना ही नहीं, हजारों भारतीय सैनिकों को युद्ध में भेजने और उनके साजो-सामान का खर्च भी भारतीय खजाने से दिया गया। परिणाम यह हुआ कि भारत सरकार का सैनिक खर्च

३०० प्रतिशत बढ़ गया। इस असाधारण बढ़ोत्तरी को पूरा करने के लिए जनता पर प्रतिवर्ष नये-नये कर लगाये गये जिनको अदा करते-करते लोगों की कमर टूटने लगी। एक ओर कर के बोझ से और दूसरी ओर कीमतों में हुई अंधाधुंध बढ़ोत्तरी से भारतीयों का जीवन कष्टमय हो गया। सरकार के आँकड़ों में स्वीकार किया गया कि अनाजों की कीमतें ९३ प्रतिशत, आयातित वस्तुओं की कीमतें १९० प्रतिशत और देश में बनी हुई वस्तुओं की कीमतें ६० प्रतिशत बढ़ीं। कीमतों के बढ़ने से लोगों में बेचैनी फैली, सामाजिक तनाव बढ़े और सरकार के प्रति नाराजगी बढ़ी। इसी पृष्ठभूमि में श्रमिकों और किसानों की बेचैनी को समझा जा सकता है। मिल-मालिकों ने उद्योगों से, महायुद्ध के समय, बेशुमार मुनाफा कमाया। लेकिन मजदूरों की दशा दिनों दिन खराब होती गयी। ऐसी स्थिति में मजदूरों को संगठित करने के पहली बार प्रयास आरम्भ हुए और महायुद्ध की समाप्ति के साथ-साथ श्रमिक आंदोलन ने जोर पकड़ा। किसान संघर्ष भी इन्हीं वर्षों में पनपा। महायुद्ध के तुरन्त बाद के वर्षों में जैसी उत्तेजना किसानों में दिखाई दी वह असाधारण थी।

पहले महायुद्ध से उपजे सामाजिक-आर्थिक असन्तोष ने राजनीतिक असन्तोष का आधार तैयार किया। बेचैनी शहरों और गाँवों में समान ढंग से व्याप्त थी। आवश्यकता थी अलग-अलग सामाजिक वर्गों की मनोभावना को समझने की, इनको दिशा देने की और अलग-अलग बिखरे सामाजिक वर्गों को एकजुट करने की। यह कार्य गाँधी जी ने किया। महायुद्ध के बाद के वर्षों में वे तेजी से राष्ट्रीय राजनीति में उभरे। यदि कुछ वर्षों में ही स्वतंत्रता संघर्ष के संचालन की बागडोर उनके सबल हाथों में आ गयी तो इसका कारण यही था कि उनके द्वारा बताये गये रास्ते पर केवल कुछ सामाजिक वर्गों के लोग ही नहीं अपितु सभी सामाजिक वर्ग विश्वास के साथ आगे बढ़े।

गाँधी जी का उदय

१९१५ के आरम्भ में गाँधी जी स्वदेश लौटे। इसके पहले वे बीस वर्षों से भी अधिक समय तक दक्षिण अफ्रीका में रहे थे। राजनीतिक संघर्ष के अपने तरीकों को गाँधी जी ने यहीं अपनाया, जीवन दर्शन के सिद्धान्तों पर विचार किया और सामाजिक-आर्थिक नीतियों पर गम्भीर चिन्तन किया। दक्षिण अफ्रीका में काली जातियों पर जो तरह-तरह के अन्याय किये जाते थे उनके खिलाफ गाँधी जी खड़े हुए। उन्होंने वहाँ के अफ्रीकियों और एशिया मूल के लोगों को संगठित करके गोरों के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया। सत्याग्रह को दक्षिण अफ्रीका में अपनाकर उन्होंने इसे अपनी राजनीति का आधार बनाया। भारत में आकर उन्होंने समय आने पर सत्याग्रह को व्यापक पैमाने पर लागू किया।

भारतीय राजनीति में प्रवेश करने के समय गाँधी जी की अपनी अलग रणनीति थी। उन्होंने अपनी सुविचारित नीतियों के अनुसार ही हमेशा कार्य किये। सत्याग्रह और अहिंसा उनके दो प्रमुख अस्त्र थे। इन्हीं दो नीतियों पर जोर देते हुए उन्होंने स्वराज-संघर्ष किया। राजनीति की उनकी अलग परिभाषा थी। उन्होंने धर्म और नैतिकता पर आधारित राजनीति को उचित बताया। इसी कारण वे उचित साधनों पर जोर देते रहे। लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु अनुचित साधनों

को उन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया। धर्म के प्रति उनकी अगाध आस्था थी। लेकिन फिर भी दूसरे धर्मों के प्रति उन्होंने आदर का भाव सदैव व्यक्त किया। दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष के समय से ही उन्होंने अनेक जातियों और धार्मिक समुदायों के बीच रहकर कार्य किया था। इसी से भारत वापस आकर उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही राजनीतिक मंच पर लाने की कोशिश की। यहाँ यह भी उल्लेख करना उचित होगा कि गाँधी जी ने सामाजिक विकास को राजनीति का प्रधान अंग बनाया।

गाँधी जी अपनी रणनीति को लेकर, अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को लेकर भारतीय राजनीतिक रंगमंच में उतरे। उन्होंने भारतीय राजनीति का निकट से अवलोकन करके अपने कदम बढ़ाये। प्रथम महायुद्ध के बाद भारत में व्याप्त असन्तोष को उन्होंने पहचाना। जिस चतुराई और विलक्षण सूझ-बूझ से उन्होंने चारों ओर फैली बेचैनी को पहचाना उससे उन्हें आगे का रास्ता तय करना आसान हो गया। उन्होंने राजनीतिक संघर्ष का जो मार्ग सुझाया उसमें किसानों और मजदूरों को भी उसी प्रकार से भूमिका निभानी थी जिस प्रकार से मध्यवर्ग के लोग निभा सकते थे। उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को थोड़े से वर्गों का संघर्ष नहीं अपितु जन-आंदोलन बनाया। राष्ट्रीय संघर्ष को जन-जन का संघर्ष बनाकर और इसके आधार को व्यापक बनाकर गाँधी जी ने इसे सशक्त बनाया। उन्होंने इस कार्य को किस प्रकार पूरा किया इसका ब्योरेवार विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

शुरू के वर्षों में गाँधी जी ने स्थानीय स्तर के तीन सत्याग्रह अभियान चलाये। इससे यह प्रकट होता है कि कांग्रेस से कुछ दूर रहते हुए उन्होंने स्थानीय स्तर पर कार्य करना उचित माना। १९१७ में उन्होंने चम्पारन के भूमिहीन किसानों के पक्ष में हस्तक्षेप किया। उत्तरी बिहार के इस जिले के किसानों को स्थानीय गोरे जमींदारों द्वारा सताया जा रहा था। उन्हें मजबूर होकर नील की खेती नुकसान उठाकर करनी पड़ती थी। प्रभावशाली जमींदारों के अत्याचारों से तंग आकर यहाँ के किसानों के प्रतिनिधियों ने गाँधी जी से सहायता माँगी। गाँधी जी स्वयं वहाँ गये और उन्होंने किसानों के पक्ष में सत्याग्रह किया। किसानों का उत्साह इससे बढ़ा। सरकार ने हस्तक्षेप करके नये नियम बनाये जिसके अनुसार नील की खेती करने अथवा न करने की छूट यहाँ के किसानों को मिल गयी।

लगभग इसी प्रकार से वे गुजरात के खेड़ा जिले के किसानों के पक्ष में आगे आये। यहाँ समस्या यह थी कि अत्यधिक वर्षा के कारण जाड़े की फसल नष्ट हो जाने पर भी सरकार किसानों द्वारा लगान की अदायगी को स्थगित करने को राजी नहीं थी। इससे नवम्बर १९१७ में यहाँ के किसानों ने अपनी माँग पर जोर डालने की इच्छा से संघर्ष छेड़ दिया। गाँधी जी ने किसानों का समर्थन किया। वे किसानों के बीच गये और उन्होंने किसानों को लगान अदा करने की सलाह दी। गाँधी जी ने सत्याग्रह शुरू कर दिया। इसमें किसानों ने उत्साह से भाग लिया। हालाँकि सरकार ने पूरी तरह से लगान की छूट नहीं दी फिर भी गाँधी जी को किसानों की एकता से काफी राहत मिली।

फरवरी १९१८ में अहमदाबाद के मिल मालिकों और मजदूरों के बीच के विवाद सुलझाने

में गाँधी जी ने रुचि ली। विवाद का कारण यह था कि मिल मालिक बोनस को अदा करने में आनाकानी कर रहे थे। वे मजदूरों के वेतन में कुछ वृद्धि से अधिक और कुछ करने को राजी नहीं थे। यह स्थिति पहले महायुद्ध के फलस्वरूप उपजी थी। लगभग दस हजार मजदूरों ने हड़ताल कर दी जिसका गाँधी जी ने समर्थन किया। जब हड़ताल से मजदूर निराश होने लगे तो गाँधी जी ने अनशन करने का इरादा घोषित कर दिया। इससे मिलमालिकों पर असर पड़ा और उन्होंने मजदूरों की माँगें मान लीं।

शुरू-शुरू में इन स्थानीय संघर्षों में भाग लेकर गाँधी जी ने सत्याग्रह आंदोलन के सीमित प्रयोग किये। लेकिन १९१८ के अन्त तक वे आगे के रास्ते के बारे में दुविधा की स्थिति में थे। इस समय तक भी सोच-विचार कर रहे थे। रौलेट सत्याग्रह को चलाकर उन्होंने पहला देशव्यापी अभियान शुरू किया। इसी के साथ-साथ राष्ट्रीय संघर्ष नयी दिशा की ओर मुड़ा।

रौलेट सत्याग्रह

फरवरी और मार्च १९१९ में तथाकथित रौलेट विधेयक को लेकर केन्द्रीय विधान सभा में गंभीर विवाद छिड़ा। इससे देश में उभरते राजनीतिक आक्रोश का आभास मिला। विधान सभा के सम्मुख प्रस्तुत इस विधेयक के द्वारा सरकार ने महायुद्ध के समय प्राप्त दमनकारी अधिकारों को बनाये रखना चाहा। विधेयक में यह प्रावधान था कि सरकार किसी भी व्यक्ति को संदेह के आधार पर वन्दी बना सकती थी और बिना मुकदमा चलाये किसी को भी दो वर्ष तक जेल में रखा जा सकता था। विशेष न्यायालयों को गठित करके किसी के विरुद्ध भी गोपनीय मुकदमा चलाया जा सकता था और ऐसी सजा के खिलाफ अपील नहीं हो सकती थी। सरकार को किसी भी दस्तावेज अथवा प्रकाशन सामग्री को राजद्रोहात्मक घोषित करने का अधिकार था। जहाँ सरकार की ओर से इस विधेयक के पक्ष में दलीलें पेश की गयीं वहीं चुने गये गैर-सरकारी भारतीयों ने एक स्वर से इस विधेयक का विरोध किया। अन्त में केवल विधान सभा के सरकारी सदस्यों के मत से यह विधेयक पास हो गया।

यों तो विधेयक के खिलाफ चारों ओर आलोचना की आवाजें उठीं लेकिन मौखिक विरोध के अलावा भारतीय नेताओं को और कोई रास्ता नहीं दिखाई दिया। इसी समय गाँधी जी आगे आये। रौलेट विधेयक का मुकाबला करने की दृष्टि से उन्होंने देशव्यापी सत्याग्रह शुरू कर देने का सुझाव दिया। यहीं से भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के स्वरूप में नया मोड़ आया। केवल मौखिक विरोध अथवा प्रार्थना करने के बजाय सरकार के निर्णय के खिलाफ जन-आंदोलन से देश में उत्साह का भाव जगा। इसी से रौलेट विधेयक के खिलाफ गाँधी जी द्वारा छेड़ा गया संघर्ष महत्त्वपूर्ण बना।

गाँधीजी का तर्क यह था कि ब्रिटिश सरकार ने विधेयक पास करके भारतीय जनमत की उपेक्षा इसलिए की थी क्योंकि यहाँ न तो जनशक्ति को संगठित किया गया था और न जनशक्ति को प्रभावी बनाया गया था। इस कारण उन्होंने एक व्यापक अभियान शुरू करने का संकल्प किया। स्मरण रखना होगा कि तत्कालीन वाइसराय ने गोपनीय निजी पत्रों में आंदोलन की तैयारियों को 'झाँसा' कहकर टाल दिया था और कहा था कि गाँधीजी सरकार को 'भयभीत'

करने की कोशिश कर रहे थे। लेकिन गाँधीजी ने कुछ दिनों में ही विरोध की ताकत को साबित कर दिया।

गाँधी जी ने सीधी कार्यवाही करने का नया रास्ता देशवासियों के सामने रखा। उनका विश्वास था कि इससे 'वातावरण स्वच्छ करके वास्तविक स्वराज' लाया जा सकता था। उन्होंने स्वतंत्र रूप से तैयारी की, अलग से सत्याग्रह सभा गठित की, होमरूल से जुड़े लोगों की मदद ली और ऐसे मुस्लिम नेताओं को साथ लिया जो सरकार के खिलाफ खड़े होने को तैयार थे। जो लोग सत्याग्रह के मार्ग पर चलने को तैयार थे उनसे एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा गया। इसमें रौलेट कानून तथा इसी प्रकार के अन्य कानूनों को अस्वीकार करने की शपथ ली गयी।

गाँधीजी द्वारा प्रस्तावित योजना के अनुसार ६ अप्रैल को देशव्यापी हड़ताल आयोजित की गयी। हर प्रान्त में विरोध प्रदर्शन के प्रति उत्साह दिखाई दिया। शहरों में विशेष रूप से हड़ताल के प्रति भारी जोश दिखाई दिया। कुछ प्रान्तों का उत्साह दूसरे प्रान्तों से अधिक था। यह देशव्यापी कार्यक्रम के लिए सामान्य बात थी। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि १८५७ के विद्रोह के बाद पहली बार सरकार के किसी निर्णय के खिलाफ ऐसा विरोध देखा गया था। यह १९१९ के सत्याग्रह आंदोलन की एक बड़ी उपलब्धि थी।

६ अप्रैल की हड़ताल के दिन सारा कामकाज ठप्प रहा। सभी ने उपवास रखा और प्रार्थनाएँ की। जगह-जगह सभाएँ करके रौलेट अधिनियम जारी करने के लिए सरकार की निन्दा की गयी। इन सभाओं में हिन्दुओं और मुसलमानों की एक साथ उपस्थिति की ओर सभी का ध्यान गया। प्रत्येक रविवार को इसी प्रकार की हड़तालों का क्रम जारी रहा।

इसी बीच पंजाब में जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड होने से आंदोलन में अचानक मोड़ आया। अहमदाबाद में भी हिंसा फैली। आंदोलन की हिंसात्मक घटनाओं को देखते हुए गाँधीजी ने १८ अप्रैल को सत्याग्रह वापस ले लिया। हालाँकि रौलेट सत्याग्रह कुछ सप्ताहों तक ही चला फिर भी इससे राष्ट्रीय स्तर पर संघर्ष का भाव जगा।

जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड

पंजाब के प्रमुख नगरों में ६ अप्रैल को शांतिपूर्ण प्रदर्शन और हड़ताल की गयी। लेकिन अमृतसर में उत्तेजना का सिलसिला जारी रहा। इसे देखकर पंजाब के गवर्नर माइकेल ओडायर ने जिस दमनकारी नीति को अपनाया उसी की परिणति जलियाँवाला बाग काण्ड में हुई। उसने १० अप्रैल को दो स्थानीय नेताओं, सत्यपाल और सैफुद्दीन किचलू को गिरफ्तार करने की आज्ञा जारी की। इस सूचना के साथ-साथ गाँधी जी की गिरफ्तारी की खबर भी नगर में फैलते ही विरोध प्रदर्शन करती हुई भीड़ उमड़ पड़ी। इस भीड़ पर पुलिस ने बड़ी बेरहमी से गोली चलायी जिसमें कुछ लोग आहत हुए। अमृतसर में गोली चलने के दूसरे दिन नगर पर सेना ने नियंत्रण कर लिया। जनरल डायर ने स्थिति पर काबू पाने की दृष्टि से १२ अप्रैल को सभाओं पर रोक लगा दी। लेकिन यह सूचना लोगों तक नहीं पहुँची।

१३ अप्रैल को वैशाखी पर्व के दिन सायंकाल के समय अमृतसर नगर के जलियाँवाला बाग नामक खुले स्थान पर एक जनसभा आयोजित की गयी। त्योहार के दिन नगरवासी तथा बाहर के लोग यहाँ बड़ी संख्या में एकत्र हुए, इसी स्थान पर एक सभा शुरू हुई और स्थानीय नेताओं के भाषण होने लगे। किसी को भी यह अनुमान नहीं था कि वे वहाँ एकत्र होकर सरकार की किसी आज्ञा की अवहेलना कर रहे थे। अचानक ही सभास्थल के निकट के ऊँचे स्थान पर पचास से अधिक बन्दूकधारी सैनिकों को लेकर जनरल डायर ने प्रवेश किया। जैसा कि उसके बाद के अपने बयान में स्वीकारा, बिना किसी पूर्व चेतावनी दिये हुए जनरल डायर ने इन निहत्थे और शांतिप्रिय लोगों पर गोली चलाने की आज्ञा दे दी। बाग के चारों ओर चहारदीवारी होने तथा तीन-चार सँकरे निकास होने के कारण यहाँ एकत्रित भीड़ गोली चलने पर न तो अचानक तितर-बितर हो सकी और न ऐसा हो पाना संभव ही था। सैनिकों द्वारा गोली चलाये ज़ाने से बाग में भगदड़ मच गयी और सभी लोगों ने सँकरे और छोटे दरवाजों से निकल भागने की कोशिश की। इस स्थिति में जनरल डायर ने सैनिकों को उन जगहों पर गोली चलाने की आज्ञा दी जहाँ भीड़ सबसे अधिक थी। बाग पहुँचने पर जनरल डायर ने लोगों की जान लेने की पहले से ठान ली थी। सैनिकों के पास जितनी गोलियाँ थीं उतने समय तक गोलियों की वर्षा होती रही, सैकड़ों की तादात में लाशें बिछती गयीं। जनरल डायर ने गोली काण्ड को तभी रोका जब गोलियाँ सैनिकों के पास समाप्त हो गयीं। प्रायः दस से पन्द्रह मिनट तक ६५० राउण्ड गोली चली। जनरल डायर ने बाद के बयान में साफ तौर पर माना कि उसका उद्देश्य पंजाब के लोगों को सबक सिखाना था। यह उसने आतंक जमाकर किया। उसने बयान में यह भी कहा था कि अगर दो तोप गाड़ियाँ बाग में जा सकी होती तो उनसे भी और गोलियाँ चलतीं।

जलियाँबाग बाग में जिस प्रकार का हत्याकाण्ड हुआ, जैसा वीभत्स नरसंहार जान-बूझकर किया गया और भातीयों में दशहत फैलाने की जैसी कोशिश की गयी, उसका प्रभाव लम्बे समय तक पड़ा।

इस हत्याकाण्ड पर पर्दा डालने की सरकार की कोशिशें पूरी न हो सकीं। दो समितियों द्वारा घटनाओं की छानबीन की गयी। एक समिति कांग्रेस ने गठित की। इसमें गाँधीजी, सी. आर.दास., एम.आर. जयकर, फजलुल हक, अब्बास तैय्यबजी आदि विख्यात न्यायविदों को शामिल किया गया। कांग्रेस द्वारा नियुक्त समिति के सदस्यों ने अमृतसर जाकर प्रत्यक्षदर्शियों से जानकारी हासिल की और सभी आवश्यक तथ्य जुटाकर जनरल डायर के कुकृत्य का पर्दाफाश किया। समिति का कहना था कि सैनिक और असैनिक अधिकारियों ने बदले की भावना से काम करके अकारण ही डर फैलाने की कोशिश की। इस समिति का मत था कि लगभग बारह सौ लोगों की हत्या की गयी। इस अमानवीय और बर्बरतापूर्ण कार्य के लिए उसने ब्रिटिश प्रशासन को दोषी बताया।

इसी बीच सरकार द्वारा भी एक समिति गठित कर दी गयी जो हंटर समिति कहलायी। इसकी रिपोर्ट मई १९२० को प्रकाशित की गयी। भारत और ब्रिटेन के सम्बन्धों में हंटर समिति की रिपोर्ट एक विभाजित रेखा बनी क्योंकि इसी से जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड के बारे में

सरकार का रुख सामने आया। गाँधीजी तथा देश के अनेक राष्ट्रनेता यह आशा कर रहे थे कि ब्रिटिश सरकार अपनी गलती कबूल करते हुए जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड पर सार्वजनिक रूप से खेद प्रकट करेगी। लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं किया गया। सरकार ने केवल यह कहा कि जनरल डायर ने 'कर्त्तव्य को समझने में गलती की।' लेकिन इसी के साथ-साथ सरकार ने यह भी कहा कि इस सैनिक अधिकारी को 'यह भरोसा था कि वह जो कुछ कर रहा था उचित कर रहा था।' सरकार ने यह भी कहा कि डायर के इस कदम से पंजाब में दंगे रुके। जाहिर है कि हंटर समिति की रिपोर्ट ने बड़ी चतुराई से ब्रिटिश अधिकारियों को बचाने की कोशिश की। इससे भारतीयों में निराशा फैली। सरकार के बयान से यह भी प्रमाणित हुआ कि वह दिखावे के लिए भी इस हत्याकाण्ड पर खेद प्रकट करने को तैयार नहीं थी।

राष्ट्रवादियों के दिलों में इस हत्याकाण्ड की याद हमेशा ताजी बनी रही। इससे जो घृणा उपजी, जो विरोध जगा और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ जैसी भावना फैली उससे राष्ट्रीय संघर्ष सशक्त हुआ।

खिलाफत आन्दोलन

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होते ही भारतीय मुसलमानों ने टर्की सुल्तान के साम्राज्य और उसके धार्मिक प्रभुत्व को बनाये रखने के उद्देश्य से एक अभियान आरम्भ किया। टर्की का सुल्तान इस्लामी जगत का प्रमुख अर्थात् खलीफा माना जाता था। खलीफा का पद एक प्रतीक मात्र रह गया था और परम्परागत पद की छाया से अधिक नहीं था। फिर भी उसके धार्मिक और राजनीतिक प्रभुत्व को बनाये रखने का सवाल महायुद्ध के उपरान्त इस कारण चर्चा का विषय बना क्योंकि टर्की का सुल्तान भी यूरोप के पराजित राष्ट्रों के साथ था। सुल्तान के विशाल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने और उसके राजनीतिक प्रभाव के समाप्त होने की आशंका थी। उन यूरोपीय राष्ट्रों में ब्रिटेन प्रमुख था जो टर्की के भविष्य पर निर्णय करने वाले थे। इसी से भारतीय मुसलमानों ने संगठित होकर ब्रिटेन पर जोर डालने का निश्चय किया और माँग की कि खलीफा के रूप में उसकी विशेष स्थिति को देखते हुए उसके साम्राज्य का न तो बँटवारा किया जाये और न इस साम्राज्य के नये राष्ट्रों को राजनीतिक स्वतंत्रता दी जाये। टर्की के सुल्तान के अधिकारों के पक्ष में चलाया गया यह आंदोलन 'खिलाफत आंदोलन' कहलाया। इसको पनपने का मौका इस कारण मिला क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों ने टर्की से सन्धि करने में लगभग दो वर्षों की देरी की। टर्की के भविष्य के अधर में लटकने से भारत में खिलाफत आंदोलन को जड़ जमाने का समय मिला।

महायुद्ध के बाद खलीफा के सम्मुख उत्पन्न खतरे से भारत के ब्रिटिश विरोधी मुस्लिम नेताओं को ऐसा अवसर मिला जिसकी ये तलाश कर रहे थे। वे भारतीय मुसलमानों को संगठित करने और उनमें राजनीतिक चेतना जगाने के कार्य में जुट गये। इस धार्मिक प्रश्न से कट्टरपंथी मुस्लिम नेता और पश्चिम से प्रेरणा पाने वाले मुस्लिम नेता भी एक ही मंच पर इकट्ठा हो गये। यह भी उल्लेखनीय है कि जब मुसलमानों में ब्रिटिश विरोधी भावना बढ़ी और जब उन्होंने एक राजनीतिक संघर्ष शुरू करना चाहा तो प्रमुख कांग्रेस नेताओं ने और विशेष रूप से गाँधीजी

ने उनका साथ दिया। खिलाफत आंदोलन में शामिल होकर गाँधीजी और उनके सहयोगियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों को एक साथ मिलकर संघर्ष करने की राह दिखाई।

खिलाफत आंदोलन तीन चरणों में विकसित हुआ। इसका पहला चरण दिसम्बर १९१९ तक चला। इस अवधि में टर्की के सुल्तान के प्रति सहानुभूति का भाव विकसित करने के उद्देश्य से एक सर्वभारतीय खिलाफत समिति गठित की गयी। इसी समिति के नेतृत्व में खिलाफत आंदोलन चला, नया मुस्लिम नेतृत्व उभरा और गाँधीजी तथा दूसरे कांग्रेस नेताओं ने खिलाफत सम्मेलनों में भाग लेना शुरू किया। दूसरा चरण दिसम्बर, १९१९ से मई १९२० तक का था। इस दौरान अली बन्धु, मोहम्मद अली और शौकत अली जेल से रिहा हुए। उनके और मौलाना अबुल कलाम आजाद के शामिल होने से खिलाफत संघर्ष और भी सक्रिय हो गया। इसमें व्यापारी वर्ग के नेताओं के स्थान पर पत्रकारों के शामिल होने से प्रचार अभियान तेज हुआ। इसी समय से अन्य वर्गों के मुसलमानों ने खिलाफत में अधिक संख्या में भाग लेना शुरू किया, सभाओं और सम्मेलनों की संख्या बढ़ी और उनको संगठित करने के अनेक उपाय किये जाने लगे।

इसी बीच आगामी कार्यवाही पर खिलाफतियों द्वारा अलग-अलग मत व्यक्त किये गये। इनका एक वर्ग ब्रिटेन और यूरोप में खिलाफत के पक्ष में प्रचार करने का समर्थन कर रहा था। मोहम्मद अली के नेतृत्व में खिलाफत प्रतिनिधि मण्डल विदेश यात्रा पर निकला। लेकिन इसे कुछ विशेष हासिल नहीं हुआ। मार्च, १९२० में जब खिलाफत प्रतिनिधि मण्डल ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज से मिले तो उसने स्पष्ट तौर पर खिलाफत की आलोचना की।

मई, १९२० में टर्की के साथ संधि का प्रारूप यूरोपीय राष्ट्रों ने घोषित कर दिया। इससे जाहिर हो गया कि इस साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने का निश्चय कर लिया गया था। इससे भारतीय मुसलमानों को घोर निराशा हुई। वे विशेष रूप से ब्रिटेन से नाराज हुए जिसने उनकी अपीलों को अनसुना कर दिया था। प्रस्तावित संधि की शर्तों के अनुसार टर्की के अधीन कई क्षेत्रों पर उसका अधिकार समाप्त कर दिया गया और इस्लाम के पवित्र स्थानों पर टर्की का अधिकार भी समाप्त कर दिया गया। यहीं से खिलाफत संघर्ष का तीसरा चरण शुरू हुआ। मुसलमानों में रोष की लहर को देखते हुए गाँधीजी ने खिलाफत के नेताओं के सम्मुख एक सक्रिय और व्यापक जनसंघर्ष का कार्यक्रम पेश किया। उन्होंने ब्रिटिश सरकार के खिलाफ असहयोग करने का सुझाव खिलाफत सम्मेलन में रखा। उनका कहना था असहयोग आंदोलन के द्वारा खिलाफत आंदोलन को सक्रिय किया जा सकता था। खिलाफत नेताओं ने गाँधीजी के असहयोग कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। इसको व्यापक समर्थन मिलने का आधार तैयार हो गया। शीघ्र ही कांग्रेस ने भी गाँधीजी की असहयोग नीति को स्वीकार कर लिया। यहीं से खिलाफत आंदोलन और गाँधीजी के नेतृत्व में चलाया गया कांग्रेस का असहयोग आंदोलन एक दूसरे से जुड़ गये। इन्हें एक ही जन-आन्दोलन के रूप में चलाया गया।

कांग्रेस द्वारा असहयोग आंदोलन की स्वीकृति

पहले महायुद्ध से उपजी निराशा, रौलेट सत्याग्रह के समय प्रकट किये गये रोष, जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड और खिलाफत आंदोलन से यह जाहिर था कि भारतीय जनता

ब्रिटिश सरकार के प्रति निराश हो चुकी थी। उसका क्षोभ और आक्रोश लगातार बढ़ता जा रहा था। इस स्थिति में परम्परागत प्रस्ताव और प्रार्थना की राजनीति के बजाय और अधिक सक्रिय राजनीति का वातावरण बन रहा था। राष्ट्रीय संघर्ष की धारा को नयी दिशा में मोड़ने का कार्य गाँधीजी ने किया। कलकत्ता में आयोजित सितम्बर, १६२० के विशेष कांग्रेस अधिवेशन ने उन्हें वह अवसर दिया जिसकी वे प्रतीक्षा कर रहे थे।

मई, १६२० में टर्की के साथ संधि की शर्तों की घोषणा लगभग उसी समय हुई जब जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड पर सरकारी रिपोर्ट प्रकाशित हुई। इससे पुराने घाव फिर उभर आये, स्मृतियाँ ताजी हुईं और सरकार के प्रति क्रोध उफनने लगा। टर्की के साम्राज्य को नष्ट करने की साजिश में ब्रिटिश हाथ होने से खिलाफत संघर्ष ने जोर पकड़ा। हंटर समिति की रिपोर्ट और सरकार की प्रतिक्रिया से इस आशंका की पुष्टि हो गयी कि सैकड़ों भारतवासियों को गोली से भूँज देने पर भी ब्रिटिश नौकरशाही को न तो कोई पछतावा था न दुख ही। हंटर समिति की रिपोर्ट में ब्रिटिश अधिकारियों की काली करतूतों पर जिस तरह से पर्दा डालने की चाल चली गयी उससे ब्रिटिश प्रशासकों पर सन्देह की उँगली उठी। जन-आक्रोश को प्रतिध्वनित करते हुए गाँधीजी ने सार्वजनिक रूप से कहा कि 'साम्राज्य के वर्तमान प्रतिनिधि बेईमान और चरित्रहीन' हो गये हैं। उन्होंने यह भी घोषणा की कि 'ऐसे दोषी लोगों द्वारा चलायी जा रही सरकार के प्रति अब मैं निष्ठा नहीं बनाए रख सकता।' सरकार के प्रति केवल गाँधीजी का विश्वास ही नहीं उठ गया लाखों-लाखों भारतवासियों का विश्वास भी उठ गया। ऐसी सरकार का साथ देने को गाँधीजी तैयार नहीं थे। उनकी यह धारणा हुई कि भारतीयों द्वारा ऐसी सरकार का समर्थन करना उचित नहीं था। इसी आधार पर असहयोग आंदोलन शुरू किया गया। उनका विचार था कि जब भारतवासी सरकार की मदद करना बन्द कर देंगे तो फिर ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिल जायेंगी। इसी से स्वराज का रास्ता निकल सकता था। विशेष कांग्रेस अधिवेशन इसी विषय पर निर्णय करने को बुलाया गया था। गाँधीजी के असहयोग कार्यक्रम और उनकी नीतियों के प्रति कांग्रेस के प्रतिष्ठित नेताओं के मन में तरह-तरह की आशंकाएँ थीं। वे किसी भी तरह के जन-आंदोलन के पक्ष में नहीं थे। ब्रिटिश सरकार को खुली चुनौती देने का साहस वे बटोर नहीं पा रहे थे। जन संघर्ष से उन्हें अव्यवस्था का डर था। उन्होंने असहयोग को स्वीकार करने में अनेक बाधाएँ उपस्थित कीं। लेकिन विशेष कांग्रेस अधिवेशन में हवा का रुख गाँधीजी के अनुकूल दिखाई दिया। परम्परागत नीतियों में बदलाव करने वालों ने उनका साथ दिया। थोड़े से बहुमत से ही सही, विषय समिति द्वारा असहयोग को स्वीकार कर लिये जाने से गाँधीजी का पक्ष मजबूत हुआ। खुले अधिवेशन में गाँधीजी ने असहयोग कार्यक्रम पर प्रकाश डाला, नीतियों को स्पष्ट किया और ब्रिटिश सरकार के खिलाफ संघर्ष छेड़ देने की जरूरत बताई। उनके उपाय को स्वीकृत कर लिये जाने का अर्थ हुआ कांग्रेस द्वारा असहयोग आंदोलन को अपनाया जाना।

विशेष कांग्रेस अधिवेशन द्वारा स्वीकृत असहयोग कार्यक्रम के महत्त्व को देखते हुए इसकी कुछ विस्तृत चर्चा करना ठीक होगा। कांग्रेस ने खिलाफत समस्या और जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड पर सरकार की नीति की निंदा करते हुए कहा कि इन दोनों गलतियों के कारण देश

में असन्तोष व्याप्त था। भविष्य में ऐसी घटनाएँ न होने देने के उद्देश्य से स्वराज्य को स्थापित करना आवश्यक बताया गया। यह निश्चय किया गया कि अत्याचारी सरकार का सहयोग करना वन्द किया जाये। इस दिशा में अनेक कार्यक्रम स्वीकारे गये। मुख्य प्रस्ताव में कहा गया कि भारतीयों द्वारा सरकारी पदवियाँ लौटायी जायें, अवैतनिक स्थानों तथा स्थानीय संस्थाओं से हट जायें और सरकार द्वारा आयोजित समारोहों का बहिष्कार किया जाये। असहयोग कार्यक्रम में सरकार द्वारा अनुदान प्राप्त करने वाले और उसके अधीन रहकर काम करने वाले स्कूल और कालेज़ों का बहिष्कार करने को कहा गया तथा इनके स्थान पर राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना पर जोर दिया गया। न्यायालयों का बहिष्कार करने की अपील की गयी। नवगठित विधान सभाओं का बहिष्कार करने का आग्रह किया गया। स्वदेशी को अपनाने पर जोर देते हुए विशेष रूप से खादी के पक्ष में तर्क दिये गये। इस प्रकार के कार्यक्रमों का उद्देश्य था सरकार से समर्थन वापस लेना और व्यापक बहिष्कार कार्यक्रमों को अपनाना।

विशेष कांग्रेस अधिवेशन में गाँधीजी छाये रहे। अधिवेशन से यह प्रकट हो गया कि वे अपना कार्यक्रम लेकर, अपनी नीतियों और विचारों को लेकर आये थे। असहयोग आंदोलन के स्वीकार कर लिये जाने पर इस विशाल और शक्तिशाली संगठन की वागडोर उनके हाथों में आ गयी। वे कांग्रेस के प्रमुख प्रवक्ता, मार्गदर्शक और संगठनकर्ता वन गये।

यदि असहयोग कार्यक्रम के बारे में कलकत्ता में सन्देह व्यक्त किये गये, विरोधी स्वर उठे और आपत्तियाँ प्रकट की गयीं तो ऐसा इस कारण हुआ क्योंकि परम्परागत ढंग के बजाय नये रास्ते पर चलने को सभी नेता और कार्यकर्ता अचानक तैयार नहीं हुए। लेकिन तीन महीने वाद स्थिति में बदलाव साफ दिखाई दिया। विशेष अधिवेशन के निर्णयों का अनुमोदन दिसम्बर, १६२० के वार्षिक अधिवेशन में होना था। यह अधिवेशन जब नागपुर में हुआ तो प्रायः सभी ओर से सहमति व्यक्त की गयी। नागपुर अधिवेशन के होने तक गाँधीजी ने और अधिक समर्थन जुटा लिया था। उन्होंने लगातार दौरा करके, भाषण देकर और व्यक्तिगत सम्पर्कों द्वारा सहयोग आंदोलन की आवश्यकता सिद्ध कर दी थी। इसी से नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने एक स्वर से असहयोग कार्यक्रम को स्वीकारा। इससे गाँधीजी को बल मिला। वे भविष्य में और अधिक विश्वास से आंदोलन को प्रभावी बनाने की दिशा में आगे बढ़ सके।

नागपुर में गाँधीजी ने कांग्रेस के लक्ष्य को लोकप्रिय बनाने की दिशा में कार्य किये। कांग्रेस के संविधान को बदलकर यह कहा गया कि इस राष्ट्रीय संगठन का उद्देश्य होगा, 'सभी शांतिपूर्ण और उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना।' उन्होंने एक प्रकार से ब्रिटिश प्रशासकों को नोटिस जारी कर दिया। असहयोग का आरम्भ करने के समय गाँधी जी ने एक वर्ष में स्वराज्य लाने का वायदा किया। वे जानते थे कि स्वराज के नाम पर ही लोग संगठित और उत्साहित हो सकते थे। इसी कारण उन्होंने ऐसा लुभावना नारा दिया। असहयोग अभियान की तैयारी के रूप में गाँधी जी ने कांग्रेस के ढाँचे को भी सक्रिय बनाया। पहली बार एक पन्द्रह सदस्यीय कार्य समिति गठित की गयी जो किसी भी समय बैठक करके निर्णय ले सकती थी। इसी समय प्रान्तीय, जिला और नगर स्तरीय समितियों को चुस्त बनाने के निर्णय किये गये।

असहयोग आंदोलन की प्रगति

यूँ तो असहयोग आंदोलन १६२० के मध्य से शुरू कर दिया गया था फिर भी नागपुर कांग्रेस अधिवेशन के बाद ही इसे सक्रिय ढंग से चलाया गया। खिलाफत संगठन और कांग्रेस ने एक साथ मिलकर इसे चलाया। यह दोनों का आंदोलन था। खिलाफत के प्रमुख नेता सदैव गाँधीजी के साथ रहे। आंदोलनात्मक संघर्ष के दौरान उन्होंने कांग्रेसजनों के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर कार्य किया। आंदोलन के सभी स्तरों पर भी इसी प्रकार का असहयोग इसकी सबसे बड़ी शक्ति थी। हर जगह खिलाफत के समर्थकों ने असहयोग आंदोलन को सफल बनाने में सहयोग दिया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के माहौल में असहयोग को कारगर ढंग से चलाया जा सका।

असहयोग आंदोलन से राष्ट्रीय संग्राम में एक नया मोड़ आया। पहली बार वास्तविक अर्थों में एक जन-आंदोलन शुरू किया गया। जन-शक्ति को संगठित करके साम्राज्यवादी शक्तियों को चुनौती दी गयी।

इस आंदोलन का विवरण प्रस्तुत करते समय इसके देशव्यापी स्वरूप की चर्चा करनी होगी। यह देखना होगा कि बहिष्कार कार्यक्रमों को किस प्रकार अपनाया गया। आंदोलन के दौरान भी जो नये कार्यक्रम जोड़े गये अथवा इसे सक्रिय बनाने की दिशा में जो निर्णय किये गये उनके विषय में विचार करना होगा। लेकिन देशव्यापी स्वरूप के अलावा असहयोग आंदोलन के प्रान्तीय स्वरूप की चर्चा करने की भी जरूरत है। अलग-अलग प्रान्तों में स्थानीय परिवेश के कारण इसमें कहीं-कहीं विभिन्नता आयी। स्थानीय लोगों की अपनी आकांक्षाओं या समस्याओं के कारण यह आंदोलन कई प्रान्तों में निराले ढंग से विकसित हुआ।

विधान सभाओं के बहिष्कार का सवाल सबसे पहले सामने आया। नये सांविधानिक अधिनियम के अधीन नवम्बर, १६२० में चुनाव हुए। इन चुनावों का बहिष्कार करके असहयोग आंदोलन के प्रति समर्थन व्यक्त किया गया। बहिष्कार के दो रूप थे। एक था विधान सभाओं की सदस्यता हेतु चुनाव में खड़ा न होना और दूसरा था मतदाताओं को चुनाव का बहिष्कार करने को कहना। कांग्रेस की ओर से कोई भी व्यक्ति विधान सभाओं में खड़ा नहीं किया गया। परिणामतः प्रमुख कांग्रेस जनों की सेवाएँ सरकार को उपलब्ध न हो सकीं। अन्य छोटे राजनीतिक दलों और वर्गों ने चुनाव में भाग लिया। मतदान के समय गाँधीजी की अपील का पर्याप्त असर दिखायी दिया। सबसे अधिक प्रभाव मध्य प्रान्त में हुआ जहाँ सात चुनाव क्षेत्रों में कोई सदस्य चुनाव मैदान में उतरा ही नहीं। कुल ५२ चुनाव क्षेत्रों में से ३३ में कोई मुकाबला ही नहीं हुआ। यहाँ और कोई भी चुनाव के लिए खड़ा नहीं हुआ। इस प्रान्त में जिन क्षेत्रों में मतदान हुआ भी उन इलाकों में २२ प्रतिशत से अधिक मत नहीं पड़े। मध्य प्रान्त से प्राप्त सरकारी आँकड़ें बताते हैं कि यहाँ बहिष्कार का सबसे अधिक जोर रहा। इसके अलावा अन्य प्रान्तों की तस्वीर भी यही बताती है कि चुनाव के प्रति उत्साह की कमी सर्वत्र देखी गयी। बम्बई शहर में अधिक-से-अधिक आठ प्रतिशत मतदान हुआ जो असहयोग आंदोलन की एक बड़ी विजय कही जा सकती है। पंजाब में भी बहिष्कार प्रभावकारी रहा। यहाँ के शहरों में भी आठ प्रतिशत मतदाताओं ने मत दिये। लाहौर में तो केवल पाँच प्रतिशत वोट पड़े। सुदूर असम भी अप्रभावित

नहीं रहा। इस प्रान्त के ग्रामीण अंचलों में लगभग बीस प्रतिशत मतदान हुआ। यू.पी. में औसतन तैंतीस प्रतिशत मत पड़े। लेकिन यहाँ भी कई नगरों में मतदान कम हुआ। बिहार के कई शहरी क्षेत्रों का औसतन मतदान बीस प्रतिशत रहा। देशव्यापी स्तर पर यह कार्यक्रम पर्याप्त प्रभावकारी रहा।

पदवियों को त्यागने की अपील पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। अधिकतर पदवीधारी धनीमानी, जमींदार, ताल्लुकेदार आदि उच्च वर्गों के लोग थे जिन्होंने सरकार से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने को महत्त्व दिया। लगभग पाँच हजार पदवीधारी लोगों में से केवल चौबीस ने ही अपनी पदवियाँ त्यागीं। देश में पदवी का मोह इससे प्रदर्शित होता है। उच्च वर्ग के लोगों में तब तक असहयोग के प्रभाव नहीं आये थे। दकियानूसी रुख के कारण उनकी ऐसी प्रतिक्रिया रही। इसकी तुलना में न्यायालयों के बहिष्कार का कार्यक्रम अधिक कारगर रहा। मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास के समान चोटी के वकीलों ने जब अपने पेशे को छोड़ देने की घोषणा की तो इसका व्यापक असर पड़ा। मार्च १९२१ तक १८० वकीलों ने ऐसे ही फैसलों की घोषणा कर दी। इसका दोहरा लाभ हुआ। एक तो राष्ट्रीय अपील पर सब कुछ न्यौछावर कर देने का भाव जगा और दूसरे इन प्रबुद्ध व्यक्तियों की सेवाएँ कांग्रेस को मिलीं। इन्होंने समूचा समय असहयोग आंदोलन को गतिशील बनाने में लगा दिया। विशेषतः स्थानीय स्तर पर आंदोलन को गतिशील बनाने में वकीलों ने भूमिका निभायी। वे इस अभियान के प्रमुख सहायक बने। इसी से जुड़ा हुआ अभियान अधिक कारगर नहीं हुआ। असहयोग कार्यक्रम में यह तय हुआ था कि जगह-जगह जन-अदालतें अथवा पंचायतें गठित करके सम्बन्धित पक्ष पंच फैसले के आधार पर मुकदमें तय कर लेंगे। इस ओर प्रयास तो हुए लेकिन ऐसी अदालतें सफल न हो सकीं।

असहयोग आंदोलन के शुरू के दौर में सबसे अधिक ध्यान स्कूल और कालेजों के बहिष्कार पर दिया गया। गाँधीजी और उनके सहयोगियों ने सरकार की आर्थिक सहायता और उसके निर्देशन में चल रहे विद्यालयों के बहिष्कार की जोरदार अपील की। रणनीति थी मध्यवर्गीय नवयुवकों को सरकारी नौकरी करने अथवा व्यवसायों की ओर झुकने से विमुख करना। इसी के साथ-साथ युवकों में आत्मत्याग का विचार जगाने की आवश्यकता भी बतायी गयी। नवयुवकों में त्याग और बलिदान की भावना जगाकर जन-साधारण को भी इस ओर प्रेरित किया जा सकता था। गाँधीजी, मोहम्मद अली, मौलाना आजाद आदि नेताओं ने इस कार्यक्रम को सफल बनाने के उद्देश्य से प्रमुख शिक्षा केन्द्रों का दौरा किया। सबसे पहले उनका ध्यान अलीगढ़ और बनारस की ओर गया। इसके उपरान्त वे अन्य नगरों में गये। उपलब्ध आँकड़ों से जानकारी मिलती है कि कालेजों और विश्वविद्यालयों में विशेष रूप से शिक्षा ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों की संख्या घटी। कलकत्ता के प्रायः सभी कालेज १९२१ के आरम्भिक महीनों में बन्द रहे।

अप्रैल १९२१ से स्वदेशी पर अधिक जोर दिया जाने लगा। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि असहयोग कार्यक्रमों में से कभी एक पर और कभी दूसरे पर ध्यान केन्द्रित करने का तरीका अपनाया गया। बीस लाख चर्खे लगाकर विशाल पैमाने पर सूत कातने का अभियान चलाया गया। खादी कपड़ों के बनाने और पहनने की व्यापक योजना बनायी गयी।

आयातित वस्त्रों का मूल्य इन वर्षों में १०२ करोड़ रुपये से घटकर ५७ करोड़ रुपया हो गया जो खादी के उत्पादन की योजना की सफलता का द्योतक माना जा सकता है। विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार कार्यक्रम को अपनाये जाने से भी यह स्थिति पैदा हुई थी। विदेशी हुकूमत के साम्राज्यवादी हितों पर चोट करने की नीति राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष का और भी प्रमुख अंग बनती गयी।

शराबबन्दी और मादक वस्तुओं के उपयोग के खिलाफ भी अभियान चलाया गया। मध्य प्रान्त, बिहार और उड़ीसा में शराब और मादक वस्तुओं का सेवन छोड़ने की अपील अनेक क्षेत्रों में की गयी। इस कार्यक्रम को चलाने वाले यह भी जानते थे कि इसकी सफलता से सरकार को इसके द्वारा मिलने वाले कर में भी कमी होगी और वास्तव में हुआ भी ऐसा ही। मद्रास के गवर्नर ने एक गोपनीय पत्र में लिखा, 'हमारी स्थिति सचमुच निराशाजनक है। इस वर्ष हमें आबकारी के खिलाफ गाँधीजी के प्रचार के कारण पैंसठ लाख का नुकसान हुआ है।' इससे प्रकट है कि शराब की बिक्री से सरकार की आमदनी घटी।

१९२१ के मध्य से आंदोलन की परिधि को व्यापक बनाने के और भी कारगर उपाय किये गये। एक करोड़ सदस्य बनाने का प्रोग्राम घोषित करने के अलावा यह भी तय किया गया कि तिलक स्वराज फण्ड के रूप में एक करोड़ रुपया तत्काल एकत्र किया जाये। तीन महीने के अन्दर निर्धारित धनराशि के जमा हो जाने से आंदोलन को चलाना आसान हो गया।

इसी समय स्वयंसेवकों की भर्ती का सिलसिला भी तेज हुआ। अधिक से अधिक संख्या में स्वयंसेवकों के शामिल होने से असहयोग का संदेश गाँवों-गाँवों तक पहुँचाना आसान हो गया। अधिकतर मध्यवर्गीय शहरी परिवारों के नवयुवकों को ग्रामीण अंचलों, मेलों, बाजारों और इसी तरह के आयोजनों के समय प्रचार के उद्देश्य से भेजा जाता था। सांस्कृतिक और सामाज़िक अवसरों पर एकत्रित जनसमुदाय के बीच राजनीतिक जागरण का अभियान चलाया जाता था।

१९२१ के अंतिम दो महीनों में असहयोग संघर्ष तेज हुआ। इसका कारण था वेल्स के राजकुमार और ब्रिटेन के भावी सम्राट् का भारत का दौरा। असहयोग आंदोलन के समय सरकार द्वारा किया गया यह निर्णय कांग्रेस को कतई पसन्द नहीं आया और इसी दौरे को लेकर दोनों के बीच रस्साकसी की नौबत आ गयी। गाँधीजी ने वेल्स के राजकुमार का बहिष्कार करने का आह्वान किया। १७ नवम्बर को जैसे ही राजकुमार बम्बई पहुँचे उसी दिन जनता की नफरत का ऐसा उग्र प्रदर्शन इस नगर में हुआ जिसकी कल्पना किसी ने नहीं की थी। पूरे नगर में हड़ताल रही, सभी ओर काम बन्द रहा, मिल-कारखाने ठप्प रहे और हजारों की संख्या में लोगों ने सड़कों पर आकर विरोध के नारे लगाये। जब पुलिस ने भीड़ पर काबू पाने के लिए बल का प्रयोग किया तो दंगे फूट पड़े। सेना और पुलिस ने मिलकर जनता के विरोध का मुकाबला किया। पाँच दिनों तक हड़ताल जारी रही, तीस व्यक्तियों की जानें गयीं और दो सौ से भी अधिक लोग गिरफ्तार किये गये। बम्बई के अलावा देश के अनेक नगरों में युवराज के आगमन के दिन हड़ताल रही।

इस स्थिति में सरकार ने दमन का सहारा लिया। नये कानून जारी करके स्वयंसेवक

संगठनों को अवैध घोषित कर दिया गया और प्रदर्शनों एवं सभाओं पर पाबंदियाँ लगा दी गयीं। सरकार ने हर कीमत पर युवराज के दौरे को सफल बनाने के उपाय किये लेकिन इसका असर उल्टा ही पड़ा। युवराज जिन नगरों में भी गये वहाँ हड़ताल की गयी, कामकाज बन्द रखा गया और सड़कें सूनी पड़ी रहीं। गिरफ्तारियों का व्यापक दौर प्रान्तीय सरकारों ने जारी रखा। इसके लिए कांग्रेस पहले से ही तैयार थी। स्वयंसेवकों के नाम समाचार-पत्रों में घोषित कर दिये गये थे और सरकार द्वारा लगायी गयी पावन्दियों का प्रतिरोध करके बड़ी संख्या में लोग जेल गये। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए कष्ट सहने और जेल जाने का सिलसिला यहीं से आरम्भ हुआ। इसमें सभी वर्गों और सम्प्रदायों के, सभी आयु और श्रेणियों के लोग थे। लाला लाजपत, आसफ अली, खलीकुलजमा, मोतीलाल नेहरू, जवाहरलाल नेहरू, चितरंजनदास, सुभाषचन्द्रबोस, बासन्तीदास और अबुल कलाम आजाद उन नेताओं में से थे जो जेल गये। सरकार द्वारा दिये गये आँकड़ों के अनुसार इन दो महीनों में लगभग नौ हजार लोग बन्दी बनाये गये। संख्या इससे भी कहीं अधिक हो सकती थी। लेकिन सरकार ने जन उत्साह को देखते हुए केवल सीमित गिरफ्तारी की नीति अपनायी। वास्तविकता यह है कि गिरफ्तारी देने वालों की संख्या देखकर सरकार अचम्भे में पड़ गयी थी।

आंदोलन में जनसमर्थन का स्वरूप

पूर्व निर्धारित कार्यक्रमों के अनुसार देशव्यापी स्तर पर कार्यवाही के साथ-साथ असहयोग आंदोलन में क्षेत्रीय विभिन्नताएँ भी दिखाई दीं। पहले से निश्चित तरीकों के अलावा अलग-अलग सामाजिक वर्गों ने कई प्रान्तों अथवा क्षेत्रों में अपने ढंग से आंदोलनात्मक संघर्ष किया। यह भी कहा जा सकता है कि ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध छेड़े गये संघर्ष से प्रभावित होकर ऐसी अनेक हलचलें अचानक शुरू हो गयीं जिनकी पहले से योजना नहीं बनायी गयी थी। इसी से ऐसी हलचलों के प्रति गाँधीजी ने सावधानीपूर्वक प्रतिक्रिया व्यक्त की।

असहयोग कार्यक्रमों को सफल बनाने में सबसे पहले मध्य और उच्च सामाजिक वर्गों के समर्थन की जरूरत पड़ी क्योंकि पदवियाँ छोड़ने, वकालत का परित्याग करने, न्यायालयों का बहिष्कार करने और तिलक स्वराज कोष के चन्दे की रकम देने में उन्हें ही आगे आना था। लेकिन शीघ्र ही श्रमिक वर्गों और किसानों में भी बेचैनी के लक्षण दिखायी दिये। इन्होंने स्थान-स्थान पर अन्याय और शोषण के खिलाफ लड़ाई करने का साहस इसी से किया क्योंकि देश का राजनीतिक वातावरण बदलने लगा था। बदले हुए राजनीतिक माहौल में शोषित वर्गों की महत्त्वाकांक्षाएँ जगीं। इसी तरह से कुछ क्षेत्रीय धार्मिक समुदायों में भी जागरण की लहर आयी। आंदोलन के दौरान के इन संघर्षों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं।

आंदोलन के दौरान श्रमिक संघर्ष में आयी तेजी का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि केवल १९२१ वर्ष में ही लगभग चार सौ हड़तालें हुई जिनमें छः लाख से अधिक मजदूरों ने भाग लिया। मद्रास की बंकिंगघम कर्नाटक सूती मिल में चार महीनों तक हड़ताल रही। यूरोपीयों के अधिकार की इस मिल की हड़ताल का समर्थन स्थानीय असहयोगी नेताओं ने किया। असम के चाय बागानों के मजदूरों को स्थानीय असहयोगी नेताओं ने उकसाया। मई १९२१ में

चार गोला के श्रमिकों ने अधिक वेतन की माँग करते हुए हड़ताल कर दी। यहाँ अधिकतर श्रमिक पूर्वीय उत्तर प्रदेश से आये हुए थे। जब उन्हें विदेशी अधिकारियों के खिलाफ भड़काया गया तो वे बड़ी संख्या में अनेक चाय बागानों को छोड़कर अपने-अपने घरों को लौट जाने को तैयार हो गये। पूर्वीय बंगाल के चाँदपुर के नदी के मुहाने पर ये हजारों श्रमिक एकत्र हो गये। यहाँ इन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़े। स्थानीय स्वयंसेवक इनकी रक्षा न कर सके। इन श्रमिकों के प्रति सरकार की दमनात्मक कार्यवाहियों का विरोध पूर्वी बंगाल में हुआ। स्टीमर सेवा को ठप्प कर दिया गया और रेलवे में भी हड़ताल रही। बंगाल और बम्बई में श्रमिक हड़तालों का सिलसिला लगातार चलता रहा। हालाँकि स्थानीय स्तर के नेताओं की सहानुभूति इन हड़तालों के प्रति थी और अनेक स्थितियों में उन्होंने इन्हें उकसाया फिर भी गाँधीजी ने इनका समर्थन नहीं. किया।

असहयोग आंदोलन की प्रमुख विशेषता थी ग्रामीण अंचलों में इसका फैलना। उस समय तक के राजनीतिक संघर्ष केवल शहरों तक सीमित रहे थे। इस दशा में राजनीति का दायरा संकुचित था। लेकिन अब इस शहरी दायरे से बाहर निकलकर स्वतंत्रता संघर्ष गाँवों तक पहुँचा और विभिन्न प्रान्तों में अलग-अलग स्वरूप में प्रकट हुआ। यहाँ उदाहरण के लिए मद्रास प्रान्त के आन्ध्र प्रदेश क्षेत्र और यू.पी. के किसान संघर्ष का विवरण दिया जा रहा है।

यू.पी. में किसानों का उत्पीड़न उन क्षेत्रों में अधिक था जहाँ ताल्लुकेदारी प्रथा चल रही थी। अवध के जिलों में प्रभावशाली ताल्लुकेदार किसानों पर मनमाने अत्याचार करते थे, उन्हें भूमि से बेदखल कर देते थे, लगान के नाम पर अधिक से अधिक धनराशि वसूल करते थे, समय-समय पर अतिरिक्त कर वसूली के लिए नजराना लिया जाता था और किसानों को बेगार हेतु भी बुलाया जाता था। पचास वर्षों से अधिक समय तक किसान सरकार का मुँह ताकते रहे और उससे हस्तक्षेप की आशा सँजोये रहे। लेकिन सरकार ने किसानों को राहत देने के कोई भी कारगर उपाय नहीं किये। यू.पी. की सरकार खुलेआम जमींदारों और ताल्लुकेदारों की हिमायती थी। वह राजनीतिक कारणों से इन सामंतवादी शक्तियों को अपनी मुट्ठी में रखने की नीति अपनाती रही। अन्त में प्रथम महायुद्ध के बाद की आर्थिक कठिनाइयों के समय रायबरेली, प्रतापगढ़ और फैजाबाद जिलों के किसानों के धैर्य का बाँध टूटने लगा। असंतोष अन्य जिलों में भी था। लेकिन किसान असंतोष अवध के इन जिलों में तेजी से भड़का।

किसान असन्तोष को संगठित करने के प्रयास यू.पी. के इन्हीं जिलों में तेज हुए। किसान सभाओं को स्थान-स्थान पर गठित किया गया। जिनको प्रभावी बनाने की दिशा में कार्य जहाँ एक ओर स्थानीय नेताओं ने किये वहीं कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने भी इनकी समस्याओं के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। प्रतापगढ़ के किसानों की सभाओं में युवा जवाहरलाल नेहरू भाषण करने गये और यहाँ फैली उत्तेजना में निकटवर्ती इलाहाबाद के नेताओं ने रुचि ली। इससे किसानों को अपनी शक्ति दिखाने का मौका मिला। लेकिन किसान असंतोष रायबरेली में और भी शक्ति से फूट पड़ा, घटनाएँ एक के बाद एक तेजी से घटीं और उनका आक्रोश किसी से छिपा नहीं रहा। ५ जनवरी, १९२१ को रायबरेली के निकट के एक गाँव में लगभग तीन हजार किसान इकट्ठा हो गये और उन्होंने बेदखली के खिलाफ प्रदर्शन किया। पुलिस ने हस्तक्षेप किया

और तीन किसान नेताओं को बन्दी बनाकर ले गयी। दूसरे दिन और भी बड़ी संख्या में किसानों ने विरोध प्रकट किया और इस पर काबू पाने के लिए पुलिस ने गोली चलाई। इसके बाद के दिन और भी बड़े पैमाने पर एकत्रित किसानों ने बड़ी संख्या में इकट्ठा होकर उस जेल की ओर बढ़ना शुरू किया जहाँ उनके नेता बन्दी थे। पुलिस ने एक बार फिर गोली चलाकर अनेक किसानों को मौत के घाट उतार दिया। बड़ी संख्या में किसान आहत हुए। कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने घटनास्थल पर पहुँचकर शान्ति स्थापित की। निकटवर्ती जिले फैजाबाद में किसान असंतोष के दौरान कई स्थानों पर जमींदारों पर हमले हुए और उनकी सम्पत्ति लूटी गयी। इन तीन जिलों के किसान संघर्षों ने यह दिखा दिया कि असहयोग आंदोलन के वातावरण में किसानों का साहस बढ़ा और उनका रोष संगठित रूप में सामने आया। लेकिन गाँधीजी, जवाहरलाल नेहरू अथवा अन्य नेताओं ने किसानों पर अंकुश लगाये रखने की नीति अपनायी और किसान-जमींदार संघर्ष को बढ़ने से रोका। तब कांग्रेस वर्ग-संघर्ष को रोकने के रास्ते पर चली।

आंध्र प्रदेश के गुंटूर जिले में लोगों के संगठित होने का एक असाधारण उदाहरण तब सामने आया जब चिरला-पेरला में सरकार ने एक अलग नगर निगम बनाने का निश्चय किया और इस इलाके के निवासियों को बढ़ा हुआ नगरपालिका कर देने को कहा। सरकार के इस निश्चय का यहाँ के निवासियों ने विरोध किया और जब सरकार अपने इरादे पर डटी रही तो यहाँ के निवासियों ने कर न देने का निराला तरीका अपनाया। स्थानीय नेता गोपालकृष्ण नैया थे। गाँधीजी से सलाह करके नगर को खाली कर देने का सुझाव यहाँ के निवासियों को दिया। लगभग पन्द्रह हजार लोगों ने नगर खाली कर दिया। वे निकटवर्ती इलाके में चले गये। ऐसा दृश्य असहयोग से उपजी भावना से ही सामना कर सकता था।

गुंटूर जिले में कर न अदा करने का आंदोलन जनवरी, १६२२ से स्थानीय नेताओं की कोशिशों से शुरू हुआ। पेडण्डिपाडू में यह संघर्ष शुरू करते हुए यहाँ के कर वसूल करने वाले अधिकारियों ने सामूहिक रूप से अपने पदों से इस्तीफा दे दिया। इसकी जाँच करने वाले उच्च अधिकारी की रिपोर्ट में स्वीकार किया गया कि 'किसानों की शिकायतें अनेक हैं इनमें से कुछ उचित भी हैं लेकिन इनमें ऐसी स्थिति असहयोग आंदोलन के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती थी।' इस स्वीकारोक्ति से दिखायी देता है कि कर न अदा करने के आंदोलन ने किन परिस्थितियों में जोर पकड़ा। किसानों द्वारा आंदोलन जारी रखने पर सरकार ने इनके खिलाफ कदम उठाने का निश्चय किया। लेकिन स्थानीय अधिकारियों के पास न तो कागजात उपलब्ध थे, न पूरी सूचनाएँ थीं और न पूरे प्रमाण थे; जब सम्पत्ति को बेचकर कर वसूली की कोशिश की गयी तो कुर्क की गयी सम्पत्ति का कोई खरीदार न था। बाहर से आये अधिकारियों से न तो कोई बात करता था, न उसके सामने आता था और न किसी भी तरह की गवाही देता था। इसी से यह कर अदा न करने का आंदोलन सफल रहा, स्थानीय निवासियों की एकजुटता से इसे बल मिला। यहाँ के जिलाधीश ने इसे 'खुला विद्रोह' बताया।

पंजाब में असहयोग आंदोलन का एक नया रूप प्रकट हुआ। यहाँ गुरुद्वारों की व्यवस्था को लेकर एक अलग तरह की स्थिति थी। गुरुद्वारों पर महन्तों का कब्जा था। ये महन्त सिख

अनुयायियों का विश्वास खो चुके थे। बड़े-बड़े गुरुद्वारों की भूमि और सम्पत्ति का उपभोग वे सार्वजनिक लाभ के बजाय निजी स्वार्थों के लिए करने लगे थे। इस कारण गुरुद्वारों पर इन महन्तों का नियंत्रण समाप्त करने के लक्ष्य से अकाली दल ने गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी बनायी और इसे गुरुद्वारों की देखभाल करने का काम सौंपा। महन्तों को सरकार का संरक्षण प्राप्त था और इन्होंने अपनी रक्षा करने के लिए लठैत भी इकट्ठा कर लिये थे। इस स्थिति में गुरुद्वारों के नियंत्रण के सवाल ने सरकार विरोधी स्वरूप ले लिया। अकालियों के संघर्ष का असहयोग आंदोलन के नेताओं ने समर्थन किया। इसी से अकाली नेताओं ने असहयोग की नीतियों को अपनाते हुए संघर्ष किया। १९२२ तक अकालियों को पर्याप्त सफलता मिली और गाँधीजी ने गुरुद्वारों के नियंत्रण पर अकालियों का साथ दिया।

मालाबार क्षेत्र के मोपला विद्रोह ने हिन्दू-मुस्लिम एकता और खिलाफत-कांग्रेस सहयोग के सम्मुख गंभीर चुनौतियाँ उपस्थित कर दीं। इस क्षेत्र के जमींदार अधिकतर हिन्दू थे और मोपला किसान अधिकतर मुसलमान थे। ऐसी स्थिति में किसानों के अधिकारों को लेकर शुरू किये गये संघर्ष ने साम्प्रदायिक रंग ले लिया। मोपला किसान अन्य किसानों की तुलना में अधिक उग्र थे। खिलाफत आंदोलन के समय ये संगठित हो गये थे और खिलाफत तथा असहयोगी नेताओं के भाषणों से ये इतने अधिक उत्तेजित हो गये कि इनके विरोध ने जल्द ही भीषण उपद्रव का स्वरूप ग्रहण कर लिया। अगस्त १९२१ को पुलिस के खिलाफ मोपला उठ खड़े हुए और व्यापक उपद्रव आरम्भ हो गया, रेलवे लाइनें उखाड़ दी गयीं, तार और टेलीफोन के खम्भे नष्ट कर दिये गये। अनेक जमींदारों को इन्होंने मार डाला, उनकी सम्पत्ति लूटी और जलायी गयी। लगभग छः महीने के फौजी शासन के बाद विद्रोह दबाया जा सका। हिंसा का ऐसा तांडव नृत्य इसके पहले कभी भी इस इलाके में नहीं देखा गया था। सरकार ने भी विद्रोह का दमन कठोरता से किया। इस विद्रोह के दौरान २३३७ मोपला मार डाले गये, १६५२ आहत हुए और ४५, ४०४ को बन्दी बना लिया गया। मोपला विद्रोह को लेकर समूचे देश में विवाद बना रहा।

इन क्षेत्रीय विभिन्नताओं से प्रकट है कि किसी भी आंदोलन को देशव्यापी स्तर पर चलाने के अनेक खतरे थे। गाँधीजी इन खतरों से भली-भाँति परिचित थे। इसी से जब दिसम्बर, १९२१ में अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन हुआ तो असहयोग के आगामी चरण के बारे में उन्होंने धीरज से काम करने की सलाह दी। उन्होंने सीमित पैमाने पर कुछ गिने-चुने स्थानों पर अवज्ञा आंदोलन करने का विचार किया। गुजरात में बारदोली जिले को चुनकर यहाँ से और सक्रिय ढंग से संघर्ष शुरू करने का निश्चय गाँधीजी ने किया। इस सक्रिय ढंग का मुख्य तरीका था कर अदायगी न करने का निश्चय। उन्होंने फरवरी, १९२२ में गवर्नर जनरल को पत्र लिखकर उन्हें संघर्ष के इस नये दौर की सूचना दे दी। गुप्त दस्तावेजों से जाहिर है कि गाँधीजी के इस निर्णय से भारत सरकार चिन्ता में पड़ गयी। लेकिन तभी अचानक चौरी-चौरा की हिंसात्मक घटना की उन्हें सूचना मिली। इससे बारदोली सत्याग्रह का दौर आरम्भ करने की नौबत ही न आयी।

असहयोग आंदोलन का स्थगन

असहयोग आंदोलन के आरम्भ से ही गाँधीजी की प्रमुख शर्त थी अहिंसा का रास्ता। यह

उनकी नीति का मूल आधार था। आंदोलन के चलते हुए जो घटनाएँ घटी थीं। उस समय भी गाँधीजी ने अहिंसा को बनाए रखने पर जोर दिया था। अतः चौरी-चौरा काण्ड से उनका विचलित होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।

गोरखपुर के निकट चौरी-चौरा कस्बे में असहयोगी स्वयंसेवकों और पुलिस के बीच धीरे-धीरे मतभेद उभर रहे थे। कांग्रेस के स्वयंसेवक विदेशी वस्त्रों की बिक्री का विरोध कर रहे थे। उनके इस कार्य में पुलिस बाधा डाल रही थी। अतः ५ फरवरी, १९२२ को बड़ी संख्या में स्वयंसेवकों और उनके समर्थकों ने पुलिस थाने को घेर लिया और पथराव करना शुरू कर दिया। सशस्त्र पुलिस की संख्या पर्याप्त कम थी। फिर भी पुलिस ने गोलियाँ चलाना शुरू कर दिया। अनेक प्रदर्शनकारी मारे गये या आहत हुए। प्रदर्शनकारी पीछे हटते गये लेकिन उन्होंने घेराव जारी रखा और गोलियाँ चलना बन्द हो जाने पर उन्होंने थाने पर धावा बोल दिया। उत्तेजना के बीच कुछ लोगों ने थाने में आग लगा दी। इससे इक्कीस पुलिसकर्मी जिन्दा जलकर मर गये। अनियंत्रित प्रदर्शनकारियों ने क्रोध में अचानक ऐसा भयावह काण्ड कर डाला।

चौरी-चौरा की घटना की खबर मिलते ही गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन को स्थगित करने का निर्णय लिया। वे नियंत्रित तरीके के जन-आंदोलन को चलाना चाहते थे। पर चौरी-चौरा की घटना ने दिखा दिया था कि लोगों में उत्तेजना और हिंसा फैल रही थी। गाँधीजी ने चौरी-चौरा की घटना को एक चेतावनी मानकर असहयोग संघर्ष को स्थगित कर दिया। अनेक प्रमुख राष्ट्रनेताओं को उनका यह निर्णय पसन्द नहीं आया। युवा जवाहरलाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस के अलावा वरिष्ठ नेता भी जन-संघर्ष को जारी रखने के पक्ष में थे। जेल में इन्होंने गाँधीजी को नाराज़गी भरे पत्र भी लिखे। तत्कालीन राष्ट्रनेताओं के अलावा बाद के कुछ इतिहासकारों ने भी असहयोग के रोके जाने पर गाँधीजी तथा उनके कुछ सलाहकारों की आलोचना की है। लेकिन यह उनका अत्यन्त साहसिक निर्णय था। इसके द्वारा उन्होंने नैतिक सिद्धान्तों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की। एक बार स्थगित हो जाने के बाद असहयोग आंदोलन समाप्त ही हो गया। मार्च में गाँधीजी को बन्दी बना लिया गया। अवसर का लाभ उठाते हुए सरकार ने ऐसा निर्णय लिया। उन्हें छः वर्षों के कारावास का दण्ड सुनाया गया।

असहयोग आंदोलन के फलस्वरूप देश में जैसी राजनीतिक चेतना विकसित हुई उससे स्वतंत्रता संघर्ष का पूरा स्वरूप ही बदल गया। इस आंदोलन के द्वारा राजनीति में सभी सामाजिक वर्गों और सम्प्रदायों के लोग शामिल हुए। राजनीतिक संघर्ष जन-संघर्ष बन गया। उल्लेखनीय है कि जन-संघर्ष के इस क्रम में आने वाले समय में बढ़ोत्तरी ही होती गयी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि असहयोग आंदोलन के कारण राष्ट्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय स्तर पर एक नया नेतृत्व उभरा। जो नेता और कार्यकर्ता एक बार स्वतंत्रता की लड़ाई में शामिल हुए वे लगातार इसे शक्तिशाली बनाने के लिए संघर्षरत रहे। पहली बार आंदोलन गाँवों तक पहुँचा। एक बार जब ग्रामीण जन-समुंदाय जाग उठा और शोषण के खिलाफ उठ खड़ा हुआ तो फिर आंदोलन की ताकत को रोकने की क्षमता किसी में न रही। राजनीतिक गतिशीलता के प्रभावी होने की यह पहली सीढ़ी साबित हुआ।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में आंदोलनात्मक संघर्ष और सांवैधानिक राजनीति के दो रास्तों को समय-समय पर अपनाया गया। किसी भी आंदोलन को लम्बे समय तक नहीं चलाया गया। एक आंदोलन को सक्रिय रूप से चलाने के बाद इसे रोक देने, विश्राम की अवधि में तैयारी का सिलसिला चलाते रहने और इसके पूरे हो जाने पर फिर से आंदोलन शुरू कर देने की नीति अपनायी गयी। ऐसा ही क्रम असहयोग आंदोलन के स्थगित हो जाने पर दिखायी दिया। गाँधीजी के गिरफ्तार होते ही प्रमुख राष्ट्रवादियों ने आंदोलन के विकल्प के रूप में सांवैधानिक राजनीति को अपनाने की बात उठायीं। इसी से स्वराज दल का जन्म हुआ। कुछ वर्षों तक इस दल ने राष्ट्रीय संघर्ष को प्रभावित किया। लेकिन यह प्रक्रिया अधिक समय तक नहीं चली। संघर्ष को फिर से शुरू कर देने की तैयारियाँ हुई और १६३० में सविनय अवज्ञा संघर्ष प्रारम्भ कर दिया गया। यहाँ इसी प्रक्रिया का विवरण प्रस्तुत है।

असहयोग आंदोलन के अचानक रोक दिये जाने और गाँधीजी की गिरफ्तारी के फलस्वरूप कांग्रेस में अनिश्चय की स्थिति दिखायी दी, मतभेद उभरने लगे और भविष्य की रणनीति को लेकर अलग-अलग मत व्यक्त किये गये। मुख्य विवाद यह था कि सांवैधानिक राजनीति के रास्ते पर आगे बढ़ा जाये अथवा नहीं, विधान सभाओं के चुनावों में भाग लिया जाये अथवा नहीं और चुनावों में भाग लेकर विधान सभाओं में प्रवेश किया जाये अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विधान सभाओं में प्रवेश का सवाल राष्ट्र-नेताओं के बीच बहस का मुद्दा बन गया। १६२२ के दौरान मतभेद यहाँ तक बढ़ गये कि कांग्रेस के प्रमुख नेता दो वर्गों में बँट गये। एक वर्ग ऐसा था जो असहयोग के समय अपनाये गये कार्यक्रम को जैसा का तैसा बनाए रखना चाहता था। चूँकि असहयोग के समय विधान सभाओं का बहिष्कार किया गया था इस कारण यह वर्ग १६२२ के बाद भी उसी नीति पर कायम रहना चाहता था। कांग्रेस के ये नेता अपरिवर्तनवादी कहलाये। इनके विपरीत दूसरे वर्ग के नेता परिवर्तनवादी कहे गये। जैसा कि इसके नाम से ही जाना जा सकता है, परिवर्तनवादी असहयोग कार्यक्रम में फेरबदल के हामी थे। इनका कहना था कि असहयोग के रोक दिये जाने की परिस्थितियों का मूल्याँकन करके पहले की अपनायी गयी नीतियों में बदलाव लाया जा सकता था। इन राष्ट्रनेताओं ने विधान सभाओं के बहिष्कार की नीति में संशोधन करके इनमें प्रवेश की बात कही। १६२३ में विधान सभाओं के चुनाव होने वाले थे। इसी से इन चुनावों में भाग लेने का सवाल कांग्रेस के नेताओं के सामने आया। इस समूची बहस के पीछे विचारणीय विषय यह था कि असहयोग संघर्ष की समाप्ति के बाद भविष्य में कांग्रेस की दिशा क्या हो? अपरिवर्तनवादी रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दे रहे थे। पर गाँधीजी की अनुपस्थिति में और बदले हुए माहौल में रचनात्मक कार्यक्रमों के प्रति कोई अधिक उत्साह नहीं दिखायी दे रहा था। परिवर्तनवादियों को इनके प्रति कोई आपत्ति नहीं थी। उनका विचार था कि रचनात्मक कार्यक्रमों को अपनाते हुए भी विधान सभाओं में प्रवेश किया जा सकता था।

परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों के बीच का विवाद १६२२ के गया कांग्रेस अधिवेशन में खुलकर आमने-सामने आया और इस अधिवेशन के दौरान यह भी प्रकट हो गया कि इन दोनों वर्गों के बीच समझौता मार्ग निकालने की इच्छाशक्ति की कमी थी। गया अधिवेशन

के अध्यक्ष पद से चितरंजनदास ने विधान सभाओं में प्रवेश की आवश्यकता बताते हुए परिवर्तनवादियों का पक्ष रखा। इस प्रस्ताव का विरोध करने वालों की ओर से चक्रवर्ती राजगोपालाचारी ने असहयोग के समय के निर्णय को यथावत बनाये रखने की नीति अपनाने का एक और प्रस्ताव पेश. किया। दोनों प्रस्तावों के समर्थक और विरोधी किसी बीच के रास्ते के लिए राजी न हो सके। अन्त में अधिवेशन में निर्णय मतदान के आधार पर हुआ। इस मतदान में अध्यक्ष के प्रस्ताव को कम समर्थन प्राप्त होने से उनका प्रस्ताव गिर गया।

स्वराज दल की स्थापना और इसकी नीतियाँ

अधिवेशन में हुई इस पराजय को परिवर्तनवादियों ने चुपचाप स्वीकार नहीं किया। उन्होंने इस हार का उत्तर देने में तनिक भी देर नहीं की। ३१ दिसम्बर १९२२ को अधिवेशन समाप्त होते ही परिवर्तनवादी नेताओं ने गया में एक बैठक करके स्वराज पार्टी गठित करने की घोषणा कर दी। इस दल को स्थापित करने का मुख्य लक्ष्य था विधान सभाओं में प्रवेश करने की नीति स्वीकारने के लिए कांग्रेस पर जोर डालना। नवम्बर १९२३ में विधान सभाओं के चुनावों में भाग लेना, इनमें अधिक से अधिक सीटें जीतना और इनकी कार्यवाही को प्रभावित करने के इरादे से स्वराज दल गठित करना। चितरंजनदास इस दल के अध्यक्ष बने और मोतीलाल नेहरू महासचिव। इन दोनों राष्ट्रवादियों ने शीघ्र ही श्रीनिवास आयंगर, एम.आर. जयकर, विट्ठल भाई पटेल, हकीम अजमल खाँ आदि के सहयोग से देशव्यापी संगठन बनाने का कार्य आरम्भ कर दिया।

इन गतिविधियों के बावजूद यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि स्वराज पार्टी के संस्थापकों का इरादा आरम्भ से ही कांग्रेस के भीतर रहकर कार्य करने का था। कांग्रेस के समानान्तर कोई अलग राजनीतिक दल बनाने का विचार स्वराजियों के मन में कभी नहीं आया। इसे कांग्रेस के अन्दर का एक विरोधी गुट कहा जा सकता है। इस परिधि में रहकर स्वराज दल ने अलग संगठन बनाये रखने के प्रयास जारी रखे।

स्वराज दल के इस निर्णय के कारण इसके और कांग्रेस के बीच की खाई को पाटने में अधिक समय नहीं लगा। दोनों के बीच समझौते के प्रयास सितम्बर १९२३ में सफल हुए। इस समय हुए विशेष कांग्रेस अधिवेशन में कौंसिल प्रवेश की नीति को कुछ शर्तों के साथ स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेस सदस्यों को यह छूट दे दी गयी कि वे विधान सभाओं के चुनावों में मतदान कर सकते थे, प्रचार कर सकते थे और इनकी सदस्यता के लिए खड़े हो सकते थे। प्रत्यक्षतः कांग्रेस विधान सभाओं के चुनावों से दूर रही परन्तु उसने स्वराजियों और उन्हीं के समान विचार रखने वालों को चुनाव अभियान में भाग लेने की अनुमति दे दी। कांग्रेस के इस विशेष निर्णय से स्वराजियों का पक्ष मजबूत हुआ। उन्होंने कांग्रेस को राजी करने में सफलता पा ली थी। कांग्रेस के सम्मुख और कोई भी रास्ता नहीं था। चुनाव बिलकुल नजदीक आ गये थे और यदि उसका विरोध जारी रहता तो कांग्रेस में विभाजन की नौबत आ सकती थी। विभाजन से बचने के विकल्प के रूप में उसकी ओर से ये अनुमति दी गयी। कांग्रेस की इस अनुमति से स्वराजियों का मनोबल बढ़ा।

नवम्बर १६२३ के विधान सभाओं के चुनाव स्वराजियों के लिए परीक्षा की घड़ी थे। उन्होंने जो अलग संगठन वनाया था और सांवैधानिक राजनीति की जैसी राह पकड़ी थी उसका भविष्य इन्हीं चुनावों के परिणामों पर निर्भर था। थोड़े से समय में स्वराजियों ने प्रांतीय विधान सभाओं और केन्द्रीय असेम्वली की सदस्यता के लिए उम्मीदवारों का चयन किया, चुनाव अभियान के लिए धन जुटाया, संगठन का आधार मजवूत किया और बड़े पैमाने पर चुनाव प्रचार किया। मोतीलाल नेहरू और चितरंजनदास ने व्यापक दौरे करके चुनाव रैलियाँ आयोजित कीं। उन्होंने जहाँ एक ओर स्वराजियों का पक्ष प्रस्तुत किया वहीं विरोधियों की खबर ली। विशेष रूप से उन्होंने सरकार की जी-हुजूरी के लिए उदारवादियों और जमींदारों की आलोचना की। स्वराजियों के मैदान में उतरने के परिणामस्वरूप इस बार के चुनाव सरगर्मी से लड़े गये। हालाँकि १६१६ के अधिनियम के अधीन मुट्ठी भर लोगों को ही संपत्ति के आधार पर मतदान का अधिकार था फिर भी चुनावों से राजनीति में तेजी आयी।

प्रांतीय विधान सभाओं और केन्द्रीय असेम्वली में स्वराजियों को पर्याप्त सफलता मिली। असेम्वली के कुल १०५ सदस्यों में से ४५ स्वराजी सदस्य निर्वाचित हुए। विधान सभाओं के लिए बम्बई से कुल ८६ में से ३२ सदस्य, बंगाल से कुल १११ में से ३६ सदस्य, यू.पी. से कुल १०१ में से ३१ सदस्य और सी.पी. से कुल ५४ में से ४० सदस्य निर्वाचित हुए। इन प्रांतों में स्वराजियों का पर्याप्त प्रभाव रहा। अन्य प्रान्तों में इनकी सफलता कम रही। समूचे देश में चुने गये सदस्यों में से स्वराजियों की संख्या लगातार एक तिहाई थी।

स्वराज दल के कार्य

स्वराज दल की सांवैधानिक राजनीति का मुख्य आधार था। १६१६ के अधिनियम में आमूल सुधार करने के लिए सरकार पर दवाव डालना। इस दल का तर्क यह था कि विधान सभाओं को केवल दिखावे के रूप में स्थापित किया गया था। इनको वास्तविक अधिकार नहीं दिये गये थे। ऐसी स्थिति में स्वराज दल का कहना था कि या तो विधान सभाओं को सरकार पर नियंत्रण करने का अधिकार हो, सरकार के खर्च पर अंकुश रखने का अधिकार हो अथवा प्रतिनिधि शासन प्रणाली की स्थापना का दिखावा समाप्त कर दिया जाये। स्वराज दल ने विधान सभाओं में जाकर वास्तविक सुधारों की लगातार माँग करने का निश्चय किया। सरकार के कदमों का विरोध उसने विधान सभाओं में घुसकर किया। स्वराजियों ने सरकार के कार्यों में लगातार बाधा डालने के प्रयास किये। उसने अधिनियम के अनुसार की जा रही कार्यवाहियों को बेकार साबित करना चाहा।

केन्द्रीय असेम्वली में स्वराजियों को सक्रिय कार्य करने का रास्ता तब साफ हुआ जब यहाँ एक राजनीतिक गठबंधन स्थापित करने में उन्हें सफलता मिली। इस सदन में कुल १४५ सदस्यों में से १०५ सदस्य निर्वाचित थे। इनमें से २५ सदस्य स्वतंत्र रूप से निर्वाचित होकर आये थे। इन सदस्यों ने सदन के कार्य हेतु एक दल गठित कर लिया और मोहम्मद अली जिन्ना को अपना नेता वनाया। इन स्वतंत्र सदस्यों और ४१ स्वराजी सदस्यों ने मिलकर कार्य करने का निश्चय किया। मोतीलाल नेहरू इस मिले-जुले गठबंधन के नेता वने। इसका लाभ यह मिला

कि इस गुट के कुल ६० सदस्य होने से इनका असेम्बली में बहुमत हो गया। इस बहुमत के बलबूते पर स्वराजी सदस्य कारगर भूमिका निभाने में उस समय तक सफल रहे जब तक आगामी दो वर्षों तक यह गुट कार्य करता रहा। स्वराजियों ने असेम्बली के पहले सत्र में ही सांवैधानिक सुधारों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए एक 'राष्ट्रीय माँग' का प्रस्ताव स्वीकृत कराया। ध्यान देने योग्य है कि स्वराजियों ने अन्य सभी राजनीतिक दलों और वर्गों का सहयोग प्राप्त करके आगामी सांवैधानिक परिवर्तनों के विषय में आम सहमति तैयार की। केन्द्रीय असेम्बली के मंच से यथाशीघ्रपूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की माँग की गयी। स्वराजियों ने भरपूर कोशिश करके १६१६ के अधिनियम को निराशाजनक साबित किया और प्रभावी सुधारों पर जोर दिया। स्वराज दल ने अड़ंगा डालने की नीति पर अमल करते हुए केन्द्र सरकार के बजट प्रस्तावों को ठुकरा दिया। हालाँकि गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों के आधार पर बजट पर की गयी कटौती रद्द हो गयी फिर भी सरकार को इससे असमंजस हुआ। वह यह नहीं कह सकती थी कि जनप्रतिनिधियों के सहयोग से प्रशासन चलाया जा रहा था। असेम्बली में समय-समय पर दमनकारी नियमों के खिलाफ आवाज उठाकर स्वराज पार्टी ने सरकार की नीतियों पर प्रहार किया। विशेषतः अक्टूबर १६२४ में बंगाल फौजदारी कानून संशोधन अध्यादेश के द्वारा क्रांतिकारियों के विरुद्ध दमनकारी उपाय करने के अधिकार सरकार को दिये जाने की स्वराजियों ने आलोचना की। सरकार के प्रस्ताव को असेम्बली ने अस्वीकार कर दिया। स्वराजियों ने उच्च प्रशासनिक सेवाओं में भारतीयों को और अधिक अवसर दिये जाने का प्रश्न सदन के मंच से उठाया। सरकार की आर्थिक नीतियों पर चोट करने में स्वराज दल के सदस्य सबसे आगे रहे। उनकी मुख्य माँग यह थी कि भारतीय उद्योगों को अधिक अवसर मिलें। इस्पात और कागज उद्योग की समस्याओं पर हुई बहस के समय उन्होंने असेम्बली में अपने सुझाव रखे। श्रमिकों के कल्याण के विषय भी उठाये गये और श्रमिकों की दशा सुधारने के विषय में प्रस्ताव प्रस्तुत हुए।

केन्द्रीय असेम्बली में स्वराजियों की भूमिका के इस सर्वेक्षण से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सीमित पैमाने पर उपलब्ध अधिकारों का प्रयोग करके स्वराज दल ने इस प्रतिनिधि संस्था के मंच से सरकार पर दवाव डाला। इसी प्रकार की कार्यवाहियाँ प्रान्तीय विधान सभाओं में भी की गयीं। मध्य प्रान्त में स्वराजियों का बहुमत होने के कारण इस सदन में वे अपना प्रभाव दिखा सके। यू.पी. और बंगाल में भी स्वराज दल के सदस्यों की संख्या समुचित थी। इससे वे इन प्रान्तों की विधान सभाओं में अपना प्रभाव दिखा सके।

एक शक्तिशाली और अनुत्तरदायी कार्यकारिणी के होते हुए विधान सभाओं को जो कुछ सीमित अधिकार प्राप्त थे, उनका उपयोग करके स्वराज दल ने सांवैधानिक राजनीति को नयी दिशा दी। देश के इतिहास में पहली बार जन-प्रतिनिधियों की हैसियत से इन्होंने विभिन्न सदनों में प्रवेश करके भारतीयों की आकांक्षाओं को प्रदर्शित किया। स्वराज दल के नेताओं को अनुकूल परिस्थितियाँ नहीं मिलीं। उन्हें तरह-तरह के विरोधों का सामना करना पड़ा। इससे वे अधिक समय तक कारगर नहीं रह सके।

स्वराज दल के घटते प्रभाव का पहला कारण यह था कि केन्द्रीय असेम्बली का राजनीतिक

गठबंधन दो वर्षों से अधिक नहीं चला। मोतीलाल नेहरू और मोहम्मद अली जिन्ना के बीच मतभेद उभरे और सरकार ने स्वतंत्र सदस्यों को स्वराजियों से विमुख करने में सफलता पाई। दूसरा कारण था कांग्रेस और स्वराजियों के बीच की खींचातानी जो गाँधीजी की फरवरी १६२४ में हुई रिहाई के बाद और भी बढ़ गयी। दो वर्ष की गिरफ्तारी के बाद जब गाँधीजी जेल से बाहर आये तो उन्होंने विधानसभाओं में प्रवेश को अनावश्यक बताया। गाँधीजी ने स्वराजियों की नीतियों का कभी भी पूरा समर्थन नहीं किया। इससे उनकी स्थिति कमजोर हुई। आन्तरिक कलह स्वराजियों के घटते हुए प्रभाव का तीसरा कारण साबित हुआ। सी.पी. तथा बम्बई के स्वराजी नेताओं ने सरकार से उत्तरदायी सहयोग करने की बात कही। एस.बी. ताम्बे, एन. सी. केलकर और एम.आर. जयकर ने मत प्रकट किया कि आवश्यकतानुसार सरकार से सहयोग किया जा सकता था। उनका यह मत स्वराज दल की मूलनीति के प्रतिकूल था। ऐसी स्थिति में इसके प्रतिपादन से स्वराजी नेताओं के बीच दरार पैदा हो गयी। चौथा कारण था साम्प्रदायिक समस्या के प्रति उभरते हुए मतभेद जो १६२६ के चुनावों के समय सामने आये। इन चुनावों के समय स्वराज दल का आंतरिक कलह इतना अधिक बढ़ गया कि विधान सभाओं में वे पहले की संख्या में भी नहीं चुने जा सके। १६२६ के चुनावों से स्वराजियों की आशाओं पर पानी फिर गया।

१६२६ के चुनावों के आघात से स्वराज दल का उत्साह घटा। हालाँकि वे कुछ वर्षों तक विधान सभाओं में सरकार की नीतियों की आलोचना करते रहे फिर भी उनका सक्रिय ढंग से कार्य करने का आधार घटा। सरकार से संघर्ष जारी रखने के लिए स्वराजियों को विधान सभाओं में काफी स्थान हासिल करना जरूरी था। १६२६ के चुनावों से उनकी यह आशा पूरी नहीं हुई। वे लगभग पहले की स्थिति बनाए रख सके। परिणामतः वे प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य नहीं कर सके। फिर भी यह कहा जा सकता है कि असहयोग आंदोलन के वापस ले लेने से उपजी निराशा को दूर करने में वे सफल रहे। प्रायः पाँच वर्षों तक उन्होंने सांवैधानिक राजनीति के द्वारा सांवैधानिक परिवर्तनों की माँग पर ध्यान केन्द्रित किया।

साइमन कमीशन का बहिष्कार

नवम्बर १६२७ में भारत सरकार ने एक सांवैधानिक समिति की नियुक्ति की घोषणा की जो इसके अध्यक्ष के नाम से साइमन समिति कहलायी। १६१६ के संधिनियम द्वारा ऐसी जाँच समिति की नियुक्ति की सिफारिश की गयी थी। लेकिन ऐसा कदम दस वर्षों के बाद उठाने को कहा गया था। जब निर्धारित अवधि के पहले ही यह जाँच समिति गठित कर दी गयी तो सरकार के इरादों पर भारत में संदेह उपजा और यह तथ्य किसी से छिपा नहीं रहा कि ब्रिटेन के आगामी चुनावों में संभावित पराजय को ध्यान में रखते हुए अनुदार दल ने ऐसी जाँच समिति गठित की थी जो भारतीय संवैधानिक ढाँचे में भारी फेरबदल न करे। भारत में जाँच समिति की नियुक्ति से क्रोध उपजने का आरम्भिक कारण यही था कि ऐसी प्रतिक्रियावादी सरकार द्वारा जो सात सदस्यीय समिति गठित हुई थी उससे भारत का भला नहीं हो सकता था। इस सन्देह के अलावा भारतीयों के आत्म-सम्मान को इससे भी ठेस लगी कि साइमन समिति के सभी सदस्य

अंग्रेज थे। किसी भी भारतीय को इसमें स्थान न देकर ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की भावनाओं की उपेक्षा की थी। इस गोरे आयोग की घोषणा ने आग में घी का काम किया। इस समिति के विरोध का एक कारण और भी था। भारतीय यह मानने को तैयार नहीं थे कि उनके देश के संविधान का स्वरूप तय करने का काम ब्रिटेन की जाँच समिति करे। वे स्वयं अपने देश में लागू सांवैधानिक व्यवस्था को निर्धारित करने का अधिकार चाहते थे। साइमन समिति की नियुक्ति के निर्णयों में भारतीयों को प्रार्थना करने और आवेदन पेश करने से अधिक का अधिकार नहीं था।

साइमन समिति की नियुक्ति को भारतीयों ने एक खुली चुनौती माना। इसी से इसके विरोध करने में सभी राजनीतिक दल एक हो गये। आपसी मतभेद भुलाकर कांग्रेस, उदारवादी और मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व के मुस्लिम लीग के वर्ग ने एक स्वर से समिति का बहिष्कार करने का निश्चय किया। सरकार की घोषणा के खिलाफ उपजी इस एकता से यह दिखायी दिया कि सरकार के इरादों पर सभी को संदेह था।

समिति विरोधी प्रतिक्रिया से भारतीय राजनीति में बदलाव आया। सभी के मन में सरकार के प्रतिरोध का विचार पनपा। राष्ट्रवादी शक्तियाँ संगठित हुई और चारों ओर हलचल मच गयी। सरकार के खिलाफ फैली इस लहर से राजनीतिक जागरण हुआ। इस तरह से अनचाहे ही सरकार ने समिति का गठन करके राष्ट्रवादी शक्तियों को प्रबल होने का ऐसा अवसर प्रदान किया, जिसकी वे प्रतीक्षा कर रहे थे।

३ फरवरी १६२८ को गोरे आयोग के सदस्यों ने जैसे ही भारत की धरती पर पैर रखा उसी दिन विभिन्न नगरों में देशव्यापी हड़ताल आयोजित की गयी। तत्कालीन प्रतिक्रिया को कानपुर के 'वर्तमान' दैनिक ने इन शब्दों में व्यक्त किया 'सात मदारी आ रहे हैं। बड़ी सज-धज के साथ आ रहे हैं। स्वराज के ठेकेदार सात समुद्र पार से आ रहे हैं। क्यों? किसलिए? हमें गुलाम साबित करने के लिए। संसार के समक्ष हमारा अपमान करने के लिए। हमें स्वराज निमित्त अयोग्य सिद्ध करने के लिए।' इस उदाहरण से देखा जा सकता है कि समाचार-पत्रों को आयोग पर कतई भरोसा नहीं था। जिस आयोग के भारत आगमन के समय से ही तरह-तरह की आशंकाएँ व्यक्त की गयीं उसकी रिपोर्ट के बारे में कोई प्रतीक्षा करने को तैयार नहीं था। सभी राष्ट्रवादी शक्तियों ने एकजुट होकर उन सभी स्थानों में आयोग के खिलाफ प्रदर्शन किये जिन-जिन नगरों में इसके सदस्य गये। आयोग के खिलाफ सभाएँ आयोजित की गयीं, जुलूस निकाले गये और भाषण हुए। आयोग के खिलाफ जनभावनाएँ लगातार उग्र होती गयीं।

फरवरी-मार्च के पहले दौरे के बाद यह आयोग अक्टूबर में दुबारा भारत आया। इससे एक बार फिर भावनाएँ प्रबल हुई और विरोध की लहर तेज हुई। जानकारी प्राप्त करने के लिए आयोग के सदस्य विभिन्न नगरों और प्रांतीय राजधानियों में गये। लेकिन कुछ जी-हुजूरों और चाटुकारों के अलावा बहुत थोड़े से लोग ही इससे भेंट करने गये। सरकार की सभी कोशिशों के बावजूद प्रमुख राजनीतिक दलों के नेताओं ने इससे भेंट नहीं की। इस आयोग का लगातार बहिष्कार इसकी सबसे बड़ी असफलता थी।

आयोग के दूसरी वार आने से प्रदर्शन पहले से भी ज्यादा उग्र हुए। इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। लाहौर में विरोध प्रदर्शन के दौरान पुलिस की लाठियों से वयोवृद्ध राष्ट्रवादी नेता लाला लाजपतराय को इतनी अधिक चोट लगी की उनकी मृत्यु हो गयी। इससे क्रोध की अग्नि फैली। लखनऊ में आयोग के विरोध में हुए प्रदर्शन का नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू ने किया। इनके ऊपर पुलिस ने लाठियाँ वरसाईं और गोविन्द वल्लभ पन्त भी जख्मी हुए। इन समाचारों से सरकार के खिलाफ उत्तेजना फैली। आयोग ने किस प्रकार के राजनीतिक विरोध को जन्म दिया इसका अनुमान इन घटनाओं से लगाया जा सकता है।

नेहरू रिपोर्ट

आधुनिक भारतीय इतिहास में पहली वार १९२८ में यह कोशिश की गयी कि सभी राजनीतिक दलों की सहमति से कोई संवैधानिक योजना तैयार हो। साइमन समिति के सरकारी प्रयासों के जवाब में भारतीय राजनीतिक दलों ने किसी सर्वमान्य संवैधानिक योजना पर एक मत होने के प्रयास किये। कांग्रेस की पहल पर दो बड़े सर्वदलीय सम्मेलन दिल्ली और वम्बई में हुए। प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नेता इनमें सम्मिलित हुए। दूसरे सम्मेलन के निर्णय के अनुसार मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक सर्वदलीय समिति का गठन करके इसे यथाशीघ्र भावी संविधान का मसविदा तैयार करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी। इसी वर्ष के मध्य में इस समिति ने जो रिपोर्ट प्रकाशित की वह नेहरू रिपोर्ट के नाम से जानी गयी। वैसे तो सभी प्रमुख राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों ने इसकी तैयारी में सहायता की पर मुख्य रूप से पंडित मोतीलाल और तेजबहादुर सप्रू ने इसका प्रारूप तय किया।

नेहरू रिपोर्ट ने सबसे पहले राजनीतिक लक्ष्य को निर्धारित किया। उसने यथाशीघ्र औपनिवेशिक स्वराज की माँग की। यह माँग अनेक राजनेताओं को पर्याप्त नरम मालूम पड़ी और उन्होंने इस पर अपनी आपत्ति की। पर सबकी सहमति पाने के उपाय के रूप में समिति ने ऐसा लक्ष्य रखा था। इस रिपोर्ट को लिखते समय सबसे पेचीदी गुत्थी साम्प्रदायिक समस्या के समाधान की थी। इस विषय में इसने दो प्रमुख प्रस्ताव किये। रिपोर्ट में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की जगह पर संयुक्त मताधिकार का सुझाव दिया गया। इसके अलावा मुस्लिम वाहुल्य प्रान्तों में मुस्लिम प्रतिनिधियों के वास्ते अलग से सीटें सुरक्षित करने की प्रणाली को समाप्त करने की राय दी गयी। अन्य प्रान्तों में मुस्लिम प्रतिनिधियों हेतु सीटें सुरक्षित रखीं गयीं। अलग सिन्ध प्रान्त गठित करने की सिफारिश की गयी। केन्द्र को शक्तिशाली वनाए रखते हुए संघीय शासन प्रणाली लागू करने का विचार इसने रखा। इस रिपोर्ट में कई ऐसे सुझाव थे जिन्हें भविष्य में अपनाया गया।

इस रिपोर्ट में केवल सिफारिशें की गयी थीं, प्रस्ताव किये गये थे और भावी संविधान का प्रारूप पेश किया गया था। प्रमुख राजनीतिक दलों द्वारा इस पर सोच-विचार करने के वास्ते दिसम्बर १९२८ में एक सर्वदलीय सम्मेलन कलकत्ता में हुआ। यह सम्मेलन संवैधानिक योजना का कोई हल तलाश नहीं कर सका क्योंकि मुस्लिम लीग को नेहरू रिपोर्ट की सिफारिशें पसंद नहीं आयीं। जव मोहम्मद अली जिन्ना ने कुछ संशोधन रखने चाहे तो हिन्दू महासभा के नेताओं ने और दूसरे नेताओं ने आपत्ति की। प्रमुख राजनीतिक दल इस रिपोर्ट पर एकमत न हो सके।

नेहरू रिपोर्ट के प्रति मुस्लिम लीग के विभिन्न गुटों का दृष्टिकोण लगातार विरोधी होता गया। इससे लीग और कांग्रेस के सम्बन्ध भी प्रभावित हुए। मोहम्मद अली जिन्ना ने टिप्पणी की थी कि कलकत्ता के सम्मेलन से 'रास्ते अलग-अलग हो गये।' यह उस बातचीत की दुर्भाग्यपूर्ण परिणति थी जिसे बड़ी आशाओं से शुरू किया गया था। यहीं से जिन्ना पूरी तरह से मुस्लिम लीग के खेमे में चले गये। उन्होंने मुस्लिम लीग के नेताओं के बीच तालमेल बिठाने में पूरी शक्ति लगा दी। इसी मार्च १६२६ में उन्होंने अपने प्रसिद्ध चौदह सिद्धान्तों को घोषित करके मुसलमानों का पक्ष जीतने की ओर ध्यान दिया।

क्रान्तिकारी आंदोलन का दूसरा चरण

इसके पूर्व क्रान्तिकारी आंदोलन के पहले चरण की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया ज चुका है कि उस समय के राष्ट्रवादी धार्मिक विचारों और रहस्यवाद से प्रभावित थे और उन्होंने अधिकतर व्यक्तिगत वीरता के उदाहरण प्रस्तुत किये। १६०५ से १६१७ की अवधि का क्रान्तिकारी आंदोलन गुप्त संस्थाओं द्वारा संगठित किया गया था और जन सहयोग प्राप्त करने का इनका इरादा कम ही था।

दूसरे चरण का क्रान्तिकारी आंदोलन असहयोग आंदोलन के अचानक स्थगित कर दिये जाने के बाद की उपजी निराशा और आक्रोश से पनपा। अनेक युवाओं को न तो गाँधीवादी नीतियों पर अधिक भरोसा रह गया था और न ही वे आंदोलन को अहिंसात्मक रूप देने को आवश्यक मानते थे। इसके विपरीत वे धीरे-धीरे हिंसात्मक तरीकों की ओर मुड़े। विदेशी शासन सत्ता को उखाड़ फेंकने का उन्हें यह एक कारगर उपाय समझ में आया। इसी से धीरे-धीरे ऐसे नवयुवक उत्तर भारत और बंगाल में संगठित होने लगे। हिंसात्मक संघर्ष द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध कार्यवाहियाँ करते हुए वे जीवन का बलिदान करने को तैयार हुए।

दूसरे चरण के अनेक क्रान्तिकारी समाजवादी या साम्यवादी विचारों से प्रभावित हुए। १६१७ की रूसी क्रान्ति इसमें से अनेक की प्रेरणास्रोत थी। एक ओर हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा परिवर्तन लाने का उपाय इन्होंने रूसी क्रान्ति से सीखा तो दूसरी ओर समाजवादी विचारधारा से भी वे प्रेरित हुए। १६२०-३० के दशक के भारत में रूसी क्रान्ति और साम्यवादी विचारधारा भारत में लोकप्रिय हो रही थी। इस अवधि के क्रान्तिकारियों पर साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी दिया।

बंगाल में क्रान्तिकारी संघर्ष के सिर उठाने का संकेत जनवरी १६२४ में मिला। इस समय गोपीनाथ शाह द्वारा पुलिस कमिश्नर की हत्या की कोशिश की गयी थी। यह अधिकारी तो बच गया परन्तु उसके बजाय दूसरा अंग्रेज मारा गया। सरकार तुरन्त चौकन्ना हो गयी। उसने बंगाल के क्रान्तिकारियों के विरुद्ध विशेष कानून बनाकर अनेक गिरफ्तारियाँ कीं। इससे बंगाल में कुछ समय के लिए संघर्ष रुका।

अक्टूबर १६२४ में कानपुर में क्रान्तिकारियों ने एक बैठक करके एक गुप्त संगठन बना लिया। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन नामक इस केन्द्रीय संगठन द्वारा दूर-दूर फैले क्रान्तिकारियों को एकसूत्र में बाँधने के प्रयास हुए।

इस समय क्रान्तिकारियों के सम्मुख एक बड़ी समस्या अच्छे अस्त्र खरीदने की थी। इसके वास्ते काफी धन की जरूरत थी। धन एकत्र करने के उद्देश्य से पहले छोटी-मोटी डकैतियाँ डाली गयीं। इससे जब काफी धन न जुटाया जा सका तो रेलवे के खजाने को लूटने की योजना बनायी गयी। लखनऊ के निकट काकोरी नामक स्थान पर रेलगाड़ी रोककर खजाना लूटा गया। अगस्त १९२५ की इस घटना के कुछ समय बाद ही पुलिस को काकोरी कांड का पूरा सुराग मिल जाने से उसमें भाग लेने वाले लगभग सभी क्रान्तिकारी पकड़े गये। मुकदमा लम्बे समय तक चला। इस घटना में भाग लेने के कारण रामप्रसाद बिस्मिल, राजेन्द्र लाहिड़ी, रोशन सिंह और अशफाक उल्ला को फाँसी की सजा दे दी गयी। इसके अलावा अनेक दूसरे क्रान्तिकारियों को आजन्म कारावास अथवा इससे कम सजाएँ सुनायी गयीं।

काकोरी काण्ड से क्रान्तिकारी संघर्ष कमजोर पड़ गया। इससे पुनः क्रान्तिकारियों की संगठनात्मक कमजोरी प्रकट हो गयी थी। ऐसी स्थिति में आगामी संघर्ष के स्वरूप पर विचार करने और संगठन के तरीकों को नियोजित करने की दृष्टि से सितम्बर १९२८ में दिल्ली में एक गुप्त बैठक हुई। पहले के संगठन का नाम अब हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी कर दिया गया। साइमन समिति से उपजे रोष ने युवकों में नया उत्साह भर दिया था। यहीं से सरदार भगत सिंह का उत्कर्ष हुआ। चन्द्रशेखर आजाद भी फिर से सक्रिय हुए। दूसरे युवा क्रान्तिकारियों ने भी जोखिम की राह पकड़ी।

क्रान्तिकारी संघर्ष के फिर तेज होने का संकेत लाहौर की घटना से मिला। यहाँ लाला लाजपत राय पर चोट करने वाले अधिकारी सौन्डर्स को गोली से उड़ा दिया गया तथा उसके कुछ सहायक भी मारे गये। कुछ समय पश्चात् केन्द्रीय असेम्बली की दर्शक दीर्घा से भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने बम फेंका। इसका उद्देश्य किसी को आहत करना नहीं अपितु ब्रिटिश सरकार को चेतावनी देना था। दोनों क्रान्तिकारियों ने पर्चे फेंके और नारे लगाए। न तो इनका इरादा भागने का था और न वे भागे ही। वे तो क्रान्तिकारी विचारधारा का प्रचार करना चाहते थे और उनका यह उद्देश्य पूरा हो गया। भगत सिंह और दत्त बंदी बना लिये गये। इसी मामले की खोजबीन करते हुए सरकार को विभिन्न क्रान्तिकारियों की जानकारी-मिली। सौन्डर्स की हत्या के अभियोग में भगत सिंह और उनके सहयोगियों पर मुकदमा चला। यह लाहौर षडयंत्र केस कहलाया। इस समय के बयानों में युवा भगत सिंह ने अपने विचारों को साहस के साथ रखा। जेल में किये जा रहे दुर्व्यवहार का विरोध करते हुए क्रान्तिकारियों ने लम्बे समय तक जेल में भूख हड़ताल की। अनशन करते हुए यतीन दास ने प्राण त्याग दिये। जब उनका शव लाहौर से कलकत्ता लाया गया तो व्यापक भीड़ और जनसमर्थन को देखकर साम्राज्यवादी नौकरशाही चकित रह गयी।

अप्रैल १९३० में बंगाल के क्रान्तिकारियों ने सूर्य सेन के नेतृत्व में चटगाँव के पुलिस शस्त्रागार पर हमला किया और पुलिस के खिलाफ सशस्त्र संघर्ष किया। इसके अलावा अन्य स्थानों में भी क्रान्तिकारी सक्रिय रहे। आँकड़ों से ज्ञात होता है कि अलग-अलग मुठभेड़ों में १९३० से १९३२ के बीच के वर्षों में बंगाल में ३२ व्यक्ति क्रान्तिकारियों द्वारा मारे गये और ३५ आहत हुए।

फरवरी १९३१ में इलाहाबाद में पुलिस से संघर्ष करते हुए प्रसिद्ध क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर आजाद शहीद हुए। इनके निधन से उत्तर भारत के क्रान्तिकारी संघर्ष को अपार क्षति हुई। इसके कुछ समय के बाद ही मार्च १९३१ को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फाँसी दे दी गयी। सरकार ने चुपचाप ही इन्हें फाँसी पर चढ़ा दिया था। इससे देश में व्यापक और उग्र प्रतिक्रिया हुई। इन महान क्रान्तिकारियों ने आत्म बलिदान करके देश को हिला दिया और यह सिद्ध किया कि देश की आजादी पर सब कुछ न्यौछावर करने की जरूरत थी।

स्वतंत्रता का संकल्प

१९२९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन से देश में उत्साह की नयी लहर दौड़ गयी। युवा जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में इस समय कांग्रेस ने स्वाधीनता का लक्ष्य घोषित किया। लम्बे समय से इस बारे में अनेक राष्ट्रवादियों में जहाँ एक ओर उत्साह का भाव था वहीं दूसरी ओर ऐसे भी व्यक्ति थे जो हिचक रहे थे। कांग्रेस के मंच से केवल 'स्वराज' के उद्देश्य को रखा गया था और इसे भी साफ तौर से परिभाषित नहीं किया गया। ब्रिटिश साम्राज्य से संबंध तोड़ने और अंग्रेजों को भारत से बाहर निकल जाने का नोटिस देने की हिम्मत कांग्रेस के अनेक नेता नहीं कर पा रहे थे। यही स्थिति राष्ट्रीय संघर्ष की दिशा में कार्य करने वाले दूसरे राजनीतिक दलों की भी थी। इस परिस्थिति में कांग्रेस द्वारा किये गये स्वतंत्रता के संकल्प का महत्त्व और भी बढ़ गया। यह प्रत्यक्ष संकेत था कि ब्रिटिश साम्राज्यवादी जुए को उतार फेंकने के लिये नयी पीढ़ी के नेता कमर कसे हुए थे। लाहौर में एकत्रित राष्ट्रवादी नेता, कार्यकर्ता और विशाल जन-समुदाय केवल औपचारिक प्रस्ताव स्वीकार करके संतुष्ट नहीं हुए। जिस स्वर में उन्होंने स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित किया उसी स्वर में उन्होंने यह भी तय किया कि इसे पाने के वास्ते सविनय अवज्ञा संघर्ष का यथाशीघ्र आरंभ हो। इस अवसर का शब्दचित्र प्रस्तुत करते हुए जवाहरलाल नेहरू अपनी आत्मकथा में लिखते हैं कि अधिवेशन में उत्साह के साथ-साथ गंभीरता का भाव था। गंभीरता इसलिए कि लक्ष्य तो दूर था परन्तु निकट भविष्य में तो रास्ते में काँटे-ही-काँटे थे। सभी को मालूम था कि संघर्ष से उन्हें कष्ट ही होंगे और उन्हें विपत्तियाँ झेलनी होंगी। स्वतंत्रता का उद्देश्य निर्धारित करने तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू करने का निर्णय पूरी जिम्मेदारी के साथ किया गया।

असहयोग आंदोलन का निर्णय करने और सविनय अवज्ञा आंदोलन का निर्णय करने में अन्तर था। १९२० में एक सुविचारित कार्यक्रम शुरू में ही तय कर दिया गया था। इस बार लाहौर अधिवेशन में ऐसा कुछ भी नहीं किया गया। न तो पहले से कोई कार्यक्रम निश्चित किया गया और न आगामी जन-संघर्ष शुरू करने की कोई तिथि घोषित की गयी। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आंदोलन के वास्तविक स्वरूप को तय करने में देर लगी। कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने और अधिक सोच विचार करके आंदोलन के बारे में निश्चित योजना बनाई।

आगामी जन-संघर्ष की रूपरेखा निर्धारित करने में मुख्य रूप से दो बाधाएँ थीं। पहली बाधा यह थी कि अनेक राजनेता उस समय तक भी संवैधानिक मार्ग के पक्ष में थे और ब्रिटिश सरकार से भिड़ जाने को जरूरी नहीं मानते थे। इनका विश्वास जीतना कांग्रेस के वास्ते

आवश्यक था क्योंकि वह अधिक से अधिक सहमति के बलबूते पर सरकार का सामना करना चाहती थी। मुस्लिम नेताओं के दृष्टिकोण से दूसरी बाधा उत्पन्न हुई। अनेक मुस्लिम नेताओं का कहना था कि साम्प्रदायिकता का समाधान करके ही आंदोलन शुरू किया जाये। उन्होंने इसे एक अनिवार्य शर्त के रूप में पेश किया। मुस्लिम सहयोग के बारे में पहले से कोई शर्त मानने को कांग्रेस के चोटी के नेताओं ने उचित नहीं माना। डॉ. मुख्तार अहमद अन्सारी, गाँधीजी तथा मोतीलाल के बीच हुआ पत्र व्यवहार यह दर्शाता है कि मुस्लिम नेता अपनी नीति पर अड़े रहे। इसी से आंदोलन के प्रति उनका विश्वास प्राप्त किये बिना ही राष्ट्रीय संघर्ष आरम्भ करने का निर्णय करना पड़ा।

२६ जनवरी १६३० को देशव्यापी स्तर पर स्वतंत्रता दिवस आयोजित करके लाहौर कांग्रेस के संदेश को जन-जन तक पहुँचाया गया। जनता में उत्साह जगाने और आंदोलन के प्रति समर्थन जुटाने की कोशिश की गयी। स्थान-स्थान पर सभाएँ की गयीं, जुलूस निकाले गये और कांग्रेस के प्रस्ताव को सभी सम्मेलनों में स्वीकारा गया। इस दिवस के प्रस्ताव से कांग्रेस के बदलते हुए तेवर का अनुमान हो जाता है। प्रस्ताव की आरम्भिक शब्दावली इस तरह थी : 'हमारा विश्वास है कि स्वाधीनता प्राप्त करना, मेहनत के फल का उपभोग करना और जिन्दगी की जरूरी चीजों को पाना सभी लोगों की तरह भारतीय जनता का एक ऐसा अधिकार है जिसे छीना नहीं जा सकता। हमारा यह भी विश्वास है कि अगर कोई सरकार किसी को इन अधिकारों से वंचित करती है और उन पर जुल्म करती है तो लोगों को यह अधिकार भी है कि उसे बदल दें या हटा दें।' सैकड़ों सभाओं में दोहराये गये इस प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार की नीतियों पर कठोर प्रहार करते हुए यह कहा गया कि इसने आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से भारत में अवनति की दिशा की ओर ढकेला था। ऐसी सरकार के विरोध का आह्वान किया गया।

सविनय अवज्ञा आन्दोलन

यह आंदोलन दो चरणों में विकसित हुआ। पहले दौर में मार्च १६३० से मार्च १६३१ तक और दूसरे दौर में जनवरी १६३२ से १६३४ तक यह संघर्ष देश के सभी क्षेत्रों में प्रभावकारी ढंग से बढ़ा।

आरम्भ से ही इस आंदोलन की बागडोर गाँधीजी के हाथ में रही। कांग्रेस कार्यसमिति ने उन्हें इस संघर्ष का स्वरूप निश्चित करने और इसे शुरू करने का समय तय करने की जिम्मेदारी सौंपी। गाँधीजी ने सोचा कि भारतीयों को सरकारी कानून तोड़ने के लिए तैयार करने का समय आ चुका था। वे चाहते थे कि देशवासियों में सरकार को चुनौती देने का साहस जगे, सरकार से लोहा लेने और उसका मुकाबला करने का भाव जगे। इस विचार को जगाने के वास्ते उन्हें किसी एक कानून को विरोध हेतु चुनना था। उन्होंने नमक कानून तोड़ने का निश्चय किया और सभी देशवासियों को ऐसा ही करने का नारा दिया। उनका कहना था कि यह कानून जन-विरोधी है और ऐसे किसी भी कानून को जनता अस्वीकार कर सकती है जो उसके हितों के खिलाफ हो। नमक बनाने और इसके उत्पादन का ठेका देने का अधिकार सरकार के हाथ

में था। इससे नमक ऊँचे दामों पर बिकता था। गाँधीजी ने सरकार के एकाधिकार को समाप्त करने की माँग की और जनता से कहा कि वह जगह-जगह नमक बनाकर अनुचित कानून का विरोध करे। नमक सत्याग्रह से सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू हुआ।

गाँधीजी की दांडी यात्रा से नमक सत्याग्रह आरम्भ हुआ। १२ मार्च १९३० को साबरमती आश्रम से गाँधीजी और उनके ७८ अनुयायी इस यात्रा पर पैदल चले। २४१ मील की दूरी तय करके वे ६ अप्रैल को दांडी के समुद्र तट पर पहुँचे। तीन सप्ताह से अधिक समय तक की इस यात्रा के द्वारा गाँधीजी ने देशवासियों में नमक सत्याग्रह के प्रति उत्साह जगाया। दांडी यात्रा के दौरान उन्होंने स्थान-स्थान पर सभाएँ कीं, भाषण दिये और नमक सत्याग्रह पर प्रकाश डाला। इस प्रकार दांडी यात्रा एक जन-जागरण अभियान बन गयी। इस स्थान पर गाँधीजी ने समुद्र से प्राकृतिक नमक का पिंड एकत्रित करके नमक कानून को औपचारिक रूप से तोड़ा। उनकी इस 'अवज्ञा' की गूँज समूचे देश में सुनायी दी।

जैसे ही गाँधीजी ने दांडी यात्रा पूरी कर ली तुरन्त ही देश के हर स्थान और हर कोने में नमक सत्याग्रह आरम्भ हो गया। आगामी दो महीने तक आंदोलन का यही प्रमुख कार्यक्रम बना रहा। कांग्रेस अध्यक्ष ने प्रांतीय समितियों को निर्देश जारी करते हुए लिखा : 'हकीकत यह है कि फिलहाल हमारा लक्ष्य बड़े पैमाने पर नमक बनाना नहीं बल्कि उस कानून को तोड़ना ही है। इस कानून को सिर्फ तोड़ने का काम तो करीब-करीब सभी जगह बड़ी आसानी से किया जा सकता है।' समुद्रतटीय क्षेत्रों में समुद्र के पानी से नमक बनाकर कानून को तोड़ा गया। लेकिन देश का विशाल क्षेत्र समुद्र से दूर था। यहाँ ऐसी जगहें चुन ली गयीं जहाँ लोनी मिट्टी थी। इस मिट्टी को पानी में मिलाकर और उसे उबालकर नमक बनाया गया। यह प्रतीकात्मक उपाय था जिसका एकमात्र लक्ष्य था गिरफ्तारी को न्योता देना। नमक सत्याग्रह की सूचना पहले से ही प्रचारित कर दी जाती थी और निर्धारित स्थान पर जानबूझकर नमक बनाने की कोशिश की जाती थी। यह क्रम सैकड़ों स्थानों पर एक साथ दोहराया गया। इस तरह देशव्यापी स्तर पर नमक सत्याग्रह का सिलसिला चलता रहा और गिरफ्तारियाँ देने वालों का ताँता लगा रहा। जन-उत्साह इतना अधिक था और गिरफ्तार होने के वास्ते इतने ज्यादा लोग आते थे कि प्रान्तीय सरकारें केवल थोड़े से लोगों को ही जेल भेजती थीं। जन-भावना को प्रेरित करते हुए ६ अप्रैल १९३० को एक समाचार पत्र ने लिखा कि 'आज के दिन उस महान यज्ञ का प्रारम्भ होता है जिसकी सफलता पर स्वतंत्रता देवी के दर्शनों की हम अभिलाषा करते हैं।' इसी से नमक सत्याग्रह से व्याप्त उत्साह का अनुमान हो जाता है। छोटे और बड़े नेता समान रूप से जेल गये। जवाहरलाल नेहरू, गाँधीजी, सरोजिनी नायडू, खान अब्दुल गफ्फार खाँ आदि अनेक राष्ट्र नेताओं को शुरू के महीनों में गिरफ्तार किया गया। गिरफ्तारियों और दमन का क्रम इस वर्ष लगातार चलता रहा।

इस आंदोलन को लगातार चलाने के लिये केवल नमक सत्याग्रह पर निर्भर रहना काफी नहीं था। इसी से लगभग दो महीने बाद कुछ दूसरे कार्यक्रमों पर भी जोर दिया जाने लगा। विदेशी वस्तुओं और खास करके विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार को तथा शराबबन्दी कार्यक्रम को देशव्यापी

स्तर पर अपनाया गया। देश के सभी प्रमुख विदेशी वस्त्रों के विक्री केन्द्रों का कामकाज ठप्प करा दिया गया। कलकत्ता, भागलपुर, कानपुर, दिल्ली और अमृतसर वीरान हो गये। विदेशी वस्त्र बेचने वाले व्यापारियों पर नैतिक और सामाजिक प्रभाव डाला गया, उनके विरुद्ध धरने दिये गये, खरीद करने वालों को रोका गया और उन्हें समझाया-बुझाया गया। यह स्मरण रखना होगा कि स्थान-स्थान के व्यापारी भी परिस्थिति को समझ रहे थे। उन्होंने कांग्रेस स्वयंसेवकों के खिलाफ न तो पुलिस से मदद माँगी और न कभी इनका प्रतिरोध किया। अधिकतर वे कांग्रेस के नेताओं से यही माँग करते रहे कि उन्हें केवल उस आयातित माल को बेचने का अवसर मिल जाये जो उनके पास जमा था। विदेशी वस्त्र वहिष्कार कार्यक्रम की सफलता इसी से आँकी जा सकती है कि जहाँ १९२९ में ५९ करोड़ रुपये मूल्य के विदेशी वस्त्रों का आयात हुआ था वहीं १९३० में यह आयात घटकर २५ करोड़ रुपया रह गया। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि भारतीय कपड़ा मिलों का उत्पादन वढ़ा। खादी का प्रयोग बढ़ जाने से इसकी माँग बहुत अधिक बढ़ गयी। दूसरे विदेशी वस्तुओं का आयात भी प्रभावित हुआ।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान नशावन्दी कार्यक्रम को अनेक प्रान्तों में सफलतापूर्वक अपनाया गया। इस कार्यक्रम के द्वारा सरकार की नीति की इस आधार पर आलोचना की गयी कि वह केवल अधिक से अधिक राजस्व वसूल करने की ओर ध्यान दे रही थी और अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों के प्रति वेखवर थी। आवकारी से होने वाली सरकार की आमदनी का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अकेले विहार में वत्तीस प्रतिशत राजस्व की वसूली इसी से होती थी। बिहार में ताड़ी और शराव की विक्री का विरोध करने का असर यह पड़ा कि नशीले पदार्थों की बिक्री वहुत घट गयी। यू.पी. और सी.पी. से प्राप्त रिपोर्टों से भी यही स्थिति दिखायी देती है। इनके आधार पर देशव्यापी स्तर पर सफलता का अनुमान हो जाता है।

देशव्यापी स्तर पर चलाये गये इन कार्यक्रमों के साथ-साथ प्रान्तीय स्तर पर भी कुछ और सक्रिय और प्रभावकारी तरीकों से आंदोलन को तेज किया गया। यदि कुछ प्रांतों में यह संघर्ष बहुत अधिक सक्रिय रहा तो ऐसे प्रांत भी थे जहाँ आंदोलन का कम असर दिखाई दिया। भारत के समान बड़े देश में यह कोई अस्वाभाविक स्थिति नहीं थी। गिरफ्तारियों के आँकड़ों से उस समय की तस्वीर उभरती है। नवम्बर १९३० में देश की जेलों में लगभग उन्तीस हजार राजनीतिक कैदी थे। इनमें से सबसे अधिक कैदी विहार, यू.पी., बंगाल और वम्बई में थे। विहार की जेलों में लगभग छह हजार, यू.पी. में पाँच हजार, बंगाल में साढ़े चार हजार और वम्बई में चार हजार व्यक्ति जेल में थे। इन चार प्रांतों में जितने व्यक्ति जेल में थे वे देश के कुछ राजनीतिक वन्दियों की संख्या के तीन चौथाई थे। अतः इन प्रान्तों को अधिक सक्रिय माना जा सकता है।

पहले से स्वीकृत कार्यक्रमों के अनुसार देशव्यापी संघर्ष चलाने के अलावा अलग-अलग प्रांतों में आंदोलन के दौरान कुछ अतिरिक्त तरीके भी अपनाये गये। जैसी भी आवश्यकता हुई स्थानीय स्तर पर भी कुछ कार्यक्रमों को एक अथवा एक से अधिक प्रांतों में चलाया गया।

गुजरात में किसान पहले से ही संगठित थे। वे संघर्ष की राह पर तुरन्त चल पड़े। गुजरात के अनेक जिलों में लगान अदा न करने का अभियान सफलतापूर्वक चलाया गया। ग्रामीण प्रशासन को अपंग करने के इरादे से नवम्बर १६३० तक यहाँ के छह सौ स्थानीय अधिकारियों ने सरकारी नौकरियों से इस्तीफा दे दिया। बड़ी संख्या में उनके सहायकों ने भी नौकरियाँ छोड़ दी। लगान बंदी की सफलता का अनुमान इसी से हो जाता है कि १६३० के मध्य तक नादियाद में ग्यारह प्रतिशत, जम्बूसार में सैंतालीस प्रतिशत बारदोली में सत्तावन प्रतिशत और बालौद में इक्तीस प्रतिशत लगान अदा नहीं किया गया था। कई अन्य जिले भी लगानबंदी कार्यक्रम से प्रभावित थे। महाराष्ट्र और सी.पी. तथा कर्नाटक में जंगल सत्याग्रह चलाया गया। एक लम्बे समय से प्रान्तीय नेताओं का ध्यान जंगल की समस्याओं तथा उन पर लगाये गये सरकारी प्रतिबन्धों की ओर लगा हुआ था। सरकार के कानूनों के प्रति आदिवासी तथा अन्य स्थानीय जातियों में असंतोष था। इस स्थिति में प्रान्तीय नेताओं ने जंगल पर निर्भर लोगों को संगठित करके उन्हें राष्ट्रीय संघर्ष की मुख्य धारा में लाने का निर्णय लिया। जंगल सत्याग्रह शुरू करने का यही कारण था। स्थानीय निवासियों ने एकजुट होकर जंगल के कानूनों का विरोध किया। हजारों लोगों ने एकत्रित होकर सत्याग्रह किया और गिरफ्तारियाँ दीं। ग्रामीण निवासियों में यह विश्वास जगा कि अनावश्यक कानूनों के खिलाफ संघर्ष किया जा सकता है। बिहार के ग्रामीण इलाकों में चौकीदारी कर न अदा करने के अभियान को आंदोलन के भाग के रूप में चलाया गया। अनेक जिलों में विरोध की लहर फैली। चौकीदार कर विरोधी अभियान में भाग लेने के कारण बड़ी संख्या में लोग गिरफ्तार किये गये। अतिरिक्त पुलिस के दमनकारी उपायों से ही इस विरोध पर काबू पाया जा सका।

आंदोलन के जोश में देश का वातावरण कितना बदल गया था इसके दो उदाहरण लिये जा सकते हैं। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत के प्रायः सभी निवासी मुसलमान होने के कारण सरकार ने यहाँ किसी प्रबल विरोध की कल्पना नहीं की थी। लेकिन इस इलाके के प्रसिद्ध नेता खान अब्दुल गफ्फार खाँ ने यहाँ के निवासियों में राष्ट्रप्रेम की भावना जगायी। जब खान साहब को गिरफ्तार किया गया तो पेशावर के निवासियों ने इसका विरोध किया। अप्रैल १६३० में इस सीमांत नगर के विशाल प्रदर्शन को काबू में लाने के वास्ते बख्तरबंद फौजी गाड़ियों का उपयोग किया गया। तीन घंटे तक पुलिस ने गोली चलायी। बड़ी संख्या में प्रदर्शनकारियों ने प्राण गँवाये। लेकिन सरकार ने मात्र तीस व्यक्तियों के मारे जाने को स्वीकारा। जन-विरोध की उग्रता को देखते हुए सेना भेजी गयी। इसी समय एक असाधारण घटना घटी। गढ़वाली राइफल्स की दो पल्टनों ने चन्द्रसिंह गढ़वाली की अपील पर जनता पर गोली चलाने से इंकार कर दिया। इसके बाद ब्रिटिश अधिकारियों ने पेशावर से सारी सेना और पुलिस को हटा लिया। उन्हें भारतीय सैनिकों के विद्रोह का डर हो गया था। परिणामस्वरूप दस दिनों तक नगर में प्रशासनिक नियंत्रण नहीं रहा। बाद में गोरी फौज ने आकर पेशावर में फिर से नियंत्रण स्थापित किया। चंद्रसिंह गढ़वाली को आजन्म कारावास की सजा दी गयी। दूसरे गढ़वाली सैनिकों को भी सजाएँ दी गयीं। गढ़वाली सैनिकों की भूमिका सदा ही उल्लेखनीय मानी जायेगी।

प्रबल जनविरोध की उग्रता शोलापुर में भी दिखायी दी। यहाँ गाँधीजी की गिरफ्तारी के विरोध में मजदूरों ने हड़ताल कर दी। उन्होंने उग्र प्रदर्शन किये और स्थानीय कार्यालयों पर हमला वोल दिया। जिला शासन की पकड़ नगर पर कमजोर हो गयी और अनेक दिनों तक इसके बड़े भाग पर प्रदर्शनकारियों का नियंत्रण बना रहा। पेशावर के बाद शोलापुर की घटना से सरकार को धक्का लगा और जैसे वहाँ सैनिकों को भेजकर स्थिति पर काबू पाया गया था उसी प्रकार की कार्यवाही-यहाँ भी करनी पड़ी।

सामाजिक वर्गों की भूमिका का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इस आंदोलन में महिलाओं ने बढ़-चढ़कर भाग लिया। बहिष्कार और धरना देने में उन्होंने सक्रिय तरीके से कार्य किया और गिरफ्तारियों के समय भी वे पीछे नहीं रहीं। महिलाओं के जागरण से आंदोलन सशक्त हुआ और भविष्य में उनके और अधिक भाग लेने की संभावनाएँ बढ़ीं। युवकों और विद्यार्थियों ने भी सविनय अवज्ञा आंदोलन को प्रभावी बनाने में असरदार तरीके से कार्य किया जेल जाने वाले व्यक्तियों में महिलाओं और कम आयु के युवकों की संख्या से उनकी भूमिका की पुष्टि होती है। व्यापारी वर्ग और मिल मालिकों का सहयोग अत्यन्त उपयोगी सावित हुआ उदारता से चन्दा देकर संघर्ष को संचालित करने में मदद करने के अलावा उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से भी आंदोलन के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। वस्त्र वहिष्कार को सफल वनाने में उन्होंने अनेक नगरों में सहयोग किया। घनश्याम दास विड़ला, पुरुषोत्तम दास, ठाकुर दास और वालचंद हीराचंद के उस समय के निजी पत्रों से यह प्रमाणित हो जाता है कि उन्होंने कांग्रेस की नीतियों का समर्थन किया। इस आंदोलन की एक और सफलता यह थी कि ग्रामीण इलाकों में इसका विस्तार हुआ। किसानों ने हर प्रकार के कार्यक्रम में रुचि दिखायी। शहरी क्षेत्रों से फैलकर संघर्ष जव ग्रामीण जन मानस तक पहुँच गया तो फिर इस पर काबू पाना सरकार के लिये और भी कठिन हो गया। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के प्रभाव से अनाज के दामों में आयी गिरावट से किसान पहले से ही उत्तेजित थे। आंदोलन के दौर में उन्हें अपना असंतोष प्रदर्शित करने का अवसर मिला।

गाँधी-इरविन समझौता

सविनय अवज्ञा संघर्ष के दौरान सरकार ने लन्दन में पहला गोलमेज सम्मेलन किया था। इसका उद्‌देश्य भारतीय प्रतिनिधियों के परामर्श से भावी सवैधानिक सुधार करना था। सम्मेलन इसलिये वेकार रहा क्योंकि कांग्रेस ने इसमें भाग नहीं लिया था। आंदोलन के चलते हुए वह किसी सवैधानिक वार्ता में योगदान करने को राजी नहीं थी। गोलमेज सम्मेलन के दूसरे दौर में कांग्रेस को भाग लेने के लिये राजी करना ब्रिटिश सरकार को आवश्यक दिखायी दिया। ऐसी स्थिति में जनवरी से मार्च १९३१ के बीच कांग्रेस और सरकार के बीच समझौते के प्रयास किये गये। इसकी परिणति मार्च १९३१ में वाइसराय और गाँधीजी की भेंट से हुई। दोनों के बीच हुआ समझौता गाँधी-इरविन समझौता कहलाया। भविष्य में होने वाली सवैधानिक सुधार वार्ता और दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने को गाँधीजी तैयार हो गये। इस समझौते के फलस्वरूप आंदोलन स्थगित कर दिया गया। गाँधीजी के इस निर्णय से एक बार फिर उनकी इस नीति

की पुष्टि हुई कि संघर्ष को केवल उतने समय तक चलाया जाय जब तक ऐसा करना अनिवार्य हो। संघर्ष के पश्चात् समझौता और समझौते के बाद संघर्ष उनकी रणनीति के दो अनिवार्य पहलू थे।

गाँधी-इरविन समझौता अस्थायी साबित हुआ। मार्च १९३१ से वर्ष की समाप्ति तक ही यह चल सका। नौ महीने के अंतराल के बाद सविनय अवज्ञा आंदोलन का दूसरा दौर आरम्भ हुआ। इस समझौते की अल्प अवधि से यह प्रमाणित हो गया कि सरकार अथवा कांग्रेस दोनों में से किसी की भी आशाएँ इससे पूरी नहीं हुई। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए गाँधीजी लन्दन अवश्य गये। लेकिन उन्हें खाली हाथ वापस आना पड़ा। दिसम्बर १९३१ के अंतिम सप्ताह में स्वदेश लौटने पर उन्हें सब कुछ बदला हुआ दिखायी दिया। किसानों की समस्याओं को लेकर कांग्रेस और सरकार के बीच गहरे मतभेद उभरे थे और जवाहरलाल नेहरू को बन्दी बना लिया गया था। नये वाइसराय लार्ड विलिंगडन ने गाँधीजी से भेंट करने से ही इंकार कर दिया। वह राष्ट्रवादी शक्तियों का दमन करने पर तुला हुआ था। अध्यादेश जारी करके सरकार ने किसी भी संघर्ष को दबाने की पहले से तैयारी कर ली थी। इस परिस्थिति में आंदोलन को पुनः आरम्भ कर दिया गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का दूसरा चरण

जनवरी १९३२ के पहले सप्ताह में कांग्रेस द्वारा आंदोलन फिर से शुरू कर दिया गया। लेकिन इस बार की परिस्थितियाँ दो वर्ष पहले से भिन्न थी। १९३० में समय का चुनाव कांग्रेस ने किया था, इसका रुख आक्रामक था और सरकार ने हिचकते हुए संघर्ष को दबाने के उपाय किये थे। लेकिन इस बार सब कुछ बदला हुआ दिखायी दिया। कांग्रेस को मजबूरी में आंदोलन शुरू करना पड़ा था, वह बचाव का रास्ता अपनाती रही थी और सरकार ने लगातार आक्रामक ढंग से काम किये। कांग्रेस के निर्णय की सूचना मिलते ही सरकार ने कठोर उपाय करने और दमनात्मक नीति अपनाने का इरादा कर लिया। वह ऐसी किसी भी स्थिति पर काबू पाने के बारे में पहले से सोच-विचार कर चुकी थी। शुरू में ही आंदोलन को सख्ती से दबा देने का उसका निश्चय था। सरकार ने चार अध्यादेश जारी करके असाधारण अधिकार ग्रहण कर लिये। इनके अधीन सरकार ने कांग्रेस तथा अन्य संगठनों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया, उनके कोष को जब्त कर लिया और सभी जाने-माने कांग्रेस के नेताओं को बन्दी बना लिया। तेजी से की गयी गिरफ्तारियों का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जनवरी में लगभग पन्द्रह हजार, फरवरी में अठारह हजार और मार्च में सात हजार व्यक्तियों को बन्दी बना लिया गया। आंदोलन के आरम्भ होने के तीन महीने के बाद प्रायः बत्तीस हजार लोग जेलों में ठूँस दिये गये थे। अंधाधुंध गिरफ्तारियाँ करके और दमनकारी उपायों के द्वारा सरकार ने आंदोलन को पनपने नहीं दिया।

इन विपरीत परिस्थितियों के कारण फ़िर से शुरू किये गये आंदोलन को चलाने का ढंग पहले से भिन्न रहा। जैसी तैयारी १९३० में की गयी थी उसका अवसर १९३२ में नहीं था फिर भी पहले से संघर्ष के रास्ते को फिर से अपनाना तो संभव था ही। इससे कांग्रेस ने शीघ्रता

से यही निर्देश जारी कर दिये कि उन्हीं कार्यक्रमों के अनुसार पुनः संघर्ष के मार्ग पर आगे बढ़ा जाये जो आंदोलन के आरम्भ में तय किये गये थे। पूर्व निर्धारित योजना के अनुसार अभियान चलाया गया और प्रान्तीय, नगर और जिला स्तरीय शाखाओं को संघर्ष को तेज करने के दूसरे उपाय करने की छूट भी दे दी गयी। आंदोलन के वेग को बनाए रखा गया। सरकार के आदेशों के बावजूद कांग्रेस संगठन कारगर बना रहा। कार्यसमिति के अधिकार कांग्रेस के अध्यक्ष को सौंप दिये गये। यह भी तय कर दिया गया कि एक अध्यक्ष के गिरफ्तार होने के पहले ही स्थान ग्रहण करने को दूसरा तैयार रहे। कार्यकारी अध्यक्षों ने आंदोलन को जारी रखने के उपायों को कभी मन्द नहीं होने दिया। यही तरीका अन्य स्तरों पर अपनाकर संघर्ष के वेग को बनाए रखा गया।

दुबारा चलाया गया संघर्ष १६३२ के मध्य से ही शिथिल पड़ने लगा। आंदोलन के वेग को बनाए रखने में कठिनाइयाँ आयीं। इस मन्दता के होते हुए ही इसे जल्द समाप्त नहीं किया गया। बीच-बीच में सरकार से टक्कर लेने के कार्यक्रमों को चलाकर आंदोलन को जारी रखने की नीति अपनायी गयी। लेकिन इससे कोई लाभ नहीं हुआ। यह आंदोलन धीरे-धीरे क्षीण होता गया। मई १६३३ में इसे स्थगित करने की औपचारिक घोषणा कर दी गयी और कुछ समय बाद इसे वापस ले लिया गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन से देश में राजनीतिक जागृति आयी और एक नया विश्वास जगा। असहयोग आंदोलन की तुलना में यह आंदोलन कहीं अधिक सशक्त था। एक के बाद दूसरा संघर्ष प्रभावकारी तरीके से चलाकर कांग्रेस ने देश में साम्राज्यवादी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष का भाव जगाया। यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह एक व्यापक जन-आंदोलन था जिसकी गूँज केवल शहरों में नहीं अपितु गाँवों में भी सुनाई दी थी। प्रत्येक वर्ग और समुदाय के लोग इस आंदोलन में शामिल हुए, महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर इसमें हिस्सा लिया, युवा वर्ग इसकी मुख्य शक्ति थी और संघर्ष के समय समूचे राष्ट्र ने एकजुट होकर अपनी राजनीतिक एकता प्रदर्शित की।

●●●

छब्बीसवाँ अध्याय

सन् बयालीस की जनक्रांति और राष्ट्रीय स्वाधीनता

१६३४ से १६४७ तक के तेरह वर्षों में भारतीय मुक्ति संग्राम की लहर और भी तेज हुई। इस अवधि में शुरू के छह वर्षों में ठहराव दिखायी दिया। इसका कारण यह था कि सविनय अवज्ञा आंदोलन के वापस ले लिये जाने के वर्षों में प्रायः उसी प्रकार से संवैधानिक राजनीति का दौर आया जैसा दौर १६२२ के पश्चात् आया था। आंदोलन की समाप्ति पर विकल्प के रूप में विधान सभा में प्रवेश की राजनीति को अपनाया गया। परन्तु इस रास्ते पर थोड़े समय तक चला गया। १६३६ में दूसरे महायुद्ध की घोषणा होते ही भारत का राजनीतिक नक्शा एकदम से बदला। इस समय से जो राजनीतिक बदलाव आया उसी के फलस्वरूप कांग्रेस ने १६४२ में सरकार के खिलाफ खुला और व्यापक विद्रोह छेड़ दिया, विदेशी सत्ता को भारत से हटाने का संकल्प किया और आखिरकार स्वाधीनता हासिल हुई। ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों के हाथों में सत्ता सौंपने के निर्णय की परिस्थितियों का विवेचन भी यहाँ प्रस्तुत है।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के समाप्त होते ही राष्ट्रीय राजनीति में दो वर्गों का उदय हुआ। एक ओर स्वराजी राजनीति को फिर से अपनाने की कोशिश की गयी और दूसरी ओर वामपंथी दलों का उदय हुआ। इन दो अलग-अलग विचार-धाराओं के समर्थकों ने अपने-अपने तरीकों से आगे बढ़ने के प्रयास किये।

संवैधानिक राजनीति और प्रान्तों में कांग्रेस द्वारा सत्ताग्रहण करना

१६३४ से संवैधानिक राजनीति के मार्ग पर फिर से अग्रसर होने का विचार पनपा। एम. ए. अंसारी और विधानचन्द्र राय ने ऐसे कांग्रेसजनों से सम्पर्क किया जो विधान परिषदों में जाने को तैयार थे। स्वराजी राजनीति को ठीक उसी प्रकार से अपनाने की माँग की गयी जैसा असहयोग आंदोलन की समाप्ति के पश्चात् किया गया था। इस नीति को स्वीकारने वालों के सम्मुख सबसे गंभीर सवाल गाँधीजी के रुख का था। गाँधीजी के विरोध के कारण स्वराज दल के सम्मुख अनेक कठिनाइयाँ आयीं थीं। लेकिन इस बार गाँधीजी का रुख संवैधानिक राजनीति के अनुकूल दिखायी दिया। उन्होंने एक वक्तव्य जारी करके संवैधानिक राजनीति के समर्थकों की नीति का स्वागत किया। कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में विधान परिषदों में प्रवेश करने के प्रस्ताव को स्वयं गाँधीजी ने ही पेश किया। उनके इस रुख से संविधानवादियों का हौसला बढ़ा।

यह ध्यान देने योग्य है कि १६३४ में स्वराज पार्टी को अथवा ऐसे ही किसी दल को अलग से संगठित नहीं किया गया। निर्णय यह किया गया कि अलग से किसी संगठन को बनाने की जरूरत नहीं है। स्वयं कांग्रेस ने ही कौंसिल प्रवेश की राजनीति को पूरी तरह से अपना लिया,

चुनावों में भाग लेने का निश्चय किया और समय आने पर मंत्रिमण्डल भी बनाया। यह स्थिति पहले से काफी भिन्न थी। इसका अर्थ यह हुआ कि कांग्रेस में संवैधानिक राजनीति के विषय में किसी प्रकार का विवाद नहीं रह गया था और इसे कम या अधिक अपनाने की कोई शंका नहीं रह गयी।

संवैधानिक राजनीति का अनुसरण करने का यह अनुकूल वातावरण था। प्रायः सभी राष्ट्रनेता उत्साह से चुनावों में भाग लेने को तैयार हो गये। केन्द्रीय असेम्बली के चुनावों में १९३४ में कांग्रेस को आशाजनक सफलता मिली। इससे वह और भी विश्वास से संवैधानिक मार्ग पर आगे बढ़ी। इसी बीच १९३५ का संवैधानिक अधिनियम स्वीकृत हो गया। इस नये संविधान में प्रान्तीय स्तर पर पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना का सिद्धान्त अपनाया गया। इससे प्रान्तों में उत्तरदायी सरकारों के कार्य करने के द्वार खुले। इसी संविधान के अधीन १९३७ में चुनाव हुए। इनमें कांग्रेस ने सक्रिय रूप से भाग लिया। जवाहरलाल नेहरू ने देशव्यापी दौरा करके कांग्रेस के प्रति समर्थन जुटाने का कार्य किया। देश में अपना प्रभाव दिखाते हुए कांग्रेस ने प्रान्तीय विधान सभाओं में महत्त्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित की। ग्यारह प्रान्तों में से छह प्रान्तों में कांग्रेस को विधान सभाओं में पूर्ण बहुमत मिला। कुछ अन्य प्रान्तों में भी कांग्रेस सबसे प्रभावशाली राजनीतिक दल था। जनसमर्थन से कांग्रेस का सम्मान बढ़ा और वह देश की बहुसंख्यक जनता की प्रतिनिधि होने का दावा बखूबी कर सकती थी।

प्रान्तीय विधानसभाओं के चुनाव पूरे हो जाने पर कांग्रेस मंत्रिमण्डल बनाने को राजी हो गयी। यू.पी., बिहार, उड़ीसा, सी.पी., बम्बई, मद्रास, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त और असम में कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने पद-भार ग्रहण किया। देश के इतिहास में पहली बार इन आठ प्रान्तों में कांग्रेस की सरकारों ने शासन संचालन का दायित्व सँभाला। कांग्रेस के नेताओं के सम्मुख एक बड़ी चुनौती थी। उन्हें यह सिद्ध करना था कि प्रशासन करने में वे उतने ही सक्षम थे जितने राष्ट्रीय संघर्ष में। प्रशासनिक नीतियों के द्वारा कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने जनकल्याण के अनेक उपाय किये, शिक्षा और स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया, जन अधिकारों को प्रदान करने के नियम बनाये और किसानों तथा श्रमिकों के कल्याण की योजनाएँ बनायीं। मंत्रिमण्डल बनाने से कांग्रेस की धाक और भी जमीं। इस दौरान कांग्रेस की सदस्य संख्या में विकास हुआ और उसके नेतृत्व के प्रति लोगों की आस्था बढ़ी।

सितम्बर १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। तुरन्त वाइसराय ने ब्रिटेन के साथ-साथ भारत को भी युद्ध में शामिल करा दिया। वाइसराय ने प्रान्तीय जनप्रतिनिधि सरकारों से कोई परामर्श नहीं किया। इनके विरोध में कांग्रेस के सभी प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। भारत को युद्ध में जिस तरीके से भाग लेने को मजबूर किया गया था उसका विरोध करते हुए कांग्रेस ने ऐसा निर्णय लिया। यहीं से संवैधानिक राजनीति का कांग्रेस ने परित्याग कर दिया और फिर से प्रतिरोध की राह पकड़ी।

वामपंथ का उदय और प्रगति : साम्यवादी आंदोलन और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का विकासक्रम

भारत में वामपंथ का उदय और विकास रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप हुआ। इस प्रकार

आरम्भ से ही यह विदेशी घटनाओं से प्रभावित रहा। विदेशों में रहने वाले और विशेष रूप से रूस के नेताओं के सम्पर्क में कार्य करने वाले व्यक्तियों ने भारत में इसकी प्रगति को प्रभावित किया। मार्क्सवादी नीतियों और सिद्धांतों का प्रभाव १९२० और १९३० के दशक में भारत में पनपी कम्युनिस्ट पार्टी पर विशेष रूप से दिखायी दिया। इस कारण यह उचित ही होगा कि पहले भारत में कम्युनिस्ट पार्टी के उदय की चर्चा की जाय और इसके उपरान्त कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना और इसके विकास का विवरण दिया जाय। वर्ग संघर्ष और वर्ग चेतना के साम्यवादी विचार १९१७ की रूसी क्रांति के बाद धीरे-धीरे भारत में फैलने लगे। रूसी क्रांति द्वारा वहाँ की तानाशाही की समाप्ति हुई थी। इसके अलावा वहाँ एक नयी सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था भी स्थापित की गयी। इस क्रान्ति ने भारत में समाजवादी विचारों और जन-आंदोलनों को जन्म दिया। भारत में स्थापित साम्राज्यवादी सत्ता के खिलाफ संघर्ष करने वालों का उत्साह इससे बढ़ा।

१९२२ में चौरी-चौरा काण्ड के कारण गाँधीजी ने अचानक असहयोग आंदोलन को रोक दिया। इससे उपजी निराशा से वैकल्पिक राजनीतिक विचारधारा को भारत में पनपने का मौका मिला। इस स्थिति का लाभ उठाकर प्रमुख कम्युनिस्ट नेता एम.एन. राय ने भारत में कम्युनिस्ट पार्टी गठित करने की पहल की। वे और उनके कुछ साथी मजदूरों को संगठित करने में जुट गये। उन्होंने समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के माध्यम से साम्यवादी नीतियों का प्रचार किया।

ये आरम्भिक प्रयास दिसम्बर १९२५ में सफल हुए। इस समय कानपुर में सत्यभक्त के नेतृत्व में अलग-अलग बिखरे हुए कम्युनिस्ट ग्रुपों को संगठित करके भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के गठन की घोषणा की गयी। यहीं से इस पार्टी का वास्तविक उदय माना जाता है। इस पार्टी ने मजदूरों और किसानों के बीच काम करना शुरू कर दिया और उनको संगठित करके उन्हें वर्ग हितों की आवाज उठाने को प्रेरित किया। कम्युनिस्ट पार्टी ने मजदूर आंदोलनों को चलाने में जितनी अधिक सफलता प्राप्त की उतनी सफलता उन्हें राजनीतिक क्षेत्र में नहीं मिली।

इस बीच सरकार कम्युनिस्ट आंदोलन पर पैनी नजर रखे हुए थी। भारत सरकार कम्युनिस्ट विचारधारा और संगठन को भारत में पनपने देने के सख्त खिलाफ थी। उसने १९२८ में एक अध्यादेश द्वारा इसे गैर कानूनी दल घोषित कर दिया। देश भर के ३१ कम्युनिस्ट और मजदूर संघ के नेताओं को गिरफ्तार करके उनपर मुकदमा चलाया गया। यह मेरठ षडयन्त्र मुकदमा कहलाया जो तीन साल तक चलता रहा। मेरठ षडयन्त्र केस का फैसला जनवरी १९३३ को सुनाया गया। इसमें २७ कम्युनिस्ट विचारधारा के समर्थक नेताओं को कड़ी सजाएँ दी गयीं। सरकार के इन दमनकारी उपायों से यह संगठन काफी कमजोर हो गया। मजदूर आंदोलन को क्षति पहुँची और मजदूर-किसान पार्टियाँ बिखर गयीं। १९४२ तक कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबन्ध लगा रहा। तो भी किसी न किसी रूप में इसके नेताओं ने आंदोलन को बनाए रखने में सफलता प्राप्त की।

कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना और इसके कार्यों की तुलना में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का उदय और इसका स्वरूप पर्याप्त भिन्न था। इसका मुख्य कारण था इस नवगठित दल द्वारा

किया गया यह आधारभूत निर्णय कि वह कांग्रेस के भीतर रहकर इसके एक गुट के रूप में अपनी गतिविधियाँ संचालित करती रहेगी। कांग्रेस समाजवादी पार्टी हमेशा कांग्रेस से सम्बद्ध रही और उसने कांग्रेस की नीतियों से सामंजस्य बिठाते हुए ही कार्य किया। इसका सीधा लक्ष्य था कि कांग्रेस को समाजवादी मूल्यों से आवद्ध किया जाये तथा इसकी बुनियादी नीतियों को बनाए रखा जाये। कांग्रेस समाजवादी दल के नेता समाजवाद की वैज्ञानिक मान्यताओं को स्वीकारने के स्थान पर कांग्रेस की नीतियों में समाजवादी सुधारों के लिए कृतसंकल्प थे। कांग्रेस समाजवादियों की इस आधारभूत मान्यता को ध्यान में रखकर ही इसकी भूमिका का मूल्याँकन करना उचित होगा।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के उदय का सबसे पहला कारण था १६२० से १६३० में देश में समाजवादी विचारों के प्रति वढ़ती हुई आस्था। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है १६१७ की रूसी क्रांति ने मार्क्सवाद को भारत में लोकप्रिय बनाया और स्वाभाविक रूप से अनेक नवयुवक इससे प्रभावित हुए। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण जवाहरलाल नेहरू का लाहौर कांग्रेस में १६२६ में दिया गया अध्यक्षीय भाषण था। इसमें उन्होंने मार्क्सवाद के प्रभाव को स्पष्ट रूप से स्वीकारा। सुभाष चन्द्र बोस भी समाजवाद से प्रभावित थे। इन दोनों नेताओं ने समाजवादी आंदोलन को भारत में लोकप्रिय बनाने में भूमिका अदा की तथा उनके विचारों का प्रभाव उनके समकालीन नवयुवकों पर पड़ा लेकिन उनका प्रभाव केवल अप्रत्यक्ष रहा। उन्होंने खुलेआम कांग्रेस समाजवादी दल को स्थापित करने में न तो कोई मदद की और न ही वे इस संगठन में कभी शामिल हुए।

कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना का दूसरा मुख्य कारण था सविनय अवज्ञा आंदोलन का स्थगित किया जाना। १६३१ से १६३४ तक सविनय अवज्ञा आंदोलन के चलाये जाने के बावजूद अन्ततः इसे गाँधीजी ने रोक दिया। अतः किसी वैकल्पिक राजनीति की ओर जागरूक लोगों का ध्यान गया। उन्होंने कांग्रेस को सशक्त बनाने के लिये सामाजिक और आर्थिक कार्यों पर अधिक ध्यान देने पर जोर दिया।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना का तीसरा कारण था क्रान्तिकारियों द्वारा विकल्प की तलाश। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दूसरे दौर में सरकार द्वारा दमनकारी उपाय करने से क्रान्तिकारी आंदोलन को और अधिक चलाना कठिन हो गया। प्रमुख क्रांतिकारी नेता पहले ही अपने जीवन का बलिदान दे चुके थे। अतः अन्य क्रांतिकारी नेताओं को राजनीति की किसी न किसी धारा से जुड़ने की आवश्यकता पड़ी। हिन्दुस्तान रिपब्लिकन सोशलिस्ट आर्मी से जुड़े क्रान्तिकारी साम्यवादी और समाजवादी विचारों से प्रभावित थे। १६३२ से १६३४ तक ये धीरे-धीरे गाँधीवादी विचारों से भी प्रभावित होने लगे। एक प्रकार से गाँधीवादी और समाजवादी विचारों की मिश्रित विचारधारा से प्रभावित क्रांतिकारी या तो कम्युनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये अथवा उन्होंने कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी को संगठित करना उचित समझा। अतः क्रांतिकारी आंदोलन १६३३-३४ तक आते-आते समाजवादी आंदोलन से जुड़ता हुआ इसके संगठन का एक तत्व बन गया।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना में कांग्रेस के प्रगतिशील तत्वों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से भूमिका अदा की। जब से नेहरू ने १६२६ की लाहौर कांग्रेस में समाजवाद का नारा बुलन्द किया था उस समय से वे कांग्रेस की विचारधारा में बदलाव लाने की बात कह रहे थे। सुभाष चन्द्र बोस तथा अन्य प्रगतिशील कांग्रेसियों ने भी विभिन्न शोषित वर्गों के हितों की ओर ध्यान देने की बात कही। समाजवादी विचारों से प्रभावित कांग्रेस सदस्यों ने अन्ततः कांग्रेस समाजवादी पार्टी की स्थापना में भरपूर योगदान दिया।

कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना अक्टूबर १६३४ में की गयी। लेकिन ऐसे दल की आवश्यकता जुलाई १६३३ से अनुभव की जाने लगी थी। गांधी जी द्वारा सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिये जाने पर प्रभावी राजनीति की दिशा अनिश्चित थी। बाद में अप्रैल १६३४ में गांधीजी ने सविनय अवज्ञा को समाप्त करने की घोषणा कर दी। इससे कांग्रेस के भीतर उभरती हुई दक्षिणपंथी और वामपंथी विचारधारा के समर्थकों के बीच के मतभेद खुलकर सामने आ गये। वामपंथियों ने शीघ्र ही अलग से संगठित होने का निश्चय किया और कांग्रेस में रहते हुए कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन कर लिया।

वास्तव में कांग्रेस के अन्दर एक अलग वामपंथी गुट की अक्टूबर १६३४ में स्थापना एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। इसके द्वारा पश्चिम में उपजी समाजवादी विचारधारा को भारतीय परिवेश में ढालकर देश की परिस्थितियों और परम्परा के अनुसार अपनाने का प्रयास किया गया। उदाहरण के लिये अप्रैल १६३४ में प्रकाशित पुस्तिका में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सम्पूर्णानन्द ने लिखा कि इस पार्टी के कार्यक्रम का प्रारूप तैयार करते समय उन्होंने भारत के इतिहास संस्कृति और राजनीति के संदर्भ में ही समाजवाद की विचारधारा प्रस्तुत की। उन्होंने लेनिनवादी परिकल्पना को भारत के संदर्भ में अनावश्यक माना।

बदलते हुए राजनीतिक वातावरण का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि जहाँ एक ओर १८-१६ मई १६३४ को पटना में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक में कौंसिल-प्रवेश को स्वीकृति प्रदान की गयी वहीं उसी नगर में १७ मई १६३४ को अखिल भारतीय समाजवादी सम्मेलन आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में आयोजित किया गया। इससे कांग्रेस में उभरती हुई वामपंथी और दक्षिणपंथी विचारधारा का एक और प्रमाण मिला। इस सम्मेलन में प्रायः एक सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया। आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने सम्बोधन में जमींदारों और पूँजीपतियों के गठजोड़ की आलोचना की। उन्होंने कहा कि नवगठित कांग्रेस समाजवादी दल निम्न मध्यम वर्ग और मजदूरों के हितों की रक्षा करेगा। इसी सम्मेलन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का पहला सम्मेलन बम्बई में आयोजित करने और इसका कार्यक्रम तैयार करने का निर्णय लिया गया।

लम्बी तैयारी और विचार-विमर्श के बाद अक्टूबर १६३४ में बम्बई में आयोजित सम्मेलन में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना की घोषणा की गयी। सम्पूर्णानन्द ने इस सम्मेलन की अध्यक्षता की। उनके साथ-साथ जो प्रमुख नेता शुरू से ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी से जुड़े उनमें प्रमुख थे जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया, एम.आर. मसानी और

अशोक मेहता। इस सम्मेलन में पार्टी की नीतियों और कार्यक्रमों की घोषणा की गयी। बाद में अनेक कांग्रेसियों और अन्य विचारधारा के समर्थक नेताओं ने इस दल की सदस्यता ग्रहण की। इनमें से प्रमुख थे ई.एम.एस. नम्बूदरी, चार्ल्स मसकरिनहास। कांग्रेस समाजवादियों ने भावी कार्यक्रम निर्धारित करते हुए कहा कि स्वतंत्रता के लिय संघर्ष करना उनका प्रमुख लक्ष्य था। उन्होंने स्वीकारा कि समाजवाद के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रवाद की भावना आवश्यक तत्व था। समाजवादियों से आग्रह किया गया कि इसके सदस्य कांग्रेस के अन्दर रहकर कार्य करें। कांग्रेस से अलग होकर कार्य करने के प्रयास को उन्होंने आत्मघाती माना।

आरम्भ से ही कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी ने कांग्रेस के स्वरूप को बदलने के साथ-साथ उसे शक्तिशाली बनाने की कोशिश की। कांग्रेस को ऐसी नीतियाँ अपनाने को कहा गया जिनसे किसानों तथा श्रमिकों की स्थितियों में निर्णायक सुधार हों। जयप्रकाश नारायण ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'हम कांग्रेस के सम्मुख जो कार्यक्रम रख रहे हैं उसे स्वीकारे जाने की हमें आशा है लेकिन ऐसा न होने पर भी हम कांग्रेस से बाहर नहीं जायेंगे।'

संगठनात्मक स्तर पर आगामी वर्षों में कांग्रेस सोशलिस्ट नेता कांग्रेसी नेताओं के साथ संगठन की शीर्ष कमेटियों में शामिल हुए। उन्होंने क्रमिक रूप से कांग्रेस पर अपना दबाव बनाए रखा और प्रतीक्षा करते रहे कि समाजवादी विचारों को अपनाने में कांग्रेस रुचि लेगी।

१६३४ से १६३८ के बीच की अवधि में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के अन्तर्विरोध सामने आये। इसके और कम्युनिस्ट पार्टी के बीच मतभेद और भी मुखर हुए। कौंसिल के लिये हुए चुनावों में अनेक सैद्धान्तिक वक्तव्यों के बावजूद कई कांग्रेस समाजवादी सक्रिय रूप से शामिल हुए। सम्पूर्णानन्द न केवल विधानसभा के सदस्य ही बने अपितु वे यू.पी. कांग्रेस मंत्रिमण्डल में भी शामिल हुए। ऐसे अन्य उदाहरण भी सामने आये।

१६३६ के लखनऊ कांग्रेस अधिवेशन के दौरान जवाहरलाल नेहरू ने अपनी कार्यकारिणी परिषद् में सुभाषचन्द्र बोस, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्रदेव और अच्युत पटवर्धन को नियुक्त किया। मेरठ सम्मेलन के दौरान कांग्रेस समाजवादी पार्टी के महासचिव जयप्रकाश नारायण ने कम्युनिस्टों को पार्टी में प्रवेश का निमंत्रण दिया, इससे दोनों पक्षों में एकता हुई। पी.सी. जोशी के नेतृत्व में बड़ी संख्या में कम्युनिस्ट कांग्रेस समाजवादी दल में शामिल हो गये। दोनों विचारधारा वालों का गठजोड़ अधिक समय तक न चल सका।

१६३४ से १६४७ तक कांग्रेस समाजवादी दल का अस्तित्व बना रहा। वे कांग्रेस में शामिल तो रहे लेकिन कांग्रेस की नीतियों में बदलाव न ला सके। इसका मुख्य कारण था गाँधी जी की कांग्रेस पर पकड़। गाँधी जी ने कभी भी समाजवादी पार्टी के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त को नहीं माना। दक्षिणपंथी विचारधारा के कांग्रेसी इस दल को जहाँ सन्देह की दृष्टि से देखते रहे वहीं वामपंथी दलों ने इसकी वैज्ञानिक समाजवाद के प्रति निष्ठा पर सन्देह किया। कांग्रेस समाजवादी दल के प्रमुख नेता भी कई विचारधाराओं के पोषक थे। मार्क्सवादी, समाजवादी, फेबियन समाजवाद और उदारवादी समाजवादी विचारधारा के समर्थकों का यह दल एक जमघट बनकर रह गया। यह दल समाजवादी सिद्धान्तों का प्रचार तो करता रहा परन्तु १६४७ तक न तो कांग्रेस

पर हावी हो सका और न प्रभावी। इसका दूरगामी प्रभाव अवश्य पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् कांग्रेस ने नेहरू के नेतृत्व में समाजवादी समाज की रचना करने का संकल्प व्यक्त किया।

द्वितीय महायुद्ध का विरोध करने की कांग्रेस की नीति

सितम्बर १९३९ में दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होते ही वाइसराय ने इसमें भारत के शामिल होने की घोषणा कर दी। यह निर्णय उन्होंने स्वयं ही किया। प्रान्तीय जनप्रतिनिधि सरकारों या राजनीतिक दलों से उन्होंने सलाह नहीं ली। उन्होंने अपनी ओर से ही मान लिया था कि भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले संगठन सरकार के निर्णय को स्वीकार कर लेंगे। यह भी कहा जा सकता है कि सरकार ने ऐसे किसी भी परामर्श को जरूरी नहीं समझा। वाइसरास की इस नीति के कारण सरकार और कांग्रेस के बीच तनाव बढ़ने लगा। कांग्रेस ने सरकार के युद्ध प्रयासों का विरोध किया। उसका मत था कि यह युद्ध साम्राज्यवादी हितों को ध्यान में रखते हुए लड़ा जा रहा हैं। ऐसे महायुद्ध में भारतीय साधनों, उसके धन और स्रोतों के उपयोग करने का कांग्रेस ने विरोध किया। इसके अलावा कांग्रेस ने कुछ नीति सम्बन्धी आपत्तियाँ भी उठायीं। उसका कहना था कि जब भारत में प्रजातांत्रिक व्यवस्था लागू नहीं है तो वह दूसरे देशों की स्वतंत्रता के पक्ष में आवाज कैसे उठा सकता है। कांग्रेस ने भारत में आधारभूत राजनीतिक सुधारों का सवाल उठाया। उसने भारत की स्वतंत्रता के पक्ष में घोषणा करने की माँग ब्रिटिश सरकार से की। इसी के साथ-साथ उसने यह भी चाहा कि भारतीयों के प्रतिनिधि एक संवैधानिक सभा में बैठकर भावी संविधान का स्वरूप सुनिश्चित करें। कांग्रेस का कहना था कि ब्रिटिश सरकार इन परिवर्तनों का आश्वासन दे। ये परिवर्तन युद्ध के बाद किये जा सकते थे। युद्ध के दौरान उसने ऐसी उत्तरदायी सरकार की स्थापना का प्रस्ताव किया जिसे केन्द्र सरकार को संचालित करने का अधिकार हो। कांग्रेस का विचार था कि ऐसी सरकार ही युद्ध के प्रयासों को तेज कर सकती है जिस पर भारतीयों को भरोसा हो। समय-समय पर कांग्रेस ने तात्कालिक और मूलभूत राजनीतिक परिवर्तनों पर जोर डाला। कांग्रेस ने यह साफ तौर पर कहा कि वह ब्रिटेन को बरबाद करके स्वतंत्रता को प्राप्त करना नहीं चाहता। उसने ब्रिटिश सरकार की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उसके सहयोग की उपेक्षा कर दी।

महायुद्ध में भारत को शामिल करने की सरकार की नीति का विरोध करते हुए कांग्रेस ने सभी प्रान्तीय कांग्रेस मंत्रिमण्डलों को त्यागपत्र देने को कहा। उन्होंने तत्काल ऐसा ही किया। युद्ध शुरू होने के छह महीने बाद तक कांग्रेस बातचीत का सिलसिला चलाती रही। जब उसे सरकार से अनुकूल उत्तर की आशा नहीं रही तो फिर मार्च १९४० के रामगढ़ के अधिवेशन में कांग्रेस ने नये सिरे से विचार किया। इस समय से इसके नेताओं में छटपटाहट और अधीरता दिखायी देने लगी। इस पशोपेश में कांग्रेस ने छह महीने और बिता दिये कि सरकार पर दबाव डालने के क्या उपाय किये जायें? सत्याग्रह अथवा सविनय अवज्ञा संघर्ष के स्वरूप पर बहस चलती रही। यह निश्चित हो गया कि सरकार कुछ भी न करने की नीति अपना रही है। ब्रिटिश नीति के विरुद्ध निराशा व्यक्त करते हुए कांग्रेस ने अक्टूबर १९४० से व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन शुरू किया।

महायुद्ध की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए गाँधीजी ने एक सीमित और संकुचित आंदोलन आरम्भ किया। यह आंदोलन व्यक्तियों का था समूहों का नहीं कांग्रेस के सम्मुख जो दुविधा की स्थिति थी उसी के अनुसार उसने विरोध का ऐसा तरीका अपनाया। एक ओर तो कांग्रेस ने संघर्ष का आह्वान किया और दूसरी ओर संघर्ष का ऐसा स्वरूप निर्धारित किया जिससे युद्ध के दौरान ब्रिटिश सरकार के लिये कोई बड़ा संकट न खड़ा हो। कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को इसमें भाग लेने को कहा गया। यह संघर्ष केवल महायुद्ध के प्रयासों के विरोध तक सीमित था। सत्याग्रह में भाग लेने वाला व्यक्ति मुख्यतः इतनी ही बात कहता था : 'धन और जन से ब्रिटिश प्रयासों में मदद करना गलत है। एकमात्र उचित मार्ग है अहिंसक उपायों से युद्ध का विरोध।' युद्ध प्रयासों का विरोध करने को सत्याग्रह का आधार बनाया गया। जैसे ही सत्याग्रही अपना भाषण देने को खड़ा होता था उसे गिरफ्तार कर लिया जाता था।

एक वर्ष से भी अधिक समय तक चलने वाला यह सत्याग्रह तीन चरणों में बढ़ा। पहली अवधि में कांग्रेस कार्यसमिति और सर्वभारतीय कांग्रेस समिति के प्रायः बारह सौ सदस्यों ने सत्याग्रह में भाग लिया। इस दौरान सभी प्रमुख राष्ट्रनेताओं ने गिरफ्तारी दी। १६४१ के आरम्भ होने के साथ-साथ इस सत्याग्रह का दूसरा चरण शुरू हुआ। प्रान्तीय, जिला या नगर कांग्रेस समितियों के पदाधिकारियों को इस समय चुना गया। पूरी छानबीन करके पहले से सूची तैयार कर ली जाती थी। तीसरे चरण के समय सत्याग्रह की परिधि को व्यापक बनाया गया। अब कांग्रेस के किसी भी सदस्य को सत्याग्रह मार्ग पर चलने की अनुमति दे दी गयी। इसी नीति के फलस्वरूप सत्याग्रह करने वाले व्यक्तियों की संख्या बढ़ी। मई १६४१ में लगभग चौदह हजार सत्याग्रही जेलों में थे। वर्ष की समाप्ति तक यह संघर्ष इसी प्रकार चलाया गया।

व्यक्तिगत सत्याग्रह संघर्ष से यह प्रमाणित होता है कि लम्बे समय तक कांग्रेस ने धैर्य से काम किया। इसने युद्ध के दौरान संघर्ष करने में पर्याप्त संकोच से कार्य किया। गाँधीजी तथा अन्य राष्ट्रनेताओं ने सरकार पर नैतिक दबाव डालने की कोशिश की।

महायुद्ध की दशा में आए अचानक बदलाव और क्रिप्स मिशन की असफलता के कारण कांग्रेस को समूची स्थिति पर नये सिरे से विचार करना पड़ा। दिसम्बर १६४१ में जापान के युद्ध में प्रवेश करने से इसका नक्शा बदल गया। तीन महीने के भीतर ही जापान ने मलाया, सिंगापुर और बर्मा पर अधिकार कर लिया। इससे जापानी सेनाओं के भारत पर आक्रमण का खतरा उत्पन्न हो गया। भारत की सीमाओं पर युद्ध के बादल जब मंडरा रहे थे तभी ब्रिटेन की सरकार ने अपनी मंत्रिमण्डल के एक सदस्य, स्टेफर्ड क्रिप्स को भारत भेजने का निश्चय किया। युद्ध प्रयासों में भारतीयों का सहयोग पाने के उद्देश्य से उठाये गये इस कदम ने ब्रिटिश नीति के खोखलेपन को और भी दर्शाया। क्रिप्स मिशन के आगमन से यह प्रकट हो गया कि ब्रिटिश सरकार किसी भी प्रकार के उचित राजनीतिक समाधान के लिए तैयार नहीं थी। किसी तरह की आशा जगाने के बजाय इसने तनाव को ही जन्म दिया। इसके सुझावों से यह संकेत मिला कि साम्राज्यवादी इरादों को पूरा करने की दृष्टि से ब्रिटिश सरकार देश के टुकड़े करने को तैयार हो सकती है। इससे कांग्रेस को आघात लगा और वह खुले विद्रोह की तैयारी में जुट गयी। ढाई वर्षों से उसने अपने ऊपर जो अंकुश लगा रखा था वह हटा दिया गया।

क्रिप्स मिशन की वापसी के तुरन्त बाद कांग्रेस का रुख बदल गया। उसने और अधिक सक्रिय और व्यापक जनसंघर्ष चलाने का निश्चय किया। कांग्रेस की ओर से सबसे पहले गाँधीजी के वक्तव्यों से ब्रिटिश सत्ता से लोहा लेने के इरादे का आभास हुआ। उन्होंने ललकारते हुए कहा, 'अंग्रेजों भारत छोड़ो।' गाँधीजी जानते थे कि अंग्रेज भारत से स्वयं हटेंगे नहीं, उन्हें हटाना होगा। लेकिन उनके नारे से जनजागरण हुआ और भारतीयों में यह भावना जगी कि ब्रिटिश साम्राज्य के भारत में दिन समाप्त हो रहे हैं। गाँधीजी ने व्यापक अभियान की तैयारी शुरू कर दी। 'खुले विद्रोह' को अनिवार्य बताते हुए उन्होंने कहा : 'मैं अब और प्रतीक्षा नहीं कर सकता। यदि मैं प्रतीक्षा करता रहा तो शायद जीवन की अंतिम सांस तक भी उचित अवसर न आये।' अपने जीवन का अन्तिम और निर्णायक संघर्ष छेड़ने को वे तत्पर दिखायी दिये।

भारत छोड़ो आंदोलन का ऐलान

८ अगस्त १९४२ को सर्वभारतीय कांग्रेस कमेटी ने एक व्यापक प्रस्ताव स्वीकार किया। इसमें ब्रिटिश साम्राज्य की समाप्ति का संकल्प व्यक्त किया गया। साम्राज्यवादी शक्तियों को खुली चुनौती देते हुए उन्हें यथाशीघ्र भारत छोड़ देने को कहा गया। इससे यह संकेत मिला कि अब ब्रिटिश प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने की भावना भारतीयों के दिलों में हिलोरें ले रही है। इस प्रस्ताव में भारत को स्वाधीन कराने के लक्ष्य से एक व्यापक और शक्तिशाली संघर्ष छेड़ देने का निश्चय व्यक्त किया गया। भारतीयों को इस संघर्ष के लिए कष्ट उठाने को तैयार रहने को कहा गया। यह अनुमान पहले से ही लगा लिया गया था कि ऐसा भी हो सकता है कि आंदोलन के निर्देश जनता तक पहुँचाने का अवसर ही न मिले। इस स्थिति में प्रत्येक भारतवासी को स्वयं अपना पथप्रदर्शक बनाया गया। अभियान शुरू होने के पहले ही संघर्षरत जनता को अपना रास्ता खुद तय करने की स्वतंत्रता दे दी गयी। आंदोलन को प्रभावी बनाने की दृष्टि से देशवासियों को ऐसी छूट कांग्रेस ने पहले कभी नहीं दी थी।

भारत छोड़ो प्रस्ताव एक संदेश मात्र था। यह जनजागरण का प्रत्यक्ष उपाय था। लेकिन इसमें आनेवाले संग्राम की कोई रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की गयी। यदि इस समय कोई सुनिश्चित कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया गया तो इसका कारण यही था कि गाँधीजी इस बारे में सोच-विचार करना चाहते थे। पूर्व-आंदोलनों के समान इस बार भी वे कांग्रेस से आदेश प्राप्त करने के उपरान्त ही संघर्ष का कार्यक्रम बनाना चाहते थे। इस बीच वे वाइसराय से वार्ता करने का इरादा भी रखते थे। लेकिन ऐसा कुछ हो नहीं सका। ८ अगस्त की रात्रि को मुख्य प्रस्ताव के स्वीकार होने के कुछ घण्टों बाद ही गाँधीजी साहित सभी शीर्षस्थ नेताओं को बन्दी बना लिया गया। मौलाना आजाद, जवाहरलाल नेहरू, सरोजिनी नायडू आदि कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों को बम्बई में तथा अन्य प्रमुख नेताओं को अन्य प्रमुख शहरों में गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार ने यह भड़काने वाली कार्यवाही जानबूझ कर की। उसे पहले से योजना बनाने का पर्याप्त मौका मिला था और सभी प्रमाण कहते हैं कि उसे केवल दमनकारी कठोर उपायों पर ही भरोसा था। ऐसी स्थिति में सरकार ने समझौते के द्वार बन्द कर दिये, संघर्ष को भड़कने दिया और लाठी तथा बन्दूकों के सहारे विरोध को दबा देने का निश्चय किया।

ब्रिटिश नौकरशाही ने सुसंगठित हमले की तैयारी पहले से कर रखी थी। प्रस्ताव पास होते ही तुरन्त नागरिक और सैनिक कार्यवाही की गयी। हर प्रान्त, जिले, शहर और गाँव के नेताओं को जेलों में ठूँस दिया गया, अखबारों के गले घोंट दिये गये और भारत रक्षा कानून के अधीन सरकार ने असाधारण अधिकार हासिल कर लिये। अनेक अध्यादेश तत्काल लागू कर दिये गये और कांग्रेस संगठन गैरकानूनी घोषित कर दिया गया।

अगस्त क्रांति की ज्वाला फैली

जेल जाने के पहले गाँधीजी ने देशवासियों को संदेश दिया : 'करो या मरो'। उनकी यह शब्दावली ऐतिहासिक आह्वान बन गयी। लाखों-लाखों देशवासियों ने इससे प्रेरणा ग्रहण की। एक घोषित और सुनिश्चित कार्यक्रम के अभाव में देश की जनता एक स्वर में सरकार के विरुद्ध उठ खड़ी हो गयी। अचानक ही बड़ा जनसंग्राम आरम्भ हो गया। स्वयं स्फूर्त जनक्रांति फूट पड़ी। इसके पहले के आंदोलन शासन विरोधी संघर्ष थे। अगस्त १९४२ की क्रांति इसके विपरीत स्वतः उपजा जनविद्रोह था। इस क्रांति में नेता पीछे रह गये और जनता आगे बढ़ गयी। अगस्त क्रांति में जिस निर्भीकता, वीरता और दृढ़ता से जनता ने भाग लिया उससे क्रांति की सफलता का मार्ग प्रशस्त हुआ।

वरिष्ठ और जाने-माने राष्ट्रवादी नेताओं की अचानक गिरफ्तारी से इस क्रांति को संचालित करने का उन्हें मौका नहीं मिला। जिस तेजी से और जिस व्यापक पैमाने पर बड़े नेताओं को बन्दी बनाया गया उसका असर यह हुआ कि एक प्रकार से यह संघर्ष नेतृत्व विहीन हो गया। पहले से कोई निर्धारित कार्यक्रम न होने और प्रतिष्ठित नेताओं के अभाव में अधिक उग्र तत्वों को बढ़ावा मिला। युवा नेताओं ने स्वयं ही बागडोर सँभाल ली और उत्तेजना तथा क्रोध के आवेग में तोड़-फोड़ वाली कार्यवाहियाँ शुरू हो गयीं। यदि यह क्रांति हिंसात्मक दिखायी दी तो इसका कारण यही था कि उग्रता पर अंकुश रखने वाले नेता जेलों में बन्द थे। सरकार की दोषपूर्ण नीति के फलस्वरूप इस आंदोलन ने शुरू से हिंसात्मक रूप ग्रहण कर लिया।

यह क्रांति तीन चरणों में विकसित हुई। पहला चरण अगस्त १९४२ के अन्त तक रहा। इस दौरान देश के अनेक नगरों में विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हुई, क्रोध की लहर सर्वत्र फैली और अचानक ही प्रदर्शनों का तांता लग गया। सर्वभारतीय कांग्रेस समिति की बैठक बम्बई में होने से सबसे पहले राष्ट्रनेताओं की गिरफ्तारियाँ यहीं हुई थीं। इसलिये क्रांति का शंखनाद इसी नगर से हुआ। जैसे ही नेताओं के गिरफ्तार होने का समाचार बिजली की तरह फैला, विरोध में हड़तालों, सभाओं और जन-क्षोभ की लहर व्याप्त हो गयी। ९ अगस्त को जनसभा आयोजित करने पर पुलिस ने हस्तक्षेप किया। जगह-जगह लाठियाँ चलायी गयीं और पुलिस द्वारा गोलियाँ बरसाईं गयीं। पहले दिन ही एक दर्जन से अधिक स्थानों पर गोलियाँ चलीं। इनमें १० व्यक्तियों ने प्राण गँवाये और लगभग १७० लोग जख्मी हुए। पुलिस का दमन इस प्रकार बढ़ता ही गया, गोलियाँ चलाना, आँसू गैस छोड़ना और लाठियाँ चलाना आम बात हो गयी। शहर में काम-काज ठप रहा और कर्फ्यू के बदौलत शासन चलाया गया। कलकत्ता, दिल्ली, नागपुर, अहमदाबाद, लखनऊ, कानपुर आदि कई नगरों में विरोध की लहर फैली। औद्योगिक नगरों में मजदूरों ने

तथा अन्य स्थानों में विद्यार्थियों ने संघर्ष को तेज करने में प्रभावी भूमिका निभायी। उत्तेजना के आवेग में भीड़ द्वारा पत्थर फेंकने तथा सरकारी इमारतों को आग लगा देने की घटनायें भी हुई। इन दिनों की घटनाओं ने प्रमाणित कर दिया कि क्रांति की ज्वाला पर काबू पाने में सरकार को पसीना आ गया था। तभी तो गोपनीय पत्र में स्वयं वाइसराय ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को ३१ अगस्त को इस प्रकार लिखा था : '१८५७ से अब तक का यह सबसे गंभीर विद्रोह है। सैनिक सुरक्षा के कारणों से हमने इसकी व्यापकता और तेजी को संसार से छिपाया है।' वाइसराय की इस स्वीकारोक्ति से यह जानकारी मिलती है कि जनविरोध की तीव्रता से सरकार अचम्भे में पड़ गयी थी।

अगस्त के मध्य से क्रांति की ज्वाला ग्रामीण अंचलों में फैली। यह क्रांति के विस्तार का दूसरा चरण था। बनारस, इलाहाबाद, पटना, कटक आदि नगरों के विद्यार्थी शहरों से गाँवों की ओर फैले। कालेजों और विश्वविद्यालयों के बन्द हो जाने पर एक तरह से यह जरूरी हो गया था। विद्यार्थी जब अपने-अपने गाँवों की ओर लौटे तो उनके साथ कुछ और विद्यार्थी भी योजना बनाकर गये। इन्होंने अपने-अपने इलाकों में क्रांति को फैलाने का कार्य किया। बिहार, पूर्वीय उत्तर प्रदेश के जिलों, बंगाल के मिदनापुर जिले, महाराष्ट्र, कर्नाटक और उड़ीसा के अनेक क्षेत्रों में क्रांति का तेजी से विस्तार हुआ। विद्यार्थियों ने इलाके के युवाओं और स्थानीय ग्रामवासियों को संगठित करके यातायात के साधनों पर हमला बोलने का बीड़ा उठाया। जगह-जगह रेलवे स्टेशनों पर तोड़-फोड़ की गयी, मौका मिलने पर अनेक को जला दिया गया, रेलवे लाइनें उखाड़ फेंकी गयीं और चलती रेलगाड़ियों पर हमला करके इन्हें रास्तों में रोका गया और रेल सम्पत्ति नष्ट कर दी गयी। सैकड़ों डाक घर जलाकर राख कर दिये गये, तार की लाइनें तोड़ी गयीं। सड़कों पर अवरोध खड़े कर दिये गये। यातायात के साधनों को अस्त-व्यस्त करने की नीति इसलिये अपनायी गयी थी जिससे कि पुलिस और फौज का आवागमन अवरुद्ध हो। पूर्वीय उत्तर प्रदेश में बलिया में राष्ट्रीय सरकार गठित करके चित्तू पाण्डे को यहाँ का प्रमुख बनाया गया। इसी प्रकार से कुछ अन्य क्षेत्रों को भी मुक्त करा लिया गया। हालाँकि यह स्थिति अधिक समय तक नहीं रहीं फिर भी इससे ब्रिटिश प्रभुत्व की पकड़ कमजोर होती दिखाई दी। सरकार के गोपनीय दस्तावेजों में व्यापक विरोध की सूचनाएँ उपलब्ध हैं। इनसे आंदोलन की शक्ति का पता चलता है।

आरम्भिक दो महीने के बाद इस क्रांति का तीसरा चरण शुरू हुआ जो लम्बे समय तक चलता रहा। इस दौरान अलग-अलग भूमिगत संगठन उभरे जिन्होंने आतंकवादी गतिविधियाँ चलायीं। जिस विशाल पैमाने पर सेना और पुलिस ने दमनकारी चक्र चलाया था उससे यही एक रास्ता बच गया था कि दूरगामी क्षेत्रों में अचानक ही विध्वंसक हमला करके किसी थाने को, रेलवे स्टेशन या डाकघर को निशाना बनाया जाये, पुल उड़ा दिया जाये अथवा इसी प्रकार की अन्य कार्यवाहियाँ हों। पुलिस के हाथ लगे इस समय के पर्चों में अलग-अलग व्यक्तियों के नाम से निर्देश जारी किये गये। इनमें से 'हरिजन' के कार्यकारी संपादक मशरूवाला, 'कर्नाटक शैली' के संदेश और सुचेता कृपलानी के संदेशों में ऐसे छुटपुट हमलों का आह्वान किया गया। इसी समय कांग्रेस समाजवादियों ने क्रांतिकारी गतिविधियों को बढ़ावा दिया। राम मनोहर लोहिया और

उसके साथी सक्रिय हुए। नवम्बर १९४२ में जयप्रकाश नारायण और उनके सहयोगी हजारीबाग जेल से भाग निकले। उन्होंने अस्त्र-शस्त्र चलाने की शिक्षा देने का कार्य नेपाल से किया। गुरेला पद्धति से आक्रमण करके क्रांतिकारी कार्यों को किया गया और इसकी दीपशिखा को जलाए रखा गया। मिदनापुर, सतारा, आजमगढ़, गाजीपुर आदि क्षेत्रों में आतंकवादी सशस्त्र कार्यवाहियों का सिलसिला चलता रहा।

वैसे तो क्रांति के समय की गयी अलग-अलग कार्यवाहियों का लेखा-जोखा देना कठिन है और फिर भी दिसम्बर १९४३ तक के सरकारी आँकड़ों से इस समय की गतिविधियों का सहज अनुमान हो जाता है। इस दौरान पुलिस ने अलग-अलग स्थानों पर कुछ ६०० बार गोली चलायी। इनमें ७६३ व्यक्तियों के मारे जाने और १९४१ लोगों के आहत होने को स्वीकारा गया। ६३ पुलिसकर्मी मारे गये और दो हजार से अधिक आहत हुए। १० अन्य सरकारी अधिकारी मारे गये और ३६४ आहत हुए। २०८ पुलिस थानों को गंभीर क्षति पहुँचायी गयी, ७४६ दूसरे सरकारी भवनों को काफी नुकसान हुआ, ५४५ सार्वजनिक भवन तोड़-फोड़ के शिकार हुए। बम विस्फोट ६६४ घटनाओं की सूचना मिली और १३१६ विस्फोटक सामग्री समय के पहले नष्ट कर दी गयी, ४७४ बार सड़कों में तोड़-फोड़ की गयी, १७३ बार सामूहिक जुर्माने लगाये गये। सरकार ने २५६२ लोगों को कोड़े लगाने की सजा दी, ६१८३६ लोगों को गिरफ्तार किया और १०८ स्थानीय संस्थाओं को भंग कर दिया। पूर्वीय उत्तर प्रदेश के जिले आजमगढ़ के जिलाधीश आर.एच. निबलेट की व्यक्तिगत डायरी से यह स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि पुलिस और सेना मनमाने अत्याचार कर रही थी और इसी से इस अधिकारी को यह चेतावनी देनी पड़ी कि वे अस्त्रों का उपयोग इस प्रकार से न करें जैसे वे शिकार पर निकल पड़े हों। पुलिस की ज्यादतियों का चित्रण भी इस जिलाधीश के बयान से मिलता है। ऐसे प्रमाण केवल अपवाद थे। इसके अलावा उस समय के स्वतंत्रता सेनानियों के बयान भी पुलिस के अत्याचारों की यही कहानी कहते हैं। दशहत फैलाकर क्रांतिकारी कार्यों को नियंत्रित करने की छूट पुलिस और सेना को दे दी गयी।

इस विद्रोह के विस्तार का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि पंजाब और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में इसका अधिक असर नहीं हुआ। केरल और मद्रास भी लगभग शान्त ही रहे। बंगाल के मिदनापुर क्षेत्र, बिहार, पूर्वीय उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और कर्नाटक में तस्वीर भिन्न थी। यहाँ विद्रोह की शक्ति सबसे अधिक दिखायी दी थी। इसमें उग्रता थी, गति थी और व्यापक जन-समर्थन की शक्ति थी। विद्यार्थियों, युवकों और किसानों ने भरपूर प्रबलता से इस विद्रोह को सफल बनाया। चाहे इस विद्रोह का सक्रिय क्षेत्र सीमित ही था फिर भी इसने जन असन्तोष को व्यक्त करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। जाहिर हो गया कि भारत के लोगों में नयी स्फूर्ति और चेतना आ चुकी थी और वे ब्रिटिश सत्ता का विनाश करने के लिए मर मिटने को तैयार थे। ब्रिटिश सरकार ने १९४२ का अन्त होते-होते इस प्रबल जनविद्रोह को पुलिस और सेना के बलबूते पर दबा दिया। आगामी तीन वर्षों तक यह विद्रोह छुटपुट तरीके से चलता रहा। लेकिन सरकार की शक्ति को चुनौती नहीं दे सका।

भारत छोड़ो आंदोलन एक निर्णायक जनसंग्राम था जिसने ब्रिटिश सरकार पर गहरी छाप छोड़ी। महायुद्ध की समाप्ति तक तो शक्ति के बलबूते पर ब्रिटिश सत्ता जमी रही। लेकिन शासकों के हौसले पस्त हो चुके थे। १९४५ के बाद से हवा का रुख बदला और सत्ता हस्तान्तरण की वार्ताओं का सिलसिला आरम्भ हुआ। भारतीयों द्वारा दी गयी इस खुली चुनौती ने इन वार्ताओं पर असर डाला। जनविद्रोह के पुनः आरम्भ होने का भय ब्रिटिश सत्ताधारियों को सताता रहा। तत्कालीन वाइसराय ने अपने १९४६ के गोपनीय पत्र में लन्दन की सरकार को सावधान किया कि कांग्रेस द्वारा फिर से जन आंदोलन शुरू किया जा सकता है। एक बार तो १९४२ का विद्रोह दबा दिया गया था परन्तु ऐसे किसी दूसरे विद्रोह पर काबू पाने का विश्वास भारत के सत्ताधारियों को नहीं था। सत्ता पर उनकी पकड़ कमजोर होने की स्थिति में सत्ता हस्तान्तरण के विकल्प पर विचार शुरू हुआ।

आजाद हिन्द फौज के कार्य और इसके सैनिकों पर मुकदमा चलाने का प्रतिरोध

द्वितीय महायुद्ध के दौरान सुदूर सिंगापुर में आजाद हिन्द फौज की स्थापना, सुभाष चन्द्र बोस द्वारा इसका नेतृत्व ग्रहण करने और उनके द्वारा ब्रिटिश सरकार को खुली चुनौती देने से भारत में उत्साह की लहर दौड़ी। इसके संगठन का विवरण उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना इस सेना के प्रति भारत में व्याप्त सहानुभूति की लहर। इन दोनों पक्षों पर ध्यान देकर भारत में राष्ट्रीय शक्तियों के प्रभावी होने का अध्ययन किया जा सकता है।

आजाद हिन्द फौज की स्थापना एक ब्रिटिश सेना के भारतीय अधिकारी, मोहन सिंह द्वारा सितम्बर १९४२ में की गयी थी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापानी सेनाएँ तेजी से दक्षिण पूर्व एशिया की ओर वढ़ी थीं। एक के बाद एक यहाँ के अनेक क्षेत्रों पर जापानी सेना का अधिकार हो गया। इस क्षेत्र की ब्रिटिश सेना को पीछे हटना पड़ा था। मलाया और सिंगापुर में ब्रिटिश सेनाएँ पराजित हो गयी। इसी समय लगभग ४५,००० भारतीय सैनिक युद्धबन्दियों को जापानी सेना को सौंप दिया गया था। मोहन सिंह ने इन्हीं युद्धबन्दी सैनिकों को शामिल करके आजाद हिन्द फौज की एक इकाई का गठन किया। जापानी सेनाओं ने इस समय तक बर्मा पर अधिकार जमा लिया था और वे भारत की पूर्वीय सीमा को लाँघकर कलकत्ता की ओर बढ़ने की तैयारी में थी।

आजाद हिन्द फौज के सैनिकों ने जापानी सेना की मदद से इस आक्रमण में ब्रिटिश सेना का मुकाबला करने का निर्णय किया था। लेकिन शुरू में ही बाधाएँ उपस्थित हो गयीं और मोहन सिंह से सहयोग करके भारत की ओर बढ़ने का इरादा जापानियों ने छोड़ दिया। इस प्रकार इस आजाद हिन्द सेना की गतिविधियों में आरम्भ से ही बाधाएँ आयीं क्योंकि जापानी सेना के सहयोग के बिना आजाद हिन्द फौज कुछ भी न कर सकती थी।

आजाद हिन्द फौज को फिर से संगठित करने का कार्य नेता जी सुभाष चन्द्र बोस ने किया और उन्हीं के नेतृत्व में भारतीय सैनिकों को संगठित किया गया। सुभाष चन्द्र बोस जापानी सेना की मदद से जुलाई १९४३ में सिंगापुर आये थे। इसके पूर्व उन्होंने जापान के प्रधानमंत्री

से बात की थी। जाहिर है कि जापानी सेना ने पहले की नीति बदल कर सुभाष चन्द्र बोस को आजाद हिन्द फौज को फिर से संगठित करने का परामर्श दिया। सुभाष चन्द्र बोस ने तुरन्त ही आजाद हिन्द फौज में अधिक से अधिक भारतीय सैनिकों, अधिकारियों और अन्य उत्साही लोगों को शामिल करके उनको सैनिक प्रशिक्षण देने में अग्रणी भूमिका निभायी।

सुभाष चन्द्र बोस ने अपने इरादों को जाहिर करते हुए अक्टूबर १९४३ में स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार के गठन की घोषणा कर दी। इस अस्थायी सरकार ने ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान और उसके सहयोगी राष्ट्रों ने इस अस्थायी सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। इस प्रकार भारत सरकार के खिलाफ खुलेआम संघर्ष करने का विगुल बजा। धीरे-धीरे आजाद हिन्द फौज में अधिक से अधिक सैनिक शामिल किये गये और इसे शक्तिशाली बनाने के सभी उपाय सुभाष चन्द्र बोस ने किये।

१९४४ में आजाद हिन्द फौज की एक टुकड़ी को जापानी सेना के साथ भारत-बर्मा सीमा पर सैनिक कार्यवाही हेतु भेजा गया। इम्फाल पर हमला करने हेतु यह सैनिक अभियान आयोजित किया गया था। यह अभियान असफल रहा और आजाद हिन्द के सैनिकों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। इस पराजय का मुख्य कारण था जापानी सेना की उपेक्षा और असहयोग। बाद में जापानी सेना को इस अग्रिम क्षेत्र से पीछे हटना पड़ा। १९४५ तक समूची जापानी सेना दक्षिण-पूर्व एशियायी क्षेत्र से हट गयी। ब्रिटिश सेना का नियंत्रण बर्मा, सिंगापुर, मलाया आदि क्षेत्रों पर हो गया। इससे आजाद हिन्द फौज का अस्तित्व बनाए रखना संभव न रहा। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि इसी समय महान देशभक्त और राष्ट्रनेता, सुभाष चन्द्र बोस का विमान दुर्घटना में देहावसान होने का समाचार आया।

भारत-बर्मा सीमा पर आजाद हिन्द फौज के लगभग २० हजार सैनिकों और अधिकारियों ने ब्रिटिश सेना के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया था। इनके भविष्य को लेकर शीघ्र ही राजनीतिक सरगर्मी बढ़ी। भारत सरकार ने अदूरदर्शिता का परिचय देते हुए सैकड़ों आजाद हिन्द सैनिकों को बन्दी बना लिया। मुकदमा चलाकर उन्हें दण्ड देने की तैयारी शुरू कर दी गयी। इन्हें राजद्रोह की सजा देकर वह भारतीयों का दमन करने और अपनी शक्ति का एहसास कराने का विचार करने लगी।

बन्दी बनाये गये आजाद हिन्द सैनिकों के भविष्य को लेकर भारतीय राष्ट्रनेताओं ने सरकार पर प्रबल राजनीतिक दबाव बनाया। पहले तो इनके लिये दया की याचना की गयी थी। लेकिन शीघ्र ही यह भारतीयों के आत्मसम्मान का प्रश्न बन गया। जवाहरलाल नेहरू ने भारत सरकार की नीति पर चोट करते हुए एक वक्तव्य में कहा कि 'उन्हें दी जाने वाली सजाओं का अर्थ होगा सम्पूर्ण भारत को सजा और लाखों भारतीयों के दिलों में इससे गहरे घाव लगेंगे।' सम्पूर्ण देश में रैलियों, भाषणों और विशाल प्रदर्शनों द्वारा आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के कार्यों का भरपूर समर्थन किया गया। इन प्रदर्शनों से ब्रिटिश सरकार चौंक गयी और उसे अपने कदम पीछे करने पड़े।

गैर-जिम्मेदारी का एक और कदम उठाते हुए सरकार ने सितम्बर १९४५ में तीन प्रमुख

आजाद हिन्द के अधिकारियों पर दिल्ली के लाल किले में राजद्रोह का मुकदमा शुरू कर दिया। शाहनवाज खाँ, प्रेमकृष्ण सहगल और गुरुवक्श सिंह डिल्लो पर चलाये गये मुकदमे के खिलाफ सम्पूर्ण देश में रोष की लहर दौड़ गयी। सरकार को यह भी आशंका हुई कि इससे भारतीय सैनिक भी भड़क सकते थे। कुछ समय में ही सरकार को अपनी गलती का एहसास हो गया। उसने इन अधिकारियों को रिहा कर दिया और अन्य आजाद हिन्द के सैनिक भी मुक्त कर दिये गये।

यह जनशक्ति की बड़ी विजय थी। १९४५ के वाद बदलती हुई राष्ट्रीय उत्तेजना और सरकार के प्रति जैसा रोष का भाव प्रकट हुआ उससे यह प्रकट हो गया कि भारत एक नये युग में प्रवेश कर चुका था। सरकार द्वारा उठाये गये कदमों को चुपचाप स्वीकार करने के वजाय उनका उग्र विरोध करके सरकार को झुकने पर इस समय मजबूर किया गया।

शाही नौसेना के भारतीय नाविकों का विद्रोह

आजाद हिन्द फौज के सैनिकों के प्रति उपजी सहानुभूति से सरकार को तब और भी धक्का लगा जब १८ फरवरी से २३ फरवरी १९४६ के बीच भारतीय साधारण नौसैनिकों ने अचानक बम्बई, कलकत्ता, करांची और अन्य बन्दरगाहों में विद्रोह कर दिया। सेना की किसी भी टुकड़ी के विद्रोह के प्रति भारत सरकार हमेशा से संवेदनशील रही थी। सेना में भारतीय सैनिकों की बड़ी संख्या का सरकार को एहसास था। ऐसी स्थिति में किसी भी छोटी चिंगारी से विस्फोट हो सकता था। फरवरी १९४६ के नाविकों को विद्रोह को इसी दृष्टि से देखा गया।

इस नाविक विद्रोह में तीन चरण दिखायी दिये। पहली स्थिति में भारतीय साधारण नौसैनिकों द्वारा अचानक विद्रोह का बिगुल वजाया गया। दूसरी स्थिति में स्थानीय जनता इन नौसैनिकों के समर्थन में बिना हिचक के आगे बढ़ी और उसने इनका भरपूर समर्थन किया। तीसरी स्थिति में विद्रोह एक स्थान से दूसरे स्थान तक तेजी से फैला और सरकार को चुनौती देने की भावना ने कुछ समय के लिये उग्र रूप धारण कर लिया। यह इस तथ्य का प्रतीक था कि ब्रिटिश विरोधी भावना गहराती जा रही थी।

१८ फरवरी को एच.एम.आई.एस. 'तलवार' नामक बम्बई बन्दरगाह में स्थित जहाज के लगभग ११०० भारतीय साधारण नौसैनिकों ने काम रोककर सरकार के खिलाफ संघर्ष छेड़ दिया। उन्होंने अचानक भूख हड़ताल शुरू कर दी, उग्र प्रदर्शन किये और सरकार के विरोध में नारेवाजी की। ये भारतीय नौसैनिक अनेक कारणों से भड़के हुए थे। महायुद्ध की समाप्ति के बाद नौसेना की संख्या घटायी जा रही थी। इन भारतीय साधारण सैनिकों को आशंका थी कि कुछ समय के उपरान्त उन्हें भी नौकरी से हटा दिया जायेगा। इन नौसैनिकों की सुविधाओं में कमी की जा रही थी। इससे भी उनमें बेचैनी थी। देश के बदलते राजनीतिक वातावरण, आजाद हिन्द फौज का गठन और इसके सैनिकों के विरुद्ध कठोर उपाय और भारत को स्वतंत्र कराने की भावना से ये विद्रोही युवा नौसैनिक प्रभावित हुए। नौसैनिकों की भावनाओं के प्रति अंग्रेज अधिकारी उदासीन थे। यह उस समय और भी प्रकट हुआ जब विद्रोह के आरम्भ के समय इनसे वार्ता करने और इनकी बात सुनने के बजाय इनके खिलाफ तुरन्त ही सैनिक

कार्यवाही शुरू कर दी गयी। उनके 'तलवार' नामक जहाज को अन्य जहाजों ने घेर लिया और दोनों ओर से गोलियाँ भी चली। स्थिति अत्यन्त नाजुक बनी रही और किसी भी भीषण संघर्ष की आशंका से कोई इंकार नहीं कर सकता था।

कुछ समय तक विद्रोही नौसैनिकों के सम्मुख यह सवाल बना रहा कि घेरा डालने आये सैनिकों का मुकाबला किया जाय अथवा उनके सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया जाय। अन्त में २४ फरवरी को इन नाविकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। इससे नौसैनिक विद्रोह समाप्त हो गया। सरकार और प्रमुख राजनीतिक दलों ने पर्याप्त कोशिशें करके नौसैनिकों को शांतिपूर्ण तरीकों से विद्रोह समाप्त कर देने पर राजी कर लिया। मुस्लिम लीग और कांग्रेस के नेताओं ने शांतिपूर्ण समझौता कराने में पहल की। वल्लभ भाई पटेल ने नौसैनिकों को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। भारत सरकार ने सैन्यबल से इस विद्रोह को कुचलने की पूरी तैयारी कर ली थी और वह शक्ति का प्रयोग करने पर कृतसंकल्प थी। अतः और अधिक हिंसा को रोकने हेतु राष्ट्रनेताओं ने मध्यस्थता की।

भारतीय साधारण नौसैनिकों के विद्रोह को स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक जनसमर्थन मिला। यही इस विद्रोह का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। इससे यह प्रमाणित हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त चारों ओर जनजागृति हो चुकी थी और जनता किसी भी विद्रोह के समय मूकदर्शक रहने को तैयार नहीं थी। बम्बई, कलकत्ता और करांची नगरों के लोगों ने नौसैनिकों के समर्थन में हड़ताल आयोजित कीं, आवागमन रोक दिया और अनेक विशाल प्रदर्शन आयोजित किये। उन्होंने रैलियाँ निकालकर और सभाएँ करके खुलेआम नौसैनिकों के प्रति सहानुभूति व्यक्त की। बम्बई में जब नौसैनिकों ने बन्दरगाहों से निकलकर नगर में प्रदर्शन किये तो इन इलाकों के युवाओं और श्रमिकों ने बाहें फैलाकर इनका साथ दिया। इसी प्रकार के प्रदर्शन देश के अन्य नगरों में हुए। सरकार के विरुद्ध उग्र प्रदर्शन हुए। इनके राजनेताओं ने नौसैनिकों के उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाई। कलकत्ता के श्रमिकों का प्रदर्शन सबसे उग्र था। समुद्रतटीय नगरों के अलावा अन्य नगरों मे भी उत्तेजना फैली। इन प्रदर्शनों के द्वारा हर सम्भव तरीकों से ब्रिटिश विरोधी भावना को प्रकट किया गया। यह विरोधी जितना सरकार के विरोध में था उतना ही विदेशियों के प्रभुत्व के विरोध में भी था। सैन्य बल के द्वारा विद्रोही नौसैनिकों के विद्रोह पर काबू तो पा लिया गया लेकिन इससे यह जाहिर हो गया था कि सेना में भी असंतोष की लहर फैल सकती थी।

मुस्लिम लीग द्वारा भारत विभाजन की माँग

दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने के समय जहाँ एक ओर कांग्रेस ने सरकार से युद्ध प्रयासों का विरोध करने की नीति अपनायी वहीं मुस्लिम लीग सरकार से सहयोग करने के मार्ग पर चली। मुस्लिम लीग के इस समर्थन की सरकार को आवश्यकता भी थी। उसे यह प्रदर्शित करने का मौका मिला कि देश का एक प्रमुख राजनीतिक दल उसके साथ है। वाइसराय के बयानों में भी मुस्लिम लीग की विशेष स्थिति का उल्लेख किया गया।

इस परिस्थिति में मुस्लिम लीग का हौसला बढ़ा। उसने अपने उद्देश्य में आमूल परिवर्तन

करते हुए लाहौर अधिवेशन में देश के बँटवारे की माँग की। मार्च १९४० के इस अधिवेशन में उसने एक प्रस्ताव स्वीकार करके उत्तर-पश्चिमी और पूर्वीय भारत के मुस्लिम बहुमत वाले प्रान्तों को स्वायत्तता प्रदान करने की योजना रखी। इन प्रान्तों को केन्द्र के प्रभाव से मुक्त रखने का उसने आग्रह किया। साम्प्रदायिक आधार पर मुसलमानों के अलग राज्य का लुभावना नारा उसने दिया। शुरू में पाकिस्तान की माँग की योजना अस्पष्ट थी। लेकिन भविष्य में होने वाली संवैधानिक वार्ताओं में लीग ने अलग राज्य की माँग पर और भी अधिक जोर दिया।

ब्रिटिश उच्च अधिकारियों की सहानुभूति के कारण मुस्लिम लीग का उत्साह बढ़ता गया और पाकिस्तान की योजना के बारे में इसके नेताओं को और अधिक विश्वास से कार्य करने के अवसर मिले। अगस्त १९४० की एक घोषणा में वाइसराय ने सार्वजनिक तौर पर कहा कि भविष्य में किसी संवैधानिक परिवर्तन को करने के पहले अल्पसंख्यकों की इच्छा पर ध्यान रखा जायेगा। माच्र १९४२ में क्रिप्स मिशन के सुझावों से मुस्लिम लीग का पक्ष मजबूत हुआ। उसने नीति सम्बन्धी वयान देते हुए कहा कि भारत के किसी भी क्षेत्र के निवासियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध संघ में बने रहने पर विवश नहीं किया जायेगा। क्रिप्स योजना ने व्यवहारिक रूप से पाकिस्तान की माँग को एक कदम आगे बढ़ा दिया।

भारत छोड़ो आंदोलन के समय जब सरकार कांग्रेस के खिलाफ १९४२से १९४५ तक दमनचक्र चला रही थी उस समय मुस्लिम लीग को अपना प्रभाव बढ़ाने के लिये मैदान साफ मिला। असम, सिन्ध, बंगाल और उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में मुस्लिम लीग मंत्रिमण्डलों को पदभार ग्रहण करा दिया गया। मोहम्मद अली जिन्ना का दबदबा बढ़ा और वे भारतीय मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि की हैसियत से बोलने लगे। कांग्रेस का प्रभाव घटाने के उद्देश्य से सरकार ने मुस्लिम लीग की पीठ थपथपाई।

१९४६ के निर्वाचन से मुस्लिम लीग की शक्ति बढ़ी। इसे आरक्षित स्थानों में भारी सफलता मिली। केन्द्रीय असेम्बली की सभी सीटों पर इसके प्रतिनिधि विजयी हुए। प्रान्तीय विधान सभाओं में इसे ५०९ में से ४४२ स्थान मिले। इन चुनावों के आधार पर मुस्लिम लीग भारत के मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा बखूबी कर सकती थी।

संवैधानिक परिवर्तनों पर विवाद

महायुद्ध की समाप्ति पर भारत की राजनीति में आधारभूत और व्यापक परिवर्तनों के आसार दिखायी दिये। इसका मुख्य कारण था सत्ता हस्तान्तरण की ब्रिटिश सरकार की इच्छा। तत्कालीन वाइसराय, लार्ड वेवल ने १९४६ के गोपनीय पत्र में लिखा कि 'भारत में हम थोड़े समय के लिए हैं और घटनाओं पर काबू पाने की हमारी शक्ति लगभग समाप्त हो चुकी है।' उनकी टिप्पणी से स्पष्ट संकेत मिलता है कि साम्राज्यवादी सत्ता के पैर उखड़ रहे थे। ऐसे समय में उसने भावी संवैधानिक परिवर्तनों और शासन में भागीदारी के लिए कांग्रेस और मुस्लिम लीग से वार्ताएँ कीं।

ब्रिटिश कैबिनेट मिशन के दौरे से सत्ता हस्तांतरण का प्रश्न और भी उलझ गया। मार्च

से जून १९४६ तक ब्रिटिश मंत्रिमण्डल के तीन सदस्यों ने भारत आकर उच्चस्तरीय वार्ताओं का जो क्रम चलाया वह विफल रहा। भारत के दोनों प्रमुख राजनीतिक दल न तो अन्तरिम सरकार के गठन के प्रश्न पर राजी हो सके और न भावी संविधान निर्माण की प्रक्रिया पर सहमत हो सके। एक बार फिर यह प्रकट हो गया कि देश के बँटवारे के प्रश्न पर मुस्लिम लीग का रुख कठोर होता जा रहा है। किसी भी संवैधानिक परिवर्तन के पहले लीग ने देश के विभाजन पर जोर डालने की नीति अपनायी।

सितम्बर १९४६ में केन्द्र में जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार ने पदभार सँभाला। शुरू में केवल कांग्रेस के नेता इसमें शामिल हुए। बाद में मुस्लिम लीग ने अंतरिम सरकार में भागीदार होने का निश्चय किया। मुस्लिम लीग ने लगातार प्रशासन में अड़ंगा डालने की नीति अपनायी, पग-पग पर कांग्रेस से संघर्ष किया और इस संवैधानिक प्रयोग को विफल बनाया। यह सरकार ऐसे दो घोड़ों की गाड़ी की तरह चली जिसमें एक घोड़ा यदि उत्तर की ओर चलता था तो दूसरा दक्षिण की ओर। अल्प अवधि की रस्साकसी से कांग्रेस के नेताओं की आशाओं पर पानी फिर गया और दोनों प्रमुख राजनीतिक दलों के सहयोग का उनका सपना टूट गया। इसका परिणाम वही हुआ जो मुस्लिम लीग चाहती थी। अन्तरिम सरकार की विफलता से कांग्रेस का नेतृत्व देश के बँटवारे के विकल्प पर राजी होता दिखायी दिया।

इसी प्रकार से संविधान निर्माण के प्रश्न पर मुस्लिम लीग ने असहयोग किया। जब संवैधानिक सभा की कार्यवाही शुरू हुई तो मुस्लिम लीग ने इसमें भाग नहीं लिया। अतः एक विचित्र स्थिति उत्पन्न हो गयी। मुस्लिम लीग मंत्रिमण्डल में तो शामिल थी परन्तु संवैधानिक सभा से विमुख थी। इससे संवैधानिक समस्या और भी उलझी।

इसी बीच मुस्लिम लीग द्वारा 'सीधी कार्यवाही' करने के निर्णय से देश में भयानक साम्प्रदायिक उत्तेजना फैली। कलकत्ता, बम्बई, नोआखाली, गढ़मुक्तेश्वर, बिहार के अनेक क्षेत्रों और पंजाब में जैसे भयंकर साम्प्रदायिक दंगे हुए उस प्रकार का साम्प्रदायिक उन्माद देश ने पहले कभी नहीं देखा गया था। हजारों की संख्या में निर्दोष लोग मारे गये। इससे भी बड़ी संख्या आहतों की थी। घर और दुकानें जला दी गयीं और सम्पत्ति को भारी नुकसान हुआ। इन साम्प्रदायिक दंगों के अनुभव से तथा अन्तरिम सरकार में मुस्लिम लीग की अड़ंगेबाजी से कांग्रेस के नेताओं के विचारों में बदलाव आने लगा। इस संदर्भ में उन्हें देश के विभाजन के प्रश्न पर नये सिरे से विचार करना पड़ा।

सत्ता हस्तान्तरण की घोषणा

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर ब्रिटेन के आम चुनावों में श्रमिक सरकार के गठन से भारतीयों में आशा का संचार हुआ था। सभी को विश्वास था कि यह सरकार भारत को स्वतंत्रता देने के प्रश्न पर नये सिरे से विचार करेगी। फरवरी १९४७ की ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली की घोषणा से इस आशा की पुष्टि हो गयी। उन्होंने ब्रिटिश संसद में नीति सम्बन्धी वक्तव्य देते हुए घोषित किया कि जून १९४८ तक ब्रिटिश सरकार अपनी सत्ता भारतीयों को सौंप देगी। इस वक्तव्य में यह आशा प्रकट की गयी थी कि भारतीय राजनीतिज्ञ आपस में समझौता करके

शासन सँभालने पर राजी हो जायेंगे। समय सीमा निर्धारित करने का लक्ष्य था भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरण पर राजी करना। जाहिर था कि ये वार्ताएँ देश के इतिहास में निर्णायक होने जा रही थीं। इसी समय प्रधानमंत्री एटली ने एक और निर्णय लिया। आगामी वार्ताओं को नयी दिशा देने के उद्देश्य से एक नये वाइसराय को भारत भेजा गया। मार्च १९४७ में लार्ड माउंटबेटन ने पदभार सँभाला।

विभाजन और स्वतंत्रता

भारत का विभाजन और देश की स्वतंत्रता का सवाल एक दूसरे से जुड़ते चले गये। जब भी देश की स्वतंत्रता के स्वरूप और सत्ता हस्तान्तरण का सवाल उठा उसी के साथ-साथ विभाजन का सवाल भी उठाया गया। ब्रिटिश सरकार, मुस्लिम लीग और कांग्रेस की नीतियों के फलस्वरूप इस बारे में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये। दूसरे महायुद्ध के समय और इसके बाद के वर्षों में ब्रिटिश सरकार ने विभाजन और स्वतंत्रता को एक दूसरे से जोड़कर देखा, अलग करके नहीं। इस दौरान जितने भी अवसर आये उसने विभाजन का विरोध करने अथवा पाकिस्तान की माँग का विरोध करने के कोई प्रयास नहीं किये। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यदि उसकी प्रत्यक्ष हमदर्दी विभाजन के प्रति नहीं थी तो कम से कम उसने विभाजन के विचार का डटकर मुकावला कभी नहीं किया। फरवरी १९४७ में ब्रिटिश प्रधानमंत्री की घोषणा से भी इसी परंपरागत ब्रिटिश नीति की पुष्टि हुई। इस घोषणा में स्पष्ट शब्दों में संकेत दिया गया था कि सत्ता का हस्तान्तरण भारत की एक केन्द्रीय सरकार को अथवा कुछ प्रान्तीय सरकारों को किया जा सकता है। इस घोषणा का यही अर्थ लगाया गया कि ब्रिटिश प्रधानमंत्री किसी न किसी प्रकार से भारत के विभाजन के लिये तैयार थे। इससे मुस्लिम लीग और उसके नेताओं का हौसला बढ़ा। आगामी वार्ताओं में उसने पाकिस्तान की माँग पर और भी अधिक जोर दिया। इस परिस्थिति में कांग्रेस का दृष्टिकोण भी धीरे-धीरे बदलने लगा। मार्च १९४७ तक के अनुभवों के आधार पर कांग्रेस भी किसी भी कीमत पर स्वतंत्रता पाने को तैयार हो गयी। कई वर्षों तक उसने विभाजन के सिद्धान्त को अस्वीकार किया था। लेकिन १९४५ और १९४६ की घटनाओं से कांग्रेस को इस सवाल पर फिर से विचार करना पड़ा। ब्रिटिश सरकार और मुस्लिम लीग के रुख के कारण, संवैधानिक वार्ताओं में आने वाली बाधाओं के कारण और संवैधानिक सभा के वहिष्कार करने की मुस्लिम लीग की नीति को देखते हुए कांग्रेस पर असर पड़ा। तत्कालीन अनुभवों ने भी कांग्रेस नेताओं को प्रभावित किया। साम्प्रदायिक दंगों की तीव्रता को देखकर वे चकित रह गये थे। देश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न होने का खतरा था। इसी के साथ-साथ अन्तरिम सरकार के कटु अनुभवों से भी कांग्रेस ने सबक सीखा। जिस तरीके से मुस्लिम लीग ने पग-पग पर अन्तरिम सरकार के कार्यों में बाधाएँ डाली थीं उससे कांग्रेस के नेताओं को धक्का लगा। वे इसी नतीजे पर पहुँचे कि अक्षम और बेअसर मिली-जुली सरकार के बजाय एक विचारधारा की सरकार ही कार्य कर सकती है। इस समूची पृष्ठभूमि में कांग्रेस को देश के विभाजन के कड़ुए घुँट को पीने के लिए तैयार होना पड़ा।

इस संदर्भ में मार्च १९४७ की कांग्रेस कार्यसमिति के निर्णय पर ध्यान केन्द्रित करना होगा।

इस बैठक में कांग्रेस ने पंजाब और बंगाल के बँटवारे को स्वीकारा और यह माना कि अराजकता को रोकने के उद्देश्य से यह कदम जरूरी है। कांग्रेस के नजरिये में ऐसे समय में नीति सम्बन्धी बदलाव आया जब ब्रिटिश प्रधानमंत्री की घोषणा के अनुसार सत्ता हस्तान्तरण के प्रश्न पर निर्णायक वार्ताओं का दौर शुरू होने वाला था। इसी से यह मत व्यक्त किया गया है कि नये वाइसराय, माउण्टबेटन के पद सँभालने के पहले ही 'ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस इस पक्ष में हो गये थे कि किसी न किसी प्रकार से जिन्ना की माँग को स्वीकारने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं था। अतः नये वाइसराय का कार्य आसान हो गया था। जब ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस दोनों का रुख विभाजन के अनुकूल हो गया तो एक आधारभूत बाधा दूर हो गयी। अब माउण्टबेटन को केवल विभाजन के वास्तविक स्वरूप और इसके आकार पर सभी पक्षों को राजी कराना बाकी रह गया। तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि कांग्रेस के प्रमुख नेताओं में न तो विभाजन का विरोध करने का साहस बचा था और न वे संभावित गृह युद्ध की विभीषिका से जूझने को राजी थे। एक और विकल्प भी था। कांग्रेस पुनः एक जनसंघर्ष और विद्रोह का रास्ता पकड़ सकती थी। लेकिन साम्प्रदायिक उन्माद से उपजी कटुता को देखते हुए यह रास्ता भी खतरों से भरा हुआ दिखायी दिया। यह भी था कि कांग्रेस के नेता फिर से जोखिम उठाने और जेल जाने को कम ही तैयार थे। इस तर्क में भी वजन है और इसे स्वीकार भी किया गया है कि कांग्रेस के अधिकतर नेता थके हुए थे और उनकी आयु बढ़ चुकी थी। ऐसी स्थिति में विभाजन को अस्वीकार करने और स्वतंत्रता की प्राप्ति में देरी को उन्होंने उचित नहीं समझा।

इस ऐतिहासिक स्थिति और भारतीय नेताओं की मनोभावना ने नये वाइसराय का काम आसान बना दिया। उसे असाधारण अधिकार मिले हुए थे जिससे वह स्वतंत्र होकर निर्णय कर सका। इसके साथ-साथ ब्रिटिश प्रधानमंत्री द्वारा सत्ता हस्तान्तरण की एक निश्चित तिथि घोषित कर दिये जाने का भी प्रभाव पड़ा। जो लक्ष्य पहले धुँधला और अनिश्चित था वह सभी की निगाहों के सामने आ गया था। ऐसी स्थिति में वाइसराय ने समय का महत्त्व पहचाना और वार्ताओं की गति को तेज कर दिया। उसने अलग-अलग दलों के नेताओं को कम से कम समय दिया। इससे लाभ यह मिला कि कोई निर्णय करके वे पीछे नहीं हट सके।

मार्च से जून १९४७ के बीच हुई नाजुक वार्ताओं के दौर में इन दोनों महत्त्वपूर्ण विषयों पर अंतिम निर्णय लिये गये। मुख्यतया पाँच व्यक्तियों ने निर्णायक भूमिका अदा की। इनमें से पहला वाइसराय स्वयं था। एक नौसैनिक उच्च अधिकारी के बजाय एक कुशल राजनीतिज्ञ की भूमिका को उसने बखूबी निभाया। इस समय की वार्ताओं के अनेक तथ्य उपलब्ध हैं। इनसे यह जानकारी मिलती है कि वाइसराय ने भारतीय राष्ट्रनेताओं की निराशा का लाभ उठाते हुए उन्हें सर्वमान्य हल पर राजी कर लिया। वाइसराय ने सत्ता सँभालने के कुछ समय के भीतर ही अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से बातचीत की। दो महीने में १३३ बार बातचीत हुई। इससे वार्ताओं की तेज गति का सहज अनुमान हो जाता है। दूसरे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे मुस्लिम लीग के प्रमुख नेता मोहम्मद अली जिन्ना। उन्होंने पाकिस्तान की माँग पर जोर देने के सभी उपाय किये। इस माँग पर वे डटे रहे, सरकार के रुख से उनका प्रभाव बढ़ा और परिस्थितियों का

उन्होंने पूरा लाभ उठाया। कांग्रेस की ओर से महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और वल्लभ भाई पटेल ने प्रमुख भूमिका निभायी। इनमें से महात्मा गांधी के दृष्टिकोण के प्रति सभी का ध्यान था। वे देश के बँटवारे के कट्टर विरोधी थे। लेकिन जब उन्होंने देखा कि कांग्रेस के वरिष्ठ नेता विभाजन के लिए तैयार थे तो गांधीजी पीछे हट गये। उन्होंने दूसरे नेताओं को निर्णय लेने की छूट दे दी। इन परिस्थितियों में कांग्रेस की ओर से अंतिम निर्णय के लिए जवाहरलाल नेहरू और वल्लभ भाई पटेल के कंधों पर भार आया। नेहरू के बारे में एक प्रसिद्ध इतिहासकार की टिप्पणी इस प्रकार है : 'जवाहरलाल ने देश के विभाजन का उचित मार्ग निकालने की वाइसराय को पूरी छूट दे दी।' नेहरू के समान पटेल भी विभाजन के लिए तैयार हो गये। ऐसी स्थिति में विभाजन करने का ऐतिहासिक निर्णय लिया गया।

जून १९४७ की वाइसराय की घोषणा से विभाजन के वास्तविक स्वरूप की घोषणा कर दी गयी। इसके अनुसार पंजाब और बंगाल के बँटवारे, अलग पाकिस्तान के गठन और पाकिस्तान की सीमाओं के बारे में लिये गये निर्णयों की घोषणा की गयी। भारत के विभाजन की समस्या के समाधान को कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने मान लिया। इससे देश के विभाजन पर सभी पक्षों की सहमति मिल गयी। कुछ समय बाद ब्रिटिश संसद ने भारतीय स्वाधीनता अधिनियम पारित कर दिया। इसके अनुसार भारत और पाकिस्तान दो नये स्वतंत्र राज्यों का जन्म हुआ।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति उसके लम्बे और अनवरत संघर्ष का परिणाम थी जिसे भारतीयों ने बड़े साहस और धैर्य के साथ चलाया। राष्ट्रीय संग्राम जब लगातार वेगपूर्ण होता गया तो साम्राज्यवादियों के पैर उखड़ गये और उन्हें सत्ता सौंपने पर मजबूर होना पड़ा। असंख्य भारतीय वीरों के बलिदान और शौर्य के कारण यह स्वर्णिम दिन आया।

गांधी युग में नेतृत्व स्वरूप

१९२० से १९४७ की अवधि के कुछ प्रमुख नेताओं की भूमिका का विवेचन अलग से करने की आवश्यकता है। इस उद्देश्य से यहाँ इस युग के तीन प्रमुख सूत्रधारों के नेतृत्व पर प्रकाश डाला जा रहा है। महात्मा गांधी का अभ्युदय, उनका नेतृत्व और उनकी विचारधारा की व्याख्या से भारतीय राजनीति में आए बदलाव को स्पष्ट किया जा सकता है। महात्मा गांधी के अलावा जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस ने १९२० के बाद के समय में अग्रणी भूमिका निभायी। इन दोनों राष्ट्रनेताओं ने अलग-अलग रास्ते अपनाकर स्वतंत्रता संघर्ष को तीव्र किया।

मोहनदास करमचन्द गांधी

महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन का असाधारण ढंग से नेतृत्व किया। १९२० में उन्होंने इस राष्ट्रीय संगठन की बागडोर सँभाली। लगातार सत्ताईस वर्षों तक वे इसके कर्णधार और प्रेरक बने रहे। उनकी कथनी और करनी से, उनके विलक्षण व्यक्तित्व और विचारधारा से स्वतंत्रता संघर्ष को नयी दिशा मिली। गांधीजी ने इस संघर्ष को नया स्वरूप प्रदान किया और

निराले तरीके से ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ अभियान छेड़ा। एक के बाद एक शक्तिशाली आंदोलनों का क्रम जारी करके उन्होंने जनशक्ति को राजनीति का प्रमुख आधार बनाया।

गांधीजी का आरम्भिक जीवनक्रम समकालीन प्रतिभाशाली नेताओं के समान ही था। गुजरात के समुद्रतटीय पोरबंदर नगर के एक सम्पन्न परिवार में दो अक्टूबर १८६९ को उनका जन्म हुआ था। उनके पिता और पितामह देशी रियासतों के दीवान रहे थे। इसी कारण इस परिवार ने बालक और युवा गांधी को अच्छी से अच्छी शिक्षा देने में कोई कसर नहीं छोड़ी। गांधीजी उन विरले युवकों में से थे जिन्होंने आरम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त बैरिस्टर की डिग्री की शिक्षा के लिए लन्दन की यात्रा की। ब्रिटेन प्रवास के दौरान उन्होंने वहाँ की सामाजिक और राजनीतिक प्रणाली को निकट से देखा। बाईस वर्ष की आयु में वे बैरिस्टर की डिग्री लेकर स्वदेश लौटे। इसके दो वर्ष पश्चात् उन्हें दक्षिण अफ्रीका में वकालत कार्य करने का अवसर मिला। यहीं से उनकी जीवनधारा बदल गयी क्योंकि उस देश में हुए अनुभवों के कारण वे एक वकील से राजनेता बन गये।

१८९३ से १९१४ के बीच के बीस वर्षों तक वे दक्षिण अफ्रीका में रहे। किसी भी दूसरे राजनेता के जीवन से उनका यह अनुभव भिन्न था। दक्षिण अफ्रीका पहुँचकर उन्होंने देखा कि उस देश में गोरे और कालों के बीच पग-पग पर रंगभेद किया जाता है। सभी राजनीतिक और सामाजिक अधिकार गोरी जाति के लोगों को मिले हुए थे और अन्य देशों से आये हुए काली जाति के लोगों तथा स्थानीय अफ्रीकियों को किसी भी तरह के अधिकार न होने से उन्हें हर जगह नीचा देखना पड़ता था। गांधीजी ने इस रंगभेद प्रणाली का विरोध किया। उन्होंने एशियायी तथा अफ्रीकी उद्भव के लोगों से कहा कि वे संगठित होकर अन्याय का मुकाबला करें। यहीं पर उन्होंने पहली बार 'सत्याग्रह' को राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। दक्षिण अफ्रीका के ब्रिटिश अधिकारी गांधीजी से इतना भय खाने लगे थे कि दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आने के उनके निर्णय से उन्होंने राहत की सांस ली। गांधीजी के वापस आने पर दक्षिण अफ्रीका के गवर्नर ने टिप्पणी की : 'सन्त हमारे समुद्रतट से विदा हो गये हैं, मैं आशा करता हूँ कि हमेशा के लिए।'

भारतीय राजनीति में प्रवेश

१९१५ में भारत पहुँचने के बाद पाँच वर्षों तक गांधीजी धीरे-धीरे सार्वजनिक जीवन में सक्रिय होते गये। गोखले ने उन्हें एक वर्ष तक सार्वजनिक भाषण न देने की सलाह दी थी। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि गोखले का विचार था कि गांधीजी को भारतीय राजनीति का समुचित ज्ञान पाने की जरूरत थी। इसका यह अर्थ भी निकाला गया है कि गांधीजी के राजनीतिक विचारों से गोखले को आशंका थी कि उन्होंने आशा की थी कि भारत की स्थिति का एक वर्ष तक अवलोकन करने के पश्चात् गांधीजी अपने विचारों में संशोधन कर लेंगे।

१९१७-१८ में गांधीजी ने तीन स्थानीय आंदोलनों में हाथ बँटाकर किसान और मजदूरों के पक्ष में हस्तक्षेप किया। १९१७ में वे उत्तरी बिहार के चंपारन क्षेत्र में गये। उन्होंने वहाँ जाकर नील की खेती में जुड़े किसानों के उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करके उन्हें अधिकार दिलाये। इसी

प्रकार गुजरात के खेड़ा क्षेत्र के किसानों के पक्ष में भी उन्होंने १६१८ में संघर्ष किया। इसी वर्ष अहमदाबाद के श्रमिकों और मिल मालिकों के बीच हुए विवाद में उन्होंने रुचि ली। यहाँ के श्रमिकों और बुनकरों ने हड़ताल कर दी थी। इन्हें न्याय दिलाने के लिए गांधीजी ने सत्याग्रह किया। श्रमिकों के वेतन बढ़ाने की माँग को स्वीकार कर लिया गया। इन स्थानीय सत्याग्रहों को आयोजित करके गांधीजी ने नये तरीके की राजनीति की शुरुआत की। अत्याचारों का विरोध करने के उन्होंने नये तरीके अपनाये।

रौलेट सत्याग्रह

मार्च-अप्रैल १६१६ में गांधीजी ने व्यापक स्तर पर सत्याग्रह का नेतृत्व किया। इसका मुख्य अभिप्राय था 'सरकार द्वारा स्वीकृत उस असाधारण कानून का विरोध करना जो रौलेट अधिनियम के रूप में स्वीकृत कर लिया गया था। इस अधिनियम के द्वारा सरकार को किसी भी विरोधी का मुँह बंद करने का अधिकार मिल गया था। यह एक ऐसा अवसर था जबकि गांधीजी ने इस विधान का विरोध करने के उद्देश्य से देशव्यापी सत्याग्रह आयोजित किया। यह सत्याग्रह उन्हीं के नेतृत्व में हुआ और इस अभियान में उन्हें व्यापक जनसहयोग मिला। रौलेट सत्याग्रह से यह प्रकट हो गया कि गांधीजी केवल स्थानीय स्तर पर ही नहीं अपितु राष्ट्रीय स्तर पर भी जनसंघर्ष करने का निर्णय कर चुके थे।

असहयोग आंदोलन के सूत्रधार

१६२० में कांग्रेस की बागडोर गांधीजी के हाथ में आ गयी। सितम्बर १६२० के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में और दिसम्बर १६२० के वार्षिक अधिवेशन में गांधीजी द्वारा प्रस्तावित असहयोग आंदोलन को स्वीकार कर लिया गया। पहली बार कांग्रेस ने एक देशव्यापी जन आंदोलन करके ब्रिटिश सरकार के खिलाफ संघर्ष करने का निश्चय किया था। गांधीजी की प्रेरणा से कांग्रेस इस मार्ग पर अग्रसर हुई थी। स्वाभाविक रूप से आंदोलन का नेतृत्व करने का कार्यभार भी उन्हीं को सौंपा गया।

बड़े साहसिक ढंग से गांधीजी ने असहयोग आंदोलन का मार्गदर्शन किया, बहिष्कार आंदोलन चलाये और भारतीयों में शक्ति का संचार किया। इस आंदोलन का सबसे उल्लेखनीय पहलू यही था कि इसमें सभी वर्ग और सम्प्रदाय के लोग शामिल हुए। यह जनसंघर्ष था। इसका एक और परिणाम यह भी हुआ कि देश के कोने-कोने में जो हजारों लोग इसमें शामिल हुए उन्हीं में से अनेक छोटे और बड़े नेता लगातार स्वतंत्रता संघर्ष को गतिशील बनाने में जुटे रहे। इसी आंदोलन के साथ-साथ गांधीजी ने खिलाफत आंदोलन का भी नेतृत्व करके हिन्दुओं और मुसलमानों को एक ही मंच पर लाकर राजनीतिक संघर्ष करने का अवसर दिया। ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष करने में उन्होंने मुसलमानों का पूरा सहयोग प्राप्त किया।

गांधीजी के नेतृत्व की विशेषता यह थी कि उन्होंने नैतिक और सैद्धान्तिक मूल्यों को हमेशा सर्वोपरि स्थान दिया। अहिंसात्मक तरीके से संघर्ष चलाना उनका मुख्य लक्ष्य था। फरवरी १६२२ में कुछ स्वयंसेवकों ने जब चौरी-चौरा के थाने को जलाकर अनेक पुलिसकर्मियों को जिन्दा जला दिया तो गांधीजी चौंक गये। यह संकेत था कि आवेश में आकर लोग हिंसात्मक तरीके अपना

सकते हैं। यदि गांधीजी चाहते तो इस घटना को एक अपवाद मानकर इसकी अनदेखी कर सकते थे। लेकिन उन्होंने आधारभूत नीतियों के साथ समझौता नहीं किया। चौरी-चौरा काण्ड का समाचार मिलते ही उन्होंने असहयोग आंदोलन स्थगित कर दिया।

हालाँकि सरकार ने असहयोग आंदोलन के दौरान गांधीजी को बन्दी नहीं बनाया था लेकिन इसके स्थगित कर दिये जाने पर उसने ऐसा किया। गांधीजी पर मुकदमा चलाकर उन्हें छह वर्षों के कारावास की सजा सुनाई गयी।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का संचालन

जब १६३० में कांग्रेस ने ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देते हुए दूसरा जन-आंदोलन शुरू करने का निर्णय लिया तो इस बार भी इस अभियान का संचालन करने का कार्यभार गांधीजी को ही दिया गया। उन्होंने ही इसका स्वरूप निश्चित किया, समय निर्धारित किया और आंदोलन के कार्यक्रम निश्चित किये। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कांग्रेस पूरी तरह से आंदोलन के दौरान गांधीजी पर निर्भर रही।

इस आंदोलन को नया स्वरूप देकर गांधीजी ने दांडी यात्रा करने का निर्णय लिया। मार्च-अप्रैल १६३० में गांधीजी ने अहमदाबाद से समुद्रतटीय स्थान दांडी की २४० मील की लम्बी यात्रा अपने चुने हुए अनुयायियों के साथ की। जन-जागरण का यह अनूठा प्रयोग था। इसके माध्यम से लगभग एक महीने तक गांधीजी ने नमक सत्याग्रह के लिये देशवासियों को तैयार किया। गांधीजी ने समुद्र के पानी से नमक बनाकर नमक कानून को तोड़ा। इस तरीके से उन्होंने सविनय अवज्ञा आंदोलन का सूत्रपात किया। शीघ्र ही देश के विभिन्न क्षेत्रों में सैकड़ों स्थानों पर नमक सत्याग्रह में भाग लेने के लिए विशाल जनसमुदाय उमड़ पड़ा।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की परिधि को शीघ्र ही व्यापक बनाते हुए गांधीजी ने नमक सत्याग्रह के अलावा कुछ और कार्यक्रम अपनाये। उन्होंने विदेशी वस्त्र बहिष्कार, मद्य-निषेध, चौकीदारी कर विरोध, जंगल सत्याग्रह आदि को चलाने की अनुमति दी। यह आंदोलन शहरों के अलावा गाँवों में भी फैला और हर वर्ग और समुदाय के लोगों ने गांधीजी का अनुसरण किया। देश के कोने-कोने में हजारों लोग हँसते-हँसते जेल गये और उन्होंने यातनाएँ सहीं।

गोलमेज सम्मेलन

देश की संवैधानिक समस्याओं पर वार्ता के उद्देश्य से लंदन में जो तीन गोलमेज सम्मेलन हुए उनमें से केवल दूसरे में १६३१ में कांग्रेस ने भाग लिया। इस सम्मेलन में कांग्रेस के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में गांधीजी ने लन्दन की यात्रा की। यह ध्यान देने योग्य है कि स्वतंत्रता संघर्ष की लम्बी अवधि में गांधीजी की यह एकमात्र विदेश यात्रा थी। वे केवल इसी समय भारत से बाहर गये। यह यात्रा इस कारण भी महत्त्वपूण थी क्योंकि जो राष्ट्रनेता ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध आंदोलन कर रहा था वही एक समझौता करके और संघर्ष को रोककर संवैधानिक वार्ता के लिए राजी हो गया। यह गांधीजी की राजनीति को प्रदर्शित करता है। इसे संघर्ष-समझौता-संघर्ष की नीति कहा गया है। इसे अपनाते हुए गांधीजी ने कभी भी लम्बा संघर्ष नहीं चलाया। संघर्ष

के पश्चात् समझौता और समझौते के बाद संघर्ष की नीति वे अपनाते रहे। इसके साथ-साथ उन्होंने किसी आंदोलन को वहुत लम्बा नहीं खींचा।

व्यक्तिगत सत्याग्रह

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने से भारतीय राजनीति में परिवर्तन आया। वाइसराय ने मनमाने तरीके से भारत के युद्ध में शामिल होने की जो घोषणा की उसका कांग्रेस ने विरोध किया। कांग्रेस ने सरकार के निर्णय का यह कहकर विरोध किया कि महायुद्ध से उसे न तो कोई लेना देना है और न युद्ध प्रयासों में उलझने से कोई लाभ ही। कांग्रेस एक ही शर्त पर युद्ध प्रयासों में मदद करने को तैयार थी। उनकी माँग थी कि युद्ध के दौरान आंतरिक प्रशासन पर उसका पूरा नियंत्रण हो और युद्ध के उपरान्त भारत को आजादी देने की गारंटी दी जाये। भारत सरकार ने कांग्रेस की शर्तों की उपेक्षा की।

ऐसी स्थिति में १९४१ में गांधीजी ने सरकार के युद्ध प्रयासों का विरोध करने के विचार से व्यक्तिगत सत्याग्रह शुरू कराया। गांधीजी ने तत्कालीन स्थिति में एक बीच का रास्ता निकाला। जिस समय सरकार महायुद्ध में व्यस्त थी वे विरोध प्रदर्शन हेतु विशाल जन प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। लेकिन गांधीजी ने यह भी अनुभव किया कि चुपचाप बैठे रहने से भी कोई लाभ नहीं। अतः सीमित ढंग से सरकार की युद्ध नीति का विरोध करने का निर्णय लिया गया। इसके अनुसार गांधीजी ने केवल कुछ व्यक्तियों को सत्याग्रह करने की अनुमति दी। ये व्यक्ति जैसे ही महायुद्ध का विरोध करते, उन्हें बंदी बना लिया जाता। यह क्रम कई महीनों तक देश के विभिन्न भागों में चला और हजारों सत्याग्रही जेल गये। व्यक्तिगत सत्याग्रह का आयोजन करके गांधीजी ने महायुद्ध में भाग लेने की भारत सरकार की नीति का विरोध किया।

भारत छोड़ो आंदोलन के सूत्रधार

अगस्त १९४२ में आरम्भ किया गया भारत छोड़ो आंदोलन निश्चय ही गांधीजी की प्रेरणा से आरम्भ किया गया। इसके पूर्व के दो जन आंदोलनों की तुलना में यह कहीं अधिक व्यापक और प्रभावकारी जन अभियान था। गांधीजी ने १९२० में संघर्ष छेड़ते समय जनता से केवल यह कहा था कि वह सरकार से सहयोग न करें। वे जानते थे कि उस समय देश केवल इतना ही कर सकता था। दस वर्षों बाद उन्होंने आंदोलन के लक्ष्य को स्पष्ट किया और सरकार के कानूनों की अवहेलना और विरोध करने का मार्ग दिखाया। १९४२ में उन्होंने साम्राज्यवादी प्रशासकों को भारत से चले जाने की खुली चुनौती दी। जाहिर है कि वे ब्रिटिश साम्राज्य को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये कमर कस चुके थे। इन तीन बड़े आंदोलनों के द्वारा उन्होंने भारतीयों को ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने के लिये तैयार किया। इसी से यह जनसंघर्ष पहले की तुलना में अधिक प्रबल और शक्तिशाली साबित हुआ।

गांधीजी समय की पहचान करके ही कोई निर्णयात्मक कदम उठाते थे। १९४२ के मध्य में अचानक ही उन्होंने संघर्ष करने की ठान ली। तीन वर्षों तक वे प्रतीक्षा करते रहे थे। लेकिन सरकार ने उनकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया और वह महायुद्ध के प्रयासों में व्यस्त रही।

१६४२ के मध्य में जापान की सेनाओं के भारतीय सीमा तक पहुँच जाने से महायुद्ध का स्वरूप भी बदल गया था।

इन्हीं परिस्थितियों में ८ अगस्त १६४२ को कांग्रेस का महत्त्वपूर्ण अधिवेशन बम्बई में हुआ। यहीं पर कांग्रेस ने 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव स्वीकृत किया। इसमें कहा गया कि यथाशीघ्र एक जनसंघर्ष छेड़कर अंग्रेजों को भारत से चले जाने पर मजबूर किया जाये।

यह स्मरण रखना होगा कि प्रस्ताव पास करते ही संघर्ष आरम्भ करने का कोई निश्चय गांधीजी ने उस समय नहीं कर लिया था। वे कुछ समय तक और प्रतीक्षा करने की सोच रहे थे, तैयारी करने का समय चाहते थे और आंदोलन का कार्यक्रम निर्धारित करना चाहते थे। वे ब्रिटिश सरकार को भी सोच-विचार करने का समय देना चाहते थे। लेकिन सरकार के इरादे कुछ और ही थे। उसने उसी रात को बम्बई में एकत्रित सभी प्रमुख नेताओं को बंदी बना लिया। महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, पटेल, मौलाना आजाद समेत सभी नेता ९ अगस्त की सुबह तक बन्दी बनाये जा चुके थे। सरकार के इस कदम का परिणाम यह हुआ कि न तो गांधीजी और न ही कोई अन्य प्रमुख राष्ट्रनेता आंदोलन को संचालित करने के लिये बचा। इसके पहले कभी भी सरकार ने ऐसा कदम नहीं उठाया था। गांधीजी तथा अन्य प्रमुख राष्ट्रनेताओं की नजरबन्दी से इस आंदोलन का स्वरूप ही बदल गया।

भारत छोड़ो आंदोलन के आरम्भ होने के समय गांधीजी का 'करो या मरो' का नारा ही लोगों के दिमाग में छाया रहा। गांधीजी को आकस्मिक नजरबन्दी की आशंका तो थी। तभी उन्होंने 'करो या मरो' का पाठ पढ़ाते हुए देशवासियों से कहा था कि आवश्यकता पड़ने पर वे स्वयं अपने को नेता समझें, स्वयं से आदेश प्राप्त कर और संघर्ष में जुट जाएँ। यद्यपि व्यक्तिगत रूप से गांधीजी आंदोलन को संचालित नहीं कर सके फिर भी उनकी प्रेरणा ही संघर्ष की प्रेरक बनी।

भारत विभाजन में भूमिका

आरम्भ से ही गांधीजी देश के विभाजन और पाकिस्तान के निर्माण के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने सार्वजनिक वक्तव्य दिया था कि 'पाकिस्तान का निर्माण मेरी मृत्यु शैय्या पर होगा'। लेकिन देश का विभाजन उनके सामने हुआ। तो फिर क्या यह मान लिया जाये कि गांधीजी ने इसे स्वीकार कर लिया। इन प्रश्नों का उत्तर खोजते समय यही निष्कर्ष निकलता है कि वे सदा ही देश के विभाजन के विरुद्ध बने रहे और उनकी इच्छा न होते हुए भी जब कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं ने पाकिस्तान के निर्माण की योजना को स्वीकार कर लिया तो उन्होंने इसका औपचारिक विरोध न करना ही उचित समझा।

फरवरी १६४७ से राजनीतिक घटनाचक्र तेजी से घूमा। इस समय ब्रिटेन के नवनियुक्त प्रधानमंत्री ने आधिकारिक घोषणा की कि जून १६४८ तक ब्रिटिश सरकार भारत में अपना शासन समाप्त करके सत्ता हस्तान्तरित कर देगी। दूसरे शब्दों में भारत को स्वतंत्र कर देने की घोषणा कर दी गयी और इसके लिये एक तिथि भी निर्धारित कर दी गयी। नये वाइसराय माउन्टबेटन को सत्ता हस्तान्तरित करने के उद्देश्य से भारत भेजा गया और कुछ महीनों की

उच्चस्तरीय वार्ता के फलस्वरूप अगस्त १६४७ को देश आजाद हो गया। लेकिन इसी के साथ-साथ भारत का विभाजन भी हो गया।

मार्च १६४७ को पहली बार गांधीजी को पता चला कि देश के भविष्य के बारे में किये जा रहे महत्त्वपूर्ण निर्णयों में उनकी उपेक्षा की जा रही है। पहला संकेत उन्हें कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक के निर्णय से मिला। इसने यह फैसला किया कि कांग्रेस पंजाब और बंगाल का विभाजन स्वीकार करने को तैयार है। मुस्लिम बहुसंख्यक क्षेत्रों और हिन्दू बहुसंख्यक क्षेत्रों का निर्धारण बाद में करने का विचार प्रस्तुत किया गया। यह महत्त्वपूर्ण निर्णय ऐसे समय लिया गया जब इस बैठक में गांधीजी उपरिथत नहीं थे। समाचार पत्रों की सूचना के आधार पर जब गांधीजी ने इस पर आपत्ति की तो नेहरू और पटेल ने उन्हें आवश्यकता समझाते हुए पत्र लिख दिये। इन नेताओं ने गांधीजी के विरोध पर अधिक ध्यान नहीं दिया। मार्च १६४७ के अन्त में वाइसराय और गांधीजी के बीच लम्बी वार्ता हुई। इसमें गांधीजी ने यह असाधारण प्रस्ताव किया कि भारत पर शासन करने के लिये तुरन्त एक अस्थायी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल बनाया जाये और जिन्ना तथा उनके मुस्लिम लीग सहयोगियों को समूचा शासन चलाने की जिम्मेदारी सौंप दी जाये। शीघ्र ही गांधीजी को मालूम हो गया कि कांग्रेस के प्रमुख नेता उनके प्रस्ताव के पक्ष में नहीं हैं। इससे उन्होंने यह प्रस्ताव वापस ले लिया। एक महीने में दूसरी बार गांधीजी को जानकारी मिल गयी कि कांग्रेस पर उनकी पकड़ कमजोर हो चुकी है।

आगामी दो महीने में कांग्रेस के प्रमुख नेताओं ने देश के विभाजन के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। अब तक प्रायः सभी तथ्य उपलब्ध हो चुके हैं जिनमें यह जानकारी मिलती है कि विभाजन को स्वीकारने का निर्णय नेहरू और पटेल ने किया। उच्चस्तरीय वार्ताओं से गांधीजी प्रायः अलग ही रहे।

१४-१५ जून, १६४७ को अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक ने देश के विभाजन के सिद्धान्त का अनुमोदन कर दिया। गांधीजी इस बैठक में उपस्थित थे। उन्होंने कांग्रेस के नेताओं से विभाजन को स्वीकारने की सलाह दी। गांधीजी का कहना था कि नेहरू और पटेल तथा अन्य प्रमुख नेताओं के निर्णयों को मान लेना ही उचित मार्ग है। इस प्रकार गांधीजी ने परिस्थितियों के साथ समझौता कर लिया और निजी विचारों को प्रकट नहीं किया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रायः छह महीने पश्चात् ३० जनवरी १६४८ को गांधीजी का देहावसान हत्यारे की गोलियों से हो गया। यह विडंबना ही थी कि अहिंसा के इस पुजारी को हिंसा का निशाना बनाया गया।

गांधीजी एक करिश्मा थे, एक युग पुरुष थे और ऐसे राष्ट्रनेता थे जिन्होंने भारतीय स्वतंत्रता अभियान का सफल नेतृत्व किया। जिस समय उन्होंने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम की बागडोर सँभाली थी, तब भारत में राजनीतिक जागृति पर्याप्त मंद थी। उन्होंने भारतीयों में प्राण फूँके, शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष करने का उन्हें रास्ता दिखाया और उनमें यह विश्वास जगाया कि जनशक्ति के सम्मुख ब्रिटिश सरकार की सत्ता भारत में टिकी नहीं रह

सकती। सत्याग्रह मार्ग पर चलकर और अहिंसात्मक तरीकों से आंदोलन जारी रखकर उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें इस सीमा तक हिला दीं कि अन्ततः १९४७ में देश आजाद हो गया।

राजनीतिक विचारधारा

गांधीजी की राजनीतिक विचारधारा उनके मानवतावादी विचारों का एक भाग थी। उन्होंने समग्रता पर विचार किया। उनके विचारों के अनुसार राजनीति मानव क्रियाकलाप का एक अंग थी और इसे धर्म, समाज और आर्थिक प्रणाली से अलग करके नहीं देखा जा सकता था। अतः गांधीजी ने राजनीति को जीवन के आधारभूत सिद्धांतों से जोड़कर देखा। उनकी राजनीति की इस पहली विशेषता के अलावा दूसरी विशेषता यह दिखायी देती है कि गांधीजी मूलतः व्यावहारिक व्यक्ति थे। उनकी राजनीति व्यवहार पर आधारित थी, अनुभवों पर आधारित थी कोरे सिद्धान्तों पर नहीं। वे जनता के नेता थे, जनता के बीच रहे और जनता के सम्मुख अपने विचारों को स्पष्ट करते रहे। इसी कारण उनके राजनीतिक विचारों को समझने के लिए समय-समय पर दिये गये उनके भाषणों और वक्तव्यों का अध्ययन करने की आवश्यकता है। तीसरी विशेषता यह है कि गांधीजी ने एक बार, एक पुस्तक में या एक स्थान पर राजनीतिक विचारों को स्पष्ट नहीं किया। उनके राजनीतिक सिद्धान्त स्वतंत्रता संघर्ष के साथ-साथ विकसित हुए। जैसी परिस्थितियाँ आयीं, उन्हीं के अनुसार उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट किया। लेकिन फिर भी उन्होंने प्रमुख सिद्धांतों को कभी नहीं छोड़ा।

आध्यात्मिक आदर्शवाद

गांधीजी का ईश्वर पर अटूट विश्वास था और इसी से उन्होंने धर्म और राजनीति की एकता पर विश्वास किया। लेकिन ईश्वर अथवा धर्म की उनकी भावना न तो संकुचित थी और न किसी विशेष मान्यता के विरुद्ध।

गांधीजी ने सत्य को राजनीति का आधार बनाया। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यवहार और कार्य इस मूल सिद्धांत पर आधारित होना चाहिए। सत्य पर पूर्ण विश्वास होने के कारण गांधीजी ने साधन की श्रेष्ठता को सबसे अधिक महत्त्व दिया। वे साधन और साध्य दोनों की पवित्रता पर जोर देते थे। उन्होंने कहा कि उद्देश्य पवित्र होना चाहिए और लक्ष्य प्राप्ति का साधन भी उत्तम होना चाहिए। साधनों की पवित्रता के विचार के द्वारा गांधीजी ने राजनीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया। सर्वथा उचित तरीकों से ही उन्होंने राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की बात कही।

सत्याग्रह

सत्याग्रह का गांधी-दर्शन गांधीवादी सत्य की अवधारणा और आध्यात्म पर आधारित राजनीति का स्वाभाविक परिणाम है। सत्याग्रह मानवीय भाई-चारे के विचार पर आधारित है। यह जीवित रहने हेतु संघर्ष को स्वाभाविक नहीं मानता और इसी कारण केवल सबसे शक्तिवान के जीवित रहने के विचार को अस्वीकृत करता है।

गांधीजी ने सत्याग्रह को स्वतंत्रता संघर्ष का आधार बनाया और समय-समय पर सत्याग्रह

आंदोलन आयोजित किये। उन्होंने पहली बार १९१९ में रौलेट सत्याग्रह व्यापक पैमाने पर आयोजित किया। इसी समय से प्रकट हो गया कि किसी भी अन्याय का विरोध करने के उद्देश्य से उपवास, हड़ताल, असहयोग आदि तरीकों के द्वारा जन-संघर्ष की भावना जगायी जा सकती है। असहयोग आंदोलन और सविनय अवज्ञा आंदोलन करके उन्होंने इस तकनीक की सफलता प्रमाणित कर दी।

अहिंसा

सम्पूर्ण गांधी चिन्तन ही अहिंसा की उनकी आस्था पर आधारित है। आध्यात्म पर आधारित उनकी राजनीति और सत्यता का सिद्धान्त अहिंसा पर निर्भर था, जुड़ा हुआ था। गांधीजी ने अहिंसा को राजनीतिक संघर्ष का आधार बनाया क्योंकि वे आदर्श पर आधारित राजनीति के समर्थक थे। उन्होंने अहिंसा को शक्तिवान का अस्त्र बताया, निर्बल का नहीं। इसी से उन्होंने कहा कि अहिंसा का तरीका तभी उचित माना जाना चाहिए जब प्रतिरोध का बल रखते हुए भी प्रतिरोध न किया जाये, संयम बरता जाये, व्यक्ति अथवा समूह अपने पर काबू रखे। ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करते समय उन्होंने लगातार अहिंसात्मक तरीकों पर जोर दिया। फरवरी १९२२ में जैसे ही चौरी-चौरा की घटना से असहयोग आंदोलन हिंसात्मक होता हुआ दिखाई दिया उन्होंने तुरन्त ही आंदोलन को रोक दिया। इससे जाहिर हो गया कि गांधीजी की अहिंसा पर कितनी अधिक आस्था थी।

जनशक्ति पर आधारित राजनीति

गांधीजी ने दो कार्य एक साथ किये। उन्होंने लोगों के दिलों से भय हटाने की कोशिश की और उनमें साहस का भाव जगाया। उन्होंने अनुभव किया था कि भारत के लोग सरकार से बहुत अधिक डरते थे। यदि यह डर बना रहता तो वे ब्रिटिश सरकार के खिलाफ खड़े नहीं हो सकते थे। अतः उन्होंने लोगों के दिल से यह भय की भावना हटायी। साबरमती का आश्रम अहमदाबाद जेल के पास ही बनाया गया था और उन्होंने जेल जाने के डर को धीरे-धीरे लोगों के दिलों से हटाया। जब लोगों में साहस का संचार हुआ तो वे सामूहिक रूप से ब्रिटिश सत्ता का मुकावला करने को खड़े हो गये। यहीं से जनशक्ति का प्रभाव सभी के सम्मुख सामने आया। इसी से कुछ लेखकों ने समूची गांधीवादी राजनीति को भय से मुक्ति दिलाने वाली राजनीतिं कहा है।

राष्ट्रवाद

गांधीजी ने बहुत ही शुद्ध रूप में राष्ट्रवाद के विचार को परिभाषित किया। उन्होंने कहा कि जहाँ भारत एक राष्ट्र है वहीं विश्व का महत्त्वपूर्ण अंग है। गांधी का राष्ट्रवाद संकुचित नहीं अपितु व्यापक है। उन्होंने राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं माना। उनका राष्ट्रवाद विश्वप्रेम का एक अंग है। उनके शब्द इस प्रकार थे : 'मेरा लक्ष्य विश्व मैत्री है। हम विश्व भ्रातृत्व के लिये जीना मरना चाहते हैं।' उन्होंने संकुचित राष्ट्रवाद के विचार का विरोध किया।

संसदीय व्यवस्था पर विचार

गांधीजी संसदीय व्यवस्था के प्रशंसक नहीं थे। इसी प्रकार चुनाव प्रणाली के प्रति भी उनके विचार अच्छे नहीं थे। उन्हें आशंका थी कि चुनावों द्वारा एक शोषक वर्ग जन्म लेता है। चुनावों में होने वाले अत्यधिक व्यय के भी वे आलोचक थे। उनका कहना था कि चुनाव द्वारा झूठी बातें कही जाती हैं फिर भी उन्होंने अनुभव किया था कि इसका कोई विकल्प नहीं है। अतः उन्होंने प्रत्याशियों के लिए कठोर नियम बनाने की बात सोची। उन्होंने ऐसे जनप्रतिनिधियों की नियुक्ति पर विचार किया जो चरित्रवान हों। गांधीजी विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे। इसी से वे पंचायत व्यवस्था के पक्ष में थे।

इन विचारों से प्रभावित होने के कारण ही गांधीजी ने १९२० से १९४७ के बीच संवैधानिक परिवर्तनों के प्रति न तो अधिक रुचि दिखायी और न इस अवधि में हुए चुनावों से कोई अधिक आशा रखी।

जवाहरलाल नेहरू

राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष को तीव्र और सक्रिय करने में जवाहरलाल नेहरू ने अग्रणी भूमिका निभायी। उन्होंने पूरा जीवन ही स्वतंत्रता संघर्ष को प्रभावी बनाने में लगा दिया। एक सम्पन्न और राजनीतिक परिवार में जन्मे जवाहरलाल ने ब्रिटेन में उच्च शिक्षा प्राप्त की। जब वे वापस आये तो उन्होंने इस आंदोलन में कूद पड़ने में तनिक भी विलम्ब नहीं किया। युवा जवाहरलाल में उत्साह था, जोखिम उठाने का जोश था, परिपक्व मस्तिष्क था, पारिवारिक प्रतिष्ठा थी और पूरी लगन से राष्ट्रीय संग्राम को जनजागरण बनाने का संकल्प था। १९२० में वे पूरी तरह से राष्ट्रीय संघर्ष में जब एक बार शामिल हुए तो फिर कभी भी उन्होंने न तो पीछे मुड़कर देखा, न कभी ब्रिटिश सरकार से समझौता करने की सोची और न कभी देश को स्वतंत्र कराने से कम आदर्श पर विचार किया। उनके राजनीतिक क्रियाकलाप में ऐसे युग की स्पष्ट छाप दिखायी देती है जिस पीढ़ी के राष्ट्रनेताओं में ब्रिटिश सरकार से टक्कर लेने का साहस था और यह भाव था कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद को जड़ से उखाड़ फेंकना एक अनिवार्य आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश के राजनीतिक रूप से जागरूक नगर इलाहाबाद में १४ नवम्बर १८८९ को जवाहरलाल नेहरू का जन्म हुआ था। वे योग्य पिता के योग्य पुत्र थे। उनके पिता मोतीलाल नेहरू ने वकालत पेशे में असाधारण प्रसिद्धि के साथ-साथ धन अर्जित किया। मोतीलाल स्वयं कांग्रेस के जाने माने नेता थे। १९३१ तक कांग्रेस के शीर्षस्थ नेताओं में उनकी गिनती होती रही। अतः जवाहरलाल को एक ऐसा वातावरण मिला जिसमें उनके राजनीतिक विचार परिपक्व होने लगे। १९२० से १९३० तक के दस वर्षों में इन यशस्वी पिता पुत्र ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष में कंधे से कंधा मिलाकर कार्य किया। यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास का एक विलक्षण उदाहरण है।

जवाहरलाल को अच्छी से अच्छी शिक्षा दिलाने में मोतीलाल ने कोई कसर नहीं छोड़ी।

पहले जवाहरलाल ने अपने देश में शिक्षा ग्रहण की और इसके पश्चात् सात वर्षों तक वे ब्रिटेन में रहकर वहाँ की प्रसिद्ध शिक्षा संस्थाओं में पढ़े। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से स्नातक बनकर और कानून की डिग्री प्राप्त करके वे १९१२ में भारत वापस आये। ब्रिटेन प्रवास का लाभ उन्हें यह मिला कि उन्होंने केवल अध्ययन ही नहीं किया अपितु योरोपीय देशों में व्याप्त स्वाधीनता और प्रजातंत्र की भावना को फलते-फूलते भी देखा। अंतर्राष्ट्रीय भावना उनमें जागृति हुई, पश्चिमी सभ्यता की उपलब्धियों से वे परिचित हुए और उनमें आत्मविश्वास जागा।

राजनीति में प्रवेश

युवा जवाहरलाल ने शिक्षा और राजनीति का पाठ साथ-साथ पढ़ा। जिस अवधि में वे ब्रिटेन में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे तभी से ब्रिटिश राजनीति और भारतीय राजनीति में उनकी रुचि बढ़ी। पिता और पुत्र के बीच पत्रों का लम्बा सिलसिला चला। ये पत्र आज भी उपलब्ध हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि जवाहरलाल धीरे-धीरे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से परिचित होने लगे थे।

१९१२ में वे स्वदेश लौटे। इसके बाद के आठ वर्षों में वे धीरे-धीरे नगर और प्रान्त की राजनीति में भाग लेने लगे। होमरूल आंदोलन और रौलेट सत्याग्रह के समय वे इलाहाबाद और निकटवर्ती क्षेत्रों में सक्रिय रहे। उन्होंने प्रांत में आयोजित राजनीतिक सम्मेलनों में भी भाग लिया। १९२० के आरम्भ में इलाहाबाद के निकटवर्ती जिले प्रतापगढ़ के ग्रामीण अंचलों की यात्रा करके उन्होंने किसान संघर्ष का निकट से अवलोकन किया। इसी बीच वे इलाहाबाद से प्रकाशित समाचार पत्र 'दि इण्डिपेन्डेन्ट' के प्रकाशन और संचालन में जुड़े क्योंकि यह पत्र मोतीलाल नेहरू ने निकाला था। जाहिर है कि जवाहरलाल क्रमिक रूप से स्वतंत्रता संघर्ष से जुड़ते जा रहे थे।

सक्रिय राजनीति के मार्ग पर

१९१९-२० से जवाहरलाल नेहरू सक्रिय राजनीति के मार्ग पर अग्रसर होते गये। इस दौरान वे गांधीजी के प्रभाव में आये। उन्हें गांधीजी की नीतियाँ इस कारण पसंद आयीं क्योंकि वे सिद्धांतों के बजाय सक्रिय कार्यवाही पर जोर देते थे। उन्होंने रौलेट सत्याग्रह करके राष्ट्रीय आंदोलन को नयी दिशा की ओर मोड़ दिया था। जवाहरलाल गांधीजी की ओर आकृष्ट हुए और जीवनपर्यन्त गांधीजी के प्रमुख अनुगामी बने रहे। उनमें और गांधीजी में असमानताएँ अवश्य थीं। लेकिन सक्रिय राजनीति के गांधीजी के मार्ग को उन्होंने स्वीकारा और प्रबल विरोध आयोजित करने में वे सदा ही गांधीजी के साथ रहे। यही सूत्र इन दो प्रमुख नेताओं को जोड़े रहा।

गांधीजी की ओर जवाहरलाल के इसी झुकाव के कारण मोतीलाल को भी अपना रास्ता बदलना पड़ा। कुछ इतिहासकारों का मत है कि सितम्बर १९२० के विशेष कांग्रेस अधिवेशन में मोतीलाल ने गांधीजी का साथ देने का फैसला ऐन मौके पर इसीलिए किया क्योंकि जवाहरलाल को यही रास्ता स्वीकार था। इस समय से वरिष्ठ और युवा नेहरू पूरी तरह से असहयोग आंदोलन में कूद पड़े। यह एक कठिन और जोखिम भरा फैसला था। दोनों नेताओं की समूची

जीवन धारा ही इससे बदल गयी। वे राष्ट्रीय संघर्ष के लिये किसी भी तरह का बलिदान देने को तैयार हो गये।

असहयोग आंदोलन को प्रभावी बनाने में जवाहरलाल ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने गांधीजी के साथ अनेक प्रांतों का दौरा किया, भाषण दिये और जनसंघर्ष करने के लिए लोगों को प्रेरणा दी। उन्होंने प्रान्तीय, जिला और तहसील स्तर पर कांग्रेस संगठन को शक्तिशाली बनाने की कोशिश की। विशेष रूप से उन्होंने उत्तर प्रदेश में आंदोलन को गतिशील बनाने के प्रयास किये। ब्रिटिश सहायता प्राप्त करने वाले स्कूल और कालेजों का बहिष्कार करने की प्रेरणा देने के उद्देश्य से जवाहरलाल अलीगढ़, बनारस, इलाहाबाद, लखनऊ आदि नगरों में गये और उन्होंने विद्यार्थियों को राष्ट्रीय संग्राम में शामिल होने का परामर्श दिया। उन्होंने वस्त्र बहिष्कार कार्यक्रम को सफल बनाने में अथक परिश्रम किया।

५ दिसम्बर, १९२१ को जवाहर और मोतीलाल को एक साथ वन्दी बनाकर कारावास भेजा गया। यह एक विलक्षण घटना थी। राष्ट्रीय संघर्ष को सशक्त बनाने के अपराध में इन दोनों को इलाहाबाद में एक साथ गिरफ्तार किया गया। दोनों को छह महीने कैद की सजा सुनायी गयी। यहीं से कारावास जीवन का जवाहरलाल का लम्बा क्रम आरम्भ हुआ। सम्पन्न परिवार में जन्मे और युवा हुए जवाहरलाल ने देश की स्वतंत्रता हेतु कष्ट उठाने का यह मार्ग जानबूझ कर चुना था। वे जानते थे कि ब्रिटिश सरकार के खिलाफ संघर्ष करने का यह नतीजा हो सकता है।

मार्च १९२२ में जवाहरलाल को रिहा कर दिया गया। लेकिन उनका विरोधी स्वर मन्द पड़ने के बजाय और भी उग्र हो गया। दो महीने पश्चात् उन्हें फिर वन्दी बनाया गया। इस बार उन्हें अठारह महीने के कारावास की सजा सुनाई गयी। जवाहरलाल के वक्तव्यों से प्रकट है कि राष्ट्रीय संघर्ष को प्रबल बनाते समय वे कभी भी इस आशंका से परेशान नहीं हुए कि उन्हें ऐसी सजाएँ सुनाई जा सकती हैं।

लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता

१९२९ के लाहौर कांग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता करके जवाहरलाल ने इस राष्ट्रीय संगठन को नयी स्फूर्ति प्रदान की। यह उनके जीवन का एक स्मरणीय अवसर था। पहली बार कांग्रेस की बागडोर एक युवा और उदीयमान नेता के हाथ में सौंपी गयी थी। यह अनुभव किया गया था कि नयी पीढ़ी के नेताओं को अधिक जिम्मेदारी के पद दिये जाएँ। इसी नीति के अधीन जवाहरलाल को कांग्रेस अध्यक्ष बनाया गया।

उनका अध्यक्षीय भाषण अनेक अर्थों में उल्लेखनीय था। पहली बार कांग्रेस अध्यक्ष ने 'पूर्ण स्वराज' अथवा स्वाधीनता के लक्ष्य को निर्धारित करने का आग्रह कांग्रेस से किया। अनेक वर्षों की दुविधा के उपरांत इस अधिवेशन में स्वाधीनता का लक्ष्य निर्धारित किया गया। कांग्रेस की यह स्वीकृति जवाहरलाल की एक बड़ी सफलता थी।

जवाहरलाल के नेतृत्व में कांग्रेस ने केवल इस लक्ष्य की घोषणा करके ही संतोष नहीं

कर लिया। लाहौर अधिवेशन में यह भी तय किया गया कि लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से शीघ्र ही एक देशव्यापी आंदोलन आयोजित किया जाये।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का नेतृत्व

१९३० में आरम्भ हुए सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय जवाहरलाल कांग्रेस के अध्यक्ष थे। अतः सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय उनके परामर्श से लिये गये। यों तो इस आंदोलन का संचालन गांधीजी ने किया लेकिन फिर भी जवाहरलाल का सक्रिय समर्थन आंदोलन की सफलता के लिये महत्त्वपूर्ण साबित हुआ।

जवाहरलाल ने नमक सत्याग्रह को सफल बनाने की दृष्टि से इलाहाबाद में इस कार्यक्रम को सफल बनाने में हाथ बँटाया। कुछ समय बाद उन्होंने रायबरेली के किसानों को आंदोलन में शामिल करने के उद्देश्य से वहाँ की यात्रा की और सभाएँ आयोजित कीं।

इस आंदोलन के शुरू होते ही सरकार की निगाह जवाहरलाल के ऊपर थी और उसने उन्हें बन्दी बनाने में तनिक भी देरी नहीं की। सविनय अवज्ञा आंदोलन के आरम्भिक चरण में ही उन्हें १४ अप्रैल को बन्दी बना लिया गया और छह महीने कारावास का दण्ड सुनाया गया। इस समय जेल जाने वाले वे पहले प्रमुख नेता थे। छह महीने बाद वे केवल कुछ दिनों के लिए जेल से रिहा हुए। आंदोलन के दौरान सरकार उन्हें मुक्त रखने को तैयार नहीं थी। अतः अक्टूबर १९३० में उन्हें दुबारा जेल भेज दिया गया और इस बार उन्हें दो वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुनाई गयी। मार्च १९३१ में गांधी-इरविन समझौते के अनुसार वे रिहा कर दिये गये।

इस आंदोलन का दूसरा दौर आरम्भ कराने का प्रमुख श्रेय जवाहरलाल को ही है। जब गांधीजी गोलमेज सम्मेलन के दौरान १९३१ के अंतिम महीनों में लन्दन गये हुए थे उस समय जवाहरलाल ने किसानों को संगठित करने का प्रयास किया। इससे उत्तर प्रदेश की सरकार को आपत्ति हुई। विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के फलस्वरूप यू.पी. के किसानों की आर्थिक स्थिति शोचनीय होती जा रही थी। न तो सरकार और न जमींदार उन्हें राहत देने को राजी थे। इसी स्थिति में जवाहरलाल ने किसानों के पक्ष में आवाज उठाई, उन्हें लगान न अदा करने को कहा और सरकार पर दबाव डालने के उद्देश्य से किसानों की सभाएँ कीं। इसी समय दिसम्बर १९३१ में जवाहरलाल को बन्दी बना लिया गया। इस आंदोलन के दौरान वे तीसरी बार गिरफ्तार किये गये थे। इस बार भी उन्हें दो वर्ष के कारावास का दण्ड सुनाया गया। जवाहरलाल को बन्दी बनाने का अर्थ हुआ सविनय अवज्ञा आंदोलन को फिर से शुरू करने के लिए कांग्रेस को चुनौती। कुछ दिनों बाद जब गांधीजी गोलमेज सम्मेलन से वापस आये तो यह जाहिर हो गया था कि गांधी-इरविन समझौता समाप्त हो गया है।

समाजवादी विचारधारा का समर्थन

१९२९ से १९३६ के बीच जवाहरलाल समाजवादी विचारधारा के विशेष प्रभाव में रहे। इस अवधि में वे तीन बार कांग्रेस अध्यक्ष बने। अपने अध्यक्षीय भाषणों में उन्होंने समाजवादी विचारधारा के प्रति आस्था व्यक्त की। इस दौरान कांग्रेस में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ रहा

था और ऐसे संकेत मिल रहे थे कि जवाहरलाल तथा अन्य नेताओं के प्रयासों से यह संगठन वामपक्षी सिद्धांतों को अपना लेगा। इसी बीच कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी नामक दल का गठन कांग्रेस के भीतर हो चुका था।

१६३६ में जवाहरलाल के सम्मुख निर्णय करने का अवसर आया। कांग्रेस के दक्षिणपंथी नेताओं ने उन्हें चुनौती दी। विचारों और सिद्धान्तों को लेकर कांग्रेस में मतभेद उभरने लगे। गांधीजी दक्षिणपंथी नेताओं के साथ थे। ऐसी स्थिति में जवाहरलाल ने समझौतावादी रुख अपनाया। उन्होंने दक्षिणपंथी नेताओं से समझौता कर लिया। उन्हें शांत करने के लिय संगठन में फेरबदल किये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब समाजवादी सिद्धांतों को लेकर कांग्रेस में संकट गहराया तो उन्होंने अपने कदम पीछें कर लिये। १६३६ के उपरांत समाजवाद के प्रति उन्होंने कम उत्साह दिखाया। परिस्थितिवश उन्होंने नीतियों पर जोर देने के बजाय कांग्रेस की एकता को महत्त्व दिया।

द्वितीय महायुद्ध के सरकारी प्रयासों का विरोध

१६३६ में जैसे ही द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ और सरकार ने भारत के इसमें शामिल होने की घोषणा की, तुरन्त ही कांग्रेस ने इसका विरोध किया। कांग्रेस का कहना था कि यह ब्रिटिश साम्राज्य को बचाने का युद्ध है। अतः भारत को इससे कोई लेना देना नहीं। जवाहरलाल ने कांग्रेस की इस नीति का समर्थन किया और शीघ्र ही प्रांतीय सरकारों से कांग्रेस ने इस्तीफा देने को कहा।

जब गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह चलाया तो जवाहरलाल दूसरे प्रमुख नेता थे जिन्हें सरकार ने बन्दी बनाया। गोरखपुर के जिला जज ने इस समय उन्हें चार वर्ष कारावास की सजा सुनाई थी। प्रान्तीय सरकार उनपर नियंत्रण रखना चाहती थी। तभी तो उसने जवाहरलाल के प्रति ऐसा कठोर रुख अपनाया।

भारत छोड़ो आंदोलन प्रारम्भ करने का प्रस्ताव

अगस्त १६४२ के भारत छोड़ो आंदोलन को प्रारम्भ करने में जवाहरलाल ने सक्रिय समर्थन दिया। उनका यह विचार बन गया था कि राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये द्वितीय महायुद्ध के दौरान ही खुला संघर्ष शुरू करना आवश्यक है।

इस आंदोलन के पक्ष में निर्णय करने का महत्त्वपूर्ण अवसर ८ अगस्त को आया। बम्बई में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक के सम्मुख आंदोलन आरम्भ करने का प्रस्ताव जवाहरलाल ने पेश किया। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि महायुद्ध से उत्पन्न स्थिति में सरकार मनमाने तरीके से काम कर रही है, जन-भावनाओं की उपेक्षा कर रही है और स्वतंत्रता प्राप्ति के जनता के इरादों की अनदेखी कर रही है। ऐसी स्थिति को चुपचाप सहन करना न तो जनता के हित में था और न सरकार के। इस समय भी जवाहरलाल ने व्यापक दृष्टि की चर्चा की। तभी तो प्रस्ताव पेश करते हुए उन्होंने कहा। 'मैं भारतीय राष्ट्रवाद पर गर्व करता हूँ क्योंकि यह संकुचित नहीं है और अन्तर्राष्ट्रीयता पर आधारित है।'

भारत छोड़ो आंदोलन के स्वीकृत होने की रात्रि को ही जवाहरलाल को नजरबन्द कर लिया गया। अनेक प्रमुख राष्ट्रनेताओं के साथ उन्हें भी आंदोलन का नेतृत्व करने का अवसर नहीं मिला। १९४२ से १९४५ के लगभग तीन वर्षों तक वे कारावास में रहे। अनेक बार वे पहले भी बन्दी का जीवन बिता चुके थे। लेकिन इस बार वे सबसे अधिक समय तक जेल में रहे। राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिये कष्ट सहने का जवाहरलाल ने अनूठा उदाहरण पेश किया।

अंतरिम सरकार के प्रधानमंत्री

द्वितीय महायुद्ध के बाद राजनीतिक स्थिति तेजी से बदली। अन्ततः भारतीयों को देश का आंतरिक शासन सौंपने का निर्णय किया गया। देश के इतिहास में पहली बार एक ऐसा मंत्रिमंडल केन्द्र में सरकार संचालित करने हेतु बना जिसके सभी भारतीय सदस्य जनप्रतिनिधि थे।

सितम्बर १९४६ को केन्द्र में अंतरिम सरकार गठित की गयी। पहले केवल कांग्रेस मंत्रिमंडल ने शपथ ली। बाद में मुस्लिम लीग भी अंतरिम सरकार में शामिल हो गयी। जवाहरलाल इस अंतरिम सरकार के प्रधानमंत्री बनाये गये। यहीं से उनके जीवन का एक नया अध्याय शुरू हुआ। अब केन्द्र सरकार चलाने का कार्यभार उन्होंने सँभाला। नेहरू जी और उनके सहयोगियों ने शीघ्र ही यह प्रमाणित कर दिया कि आंदोलन चलाने वाले राष्ट्रनेता आवश्यकता पड़ने पर शासन तंत्र भी बखूबी से चला सकते हैं।

सत्ता हस्तान्तरण

फरवरी १९४७ को ब्रिटिश प्रधानमंत्री की घोषणा से यह सुनिश्चित हो गया कि शीघ्र ही भारत पर ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त हो जायेगा। वह सुनहरा सपना पूरा होने वाला था जिसे राष्ट्रवादी लम्बे अर्से से सँजोये थे। देश के स्वतंत्र होने का समय निकट ही था। सत्ता हस्तान्तरण से जुड़े अनेक प्रश्नों का समाधान ढूँढ़ने में और देश को स्वतंत्र राष्ट्र की श्रेणी में लाने का कार्य जवाहरलाल ने पूरा किया।

सत्ता हस्तान्तरण से जुड़ा हुआ सबसे जटिल सवाल देश के बँटवारे का था। देश की आजादी तो सभी कोई चाहता था। लेकिन प्रश्न यह था कि भारत की स्वतंत्रता बँटवारे की कीमत पर मिले अथवा देश की एकता पहले की तरह बनी रहे। इस बारे में जवाहरलाल की भूमिका निर्णायक साबित हुई। अंतरिम सरकार में मुस्लिम लीग की कार्यवाही के कारण और चारों ओर लगी साम्प्रदायिक दंगों की आग के कारण धीरे-धीरे जवाहरलाल बँटवारे को स्वीकार करने को तैयार हो गये। मुस्लिम लीग के साथ शासन करने के अनुभव से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेता मिलकर देश का शासन नहीं चला सकते। ऐसी स्थिति में उन्हें देश का विभाजन ही उचित मार्ग जान पड़ा। तथ्यों से यही जानकारी मिलती है कि मुस्लिम लीग की नीतियों और कार्यवाहियों से वे इतने अधिक निराश हो गये थे कि उन्होंने यही उचित समझा कि देश के बँटवारे को स्वीकार कर लिया जाये।

जैसे ही जवाहरलाल ने सैद्धांतिक रूप से विभाजन को मान लिया, इससे जुड़े हुए सवालों

को सुलझा लिया गया। १५ अगस्त १६४७ को देश आजाद हो गया। इसी समय जवाहरलाल ने देश के पहले प्रधानमंत्री के रूप में कार्य भार सँभाला। एक जननायक और जननेता ने भारत का प्रशासन चलाने का उत्तरदायित्व निभाया। १६४७ में किये गये ऐतिहासिक निर्णयों के महत्त्व को देखते हुए उन्हें अपनी सीमाओं का अनुमान था। स्वतंत्र भारत के निर्माण में उन्होंने आगामी सत्रह वर्षों तक सराहनीय कार्य किया।

जवाहरलाल नेहरू एक संघर्षशील और साहसिक राष्ट्रनेता थे। उन्होंने गांधीवादी युग में स्वतंत्रता संघर्ष का नेतृत्व किया। उनके पद्चिन्हों पर चलकर हजारों दूसरे राष्ट्रसेवियों को प्रेरणा मिली। अनेक वर्षों तक जेल जीवन का कष्ट भोगने पर भी उनके उत्साह में कभी कमी नहीं आयी। जनशक्ति को संगठित करने की उनमें असाधारण क्षमता थी, नेतृत्व प्रदान करने की विलक्षण प्रतिभा थी और राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम था। इस यशस्वी व्यक्ति ने स्वतंत्रता संघर्ष को सफलता के शिखर पर पहुँचाने का अनुकरणीय कार्य किया।

राजनीतिक विचारधारा

यह उपयुक्त ही होगा कि यहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति तक के जवाहरलाल के राजनीतिक विचारों की चर्चा की जाय। उन्होंने १६४७ के उपरान्त भी अनेक अवसरों पर राजनीतिक विषयों की चर्चा की। इस अवधि के उनके विचारों की विवेचना करने का यहाँ प्रयास नहीं किया जा रहा है।

पश्चिम का प्रभाव

जवाहरलाल के राजनीतिक विचारों पर पश्चिम का प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने आत्मचरित में इसे स्वीकार किया है। इसकी तुलना में भारतीय विचारधारा का असर उनके ऊपर कम पड़ा। कहा जा सकता है कि भारतीय परंपरा, भारतीय दर्शन से जिस प्रकार तिलक प्रभावित हुए थे वैसा प्रभाव नेहरू के ऊपर नहीं था। युवा अवस्था के सात वर्ष उन्होंने ब्रिटेन में बिताये थे और वहीं शिक्षा पायी थी। इसकी छाप उनके ऊपर बनी रही।

राष्ट्रवाद

जवाहरलाल ने राष्ट्रवाद की परिभाषा देते हुए अपने आत्मचरित में इस प्रकार लिखा : 'मुख्य रूप से राष्ट्रीयता एक विरोधी भावना है।' वे भारत में व्याप्त तत्कालीन राष्ट्रीय भावना के संदर्भ में ऐसा कह रहे थे। उन्होंने अपने विचार को आगे स्पष्ट करते हुए कहा कि किसी भी पराधीन देश में विदेशी शासन के विरोध में यह भावना फलती और फूलती है। उनका मत यह था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के विरोध में राष्ट्रवाद पनपता गया। इसी ब्रिटिश विरोधी भावना के रूप में भारतीयों में राष्ट्रीय भावना बलवती होती गयी। राष्ट्रवादी भावना के अन्य तत्व इसके साथ प्रकट हुए। भारत में राष्ट्रवाद एक राजनीतिक विचार के रूप में प्रबल हुआ। राष्ट्रीयता की भावना ने भारतीयों में एकता की भावना जगाई और उन्हें संकीर्ण और संकुचित विचारों से ऊपर उठाकर राष्ट्र के प्रति प्रेम करना सिखाया। जवाहरलाल नेहरू ने इसी दृष्टि से राष्ट्रवाद को समझा और समय-समय पर इसकी विवेचना की।

स्वाधीनता की तीव्र इच्छा

जवाहरलाल ने स्वतंत्रता के लक्ष्य को राष्ट्रीय संघर्ष का आधार बनाया। १६२० में गांधीजी ने 'स्वराज्य' लक्ष्य को राष्ट्र के सम्मुख रखा था। जवाहरलाल इससे संतुष्ट नहीं हुए क्योंकि उन्होंने अनुभव किया कि स्वराज के बारे में गांधीजी जानबूझ कर अस्पष्ट थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि गांधीजी ने सोच समझकर स्वराज के लक्ष्य पर अधिक प्रकाश नहीं डाला। जवाहरलाल ने कुछ वर्षों बाद स्वाधीनता के लक्ष्य को निर्धारित करने की माँग स्पष्ट शब्दों में की। इसी का यह परिणाम हुआ कि लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वतंत्रता का लक्ष्य निर्धारित किया। जवाहरलाल ने इस उद्देश्य को निश्चित करने और राष्ट्रीय संगठन को एकमात्र लक्ष्य के लिये तैयार करने में पूरे संकल्प से कार्य किया। यह केवल औपचारिक घोषणा नहीं थी। इस फैसले के तुरन्त बाद कांग्रेस ने स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु प्रबल संघर्ष शुरू किया।

लोकतंत्र में निष्ठा

पश्चिम के प्रभाव के कारण जवाहरलाल ने लगातार लोकतंत्रीय प्रणाली के प्रति निष्ठा व्यक्त की। ब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य देशों में जिस प्रकार प्रजातंत्र फल-फूल रहा था उसकी अमिट छाप नेहरू के ऊपर थी। उन्होंने ऐसी ही लोकतंत्रीय व्यवस्था को भारत में प्रचारित किया। उनका विश्वास था कि लोकतंत्र से भारतीयों को उचित अधिकार मिलेंगे। विचार, अभिव्यक्ति, सभा-संगठन के अधिकारों से भारतीयों में राजनीतिक चेतना के विस्तार की उनकी अभिलाषा थी। नेहरू ने सच्चे लोकतंत्र को सहिष्णुता का प्रतीक बताते हुए कहा कि अपने विरोधियों के विचारों के प्रति सहनशीलता और सम्मान की भावना इससे विकसित होगी। उन्हीं के प्रभाव के कारण स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही भारत में एक ऐसा संविधान बनाया गया जिससे भारत लोकतंत्र के मार्ग पर अग्रसर हुआ।

धर्मनिरपेक्षता पर दृढ़ विश्वास

जवाहरलाल ने धर्मनिरपेक्षता पर अटूट विश्वास व्यक्त किया। उनका मत था कि धर्मनिरपेक्षता का मार्ग राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने वाला है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान उन्होंने अलग-अलग धर्म मानने वालों को एक मंच पर लाने की कोशिश की। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि राष्ट्रीयता को सर्वोपरि मूल्य मानकर सभी धार्मिक समुदाय एक दूसरे के साथ रहना सीखें।

यहीं पर यह सवाल उठता है कि धर्म के विषय में उनके क्या विचार थे। समय-समय पर नेहरू ने जो कुछ कहा उसके आधार पर कहा जा सकता है, वे धर्म को सामाजिक हितों का महान साधन समझते थे। उनका कभी भी यह दृष्टिकोण नहीं था कि भारत के लोग अधार्मिक बन जाएँ या धर्म को कम मूल्यवान समझने लगें।

समाजवाद में आस्था

१६२६ के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए जवाहरलाल ने पहली बार समाजवाद के मूल सिद्धांतों के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की थी। समाज के प्रति उनका यह विश्वास अडिग

रहा। यह और बात है कि कुछ विशेष कारणों से उन्हें कुछ वर्षों बाद अपनी नीति में संशोधन करना पड़ा। भारत की गरीबी और आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करने के लिए उन्होंने समाजवादी सिद्धांतों को अपनाने पर बल दिया। भारत की आर्थिक समस्याओं का निदान उन्होंने समाजवाद में ढूँढा।

सुभाषचन्द्र बोस

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को सशक्त और गतिशील बनाने में सुभाषचन्द्र बोस की भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय रही। उन्होंने अपने पूरे जीवन को स्वतंत्रता संघर्ष में लगा दिया। आरम्भ से ही उनका व्यक्तित्व अन्य राष्ट्रनेताओं से भिन्न था, ब्रिटिश साम्राज्य से संघर्ष करने के उनके निराले विचार थे और उन्होंने अनूठे ढंग से आगे बढ़ने के प्रयास किये। उन्होंने समझौता करने के बजाय साहसपूर्ण तरीके से विरोध करने की नीति केवल ब्रिटिश सरकार के प्रति ही नहीं अपनायी, अपितु कांग्रेस के चोटी के नेताओं के प्रति भी अपनायी। परिणामतः ऐसी नौबत भी आ गयी जब वे कांग्रेस से अलग हो गये। उन्होंने एक स्वतंत्र राजनीतिक मंच भी तैयार किया। आजाद हिन्द फौज का गठन करके उन्होंने यह दिखा दिया कि वे ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने के विचार से सैनिक संगठन भी तैयार कर सकते हैं। जब ब्रिटिश सरकार ने ताकत के बलबूते पर भारत पर अपना आधिपत्य जमाये रखना चाहा तो सुभाषचन्द्र बोस ऐसे पहले राष्ट्रनेता थे जिन्होंने शक्ति का उत्तर शक्ति से देने का संकल्प करके भारत के सीमावर्ती क्षेत्र में आजाद हिन्द फौज का गठन किया।

उड़ीसा के प्रसिद्ध नगर कटक के एक प्रतिष्ठित परिवार में सुभाष का जन्म २३ जनवरी १८९७ को हुआ था। उनके पिता जानकीनाथ बोस एक सफल वकील थे। उन्होंने सुभाष को अच्छी से अच्छी शिक्षा देने का सदैव प्रयास किया। इसका प्रमुख कारण यह था कि युवा सुभाष ने हाईस्कूल की परीक्षा के समय से ही अपनी योग्यता का पर्याप्त परिचय दे दिया था। कटक में शिक्षा पाने के उपरांत जब उच्च शिक्षा के लिये सुभाष कलकत्ता पहुँचे तो वहाँ के वातावरण से उनके विचार बदलने लगे। राष्ट्र प्रेम की उनकी भावना कलकत्ता में बलवती हुई और विदेशी शासन से भारत को मुक्ति दिलाने की दिशा में कार्य करने की वे सोचने लगे।

बाईस वर्ष की आयु में उन्होंने बी.ए. तक की शिक्षा पूरी कर ली थी तभी सुभाष के पिता ने उन्हें ब्रिटेन में शिक्षा पाने को भेजा। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में सुभाष ने अध्ययन कियां। १९२० की आई.सी.एस. की उन्होंने परीक्षा भी दी। वे भारतीय प्रशासनिक सेवा की उच्चतम परीक्षा में उत्तीर्ण तो हुए ही, उन्हें सफल अभ्यार्थियों में चौथा स्थान भी मिला। यहीं उनके जीवन का निर्णयात्मक अवसर आया। सुभाष द्वारा लिखे हुए निजी पत्रों से उनकी दुविधा का प्रामाणिक विवरण मिलता है। उनके सम्मुख दो रास्ते थे। पहला मार्ग था उच्च प्रशासनिक अधिकारी बनकर सुख-चैन का जीवन बिताना। उनके पिता की यही इच्छा थी। सुभाष के सम्मुख दूसरा मार्ग था राष्ट्रसेवा हेतु जीवन को समर्पित कर देना। उन्होंने दूसरा कंटकपूर्ण मार्ग जानबूझ कर चुना। उन्होंने आई.सी.एस. की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर भी इसका प्रशिक्षण लेने से इंकार कर दिया। आई.सी.एस. से औपचारिक रूप से त्यागपत्र देने के बाद उन्होंने अपने भाई को लिखा :

'इस नौकरी में जाने की मेरी प्रमुख आपत्ति यह है कि मुझे ऐसे प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करने पड़ते जिससे मैं उस विदेशी नौकरशाही के प्रति निष्ठा व्यक्त करने को बाध्य हो जाता जिसके बारे में सही या गलत मेरी राय यह है कि उसे भारत में रहने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है।'

इसी पत्र में उन्होंने लिखा कि 'मेरा यह विश्वास होता जा रहा है कि हमें ब्रिटिश सरकार से हर प्रकार के सम्बन्ध तोड़ लेने चाहिये।' ब्रिटेन से लिखे सुभाष के इस पत्र से जाहिर है कि वे भारत को दासता से मुक्त कराने का पक्का निश्चय कर चुके थे और भारत में ब्रिटिश आधिपत्य को समाप्त कराने के उद्‌देश्य से आगे बढ़ने को तैयार थे। जिस व्यक्ति ने बिना हिचक के इस प्रतिष्ठित सेवा का प्रशिक्षण लेने से इंकार कर दिया, वह राष्ट्रनेता के लिये सर्वस्व न्यौछावर करने के इरादे से तुरन्त ही स्वदेश लौटा।

असहयोग आंदोलन में भागीदारी

जुलाई १९२१ में भारत पहुँचते ही इस युवक ने अविलम्ब गांधीजी से भेंट की। इस समय गांधीजी द्वारा संचालित असहयोग आंदोलन पूर्णवेग से चल रहा था। इस भेंट से सुभाष संतुष्ट नहीं हुए। वे गांधीजी से उनकी भावी योजनाओं के बारे में और एक वर्ष में स्वराज पाने के बारे में स्पष्ट उत्तर चाहते थे। भेंट के दौरान सुभाष को ऐसा आभास हुआ कि गांधीजी का कोई निर्धारित कार्यक्रम और उद्‌देश्य नहीं है। सुभाष और गांधीजी के बीच के सम्बन्धों का आरम्भ ही निराशा से हुआ। यह भावी घटनाओं का पूर्वाभास साबित हुआ।

कुछ समय पश्चात् सुभाष कलकत्ता चले गये। यही नगर और बंगाल प्रान्त मुख्य रूप से उनके राजनीतिक संघर्ष के केन्द्र बिन्दु बने रहे। बंगाल में हो रहे असहयोग आंदोलन के अग्रणी नेता थे चितरंजन दास। सुभाष और दास के सम्बन्ध आरम्भ से ही मधुर रहे और सुभाष ने पूरी तरह से दास के बताए हुए मार्ग का अनुसरण करने का इरादा कर लिया।

सुभाष ने आंदोलन को संगठित करने में प्रभावी भूमिका निभायी। उन्होंने अनेक सभाओं में भाषण दिये और वस्त्र बहिष्कार आंदोलन को आगे बढ़ाया। चितरंजन दास की सलाह से वे एक राष्ट्रीय विद्यालय के प्रिंसिपल बने। उन्होंने स्वयंसेवक दल गठित करने में अथक परिश्रम किया। नवम्बर-दिसम्बर १९२१ में ब्रिटेन के राजकुमार की यात्रा का कांग्रेस बहिष्कार कर रही थी। इसी बहिष्कार को रोकने के उद्‌देश्य से दिसम्बर १९२१ को सुभाष को बन्दी बना लिया गया और उन्हें छह माह जेल की सजा सुनायी गयी। यहीं से उनकी जेल यात्रा का सिलसिला शुरू हुआ।

माण्डले जेल में बंदी

बंगाल में स्वराजियों की सफलता को देखते हुए प्रांतीय सरकार चिंतित थी। चितरंजनदास के अनुयायी होने के नाते सरकार ने सुभाष पर अंकुश लगाने का निर्णय लिया। प्रांतीय सरकार ने यह आरोप लगाया कि सुभाष बोस प्रांत में विकसित क्रांतिकारी आंदोलन का समर्थन कर रहे हैं, इसी आधार पर प्रांतीय सरकार को किसी को भी गिरफ्तार करने के असाधारण अधिकार

मिल गये। इसी अध्यादेश के अधीन सुभाष को बन्दी बना लिया गया और बिना कारण बताए और बिना मुकदमा चलाये उन्हें माण्डले जेल भेज दिया गया। जुलाई १९२४ से मई १९२७ के बीच प्रायः तीन वर्षों तक उन्हें यह यातना सहनी पड़ी। इस असाधारण विधान का प्रयोग करके जिस प्रकार सुभाष को बन्दी बनाए रखा गया था, उससे यह प्रकट हो गया कि प्रांतीय सरकार उनके उत्साह को कुंठित करना चाहती थी। उसने चाहा कि सरकार की कठोरता के सम्मुख सुभाष घुटने टेक दें। लेकिन सुभाष ने इस समय जो दृढ़ता दिखायी वह उनके स्वभाव के अनुरूप ही थी।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के समर्थक

१९२७ के मध्य से सुभाष की कोशिश रही कि कांग्रेस का उद्देश्य फिर से परिभाषित किया जाये। अन्य युवा नेताओं का सहयोग प्राप्त करके उन्होंने कांग्रेस अधिवेशनों में यह माँग की कि कांग्रेस का एकमात्र लक्ष्य स्वतंत्रता प्राप्ति हो। इससे कम किसी भी लक्ष्य से वे संतुष्ट नहीं थे। लगभग दो वर्षों तक कांग्रेस मंचों से उन्होंने यह माँग दोहरायी। अंततः लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वतंत्रता के लिये संघर्ष करने का निश्चय किया।

जनवरी १९३० के आरम्भ से ही कांग्रेस ने विभिन्न स्थानों में स्वतंत्रता दिवस मनाने की तैयारी करना शुरू कर दिया। इसी सिलसिले में सुभाष बोस ने कलकत्ता में अनेक सभाएँ आयोजित कीं। उन्होंने सभी वर्ग के लोगों को एकजुट हो जाने का आह्वान किया। किन्तु प्रांतीय सरकार ने उन्हें और सक्रिय कार्य करने का अवसर नहीं दिया। जनवरी १९३० में ही सुभाष को गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें एक वर्ष की सजा सुनाई गयी। इस प्रकार आंदोलन शुरू होने के पहले ही उन्हें बन्दी बना लिया गया।

कांग्रेस की अध्यक्षता

१९३८ के हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में सुभाष बोस अध्यक्ष बने। उनका निर्वाचन इस तथ्य का द्योतक था कि कांग्रेस में उन्होंने अपना स्थान बना लिया था। स्वयं गांधीजी ने उनके निर्वाचन का प्रस्ताव किया था। ऐसा निर्णय करके गांधीजी ने कांग्रेस के भीतर के वामपक्षीय और दक्षिणपक्षीय गुटों के बीच भेदभाव समाप्त करने की कोशिश की। सुभाष वामपक्षी नेता के रूप में उभर चुके थे। उनके और गांधीजी के बीच समय-समय पर मतभेद रहे थे। ऐसी स्थिति में सुभाष का अध्यक्ष बनना और गांधीजी द्वारा दिया गया समर्थन महत्त्वपूर्ण था।

अपने अध्यक्षीय भाषण में सुभाष ने नयी संवैधानिक सुधार योजना को पूरी तरह से अस्वीकृत कर दिया। उन्होंने कांग्रेस से आग्रह किया कि समाजवाद के सिद्धान्तों को अधिक कारगर ढंग से अपनाया जाय। उन्होंने राष्ट्रीय योजना तैयार करके भविष्य में किये जाने वाले आर्थिक प्रयासों पर ध्यान देने का परामर्श दिया। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार हर संभव तरीकों से भारतीयों में फूट डाल कर शासन करने की नीति अपना रही है। उन्होंने विभिन्न सम्प्रदायों के बीच के एकता प्रयासों को शक्तिशाली बनाने पर जोर दिया।

बोस का दुबारा अध्यक्ष बनना और गांधीजी से मतभेद

१६३६ में सुभाष ने एक बार फिर कांग्रेस के अध्यक्ष बनने का निर्णय लिया। वे इस पद के लिये होने वाले निर्वाचन के लिये खड़े हुए। उनका यह निर्णय एक प्रकार से गांधीजी को चुनौती था। सामान्यतया गांधीजी की इच्छा से ही कांग्रेस अध्यक्ष बनाया जाता था। गांधीजी और उनके समर्थकों ने बोस के खिलाफ पट्टाभिसीतारमैया को अध्यक्ष पद के निर्वाचन हेतु खड़ा किया। इस पद के लिये हुए चुनाव में सुभाष निर्वाचित हो गये। लेकिन गांधीजी ने भी हार नहीं मानी। उन्होंने सार्वजनिक वक्तव्य दिया कि सीतारमैया की पराजय उनकी निजी पराजय है। इस वक्तव्य से कांग्रेस में उभरते संकट का आभास हुआ।

१६३६ के त्रिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के समय गांधीजी और सुभाष के बीच के मतभेदों ने एक नया मोड़ लिया। अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास करके कांग्रेस अध्यक्ष से कहा गया कि वे गांधीजी के परामर्श से कार्यसमिति के सदस्यों का चुनाव करें। यह बोस के नेतृत्व पर अविश्वास के समान था। फिर भी बोस ने गांधीजी के साथ समझौता करने की कोशिश की। लेकिन इन दोनों राष्ट्रनेताओं के बीच के मतभेद बढ़ते ही गये। इस समय कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने गांधीजी का साथ दिया। परिणामतः सुभाष ने अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया।

सुभाष द्वारा नये राजनीतिक दल का गठन

सुभाष को शीघ्र ही कांग्रेस से भी त्यागपत्र देना पड़ा। अतः इस प्रमुख राष्ट्रीय संस्था के साथ उनके संबंध समाप्त हो गये। इसी समय उन्होंने फारवर्ड ब्लाक नामक एक नये राजनीतिक दल का गठन किया। यह एक वामपक्षीय राष्ट्रीय दल था जिसका प्रमुख उद्देश्य था सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण की दिशा निर्धारित करना। फारवर्ड ब्लाक एक सक्रिय संस्था थी जो किसी भी तरीके से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ संघर्ष करने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। इसने द्वितीय महायुद्ध के समय की ब्रिटिश सरकार की नीतियों का खुला विरोध करने की घोषणा की। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करने में वह ऐसे अवसर का लाभ उठाने के पक्ष में था जब ब्रिटिश सरकार युद्ध में फांसी हुई थी। फारवर्ड ब्लाक ने औपचारिक रूप से अपने उद्देश्यों की जैसे ही घोषणा की, सरकार ने अपना दमन चक्र चलाया। वह इसे न पनपने देने पर तुल गयी। जुलाई १६४० को भारत रक्षा कानून के अन्तर्गत सुभाष चन्द्र बोस को जेल में डाल दिया गया और उनके अनुयायियों को भी लम्बी सजाएँ सुनाई गयीं।

स्वदेश से पलायन

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होने के समय से ही सुभाष में कुछ न कुछ कर गुजरने की भावना बढ़ती जा रही थी। अतः जब ब्रिटिश सरकार ने उन्हें जुलाई १६४० में बन्दी बना लिया तो उनमें विरोध की भावना बलवती हो गयी। जेल की दीवारों के अन्दर रहना उन्हें सहन नहीं हुआ और मुक्त होकर कार्य करने का अवसर उन्हें देने को सरकार तैयार नहीं थी। ऐसी स्थिति में स्वदेश से पलायन करने का उन्होंने जोखिम भरा निर्णय लिया। उनके इस निर्णय के पीछे एक सुविचारित योजना थी। उन्होंने विदेशी शक्तियों की सहायता से एक ऐसी सेना को गठित

करने का विचार किया जो देश को स्वतंत्र कराने का काम कर सकती थी। देश के बाहर रहकर ब्रिटिश साम्राज्य के खिलाफ संघर्ष करने और भारत को स्वतंत्र कराने के इरादे से उन्होंने भारत से पलायन करने का साहसिक निर्णय लिया।

सुभाष के जीवन का सबसे जोखिम भरा अध्याय जनवरी १९४१ से शुरू हुआ। भेष बदलकर एक सहयोगी के साथ वे गुप्त रूप से कलकत्ता से चल दिये और पेशावर पहुँच गये। यहीं उन्होंने देश की सीमाओं को पार किया और काबुल पहुँचे। नाटकीय ढंग से वे भारत से बाहर जाने में सफल हो गये।

काबुल से वे रूस पहुँचे और फिर जर्मनी पहुँचकर उन्होंने हिटलर से भेंट की। विदेशी शक्तियों की सहायता प्राप्त करके भारतीय सेना संगठित करने का वे लगातार प्रयास करते रहे।

आजाद हिन्द फौज का गठन और इसका नेतृत्व

प्रायः दो वर्षों तक जर्मनी में रहने के पश्चात् फरवरी १९४३ को वे दक्षिण पूर्व एशिया की ओर चल दिये। जुलाई में वे सिंगापुर पहुँचे। यह समूचा क्षेत्र उस समय जापान के अधिकार में था। जापान सरकार सुभाष की योजनाओं के प्रति सहानुभूति रखती थी। दक्षिण पूर्वीय एशिया के देशों में बड़ी संख्या में भारतीय रहते थे जो आवश्यकता पड़ने पर धन और जन से उनकी सहायता करने को तैयार थे। इसके साथ-साथ जापान के अधिकार में हजारों भारतीय बन्दी सैनिक थे। रासबिहारी बोस के नेतृत्व में दक्षिण एशिया के भारतीयों को संगठित किया गया था। यह स्थिति सुभाष के अनुकूल थी। उन्होंने इंडियन इंडिपेन्डेन्स लीग की अध्यक्षता ग्रहण करके भारतीयों को संगठित करने के प्रयास शुरू कर दिये।

सुभाष ने तुरन्त ही आजाद हिन्द फौज का गठन करना शुरू कर दिया। सिंगापुर, मलाया और बर्मा में बसे भारतीयों को आजाद हिन्द फौज में भर्ती किया गया। ब्रिटिश सेना के कैदी लगभग बीस हजार भारतीय मूल के सैनिकों को भी आजाद हिन्द फौज में शामिल कर लिया गया। इस प्रकार सुभाष ने दक्षिण पूर्व एशिया में भारतीयों की सुसंगठित सेना को प्रशिक्षित किया, इसे अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित किया और भारत को स्वतंत्र कराने के लिये भारतीय सीमा की ओर प्रस्थान करने को तैयार किया। उन्होंने असीम साहस का परिचय देते हुए भारत से बाहर भारतीयों की एक स्वतंत्र सरकार के गठन की भी घोषणा कर दी। जापान सरकार ने इस अंतरिम सरकार को मान्यता भी प्रदान कर दी। यह भारत में स्थापित ब्रिटिश साम्राज्यवादी सत्ता को खुली चुनौती थी। सुभाष का संकल्प था अंग्रेजों के खिलाफ खुला सैनिक संघर्ष। उनकी घोषणा की गूँज से समूचे भारत में बिजली कौंध गयी। भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को इससे विशेष बल मिला।

आजाद हिन्द फौज ने मार्च और जून १९४४ के बीच भारतीय सीमाओं की ओर कूच किया। मणिपुर क्षेत्र में इस सेना ने भारतीय सीमा को पार करके ब्रिटिश सेना के विरुद्ध सैनिक संघर्ष किया। जापान की सेनाएँ भी इसके साथ थीं। आजाद हिन्द फौज के जवानों ने सैनिक अभियान में खून बहाकर भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में एक नया अध्याय जोड़ा। यह सैनिक अभियान सफल नहीं हो सका।

आजाद हिन्द फौज के गठन और इसकी सफलता का मूल्याँकन करते समय केवल इसकी सैनिक उपलब्धियों का विवरण देना काफी नहीं होगा। यह सही है कि यह सेना १९४४ के अभियान में ब्रिटिश सेना के दाँत खट्टे नहीं कर सकी। लेकिन तत्कालीन परिस्थितियों के समुचित मूल्याँकन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष को इसने अवश्य प्रभावित किया। भारतीयों के मनोबल को ऊँचा करने में आजाद हिन्द फौज की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी। इससे भारतीय उत्साहित हुए, उन्हें नयी प्रेरणा मिली और देश की स्वतंत्रता के लिये आजाद हिन्द सैनिकों की कुर्बानियों को उन्होंने सराहा और लगातार याद किया।

१९४५ में द्वितीय महायुद्ध का स्वरूप बदला। जर्मनी और जापान पराजित हो गये। इससे सुभाष चन्द्र बोस ने सिंगापुर छोड़ देने का निर्णय किया। जापान के एक विमान में सवार होकर वे रूस की ओर चल दिये। अचानक इस विमान में आग लग गयी। इसी से सुभाष के जीवन का असामयिक अन्त हो गया। १९ अगस्त १९४५ को स्वतंत्रता संघर्ष के इस साहसिक प्रहरी की जोखिम भरी यात्रा अचानक समाप्त हो गयी।

भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के इतिहास में सुभाष का अनूठा स्थान है। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने की लगातार कोशिश की। इस संघर्ष को अधिक से अधिक तीव्रता प्रदान करने की भावना उनमें शुरू से विद्यमान थी। युवा सुभाष में उत्साह था, संकल्प था और साहसपूर्ण नेतृत्व करने की क्षमता थी। जीवन के अंतिम पाँच वर्षों में उन्होंने दिखा दिया कि वे कोरे भाषणों अथवा वक्तव्यों में ही विश्वास नहीं करते थे, अपितु समय आने पर ब्रिटिश सरकार के खिलाफ खुला सैनिक संघर्ष भी छेड़ सकते थे। उनका जीवन अदम्य साहस प्रदर्शन की जीती जागती कहानी है।

●●●

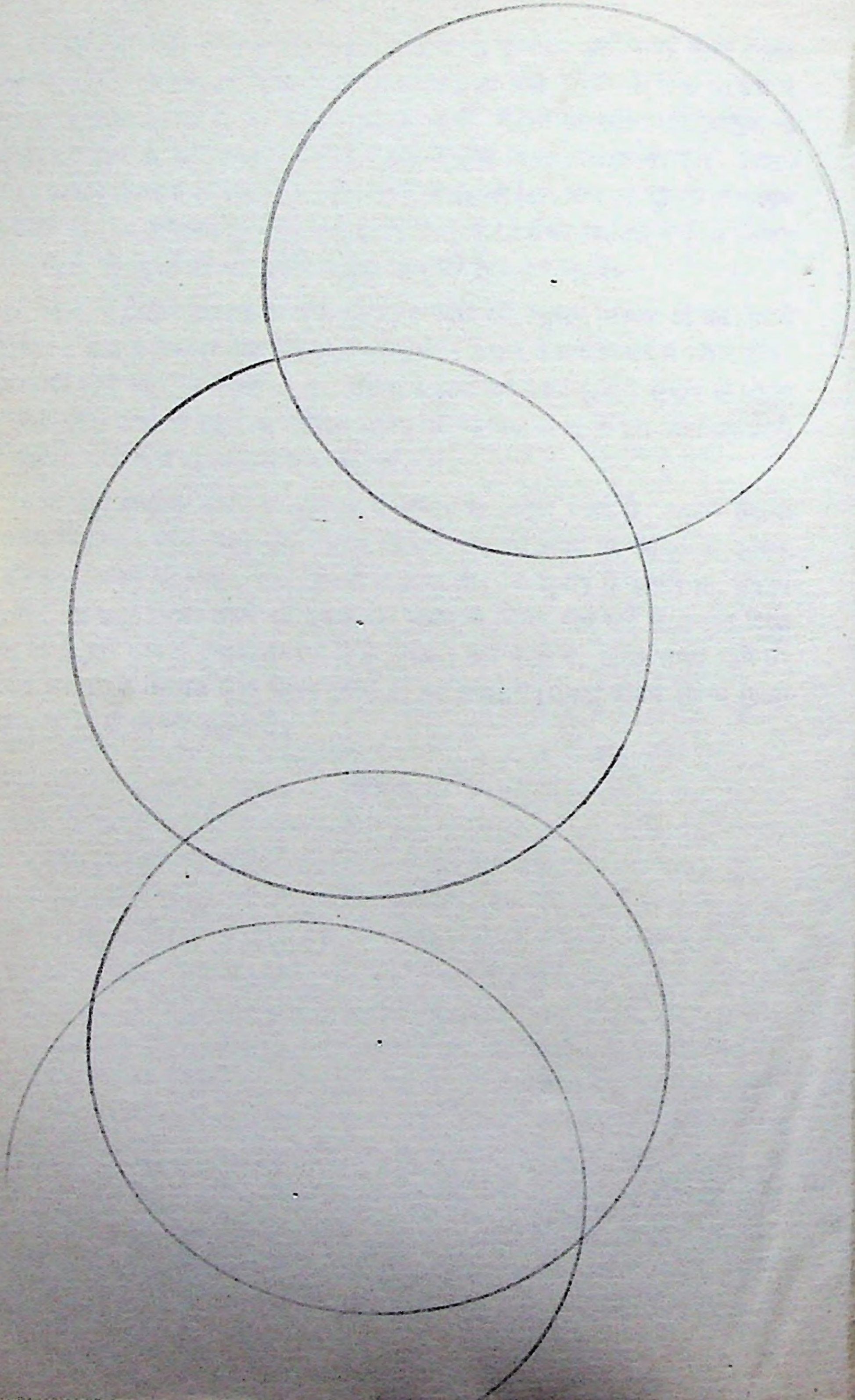

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान : इतिहास विषय की प्रकाशित पुस्तकें

क्र.सं.	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मूल्य
१.	मध्ययुगीन भारतीय समाज एवं संस्कृति	डॉ. झारखण्डे चौबे डॉ. कन्हैयालाल श्रीवास्तव	रु. १५६.००
२.	बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास	डॉ. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय	रु. ६५.००
३.	कौटल्य कालीन भारत	आचार्य दीपंकर	मुद्रणाधीन
४.	विश्व इतिहास	डॉ. रामप्रसाद त्रिपाठी	रु. ७५.००
५.	एशिया के सामाजिक और सांस्कृतिक इतिहास की रूपरेखा	डॉ. बुद्धप्रकाश	रु. १३.००
६.	भारतीय वास्तुकला का इतिहास	कृष्णदत्त वाजपेयी	रु. ५५.००
७.	क्रांतिकारी यूरोप तथा नेपोलियन का युग	डॉ. ईश्वरीप्रसाद	रु. ४०.००
८.	कन्नौज का इतिहास	पं. आनंदस्वरूप मिश्र	रु. १७५.००
९.	एशिया की विकासोन्मुख एकता	अनु. चन्द्रशेखर मिश्र वलभद्रप्रसाद मिश्र	रु. १०.००
१०.	सातवाहन और पश्चिमी क्षत्रपों का इतिहास और अभिलेख	मू. डॉ. वा.वि. मिराशी अनु. डॉ. व्यंकटेश द्रविड़	रु. ७७.००
११.	भारत का सांस्कृतिक इतिहास	डॉ. राजेन्द्र पाण्डेय	रु. ८०.००
१२.	संयुक्त राज्य अमेरिका का इतिहास	डॉ. के.के. कौल	रु. ६०.००
१३.	मध्य पूर्व में तेल रांजनीति का इतिहास	डॉ. बी.पी. बहुगुणा	रु. १४५.००
१४.	लेखन कला का इतिहास (दो खण्डों में)	ईश्वरचन्द्र राही	रु. १६४.००
१५.	वेलेजली के अधीन भारत	मू.यू.पी.ई. राबर्ट्स अनु उमाराव	रु. १५.००
१६.	एशिया का उद्भव एवं विकास	डॉ. के.के. कौल	रु. १०८.००
१७.	उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास	डॉ. विशुद्धानन्द पाठक	रु. २००.००
१८.	सिन्धु सभ्यता	डॉ. के.के थपल्याल	रु. ७५.००

: सम्पर्क सूत्र :
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन,
६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज,
लखनऊ